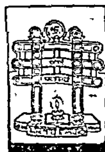
कहाँ पाऊँ उसे

बांग्ला-मूल
समरेश बसु 'कालकूट'

अनुवाद
डॉ० रणजीत कुमार शाहा



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

समरेश बसु 'कालकूट' के
बांगला उपन्यास 'कोथाय पाबो तारे' का हिन्दी रूपान्तर



Lokodaya Series : Title No. 418

KAHAN PAAUN USE
(*Novel*)
Samaresh Basu 'Kalkoot'

First Edition : 1982

Price : Rs. 75.00

BHARATIYA JNANPITH
B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 418

कहाँ पाऊँ उसे
(उपन्यास)
समरेश बसु 'कालकूट'

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45-47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001

प्रथम संस्करण 1982

मूल्य : पचहत्तर रुपये

मुद्रक
अंकित प्रिंटिंग प्रेस
रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032

कहाँ पाऊँ उसे

बात का जवाब तो दिया ही ।

लेकिन इतना सीधा होने पर कैसे चलेगा ? आदमी कहाँ से आ रहा है, इतना तो देखना ही होगा । उसके रंग-ढंग, साथ के सामान आदि पर भी एक नजर डालनी होती है । मान लो शहर से ही कोई बाबू आये हैं । उनकी एक-एक बात पर हंगामा हो जाता है । तुम्हारे पास आकर एक बार बस पुकार-भर लेंगे । इसके बाद अगर तुम उनका मान न रखो...

तब भैया अपने मान-सम्मान का भरा पिटारा लेकर चलते बनो । वह भला क्यों बकता-झकता मरेगा ? उसे तुम कोई राजा-महाराजा तो नहीं बना दोगे ! तो फिर उसकी हँसी से, चकित दृष्टि से और मिलावटी बातों से क्या होगा ? आस-पास और भी दो-चार नौकाएँ थीं । उन पर माल लदा देखकर कुछ पूछ न पाया । इसीलिए उससे ही पूछा :

"पार ले चलोगे ?"

"दो-आना लगेगा ।"

बस, इन्हीं शब्दों में सारा जवाब ! ले जायेगा या नहीं ले जायेगा—इतनी सारी बातों की ज़रूरत नहीं । बारह नये या तेरह नये पैसे—यह सब भी नहीं कहा ! बस एक मोटे हिसाब की बात । यहाँ नयी चाल की कोई बात ही क्या दिख रही थी ? यह इछामती नदी नयी नहीं ! इसके ज्वार के उफान भी नये नहीं हैं । पुरखे निकलते चले जायेंगे—मोटे हिसाबों की जानकारी भी मिलती जायेगी । तुम्हारे बारह या तेरह नये पैसे इछामती को नयी नहीं बना सकते । पिछले टीले पर के बालूचर, जो अब भी नहीं डूबा था, का रंग वैसा ही था—काला भुच्च-पानी में तैरते हुए जल-कुंभी के पत्ते की तरह गुड्ड-मुड्ड । गंगा के किनारे पर धनमैनाओं के झुण्ड चोंच खोले मकोड़े खा रहे थे । सूरज की लालिमा से आकाश भी वैसा ही ललछौंहा हो उठा था । शीतकाल की हवा बादल के इक्का-दुक्का टुकड़ों को भी दूर उड़ा ले गयी थी । जगमगाते नीले पत्थर की तरह उसका जल इतना चिकना कि आँखें नहीं ठहरती थीं । इछामती में ज्वार में आगे बढ़ आयी लहरों पर एक पारदर्शी दर्पण की तरह आकाश की नीली परछाँई उतर आयी थी । उस पार जो गाँव दीख रहा था, वहाँ भी आम, जामुन, जामरूल, कटहल, नारियल आदि के पेड़ धूप में नहा रहे थे । बड़े-बड़े निचुल की ही नहीं, गेमो की झाड़ियाँ भी जल में उतर आयी थीं । कमर तक डूबी इछामती के कगार पर वे छप्छप् खेल रही हों । बीच-बीच में कास की धवल पंक्तियाँ । बारह नये या तेरह नये पैसे लेने के जैसा कुछ नया नहीं था...नयापन तो, तुम्हारी इस धोती की किनारी में है जो मिल में बनी है, मिल बाबू के जमाई—आँखों पर जर्मन शीशे-वाली ऐनक में, शान्तिनिकेतनी झोली में, बातों का बतंगड़ बनाने से क्या लाभ !

आकर बैठ गया। जब कोई छपा हुआ टिकट न था तो मोल-तोल भी किया जा सकता था। छपा-छपा नहीं देखने पर किसी एक दर पर मेरा जी नहीं मानना चाहता। लेकिन यह जो माँझी है—उसका तो जैसे बस—एक मुँह ही खुला है, बाक़ी सब बन्द हैं। बातों का बहलावा या भुलावा नहीं; जो कहा गया वह छप गया समझो।

नौका पर बैठते ही उसने पानी उलीचना बन्द कर मुझे पाट पर बैठा दिया। खुली नौका—उस पर कोई छजली नहीं थी—मछली पकड़ने वाली नाव की तरह। वहाँ मछली पकड़ने वाला कोई जाल नहीं था—इसलिए इस माँझी के मछुआ होने या न होने की बात भी दिमाग़ में नहीं आयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माल ढोने-लादने वाले घाट पर वह नाव लगाकर किसी बेगार के लिए नहीं बैठा था, उसके पास जब एक नौका है तो सम्भव है, वह मछली भी मारता हो, माल ढोता हो, आर-पार भी ले जाता हो। लेकिन मेरे मन में तो मात्र यह जिज्ञासा उठी थी कि माँझी तुम क्या करते हो—'इस पार से उस पार करता हूँ।' इसके अलावा और कुछ नहीं। और क्या करते हो भला! बस, इस पार से उस पार...आर-पार।

नाव की खूँटी अलगा कर वह पानी में नौका धकेलना चाहता ही था कि दूसरे एक यात्री महाशय पधारे। उनकी गुहार सुनाई पड़ी थी : "अदरदा... अदरदा...रुकना ज़रा..."

अदर याने अधर। और मैं इस अधर माँझी को धरना चाहता था। अरे भोला मन, 'अधर' को धर-पकड़ने का यन्त्र क्या हर कोई लगा सकता है? देखो, बग़ल में क्या कुछ दबाये, और एक फीके गेरुए लम्बे झिंगोले को घुटने तक उठाये वह आदमी किसी तरह भागता हुआ आ पहुँचा। कहाँ जाओगे, जाओगे या नहीं, क्या लोगे, किसी प्रकार की पूछताछ नहीं। 'अदरदा ठहरना' और अधर नाव की रस्सी पकड़ कर खड़ा था। अधर माँझी ने एक बार फटकारने वाली डपट तक नहीं बतायी। उसके काले चेहरे पर, ललाट या भौंह पर, कहीं भी कोई शिकन नहीं पड़ी। सिर्फ़ अपनी अलस आँखें उठाकर उसने एक बार उसे देख-भर लिया। उसके आकर बैठते ही उसने नाव को पानी में ठेल दिया। उसके बाद का वृत्तान्त सुनो।

"जय मुरशेद। देर हो गयी। थोड़ा-सा पहले आ-जाने पर लगता है, पार होने की चिन्ता नहीं। तो भी चलो, तुमको गोरे साहब से मिला दिया। वैद्यवि जाऊँगा, हरेकृष्ण और उसकी बहू में भारी झगड़ा मचा है। मोहल्ले में चौल-कौए तक रहना नहीं चाहते। बात यह हुई थी कि, हरेकृष्ण, गाद दुहने के हुक्का लेकर बैठ गया। निकलने के समय ही, यह सब बड़ा अशुभ है, ...

नष्ट हो जाता है। मैं खड़ा होकर दो बार तालियाँ ठोक आता था उसके बाद....।"

किन्तु मुरशेद की जय, गोरा साहब से हुई भेंट, झगड़ा मिटानेवाली बात, और सारे वृत्तान्त के उपरान्त भी, अधर माँझी अधर में। वह उसी तरह निर्विकार। उसके चारों ओर सब कुछ जैसे निराकार था। उसकी पतवार पानी में छप्-छप् करती जा रही थी—पारापार करता है वह। उसकी दृष्टि न जल में है न थल में; निःशब्द; वह सुनता भी है या नहीं, कौन जाने !

वह आदमी अपनी बातें इसी तरह बैठकर नहीं बता रहा था। दौड़कर आया फिर उसने कन्धे पर रखी झोली को सहेजा। झिगोला है या झब्बा, जो भी हो, उसने एक बार देख लिया था। उसके फट जाने का डर रहा होगा। उसे देखकर मैं सोच रहा था—फटेगा क्यों नहीं भला। इस गूदड़ में और बचा भी क्या था ? सैकड़ों पैबन्द और चिन्दियाँ—यहाँ से मुमी तो वहाँ से मुचड़ीं। उसका नाम आलखाल्ला की जगह—चिन्दी-खाल्ला ही उपयुक्त होगा। अथवा कन्था-खाल्ला। पैबन्द पर पैबन्द जमाते या चिपकाते हुए वह इतना मोटा हो चुका था कि एक मोटे कन्थे की तरह ही दीख रहा था। इस पर वह इसे जितना झाड़ता जा रहा था, उतनी ही धूल उड़ रही थी। इसे न जाने कब रँगा गया था, क्या पता ! अब गेरुआ जल से धोया गया है। सर पर बँधी पगड़ी ढीली पड़ गयी है, ऐसा लगता था मुझे। उसे खोलकर वह जब उसे झाड़ने लगा तो उसमें से भी अनगिनत छेद झाँक रहे थे। वह गाँठों से भरी हुई थी। जय मुरशेद ! तो भी, बाहर से वह इस तरह तहों में कुशलतापूर्वक जमायी गयी थी कि सारे छिद्र बन्द कर दिये गये थे। 'एक कलश में नौ-नौ छेद—नौवाँ पद्म दल में।' मन के छिद्र को बन्द करो। पगड़ी का तमाशा भी वैसा ही था। गरदन तक झूलती हुई जटा को झटकते हुए उसने उसमें अटी हुई धूल को झाड़ा। मैंने देखा वह फिर पगड़ी बाँधने लगा। और फिर इछामती की छाती पर ही यह पुकार शुरू हो गयी—

"इस दुनिया में आकर भी
मन मुरशेद को न जान सका
कहाँ जाऊँ मैं, कोई तो नहीं बताता
मेरा कोई नहीं
मैं कहाँ पड़ा था ?
मुझे यहाँ किसने बुलाया ?"

अधर माँझी से लगी खोंची। और दूसरे आदमी ने मन मुरशेद को बुलाया। इसके पहले इतनी बातें ही होती रहीं, हरे कृष्ण, दम्पती की गाय दुहने की गाथा...अधर माँझी की ओर से किसी प्रत्युत्तर की आशा नहीं। होती तो सुनाई

पड़ती। गोरा साहब से मुलाकात करा दी गयी है—बस यही दो बातें। सब बेबात की बातें। और सब कुछ मन ही मन में। जाओगे तो उस पार ही, जब इस नाव का नांगल थाम लिया है। बस और कुछ कहने को बचा ही क्या। हाँ, हाँ अब जितनी खुशी हो हाँको—"हमारा मुरशेद किस घड़ी जागेगा रे..."

यह साँई बाबा है या दरवेश, वह कौन जाने! दाढ़ी-मूँछ में जटा बँधने लगी है, तो भी चेहरा तो देखो, एकदम रूखा-सूखा, मानो आदिकाल की सृष्टि हो। कड़े पहने हुए हाथ भी वैसे ही हैं। जितने कटे-फटे दाग़ हैं, उतनी उभरी हुई शिराएँ हैं। तो भी इस चौड़े चकले विदीर्ण चेहरे पर इछामती-सी तरल आँखें! इस बहते हुए धूप-छाँही जल की तरह। छोटे-से घेरे में काली पुतली रह-रहकर नाच उठती है, चमक उठती है। दरवेश की कण्ठ-ध्वनि गम्भीर ही नहीं, इतनी ऊँची है कि कम-से-कम दो गाँवों को पार कर भी सुनी जा सकती है। पता नहीं, शहर में होता तो क्या होता? पर यहाँ भी तो यह दीख ही रहा है कि आस-पास के घर पर घनमैना एकबारगी अस्तव्यस्त हो उठीं। उसके बाद फिर अपने पेट के धन्धे के लिए—चोंच और पंक की लड़ाई छिड़ गयी। मन-मुरशेद की पुकार उन्होंने सुन रखी है। उस पार के वन-प्रान्तर में, और इस आकाश की परछाईं से नीली इछामती के रूप दर्पण में मन मुरशेद की पुकार से कोई हलचल नहीं होती। मानो यह घर, जंगल, नदी की ही बात नहीं, अधर माँझी को भी पता है और वे सब-के-सब अपने कान खड़े किये हुए थे। जैसे इस पार और उस पार के परस्पर विच्छिन्न स्वर को अब जाकर बाँधा गया।

अपनी बात को ही क्यों उठा रखूँ। 'मैं कहाँ था, मुझे कौन लिवा लाया'—मैं यह सब सुन पाऊँगा इसके लिए तैयार न था। फिर भी, ऐसा लगता था कि उसके कान चौकन्ने हैं, मेरे जानते ऐसा नहीं था। पहले कई-एक पंक्तियों में काफ़ी हाँक पड़ती रही थी। इसके बाद उसने इछामती के जल में हाथ डालकर, उँगलियों को थोड़ा-सा भिगोकर दाढ़ी को सँवार लिया था। रह-रहकर उसकी गुनगुनाती आवाज़ आती रही: 'मेरा मुरशेद किस शिखर पर जाग रहा है रे... मेरा मुरशेद किस स्थान पर विरज रहा है!'

विरज रहा है का अर्थ सम्भवतः विराज रहा है। उसकी यह गुनगुन किसी वंशी-स्वर के अवरोह की भाँति'''भाटे की तरह समुद्र में समा जाना चाहती है। तभी देखा था मैंने—काले और मोटे होठों के बीच पान की पीक से लाल दाँतों की हँसी और छोटी-छोटी आँखों में समायी काली पुतली को। दरवेश की आँखों की चमक से समझ गया कि उसमें किस बात की ललक थी। इसके बाद ही, मेरा जो सन्देह था, बाबू कहाँ जाओगे?

मैंने कहा, "उस पार।"

चुप्पी साधकर पड़े रहना चाहो तो रह सकते हो। फिर अधर माँझी को जो अच्छा लगता है, वह तुम्हें भी उपयुक्त प्रतीत होगा। इसके अलावा दरवेश के कण्ठ-स्वर से क्या तुम तनिक भी उद्विग्न नहीं हुए। मुरशेद की पुकार! तुम्हें यहाँ कौन ले आया? मैंने जवाब दिया, "अपरिचित आदमी क्या इस इलाक़े में नहीं देखा जाता। क्यों?"

"जय मुरशेद"

हवा के चलने पर किनारे पर जैसे लहरें झूमने लगती हैं, दरवेश का चौड़ा मुख भी वैसा ही प्रतीत हुआ। कहने लगा, "हाँ, दीखेगा क्यों नहीं। आप अपरिचित-से लगे, इसीलिए। कहा गया है—साँई का स्थान तो हर जगह पर है, इस इलाक़े में बाबू को देखा नहीं।"

अधर माँझी क्या बोले। कुछ नहीं। उसका चप्पू छप्-छप् कर रहा है। मैंने कहा, "कहाँ जाऊँगा? नहीं जानता। उस पार जाने की इच्छा जगी थी इसीलिए जा रहा हूँ। उस पार का नाम क्या है।"

मेरे पूछने तक दरवेश ने अपनी झोली से एक पुरानी-सी ढपली निकाल ली थी। उसके चमड़े पर ठेका लगाते हुए वह साँई बाबा ठठाकर हँसते-हँसते निढाल हो गया। बोला, "सुना अदरश, बाबू ने क्या कहा—उस पार का नाम नहीं जानते।"

अधर उसी प्रकार अ-धर रहे। वह पारापार करता है केवल। नौका अभी बीच नदी में है। दर्पण के अंग-अंग में प्रवाह है। तरंगें क्या ऐसे ही उठती-मचलती हैं। पूरे सागर का दबाव है। हाथ में पतवार लो तो समझ पाओगे कि जल-प्रवाह का वेग कैसे खींचता है।

दरवेश ने फिर पूछा—"तो फिर जा कहाँ रहे हैं?"

"उस पार।"

"उस पार!" साँई बाबा फिर हँसने लगे। बोले, "कोई ठिकाना नहीं।"

ऐसा लगा कि उस आदमी के गले में कहीं हँसी की जो बाढ़ अटकी हुई है वह जवाब सुनते ही अट्टहास के साथ फूट पड़ेगी। फिर भी कहना पड़ा—"नहीं।"

चुग्गी दाढ़ी को अपनी हँसी के साथ उड़ाते हुए दरवेश ने कहा—"बड़े अचरज की बात है। लगता है, बाबू भी मुरशेद ढूँढ़ने निकले हैं। हमें यहाँ कौन ले आया, हम कहाँ पड़े थे! तो बाबू आप आ कहाँ से रहे हो?"

और वह मेरे नजदीक खिसककर बैठ गया। माँझी ने तनिक भी पूछताछ नहीं की। साँई बाबा की बातें खत्म ही नहीं होतीं। मैंने अपने आवासीय स्थल

और शहर का अधूरा-सा नाम बताया भी नहीं था कि वह अपनी गरदन हिलाकर तत्काल बोल उठा, "गया हूँ—गया हूँ—आपके देश घूम आया हूँ। तब तो वहाँ से सुबह सात बजे ही निकल पड़े होंगे कि उस पार जाना है—ऊँ....।"

"हाँ।"

—और "जब कि उस पार का नाम भी नहीं जानते।"

क्या जानने की जरूरत है यह स्वयं भी मैं नहीं जानता। जो बात मैं स्वयं अपने से नहीं पूछ पाया वह इस आदमी से कैसे पूछूँ? मैं किसी नाम की तलाश में तो नहीं आया। आम, जामुन, नारियल की छाँह से जो रास्ता गुजरता है मैं उसी रास्ते पर जाना चाहता हूँ। और वह रास्ता जो मेरे लिए अनदेखा, अनचीन्हा है। मैं इछामती के दर्पण में आकाश देखूँगा—वहाँ तक, जहाँ तक मेरी आँखें जाती हैं। और इसी तरह, मन मुरशेद की पुकार अगर सुन पड़ी, तो वही सुनूँगा। फिर मुझ-जैसे अनजाने व्यक्ति की इतनी हँसी किस लिए! तो भी मैंने पूछ लिया:

"उस पार का नाम क्या है?"

"इटिण्डा।"

नाम कुछ सुना-सा लगा। मानचित्र में देखा था या किसी किताब में पढ़ा था—याद नहीं आ रहा। दरवेश बोला, "तो बाबू, अगर कोई ठिकाना नहीं है तो उस पार जाकर क्या करोगे? दो-एक चक्कर लगाते ही तो वही बार्डर...."

बार्डर माने बार्डर—दोनों बंगाल की सीमा। "ऐसा है....तो फिर कहाँ जाऊँ," मैंने पूछा।

वह मुरशेद की चिन्ता तो बीच में छूट गयी और दरवेश महाशय को दूसरी फ़िक्र सताने लगी जो बाहर निकलने के समय हरेकृष्ण और उसकी बहू के झगड़ा-फ़साद को लेकर थी। बोला—"आस-पास कोई मेला-तमाशा भी नहीं कि वहाँ तक घूम-फिर आने को कहूँ।"

मेले की बात सुनकर मुझमें तनिक उत्साह जगा। लेकिन दरवेश ने होंठ बिचका दिया था, उसकी गरदन हिलने लगी थी। फिर बोला, "ले-देकर वही एक साखोर का रास-मेला है। वह मेला भी टूट चुका, अब वह भी बेकार।"

इटिण्डा के ही दो चक्कर मार आऊँ....मैंने भी यही सोचा। बंगाल के उस पार का रंग-ढंग कितना बदल गया है, यही देखा जायेगा। दरवेश अपनी ढपली पर उँगलियों से ठेका लगा रहा था...डुप् डुप् डुपकि...डुपुक्! मैंने जेब से सिगरेट निकाली और सुलगाकर पीने लगा। देखा—दरवेश की आँखें बन्द हैं पर नथुने फैल गये हैं। फिर फस्स से एक गहरी निःश्वास छोड़ते हुए वह बोला, "हूँ, जो सोचा था, ठीक वैसा ही है।"

उसके इस वाक्य के अन्त में पान से लाल दाँत भी दीख गये। आँख की पुतली जलती सिगरेट के सिरे पर थी। समझ पाने की कोई तरकीब न थी—किसको कह रहा है, क्या कह रहा है। फिर कहने लगा, "समझे अदरदा, यह सिगरेट तुम्हारी सड़ी-गली सिगरेट-जैसी नहीं। बाबू की सिगरेट की सुगन्ध ही दूसरी है। इसका दाम बहुत है, है न बाबू ?"

मन गया, मुरशेद गये, मेला-तमाशा खत्म हुआ—अब सिगरेट की सुगन्ध और क़ीमत का हिसाब करते रहो। शायद इछामती के किनारे पहुँच गया। और ऐसा होने पर क्या ऐसी बातें सुनी नहीं हैं। मन विरक्त हो जाये तो ऐसी सुबह का गुड़ गोबर हो जाता है। घूमकर, दूर बालूचर पर उड़नेवाली घनमैनाओं की तरफ़ देखा। ढपली की ताल पर धीमी-धीमी गुनगुन सुनाई पड़ी—

आयेगा रे काला बन्दा दिल्ली की मौत लिखकर।
अभी से क्यों रोते हो ओ बन्दे, दूसरे की मौत पर॥

देखो, अब उद्विग्न हो उठोगे या अपनी हँसी रोके रखोगे। फिर मुड़कर देखा, दरवेश दूर नदी की ओर देख रहा है। तब इतना कठोर बने रहने की क्या आवश्यकता थी—अब मन कचोट रहा है। इस तरह की शहरी सनक ही तो सिर नोचा करती है। जेब से सिगरेट का पैकेट निकालकर बोला, "एक चलेगी।"

"जय मुरशेद। आपके लिए कम तो नहीं पड़ेगी बाबू !"

दया-करुणा का ज्ञान तो एकदम भरा-पूरा है। मैंने पैकेट खोलकर सिगरेट दी और कहा, "ना।"

"तो फिर दियासलाई भी देना बाबू !"

जब घोड़ा आगे बढ़ा दिया तो फिर चाबुक रखकर क्या करूँगा। दियासलाई बाहर निकालकर देने लगा तो देखा कि सिगरेट के दो टुकड़े हो चुके हैं। सोच रहा हूँ—आधी सिगरेट भी अन्ततः झोली में जायेगी। लेकिन इसके पहले उसने हाथ बढ़ाकर कहा, "लो अदरदा, बाबू ने दी है।"

माँझी तब जल-प्रवाह में नाव खे रहा था। पतवार छोड़ नहीं सकता। सिर्फ़ यही सुन पाया—"रखो।"

दरवेश ने अपनी दाढ़ी-मूँछ को बचाते आधी बची सिगरेट को सुलगा लिया। फिर मुँह-भर धुआँ उड़ाते हुए बोला, 'अच्छा बाबू, आप क्या इलायत-विलायत गये हैं ?" अवाक् हो मैंने उसकी तरफ़ देखकर कहा—"ना।"

सिगरेट एक जोरदार कश के साथ एकदम खत्म हो गयी। उसने सिगरेट के कागजी टोंटे को किसी तरह पकड़ पानी में फेंककर कहा, "नहीं, आजकल तो हर कोई बाबू इलायत-विलायत जा रहे हैं, इसीलिए पूछ बैठा।"

होंठ चूसकर, दाँत निपोरकर उसने अपनी आँखें नचायीं। अदर माँझी की नौका तब किनारे पर लग चुकी थी। पहले माँझी उतरा, फिर उसने गीली माटी पर खूँटी गाड़ दी। उस पार जैसा निराला दीख रहा था, वैसा ही निराला यहाँ भी। पेड़ों के बीच बेढ़े में घिरे कुछेक घर दिखाई पड़ रहे थे। कहीं पर कोई एक बकरी का बच्चा मिमिया उठा। छूटते ही, किसी मुर्गी के फड़फड़ाने की आवाज आयी और फिर मुर्गे के कुड़कुड़ाने की। घाटवाली जगह पुख्ता थी, वहाँ कीचड़ नहीं थी। दो आना देकर मैं नीचे उतर गया।

दरवेश भी नीचे उतरा। उतरने के पहले उसने वही आधी सिगरेट निकाल ली। अधर माँझी ने उसे लेकर अपने कान पर रख लिया। देखा, पतवार हटाकर वह फिर जल उलीचने के लिए बैठ गया। लेकिन दरवेश का नाव-भाड़ा —शायद उसे भाड़ा नहीं देना पड़ता।

यह मेरी दूसरी चिन्ता रही आयी। अधर माँझी। यात्री दरवेश। इसने उसको सिगरेट तोड़कर दे दी। वह उसके लिए रस्सी पकड़कर खड़ा हुआ है। यह नये जमाने की बात नहीं—पुराने जमाने का नियम है। इस नियम के अनुसार पार होने के लिए पार करनेवाला क्या भाड़ा लेना चाहता है, यह तुम किस प्रकार जान सकोगे?

सामने की तरफ़ देखा तो पाया कि पूरब की ओर एक रास्ता चला गया है। खो जाने-जैसी कोई बात नहीं थी वहाँ।

तुम्हें न हो सही, दरवेश को तो है। उसने पूछा, "किस तरफ़ जायँगे।"

"किसी एक तरफ़।"

मैं चलने लगा। दरवेश भी साथ हो गया। बोला; "फिर लौटेंगे कब?"

मैं यह बता न सका कि पेट में आग लगने पर। कहा, "देख आऊँ, थोड़ा घूम-फिर कर। वापसी के लिए नाव तो मिल जायेगी?"

"वह मिल जायेगी। हर समय एकाध लोग पार होते ही रहते हैं।"

दो क़दम चलने पर फिर बोल उठा, '*बड़ी मजेदार बात है! बाबू लोग* हिल्ली-दिल्ली घूमने जाते हैं। और आप हैं कि गाँव-जंगल में...।"

"बस इसी तरह घूमने निकल आया।"

"जय मुरशेद, बड़े मजे की बात है।"

फिर वही हँसी। फिर अपना मुँह मेरे कान के एकदम नजदीक कर बोला, "सचमुच कोई काम नहीं है बाबू?"

आश्चर्य है, यह आदमी कहीं मुझे झूठा तो नहीं समझ रहा। मैंने कहा, "भला मुझे यहाँ कौन-सा काम होगा।"

"सो तो बाबू, यहाँ बहुत तरह का काम हो सकता है। जमीन-जायदाद,

ख़रीदना-बेचना, धान-चावल की खोज-ख़बर, पाट की आमद दर वग़ैरह ! और फिर रहा आपके बार्डर पर घूमने-फिरने का 'काम-धाम ।'' दरवेश ने बात आगे बढ़ा दी ।

''बार्डर का काम ?''

दरवेश ने फिर अपनी आँखों को थोड़ा-सा फैला दिया । कहा, ''अब वह नहीं होता । आपकी तरह के बाबू-लोग बीच-बीच में गाँवों में दौरा लगाते रहते हैं । पुलिस-टुलिस नहीं बाबू, आप लोगों की तरह ही साफ़-सुथरे कपड़े पहनकर घूमते रहते हैं । माने, आप जानते ही हैं, टोह लेते रहते हैं ।''

उसने अपना कण्ठ-स्वर और धीमा कर लिया । मैं समझ गया । इतनी देर तक मैं अच्छा-भला था । अब बंगाल की सीमा की बू आने लगी । यहाँ दोनों बंगाल के बीच सीमा खिंची है । मैंने कहा, ''नहीं, मुझे कोई काम नहीं, बस यूँ ही इच्छा जगी, चला आया ।''

''यह तो बड़े आनन्द की बात है ।''—वह हँसकर बोला । ''वैसे, दुनिया के बाक़ी दूसरे लोग किसी-न-किसी धन्धे में फँसे रहते हैं न, इसीलिए पूछ रहा था ।''

धन्धे की बात सुनकर मन बड़ा विक्षुब्ध हुआ । इस दरवेश को समझाने के लिए कुछ बाकी नहीं रहा । गुस्से में आकर मैंने पूछा, ''तुम क्यों बाहर निकले हो ?''

''मैं ?'' दरवेश ने झोला रखकर उसमें झाँका । अपनी ढपली पर दो बार थाप देकर अपना सिर हिलाया और हँसकर बोला, ''महाप्राणी का धन्धा है बाबू—पेट का धन्धा, अगर आप यह पूछें कि किसकी मजदूरी, तो मुरशेद के नाम की मजदूरी... ।''

उसकी बातें सुनकर मन के किसी कोने में कोई कौंध-सी जगी । मुरशेद का मजदूर इतना सहज होकर पेट के धन्धे की बात कह रहा है । सबका कोई-न-कोई धन्धा है । तुम्हारा क्या कोई धन्धा नहीं ! तुम किसके नाम की मजदूरी कर रहे हो, *किसकी खोज में भटक रहे हो ? मैं तत्क्षण दरवेश की बात का* जवाब नहीं दे पाया । वह तब भी अपनी ढपली बजा रहा था डुप्-डुप् । मैं अपने अन्तर्मन में कौंध गयी रोशनी में, छोटे-से बच्चे को देखने लगा जिसकी आँखों में बाल-सुलभ चपलता थी, जिसके होठों पर ठहर-ठहरकर ये शब्द उभर रहे थे ''जाऊँगा, जाऊँगा—ज़रूर जाऊँगा ।''

मैं दरवेश के साथ-साथ इछामती के किनारे-किनारे घूमता-फिरता रहा। अपनी स्मृतियों के दर्पण में मुझे तब पाठशाला में पढ़ रहा दस साल का एक छोटा-सा बालक दीख पड़ा। वह उस पार बंगाल के ढाका शहर के एकरामपुर क़स्बे से पैदल चला आ रहा था। जियस की गली से दौड़ता हुआ वह अपने घर मे घुसा। फिर माँ के पास अपनी किताब और तख्ती पटक कर भागा। माँ के तमतमाये चेहरे को क्या दोष दे! वह चिल्ला उठी, "अरे मुँह-जले, कहाँ जा रहा है?"

उत्तेजना से भरा वह हाँफता हुआ बोला, "खेलने।"

"अरे कुछ खा-पी तो ले।"

अब लड़का फिर एकरामपुर की चौड़ी सड़क पर था। उसकी आँखों में ढलती धूप झाँक रही थी। ओह, दिन कितना छोटा हो चला है! नंगे पाँव, शरीर पर पतली-सी कमीज। डोरिया निकर। एक हाथ कमीज की जेब में—जिसकी मुट्ठी में जार्ज छठे के सर की छाप वाले ताँबे के दो पैसे हैं। उसे इनके गन्ध और स्वाद का पता था। हथेली के पसीने से पैसे जेब में सील चुके थे। दो पैसे देकर ही तो वह जायेगा—हाँ जायेगा। पाठशाला की जेल से वह भाग नहीं पाया। चूहे पकड़नेवाली दृष्टि से हेड मास्टर देखता रहा था। अन्यथा वह पहले ही फुर्र हो जाता। इन पैसों से दो रस-भरे चमचम या दो जलेबियाँ या दो कचौरियाँ और मोहनभोग खरीदे जा सकते थे। जीभ से टपकती राल को वह घोंट गया।

और ये दो पैसे भी तो रोज नहीं मिलते। बड़ी मुश्किल से मिलते हैं। इन पैसों को इसी तरह कुछ खरीद कर उड़ाया नहीं जा सकता। इनसे तो बड़े-बड़े सपने पूरे करने हैं। वह जायेगा....हाँ वह अवश्य जायेगा।

कदमतला पार होते ही उसका यह पागलपन नारिन्दा के पुल की ओर दौड़ा। उसके पीछे से और आगे—दोनों ओर से बग्घियाँ आ रही थी जिन्हें दो-दो घोड़े खींच रहे थे। दो घोड़ों से खीची जानेवाली ऐसी गाड़ी को 'पालकी गाड़ी' कहा जाता था। उन दिनों ढाका शहर में एकमात्र ऐसे ही वाहन हुआ करते थे। उनके साथ चाबुक फटकारना पड़ता। इस छोटे-से बच्चे को दायें-बायें की कोई समझ नहीं थी। उसे भागते देखकर बग्घीवाले ने आवाज दी,

"अरे ओ माखन, चल...चल...सामने से हट जा।"

लड़के का नाम माखन नहीं—यह गाड़ीवान की स्नेह-भरी पुकार थी। माखन से और बढ़कर क्या कुछ कहा जा सकता था? बीच-बीच में बड़े-बड़े लोगों के इक्के दौड़ रहे थे। बड़े-बड़े तगड़े घोड़े, दुलकी चाल, आँखों पर चश्मा, सर पर सेहरा। गाड़ी पर या तो भारी भरकम लोग सवार होते या जेवरों से लदीं सजी-धजी सुन्दरियाँ—सजीली साड़ी और भीनी खुशबू में...लड़के की धारणा ऐसी ही कुछ थी। शायद एकाध मोटर कार भी रही होगी। उस पर कौन बैठे होते हैं—उसे इसकी कोई जानकारी नहीं।

वह एकाएक चकित होकर थम गया। बायीं तरफ़ काला चाँद बाबू का मैदान था। जहाँ उसके सभी साथी खेलने में मस्त थे। टेनिस की गेंद के पीछे भाग-दौड़ और रिंग के भीतर उठा-पटक मची थी। किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा। इसलिए वह एकबारगी सकते में आ गया, उसके भागने की गति धीमी हो गयी। फिर दूसरे ही क्षण वह फिर तेज़ी से भागने लगा। उसके पास अभी वक़्त नहीं। जितनी देर हो चुकी थी उससे कहीं अधिक देर उसकी आँखों से झाँक रही थी।

सजियाल नगर जानेवाली सड़क को बायीं ओर छोड़ते ही वह नारिन्दा के पुल पर था। नीचे नदी का जल-प्रवाह। नदी के काले जल में धूप झिलमिला रही थी। कहीं कोई नौका नहीं दीख रही थी। जरूरत के इन दिनों में—नदी तनिक सूनी-सूनी ही रहती है। बायीं ओर से मुड़ती हुई वह सीधी निकल गयी है—फिर दाहिनी ओर खो गयी है। अचानक फैलती हुई ऐसी बिखर गयी है कि उसके बहाव का कुछ पता नहीं चलता। पता भी चले तो कैसे! निर्जन हरियल मैदान की तरह सामने जो दीख रहा था—वहाँ कचनू के पत्ते फैले थे। उसके बीच, मुख्य जल-धार किधर छिटक कर निकल गयी है—इसका पता पुल से भी नहीं चल पाता।

अभी भले ही पता न चले, किन्तु नीचे उतरने पर तो पता लग ही जायेगा। पुल से नीचे आ वह ढलान की तरफ़ तेज़ी से उतरने लगा। ईंट के भट्ठे से निकलकर वह फिर नदी के किनारे-किनारे चलने लगा। आस-पास ग़रीब मुसलमानों की बस्ती थी। उनकी झुग्गियों के नीचे टूटी ईंट, लकड़ी के तख़्ते या फेंके गये कोयले के टुकड़ों से ढूह-सा बन गया था। यह उन झोपड़ियों का पिछवाड़ा था। घाट पर औरतों का क़ब्ज़ा था। घरों की खिड़कियाँ पिछवाड़े की ओर ही खुलती थीं। इसलिए उनके दरवाजे तक जाने के लिए घूमकर जाना पड़ेगा। वहाँ अधिकतर मुसलमानों की ही आमद-रफ़्त है। उस समय, लगभग हर घाट पर उनकी बीवियाँ नहा-धो रही थीं। कुछेक बरतन धो रही थीं तो कोई

अपनी देह धो-पोंछ रही थीं। चेहरे पर लगे साबुन के झाग से किसी की नाक की लौंग ग़ायब हो गयी थी।

घाट पर कहीं-कहीं नौकाएँ बँधी हुई थीं।

लड़के की दृष्टि एक बार घर की तरफ़ किन्तु दूसरे ही क्षण घाट की तरफ़ गयी। न केवल घाट की ओर बल्कि वहाँ बँधी नौका की ओर भी। पहले उसने नौका की ओर देखा और फिर घर की ओर। उसके हृदय में एक हूक-सी उठी। माथे, भौंह, नाक और गले से पसीना चुहचुहा रहा था। आँखों में विह्वल आतुरता थी। उसे जिसकी खोज थी, वह कहाँ है?

दो क़दम आगे बढ़ते ही वह देख पाया—है। एक छोटी-सी डोंगी। रंग-रोगन से लिपी पुती...नयी। रस्सी द्वारा बाँस के खूंटे से बँधी। पानी ठहरा हुआ—कौन जाने नदी का प्रवाह किधर है। लहरें एकदम निश्चल पड़ी थीं। लगता था—वह नौका किसी दर्पण में अपना मुख निहार रही हो। घाट पर कोई नहीं। लड़के ने ऊपर ताका तो पाया कि एक ओर बेड़ों पर तरोई, तो दूसरी ओर कद्दू की लतरें फैली हुई हैं। पास पहुँचकर उसने इधर-उधर देखा। एक बेड के नीचे साग और दूसरे के नीचे बैंगन के पौधों की क्यारियाँ थीं। बीच से एक पतली-सी पगडण्डी निकल गयी थी। पास ही दोनों ओर मिट्टी के बने दो कच्चे घर थे—टिन के छप्परवाले। लड़के की आँखों में आशा की जैसे किरण चमक उठी। उसने पुकारा, "नानी —ओ नानी..."

उसके दो बार पुकारते ही घर के अन्दर से आवाज़ फूटी। यह किसी बुढ़िया की आवाज़ थी—"कौन है रे. . . अरी सलीमा, ज़रा देख तो कौन पुकार रहा है?"

लड़के ने सलीमा के घर से बाहर निकल आने के पहले ही, वहीं से उत्तर दिया, "नानी, मैं हूँ।" इतना तो वह जानता है कि दादी माँ भले ही मुसलमान हो—उसे नानी ही कहना चाहिए। तब तक सलीमा भी घर से बाहर निकलकर अपनी गरदन टेढ़ी कर देख रही थी। छह-सात साल की लड़की—फीते से चुटिया बाँधे और लाल रंग का फ्रॉक पहने। उसकी आँखों में सुरमा था और हथेलियों में मेंहदी रची थी। लड़के को देखकर वह बोली, "नानी.... कोई हिन्दू छोकरा है।"

हिन्दू छोकरा!. नानी तब तक बाहर आ चुकी थी। सफ़ेद लेकिन मैले-कुचैले कपड़ों में। उसकी देह पर छींट का ,एक ढीला-ढाला और पुराना-सा जामा था। गोरे चेहरे पर खसरे का हल्का-सा दाग़। दाँत नहीं थे, लेकिन पोपले होंठ पान की पीक से एकदम लाल थे।। उसे देखकर लड़के को किसी ललमुनिया की याद आ गयी। कौन जाने, उसकी आँखों में मोतियाबिन्द हो।

बुढ़िया ने अपनी सपाट भौंहों को उठाकर उस ओर दृष्टि दौड़ायी और फिर पूछ बैठी, "क्या बात है सोना ?"

लड़के का हाथ अब भी वहीं—जेब में ही था, जहाँ दो पैसे पड़े थे। बोला, "मुझे भाड़े पर डोंगी चाहिए।"

बुढ़िया धीरे-धीरे बेड़े तक चली आयी। उसके पीछे सलीमा भी थी—नानी की अँगुली पकड़े। अपनी पोपली हँसी के साथ बुढ़िया कहने लगी, "इत्ता छोटा छोकरा! तैरना जानता है ?"

लड़के की उमंग-भरी आँखों में उदासी के बादल घिर आये। बोला, "जानता हूँ।"

बुढ़िया एक बार फिर खिलखिला पड़ी। गरदन हिलाते हुए बोली, "ऊँहूँ... नहीं सोना, तू तो झूठ बोल रहा है।"

लेकिन लड़के के तेवर से ही उसकी प्रतिक्रिया का पता चल गया, "तैर कर दिखाऊँ।"

इधर बुढ़िया थी कि उसका सन्देह नहीं मिट रहा था। बोली, "अच्छा, दिखा तो सही।"

लड़के ने झट से अपनी कमीज खोल दी। लेकिन पैण्ट उतारते समय वह जैसे ठिठक गया। पास खड़ी सलीमा अपनी अविश्वास-भरी आँखों से उसे टकटकी लगाये देख रही थी। नानी के सामने वह भले ही नंगा हो जाये। पर इसका मतलब यह तो नहीं कि वह इस बित्ते-भर की छोकरी के सामने भी...।

नानी ने संकेत किया, "तू उधर घूमकर खोल ले, कोई नहीं देखेगा।" फिर नातिन की ओर मुड़कर बोली, "सलीमा, जा, जाके वह गमछा तो उठा ला।"

यह बुढ़िया नानी भी आसानी से मान जाने वाली नहीं। लड़के ने देखा: सलीमा अब तक वहीं खड़ी है। बड़ी बुरी बला आ पड़ी। अब यह परीक्षा तो देनी ही होगी कि उसे तैरना आता है। उसने मन-ही-मन सलीमा को गालियाँ दीं—'साली, हरामजादी।' और फिर पीछे मुड़कर अपनी पैण्ट खोल पानी में जा कूदा। एक ही ग़ोता खाया, कि उसे पता चल गया कि यहाँ काफ़ी गहरा पानी है। तो भी, जिस प्रकार किसी कुशल हाथों में पड़ी सुई कथरी को छेदती-भेदती चली जाती है, उसी प्रकार उस लड़के की नंगी देह पानी को काटती आगे बढ़ती गयी। जैसे वह जल का ही कोई जीव हो। मझदार में जाकर उसने घाट की ओर मुड़कर देखा। बुढ़िया अपनी गरदन हिलाकर हँसती जा रही थी। वह हाथ उठाकर उसे बुलाने लगी।

लड़के के वापस आते-आते, सलीमा भागकर गयी और गमछा लेकर आ गयी।

बित्ते-भर के इस छोकरे को देखकर उसकी आँखों में अचरज भर आया था। वह यही सोचती रही कि नाक की नथनी हिलाकर वह हँसे या न हँसे। फिर नानी का पल्ला खींचती हुई बोली, "नानी, देखो जोंक...जोंक...."

हाँ, छोटी-छोटी तीनेक काली जोंकें लड़के के पाँव में चिपकी हुई थीं। नानी हाथ में गमछा लिये बेड़े से बाहर निकल आयी। उसने लड़के के सिर पर गमछा फैलाया और धीरे से उन जोंकों को खींच बाहर निकाल फेंका। 'च च्च—च्च' करती हुई बोली : "ओह, जोंकों ने तो मेरे सोना चाँद को चबा डाला होता।" गमछा हाथ में ले उसकी देह पोंछती हुई उसने पूछा, "बेटा, तू तो काफ़ी अच्छा तैर लेता है, किसने सिखाया भला?"

"पहले तो बाबा ने, फिर अपने आप..." लड़के ने कहा।

इस बीच वह अपनी पैण्ट पहन चुका था। फिर कमीज भी डाल ली। जेब में हाथ डालकर देख लिया कि वहीं पैसे हैं। उसकी आँखों में अभी भी सन्देह के बादल तैर रहे थे। बोला, "तो अब डोंगी दे दो।"

उसके सिर के बालों का पानी पोंछती हुई वह बोली, "दूँगी रे सोना! कितनी देर के लिए चाहिए।"

"एक घण्टा, बस।" कहकर उसने अपनी जेब से चमचमाते हुए दोनों पैसे बुढ़िया की ओर बढ़ा दिये। छोटी डोंगी का भाड़ा दो पैसे प्रतिघण्टा ही था। बुढ़िया के लाल पोपले होठों पर तांबई चमक फैल गयी। "सलीमा, जा पतवार ला दे।"

सलीमा अब तक एक पाँव पर खड़ी थी। नानी की बात सुनते ही दौड़ पड़ी। नानी ने उन दोनों पैसों को अपनी पल्लू में बाँधते-बाँधते पूछा, "तुम्हारा घर कहाँ है?"

लड़के की आतुर आँखें वहाँ—सहन की ओर जा लगी थीं। राक्षसी अब तक पतवार लेकर लौटी नहीं। इधर घड़ी बीती जा रही है और धूप का रंग लाल होता जा रहा है। उसने नानी को बताया—"एकरामपुर।"

"तू पहले भी यहाँ आया था? डोंगी खेने के लिए?"

"हाँ दो-दो बार। अपने दोस्तों के साथ।"

"लेकिन सोना, इस बार तू अकेला है। खे भी सकेगा?"

लड़के ने तुरत अपनी गरदन हिला दी। सलीमा अपनी दोनों हाथों में पतवार ले आयी। उसने उसे लपककर ले लिया और ढलान की तरफ़ उतरने लगा। फिर डोंगी पर उचककर सवार हो गया। बुढ़िया चिल्लाती रही, "अरे खूँटे की लग्गी तो ले जा...बाहने के काम आयेगी। किस ओर जायेगा....?"

"गाण्डाइरा।"

पर यह उसके मन की बात नहीं थी, उसने बस यों ही टाल दिया था। बुढ़िया कह रही थी, "किनारे-किनारे जाना। तभी लग्गी से नाव खे सकोगे!"

छोटे से हाथों का थोड़ा-सा झटका पाते ही लग्गी खूंटे से खुल गयी। लग्गी को डोंगी पर रखकर उसने पतवार से डोंगी को ठेल दिया। नाव पानी में उतराने लगी। नदी पर बाँधी गयी छोटी-सी एक पुलिया जो कच्चू के पत्तों से ढँकी होने से पुल पर से दीख नहीं रही थी — वह अब किसी चमचमाते नाग की तरह भासने लगी थी। टेढ़ी-सँकरी मुड़ती हुई वह पूरब की ओर चली गयी थी। कच्चू के पत्तों का सारा जमाव बायीं तरफ़ फैल गया था—सीतानाथ के खेल-मैदान तक। कई तरह के खेल होते रहते वहाँ। वहाँ पर अब भी उसके कई साथी होंगे, क्या पता! काफी दूर पर, ठीक बीचोंबीच गहरे हरे कच्चू के पत्तों का घना क्षेत्र लहरा रहा था। किसी का ध्यान पानी की ओर नहीं था।

जब सब कुछ किनारे पर छूट गया और हर कोई खेतों में व्यस्त था, तब यह नन्हा माँझी कहाँ जा रहा था! वह किस प्रवाह के साथ बहने चला था! पीछे-पीछे उसकी माँ पुकारती रही। परोसा गया भात अब भी बाहर पड़ा हुआ होगा। वह वापस आ ही रहा होगा इसलिए उसे माँ फिर हाँड़ी में नहीं डाल पायी होगी। और अब वह यहाँ माँझी बनकर पतवार से डोंगी खे रहा था...गहराती नदी में जाने कहाँ उतराता जा रहा था...यह सब उसकी माँ को कहाँ पता। यह तो बस उसे ही मालूम है कि वह इस प्रवाह से बूढ़ी गंगा तक जायेगा। वहाँ क्या है भला?

वहाँ है...अथाह जल वाली नदी....बूढ़ी गंगा। और क्या? इसके उस पार ईंटों के भट्ठे हैं, जिनकी चिमनियाँ धुआँ उगल रही हैं। इस पार से ईंट के भट्ठे एकदम सुर्ख दिखाई पड़ते हैं। और क्या है? खीरे, ककड़ी की लतरोंवाली हरी-भरी बाड़ियाँ, मटर और उड़द के फैले हुए खेत।....और अनन्त आकाश। इन सबों में भी क्या रखा है! हर कोई तरह-तरह के खेलों में मस्त है और थोड़ी ही देर बाद हर कोई बत्ती जलाकर पढ़ने बैठ जायेगा। उस समय न केवल परोसी हुई थाली छोड़कर, बल्कि गुस्से से लाल आँखों का अनुशासन झुठलाकर, बूढ़ी गंगा की लहरों पर डोंगी खेता हुआ कहाँ जा रहा है तू? खेलने का आनन्द भले ही न हो, पर क्या भूख भी नहीं सताती? भूख की भी बात न की जाये तो क्या किसी तरह का आतंक नहीं, डर नहीं। वह कौन-सा सुख है जो तुम्हें इस जल-प्रवाह से बूढ़ी गंगा की ओर लिये जा रहा है। वहाँ किसकी खोज है?

यह वह नहीं जानता था। उसकी आँखों में बूढ़ी गंगा के मुहाने का अथाह जल प्रवाहित हो रहा है। मोड़ पार करते ही वह सीधे पूरब की ओर बढ़ चला। वैसे उसने कैप्टेन कुक और कोलम्बस के बारे में भी पढ़ा है, पर अभी उसे कुछ

भी याद नहीं, न उनके आविष्कारों से कुछ लेना-देना है। बूढ़ी गंगा की लहरों पर, पता नहीं उसे कौन-सी अनजानी, अनचीन्ही खुशी मिलती थी। अब जब तक डोंगी लेकर उसके मुहाने तक नहीं पहुँचा जाये तब तक इस आनन्द का पता नहीं चलता। इसीलिए उसकी आँखों में ठहरी हुई हैं गंगा की लहरें...

लेकिन डोंगी के निचले पेंदे से चिपकी हुई कोई चीज थी जो थपकियाँ दे-देकर उसे धारा के विपरीत उल्टी दिशा की ओर ठेल देना चाहती थी। ऐसा मालूम पड़ता कि कोई था जो उसे बूढ़ी गंगा के स्रोत की ओर खींच रहा था। बुढ़िया ने भी कहा था : "किनारे-किनारे जाना तब लग्गी से थाह ले सकोगे।" माँझी ठहरा नया। पतवार उसकी बात नहीं मानती और डोंगी ठहरी पगली—बायीं ओर बिदक गयी तो बायीं तरफ़। दायीं ओर निकल गयी तो मानेगी नहीं। यह सारी कठिनाई किनारे पर ही थी। माँझी ने लग्गी उठायी और पानी की धार को काटना शुरू किया। उसने बुढ़िया को बताया था, "गण्डारिया जाऊँगा।" हूँ—गण्डारिया और कोलू टोला तो बायें-दायें कब के छूट भी गये! जगह-जगह बने हुए घाटों पर स्त्रियाँ, लड़कियाँ नहा-धो रही थीं, कुछेक बर्तन साफ़ कर रही थीं। कोलू घाट की तरफ़ बँधे हुए कई पक्के घाट थे और पुराने मन्दिर भी। बड़े-बड़े वटवृक्ष थे। वृक्षों के उस पार बस रहा था, यह नया गण्डारिया। पानी में, इधर उधर फैले घाट, मन्दिर और वटवृक्षों की परछाँई पड़ रही थी, मानो शाम का झुटपुटा अचानक ही घिर आया हो। लड़के की आतुर आँखें फैल गयीं। उसने झुककर अपने शरीर को मोड़ा और फिर लग्गी ठेलने लगा। पंछियों के कलरव तेज होने के साथ-साथ उसका मन और भी उद्वेलित हो उठता।...दिन डूबता जा रहा था।

घाटों पर शाम उतरती जा रही थी। मर्दों का आना-जाना कम हो गया था। वहाँ जैसे औरतों का ही क़ब्ज़ा हो गया था। हाँ, इस नये माँझी के लिए उनमें कोई लाज-संकोच नहीं। घड़े को एक ओर रखकर वे आपस में छेड़खानी करती हुई खिलखिला उठती थीं। पाँव फैलाये हुए तैरती भी जाती थी। यही नहीं, उस नये माँझी को देखकर पुकार उठी हैं "अरे ओ छोकरे....कहाँ जा रहे हो ?"

छोकरे को क्या मसखरी सूझे भला ? वह डोंगी की चाल सँभालने में व्यस्त है, आँखों में बूढ़ी गंगा लहरा रही है। तो भी पक्के घाट की ओट से—कमर तक बँधी साड़ी और खुली देहवाली एक लड़की एक पाँव पर चक्कर-घिन्नी खाकर नाचती हुई बोल उठी, "तेरी माँ है सुन्दर, तू है छोरा बन्दर। केले के पेड़ पर बरों की थाप, नाच-कूद कर बुला ला बाप।" अपने आप को पहले तो वह किसी तरह संयत किये रहा, फिर दूर से अपना झापड़ दिखला दिया।

लेकिन लड़की थी कि कुछ समझी नहीं। वह अपनी धुन में वही ताल सुर घोटती रही—"तेरी माँ है सुन्दर, तू है छोरा बन्दर..." केले के पौधे पर कहीं बरों का छत्ता होता है भला। और अगर हो भी तो वह भला क्यों 'बाप-बाप' पुकारने जायेगा। और किसे अपना बाप कहकर बुलायेगा? नया माँझी मन-ही मन भुनभुना उठा, "जा मर कलमुँही..."

भीतर-ही-भीतर तमतमाते हुए भी वह केवल यही कुछ नहीं सोचता रह सकता। लग्गी कटाते हुए वह डोंगी भी खे रहा था। उसका चेहरा लाल हो उठा। शरीर से पसीने की धार बह निकली। अब वह ललछौंही धूप भी, जाने कहाँ खो गयी। सिर्फ़ आसमान का एक सिरा लाल रह गया था। डोंगी अब गण्डारिया के नाव घाट से आगे सुतरापुर हाट के पास थी। सामने लोहे का पुल काफी बड़ा-लम्बा-चौड़ा झूलता हुआ पुल—जिसके ऊपर घोड़ागाड़ी चलती है। पुल पार होते ही फिर एक चक्करदार मोड़ था। छोटे बालक की आँखों के नीचे कालिमा गहरा उठी। पानी के नीचे वह कौन था जो अपने बड़े-बड़े नाखूनी पंजों से डोंगी झपट लेना चाहता था। इसे खींचकर पीछे धकेल देना चाहता था।...अब सामने वह रही फ़ौजी छावनी और दाहिनी ओर मालाकार पाड़ा जहाँ उसका मित्र बिलटू रहता था। उसके पुराने कीचड़ काई सने घाट से खड़े होकर कई बार बूढ़ी गंगा को देखा था।

वहीं—दायी ओर किनारे पर कई समुद्री नौकाएँ लंगर डाले सुस्ता रही थीं। उनके मल्लाह बूढ़ी गंगा में मछली पकड़ते हैं और नहर में नौका खड़ी कर रात बिताते हैं। मल्लाह या तो हुक्के पी रहे थे या फिर जाल बुन रहे थे। उनमें से कुछेक इस नन्हें माँझी को देख रहे थे। लेकिन उनमें न कोई कौतूहल था, न जिज्ञासा और न ही कोई खलबली। चूँकि माँझी नया है इसलिए कोई इसे पहचाने भी तो कैसे! इसी बीच कोई गा उठा—"अरे हाय री विष्णु प्रिया.... निमाई चांद को विदा करके....तूने यह क्या ग़जब किया।"

कानों तक यह आवाज सुनाई पड़ी। नन्हा माँझी झूलता पुल पार कर अब अपनी लग्गी से फ़ौजी छावनी की दूरी नाप रहा था। दायी ओर से ही तिरछा मोड़ है—थोड़ी दूर पर। इस मोड़ को पार करते ही सामने ही बूढ़ी गंगा। लेकिन वहाँ तक पहुँचने के पहले ही मालाकार पाड़ा के पेड़ों के झुटपुटे में घाट-घाट पर काला अँधेरा उतर आया था। छावनी का घड़ियाल घनघना उठा। नन्हा माँझी....उसके पास एक घण्टा और कुछेक मिनट ही तो थे। अब घण्टा, मिनट, सेकेण्ड और पल-छिन का हिसाब करता भी कौन? डोंगी की मालकिन—*बूढ़ी नानी का चेहरा तक उसे याद नहीं*। उसके सामने थी *बूढ़ी...गंगा...* बूढ़ी गंगा।

नन्हा माझी रुकता नहीं। वह लग्गी चाहता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था। उसे भय था तो पास के दियरे का। छावनी में शायद गोरे और गढ़वाली फ़ौजी रहते हैं। ये फ़ौजी लोग इस पार किसी को देखते ही पकड़कर ले जाते हैं—बिलटू ने बताया था। लेकिन क्या वे इसे देख पायेंगे! वह तो उन ऊँचे किनारे के इतने नीचे से जा रहा है। थोड़ी ही दूर पर...आगे...और...। उसे याद आया—यहीं उसने एक बार ढाकेश्वरी की प्रतिमा देखी थी। धान मण्डाई का इलाक़ा पार होते ही—वहीं तो है आश्चर्य मन्दिरवाली उसकी प्रतिमा। लोग कहते हैं, "वह सबकी मनोकामना पूरी करती है।"

इतना सब कुछ सोचते-सोचते ...अचानक ही न जाने क्या हुआ। लगा डोंगी को कोई सामने की तरफ़ खींचता हुआ ले गया। हाथ की लग्गी हाथ में ही रही। भीतर ही भीतर किसी ने अपने हाथों से उठाकर डोंगी को उछाल दिया। क्षणभर में ही, वह मोड़ पार गया....और थोड़ी ही दूर पर....सामने था विस्तीर्ण दिगन्त। कल...कल...छल...छल...हहराता स्वर। लेकिन बूढ़ी गंगा...? उसका दूसरा पाट....कहाँ है ?

दूर...कहीं अस्पष्ट-सी छाया दीख रही थी। अन्धकार धीरे-धीरे फैलता चला जा रहा था। उस पार...बहुत दूर प्रकाश का आभास हो रहा था। शायद ईंट के भट्ठे सुलग रहे थे। इसके अलावा कहीं कोई प्रकाश-बिन्दु शेष नहीं था। लेकिन बूढ़ी गंगा की लहरों पर कोई अज्ञात आभा झिलमिला उठी थी। उसे वहीं तो जाना था। तब....जब कि अँधेरा इतना गहरा हो चुका था...आकाश में कहीं-कहीं तारे टिमटिमा रहे थे।

लेकिन कौन था वह जो उसकी डोंगी खींचता चला जा रहा था। मुहाने की दायीं ओर जिसके आगे सदर घाट चला गया है, वहाँ पर कई मस्तूलों की परछाइयाँ काँप रही थीं। दो-एक जगहों पर धुंधली बत्तियाँ जल चुकी थीं। यह कौन था जो उसकी डोंगी खींचता चला जा रहा था! नन्हा माँझी पतवार उठाये भी कैसे? वह खेना-बेना सब भूल चुका था। उस अबोध बालक की बुद्धि में कार्य-कारण का कोई बोध नहीं। डोंगी बहती चली जा रही थी...तिनके की भाँति...।

इसके बाद हठात् आसमान को भी भेद उठनेवाली आवाज़ गूँज उठी, "सँभलो ...सँभलो...।" नन्हें माँझी का हृदय धड़कने लगा। उसने सामने देखा तो पाया उसकी छोटी-सी डोंगी के सामने एक भयंकर काली छाया मँडरा रही थी। जल तर्पण के लिए बनी आंजुर में समा जानेवाली छोटी-सी डोंगी। इस डोंगी पर सवार होकर वह भयंकर जबड़ों में समाने ही तो आया था। और जो बूढ़ी गंगा की धार में जाते हैं—उन्हें किसी बात की आशंका नहीं रहती। सामने....भयंकर

काली छाया-सी चुड़ैल उसे निगलने आ रही थी...या वह स्वयं उसकी लपलपाती जीभ के अन्दर धँसता चला जा रहा था, यह कुछ समझ नहीं पा रहा था।

एक बार फिर वही चीत्कार और इसके साथ ही कई आवाजें। इसके बाद उसे कुछ पता नहीं। उसकी डोंगी पर शायद कुछ गिरा...खटाक...! और गिरते ही डोंगी को घसीटने लगा। इसे ठेलते-ठेलते काली छाया के पास से काफ़ी दूर हटा दिया गया। उसे किसी का कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा : "तू कौन है रे... रास्ता भटक गया है...नाव खेना जानता है ?"

किसी दूसरे आदमी की आवाज आयी—"इस डोंगी पर तो छोटा-सा छोकरा है।"

पहले ने कहा, "उससे पूछ तो सही, कहाँ जा रहा है ?"

"तू कौन है, कहाँ जा रहा था ?" दूसरे ने पूछा ?

नन्हा माँझी अब समझ पाया कि वह भयंकर काली छाया—एक विशाल झोंका थी। उसकी छजली हाथी की पीठ की तरह रही होगी। अब वह उसकी छोटी डोंगी को अपने साथ खींचे लिये जा रही थी और जिसके धक्के से ही वह उस राक्षसी के मुँह में जाते-जाते बचा था। मल्लाहों ने अपनी लम्बी लग्गी से उसे ठेलकर हटा दिया। इतनी देर बाद नन्हें माँझी ने सफाई दी।

"डोंगी तो अपने आप ही बहती चली गयी, मैं उसे रोक नहीं पाया।"

"सत्यानाश", पहले आदमी की आवाज सुनाई पड़ी। "तू क्या बकता है... रे...तू नदी मे डूबना चाहता था क्या ? ले चल पकड़ यह लग्गी।"

तब नन्हें माँझी ने बड़ी नौका की लग्गी को मजबूती से थाम लिया। मल्लाह उसे खींचते हुए बड़ी नौका तक ले गये। पूछा, "रस्सा है या नही ?"

नन्हें माँझी ने डोंगी की रस्सी आगे बढ़ा दी। एक ने रस्सी पकड़ी और दूसरे ने हाथ बढ़ाकर कहा—"ला दे !"

लड़के के हाथ आगे बढ़ाते ही एक माँझी ने उसे बड़ी नौका पर खींच लिया और उठाकर छजली पर भेज दिया। वहाँ मस्तूल के पास बैठे सरदार मल्लाह ने उसे अपने पास बैठा लिया। लड़के ने देखा कि मल्लाहों ने उसकी डोंगी को बड़ी नौका के साथ बाँध दिया। फिर छजली पर बत्ती लायी गयी। चारों माँझियों ने बत्ती उठाकर देखा। नन्हें माँझी की आँखें दूर पूरब की ओर वहाँ ठहरी हुई थी जहाँ बूढ़ी गंगा धीरे-धीरे ओझल होती जा रही थी। उसकी आँखों में अन्धकार छा गया। आँसू अब छलके कि तब छलके। वह सोच रहा था कि उसकी यह यात्रा तो अधूरी ही रही ! पता नहीं अब कब पूरी होगी—कौन जाने ! अब अगली बार के लिए दो नहीं, चार पैसे चाहिए। दो घण्टे से कम नहीं लगेंगे। और...और अब पाठशाला की छुट्टी के बाद भी नही, उससे पहले।

पाठशाला से भागकर...।

इस बीच माँझियों में उसके लिए पूछताछ शुरू हो गयी थी। किसका बेटा है, कहाँ जायेगा यह! न भय है, न ठण्ड....अजीब लड़का है यह! लड़के ने एक-एक कर सबका उत्तर दिया। उन्होंने थोड़ी-बहुत बक-भक की और फिर फिक्क फिक्क कर हँसते हुए हुक्का खींचने लगे। उन्होंने यह भी बताया कि वे सब शहर के पास ही नवाबपुर जायेंगे माल-असबाब लादने। बूढ़ी गंगा की ओर जानेवाले इस माँझी की क़िस्मत अच्छी थी कि हम सबसे मुलाक़ात हो गयी।

नौका अब बूढ़ी गंगा के प्रवाह के साथ बहती चली जा रही थी। फिर भी, बूढ़े माँझी ने कहा, "दो-चार चप्पू की ही तो बात है। इस बच्चे को आगे तक छोड़ दो।"

नन्हा माँझी पहचान नहीं पाया कि वे हिन्दू थे या मुसलमान। सरदार के चेहरे पर घनी मूँछ-दाढ़ी थी। पता नहीं वह हँस भी रहा था या नहीं। हाँ गुड़क-गुड़ककर हुक्का खींचता हुआ टकटकी लगाये उसको ओर देख रहा था। उसकी आँखें कभी-कभी मुसकराती हुई दीख पड़तीं। इसलिए लड़के को लगा शायद वह हँस रहा था। सरदार ने जैसे पहेली बुझाते पूछा:

"तू कहाँ जाना चाह रहा था रे....?"

"बूढ़ी गंगा।"

"बूढ़ी गंगा में कहाँ?"

"बूढ़ी गंगा"—इससे अधिक वह नहीं बता सकता। जानता भी नहीं।

मल्लाह ने फिर पूछा:

"वहाँ क्या है? किसकी खोज है?"

"नहीं जानता।"

"नहीं जानते?"

बूढ़ा मल्लाह खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसने दूसरे माँझियों को पुकार कर कहा, "सुना, यह छोकरा इतना भी नहीं जानता कि कहाँ जा रहा है, क्या चाहता है?"

सभी हँस पड़े। लेकिन किसी को इसका पता न था कि उस समय लड़के के हृदय में कितना हाहाकार और अन्धकार था। उतना अन्धकार तो बल खाती नदी, जंगल, पेड़ और घाटों पर भी नहीं उतराया था। उस समय बूढ़ी गंगा की लहरों पर कुछ एक चेहरे तिर रहे थे—बाबा, माँ, दीदी और मास्टर जी। जैसे पीठ पर बेंत बरस पड़ी हो....आह...। ढेंकी की चोट की तरह हृदय धक्-धक् करने लगा।

धीरे-धीरे, थोड़ी देर में नानी का घाट आ गया। लड़का तब कठरी में मुँह

छुपाये, हाथ में लालटेन लिये घाट पर बैठी थी। पास ही, सिमटी हुई सलीमा के चेहरे पर रोशनी पड़ रही थी। लड़के को यही आशंका सता रही थी कि बुढ़िया कहीं अपने बढ़े हुए पैसे की मांग न कर बैठे। एक घण्टा तो कब का बीत चुका। किनारे से बुढ़िया की हांक सुनायी पड़ी—"अरे ओ मल्लाहो, तुम लोगों ने किसी छोटे से लौंडे को डोंगी में देखा है क्या ?"

बड़ी नौका लग्गी टेकती हुई तब तक बुढ़िया के घाट के पास पहुँच चुकी थी। मल्लाहों के सरदार ने जवाब दिया, "अरे पकड़कर ले आया हूँ। लौंडा तो आज बूढ़ी गंगा में डूब गया होता।"

बालक तब तक छोटी डोंगी पर उतर आया था। बुढ़िया लालटेन लेकर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ आयी। बोली, "हाय अल्ला ! इस लौंडे को तो शैतान ने पकड़ रखा है !"

बालक के शरीर पर रोशनी पड़ी। डोंगी से उतरकर उसने लग्गी को किनारे की कीचड़ में धांस दिया और फिर उस रस्सी से बाँध दिया। लेकिन बुढ़िया की ओर नहीं देखा। बड़ी नौका लग्गी उठाकर पश्चिम की ओर चलने लगी। सारे मल्लाह आपस में अपनी बातचीत में मस्त थे। बुढ़िया ने आगे बढ़कर लड़के का हाथ थाम लिया। नन्हें मांझी की हालत अब और भी खराब हो गयी। उधर सलीमा की आँखें झपक भी नहीं रही थीं। इस बित्ते-भर के छोकरे को क्या सचमुच शैतान ने दबोच रखा है—उसकी सुरमई आँखों में यही सवाल था।

"नानी, मेरे पास अब पैसे नहीं।" नन्हें मांझी ने कहा।

नानी अवाक् ! फिर बोली, "पैसे....पैसों का क्या काम !"

"वो....आपकी डोंगी का भाड़ा।"

ममता, खीझ और हँसी—तीनों से बुढ़िया के गले की आवाज भर्रा गयी। बोली, "अरे मेरे हजरत, मैं क्या तेरे पैसे के लिए यहाँ बैठी हुई हूँ ? मैं तो इस चिन्ता से मरी जा रही थी कि दुधमुँहे बच्चे को डोंगी दे रही हूँ....पता नहीं पानी में डूब मरे या सांप काट खाये। तेरे माँ-बाप का कलेजा पत्थर है क्या ? पता नहीं, कहाँ पड़े होंगे मुए....। तू घर तो चला जायेगा ?"

माँ-बाप की बात सुनते ही, उसका हृदय डूबने लगा। उसने अपने को संयत करते हुए कहा, "हाँ, चला जाऊँगा।"

बुढ़िया ने उसका हाथ तुरन्त छोड़ दिया और बोली—"तो फिर जा।"

नन्हा मांझी जितनी तेजी से आया था, उतनी ही तेजी से चला गया। रास्ते में दुकानों की बत्तियाँ जल रही थीं। डोंगी की तलाश में उसे जिस तरह धूप-भरा दिन ढलता हुआ दिखाई दिया, उसी तरह शाम का गहरा झुटपुटा

आधी रात के समान लग रहा था। चौड़ी सड़क से निकल गली की ओर मुड़ते-मुड़ते उसकी सांस रुंध गयी। ढाकेश्वरी देवी पर भी उसका भरोसा नहीं रहा। गली में घुसते ही किसी खिड़की से रोशनी छन रही थी। शायद वहाँ पढ़ाई-लिखाई चल रही थी। सबकी उछल-कूद, काफी देर पहले ही खत्म हो चुकी थी। घर-घर में सभी अपनी किताब-कापी लिये पढ़ने बैठ चुके थे।...और यह कि बहते हुए पानी की महक अब तक इसकी देह में बसी हुई थी।

तनिक भीतर घुसते ही हलचल-सी मच गयी। पहले एक पड़ोसी पर, फिर दूसरे पर नजर पड़ी। सभी एक-एक कर लड़के का नाम पुकारने लगे : "आ गया—आ गया,..." मतलब यह कि काफ़ी-कुछ देर से छान-बीन और दौड़-धूप चल रही थी। इसके बाद, एक दो-तल्ले मकान से ऊपर तेज रोशनी पड़ी। दीदी! और उसके पीछे माँ! नन्हें माँझी की जान अब निकली कि तब! वह माँ की इतनी-सी ही आवाज सुन पाया, "कहाँ, कहाँ है वह ?"

इसके बाद वही धौल-धप्पे—"जा मर जा मुए...जम कहीं के....।"

मुण्ड-बलि देने की खातिर ही इतनी भाग-दौड़ और चिल्लपों मची थी। माँ और दीदी की बातों से ही पता चला कि इस बीच थाने को भी सूचना दे देने के बारे में चर्चा होती रही। दरवाजे के पास ही छोटी-सी अदालत बैठी और कार्रवाई शुरू हुई। आसामी को बाबा के पास ले जाया जाये या नहीं, यह भी विचार हुआ। माँ का विचार था—नहीं। संन्यासाती के बाद वह अब तक महाभारत का पसारा लिये बैठी थीं। अन्ततः माँ की ही बात मान ली गयी। दीदी आसामी को लेकर बैठक में आयी, जहाँ पढ़ाई-लिखाई चल रही थी। मास्टर साहब और मँझले भैया सामने बैठे थे। भैया की आँखों में क्रोध था या उपेक्षा थी—ठीक से पता नहीं चला। पर वैसा ही कोई भाव रहा होगा। उसके नथुने जो फैले हुए थे। उसे सजा देने का अधिकार होता तो वह बता चुका होता कि इगलश फेयर बैंक का तमाचा किसे कहते हैं। ऐसी स्थिति में सब कुछ स्वीकार करना ही था। केवल बूढ़ी गंगा का प्रसंग छोड़कर उसने सब कुछ स्वीकार भी लिया। स्वीकृति के बाद हाथ-मुँह धोकर फिर मास्टर साहब के सामने ही उसे अपनी टाँगें फैला और कान पकड़कर खड़ा रहना पड़ा। हाय रे माँझी...पता नहीं, यह पाप का कौन-सा दलदल है!

लेकिन यह किसे पता था कि जब वह कान खींचे खड़ा था उस समय उसकी आँखों में बूढ़ी गंगा का ज्वार उतरा रहा था। रात का खाना खाकर जब वह दीदी के पास सोया तो बाती बुझने के बाद उसकी नींद-भरी आँखों में वही बूढ़ी गंगा हहरा रही थी। सरदार माँझी की वह हुंकार जैसे उससे पूछ रही थी, "क्या है वहाँ....किसकी खोज है ?"

आज जब वह इछामती पार कर एक अपरिचित गाँव की ओर चला जा रहा था तो उसने पाया वही लड़का उसकी शिराओं, प्राण और तन-मन को घेरकर अब तक बैठा हुआ है। अभी-अभी इस दरवेश ने पूछा था—"आप कहाँ घूम रहे हैं—किसकी तलाश है?" मैं उसे क्या जवाब दूँ। वह लड़का भी नही बता पाया था। मैं भी नही बता सकता। तब उस लड़के की आँखों में रूप की लालसा समायी हुई थी। बूढ़ी गंगा का रूप। उस पार का रूप। आज भी इन दोनों आँखों में वही सब कुछ है—तृष्णा, लालसा, पिपासा। लेकिन खोज किसकी है? उस अरूप का नाम क्या है कौन जानता है? युगों बीत गये, कालान्तर हो गये। अब सोचता हूँ यही मनुष्य और प्रकृति के रूप का हाट है—उस अपरूप का नाम अगर 'मन का मनुष्य' दूँ तो कैसा रहेगा?

लेकिन इस नाम से भी कुछ नहीं होता। यह तो बस कहने-भर के लिए है। किस मनुष्य में 'वह मनुष्य' है। वह कहाँ रहता है? वह किस रहस्य-लोक में दुबका बैठा है? मैं दरवेश को कुछ बता न पाया।

अचानक पुकार हुई—"अरे ओ भाई महमूद गाजी! थोड़ा-बहुत नामभजन तो हो जाये।"

दरवेश थम गया। आसपास कुछ घर थे। विशाल बरगद की छाया में परचून की एक दुकान थी। दुकानदार ने ही पुकारा था। पेड़ के नीचे दो-चार आदमी औंधे पड़े थे। मैं जिसे मन-ही-मन अब तक कोई दरवेश या साँई बाबा समझे बैठा था अब जाकर उसका परिचय मिला। तो जनाब महमूद गाजी है।

गाजी अपनी ढपली पर थाप देता हुआ बोल उठा:

"जब उसका नाम लेकर ही निकला हूँ तो बदनाम क्यों नही होगा भला...!"

उसने मुझे भी पुकारते हुए कहा, "आइए बाबू, आप भी सुनिए।"

इतना कहकर गाजी ने अपनी झोली से घुंघरू का गुच्छा निकाल अपने बायें हाथ की उँगलियों से लपेट लिया। दाहिने हाथ से डपली पर थाप देता हुआ वह कई पद-पंक्तियाँ गुनगुनाने लगा। फिर गान शुरू हुआ—

"मैं मन्त्र जपूँगा सारे और· गुरु करूँगा हजार।
जिसके संग मिलेगा अन्तर "उसको दूँगा भार॥

दो-एक पद गाने के बाद वह ढपली के साथ घुंघरू के ताल मिलाता रहा।

शायद इसे ही महफ़िल जमाना कहते हैं। ढपली से इतने प्रकार के बोल निकाले जा सकते हैं और वह भी इतनी कुशलता से, इसका मुझे पहली बार पता चला। ये उँगलियाँ थीं या जंग लगी लोहे की छड़ें! ऐसा लगा कि अगर वे पत्थर से जा टकरायीं तो पत्थर टूट जायेगा। ढपली की खाल तो बहुत ही पतली होती है। लेकिन लगा कि इसकी साधारण और पतली-सी खाल भी गुदी हुई उँगलियों के प्रेम में मँज गयी है। इनका आपसी प्रेम-भाव तो देखो!

होगा क्यों नहीं! कँटीले पौधों पर सजीले फूल मुसकराते हैं। भौरों की तरह हम उनका रूप देखकर मस्त हो जाते हैं। और पत्थर पर खिलनेवाली रहस्यमय कँटीली नागफनी। जाकर देखो तो सही—उसकी देह पर विविध रंगों के कैसे सुन्दर फूल खिले हैं! निर्जन स्थानों पर भी रस की धारा बहती चलती है—किसको पता! अधर माँझी, महमूद गाज़ी और उसकी उँगलियाँ, छोटी-सी ढपली, कँटीले पौधे, सजीले फूल, नागफनी, सुरभित फूल—रस की यह अविराम धारा किस एकान्त प्रान्तर में बहती चलती है—कौन जाने! लेकिन गाज़ी ने बाबू को सम्मिलित कर इस मुश्किल में आखिर क्यों डाल दिया? सारे गाँव को इकट्ठा कर वह अपना मजमा लगाता। बाबू अपनी मण्डली में जाये। गाज़ी उसी महाप्राणी के धन्धे में जुटा है, अब वह मुरशेद के नाम की मज़दूरी करेगा। बाबू को तो इधर का कुछ भी पता नहीं। बल्कि बाबू की पिछली जानकारी ही अधिक उपयोगी थी। एक दूसरे कारण से भी वह अच्छा था। गाज़ी अपने दोनों हाथों को उठाकर ढपली बजा रहा था—सिर झुकाये और आँखें बन्द किये। बीच-बीच में पीछे की बावड़ी का शोर उभर जाता था। इधर श्रोता मण्डली की आँखें सिर्फ़ बाबू पर ही लगी थीं। बाबू का रूप देखकर नहीं। "यह आदमी कौन है, कहाँ जा रहा है, गाज़ी इसे गाना क्यों सुनाना चाहता है, यहाँ क्यों आया है?" सबकी नज़र में घूम-फिरकर यही एक सवाल, जैसा कि नौका पर गाज़ी ने किया था ठीक उसी से मिलता-जुलता।

लेकिन इसके पहले ज़रा यह तो सुनो—गाज़ी कौन-से सुर-ताल लिये गा रहा है। पहली बार, शिवदाम्हा के पास मैंने कहीं इसी तरह का सुर सुना था। उधर बरगद की छाँह में एक आदमी कमर मटकाकर नाच उठा। मेरी कमर नहीं डोलती लेकिन पाँव की उँगलियाँ अपने ही ताल पर थिरकने लगीं। कभी ही सारा शरीर अकड़ा रहे पर पाँव की उँगलियाँ नहीं मानतीं। इसके बाद [illegible] आसमान की ओर मुँह उठाकर ज़ोर से पुकार उठा, "अरे देव [illegible] बतला दो न...दिया हो कुछ तो दिखला दो..."

इस बीच कई श्रोता इकट्ठे हो चुके थे। इतने में अधिकांश [illegible]

थे। कई नंग-धड़ंग बच्चे भी थे। भीड़ में शामिल होते ही उन्हें जैसे लज्जा आ गयी थी अतः अपने हाथों से ढाँप कर चुपचाप बैठ गये। उधर घरौंदे की हाँड़ी में कहीं उबलता हुआ भात छूट गया था तो कहीं बेटी की शादी रुकी पड़ी थी। बेटी को ससुराल विदा करने की घड़ी आयी ही थी, कि ढपली और घुँघरू की आवाज सुन पड़ी। धूल-कीचड़ सने नन्हें-नन्हें हाथ-पाँव; पर ऐसा नहीं कि सबकी देह ऐसी ही खुली पड़ी थी। इनमें से कोई फ्रॉक, कोई इजारबन्द पाजामा तो कोई माँ की हाँ पाँच हाथवाली गेरिया साड़ी पहने एकदम गृहिणियों-सी सजी बैठी थीं। उनके साथ बुजुर्ग भी पैदल चले आये। चरवाहे भी अपने को रोक न पाये। बरगद के नीचे गाजी महमूद की चौकड़ी जमी थी। इतना ही नहीं, और भी कई अड्डे जमे थे। बस आँखें उठाकर देखने की आवश्यकता थी। हाँ-हाँ, वहीं बेड़े की ओट में, तो कहीं घग्घर के नीचे, तो कहीं झुरमुट के पीछे बड़ी-बड़ी शर्मिली आँखों को भी देखा जा सकता था, पर उनके चेहरे से घूँघट नहीं हटते...। था न आश्चर्य। और आँखें मिल भी जायें तो उनका अर्थ समझ में नहीं आता। मतलब यह कि न केवल घरौंदों में खोयी बालिकाओं पर ही इस गान का जादू था बल्कि गृहिणियाँ भी अब महमूद गाजी की इस लूट के माल में शामिल थीं। युवतियाँ अपने घूँघट की ओट से निहार रही थीं। उनकी आँखों की छिपती चमक से यह स्पष्ट था कि घरों की घुटन के बीच गाजी उनके लिए उन्मुक्त नीलगगन लिये आया है। ठण्डी हवा शरीर में गुलाबी सिहरन जगा रही थी। गाजी वृन्दावन का कान्हा था क्या?

नहीं, वह तो मुरशेद नाम का मजदूर था। उसकी आवाज अब और भी ऊँची हो गयी थी। वह ताल मिलाकर झूम रहा था....

"मुझे कहाँ मिलेगा मेरा मन मितुआ
जिसकी खातिर रोता हूँ, मेरा प्राण सुआ...अरे हो....हो...ओ"

बीच में ही, गाना बन्द कर ताल थपकते हुए वह बोल उठा—'अगर किसी को पता हो तो बता दे।' मुरशेद ही क्यों, इस बरगद के नीचे जिसे भी पता हो वह बता दे कि उसका मन-मीत कहाँ। उसकी तो प्रतिज्ञा ही थी, "मैं मन्त्र जपूँगा सारे, और गुरु करूँगा हजार।" लेकिन यह गीत उस गीत की प्रस्तावना से थोड़ा भिन्न था—यह भी स्पष्ट था। संभवतः यह उसकी गौर चन्द्रिका, शुभ्र चाँदनी थी। ताल देते-देते उसने गान को दूसरी तरफ मोड़ दिया। सुन-सुनकर हर कोई हँस रहा था। गाजी भी मेरी ओर आँखें घुमाकर देखता और हँस पड़ता। साथ ही, भाव से बोझिल उसकी भौंहें थिरक उठतीं। यह गाजी है या क़ाजी, जैसे मुझसे वह पूछ रहा था, "बाबू, आपको तो पता होगा!"

मुझे कुछ पता नहीं। लेकिन मैं भी उसके शिकन-भरे चेहरे से अपनी आँखें

हटाना कदाचित् भूल गया था। उसके चेहरे पर छायी उजास में भोर का आसमान ही नहीं, इछामती का पारदर्शी जल भी उतरा रहा था! इस अटकाव के पीछे किसकी खोज थी यह भी वह भुलाये दे रहा था। इस दर्पण में क्या वह मुझे भी उतार रहा था?

इस बीच, वह फिर शुरू हो गया—

"जिसकी ख़ातिर यह मन भूला
क्या वह बतायेगा मैं हूँ कहाँ...
उसे देख न पाऊँ तो हियरा फाटे
पलछिन मन मोरा सुलगे यहाँ...
भला कहाँ मिलेगा, मेरा मन मितुआ!"

अपना अंगरखा उड़ाते हुए गाज़ी ने तीन-चार चक्कर लगाये। गान-समापन के पहले ढपली और घुंघरू की आवाज़ के साथ-साथ गति भी तेज़ हो गयी। और तब गाज़ी की कमर चक्कर खाने लगी। लेकिन मुरशेद, इस अँगरखे पर न जाने कितने युगों, देश-देशान्तर की धूल जमी है—कौन जानता है। शहर होता तो यही कहा जाता कि कितनी मोटर गाड़ियाँ गुज़र चुकी हैं। उसने फिर दूसरा गाना आरम्भ कर दिया—

"तेरे दर्शन की आस में, मैं डोल रहा हूँ देस-विदेस
कहाँ कहाँ मारा-मारा फिरा, कितनों से मिला
पर हो न सकी मुलाक़ात रे मितुआ!
कह नहीं सकता किसकी ख़ातिर नाच रहा तन मन जीवन...
किसे सुनाऊँ पीड़ा मन की ऐसा नहीं कोई जीवन-धन
कहाँ पाऊँगा मैं अपना मन मितुआ!"

गान की समाप्ति के साथ कोई परिक्रमा नहीं। गाज़ी एकदम पागल हो उठा और डोलता हुआ इसी गीत को नये सिरे से गाने लगा। वह तो ठहरा पागल, इसलिए झूम रहा था। लेकिन श्रोतागण...उनका हाल तो और भी बुरा था।

इछामती पार कर इटिण्डा के इस बरगद की छाया में खड़ा था वह। सोच रहा था, इन पदों की रचना किसने की है, क्यों की है; ऐसे शब्द और भाव उन्हें कहाँ से मिल गये! उनके अन्तर्मन में क्या समाया रहता है? क्या उसे एक बार झाँककर नहीं देखा जा सकता। वह हँसकर बाँधता है या रोकर, तनिक देखने की इच्छा होती है। उसे देखने की उस अतृप्त लालसा के कारण ही मन रोता है, आत्मा रोती है और अन्तर कलपता है। उसे पाने की वासना जगती है। क्या पता उसका रूप कैसा है। उसे देखकर पहचान सकूँगा या नहीं।

क्या उसका रूप तब फैले हुए हाथ की ढपली में था। गान समाप्त हुआ। पर वह कहाँ है—जब यह नहीं बता पाये तो अब जिसमें जितनी सामर्थ्य है उतना तो देते जाओ। वह चबूतरे पर बैठा है। इसका मतलब कि उसका अपना बड़प्पन है और फिर नये हिसाब के अनुसार, पूरे दस पैसे ढपली में डालकर वह नीचे उतर गया।

इस बीच नन्हें बच्चे और बच्चियाँ यहाँ से दौड़े गये और घर से सहेजा हुआ सीधा ला-लाकर उसकी झोली में डाल गये। गाजी अब मेरे पास खड़ा था। मुझसे भी जो बन पड़ा अपनी जेब से निकालकर उसकी ढपली में डाल दिया। मैंने कहा, "बहुत ही अच्छा लगा। ये किसके गान हैं?"

महमूद गाजी के शिकन-भरे चेहरे से तब पसीना छूट रहा था। उसने हाथ नचाकर कहा, "यह नहीं जानता बाबू! कब कहाँ किसके लिए अजान पढ़ी गयी थी—कौन जाने! जिसके लिए यह गुहार थी उसी की यह पुकार है।" ठीक ही तो है। जब व्यक्ति अन्तर-विह्वल हो उठता है तो उसे किसी नाम की याद नहीं रहती। वह पुकारकर गायब हो जाता है। कोई सुनना चाहे तो सुन ले। लेकिन मन को समझाने-बहलाने की एक किताबी विधि भी है। ऐसा मन नाम पाकर आनन्दित होता है।

मैंने कहा—"चलूँ!"

गाजी के पास इतना समय नहीं था कि वह आँखें घुमाकर देखे। वह उस समय नीचे झुककर अपनी झोली सँभालने में व्यस्त था। उसकी आँखों में मेरा परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा झलक उठी। मैं पूरब की ओर निकल पड़ा। बरगद की छाया में हलकी-सी ठण्ड महसूस कर रहा था। उसकी छाया से बाहर निकलते ही गर्म झोंका-सा लगा। लेकिन पेड़ों के एक-एक पत्ते अपने-अपने वृन्त से लगे सर्द हवा के झोंके झेल रहे थे। वे झोंके जो उनका जीवन रस सोखकर पत्तों को सुखा डालते हैं। अब भी बौरायी मंजरियों का पंछी कहीं छुपकर बैठा अपनी कुहू-कुहू की रट लगा रहा था। क्या उसे घड़ी-प्रहर के बीतने का कोई अहसास नहीं? मौसम के हिसाब से भी वह या तो पीछे छूट गया है या आगे बढ़ गया है। इस समय वह किसे पुकार रहा है। क्या उसे प्रत्युत्तर मिलेगा। या इण्डिया में ही पूरे साल-भर तक उसके लिए सदाबहार मौसम का इन्तज़ाम है।

एक पुराने मुचकुन्द के पेड़ के पीछे मुड़ते ही, कोई ज़ोर से चिल्ला उठा—क क...क क...क क...। सर पर लाल कलगी धारे लाल चोंचवाला एक बुर्राक सफ़ेद मुर्ग़ा फड़फड़ाता हुआ दौड़ा। मुचकुन्द की जड़ के पास नाखूनी खरोंचों के दाग़ उभरे हुए थे। लगता था यह बादशाह भी पेट के धन्धा में लगा हुआ

था। और किसी बेअदब प्राणी के आ फटकने पर घबरा उठा था, डर भी लगा होगा। लेकिन मुझे तो अवाक् खड़े रहने का समय भी नही मिला। सामने ही पोखर था। उस पार—पौधों की छाया में—घाट किनारे, किसी ने हठात् घूँघट खींच लिया। खींच क्या लिया पूरा मुँह ही ढाँप लिया। लेकिन इस अनचीह्ने पुरुष की आँखों के सामने उसकी पूरी पीठ खुली रह गयी थी। उसके पाँव के पास ही बरतनों का ढेर था।

चाहे सावधान होकर चलो या आँखें झुकाकर, बार-बार इसी तरह शर्मिन्दा होना पड़ता है। फिर चाहे इस गली से जाऊँगा या सदर से—रास्ता तो एक ही है। इस निर्जन में भी किसी को अवकाश देता हुआ क्या मैं किसी दूसरे रास्ते पर भटक गया था—इसका भी पता नही चला। हो सकता है यह घाट भी, उसी सदर के साथ लगा हो। कभी-कभी ऐसा होता भी है।

पोखर के बाद, फिर एक छोटा-सा मोड़ मिला। थोड़ी दूर पर ही इमली के पतझरे पेड़ की फाँक से उसने देखा: जितनी दूर धरती थी उतनी ही दूर आसमान था। धरती का रंग धूसर था। नीले आसमान पर चमकीली धूप चमक रही थी। कुछ चरवाहे भी दीख पड़े। खेतों में धान कटना शुरू हो चुका था। और ठीक इसी वक़्त कान के एकदम क़रीब कोई बोल उठा, "सभी पूछ रहे थे यह बाबू कहाँ से लिवा लाये गाज़ी ?"

पीछे मुड़कर देखा तो वही महमूद गाज़ी। बायें हाथ में ढपली। वह दायें हाथ से सिर की पगड़ी उतार उससे मुँह पोंछ रहा था। मैं उससे कुछ पूछूँ इसके पहले ही उसकी हँसी सुन पड़ी। फिर उसकी बातें। मैंने उनसे कहा, "मैं भला कहाँ से पकड़ लाऊँगा, बाबू तो अपनी खुशी से घूमने निकले हैं।"

"अच्छा", मुझे कहना ही पड़ा।

सर से पगड़ी लपेटते हुए वह बोला, "ख़ैर, यह सब उन लोगों की बातें हैं। अच्छा बाबू, अब आप उधर कहाँ जा रहे हैं ?

"एकदम सीधे", मैंने कहा।

"सीधे..." ऐसा लगा जैसे उसने यह शब्द कभी सुना ही न हो।" खी-खी-खी हँसता हुआ वह दोहरा हो गया। फिर प्रश्न किया :

"एकदम सीधे कहाँ तक जायेंगे बाबू ! एकदम सीधे जाने का कोई साधन है ?"

मैंने गाज़ी की तरफ मुड़कर देखा तो पाया उसकी चमकती हुई आँखों में कोई रहस्य था, जो झिलमिला रहा था।

मैंने कहा, "क्यों वह सामने ही तो रास्ता दीख रहा है। खेतों के ऊपर से सीधा निकल गया है।"

गाज़ी बोला, "लेकिन कितनी दूर ! खेत पार होते ही तो 'बार्डर' है। वहाँ जाकर क्या देखिएगा—भुतहा मैदान ? इस पार पुलिस, उस पार पुलिस।"

ओह, फिर वही 'बार्डर'। उतरती हुई धूप मेरे चेहरे पर तिरछी छाया की तरह पड़ रही थी। खाकी वर्दी, लोहे के टोप और 'भुतहा मैदान'—मेरे मन में यह सब देखने की तनिक भी इच्छा न थी। लेकिन इस बीच की जगह का नाम 'भुतहा मैदान' किसने रखा ! ऐसा बीहड़-सा नाम तो किसी अच्छी-भली जगह के लिए होता भी नहीं ! मैंने पूछा, "क्या उसे भुतहा मैदान के नाम से ही पुकारते हैं ?"

गाज़ी ने गरदन हिलाकर जवाब दिया, "इसमें ऐसा क्या रखा है भला ! बस नाम ही नाम है। लेकिन बाबू, लड़के-लड़कियों समेत कई एक लोग उस मैदान में मर चुके हैं।"

"क्या कहा, मर चुके हैं !"

"अब मरेंगे नहीं तो क्या ? गुडुम-गुडुम गोली चलेगी तो मरेंगे भी नहीं !"

"कौन है, जो मारते हैं ?"

"उधर से आने पर उस पार के सिपाही और इधर से आने पर इस पार के सिपाही। यह सब कैसा अनर्थ है, दुश्चक्र है ! देखिए ज़रा !"

अब समझा, तो गाज़ी ने खुद ही इस मैदान का नाम भूत-पिशाचों से जोड़ दिया है। किताबी भाषा में इसे कहना होगा : 'अन निषिद्ध भूमि'—'नो मैन्स लैण्ड।' मैं इमली के पेड़ के नीचे ही पड़ा रहा। भुतहा मैदान नहीं जाऊँगा, देखना भी नहीं है। इससे तो अच्छा होता इसी बरगद की छाया में गाज़ी का गान सुनता। गाज़ी के गान के बाद मन में भाग खड़े होने की जो ललक थी अब वह ठण्डी पड़ गयी थी। इसके साथ ही, आकाश में फैली नीलिमा और धरती पर लेटी धूप की सुनहली चमक किसी दुःस्वप्न की भाँति लग रही थी। अब मैं इस मनःस्थिति में नहीं रहा कि यहाँ से छूटकर अनर्थ का जंजाल देखने जाऊँ। वहाँ सिर्फ़ सीमा ही नहीं, वहाँ इस मानव-मन को कोई पहचान भी नहीं। इसीलिए वहाँ मनुष्यों को मारने की मशीनें लगी हैं।

"यह टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता कहाँ जाता है ?" मैंने पूछा।

गाज़ी तनिक शर्मिन्दा हुआ और हँसकर बोला।

"बाबू की बातें – क्या मत है ? ऐसा कीजिए किसी गाँव को चले जाइए !" क्षण-भर बाद वह फिर बोला, "बाबू मेरी एक छोटी-सी सलाह मानेंगे ?"

"जय मुरशेद ! अब यही तो बाक़ी रहा था। लेकिन मैं उसका मतलब नहीं समझ पाया। गाज़ी के नाम की मज़दूरी के साथ—वह दूसरे गाँवों की ओर क्यों नहीं जा रहा ? बाबू के पीछे ही क्यों दौड़ रहा है ? क्या आज उसके

कहाँ पाऊँ उसे

महाप्राणी का धन्धा एक ही सत्र में समाप्त हो गया ?

अब यह सब कहने-सुनने से क्या लाभ ! इछामती की निचली धारा बहती हुई किस ओर निकल जाती है, चलकर यही देखा जा सकता है ।

"तुम बताओ तो सही", मैंने पूछा ।

"बाबू, आपको जल-थल की तो कोई चिन्ता नहीं ?"

अब यह सब क्या है ! अगर यही चिन्ता होती तो इछामती पार कर यहाँ आता ही क्यों ? रास्ता क्यों खोजता ? पर यह जानकर कि मुझे जल-थल की कोई चिन्ता नहीं, गाजी मुझे समुद्र दिखा दे या दक्षिणी खाड़ी का रास्ता दिखा दे या फिर सुन्दरवन की परिक्रमा लगाकर आने की बात करे तो भारी परेशानी होगी । विपदा भी है । अच्छा, देखा जायेगा । जिसके नाम का अता-पता नहीं उसकी खोज में ही भटकते जाना है । पाठशाला की पढ़ाई मेरे जीवन में किसी काम न आयी । उसी पाठशाला के कितने रूप हैं, कितने नियम-उपनियम हैं । इनकी व्याख्या महाभारत में मिलेगी । वहाँ सभी-के-सभी काम के हैं । सभी घर के सदस्य हैं । वहाँ जीवन और चर्चा के हर मोड़ पर, हर वातायन पर ज्योति जल रही है । वहाँ, हर कोई सिर नीचा करके पाठ कण्ठस्थ करने में तल्लीन है । वहाँ धोखा देकर, अब पूरे जीवन-भर उसे ढूंढ़ते रहना बेमानी है, जबकि वहीं लौटना है । इस फरेब को गण्डे और भभूत के हथकण्डे से मिटाना पड़ता है । उसने जिसे अन्यथा कहा है—उसी अन्यथा को इस छोर से उस छोर तक पूरे तौर पर मैं खोल नहीं पाया । इसीलिए जल-थल की चिन्ता नहीं । एक शब्द में इसे नहीं कहा जा सकता ।

मैंने कहा, "रहे या नहीं रहे, लेकिन मैं सुनूँ भी तो सही ।"

गाजी ने फिर पूछा, "अच्छा आपके हाथ में आज का दिन है ?"

"हाँ है"

"बाबू, अब जब आप निकल ही पड़े हैं तो बाबू ऐसा कीजिए, हासनाबाद चले जाइए ।"

"हासनाबाद"

"हाँ, नदी पार कर । बशीर हाट से बस पकड़कर हासनाबाद चले जाइए । फिर वहाँ से मोटर लाउंज में बैठकर आगे चले जाइए ।"

"कहाँ ?"

"वापसी के लिए समय बचाकर, चाहे जितनी दूर निकल जाइए । वापस आने के लिए भी लाउंज मिल जायेगी । वहाँ से नैजाट तक बस मिलेगी । चाहें तो कलकत्ते के लिए भी गाड़ी है ।"

उसकी सलाह बुरी नहीं लगी । वापसी का समय निकालकर मैं लाउंज पर

सवार ही चाहे जितनी दूर निकल सकता था, इसमें बुरा क्या है ! नजर फिराते ही सब कुछ अनजाना हो जाता है । चाहे जितनी दूर देख लूँ । फिर भी, जितना देख पाना सम्भव है, उतना तो देख ही आऊँ ! देख तो लूँ कितने घाट हैं, कितने सारे लोग-बाग हैं । अपनी बँधी हुई समय सीमा में देख आऊँ कि प्रकृति कितना साज-सिंगार सजाये बैठी है । लेकिन गाज़ी ने जो प्रस्ताव रखा मैं उसे सुनकर अचरज में पड़े बिना रह नहीं सका । उसके मुरशेद नाम की मजदूरी में इतनी अंतरंगता के लिए अवकाश कहाँ था ? वह पंछी तो नहीं । लगता है वह सारे घाट-पाट घूम-फिर आया है ।

"तुम कभी उधर गये हो ?" मैंने उससे पूछा ।

गाज़ी हँस पड़ा । बोला, "गये बिना मैं आपको इतना कुछ कैसे बता पाता बाबू ! दक्षिण में भी बाकी कुछ नहीं रहा । इसलिए मेरा मन तो यही कहता है कि बाबू को उधर घूमना अच्छा लगेगा । लेकिन बाबू, एक बात बताऊँ—फस्ट किलासवाला टिकट लेना । ऊपर केबिन के पास बैठ जाना, वहाँ से सब कुछ साफ़ दिखाई पड़ेगा ।"

मुझे लगा, गाज़ी की आँखों में चमक थी । लेकिन फर्स्ट क्लास में बैठकर जाने का आनन्द उसने कैसे पाया ! मैं यह बात उससे पूछे बिना नहीं रह सका : "तुम फ़र्स्ट क्लास में गये थे क्या ?"

गाज़ी ठहाका मारते हुए बोला, "तौबा, तौबा ! मुरशेद ! बाबू की बातें तो सुनो ! अरे जिसमें टिकट कटाने का ही दम नहीं, वह भला फस्ट किलास से कैसे जायेगा ?"

"तो क्या बिना टिकट ही ?"

"हाँ, ऐसा ही कुछ । केबिन बाबू को दो-एक गान सुनाये—बस फिर उसके पाँव के पास बैठकर चला गया ।"

अच्छा, तो नाम की मजदूरी भी मिलती है । लेकिन गाज़ी अब भी मेरे संग क्यों चलता जा रहा है ? घाट की ओर वापस जानेवाले रास्ते से ही दूसरा रास्ता फूटता है क्या ?

मैंने उत्सुकतावश पूछा, "उस पार जाने के लिए नौका मिलेगी ?"

"चलिए देखेंगे । शायद कोई इन्तज़ाम हो जाये ।"

'चलिए देखेंगे' का क्या मतलब ! क्या गाज़ी मेरे लिए उस पार जाने की कोई व्यवस्था करने जा रहा है ! मैंने उसकी ओर देखा । वह सिर झुकाये नीचे के रास्ते की ओर देख रहा था । उसका मूँछ-दाढ़ी से भरे चेहरे का एक-एक हिस्सा भाव से थिरक रहा था । उसे देखकर ठीक-ठीक कुछ भी तो अनुमान नहीं लगता । मात्र उसकी गुनगुनाहट सुन पड़ रही थी, और उसकी ताल पर वह

गरदन हिला देता—

'आसमान अरु धरती से भई, जुड़ी हो जिसकी कंथा।
पहने उसे फ़क़ीरा, न जाने गति लिखो किस पंथा!'

मैं न तो गाजी की आकस्मिक चिन्ता का कारण समझ सका और ना ही उसके ताल की गति पकड़ पाया। आसमान से जुड़ा हुआ फ़क़ीर कौन है? जमीन किसकी कथरी है और जमीन पर किस फ़क़ीर की क़ब्र के लिए वह दुखी है, सब कुछ रहस्यमय था। उसका भाव-स्वभाव और व्यवहार उसकी बातों ही जैसा कौतुकपूर्ण था। इसकी पड़ताल भी मि. पोगारो या व्योमकेश जासूस ही कर पायेंगे—क्या पता?

इस बीच, वही इछामती फिर दिखाई पड़ी। जिस घाट से यहाँ तक आया था उसी घाट वापस पहुँचा। अधर माँझी वहाँ नहीं था। उसकी नौका खूँटे से बँधी पड़ी थी। गाजी बोल उठा, "जय मुरशेद! अरे अदरदा तो इसी पार जमा है। पर गया कहाँ?"

इतना कहकर उसने जोर की हाँक लगायी, "ओ अदरदा, कहाँ हो भई!"

कोई उत्तर नहीं, निःशब्द...। बायीं ओर जल में डूबे गेमो पेड़ की डाल पकड़कर अदर माँझी उतर आया, पहने हुए कपड़े को सहेजता हुआ। गाजी बोला, 'बाबू हासनाबाद जायेंगे, इन्हें पार पहुँचा दो।"

इसमें सोचने की ऐसी कोई बात न थी कि अदर माँझी अपनी खुमारी-भरी दोनों आँखों से टकटकी लगाये देखता अथवा आश्चर्य में भरकर कुछ पूछता। उसने उठकर खूँटे पर हाथ रखा। मैं सोच रहा था, नाव पर सवार होऊँ या नहीं। माँझी की स्वीकृति का संकेत तब तक नहीं मिला था। गाजी ने ही शीघ्रता दिखायी—"चलिए बाबू।"

मेरे चढ़ते-न-चढ़ते गाजी सवार हो चुका था। मेरे पास कहने को कुछ नहीं था। आते समय जिस प्रकार बैठा था, वैसे ही फिर बैठते हुए मैंने पूछा, "तो तुम भी उस पार चलोगे?"

अधर ने नौका ठेली और सवार हो गया। गाजी ने उत्तर दिया, "हाँ, मुरशेद जब मिलाये दे रहे हैं, तो आज आपका ही संग करूँ।"

"मेरा संग!" मैंने गाजी की ओर देखा। उसकी बातों का क्या मतलब है—यह मैं ठीक से नहीं समझ पाया। गाजी दाढ़ी के एक-एक बाल को अपनी हँसी से लहराते हुए मेरी ओर देखने लगा। बोला, "आप तो अकेले ही जायेंगे, इसलिए चलिए मैं भी आपके साथ घूम आऊँ। बाबू, बस का भाड़ा आप चुका दीजिएगा और अगर 'हरिपद केबिन बाबू' नहीं मिलें तो फिर लाउंज का भाड़ा भी...।" अपनी बात समाप्त करने के पहले उसने मुझे सान्त्वना दी, "कोई

ज़्यादा नहीं है बाबू ! आप मुझे निचले दर्जे का ही टिकट कटा दीजिएगा। बस, इतना ही काफ़ी होगा।"

इसका क्या मतलब था ! अब तक इतना ही पता था कि इस तरह का रोब सिर्फ़ ननिहाल में ही चलता है। उसको किसने प्रेरित किया कि मैं उसका बस भाड़ा, लाउंज भाड़ा चुकाऊँ और वह मुझे अकेले से दुकेला बनायेगा ! मैं इतना विरक्त हो चला था कि मेरे मुँह से कुछ फूटा नहीं। तभी मेरा संगदाता इछामती के जल से अपनी दाढ़ी सँजोकर गुनगुनाने भी लगा—

"इस रूप के बाजार में सुन रे पागल।

तू घूम रहा है अकेला।

क्या तूने पहचाना और क्या ले जायेगा ?"

यह सब भी मुझे ही सुनाया जा रहा है, कौन जाने। अगर मैं रूप का बाजार पहचान पाता तो इस तरह भटकता ही क्यों ? लेकिन गाज़ी मुझे इसकी पहचान कराये, मुझे दिखाये या मेरा अकेलापन दूर करे—मैं यह नहीं चाहता। मेरा साथ देने की आवश्यकता नहीं। मैं उसे कुछ कहने को तैयार हो ही रहा था कि मुरशेद का श्रीमुख खुल गया :

"कैसी अचरज की बात है बाबू....ज़रा सुनिए—"बहरे से गूँगा बोले, लँगड़ा शरण को दौड़े।" कैसी अद्भुत है। है न ? आपने यह गान सुना है ?"

"नहीं।" मैंने अपनी नाराज़गी ज़ाहिर करते हुए उसे डपट देना चाहा। लेकिन चाहकर भी यह कर नहीं पाया।

"और क्या कहते हैं.... हाँ,

राज की बातें क्या बतलाऊँ, अन्धा निहारे रूप।
मुर्दे के संग मुर्दा तैरे जिन्दा जाये डूब ॥
मुर्दा नहीं, वह रस का सोता रूप निहारे खूब ॥"

इतना कहकर गाज़ी हो....हो... हँसने लगा। लेकिन मेरी दृष्टि उस समय दूसरी ओर थी। नदी पर भी नहीं, आकाश पर भी नहीं। वह मेरा क्रोध ही था, जो अब मन-मस्तिष्क में सुलग रहा था। ये लोग क्या व्यक्ति के मन और स्वभाव को नहीं समझ पाते।

लगता है, समझते हैं, इसलिए बाबू से कुछ पूछते हुए उसने खिवैया की ओर देखकर कहा—"अदर दा, तुम समझे—क्या बात है ?"

जानता है वह रेतकण है। अधर को तुम धर नहीं सकते। माँझी केवल पारापार करता है। उसकी पतवार इछामती के जल में छपछप करती जा रही थी। यहाँ महमूद गाज़ी की एक नहीं चली।

लेकिन मेरी चिन्ता नहीं मिटी। इसके पहले ही मैं अचरज में पड़ गया।

अधर मांझी का गुरु गम्भीर कण्ठ स्वर मानो इछामती के अन्तर से फूट उठा था :

"मैं क्या बताऊँ उसका रूप
भीतर में है वह अपरूप
अटल निरंजन अटल स्वरूप ।"

मैं अवाक् होकर देख रहा था : सारी देह पर खड़िया खिंची लकीरें, उनींदी आँखें...अधर मांझी अपनी गुलाबी और नशीली आँखों से आसमान को ताक रहा था । लेकिन पतवार रुकी न थी । तभी गाजी की पुकार आकाश में गूँज उठी—"जय मुरशेद ! जय अदर दा ! तुमने यह क्या सुनाया वाह ।"

और फिर,

"बादल की गोद में बिजली चाहे जैसे खेले
वह भी कहीं छुपा बैठा मेरा अन्तर बोले
उसको कैसे ढूँढ़ निकालूँ वह त्रिभुवन में डोले ।"

जैसा कि मुहावरा है—"बात कैसी भी हो, कहने का ढंग होना चाहिए ।" अथवा "सभा में जमी बात के साथ सारी बातें जम जाती हैं ।' यहाँ भी वही पहेली थी । गूढ भाषा में भावपूर्ण बातें....जरा समझ कर तो देखो । जिसे मैं एक तरह समझता था—गाजी आँखों-आँखों में उसे दूसरी तरह से समझाता । मेरी आँखें अधर मांझी की ओर ठहरी थीं । वह अधर है—उसे पकड़ा नहीं जा सकता यह हिसाब मैंने उसका तेवर देखकर ही लगाया था । अब जाकर पता चला, वह दूसरी ही धातु का है—रहस्यमय । इस ठग को मैं पहचान न पाया था ।

बात यहीं खत्म नहीं हुई, अधर मांझी ने एक बार गाजी की ओर देखा और फिर अपनी आँखें उठाकर दूर आकाश को निहारने लगा । फिर भारी आवाज में गुनगुनाने लगा : "जब आँखें बन्द करता हूँ तो उसकी छवि दीखती है । जैसे ही आँखें खुलती है, वह ओझल हो जाता है । फिर उसे धरती-आकाश हर जगह ढूँढ़ता हूँ लेकिन वह कहाँ गया, नहीं जानता !"

गाजी ने दोनों हाथ उठाकर ढपली पर एक थाप दे मारी । उसने जैसे तरंगों को पुकार कर कहा, "अरे अदर दा, क्या तगड़ी चीज सुनायी है...हाय मैं मर जाऊँगा ।"

बातें समाप्त होने के पहले ही नौका किनारे पर आ लगी । अधर मांझी की बातों की ओर ही मेरे कान लगे थे । किनारे से टकराते ही ध्यान टूटा । अधर ने पहले उतर कर किनारे पर खूँटी गाड़ दी । ध्यान फिरते ही सबसे पहले याद आया कि क्या मैं इछामती के जल की थाह ले पाया ? दो-दो पागलों के पल्ले में पड़कर कुछ समझ न पाया । जिस आदमी को एकदम निर्विकार देखा था और जिसकी आँखों में सब कुछ निराकार था, अब देख पाया वह

यमुना की तरह ही अन्तःसलिल और बंकिम धारा से युक्त है। माँझी की तरफ देखते हुए मैंने उसे दो आने दे दिये। सोचा कि वह एक बार नजर उठा-कर ताकेगा। लेकिन पैसे उठा वह नौका पर बैठ गया और पानी उलीचने लगा।

अधर माँझी के बारे में कुछ पता न चला। तो भी उसके काले भावहीन चेहरे को देखकर मुझे ऐसा लगा कि वह नितान्त अ-धर नहीं। मैं उस ठाँव को पहचान न पाया फिर भी ऐसा लगा कि उसके अन्तर में ऐसी कोई जगह है अवश्य! यद्यपि उसका आभास उसकी तरल आँखों में था, या उसकी हँसी में—मैं समझ न पाया।

उसी समय गाजी पुकार उठा, "बाबू, गाड़ी आ गयी।"

मैं तेजी से दौड़ता हुआ पहुँचा। जगह मिल पाने की आशा न थी। बस पर चढ़ते-न-चढ़ते वह छूटने लगी। इस बीच बाहर से गाजी के चिल्लाने की आवाज सुनाई पड़ी : "दुहाई मुरशेद की...! अरे कण्डर बाबू! गाड़ी में जो बाबू बैठे हैं न, वही मेरा भाड़ा देंगे।"

गाजी की चिल्लाहट सुन मैंने पीछे मुड़कर देखा—बड़ा बदतमीज है। उसका मुख देखकर कोई नहीं कहेगा कि अरूप, अटल और निरंजन तत्त्व के रस से सराबोर यह प्राणी वही आदमी है। वह 'कनडर बाबू' याने कण्डक्टर बाबू के चेहरे की तरफ़ इस तरह देख रहा था मानो किसी ने हाथ आया मुरशेद लपक लिया हो और भाग रहा हो। ऐसा लगा कि उसका झुर्रियों-भरा चेहरा तिनककर बिखर जायेगा। इधर बस थी कि बस घर्राती ही चली जा रही थी। उसकी इंजिन की भड़भड़ाहट, रह-रहकर उसका काँपना और लरजना, खलासी की चीख-पुकार—ले-देकर केवल शोर ही था। लगता था, बस अब छूटी कि तब, अब चली कि तब। जिसे जाना हो जल्दी करो। मुसाफ़िर हड़बड़ाते हुए दौड़ पड़े। यह बस कहीं जायेगी भी या नहीं, या ऐसे ही चिल्ल-पों मचाती रहेगी! और अब न तो घण्टी बज रही है न हॉर्न। खलासी अब भी चिल्ला-चिल्लाकर सबको बता रहा है, जल्दी करो—बस अब छूटने ही वाली है। पर मुसाफ़िर हैं कि सावधान होना ही नहीं चाहते।

इधर गाजी करुण कातर-स्वर में अबतक रिरिया रहा था, "क़सम खाकर कहता हूँ कण्डर बाबू, बिना पैसों के नहीं जाऊँगा। मुझे चढ़ने दीजिए।"

कण्डक्टर बाबू ठहरे उकठे काठ। कातर-क्रन्दन स्वर से भी भीगनेवाले नहीं। दरवाज़े पर हाथ नचाकर बोले, "चलो, निकलो। पहले पैसे तो निकालो गाजी बाबा—फिर चढ़ जाना। यह गाजी-वाजीपना यहाँ नहीं चलेगा।"

हर जगह जान-पहचानवाले की दाल गलती है। कण्डक्टर गाजी जैसी

चिरौरी और रिरियाहट सुनने का आदी हो चुका है। इसीलिए द्वार पर प्रवेश निषेध है। इस बीच मुझे जगह मिल गयी थी। मैं खिड़की के पास बैठ गया। लेकिन राहत नहीं मिली। कान तो दरवाजे के पास ही लगे हुए थे। मैं यही सोच रहा था कि स्वयं जाकर कुछ कहूँ। गाजी ने तब खिड़की की ओर से मुझे दिखाते हुए कहा, "अरे हाँ, वही बाबू मेरा किराया देंगे, पूछ लीजिए—मैं झूठ नहीं बोल रहा!"

फिर मेरी ओर पुकारकर बोला—"बाबू, दे देंगे न...बाबू...हाँ...!"

मैंने मुरशेद की कोई कसम तो खायी नहीं थी। लेकिन कहीं कोई आश्वासन अवश्य दिया होगा, अन्यथा अपनी ग्रीवा क्यों हिलाता! मैंने देखा, उसकी घनी दाढ़ी की आड़ में उसका मुख करुण हो उठा है और आँखें भी छलछला आयी हैं। और तब मैंने मुड़कर कण्डक्टर से कहा, "हाँ, मैं किराया दे दूंगा...।"

कण्डक्टर सामने से हट गया। गाजी की ओर देखता हुआ वह तिरछी हँसी हँसा। बोला, "अच्छा, आओ। आज तुम्हारे मुरशेद का दिन है।"

मैंने सुना, गाज़ी बस पर चढ़ते-चढ़ते बोल रहा है : "बाबू, मुरशेद का दिन तो हर-एक दिन है। इसका मतलब यह नहीं कि मैं झूठ बोलूंगा।"

उसकी बात पर कण्डक्टर का ध्यान न था। खलासी के साथ वह भी चिल्लाने लगा। गाड़ी में कई लोग एक साथ पुकार उठे, "जय मुरशेद! आज गाजी की यात्रा किस तरफ़ है?"

"पहले तो हासनाबाद जाऊँगा, उसके बाद देखा जायेगा। क्यों, ठीक कहा न बाबू!" इस बार गाजी के स्वर में चिल्लाहट नहीं थी।

मुझे कई लोगों ने मुड़कर देख लिया। उसी कौतूहल और जिज्ञासा-भरी दृष्टि से। कौन है, कहाँ से आया है, यह जोड़-तोड़ किस लिए! यात्रियों में अधिकतर आस-पास के गाँवों के थे। उनके चेहरों से ऐसा ही लगा। यद्यपि बस सीधे कलकत्ता से आ रही थी। लेकिन उनमें से कोई भी कलकतिया-जैसा नहीं दीख रहा था। बशीरहाट में बस खाली हुई, पर फिर भर गयी। यदि मात्र कपड़े-लत्ते से ही किसी भले आदमी की पहचान हो तो मेरे विचार से उनमें से एकाध आदमी ही ऐसा निकलता! अधिकांश लोग खेतिहर या मजदूर थे। उनके साथ हाट-बाट से लौटे लोग भी शामिल थे। महिलाएँ भी कम नहीं। लेकिन उनके चेहरे और उनके पहनावे से लगता था—वे सब बस के उन यात्रियों की ही बीवी-बेटियाँ हैं! जिनके पास समय था या जिन्हें किसी सम्बन्धी के यहाँ जाना होगा—वे अलग से बनी-ठनी थीं। तह किये हुए कपड़ों में 'नेप्थलिन' की बू बसी हुई थी।..नयी फ्राक में एक लड़की ड्राइवर की तरफ़ अचरज की दृष्टि से घूर रही थी। जिन्हें अपने काम-धाम की पड़ी थी वे रूखे-सूखे पड़े थे।..उन्हें

किसी दिखावे की क्या आवश्यकता। इनमें प्रौढ़ाएं भी थी, पर उनके चेहरे दीख नहीं रहे थे। सब की सब लाजवन्ती बहुएँ बनी हुई थीं। वह गहरे हरे रंग की साड़ीवाली महिला—अपने हाथों में शंख-चूड़ी पहने हुई थी, उसका चेहरा भी घूँघट में था। हो सकता है, उसकी उम्र भी काफी हो गयी हो—नाती-पोते हो गये हों—लेकिन सुहागन स्त्रियों की अपनी कोई मर्यादा भी तो होती है!

कुछ देर तक, चिल्ल-पों मचाने के बाद बस रवाना हुई। गाजी को इस बीच बैठने की जगह मिल गयी थी। लोगों की बात-चीत थी जो थम ही नहीं रही थी। बातों के लिए विषय-वस्तु का अभाव भी नहीं। धान की फ़सल कैसी होगी, भाव क्या रहेगा, अमुक आदमी कब मर-मरा गया, किसको लड़का हुआ—इन सबके साथ ही जी भारी-हलका करनेवाली बातें भी हुईं। मुझे इस बीच सुनाई दिया, 'बाबू कहाँ मिल गये', मेरे तो कान खड़े हो गये।

"रास्ते में ही," गाजी का उत्तर सुन पड़ा।

मैं चौकस हो गया। लेकिन गाजी का मुँह खुल चुका था। कहीं वह पूरी रामायण बाँचना ही न आरम्भ कर दे। मैं बाहर की ओर देखता हुआ सब सुनता जा रहा था। बस तेजी से चली जा रही थी। बीच-बीच में रुकती, मुसाफ़िर उतरते-चढ़ते। अन्त नहीं था तो बस हरियाली का। चारों ओर जैसे उसका ही एकाधिपत्य था। नीचे, खेतों में धान और ऊपर नारियल, सुपाड़ी के पेड़। जहाँ कहीं भी बस्ती थी वहीं इनके पेड़ खड़े थे। शरद्काल की अन्तिम धूप में झिल-मिला रहे थे। बीच-बीच में, रास्ते के इस पार उस पार—गृहस्थों के घर के सामने बैलगाड़ियाँ और गाय-बकरियाँ। बस का खलासी चिल्ला रहा था—"हे... हे....हई...।' सिर्फ़ इतना ही नहीं कि वह श्याम बाजार के पंचमुखिया मोड़ से आया है। उसके मुँह से कितने ही पुकार की मज़ेदार बोलियाँ भी निकल रही थी। राह चलते एक किसान को पुकार कर बोला—'ए भई तुम्हारे पैसे गिर गये।"

उस किसान की गाँठ में तब पैसे रहे हों या नहीं, वह चौंककर जमीन की ओर देखने लगा। तब वह खलासी छोकरा हँस पड़ा। ठगे जाने पर ससुरे किसान ने गुस्से से चिल्लाकर क्या कहा यह तो ध्यान देने पर ही सुना जा सकता था—'

"हाँ, हाँ, मिल गये, तुझे चाहिए....आ ले जा...।"

लेकिन उन्हें लेने-देने के लिए कोई खड़ा नहीं। बस काफी दूर निकल चुकी थी। किसी पोखर के किनारे से जाती हुई कमर पर कलसी रखे किसी बहूरानी का रास्ता काट—उसे डराते हुए गाड़ी तेजी से निकल गयी। खलासी ने अपने घुंघराले बालों को झटका सा दिया और गाने लगा—' हाय...मैंने देखी तेरी सूरत....'

कौन जाने, उसको किसकी सूरत दिखाई पड़ी। मुझे उसकी आँखों में कोई बम्बइया झलक नहीं दिखी। श्याम बाज़ार के पँचमुखिया मोड़ के इस बाँके सिलाड़ी की नन्हीं-सी जान, तेज रफ़्तार और सुदूर फैले आसमान के सामने जैसे दयनीय हो उठी थी। वह स्वयं को सँभाल नहीं पाता।

कौन सँभाल पाता है? मैं सँभाल पाया? मैं खलासी नहीं, लेकिन मेरे मन में भी अपनी रंगीन पूँछ नचाता एक छोटा-सा पंछी है। अपना घर-द्वार छोड़कर असीम की ओर उड़ जानेवाली आत्मा भी तो कभी विवश हो उठती है। धरती और आकाश—दो छोरों के बीच जो रूपाकार है उसमें उसे क़ैद कर नहीं रखा जा सकता। मैं भी अपनी गुनगुनाहट को दबा नहीं पाया। इस अनुभूति का नाम क्या है, कौन जाने। यह सब इस हरियाली की कजरायी आँखों का सपना तो नहीं! ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी स्नेहातुर ने अपनी बाँहों में भरकर अपनी छाती से लगा लिया हो। सहसा मेरी आँखों में छलक आये जल में—कोई कोमल, सुकुमार और उद्वेग-भरी तृप्ति घुल जाती। मैं चुपचाप सुन रहा था गाज़ी की आवाज़, जैसे मेरे ही कण्ठ-स्वर की प्रतिध्वनि थी—"धीरे-धीरे—जिसकी ख़ातिर रोये-बिलखे मेरा मन पाखी...।"

नहीं जानता, यह जान पाना क्या है? अगर यह तृप्ति है तो वह आँसुओं में क्यों ढल जाती है! अगर यह दिगन्त के रूप में प्रसन्नता है तो यह मन घुटता और प्राण बिलखता क्यों है? जैसे इस पार धूप हो और उस पार छाया। वह इन दोनों के बीच बहनेवाली नदी है। लेकिन वह इस अन्तःसलिला को नहीं पहचान पाता। इन दोनों के बीच वह कौन-सा सेतुबन्ध होगा जो दोनों को जोड़ सकेगा, कुछ पता भी तो चले या फिर इस छाया-धूप में झिलमिलाते दिगन्त की ओर ताकते हुए मैं अपने अन्तर में इन दोनों की लीला देख रहा था...।

"बाबू, टाकी चला गया। हासनाबाद आ रहा है।"

गाज़ी का कण्ठ-स्वर था। मैंने मुड़कर देखा। वह मुझे ही बता रहा था। आस-पास कई नये चेहरे उग गये थे। बशीरहाट में मैंने जिन लोगों को देखा था, उनमें से वहाँ कोई नहीं था। गाज़ी अब दूसरे लोगों के साथ अड्डा जमाये हुए था। लेकिन इससे जान-पहचान में न तो कोई बाधा पड़ी थी और न बात-चीत के लिए किसी मसाले का अभाव था। यही नहीं, गाज़ी समेत दो अन्य लोग सारे बन्धन तोड़ बीड़ी सुलगाकर बैठे थे। आँखें उठाकर देखा तो पता चला कण्डक्टर बाबू भी 'छिरेट'- सुलगाये बैठे हैं। महाजनों द्वारा दिखाये गये पथ पर साधारण लोगों के चलने में कोई दोष नहीं है। आँखें जब दूसरी तरफ़ फिरी तो धुएँ की हल्की-सी लकीर देखकर मैं चौंक पड़ा। नयी और एकदम अपरिचित-सी जान पड़ने वाली तीन महिलाएँ थीं। उनमें से एक के होठों से बीड़ी लगी थी।

ऐसा नहीं कि किसी औरत के मुँह से लगी हुई बीड़ी पहली बार दिखी हो। लेकिन यह घूँघट! उस अधेड़ की उम्र कुछ कम नहीं होगी। हाथ में चाँदी, काँच और शंख हर तरह की चूड़ियाँ थीं। यही नहीं, यात्रियों की तरफ़ घूँघट निकालने पर भी, माँग का सिन्दूर दीख रहा था। मिल की सूती साड़ी भी बंगालीनुमा ही पहनी गयी थी। देखने में भी कोई बंगाली गिरस्तिन लगती थी। कह नहीं सकता, पर हो सकता है—उड़ीसा की ही रहनेवाली निकल आये। किस वर्ग की होगी, यह बताना भी मुश्किल था। आँख में काजल, पान से रंगे लाल होठ, उन होठों में फँसी हुई बीड़ी और इन सबके साथ नाक में नथनी। और उन सबके ऊपर पड़ा घूँघट। कुल मिलाकर अजीब-सी झाँकी थी। चेहरा वैसे भी कोई बुरा न था कि कोई खोट निकालूँ। देखने में किसी गाँव की ही लगती थी। आँखों में तीखापन था, पर थीं भाव शून्य। और इस विषय में दो चार शब्द कहकर ही किसी सम्भावना का पार नहीं पाया जा सकता। मुझे हैरत तो इस बात की थी कि आखिर यह घूँघट किसलिए था! किसके लिए था। 'चितवन की ओट' जैसी उक्ति भी सुनी थी। इस घूँघट की आड़ में मैंने कई तमाशे देखे हैं। यहाँ, बाप नीचे की ओर आँख गड़ाये हुए बोलता और बेटा ऊपर की ओर ताकता हुआ जवाब दे रहा था। मुँह से हुक्का लगा हुआ था। आमने-सामने होकर इसे पिया नहीं जा सकता। आखिर मर्यादा जैसी भी तो कोई बात है। फिर दोनों आखिर बाप-बेटे ही तो ठहरे।...

एक बार दरभंगा जाते हुए भी मैंने ऐसा ही मज़ेदार तमाशा देखा था। प्रथम श्रेणी का डिब्बा था। गिने-चुने यात्री थे। रेलवे के ही एक ऊँचे पदाधिकारी का परिवार भी साथ था। वह उत्तर बिहार के रहने वाले थे और कहीं उधर ही जा रहे थे। सारे डिब्बे में बाहरी आदमी की हैसियत से मैं ही था। दो-एक बातों से ही पता चल गया कि वह बहुत ही सज्जन व्यक्ति हैं। साथ में छोटे-छोटे दो बच्चे। और सुन्दर पत्नी भी थी। उम्र भी कम ही रही होगी। साज-सिंगार भी कम नहीं था। संभवतः इसका कारण यात्रा ही रहा होगा। मैंने उसका घूँघट कभी भी सरकते हुए नहीं देखा। उसकी बोली, जहाँ तक मैं समझ पाया, वह अपने पति के साथ भी—तृतीय पुरुष के अन्य वचन में सम्बोधन हीन बातचीत कर रही थी। जैसे, 'बच्चे को थोड़ा-सा पानी पिला दिया जाय'...या 'अब खिड़की को थोड़ी देर के लिए बन्द कर दिया जाय।' अथवा 'वह अब क्या खाना चाहेंगे।' हम बंगालियों को पता है कि पति-पत्नी में मान-अभिमान के दौरान ही उक्त वचन भंगिमा का पालन किया जाता है। यहाँ वैसी कोई बात न थी। घर वाली के हाथ में एक हिन्दी पत्रिका थी। उसके मोटे आवरण पर किसी युवा नायिका का चित्र था—जो हाथ में पिस्तौल लिये थी। क्या वह

महिला रोबिन हुड थी या पँचकौड़ी दे की जुमेलिया से मिलती-जुलती कोई और। पता नहीं। मेरी नजर बार-बार उस युवती की ओर उठ जाती थी। बीच-बीच में वह भी मुझे निहार लेती थी। इसकी न तो कोई मनाही थी और न कोई रोक-टोक। मैंने पाया कि उसकी आँखों को पुतली में कहीं कोई आग्रह था। किसी दूसरे पुरुष की तरफ़, किसी परायी नारी की अपलक दृष्टि—कोई बात थी जरूर। आँखें आँखों में खो गयी थी—देखकर साध ही नहीं मिटती। देखते-देखते ही एकाएक होठों के छोर पर हलकी लेकिन बुझी हुई-सी हँसी फैल गयी। कहीं उसकी बेसर तो नहीं चमकी।...पर उसके सीने से उठी हुई एक लम्बी उसाँस से उस ठण्ड में भी यह पराया पुरुष पसीने से तर हो गया। किताबों में पढ़ा है—स्त्रियों का हृदय समझने के लिए हज़ार वर्ष की आयु चाहिए। यह दीर्घायु किसी काल में नहीं मिल सकती। इसलिए यह चेष्टा व्यर्थ है। तो फिर खोयी हुई ये आँखें, दबी हुई हँसी और यह लम्बी उसाँस...किस लिए! आखिर आदमी ही तो ठहरा—एक ऐसा आदमी—जो स्त्रियों के मन को न जान पाया हो। पहले जी में आया कि उसका नाम—नहीं – नहीं—। अब उन सारी बातों को सोचकर भी लगता है आखों में नदी न उमड़ पड़े।

जो भी हो, रह-रहकर वह निर्निमेष दृष्टि, दबी हुई हँसी और लम्बी उसासों से बोझिल घड़ियों वाला वह खामोश नाटक कितनी सम्भावनाओं से भरा था। यहाँ तक कि जुमेलिया डाकिनी की रहस्य गाथा फिर मेरे मन में सुगबुगा उठी। रात के लगभग नो बजे, उसके दोनों बच्चे सो चुके थे। कभी दोनों बच्चों की तीमारदारी में तो कभी बाहर की ओर ताकते हुए पति महोदय किसी चिन्ता में खोये हुए दिखाई देते। पता नहीं, परेशान थे या नहीं, लेकिन उबासियाँ ले रहे थे। पत्नी से दो-एक बातें भी हुई। इसके बाद वह बाथरूम की ओर चले गये। मेरा कलेजा धड़धड़ा रहा था। कहीं साँसें ही न रुक जायें। मैंने इतना ही सुना—'अगर आपकी कृपा...' माने 'क्या आप दया करके...।' उस अन्य पुरुष ने अचरज में भरकर अपनी आँखें उठायीं तो पाया—रमणी के होठों पर आहत हँसी और आँखों में संकोच। इस बीच उसने दो-दो बार अपनी चकित आँखों से बाथरूम के दरवाज़े की ओर देख लिया। फिर जो कुछ कहा उसका आशय था—'कृपया मुझे एक सिगरेट दे दीजिए और दिया-सलाई भी। जल्दी कीजिए, वह अगर वापस आ गये तो बड़ी मुश्किल होगी।"

उस डिब्बे पर गाज गिरी या नहीं, इसका तो पता नहीं। पर मैं यह नहीं समझ पाया कि अपने कानों पर विश्वास करूँ या न करूँ! क्या मैंने सचमुच इन बातों को सुना था! काश मैं अपने चेहरे को देख पाता। पता नहीं, इस समय वहाँ कैसे भाव थे! तो भी, कहीं कुछ हुआ था अवश्य। अन्यथा मेरा तन मन

इतना अस्थिर क्यों हो उठता ? मैंने फिर वही कातर-सा स्वर सुना—"जल्दी कृपया।"

मैंने तत्काल सिगरेट और दियासलाई निकालकर उसकी ओर बढ़ा दी। उसने लपककर ले ली। इस बीच पलक मारते उसका बिम्ब रूप, उसकी देहयल्लरी झिलमिलाती साड़ी से प्रकट हो गयी थी।

आह्...मैंने अपने जीवन में किसी रमणी के प्रसन्न मुखमण्डल पर ऐसी तृप्ति का भाव देखा हो मुझे याद नहीं। मैं सुन पाया, मेरे अन्दर में जैसे कोई धीमे से पुकार उठा, "माँ...ओ माँ!"

उसी क्षण...बस इससे अधिक और कुछ नहीं। थोड़ी देर में पति महाशय बाहर आ गये। पत्नी तत्काल खड़ी हो गयी। फिर सीधे बाथरूम दौड़ी। पति महोदय निर्विकार थे। फिर दत्त-चित्त हो बिछावन लगाने लगे। मैं उधर ताकता हुआ 'माँ' सम्बोधन से भाव-विह्वल हो कविता की यह पंक्ति दोहरा रहा था : "रमणी का मन जान पाना सखा, हजार वर्ष की साधना का फल...।" अरे ओ पुरुष, धिक्कार है तुझ पर! तूने तो समझा था कि स्त्रियों का भ्रूक्षेप एक समान ही होता है। उसकी हँसी और उसकी उसाँस का एक ही अर्थ होता है। तूने सोचा था—हर कोई उसी एक अरूप, निरंजन की खोज की तरफ़ भाग रहा है। और फिर उसी मन की उड़ान तक....। उस विशेष क्षण के लिए मैं अपनी कृतज्ञता किसे व्यक्त करता! दरभंगा जाती हुई उस ट्रेन में, न जाने वह रसिक कौन था, जिसने जीवन की इस मदिर रात्रि का रूप दिखाया था—उसे खोकर भी पा न सका।...अस्तु

यह प्रसंग अतीत के उन पृष्ठों में ही रहने दें। फिलहाल मैं यह नहीं समझ पाया कि हुक्के की आड़ में वह कौन-सी मर्यादा थी, जिसका परस्पर निर्वाह हो रहा था। यह वही आदमी तो नहीं जो गाजी के पास बैठा हुस-हुस बीड़ी सूँतता चला जा रहा है। हाँ, मन में तनिक सन्देह भी जगा। इसकी वजह यह थी कि महाशय के काले चेहरे और सुलगती हुई दो लाल आँखें रह-रहकर घूँघट की ओर उठ जाती थीं। यह स्वामित्व-भरा अधिकार मात्र नहीं था, और न स्नेह-भरा आग्रह। इससे भी कहीं अधिक उसे गहरा प्रेमावेग कहा जा सकता है। क्यों? पान की पीक से रँगे लाल होठों से धूम्रपान करते देखना शायद अच्छा लगता होगा। आमने-सामने बैठकर पीने से, इस नशे का माहौल शायद जम नहीं पाता। इस आड़ में शायद लोक-मर्यादा का पालन भी हो जाता है। घर के लोगों के सामने वही एक बात है। इसीलिए तो बाहरी लोगों के सामने...।

घूँघट की आड़ से एक झलक दिखी। इस दोहरी चमक के साथ ही मैंने देखा कि धुआँ उगलती महिला की छापेवाली रेशमी साड़ी पर एक काला

वैनिटी बैग रखा हुआ था जिसे वह हाथ से थामे हुए थी। एक हाथ में सुनहली घड़ी थी और दोनों कलाइयों में सोने की चूड़ियाँ। उस स्वामिनी के बाल शैम्पू किये हुए थे या नहीं—कहा नहीं जा सकता। हाँ, वहाँ फूल नहीं थे। अब पीछे खींचकर बाँधी गयी केशराशि को 'पॉनीटेल' कहा जाये या नहीं। गरदन के पास एक मजबूत बन्धन उसे अपनी मुट्ठी में लिये हुए है। और फिर उसकी उड़ान का क्या कहना! उन्हें शंख-चूड़ीवाले हाथ नहीं रोक सके। सीमा के पार दिगन्तव्यापी हवा के झोकों के ताल पर उसके गाल, ठोढ़ी और सीने पर उसके घने काले केश थपेड़ों की तरह छा जाते। न तो माथे पर बिन्दी थी, न माँग में सिन्दूरी रेखा। गहरी काली आँखें—काजल से कजरायी ठीक उसी तरह चमक रही थीं जिस प्रकार गहरे काले और हरे नारियल के पत्ते तेज धूप से झिलमिला उठते हैं। कुल मिलाकर मैं कहीं उसकी उम्र बताने का अपराध नहीं कर बैठूं। बस, यही कोई बीस के आस-पास होगी।

उसके पास बैठी हुई प्रौढ़ महिला का रोबदाब भी कम नहीं। कपाल पर चमकता हुआ सुहाग-सिन्दूर। लाल किनारी की सूती साड़ी में निखरा हुआ रूप। कलाइयों में सोने और शंख की चूड़ियाँ। ये दोनों माँ-बेटी हैं—इस पचड़े में कौन पड़े। मर्यादा की एक सीमा है। उनके साथ एक प्रौढ़ सज्जन भी थे—गलाबन्द कोट डाले। सिर के सामनेवाला हिस्सा गंजा था। नाक पर चश्मा और दाढ़ी-मूँछ साफ़। चश्मे के लेन्स मोटे होने के कारण उनकी आँखों की पुतलियाँ जैसे खो गयी हैं। रह-रहकर वे नाच उठतीं। कभी बाहर, कभी भीतर। कभी इस ओर, कभी उस ओर। कहावत है न—'ताक़ पर रखी शीशी हिलती है, डुलती है, गिरती नहीं। बता न पाये बच्चू तो तुम जनमोगे काना।' बच्चे की आँख नहीं कि वह कुछ बोले। उसकी मासूम आँखें हर तरफ़ लग रहतीं। तात्पर्य यह कि बुजुर्ग की आँखें बाहर नहीं होतीं, उसके अन्तर में होती हैं। लेकिन पता ही नहीं चला कि ये सब कब आकर बैठ गये।

कहीं से आकर बैठे हों। बशीरहाट से या फिर किसी दूसरी जगह से। जब मेरी आँखें दिगन्त में कहीं खो गयी थीं—इसी अन्तराल में शायद। वरना निगाह पड़ ही जाती। हासनाबाद का यात्री होने के कारण इनके रंग-रूप में थोड़ा-सा अन्तर है। पता नहीं, हासनाबाद का रूप कैसा है। जाना-सुना नाम होते हुए भी वह शहर है या गाँव—कुछ पता नहीं। श्याम बाजार में खड़े हुए मैंने कई बार खलासी की पुकार में इसका नाम सुना है। हो सकता है, यह भड़कीला-सा रंग वहाँ के उपयुक्त ही होगा और नहीं भी तो क्या! कोई एक रंग तो रंग नहीं होता। विविध रंगों से ही वह रंगारंग होता है और वही देखने में सुन्दर लगता है।

लेकिन इन्हें जाना कहाँ है ? गाज़ी तबतक पूछ बैठा था, "बाबू, मैं आपको पहचान न पाया।" पूछना एक तरह से बेकार ही गया। बुज़ुर्ग ने मुड़कर देखा। यह कोई अघर मौसी के यात्री का-सा जवाब नहीं था। सपाट-सा उत्तर मिला, "पहचानोगे कैसे ! मैं इस इलाक़े का आदमी नहीं।"

गाज़ी की आँखें मुसकरा उठीं। बोला, "बाबू नये दीखते हैं, जभी तो कह रहा था। आप टाकी से सवार हुए थे न ! घूमने जा रहे हैं शायद ?"

बस, छोटा-सा जवाब मिला—"हुम्।"

मोटे लेन्स की आड़ में छोटी-छोटी पुतलियों में विरक्ति का भाव ठहर गया था। उस विरक्ति की छाप और भी दो प्राणियों के चेहरे पर जा पड़ी। प्रौढ़ा का युवती की आँखों में ताकना, हलकी-सी हँसी, फिर गाड़ी का चल पड़ना—यह सब पलक मारते ही हो गया। प्रौढ़ सज्जन को पता नहीं कि उसका नाम महमूद गाज़ी है। उन्हें इसका अनुमान नहीं कि कोई प्रसंग कहाँ से कहाँ खिंचता हुआ चला जायेगा। इसलिए जैसे ही वह मुँह फेर लेना चाहते ही होंगे कि फिर—"अच्छा बाबू, कहाँ जायेंगे !"

मैंने पाया, सज्जन कोई लाग-लपेट पसन्द नहीं करते। उन्होंने फिर रूखा-सा जवाब दिया—"गोसावा।"

महमूद गाज़ी ने अपनी गरदन हिलाकर कहा, "इसीलिए तो कह रहा था कि मैंने बाबू को कभी हासनाबाद में नहीं देखा। जायेंगे तो लाउंज पकड़कर ही ?"

जिस तिक्तता से बाबू की भँवें ऊपर-नीचे उठ-गिर रही थीं उनसे किसी फटकार की ही आशा की जाती थी। हो सकता है, गोसावा एक अपरिचित इलाक़ा हो, पर मेरी धारणा थी कि उसे कैनिंग के आस-पास ही होना चाहिए। और इतनी दूर जाने के लिए लाउंज के बिना शायद दूसरा कोई साधन नहीं। अगर कुछ है तो वह नौका है। पर गोसावा के यात्रियों को यहाँ से नौका भी नहीं मिलेगी।

और मैं तो मनुष्य के मन को कभी समझ ही नहीं पाया। सज्जन की आँखों की उतावली अब उनकी छटपटाहट से प्रकट हो रही थी। बोले—"हाँ, जाना तो वहीं है। लेकिन समय इतना हो चुका है। क्या लाउंज मिल जायेगा ?"

गाज़ी के झुर्रियों-भरे चेहरे और अस्त-व्यस्त दाढ़ी से हँसी फूट रही थी। फिर जैसे आकाशवाणी हुई—"हाँ मिल जायेगा।"

"मिल जायेगा।"

महाशय को इतनी देर बाद गाज़ी की अभय और वर मुखमुद्रा से राहत-सी मिली। इतनी देर बाद समझ में आया कि उसकी आँखें बार-बार इधर-उधर

क्या खोज रहो थीं। इतना सब कुछ इधर-उधर खोना या खोजना नहीं था—दरअसल उनका मन ही भटक रहा था। लाउंज मिल पायेगा या नहीं। गाजी ने कहा—"मिलेगा क्यों नहीं भला। इस बस के पहुँचे बिना लाउंज नहीं छूटेगी। हमलोग भी तो उसी से चलेंगे।"

यह कहकर उसने मेरी तरफ़ देखा। 'हम लोग' कहने का मतलब है—यह और मैं। उसके दृष्टिपात से, अच्छे-भले आदमी का जी डोल जाये। इसलिए नजर पहले प्रौढ़ा और फिर युवती पर पड़ी। गाजी मेरा सहयात्री है, इस घोषणा से चेहरे पर सन्तोष का भाव उभर आया था। यह कोरा आश्वासन नहीं था। तब तक सुहागन और कुमारी बाला ने गाजी के इस सहयात्री की ओर देख लिया था।

गुस्सा करोगे तो कटते रहो। अब यह भी सोचते फिरो कि कहाँ क्या क़बूल किया था। बाज आया इस मुर्शेद नाम की मजदूरी से। मन का अवसाद, हृदय का क्रन्दन और यहाँ तक कि गूँगे-बहरे के सारे रहस्य सब घाट पार हो चुके थे। आज देख रहा हूँ उसकी—बाबू नाम की मजदूरी। इसमें कोई आपत्ति भी नहीं। जब इतने सारे बाबू पड़े हैं तो किसी एक बाबू की शरण ही सही। सारे बाबुओं को इकट्ठा करने की जरूरत क्या है भला!

मैंने मुँह फिराकर बाहर की ओर देखा। पूछना चाहता था—"हम सब कौन-कौन हैं? मैं तुम्हारा संगी नहीं।" पर यह सोचना आसान था—कहना मुश्किल। फिर कहता भी तो किसे? फिर वही आवाज सुनाई पड़ी—"लो वह दीख रहा है। हासनाबाद आ गया।"

सामने देखा। आसमान का एक छोर एक घनी बस्ती को छू रहा था। कच्चे-पक्के घर दूर से ऐसे लग रहे थे मानो एक दूसरे में ठसे और ऊपर-नीचे बसे हों। बीच-बीच में आकाश की ओर हाथ उठाये नारियल और सुपारी के पेड़। वाहनों की संख्या भी कम नहीं। केवल मोटरगाड़ियाँ ही नहीं, कारों की छाया की तरह शहरों में चिल्लाते-फिरते टेम्पो भी थे। कुछेक बसें भी। इन सबके अतिरिक्त, नदी के किनारे पर कतारों में बँधी नौकाएँ। आस-पास मस्तूलों का जमघट। नौकाओं की भीड़ में ही एक स्टीम लाउंज खड़ी थी—डण्डों से बने सोंके की खूँटी से बँधी। बस को देखते ही लाउंज का भोंपू ज़ोर से बज उठा। उस भोंपू का इशारा पाते ही इधर हॉर्न भी बजने लगा। किसी को यह खोलकर बताने की आवश्यकता नहीं पड़ी। गाजी की आवाज सुनाई पड़ी—"सुनिए, वे कह रहे हैं आओ....आओ, और इनका उत्तर है—आयी....आयी....।"

किसी को हँसते-हँसते खाँसी आ गयी। फिर बोला, "क्या कहना है!"

मुड़कर देखा। गाजी के बीड़ी-पान का संगी, काले चेहरे और लाल आँखों-

वाला। वह मुसाफिर तब तक दस हाथ आगे बढ़ चुका था। बस धूल उड़ाती हुई थम गयी। गाजी पुकार उठा—"बाबू चलिए, जल्दी कीजिए। साइरन बज रहा है।" जब सब कुछ तय ही था तो जल्दी करना ही उचित था। मेरे पीछे-पीछे गाजी चल रहा था। फिर वहीं से चिल्ला उठा—रुकिएगा जरा, हम लोग सभी चल रहे हैं।"

सामने मिट्टी का एक छोटा-सा कच्चा घर था। उसपर पत्ते का छप्पर था। उसके एक ओर तख्ते पर लोहे के पत्तर से ठुंकी एक खिड़की के पास ऊबड़-खाबड़ अँगरेजी में लिखा था—'बुकिंग ऑफ़िस'। शायद तारकोल से। स्वभावतः मैं उधर ही दौड़ा। मोल-तोल की कोई बात तो थी नहीं। छपा हुआ टिकट था। गाजी ने जल्दी से बुलाकर कहा—"उधर कहाँ जा रहे हैं बाबू! बहुत देर हो गयी है। अब वहाँ—उस घर में टिकट नहीं मिलेगा। टिकट-बाबू तो लाउंज पर सवार हो चुके हैं। चलिए, जल्दी-जल्दी चलें।"

लेकिन गाजी को फिर ठहर जाना पड़ा। उसको उन प्रौढ़ सज्जन ने पुकारा—"क्या कहूँ आपको—मुल्ला या साधु? क्या हमें भी इसी लाउंज से जाना है!"

"और नहीं तो क्या? जल्दी-जल्दी आइए। अरी मावाओ...जरा तेज कदम बढ़ाओ।" हँसते-हँसते उसने अपना हाथ ऊपर उठाया और पुकारने लगा। लगता था, सारे लाउंज के लाव-लश्कर का वही खलासी हो। सबको आवाज देता रहा। और केवल उनकी ओर ही नहीं, दूसरों की तरफ़ भी उसका खयाल था, "अरे ओ महतो चाचा, कहाँ गये! चाची का हाथ पकड़कर जरा सावधानी से चढ़ना।"

अब इस बीच, यह महतो चाचा कहाँ से टपक पड़े। उसका संकेत जिस ओर था मैंने उधर मुड़कर देखा—वह रहा महतो चाचा, उसके धूम्रपान का संगी। मनुष्य भले ही न पहचान पाऊँ, पर देखने में कोई भूल नहीं हुई। वह रक्ताम्बरी, ताम्बूलरंजिनी, धूम्रपायी प्रौढा महिला घूँघट खींचे अब महतो चाचा के पास खड़ी थी। चाचा अब भी, पान खरीदने में लगे हुए थे। सिर्फ़ बीड़ी से क्या होगा! चाचा-चाची दोनों बिना पान रह नहीं सकते। इस बीच हमारे पीछे वही सज्जन अपनी पत्नी और युवती कन्या को लिये उपस्थित हुए। गाजी ने मुझे निर्देश दिया—"बाबू आप ऊपर चले जाइए। छोटा-सा कमरा है, वहीं जाकर बैठिए।"

बात अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि टिङ्-टिङ्-टिङ् घण्टी बज उठी। मैंने वाहक की ओर देखा, वह ऊपर खड़ा रस्सी पकड़कर खींच रहा था। चारों ओर से बढ़ते दबाव के साथ-साथ मशीन की गड़गड़ाहट भी फैल गयी। छत पर चिमनी का मुँह खुल गया। और उसके साथ ही हलका-सा धुआँ। लाउंज के

ऊपरी डेक पर जाते हुए मुझे डर-सा लगा था। भीड़ से बचने के प्रयास में कहीं मेरे दोनों कान ही सुन्न न हो जायँ। केबिन के भीतर घुसने पर कोलाहल तनिक कम हुआ। जिधर कल-पुर्जे लगे हुए थे उधर लकड़ी की दीवारें थीं। दायीं ओर बायीं ओर खिड़कियाँ थीं। सामने भी एक दीवार थी। इसके ऊपर चारों ओर से बन्द कप्तान का चेम्बर था।

प्रथम श्रेणी कहने के साथ ही, गद्देदार कुरसी का जो बिम्ब उभरता है, वह यहाँ कहाँ! निरे उकठे काठ का आसन। केवल भीड़ से बचने के लिए ही तो यहाँ नहीं आया था। सीट पर बैठते ही ऐसा लगा कि दिशाओं के दोनों छोर एक साथ मेरी खिड़की के सामने कूद पड़े हों। इस पार का हासनाबाद एक लम्बे-चौड़े घाट की तरह दीख रहा था। इस बंगाल के उस पार—किसी नदी के ऐसे ही भरे-पूरे घाट को बन्दर कहा जाता है, जिन घाटों पर सुदूर देश-देशान्तरों, नदी-नालों को पार कर अनेकों जहाज आते हैं। इस पार भी वैसा ही हाल था। कई घाटों पर नौकाएँ बँधी थीं। पीछे—मोड़ पर कई एक लाउंज खड़ी थीं। उस पार का किनारा ऊँचा बँधा था। इस पार की हलचल और व्यस्तता के मुकाबिले उस पार के पेड़-पौधे चिलचिलाती धूप में किसी गहरे सन्नाटे के शिकार थे। यहाँ तक कि मैं भी, पेड़ों की घनी छाया या पौधों के झुरमुट में—पक्षियों का कलरव सुन सकता था।

यहाँ भी वही खींचातानी चल रही थी। लाउंज के टिकट बाबू को इतना भरोसा नहीं था कि गाजी टिकट लेकर आयेगा। कल-पुरजों की उस गड़गड़ाहट के बीच मैंने सुना—"पैसे बिना मैं नहीं ले जा पाऊँगा बाबा!"

मैंने झाँककर देखा—ऊपर आता हुआ गाजी जैसे थम गया। कहने लगा—"बिना पैसे दिये मैं जाऊँगा ही क्यों! जब कह रहा हूँ कि पैसे दूँगा—तो जरूर दूँगा। लेकिन भैया, मुझे ऊपर जाकर बैठने देना होगा। दुहाई मुरशेद की...। बस इतनी-सी दया करना।" इतना कहकर वह ऊपर चढ़ आया। मेरी ओर देखकर बोला, "भला बताइए तो बाबू, मैं झूठ क्यों कहने लगा। बताइए तो....!"

उस केबिन के बाहर ही, खिड़की के नीचे खुली छत पर वह जा बैठा। उधर लंगर खोलने की आपाधापी मची थी। तो इधर आखिरी चीख-पुकार और शोर। अचानक जोर की आवाज आयी। मुड़कर देखा—इस प्रथम श्रेणी के केबिन में—मोटे लेन्सवाले चश्मे से चिपकी हुई जुड़वा आँखें दाखिल हुईं। पीछे वैनिटी बैग, प्रिण्टेड सिल्क की साड़ी और फैली हुई केशराशि। इसके पीछे लाल किनारीवाली बंगाली सूती साड़ी। माँग में सिन्दूर और माथे पर सोहागनवाली बिन्दी।

प्रौढ़ सज्जन के गले से आक्रोश-भरा विद्रूप-सा स्वर फूटा—"हूँ...इसी का नाम है 'फस्ट किलास'। लो...बैठो। तुम यहाँ बैठो...। शिनि, ले तू यहाँ बैठ।" कहते हुए वह स्वयं मेरे पास बैठ गये। अब यह आदेश हो या अनुरोध—ये दोनों भी दूसरी सीटों पर बैठ गयीं। लाउंज तब मोड़ काटती तिरछी मुड़ती हुई, उस पार की ओर बढ़ती चली आ रही थी।

एक तो जी खट्टा हो चुका था। और जब जी ही खट्टा हो जाये तो आगे क्या बचा! सोचा था, फ़र्स्ट क्लास का आराम से उपभोग कर पाऊँगा। दोनों दिगन्तों को दोनों खिड़कियों के साथ बाँधकर रखा जा सकेगा। उसके सामने बैठकर अगर हँसी भी आती तो उसे होंटों से चिपकाकर रख लिया जाता।

केबिन के बाहर खिड़की के पास महमूद गाजी? वह इस दिगन्त के साथ एकाकार हो चुका था। चलते हुए, जैसे सिर पर आकाश छाया रहता है। धूप, छाया, पंछी, पेड़-पौधे—ये सब-के-सब, अलग-अलग दीखते हुए भी जैसे एक-से प्रतीत होते हैं। मैंने देखा कि गाजी भी उसी अखण्ड में सम्मिलित हो गया है। वह 'फ़र्स्ट क्लास' का मुसाफ़िर नहीं—ना ही उसे सभ्य या अभिजात कहे जाने-वाले लटकों से कुछ लेना-देना है। उसे किसी मर्यादा या शालीनता की आवश्यकता नहीं। इस अखण्ड के साथ एकाकार होकर ही अपनी प्रसन्नता का विस्तार किया जा सकता है।

यहाँ ऐसा नहीं हुआ। यहाँ केवल हिस्सेदारों के हिस्से की ही बात नहीं थी। इस केबिन में अब जनपद और समाज का उदय हो चुका था। आभिजात्य, शानो-शौकत और नियम-कानून सभी मूर्तिमान् हो उठे थे। अब दिगन्त में डूब जानेवाली कोई बात न थी। दूसरे यात्रियों की सुख-सुविधा का खयाल भी था। अब यह केबिन दिगन्त की मुट्ठी में नहीं था, एक कबूतरखाना था। चुपचाप बैठे रहो, फड़फड़ाने की कोशिश मत करना। अगर ऐसा हुआ तो आमने-सामने, एक दूसरे से टकराना पड़ेगा।

फिर कहा जायेगा—यह मुसाफ़िर तो बड़ा मतलबी है। ऐसा भला नहीं कि 'इमली के पत्ते पर नौ आदमी' की तरह सवार हो जाये। अपना हिस्सा भी जुगाये नहीं रख पाता। लोग-बागों की परवाह कौन करता है, बस, अपने ही स्वार्थ की बात करता है।

बात यदि सचमुच ईमान की हो तो ऐसा कहा जा सकता है। आखिर मैं भी इमली के पत्ते पर ही सवार था। समाज की बात हो या संसार की—हर जगह ऐसे ही नौ लोगों की हिस्सेदारी के बीच गुज़ारा करना पड़ता है। जहाँ हर कोई अपने अन्न-जल की हिस्सेदारी के लिए आमने-सामने टकराने को तैयार है। लेकिन जब किसी एकान्त में अन्तर किसी की पुकार उठता है—तब! तब किसी मैदान के एकान्त कोने में बैठे रहना या किसी तालाब के किनारे जमे रहना। अन्यथा छत पर एकान्त कोने में आश्रय लेना—यह सब क्या है?

यह अपने-पराये की बात नहीं। कई पास-पड़ोसी भी तो हैं। लेकिन समय निकालकर—एक बार अन्तर में पैठे पड़ोसी के साथ साक्षात्कार करने की भी इच्छा है। उन्होंने तुमसे कई बार बातें की हैं—तुमने भी उन्हें बहुत-कुछ सुनाया है। अब खुद अपने-आपसे बातचीत करनी चाहिए। कहाँ जाते हो—क्यों जाते हो—क्या चाहते हो—किसकी तलाश है? इस बार अपने मन को ही पकड़ लो: अरे ओ मन, चलो सारे बन्धन तोड़कर भाग चलें। यह देह यूँ ही पड़ी रहे। तुम उड़ चलो दिगन्त की ओर। सुगन्धित प्रसाधनों की खुशबू आ रही थी—आने दो। फिर तेल-फुलेल की...आने दो। क्या नाम है...हाँ क्षिति। हवा में उसके केश लहरा रहे थे। दाहिने हाथ की चूड़ी में—खनक जग रही थी। वह भी सुन ली। कान बन्द करो। फिर 'खुट'-सी आवाज़—वैनिटी बैग खोलने की। दूसरे आदमी का संकोच हो तो अपनी आँखें मूँद लो या फिरा लो। देखते नहीं, उसके गाल के पास, बालों की ओट में, उस सलोनी युवती के हाथ में छोटा-सा दर्पण है जिसे निहारते हुए वह अपनी आँखों में अपनी सुध-बुध खो चुकी है। इस बीच होंठों का रंग फीका पड़ गया था इसलिए अपने चेहरे को ज़रा ओट में करके उसने उसे रँगकर ताज़ा कर लिया। यह सब इस पानी के मड़मड़िया में देखेगा कौन? कोई देखे न देखे, न सही—अपना जी तो भरेगा। वरना बड़ी परेशानी है। अगर यह सब उपयुक्त न लगे तो फिर जी को कैसे समझाया या रिझाया जाये।

मैंने आँखें बन्द कर ली थीं। खुद को हवा के साथ छोड़ दिया था। लेकिन इसी समय उसने वह रंग-भरा आँचल उड़ा दिया। कन्धे के ऊपर उसके दोनों पुष्ट डैने जैसे खुल गये। इसके साथ ही उस नागरी युवती की कमर से ऊपर का गोरा रंग धूप के किसी उजले टुकड़े-सा चमक उठा। यह भी कैसी बेहया हवा थी जो अचानक ही स्तब्ध कर गयी। तेज़ी से अपना होंठ रँगना समेटकर उसने अपना आँचल खींच लिया। और इसी बीच देख लिया—किसी अपने को नहीं, एक पराये आदमी को। मुझे इतना अवकाश न था कि मैं अपनी आँखें हटा ले पाता। युवती का चेहरा लज्जा से लाल हो उठा। मैंने अपने अन्तर में पाया—कोई था, जो चुपचाप अपनी हँसी रोके बैठा था। इस मन के पड़ोसी को

कहाँ पाऊँ उसे

ही लगा। यह ठीक है कि यह योगी नहीं, पर यह सारा काण्ड भी जैसे दिगन्त में लीन हो गया। गाजी की तरह यह भी खण्ड-खण्ड में अखण्ड था। क्या ही अच्छा होता—हवा के और तेज झोंके आते रहते, युवती सजती रहती। इस दिगन्त में सभी सजते-धजते हैं।

अचानक ज़ोर की आवाज़ आयी—"होशियार!"

लाउंज उस पार किनारे के पास खड़ी थी। ज्वार का जल खलखल मचल रहा था। ऊँचे बाँध के किनारे लाउंज जाकर खड़ी हो गयी। उसके कल-पुर्ज़े चलते रहे। खलासी सावधान था। उसने एक ही झटके में एक मोटा-सा तख्ता उस पार- बाँध तक फैला दिया। फिर बाँध की मिट्टी से बाँस टिकाकर उसने उसे ऊँचा किये रखा। केवल दो ही यात्री थे। युवक के हाथ में टिन का बक्सा था। उसने अपनी कमर के चारों ओर कुरते के ऊपर से चादर लपेट रखी थी, जो उसके घुटने तक लटक रही थी। दूसरे हाथ से एक छोटा-सा बच्चा थाम रखा था। उसके शरीर पर एक कुरता था। पर इसके नीचे शायद कुछ नहीं था। हो भी तो, कौन जाने! उसकी नाक से ताबड़तोड़ नेटा चू रहा था।

यात्री जब चले गये तो खलासी ने तख्ता खींच लिया। लाउंज को अब मझधार तक पहुँचना था, इसलिए उसे दक्षिण की तरफ़ मोड़ दिया गया। जहाँ तक आँखें जाती थीं—नदी थी और था ऊँचा-सा बाँध। पश्चिम की ओर कई गाँव भी दीख पड़े। आम-जामुन के पेड़; और, और ऊपर, सुपारी और इन सबके ऊपर नारियल के पेड़ सिर हिलाकर झूम रहे थे। तो भी ऐसा जान पड़ता था कि गाँव काफ़ी दूर थे। नदी पर बँधे बाँध ने उन्हें किनारे से काफ़ी दूर रख छोड़ा था। किनारे-किनारे और गाँवों से हटकर दूर-दूर तक हरे और पाण्डु धान के खेत थे। पूरब की ओर—ऊँचे किनारों के उस पार—जितनी दूर तक दृष्टि जाती—धान ही धान था। शहर और क़स्बों के घरों में चाहे जितना अभाव हो—यहाँ उसकी कोई कमी नहीं। यहाँ तो दिगन्त तक जैसे दाता कर्ण का शासन था। उस सुनहले-हरियाले खेतों के बीच से रह-रहकर कोई लम्बा-सा तीर सीधा आकाश की ओर छूटता। ऊपर उठते-उठते फिर किसी धनुष की तरह टेढ़ा हो जाता और फिर सारे आकाश में इधर-उधर बिखर जाता। क्या नाम है इस पंछी का? कौन जाने! दूर से ऐसा प्रतीत होता, मानो हज़ारों तितलियाँ एक साथ उड़ चली हों। उड़ते-उड़ते चक्कर लगातीं और धान के खेतों की ओर गोता मारतीं। शायद यह धनमैना का दल होगा! घरों में उनका मन नहीं रमता। सबके-सब इस वन-भोज में मस्त थे।

इस नदी का पाट, फिर भी सूना-सूना लग रहा था। बीच-बीच में, छोटे-छोटे मिट्टी के ऊँचे-नीचे टीले जैसे नदी को रोकने के लिए खड़े थे। हरियाली से

उनका कोई वास्ता न था। कहीं-कहीं गैमो के पौधों की झाड़ियाँ फैली हुई थी। या फिर पानी में उग आनेवाले अनजाने पौधों का जंगली विस्तार था। नदी के किनारे जहाँ थोड़ी-बहुत जमीन पानी से अलग-थलग पड़ी थी, वहाँ कई बनमैना चुपचाप अपने चोंचों से उसे कुरेद रही थीं। इतना बड़ा एक जलयान, जिसकी आवाज़ दोनों किनारों के पार तक गूँज रही है—उसे भी वे नहीं देखती। क्या देखेंगी—इस कादो-कीचड़ में बैठकर रोज ही यह सब देखना-सुनना होता है। भय तो अपरिचितों का है। अण्डे से बाहर निकल आनेवाले दिन से ही देखती आ रही हैं वे इस पानी के भड़भड़िये को।

"बाबू!"

यह आवाज़ एकदम कान के पास की गयी थी। सिर उठाकर देखा—गाज़ी की गड़रेदार पगड़ी प्रायः मेरे मुँह तक आ लगी थी। बोला, "क्या कुछ समझे बाबू?"

उसकी चमकती आँखों से जैसे कोई रहस्य झाँक रहा था। उसकी भौंहें नाच रही थीं। गाज़ी क्या समझाना चाह रहा था? क्या पूछ रहा था भला?

"किस बारे में," मैंने पूछा।

"यही, डूब जाने के बारे में?" गाज़ी ने गरदन हिलाकर दूर दिखाते हुए कहा।

इस डूबने से गाज़ी का क्या तात्पर्य है—मैं इसी में डूब गया। अच्छा या बुरा लगना यह सब उसका दायित्व है। मैं तत्काल कोई उत्तर न दे पाया। ऐसा लगा: यहाँ, जहाँ किसी चीज़ का अन्त नही, उसमें मेरी अच्छी-बुरी पसन्द-नापसन्द की सीमा भी जैसे कही खो गयी है। पूछ बैठा—

"यह ऊँचा किनारा और कितनी दूर तक है?"

"जितनी दूर तक बढ़ते जायेंगे", गाज़ी बोला। "बाबू यह तो नकली बाँध है। इसने नदी को क़ैद कर रखा है ताकि एक भी बूँद बाहर जमीन पर नहीं पड़े।"

"क्यों?"

"खारा है बाबू! इस नदी का जल इतना तीखा है कि धरती पर कोई उपज नहीं होते देता।"

इसीलिए इसे बाँध द्वारा जकड़ दिया गया है। मैं नहीं जानता था कि इसका पानी खारा है। मैंने पूछा, "इछामती का पानी भी क्या खारा है, वही जिसे हम देख आये?"

"हाँ, यही उन्नीस-बीस का अन्तर होगा। वह भी खारा है। वह जो सागर महोदय हैं—वह यहाँ आते-जाते रहते हैं। इसलिए बारहों महीने यह ।।

बना रहता है। आजकल ढलान के दिन हैं इसलिए थोड़ा कम होगा।" कहते हुए वह अपनी दाढ़ी हवा में लहराकर हँसने लगा। गाजी का सारा व्यक्तित्व ही रहस्यमय है, पर इसमें हँसने की कौन-सी बात है, यह मैं नहीं समझ पाया। फिर गाजी ने खुद समझाते हुए कहा,

"बाबू की बातें भी बड़ी मजेदार हैं। कहते हैं, हम जो पानी देख आये, क्या वह भी खारा था? बाबू, क्या किसी आदमी को देखकर उसकी अच्छाई-बुराई का पता चलता है! इसी तरह पानी देखकर क्या कोई बता सकता है कि यह खारा है या मीठा!"

बात सही थी। उसका अपना घर भी तो मीठे पानी के किनारे था। वह प्राय: गंगा के किनारे बैठा रहता। भाटा के दिनों में उस जल का जैसा रंग था, इस जल का रंग भी वैसा ही था। ज्वार भाटा में उठने-गिरनेवाली तरंगों में वहाँ जैसी धूप झिलमिलाती थी, यहाँ भी वैसी ही झलकार थी। पर नदी पर यह कभी नहीं लिखा होता कि इसका जल मीठा है या खारा।

"हाँ, बात तो तुम्हारी एकदम सही है, गलाबन्द कोट और बीच से खिल्वाट सिर ने इतना कहकर लम्बा क़हक़हा लगाया। चुप पड़े रहने का भी कोई लाभ न था, बड़ा विलक्षण दृश्य था। सामने ही वह गंजा सिर झूम रहा था: क्या गाजी के साथ उसकी भी कोई रहस्यमयी जुगलबन्दी चल रही है। फिर जोर से बोल उठा वह महाशय, "अरी सुनती हो, अरी ओ झिनि! जानती हो यह खारा पानी है, याने जिसे 'सी-वाटर' कहते हैं।"

उस ओर की बेंच से दो जुड़वा आँखें उठीं तो सही लेकिन दूसरे ही पल एक दूसरे में खो गयीं। हवा के झोंकों से जैसे लता काँप उठती है, युवती की हँसी में, उसकी भँवें भी थिरक उठतीं। उस थिरकन में हँसी का पुट नहीं, आक्रोश-भरी तिलमिलाहट थी। उसकी नाक की लौंग कुछ इस तरह कौंध गयी, मानो गलेबन्द कोट को बींध देना चाह रही थी। लगता था, 'सी-वाटर' खारा हो या न हो, पर इससे भी अधिक दाहक चिन्ता वहाँ विद्यमान थी। नदी की झिलमिलाहट खिल्वाट सिर पर चौकड़ी भर गयी। वह मेरी तरफ़ देख रहे थे—"येस, राइट, सॉल्ट वाटर से क्रॉप नष्ट हो जाता है, हण्ड्रेड परसेण्ट करेक्ट।"

गाजी ने जिस तरह से यह बात कही थी, उसपर मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। मुझे विश्वास दिलाने का भार भी उसके कन्धे पर था। अपनी गरदन हिलाते हुए उन्हें यह जताना पड़ा कि उनकी बातें एकदम ठीक हैं। "यह जल—'सॉल्ट-वाटर' है।"—इससे फ़सल नष्ट हो जाती है। मैंने देखा—गाजी गलाबन्द बाबू को विस्मित आँखों से देख रहा है। मुरशेद का हाफ़िज....गोसावा जानेवाले

इस मुसाफ़िर की बातें तो बीजमन्त्र से भी अधिक जटिल हैं।

जो भी हो, महिला पुनः अपने आसन पर, दूसरी तरफ़ मुँह घुमाकर बैठ गयीं। लगता था, वह सारा आशय समझकर ही मानेंगी। किसे पता था कि इस प्राणी के भीतर भी कोई मनुष्य है। केवल अनुमान मत लगाओ, नदी का जल देखकर उसके स्वाद का पता नहीं लगता। बोले—"जानती हो, टाकी में ही हाँदु भी बिलकुल ऐसा ही बता रहा था। यह जो बाँध देख रही हो न, ऊँचे-ऊँचे टीले की तरह यह घेड़ी बाँध !"

गाज़ी ने खिड़की के बाहर से भीतर झाँकते हुए कहा—"घेड़ी नहीं बाबू, भेड़ो बाँध।"

लेकिन इससे क्या अन्तर पड़ता ! मूलतः बात क्या है, उसपर पहुँचा जाये। गाज़ी की ओर हाथ उठा सामने घूमकर बोले, "एक ही बात है। घेड़ी हो या भेड़ो—तुम लोगों की किसी बात का कोई सिर-पैर नहीं होता। बाँध—बाँध है, यह घेड़ी और भेड़ो क्या बला है ! अब समझ में आया झिनि...इससे साफ पता चलता है, लवण में मिट्टी को नष्ट करने की कितनी ताकत है।"

बस इतना ही। महिला का सिन्दूर और रोब हठात् रोष में ढल गया, "तब से झिनि-झिनि की रट लगाये हुए हो। अलका नहीं कह सकते ?" कहते हुए उसने पराये यात्री को ताक लिया। अब आयी मतलब की बात ! खारे लवण का विचार तो एक ओर पड़ा रह गया। अब देखना था वह लवणाक्त भावना किस ओर बहती है। प्रौढ़ की हालत उस डूबती हुई नौका की तरह थी, जो अचानक किसी किनारे से टकरा जाये। आवाज आयी—"हाँ।"

और तब अपनी आश्रिता की ओर तीखी दृष्टि से देख लिया। ऐसी स्थिति में संकोच में कौन पड़ा रहता। मैं अपनी आँखें बचाकर बाहर देखने लगा। सच ही तो है, घर से बाहर तक—आठों पहर, नाम लेकर पुकारते रहने की जरूरत क्या है भला ? बाहरी आदमी के सामने क्या घर का नाम लिया जाता है ? और पराया यात्री न भी होता तो क्या झिनि तुम्हारा नाम घोकर नहीं पीती। घर का आदमी होकर तुम्हें ही तो घर का खयाल रहता है। आखिर मान-मर्यादा-जैसी भी कोई चीज होती है ! गाज़ी की आँखों से मुरशेद गायब था। मूँछ-दाढ़ी से भरे उसके खुले हुए मुँह से जीभ झाँक रही थी। मानो वह आँख से ही नहीं, जीभ निकालकर भी मुझे देख रहा था। देहतत्त्व से भी परे ऐसा कोई रहस्य घटित हो रहा था जो समझ में नहीं आ रहा था।

प्रौढ़ सज्जन तब तक यह समझ चुके थे कि कहीं कुछ चूक हो गयी थी—"फिर वही बात कह रही हो। अब हमेशा तो याद रहती नहीं ! अच्छा, अब अलका ही पुकारा जायेगा। तुम लोगों को अब..."

फिर 'ठक'। लगता है, कोई संकेत दिया गया। पराये मुसाफ़िर की तरफ़ दिखाकर आँखों ही आँखों में सुहागिन ने डपटते हुए चुप कर दिया। शायद इसीलिए बुजुर्ग के गले में फँसी वही पुरानी बात निकली। एकदम सहज स्वर में ही बोले, "हाँ, तो मैं क्या कह रहा था। हाँ, नमक की बात हो रही थी। नमक लोहे तक को खा जाता है। यह जो बाँध देख रही हो न, यह खारे जल की वजह से बनाया गया है। नहीं तो यहाँ धान होता ही नहीं।"

अब इस जी को क्या दोष दिया जाये! आँखें घुमाकर यह देखने की इच्छा हुई कि उधर की प्रतिक्रिया क्या है? लेकिन यह सम्भव न हो पाया। इस पराये यात्री के मन में कहीं सोया हुआ आत्मसम्मान उठ खड़ा हुआ। या अन्तर में कहीं कोई शब्द कुलबुला रहा था। तो भी सावधान, हँसने की मनाही जो थी।

मैंने गाज़ी से पूछा, "इस नदी पर कोई घाट नहीं है। कोई नहाता भी नहीं?"

जो अब तक आँखों को ही परेशान कर रही थी वह अब मन को भी छू गयी। अगर नदी का पानी खारा हो तो इसका मतलब यही हुआ कि उसके किनारे किसी आदमी की छाया तक न दीखे।

गाज़ी ने भौंहें उठाकर अपनी आँखें फैला दीं। बोला:

"दुहाई मुरशिद की! ऐसी बातें न कीजिए। इस पानी में आदमखोर है।"

"आदमखोर, वह क्या बला है! मगरमच्छ है क्या?"

"नहीं बाबू, मगर नहीं, घड़ियाल है घड़ियाल!"

"कैसा होता है वह?"

"बहुत ही खतरनाक। मगर की तरह वह किनारे पर नहीं आता। गहरे पानी में डूबा-डूबा किनारे पर आ धमकता है। पानी में कोई घुसा नहीं कि बस! कोई जो हो—एक ही ग्रास में निगल जाता है।"

लकड़ी के केबिन में चीत्कार मच गया—"ओ माँ..."

मुड़कर देखा। झिनि यानी अलका—डर से उसका शरीर काँप रहा था। गाज़ी की ओर उठी कजरारी आँखों में जैसे कोई खूँखार घड़ियाल उतरा रहा था। लगभग यही स्थिति महिला की भी थी। गलाबन्द कोट की हालत देखने के पहले उनका गला बज उठा था: "डेंजरस! हाँदु ठीक ही कह रहा था...।"

गाज़ी बोलता ही जा रहा था: "अब बाबू, जहाँ जिसका वास होता है, वह तो वहीं रहेगा। इधर की सभी नदियों में इनका बोलबाला है। फिर इनकी बुद्धिमानी और चालाकी भी कुछ कम नहीं होती। समझे बाबू! और यह जो मोटर लाउंज जा रही है न, आप पानी में झाँककर देखिए—ये भी साथ-साथ चल रहे होंगे।"

"क्यों ?"

"इनकी खुशक़िस्मती से अगर कोई आदमी या जानवर इसमें गिर पड़े, तो इनकी दावत हो जाये।"

सामने सीट पर बैठी बाला आर्त स्वर में चिल्ला उठी, "ओ माँ, सुन रही हो ?"

सुहागिन महिला गलाबन्द कोट की ओर मुड़ी। हृदय तो उनका भी धड़क रहा था। बोले "हांदु ने तुम्हें कुछ बताया नहीं था ?"

लग रहा था जैसे महिला के सामने घड़ियाल मुँह बाये खड़ा हो। वह सज्जन गरदन हिलाकर बोले, "तो! माने हांदु ने घड़ियाल के बारे में कुछ बताया तो था जरूर, पर ऐसा कुछ नहीं बताया था। बट, दिस इज वेरी डेंजरस, उसे बताना चाहिए था।"

क्यों, हर कोई पानी में गिर रहा है क्या ? या घड़ियालों ने घेर लिया है ? इस जलयान पर इतने स्त्री-पुरुष सवार हैं, इसी नदी किनारे जिनकी घर-गृहस्थी है—क्या उन सबके प्राण इन्हीं घड़ियालों के पंजे में है। या फिर उन्हें इस बात का पता नहीं। और अगर यह सही है तो यह यात्रा किस लिए ? उस पार जाने की इतनी उतावली भी क्यों ? लगता है, यह कोई नयी खबर है। अपरिचितों के लिए तो यह भयावह होगा ही लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि कोई तुम्हें घड़ियाल के मुँह में झोंक रहा है। ये तीनों—माँ, बाप और बेटी भी तो इसी जलयान से जा रहे हैं। क्या इन्हें दूसरे लोगों का ध्यान नहीं। लेकिन मुरशेद नाम के मजदूर को देख रहा था। उसकी आँखों की पुतली और दाढ़ी में फँसी हँसी में अब वह पहलेवाला गाजी था भी नहीं। तो क्या वह घड़ियाल का पर्याय या विकल्प हो गया। मझधार में डालकर वह भी जीवन से खेल रहा था मानो। 'अपने इष्ट का नाम जपो हे, काल के घेरे में मौत खड़ी है।'

नहीं, घड़ियाल की ऐसी कोई बात नहीं। ऐसी खबर उड़ाकर वह मजे लूटता है। उसने जल्दी से, खिड़की पर अपना हाथ रखा और बोला :

"डरना नहीं माँ ठकुरानी, अरे दीदी, कोई डर नहीं। [illegible] वह घात लगाये रहते हैं। लेकिन आपको पता है—खुदा ने ऐसा कोई प्राणी नहीं बनाया जो आदमी से न डरता हो। फिर भी, समुद्री नदियों की यात्रा करते हुए, थोड़ा-बहुत होशियार रहना ही चाहिए। ऐसा भी नहीं कि पानी में गिरते ही वह पकड़ लेंगे। तो भी, कुछ कहा नहीं जा सकता—यहाँ [illegible] कीजिए। आखिर वह [illegible] इन आदमियों के पास ही तो मँडराते रहते हैं।"

गाजी का एक हाथ अभय दे रहा था तो दूसरा [illegible]। वह [illegible] बात पर टिका न था। डर की ऐसी कोई बात न थी पर [illegible]

तो वही होगा जो होना है। और क्या कहा जाये! मैंने एक बात, जो काम की थी, उससे पूछ ली, "ऐसी दुर्घटनाएँ होती रहती है क्या?"

गाज़ी बोला, "अब बाबू, जिसको लेकर सारा घर-बार है, उसमें थोड़ी-बहुत रियायत तो चलती ही है। वरना वह चलेगा कैसे! अभी उसी दिन की ही तो बात है, सुनिएगा! किनारे पर सारा काम-धाम निपटाकर वह बेचारा पानी के लिए नदी में उतरा। अब जहाँ सारा घर-संसार है, उस बारे में वह जानता ही होगा। फिर उसे कौन बताता कि इजलास का फ़रमान आ चुका था। घुटने-भर पानी में वह उतरा ही था कि जुर्माना भरना पड़ा। घुटने के पास से ही खट से एक पाँव साफ़...।"

खट से...एक पाँव! वाह! गाज़ी, इजलास का फ़रमान और जुर्मानेवाली बात को खट-खट की नक़्क़ाशी से ख़ूब सजा रहे हो!

"नेक्स्ट, उसके बाद..." गलाबन्द कोट के बाबू का गला अवरुद्ध था।

"उसके बाद क्या? चीख़-पुकार मची तो लोग दौड़े और उसे उठाकर ले आये। बशीर हाट के अस्पताल में उसका दाखिला करवाया गया। पर तब तक कटे अंग का सड़ना शुरू हो चुका था। यह तो सूद ही था। बड़ा भयंकर ज़हर होता है इसका। देखते-देखते सड़ान फैलती चली गयी और...।"

गलाबन्द कोट भावुक हो उठे: "इतनी तेज़ी से सड़ांध फैल गयी! आख़िर यह तो बताओगे कि वह बेचारा बचा या नहीं।"

गाज़ी को पहचान पाना बड़ा मुश्किल है। वह दाढ़ी की आड़ में अभी भी अपना मुँह फाड़े धीरे-धीरे हँस रहा था। बोला, "उसका जवाब तो मैंने पहले ही दे दिया बाबू! कहा न जुर्माना। वरना वह तो साफ़ हो गया होता। फाँसी का हुकुम नहीं था। बस, जाँघ तक का हिस्सा काट देना पड़ा।"

"उफ़...सर्वनाश!" महिला का स्वर था।

"आफ कोर्स" प्रौढ़ ने अपनी आँखें नचायीं।

जिसका नाम झिनि या अलका था वह अपना साज-सिंगार भूल गयी। भय और विरक्ति से वह अपने होंठ बिचकाकर बोली, "कितनी वाहियात जगह है। पहले पता होता तो यहाँ कौन आता भला!"

गाज़ी ने फिर सबको आश्वस्त किया—"डरना मत दीदी, यह सब भाग्य का खेल है। अब इतने ढेर सारे लोग हैं, इनमें तो कोई नहीं फँसता। फिर वह कैसे चला गया। उसे भी तो हर बात का पता था। अब आप लोगों का कलकत्ता ही लीजिए—लम्बी-लम्बी गाड़ियाँ लोगों को ठूँसे दौड़ती रहती हैं। उन सड़कों पर भी तो घड़ियालें अपना मुँह फाड़े पड़ी रहती है।"

"अब चुप भी रहो", गलाबन्द सज्जन ने डपट दिया। "कहाँ घड़ियालवाली

नदी और कहाँ कलकत्ता! वहाँ तो लोग अपनी ग़लती से गाड़ी के नीचे दबके-मरते हैं।"

अपनी बात की पुष्टि के लिए गाज़ी ने महिला को अपना साक्षी बनाया—"ज़रा बाबू की बातें सुनना! मैं भी तो वही बात कह रहा हूँ। ज़रा-सी चूक हुई नहीं कि गये काम से। है कि नहीं माँ...आँ! एक आदमी जो वहाँ गाड़ी चलाता है उसी के नीचे दूसरा आदमी दबकर मरता है। यहाँ भी हर रोज़ एकाध मगर मछुओं के जाल में फँस जाता है और फिर डण्डों की बरसात से दम तोड़ देता है।"

"पकड़ा जाता है क्या?" महिला ने पूछा।

"देखने में कैसा होता है?" अलका ने उत्सुकता प्रकट की।

गाज़ी ने दीदी की बात का जवाब दिया—"अब उसे क्या कहा जाये दीदी! एकदम सूअर की तरह। अगर उसके दाँत देख लो तो..."

अलका नामधारी युवती अपने गालों पर लहराते बालों को हटाना भूल जाती है। पूछती है, 'कितना बड़ा होता है?'

"अब मगरमच्छ के इतना बड़ा तो नहीं होता। थोड़ा छोटा होता है। फिर उसकी देह पर धारियाँ नही होतीं।"

दीदी के चेहरे पर हवाई उड़ते देखकर गाज़ी हँस पड़ा। घड़ियाल के दुःस्वप्न से दीदी के होंठों की रंगत फीकी पड़ गयी। वहाँ अब वैसी चमक न थी। गाज़ी ने कहा, "डर की कोई बात नही है दीदी, आनन्द मन से जाओ!"

गलाबन्द कोट ने ठेंगा-सा दिखाते हुए कहा, "मन का आनन्द तो हवा हो गया बाबा।"

उनके अधीनस्थ सोचने लगे—यह सारा-का-सारा घड़ियाली नाटक गाज़ी की ही करतूत है। गाज़ी इसके प्रतिकार में शायद कुछ कहेगा। पर नहीं, गाज़ी की दाढ़ी हवा में लहरा रही थी। वह मेरी तरफ़ देखकर हँसा। फिर उसने अपनी कनखी से गलाबन्द बाबू को देखा। वहाँ ऐसा कोई नहीं था, जो उसकी दाढ़ी खींचकर बोले—'पाजी।' वह मुरशेद का नाम लेकर आनन्द में है पर उसके इस आनन्द का साक्षी एक मात्र मैं हूँ—यह जताने के लिए ही मैंने अपनी आँखें फेर लीं।

नहीं! दूसरे गवाह भी अपने-अपने लिए व्यस्त थे। माँ, बेटी को यह समझा रही थी कि पहले यह इलाक़ा सुन्दरवन में ही था। हालाँकि बेटी की नजर कहीं, किसी दूसरी जगह भटक रही थी। कहाँ? यह जानना मेरे बस में नहीं था। मैंने सुना था—आँखों में मन का बास होता है, पर केवल आँखों पर निगाह रखकर ही उसके गन्तव्य तक नही पहुँचा जा सकता।

इधर गाजी भले ही अपनी गरदन नीचे किये बैठा था लेकिन उसका मुँह मेरे कान से अधिक दूर न था। वह गुनगुना रहा था जिसका आशय था तू अपने मन में ढूंढ़ के देख...जहाँ हैं दुःख, वहीं हैं सुख।'

मैंने बाहर की तरफ़ झांका। गंगा के जिस मुहाने को लेकर इतनी बातें हो रही थीं—मैंने उस मुहाने का पानी देखा। आकाश की नीलिमा धूप में कुछ इस तरह झिलमिला रही थी मानो पिघली हुई चाँदी नीलम में ढल गयी हो। पता नहीं, इतनी जगर-मगर किस लिए थी। भाटा में लहरें मचल रही थीं। अनमनी-सी नदिया ने जैसे सागर की पुकार सुन ली हो। माँ की गोद से कोई छोटी-सी बिटिया कहीं उछल भागी थी—अब माँ की पुकार सुन फिर जैसे ढलान की तरफ़ दौड़ पड़ी हो। इसीलिए यह उतावली-भरी चमक है। 'आयी...आयी...!' ज्वार के पार नीरवता है, वहाँ उसे आसमानी दरपन मिलेगा। इस नदी को देखकर कौन कहेगा कि इसका पानी खारा है और इसके तल में नहीं बुझनेवाली भूख मुँह खोले बैठी है। आदमी को देखकर अच्छे-बुरे की पहचान नहीं होती तो फिर पानी को देखकर कैसे होगी! किनारे पर घर बसाओ तो जान पाओगे।

बाँध के उस पार मनुष्यों का आहार है तो तीरे पर वनपाखियों का भोज। जो जल में विचरण कर रहे हैं—वे शायद जीव-हिंसक हैं और जीव-नियमों से परे भी नहीं। गाजी ने कलकत्ते की सड़कों के लिए जो कुछ कहा था, मैं उसे भूल न पाया था। तो भी, सब कुछ समेटकर दिशाहारा दिगन्त में कोई बिन्दास विराज रहा था। अन्तर में हाहाकार लिये—'चलो, किसी अनचीन्हे स्वप्न की खोज में निकल चलें।'

किसी मोटर गाड़ी के भोंपू की तरह, उसी समय कान के पास 'पों-पों' बज उठा। साथ ही, ढिंग... ढिङ् ङ्...घण्टा घनघना उठा। इसी तरह ऊपरी छत की चिमनी से 'भड़-भड़' की आवाज़ आयी और फिर धीरे-धीरे मद्धिम हो गयी। मैं यह भूल गया था कि मेरे सामनेवाली दीवार के पास ही कप्तान साहब बैठे हैं। सामने के बाँध पर भी दृष्टि गयी। इसका ध्यान ही नहीं रहा कि नदी कब कहाँ मुड़ गयी। मझधार पार होते ही, बाँध फिर मेरे सामने खड़ा था, इतना नजदीक कि मैं उसे छू सकता था। बाँध पर वहाँ एक पेड़ था, पता नहीं क्या नाम होगा उसका! कुछ दूर पर एक धुँधली-सी रेखा की तरह कोई एक गाँव दीख रहा था। गाँवों के सिरमौर—ब्राह्मण-वृक्ष नारियल सिर ऊँचा किये खड़े थे। इधर दस-बारह यात्रियों के बीच ही धक्कमपेल मची थी। लाउंज अभी किनारे पर थमी भी न थी। अभी खलासी ने तख्तेनुमा सीढ़ी भी नहीं लगायी थी और न टिकट कटाने का कोई झमेला ही था। यह सब लाउंज पर चढ़ने के बाद से ही होता आया। बाँध पर दो-चार पेड़ों के अलावा पत्तों की कोई झोपड़ी तक न

थी। पता नहीं, कैसा घाट है।

मुसाफ़िरों में पति-पत्नी, मियाँ-बीवी, बच्चे-कच्चे सभी तरह के प्राणी थे। पोटलियों और गठरियों के बीच एक आदमी पर नज़र पड़ी जो अपने हाथ में छोटी-सी बकरी उठाये हुए था। बेचारी की आँखों में जाने कैसा भय समाया था! गले से रिरियाती हुई आवाज़ निकल रही थी। शायद अपनी माँ को छोड़कर जाना पड़ा होगा। अपना जन्म-स्थान भी। अब कहाँ जाना है, कौन जाने!

सीढ़ी के बिछते-न-बिछते ही यात्रियों ने अपने पाँव आगे बढ़ा दिये। अबकी बार बाँध के ऊपर से नहीं, भाटा के चलते पानी नीचे उतर गया था। सीढ़ी दीरे से जा टकरायी। सभी नीचे उतरकर ऊपर चढ़ आये। कई के पाँव डगमगा रहे थे। सबसे अधिक डर घूँघट में पड़ी बहू को देखकर लगता था। वह 'बहू' थी या 'बीबी'—पता नहीं। *लम्बाई में तीन हाथ, पर चौड़ाई में कुछ अधिक* थी। लाल किनारीवाली बासन्ती रंग की साड़ी में लाल फूलोंवाला छापा था। उसका निमाई भी इस आशा में था कि कब उसकी झलक मिले। पर साड़ी के भीतर वह कहाँ छुपी है, यह किसी के लिए खोजकर निकाल पाना सम्भव नहीं। यह तो अच्छा है कि लाज बनी रहे। पर क्या कोई हाथ भी नहीं पकड़ सकता! सास माँ होती तो शायद हाथ भी पकड़ लेती। लेकिन पति महोदय ने हाथ पकड़ लिया तो फिर लाज कहाँ रही? महोदय हैं कहाँ? शायद लाँच पर सवार हो चुके थे।

आह, च्च...च...च, कैसी अशुभ घड़ी थी! तख्ते की सीढ़ी पर बहू ने पाँव रखा ही था कि एकबारगी दाहिनी ओर बल खा गयी। 'गिरी—गिरी' का शोर होते-न-होते बहूरानी नीचे गिर पड़ी वहीं—जिसे कहते हैं 'दक्खिन का दलदल।' सीधे कमर तक नीचे धँस गयी। इस बीच घूँघट हट गया। अब वहाँ आठ-दस साल की अबोध-सी बालिका थी। छिटके-दुबके चेहरेवाली, साँवली सलोनी—कानों में झुमके, नाक में बेसर। माँग में भरपूर लाल सिन्दूर। बच्चे की तरह चिल्ला उठी, "माँ—ओ—ओ—मरे बचा—"

बहू का रोना-धोना और लोगों की 'गयी...गयी...' हाँक के बीच एक हट्टा आदमी दीख पड़ा जिसने तुरत छलांग लगा दी।

अरे महाशय इधर नहीं, उधर हैं। [illegible] उन्होंने नहीं छोड़ी [illegible]
उनके साँवले रंग पर कुरता भी [illegible] रहा था। मूँछें [illegible]
थीं। नुकीली चितवन या [illegible]
मोहरा तो बाँध की तरह ही [illegible]
पत्नी थी। उसे खींचकर निकाले हुए, उन्होंने [illegible]

कहाँ पाऊँ उसे

हृदय से लगी हुई सती। इस बीच किसी ने हाँक भरी, "अरे बहू ही तो है न।"

मैं सोच रहा था, जवाब तो गुस्से में भरा हुआ आयेगा। ऐसा भी कहीं होता है! पर दुनिया-भर की पाँक घींटने के बावजूद, वह अपनी हँसी दबा न पाया। संकोच में भरकर जवाब दिया, "हाँ।" और फिर वही मुसकराहट। छत पर—दड़बे में भी खिलखिलाहट फूट पड़ी। माँ-बेटी—दोनों लोट-पोट! सज्जन का मुँह सूजा हुआ था। इस घटना को देखते-देखते बोले, "नॉनसेन्स—क्या तमाशा मचा रखा है!"

गाजी तब तक खड़ा हो चुका था। हँसते-हँसते पुकार उठा "तक़दीर की बात है कि धार में धँसनेवाली रेत नहीं थी वरना आज तो बहू का पता ही नहीं मिलता।"

उस बेचारी को क्या कहा जाये! उस समय हाथ तक नहीं थाम पायी थी, अब काँधे से लगी है। शरीर पर पटुए के नीले रंग से रँगा हुआ सफेद झकाझक कुरता कीचड़ से लथपथ हो गया था। बहू के सिर पर जूड़ा भी बँधा था। मुँह पति की गरदन में छुपा हुआ। लाज-शरम की बात कहाँ तक समझती होगी। यही आठ-दस साल की रही होगी। आखिर बहू जो ठहरी!

पति-पत्नी दोनों के सवार होते ही भोंपू बज उठा 'टिड्-टिड्—टिड्....' साथ ही, मशीन की घड़घड़ाहट तेज होती गयी। लाउंज मोड़ पार करते ही फिर घूम गयी। खलासी ने इस बीच सीढ़ी खींच ली। दिगन्त एक बार फिर खुल गया।

बीच नदी में आकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे सारी घटनाएँ पहले ही घट चुकी हैं। यह कालातीत यात्रा, पता नहीं कब से जारी है! माँ-बेटी की हँसी थमती ही न थी। दोनों बिना मुँह थामे बातें किये जा रही थीं। बीच-बीच में कजरायी आँखोंवाली, इस दड़बे की तलाशी-सी लेती हुई, देख लेती थी। क्यों? यह पूछना उचित नहीं होगा! बहिरंग जीवन और अन्तरंग मन का स्वभाव एक-सा नहीं होता। उनकी बातचीत का जो अंश छिटककर मुझ तक पहुँचा था, उससे इतना ही पता चला कि कीच में गिरी दुल्हन और उसके पति का प्रसंग ही वहाँ मुखरित था।

"बात क्या है? हँसी तो रुकती ही नहीं तुम लोगों की!"

प्रौढ़ सज्जन को उनका इस तरह हँसना सहन नहीं था शायद। हालाँकि उसके स्वर में आक्रोश या क्रोध नहीं था। उनकी चँदिया से उनका चेहरा ही अधिक चमक रहा था। सीट के ऊपर पाँव उठाये, पालथी जमाकर वह अपने घुटनों पर ठेका लगा रहे थे। कई बार जोर-जोर से खाँसकर उन्होंने अपना गला साफ किया और उसके बाद बड़ी धीमी आवाज में बोले, "तू जानती है झिनि! शादी के समय तेरी माँ की उम्र क्या रही होगी? बस, यही कोई ग्यारह साल! क्यों? इतनी ही न—!"

सामने की सीट एकबारगी लपलपायी। झिनि का चेहरा लाज से लाल हो उठा। प्रौढ़ा का तेवर नुकीला हो गया था, लेकिन पराये यात्री पर नजर पड़ते ही अपना आँचल समेट लिया गया। अपनी गरदन को उसने जिस प्रकार झटक दिया था—उसका आशय सम्भवतः रोष प्रकट करना ही था। खिचड़ी बाल, सिन्दूर से भरी माँगवाली वह प्रौढ़ा मुझे युवती से भी अधिक मोहक और सुन्दर दीख पड़ी। अपनी बेटी से साक्षी दिलवाती हुई वह बोली, "देख रही हो न!"

अब देखिए तमाशा! प्रौढ़ सज्जन भी जैसे भरे हुए बैठे थे। साठ साल की उम्र से सीधे बीस के खाने में गिरे या दस के पेटे में, कौन जाने? कहने लगे, "इससे क्या? बात की बात है, कोई किताब नहीं। यह तो कच्ची उम्र का लड़का ठहरा! है कि नहीं? आप बताइए तो सही!"

किससे पूछा था उन्होंने? पर आँखें तो उनकी इसी पराये यात्री को देख रही थीं। भौंह भी तनिक सफ़ेद हो चुकी थी उनकी। सिर के सारे बाल ग़ायब थे और आँखों के चारों ओर झुर्रियाँ आ पड़ी थीं। इन सबके बीच भी युवा आँखों में एक नयी चमक। 'लड़का' कहने के उपरान्त उनके 'आप' सम्बोधन में एक तरह की आत्मीयता थी। साथ ही, जुड़ा हुआ आहत संकोच। मुझमें सिर हिलाकर स्वीकृति भरने का साहस न था। बातें करना और भी कठिन! लेकिन गवाही देनेवाले की विवशता कुछ ऐसी होती है कि वह गूँगा या बहरा बनकर बैठा नहीं रह सकता। बहुत प्रयास करने के बाद भी मैं मुसकराकर रह गया।

मेरी मुसकराहट के साथ ही झिनि ने दबे स्वर में कहा, "ओह, बाबा! अब चुप भी रहो।"

लेकिन बाबा माननेवाले नहीं। तनिक उत्तेजित होकर बोले, "झिनि, तुम लोगों में बस यही खराबी है! मैं कुछ भी कहना चाहूँ तो तुम दोनों मिलकर मेरा मुँह बन्द कर देती हो।"

अबकी बार माँ ने गुस्से में भरकर कहा, "क्या झिनि-झिनि की रट लगा रखी है? कितनी बार मना कर चुकी हूँ!"

लेकिन तेज प्रवाह को रोककर कौन रख सकता है ? जो उसके सामने आता है, वह जाता है।

"शुरू से ही तो कहता चला आ रहा हूँ। अब न कहकर भी क्या होगा? इसे तो पता चल ही चुका है!"

इतना कहते हुए सज्जन ने मेरी तरफ़ हाथ घुमाकर दिखा दिया। इस उतावली को क्या कहा जाये ?

मैंने जान-बूझकर ही ज़ोर से कहा, "नहीं, जी! मुझे कुछ पता नहीं।"

मैं अपना मुँह फेरकर न तो बाहर की तरफ़ देख पा रहा था और ना ही नीचे किये रख सकता था। इससे तो अच्छा होता मैं दाँत निपोरकर गरदन हिलाता रहता!

माँ बेटी—दोनों आँखें फाड़े देख रही थीं। चुपचाप। दोनों के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं जैसे। एक दूसरी की आँखों में आँखें डालने के बाद दोनों एक साथ हँस पड़ीं। छत फोड़नेवाली हँसी। मुहावरा है न! "इस संसार की बातें सुनकर हँसूँ या रोऊँ।" खिलखिलाहट के बीच ही, कोई कह रही थी, "कैसी मुसीबत है ?"

दूसरी बोली, "सचमुच, बाबा भी बड़े अजीब आदमी हैं।"

दोनों की आँखें फिर मुझपर पड़ीं। इस अपरिचित सहयात्री पर। हँसी अब भी नहीं थमी थी। ये दोनों माँ-बेटी हैं या सखियाँ ? खिचड़ी और काले बाल… झुर्रीदार और चिकना चेहरा—एक-दूसरे के विरुद्ध होते हुए भी इतने निकट! मैं सचमुच भ्रम में पड़ गया था।

किसी के अन्तर्मन को जान पाने का साधन तो वस्तुतः मन ही है और उसकी थाह किसी के स्वभाव को जानकर ही पायी जा सकती है। वह बेटी ही क्या जो माँ को ठीक-ठीक न जान सके! यह कैसे समझायें ? बेटे तो बस बेटे ही होते हैं। बाबा भी किसी बेटे की तरह हैं। अलग-अलग स्त्री-रूप होते हुए भी—दोनों माँ-बेटी हैं। दोनों को पता है, प्रकृति का यह रहस्य। यदि भावधारा की लीला उपयुक्त है तो माँ-बेटी भी सखी ही हैं।

लेकिन इस अपरिचित यात्री की स्थिति बड़ी दयनीय थी। वह अन्दर-ही-अन्दर घुट रहा था। बाहर निकलने को आकुल। नहीं निकल पाया। समुचित अभ्यास भी तो नहीं। उसकी हैसियत भी क्या थी ? सिवाय एक गवाह के!

महिलाओं की तरह हँस नहीं वह पाता। बस धीरज रख सकता है। धैर्य रखो! लेकिन वह आँखों और चेहरे से फूट निकले तो फिर क्या कुछ किया जा सकता है। आसमान पर सूरज है तो धूप खिलेगी ही!

मेरी आँखें गाज़ी पर पड़े बिना रह नहीं पायीं। और वह भी मेरी ओर टकटकी लगाये था। फिर भी, लगा कि वह आँखें चुराना चाह रहा था। अपनी जानी-पहचानी भंगिमा से निहार रहा था। चुपचाप सब कुछ देखता हुआ अपनी दाढ़ी की ओट में गुपचुप मुसकरा रहा था उस अन्तर्यामी की तरह जो बैठे-बैठे सारी लीला देख रहा है।

प्रौढ़ सज्जन किंचित् भी उद्विग्न न हुए। उधर खिलखिलाहट जारी थी। अपनी दोनों पुतलियों को नचाते हुए उन्होंने पूछा, "इसमें झूठ क्या है भला? अच्छा, बताइए तो सही! आपने झिनि नाम सुना था नहीं?"

क्या मैंने सचमुच ही सुना था? न...नहीं तो! सामने बैठी वाला झिनि हो या अलका, इसमें एक पराये यात्री के जानने योग्य कौन-सी बात थी भला! लेकिन अब तो साफ़-साफ़ बताना था। मैं कुछ कहना चाह ही रहा था कि अचानक झिनि बोल उठी—"ओह बाबा! बहुत हो चुका। यह जान चुके हैं।"

चैन मिला। अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता था। आँख उठाकर उसके प्रति आभार व्यक्त न करना धृष्टता होती। उद्धारकर्त्री ने मेरे आभार को अपनी आँखों में सहेजते हुए जताया, "मेरे बाबा भी बड़े मजेदार आदमी हैं।" अगर सचमुच ऐसा ही भाव था तो जी खोलकर हँसने में कोई आपत्ति नहीं।

उधर, इसके साथ ही, नाक की लौंग चमकने लगी। यह तो दिगन्त ही बता सकता है कि रुँधे कण्ठ में कितना रोष था? था भी या नहीं! वह तमककर बोलीं, "तो इससे क्या?"

इसे ही कहते हैं मीठी कटार। बन्दगले के कोट में बन्द बाबू अपना सीना तानकर सामने आये और तर्जनी से अपना घुटना ठोकते हुए बोले, "तुम दोनों को जो भी कहना था, कह चुकीं। अब सुनो, जो मैं कहता हूँ। कोई नाम अच्छा या बुरा नहीं होता। अच्छा आप ही बताइए, झिनि नाम क्या बुरा है?"

"नहीं, एकदम नहीं!" मैंने तत्काल उत्तर दिया। जैसे मैंने कोई अपराध किया हो, इतना कहते ही मेरी रीढ़ कँप गयी और देह एकदम सीधी हो गयी। अरे रे-रे, मेरा मुँह कैसे खुल गया? भय से, संकोच से या मर्यादावश। मुँह फेरकर मैं स्वयं अपनी हार पर मुसकराने लगा। कितना अजीब है यह प्राणी! किया भी क्या जाये?

कुछ भी नहीं। बहता पानी है यह। रोका नहीं जा सकता। वह कल-कल—छल-छल बहता चला जा रहा है।

"पता है? यह नाम तेरे दादाजी ने रखा था!"

बात समाप्त भी नहीं हुई थी कि स्वामिनी ने झुँझलाते हुए कोंचा—"इस सतकण्डी रामायण का पारायण करने की क्या सूझी है तुम्हें ?"

स्वामी स्वामिनी के कोप से अप्रभावित रहते हुए बोले, "नहीं, कोई ज़रूरत नहीं। लेकिन पिताजी सचमुच झिनि को बहुत ही प्यार करते थे। अपनी अन्तिम घड़ी में भी इसे गोद में लिये दुलराते रहते—'झिनि झिनि झिनिक झिनिक... झिनकि जगो झम्पी झाँ।' तुम्हें याद है ?"

अपने परिवार से ही प्रश्न! माँ-बेटी भी हार माननेवाली नहीं। माँ ने बेटी से कहा, "तू अब भी देख रही है न!"

देख तो रही है। लेकिन सँभाले कौन ?

प्रौढ़ ने समझाया, "अरे बात निकल गयी तो बता दिया। और क्या ? नाम होता ही क्या है ? किसी वस्तु या व्यक्तिविशेष को बताने के लिए ही तो ! क्यों ? मैंने ठीक कहा न ! अब तुम एक काला-सा पक्षी दिखाकर कहते हो कौवा ! या कि कोई हरा-सा फल दिखाकर कहते हो ककड़ी ! बस, ऐसा ही कुछ है। और क्या ? लेकिन आदमी के मामले में ऐसा नहीं होता। वहाँ अलग-अलग नाम हैं। जैसे कि तुम यह कहो कि अमुक आदमी फ़लाँ स्कूल का फ़लाँ रिटायर्ड हेडमास्टर है। तो इतना कुछ कहना ही काफ़ी नहीं होगा। वहाँ अपना नाम भी बताना पड़ेगा—ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती।

सावधान भाई ! हो सकता है, यह नाम गले न उतरे। या ऐसा नाम पहले कभी नहीं सुना हो। लेकिन पण्डितजी महाशय—हेडमास्टर साहब साक्षात् खड़े थे। उनकी बातों से ऐसा आभास भी हुआ था। और अब उनके श्रीमुख से स्वयं प्रकट हो गया। इसके साथ ही, उनका रूप भी थोड़ा-बहुत परिवर्तित हो गया। अब वहाँ तीखी गिद्धदृष्टि नहीं थी। ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती ने हाथ झटकते हुए कहा, "ख़ैर, जाने भी दो उन बातों को। लेकिन जिस बात के चलते इतनी सारी बातें हो गयीं, वह थी तुम्हारी माँ की शादी की बात। ग्यारह साल की छोटी-सी उमर में वह भी इसी तरह मुर्शिदाबाद की रेशमी साड़ी पहने... गुड़ी-मुड़ी...।"

बात रसातल तक पहुँच गयी थी। बेटी की ओर ताकती हुई गुस्से में भरी माँ ने कहा, "झिनि, देख ! अब मैं सचमुच गुस्सा हो जाऊँगी।...बड़ी झुँझल हो रही है।" और अपनी आँखें आकाश में गड़ा दीं।

हेडमास्टर साहब का चेहरा देखने लायक था। वह अपने नकली दाँत को जीभ से टिकाये बैठे थे और रुक-रुककर ब्रह्मनारायणी हँसी हँस रहे थे। फिर गृहिणी का लम्बा आँचल ताकते हुए बोले, "अच्छा, अब कुछ नहीं कहूँगा। दरअसल इस बच्ची को गिरते हुए देख लिया था न, इसीलिए दो-एक बातें

याद आ गयीं। बस। और क्या ?"

बूढ़े हेडमास्टर ब्रह्मनारायण की आँखें किसी बालक की आँखों की तरह चमक रही थीं। मेरे लिए अपने अन्तर के आवेग को रोके रखना बहुत ही कठिन था। झिनि अब भी मेरी ओर देख रही थी। उसे इतना समय न मिला कि वह आँखें चुरा पाती। पुतलियाँ तितलियाँ बनकर इधर-उधर नाच उठतीं, इसके पहले ही लाज से गड़ गयीं। लाज से लाल हो उठा उसका चेहरा।

उधर ढपली से ताल उभर रहा था। आहिस्ता-आहिस्ता डुप-डुप-डुपुक-डुपुकि-डुपक्-डुपक...। साथ-साथ, मन्द-मन्द मुसकराती दाढ़ी झूम रही थी। न केवल आँखों की पुतलियाँ नाच रही थीं बल्कि एक-एक झुर्री थिरक रही थी। मानो पूछ रही थीं—'क्या समझे बाबू ?'

मन क्या जाने, माने, गुने ? सारा जानना-समझना तो अन्दर है। वही बोल फूट रहे हैं। मुँह से तो कुछ फूटता नहीं। रूप-अरूप की यह रंग-तरंग तो उसी स्रोत के साथ ही बहती चली जा रही है। आलोक का अविरल प्रवाह और अलक्ष्य की पुकार—इसे शब्दों में किस प्रकार जुगाये रखा जा सकता है भला ? बाँट-बँटवारे की सारी चिन्ता ग़ायब हो चुकी थी। जैसे सब कुछ बन्धनमुक्त हो दिगन्त में एकाकार हो गया था।

इधर नदी में भाटा उतरा रहा था और किनारे पर पंछियों का मेला था। याद नहीं आता कि इतने सारे पंछियों को कहीं एक साथ देखा हो। इनका रंग धूसर था और पीठ के नीचे का हिस्सा सफ़ेद। शायद इस जल-मड़भड़िये के साथ इनकी जान-पहचान उतनी घनी नहीं थी। तेज़ आवाज़ सुनते ही उन्होंने अपनी चोंचें ऊपर उठा दीं और सभी एक साथ उड़ गये। दो-चार नहीं, सैकड़ों। आकाश में तिरते हुए इन अनगिन डैनों से छाया घनी हो गयी, जैसे नदी के ऊपर शरद् की बदली छा गयी हो।

बाँध से जाता हुआ मार्ग सूना नहीं था। कभी-कभार दो-एक आदमी दीख जाते थे। पता नहीं, वे कहाँ जा रहे थे ? उनके पीछे-पीछे धरती और आकाश की सीमाएँ भी कहीं खो गयी थीं।

पहले की तरह ही अब भी मन दिगन्त की ओर उड़ता चला जा रहा था : हर जगह, वही लीला विराज रही है, वही खेल चल रहा है। सब कुछ अबूझ ! कौन-सी चाह है ? किसकी खोज है—जवाब मिलता नहीं। बस बहाव में बहते रहना है। बहते-बहते यदि आँखें धुँधली हो जायें तो क्या हुआ ? यही तो अनन्त दिगन्त का उपहार है।

"इस नदी का नाम क्या है ?"

"बाबू, नदी का नाम है डांसा।" गाज़ी ने बताया।

डांसा ! मैंने इधर की अधिकांश नदियों का नाम सुन रखा था। लेकिन यह नाम तो कभी सुनने में नहीं आया। शायद इसका कोई दूसरा भी नाम हो, जिसका मुझे पता नहीं। मेरे संग नाम की मजूरी करनेवाला ही अच्छी तरह जानता होगा।

लेकिन उसके कहने से क्या होगा? उसकी बात को काटते हुए श्री ब्रह्मनारायण गरदन हिलाकर बोले, "क्या बताया?"

डपली बजाना छोड़कर गाजी ने फिर बताया—"डांसा। लेकिन आगे चलते हुए हम जैसे ही दाहिनी तरफ़ घूमेंगे, विद्याधरी शुरू हो जायेगी।"

ब्रह्मनारायण ने ठेंगा दिखाते हुए कहा, "तुम जानते हो यह घण्टा!"

"क्यों बाबू?"

मैं समझ नहीं पाया, इसमें डपटकर कहने-जैसी कौन-सी बात थी? या फिर गाजी घण्टा ही क्यों जानने लगा! इसलिए कि बाबू के हाथ में घड़ी-घण्टा है। उन्होंने बताया—"यह कालिन्दी नदी है।"

गाजी दाढ़ी फटकारता हुआ खिलखिला उठा। बोला, 'सुना बाबू! बाबू क्या कहते हैं? बाबू, कालिन्दी तो पूरब में ही छूट गयी। बॉर्डर को छूती हुई।"

हेडमास्टर इस बात को मानने के लिए तैयार न थे। सिर हिलाकर बोले, तुम कुछ जानते-वानते नहीं! बस, इसी तरह आर-पार करते रहते हो! तुम्हें नदी के नाम-धाम का क्या पता?"

बात ठीक ही थी। तुम्हारा ठिकाना कहाँ है तुम्हें तो यही नहीं मालूम! जहाँ जी में आया, टिक गये। क्यों? नहीं? तो फिर सुनो, बाबू ब्रह्मनारायण क्या कह रहे हैं।

कह रहे हैं: "हॉदु ने मुझे बताया था, यह कालिन्दी नदी है।"

गाजी मेरी तरफ़ देखते हुए हँसा और हँस-हँसकर किसी अबोध शिशु को समझाने लगा:

"नहीं बाबू! यह कैसे हो सकता है? आपके हॉदु ने जो स्थान बताया है, वह यहाँ से दूर है—दूसरी जगह। ऐसा होता तो हम हिंगलगंज से घूमकर आते। कालिन्दी तो बॉर्डर पर बहनेवाली नदी है। हम डांसा के साथ उजानि पहुँच चुके हैं और विद्या के साथ नीचे दक्खिन की ओर उतरेंगे। वहाँ से आर कैनिंग होते हुए गोसावा जायेंगे।"

ब्रह्मनारायण ने अबकी बार अपने दूसरे गवाह को पुकारते हुए कहा, "अरी क्षिति! हॉदु ने तो कुछ वैसा ही बताया था जब मैं दो साल पहले इधर आया था।"

झिनि बड़ी सहजता से अपने बाबा से बोली, हांदु की बात ! हूँह...बिना जाने-बूझे ही बकता होगा।"

"बिना जाने-बूझे ? ऐसा है तो वह एकदम पाजी है !"

ब्रह्मनारायण गाजी की बात मान गये। हालांकि झिनि को इसका विश्वास नहीं हुआ। इसलिए उसने माँ की तरफ़ देखा। फिर वही मुसकराहट, उजास बिखेरती हुई। स्वामिनी का मुखड़ा बाहर की ओर था। रोष जो किये बैठी थीं। स्वामी कहीं उनकी हँसी देख न लें।

गाजी ने फिर पूछ लिया, "यह हांदु कौन है ? किस घर का है ?"

ब्रह्मनारायण ने जैसे किसी छात्र को धमकाते हुए कहा, "कौन है ? कहाँ रहता है ? यह तुम कैसे जानोगे भला !"

कुछ भी कहो ! गाजी के चेहरे पर नाच रही प्रसन्नता को तुम कैसे छीन लोगे ? गाजी बोला, "आखिर आप भी तो शांखचूड़ से चढ़े थे। आप घर का पता तो दीजिए ! मैं पहचान लूँगा।"

"कैसे पहचान लोगे ? क्या तुम शांखचूड़ के हर आदमी को पहचाने बैठे हो ? तुम्हारा घर कहाँ है ?"।

अब बूझो तो सही ! किससे पाला पड़ा है। लेकिन गाजी है कि हेडमास्टर का भी कोई डर नहीं। वह उसी तरह हँसता हुआ बोला,

"घर मत कहिए बाबू ! पूछिए वह झुग्गी कहाँ है ? जिसमें गुजर होती है। बशीरहाट क़स्बे के एक किनारे रहता हूँ।

"तो फिर वहीं पड़े रहो। शांखचूड़वालों को तुम कैसे जान पाओगे ?"

गाजी अपनी हँसी रोक न पाया। हा—हा....हँसता बोला, "नाम की ही मजूरी करता मारा-मारा फिरता हूँ बाबू ! हर जगह आना-जाना लगा रहता है। इसीलिए पूछ रहा था।"

ब्रह्मनारायण थोड़ी देर गाजी का चेहरा पढ़ते रहे। फिर अविश्वास-भरे शब्दों में बोल उठे, "नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य का नाम सुना है ? उनका घर देखा है ?"

गाजी की दाढ़ी अब उसकी मुट्ठी में थी। परिचित मुसकान के बीच उसकी नजर कहीं और ही टिकी थी। उसने धीरे-धीरे गरदन हिलाते हुए कहा, "अच्छा...अच्छा, जिनके घर में विलायती साबू के दो-दो पेड़ हैं !"

विलायती साबू के पेड़ ?

ब्रह्मनारायण की भौंहें ही नहीं, नाड़ी भी तड़क गयी :

"क्या कहा ?"

"वही, विलायती साबू के पेड़।"

गाज़ी ने इस बार मास्टरजी को चक्कर में डाल दिया। ब्रह्मनारायण ने एक बार मेरी तरफ़ और फिर अपनी बेटी की तरफ़ देखा। कन्या के होंठों पर मुसकान बिछल रही थी। हँसकर बोली, "शायद यह पास के दोनों पेड़ों के बारे में बता रहा है।"

"हाँ, वही होगा", गाज़ी ने हामी भरते हुए कहा। "अब बाबू, हम उतना कुछ तो नहीं जानते। किसी ने एक दिन यूँ ही बताया था कि उनकी ड्योढ़ी पर विलायती साबू के पेड़ हैं—इतना ही।"

बाबू ने धमकाते हुए कहा, "तुम्हारा सिर! तुमने तो नदियों के नाम भी ग़लत बताये थे—घामसा नहीं, हामृसा।"

"डांसा, बाबू—डांसा!"

"अरे एक ही बात है। तुम-जैसों के लिए जैसी डांसा वैसी ही घामृसा!"

गाज़ी के साहस या दुस्साहस की प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। वह उसी तरह हँस-हँसकर बता रहा था: "सारी नदियाँ तो उसी एक सागर में ही जा मिलती हैं। नाम चाहे जो भी हो। और आप चाहे जिस नाम से पुकार लीजिए। लेकिन बाबू! मैं आपके शांखचूड़ के ठाकुर महाशय को अच्छी तरह पहचान गया। उनके दो बड़े लड़के कलकत्ता में बड़े ओहदों पर हैं। वे स्वयं छोटी-छोटी शीशियों में...पता नहीं कौन-सी दवाई कहते हैं उसे? चीनी के दानों की तरह छोटी-छोटी गोलियाँ। कहिए! है न! और आपके उस हांदु बाबू को भी पहचान लिया। बशीरहाट में उनकी एक दुकान है। बताइए है कि नहीं!"

ब्रह्मनारायण भौंहें नचाकर मिचमिचा रहे थे। उनकी आँखें झिनि पर लगी थीं। झिनि के रँगे हुए होंठों के किनारे मुसकान खेल रही थी। अपनी मुसकराहट को उसने वैनिटी बैग की आड़ में छुपा लिया। फिर बोली, "वह ठीक ही तो बता रहा है बाबा! बशीरहाट में हांदु की एक दुकान है। गेद और नेद भैया कलकत्ता में नौकरी करते ही हैं।"

बाबा इतने से ही आश्वस्त नहीं। उन्होंने बेटी से ही पूछा, "लेकिन इसने यह भी तो बताया कि चीनी के दाने की तरह दवाई बाँटते हैं।"

"बड़े मामा सबको होम्योपैथी की दवाई नहीं बाँटते?"

"लेकिन वह चीनी के दाने की तरह तो नहीं होती?"

गाज़ी तपाक से बोल उठा, "बाबू, मैं ठहरा मूरख! अब नाम-वाम तो नहीं जानता। लेकिन दीदी ने जो दवा बतायी—वही दवाई। एक बार मुझे भी खिलायी थी उन्होंने।"

"तुम्हें?"

"हाँ! नाम की मजूरी करते-करते मैं उधर ही जा निकला था। जो कुछ

अच्छा नहीं था। मेरा गाना सुना तो बाबू बड़े प्रसन्न हुए और कागज मोड़कर चार-एक खुराक दवाई दे दी। मैं एक ही दिन में टनटना उठा।"

बाबू ब्रह्मनारायण तनिक गम्भीर हो गये। गाजी की इस लम्बी-चौड़ी जान-पहचान से उन्हें शायद चिढ़ हुई हो : इसने पहले तो भेड़ों बाँध से टकरा दिया। उसके बाद नदी के नाम पर जिच पैदा की और अब अपने परिचितों के साथ हाजिर है। गाजी सचमुच ही बड़ा पाजी है। अब चुप किये रहना ही अच्छा है।

लेकिन ऐसा सम्भव न था। इसे स्वीकार भी तो करना-कराना था। गाजी फिर पूछ उठा, "क्यों बाबू ? मैंने ठीक बताया न ! मैंने जिनके बारे में कहा, आप भी उन्हीं की बातें कर रहे थे न ?"

ब्रह्मनारायण बाबू नाक सिकोड़कर बोले, "मैं यही सोच रहा हूँ कि तुम कौन हो ? क्या हो ?"

यह भी कोई बात हुई भला ! अब आगे क्या कहा जाये ! गाजी ने फिर पूछा, "आप किसके बारे में पूछ रहे हैं बाबू ?"

मास्टर साहब ने उत्तर दिया, "यही कि तुम साधु हो या फ़क़ीर ?"

उनके प्रश्न में कौतूहल नहीं था, विरक्ति का भाव ही मुखर था। ताकि गाजी यह अच्छी तरह समझ ले कि किससे पाला पड़ा है ? वह मुहावरा है न—'बहरे के संग गूंगा बोले, अन्धा रूप निहारे और किसको कौन बताये ?' गाजी भी सीधे-सादे सवाल का कोई जवाब देगा, ऐसी आशा नहीं।

ब्रह्मनारायण को अपने बारे में गाजी ने बताया, "साधु और फ़क़ीर में कोई अन्तर नहीं बाबू ! आप जो कह रहे हैं, वही हूँ मैं।"

बाबू ने अपनी गरदन उचका दी और हाथ नचाकर बोले, "कहने से क्या होगा ? मैं जानना चाहता हूँ कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान ?"

गाजी ने एक बार दूर आसमान पर दृष्टि डाली। पता नहीं, वह वहाँ किसे खोज रहा था। अपनी दृष्टि को वहीं टिकाते हुए वह बोला, "उसी मुरशेद का नाम लेता हूँ बाबू ! जो किसी की जातपात नहीं पूछता। अब आप जनम के बारे में पूछें तो यही कहूँगा, मेरा बाप मुसलमान था।"

बाबू ने अपना सिर झटककर मेरी ओर देखा और कहा, "यह तो बड़ी अजीब-सी बात हुई। बाप तो ठहरा मुसलमान ! लेकिन तुम ?"

"मुरशेद का गुलाम हूँ बाबू ! वहाँ हिन्दू-मुसलमान का कोई टण्टा नहीं।"

गाजी की आँखें नाच रही थीं और वह मुसकरा रहा था। अपनी ढपली पर ताल देता हुआ वह बोला, "एक गान सुनिए बाबू," और अनन्त आकाश को निहारते हुए ऊँचे स्वर में गाने लगा—

"इस दुनिया में हर कोई पूछे, तेरी जात है क्या।
मैं बोलूँ भई जात-पात का कोई रूप नहीं देखा।
सुन्नत करके हुआ मुसलमाँ, नारी का कौन विधान?
बामन पीठ जनेऊ धारे, बमनी को भाई क्या पहचान?"

मेरे अन्तर में रस का कोई सोता फूट पड़ा। यहाँ एक तरह की पीड़ा सुलग रही थी, लेकिन अन्तर किसी प्रसन्नता से उमग रहा था। मैंने गाजी की ओर मुड़कर देखा। पहले तो कभी इस तरह की बातें कानों में नहीं पड़ी। इन्हें पदों में किसने रचा? किसने इन्हें स्वर प्रदान किया? यह गाजी के खजाने तक कैसे पहुँच गयीं? एकबारगी ऐसा लगने लगा कि सारी दुनिया से जात-पात की बात समाप्त हो जायेगी।

गाजी की आँखें, भौंहें और दाढ़ी, सभी किसी हुलास में नाच रही थीं। उसकी कमर, उसके सिर की जटा और उँगलियाँ, सब नाच-थिरक रही थीं। तरल आँखों से मीठी हँसी छलक रही थी और होंठों से मधु की मीठी धार। पता नहीं, यह कैसा रहस्य था कि ढपली अपने-आप किसी ताल से बँधी बज उठती और ऊपर आकाश की ओर देख वह ऊँचे स्वर में गाने लगता—"अरे ओ बावरे मन....ओ रे....मन रे...रे...ए।"

किसे बुला रहा था वह? ब्रह्मनारायण बाबू उस तगड़े प्रवाद को सुनकर जैसे ढेर हो चुके थे। ललाट की रेखाएँ बल खा रही थीं और भँवें सिकुड़ गयी थीं। गाजी की नजर के एक ही वार में अण्टा चित्त!

गाजी अपनी गरदन हिला रहा था। फिर उनकी तरफ़ देखते हुए दाँत निपोरकर बोला:

"बाबू! आप कुछ बता सकते हैं?"

"आँय...क्या?" बाबू कहीं डूबे हुए थे। चौंक पड़े।

"यही, इस दुनिया में हर कोई पूछे—जात है तेरी क्या? हा...हा...हा..." और गाते-गाते गाजी हँसने-झूमने लगा। उसने इसी तरह पूरा पद सुनाया। पिछली सीटों पर बैठीं माँ-बेटी की ओर देखकर उसकी आँखें चमक उठीं। माँ तो आनन्दित थी ही, बेटी भी इतनी प्रसन्न कि भाव-विह्वल हो गाजी को मुग्ध नागर दृष्टि से निहार रही थी।

बाबू ब्रह्मनारायण ने अपनी गरदन झटकते हुए टोका, "यह तो तुमने ठीक ही सुनाया। मानना ही होगा। लेकिन शब्द कौन-सा है? कहीं सुना है, ऐसा लगता तो है लेकिन उसका आशय क्या है, मैं समझ न पाया।"

गाजी ने ढपली पर ताल देते हुए ही पूछा, "कौन-सी बात बाबू?"

"अरे वही जो तुम कह रहे थे—सुन्नत...?"

अब इसमें इस पराये मुसाफ़िर के शर्मिन्दा होने की ऐसी कोई बात तो न थी लेकिन इसी समय शिनि की आँखों की चमक बिजली की तरह लपकी और इस बेचारे पर जा गिरी। भले आदमी का चेहरा मारे शरम के लाल हो गया।

लेकिन हेडमास्टर ब्रह्मनारायण ? वह ठहरे सरल व्यक्ति ! उनके लिए यह कोई आलतू-फ़ालतू शब्द नहीं। जो नहीं जानते, उसे जानना चाहते हैं, बस। लेकिन इसके पहले ही लाज-भरी फुसफुसाहट के साथ कन्या बोल उठी, "ओह बाबा...!"

बाबा ने बेटी की तरफ़ मुड़कर देखा ही था कि बेटी की दृष्टि तत्क्षण आकाश की ओर उठ गयी। उसकी रंगीन किनारीवाली साड़ी थिरक रही थी। हँस-हँसकर बेहाल हुई जा रही थी वह। शरीर के कम्पन को रोक पाना उसके बस में नहीं रहा था। इधर अपना भी हाल बेहाल था। इतना भी नहीं सूझा मुझे कि उस ओर से अपना मुँह तो फेर लूँ। डर था कि बाबू ब्रह्मनारायण की तरफ़ देखूँगा तो वह ज़ोर से ठठाकर हँस पड़ेंगे। दूसरी तरफ़ ताक-झाँक करना तो और भी मुश्किल था ! मैं सोच रहा था, इस केबिन को छोड़कर बाहर निकल जाऊँ।

तभी गाज़ी बोल उठा, "सुन्नत के बारे में नहीं जानते बाबू ? मुसलमान लौण्डों की बचपन में ही सुन्नत हो जाती है।"

बाबू ने बात पूरी होने के पहले ही अपनी तर्जनी उठाकर कहा, "ओ हो—येस—येस, याद आया। जभी तो मैं कह रहा था, यह कुछ सुना-सुना-सा लग रहा है। हाँ, उसे क्या कहते हैं भला ?"

सर्वनाश ! यह उसकी पूरी व्याख्या करेंगे क्या ?

पिछली सीट से कोई चीख़-सी उठी—"बाबा !"

"आँय !" बाबू ब्रह्मनारायण एकबारगी थम गये। बेटी ने चीखने के बाद अपना मुँह फेर लिया था।

मास्टर साहब की दृष्टि मेरी ओर मुड़ी। बोले, "नहीं, मैं तो यह कहने जा रहा था कि गान बहुत ही अच्छा है। क्या ख़ूब कहा है ! हाँ भाई, गाओ ! गाते जाओ ! हाँ, आगे क्या है ?"

गाज़ी रुका कहाँ था ? वह तो गा ही रहा था—

"किसी गले में कण्ठी, किसी गले में तस्बी,
... इससे ही क्या जात बदल गयी ?
जात की क्या पहचान रे भाई !
जनम मरन की घड़ी, रे भाई...!"

अरे ओ पागल मन ! ध्यान देकर सुन ! मन में जैसे कोई सम्मोहन-सा

जाग उठता जिसमें डूबने पर लगता, न जाने कितने मसानों की राख और क़ब्रों की धूल एकाकार हो गयी है। उसे देखो टटोलकर! कौन-सी जात लिखी है वहाँ? इस गीत को लिखनेवाला कवि कौन था? क्या वह विद्रोही था? उसने इसमें कोई उठा-पटक तो नहीं मचायी? कोई कटाक्ष नहीं किया—किसी को धिक्कारा नहीं—

"जात के नाम पर सब बदज़ात, लोगों को क्या हुआ?
जात बना खेल रहे जात-पात का जुआ।"

और यह कह रहा है—"इस दुनिया में हर एक पूछे, क्या है तेरी जात?" समुद्र-जल के बारे में कोई नहीं विचारता! आदमी की जात का कौन विचार करता है? मैं इस क्षण-मात्र के लिए ही नहीं। महामानव के सागर तीर पर खड़ा होकर मैं अतीत का स्वर सुन रहा था, गुन रहा था, जैसे। दूसरा कोई नहीं। अपनी देह पर धूल से अटा अँगरखा पहने रास्ते की ख़ाक छाननेवाला गाज़ी ही मेरी आँखों के सामने था। मेरे गले में इतना भी ज़ोर नहीं कि मैं 'वाह... वाह' कहूँ। जैसे सब कुछ आकण्ठ भरा हुआ है, डूबा हुआ...लेकिन रुँधा हुआ।

मुझे झिनि की मुग्ध और विह्वल उत्सुकता पर आश्चर्य हो रहा था। आँखें ऊपर आकाश में लगी। रँगे हुए होंठ। बालों पर विलायती क्लिप। बार-बार अपना वैनिटी बैग खोलती हुई—खुट से। वह आधुनिका, नागरी बाला भी गाज़ी का गान सुनने को कितनी उत्सुक थी कि कजरारी पलकें तक नहीं झपकतीं।

इधर ब्रह्मनारायण बाबू सिर झटककर ब्रह्मवाक्य बोले, "करेक्ट! गुड! वेरी गुड!!"

मास्टर साहब का प्रमाण-पत्र। लेकिन पात्र! इस छात्र को इससे कोई मतलब नहीं। वह बैठा भी नहीं था, अपने घुटनों पर खड़ा-खड़ा गा रहा था, घूम-घूमकर और सिर की जटाओं को बार-बार ज़ोर से झटकते हुए—

"ओ बाबू!
गड्ढे में गिरा तो कूपजल, गंगा में गिर गंगाजल
जल तो मूल में एक है, पात्र-पात्र में गया बदल
जगत में बड़ी जात की बात, बड़ी फिर बात-बात में बात
जात का बन्धन सरे-बाज़ार, बेचा है संसार के हाथ..."

अब गाज़ी की भँवें रह-रहकर थिरक रही थीं। आँखें बन्द कर वह किसी आवेग में झूम रहा था। कण्ठ-स्वर क्रमशः थमता जा रहा था, मानो स्वप्न में ...रहा हो। उस स्वप्न से जगकर उसने अचानक अपनी आँखें खोलीं और

कहाँ पाऊँ उसे

मुसकराया। मुरशेद नाम में, कोई दोष नहीं! अपने लाल दाँतों को चमकाते हुए वह बोला, "अब आप ही बताइए बाबू! मैं अपनी जात-पात के बारे में क्या कहूँ? जो जानता था, बता दिया।"

कहने को और था ही क्या? मैंने देखा, दीयरे पर दाना-दुनका चुगना छोड़कर पंछी भी उसका गान सुन रहे थे। जो आकाश की ओर उड़ गये, वे भी। क्या समझते होंगे वे, कौन जाने? मैं भी कुछ सोच न पाया। मन-ही मन कहता रहा: "चल गाजी, जहाँ जी चाहे, ले चल मुझे। मैं तेरे संग चलूँगा।"

"जात का बन्धन सरे-बाजार, बेचा हूँ संसार के हाथ!"

हेडमास्टर ने अपनी सम्मति दी, "येस! आई ऐग्री। इसके बाद तुम्हारी जात के बारे में आगे कुछ पूछना बेकार है। क्यों, झिनि! गान तो इसने बहुत ही अच्छा गाया? है न!"

"बहुत सुन्दर! बहुत ही अच्छा बाबा!"

अच्छा कह देने ही से तो अच्छा नहीं कहा जा सकता! नागरी की स्वर-लहरी के संग कोई स्वप्न भी तिर रहा था। वह कहीं दूर खोयी हुई थी। डूबी हुई। वहीं से आवाज आयी जैसे। पहले की-सी चेतना नहीं रही अब! डैने की तरह दोनों कन्धे खुले हुए। खुली बाँहवाली कुरती भी साड़ी के रंग-जैसी ही थी। तन्मय बाला! अपने-आपमें खोयी और स्वयं में से खिली। कमर के ऊपर का हिस्सा धूप की तरह झलक रहा था, जिसे वह ढँकना भूल गयी थी।

विह्वल स्वर में बोल उठी, "और एक गान सुनाओगे?"

गाजी ने सिर हिलाकर हामी भरी। वह ऐसी ही समझवालों का खिदमत-गार रहा है। अपनी अधमुँदी आँखों से अपनी अगली तैयारी जताते हुए उसने कहा, "दीदी! आप कहें और मैं न गाऊँ! हाँ तो सुनिए, गा रहा हूँ—

भूखे-प्यासे को क्या चाहिए भला? भरपेट भोजन और भरा हुआ जल-पात्र। ऐसा न होता तो वह संकेत मात्र से तैयार क्यों हो जाता? बाबा, माँ, गाजी और मेरी उपस्थिति को भाँपकर युवती तनिक शरमा गयी। गाजी ने भी ढपली पर ताल देते हुए मेरी तरफ़ गरदन उठाकर देख लिया। कुछ इस तरह, जैसे मुझे पता हो कि ढपली से कौन-से बोल निकल रहे हैं। वह गाने लगा—

"मेरे घर की चाबी बाबा, लगी पराये हाथ!
अब मैं कैसे देख सकूँगा अपना प्यारा नाथ?

अपने घर में रक्खा हीरा, करें पराये मोल
मैं तो ठहरा जनम से अन्धा, आँख न पाऊँ खोल।"

गाज़ी गाता जाता और क्षिनि की ओर देखता भी जाता। उसके बायें हाथ में बँधे घुँघरू छनक उठते। रुककर बोला, "कोई कैसे देख पाये दीदी! कोई नहीं देख पाता उसे? वह कहते हैं न! हाँ, प्रेम न जानूँ, मैं तो ठहरी प्रेम के हाट की बुलबुल। ठीक उसी तरह। और क्या?"

क्षिनि जबतक हँसती, तबतक वह आगे बढ़ चुका था, गाते-गाते—

"द्वारपाल की कृपा से भाई खुल जाये हर द्वार
सुना कि वह भी भटक चुका है, गया हौसला हार।
इसी देह में छुपा हुआ है, रतन एक अनमोल
पाकर यह वरदान मैं पगला, सका न उसको तोल।"

गाज़ी ऊँचे स्वर में गा रहा था। गाये चला जा रहा था—

"रे पगले, उस रतन को पाकर बना रहा अनजान?
तू उसकी कर न सका पहचान!
रे पगले!..."

फिर वही प्रश्न? कौन रचता है इन पदों को? इन गानों का सिरजनहार है कौन? यह कौन-सा रहस्य है? हाथ बढ़ाकर, टटोलता हूँ, ढूँढ़ता हूँ। लेकिन वह हाथ नहीं आता। छोड़ो भी! जो जहाँ है, जैसा है, पड़ा रहे, गड़ा रहे। कौन निकलेगा उसकी खोज में घर-बार छोड़कर! निकला है गाज़ी। अन्तर बार-बार चीत्कार कर उठता है—कहाँ जाऊँ? कैसे जाऊँ? किसे खोजने जाऊँ? उसे पहचान नहीं पाता। फिर भी, मेरे अन्तर में कोई पगली हँसी खिलखिला रही है। वह मेरी दृष्टि को धुँधला कर देना चाहती है।

"अपूर्व!" क्षिनि का स्वर था।

इसके बाद 'खुट' से बैग खोलने की आवाज़। उसके हाथ में एक रुपये का कड़कड़ाता नोट था। उसने बाबा की बग़ल से हाथ बढ़ाया और कहा, "लो!"

वैसे उसकी आँखें यह जता रही थीं: यह रुपया कौन-सी बड़ी चीज़ है भला! तूने तो क्षिनि को लूट लिया है गाज़ी! कैसे? यह तू नहीं देख पायेगा! बस, यह एक रुपये का नोट—ले पकड़!

अपनी लम्बी हँसी के साथ गाज़ी बोला, "हें—हें—हें अब दीदी आप दे रही हैं तो फिर लेना ही पड़ेगा।"

मुरशिद की मजूरी का मुहूरत अच्छा था आज! यह रुपया न था, सगुन था। उसे चार तहों में मोड़कर अपनी झोली में डालते हुए गाज़ी ने मेरी ओर

देखा। मेरा जी अब भी उचाट था। मुझे लगा, उसको सराहना में मेरी ओर से हुई देर के लिए भी वह मुझे क्षमा प्रदान कर रहा हो।

बाबू ब्रह्मनारायण और उनकी पत्नी की आँखों में कोई दूसरा ही भाव था। बाबू की हँसी अब वैसी तरल नहीं रही। दो गानों के बदले एक रुपया!

वह कुढ़कर बोले, "इसे ही कहते हैं, फ़िलॉसफ़ी पढ़ी लड़की! तो तू क्या उस लड़की की सारी ट्यूशन फ़ी लिये आयी थी?"

क्षिनि की भवें टेढ़ी हो गयीं। उसने होंठों को फैलाकर कहा, "ज़रा बाबा की बातें तो सुनो! कलकत्ता में बैठे-बैठे जो कुछ सुनना पड़ता है, उससे तो बहुत अच्छा है।"

माँ ने भी तत्क्षण बेटी का पक्ष लिया, "हाँ, सो तो ठीक है।"

मेरा मन गुत्थियाँ सुलझा रहा था। यहाँ भी रूप-मरूप का वही खेल! एक ओर दर्शन और दूसरी ओर नेल पॉलिश से लेकर लम्बी पॉनीटेल जैसी बँधी केशराशि। उस आधुनिका ने जो कुछ कहा, उसे स्वीकारना ही पड़ा। यह तो विदुषी बाला है। कहा है न, पानी कैसा है, यह केवल देखकर ही नहीं कहा जा सकता! और वह सिर्फ़ दर्शन-शास्त्र ही नहीं पढ़ती, कमाऊ भी है। यह उसकी कमाई का रुपया है।

मैं अपने में ही डूबा था कि बाबू ब्रह्मनारायण ने टोका, "आपने तो कुछ बताया नहीं, कैसा लगा?"

"मुझसे कह रहे हैं आप?" मैं चकित था।

उन्होंने होठ बिचकाकर कहा, "अच्छा, तो आप कहीं और ही डूबे हैं!"

"बहुत ही अच्छा!" मुझे अपना मत व्यक्त करने में देर नहीं लगी।

"वह तो मैं समझ ही रहा हूँ। तभी तो डूबे हुए हैं। आपने भी फ़िलॉसफ़ी पढ़ी है क्या?"

क्षिनि की भौंह काँप गयी और उसने अपनी गरदन टेढ़ी कर ली।

"नहीं, नहीं! वह सब कुछ नहीं पढ़ा," मैंने उत्तर दिया।

"फ़िलॉसफ़ी का मतलब ही है सेण्टिमेण्ट। शायद आप भी अपनी जेब उड़ेल-कर उजाड़ लेते।"

क्षिनि को यह सब कुछ सहन नहीं हो रहा था। वह स्वयं को पराजित-सा अनुभव कर रही थी। उसने पराये यात्री को एक बार देखा और हँस पड़ी। फिर बाबा से बोली:

"तुम्हारी बात सही नहीं। लड़कियों का फ़िलॉसफ़ी पढ़ना-पढ़ाना तुम्हें हमेशा बेकार लगता है—निरर्थक।"

"अच्छा आप ही बताइए! है कि नहीं?"

मैं ऐसा कैसे कह सकता था भला! एक तो युवती, ऊपर से दार्शनिक! मैं धर्मसंकट में था। लेकिन किसी स्कूलमास्टर से जा टकराऊँ, इतना साहस भी नहीं।

बाबू ब्रह्मनारायण ने फिर पूछा, "कहिए, किस संकोच में पड़ गये आप?"

उनके प्रश्न में किसी की साक्षी आवश्यक न थी। यह तो पहले से भी कठिन प्रश्न था। पिछले प्रश्न का तो कोई उत्तर भी था। इसका तो कोई उत्तर नहीं सूझता। मैं तो गाजी की प्रेरणा से ही चला जा रहा था। पता नहीं, कहाँ? उन्हें क्या बताता? मैंने गाजी की ओर देखा।

गाजी अब भी मुसकरा रहा था। उसने उनकी ओर मुड़कर कहा, "बाबू को तो यह भी पता नहीं कि कहाँ जायेंगे?"

बाबू को इतनी देर बाद कोई मसाला मिला। वह थोड़ा सुगबुगाये और आस-पास देखकर पूछ बैठे, "यह क्या? कहाँ जायेंगे, यह भी नहीं मालूम!"

अपनी गरदन को झटकते विस्मय के साथ वे अपनी पत्नी से बोले, "ऐसा तो पहले कभी नहीं सुना। इसका भी पता नहीं कि कहाँ जा रहे हैं?"

इसका दिमाग़ तो नहीं फिर गया! माँ-बाप और बेटी सभी मेरी ओर देख रहे थे। बात ही ऐसी थी। राह चलते बातचीत हो रही थी। तो भी सन्तोषप्रद उत्तर तो देना ही था।

मैंने कहा, "कहाँ जाऊँगा, यह सोचकर नहीं चला था। बस यूँ ही चल पड़ा।"

मेरा उत्तर सुनकर बाबू ब्रह्मनारायण आश्चर्य में पड़ गये और फिर किसी हताशा में डूब गये। लेकिन उनके सामनेवाले आसन पर बैठी हुई बाला के लिए अपनी हँसी रोके रखना बहुत ही कठिन हो गया था शायद! उन्होंने मुझे सिर से पाँव तक कुछ इस तरह देखा, मानो स्वयं को सहयात्री से आश्वस्त करना चाह रहे हों। अब इस दडबे की किसी दीवार पर रेलगाड़ी के डिब्बे की तरह यह तो नहीं लिखा था—'सावधान! चोर और पाकेटमार आपके पास ही हैं।' उनकी उठती-गिरती पलकों का आशय मैं समझ न पाया। उन्हें अबतक मुझ-जैसे बेवकूफ से पाला नहीं पड़ा होगा।

उन्होंने जानना चाहा, "बस, यूँ ही निकल पड़े और सीधे लाउंज पर सवार हो गये? कहाँ से आ रहे हैं?"

चाहता था, चुपचाप पड़ा रहूँ। लेकिन व्यर्थ! चुप रहना सम्भव न था। बड़ी अजीब स्थिति थी। मुझे अपना ठिकाना बताना पड़ा। उन्होंने अपनी गरदन हिलायी और फिर सिर पर चश्मा चढ़ाकर बोले, "वहाँ से यहाँ क्यों चले आये?"

"बस, यों ही घूमता-फिरता निकल पड़ा।" मैं क्या बताता ?

बाबू ने अपनी बीवी और बेटी की ओर देखकर कहा, "कुछ समझ में आया ?"

वहाँ किसी को भी कुछ जानने-समझने की नहीं पड़ी थी। हँसी की गगरी छलक रही थी वहाँ। इत्ती छोटी-सी बात को कितना खींचा जाये ? यह कोई असाधारण बात नहीं, जैसा कि बाबू ब्रह्मनारायण समझ बैठे थे। अच्छी मुसीबत गले पड़ी।

झिनि इस झमेले में नहीं पड़ना चाहती थी, लेकिन मुझपर तरस भी खा रही थी। इसीलिए उसने मेरा पक्ष लिया, "तो क्या हुआ ? घूमने-फिरने के लिए इधर नहीं आया जा सकता ?"

बाबू ने हाथ उठाकर रोका उसे, "तो फिर खेतों और मैदानों की धूल फाँकते रहो! कौन मना करेगा तुम्हें ? घूमने-फिरने की भी कोई जगह होती है। यहाँ भी वही निचाट-सी जगह है—गोविन्दपुर! लोग नहीं, बाग नहीं। खारी नदी है बस, उसमें भी मगरमच्छ। और एक लम्बा-सा बाँध है—घेड़ी बाँध!"

"घेड़ी नहीं बाबू, भेड़ी" गाजी ने जल्दी से संशोधन किया।

"तुम चुप भी बैठो। ज्यादा घेड़ी-भेड़ी मत करो। एक ही बात है और मतलब भी वही।"

गाजी कुछ इस तरह हँसा, जैसे बच्चों का खेल देख रहा हो। झिनि बोली, "तो क्या हुआ इसमें ? क्या इन्हें देखने की इच्छा नहीं होती ?"

विदुषी ने ठीक कहा था। बोली—और आगे बोले। वह कुछ बोलने ही जा रही थी कि गाजी ने उसकी बात को लपककर कहना शुरू किया, "दीदी! मैं जो कह रहा हूँ, उसे सुनना जरा। मैंने तो इतना ही देखा कि बाबू सुबह-ही-सुबह इटिण्डा घूमने जा रहे हैं। वहाँ जायेंगे कहाँ ? इनका कोई ठौर-ठिकाना नहीं। मैंने पूछा तो इतना ही कहा, बस यूँ ही निकल पड़ा हूँ। तो मैंने कहा था, यहाँ क्या है ? चलिए हासनाबाद घूम आयें लाँच पर सवार होकर।"

"अच्छा तो यह सारा कार्यक्रम तुम्हारी सलाह से बना," बाबू ब्रह्मनारायन ने गाजी से पूछा। "तो फिर तुम कहाँ जा रहे हो ?"

"बस, बाबू के संग!"

मास्टर ब्रह्मनारायण ने अपनी पत्नी और कन्या की तरफ हाथ हिलाकर कहा—

"अब भी कुछ समझ में आया ?"

वे दोनों सखियोंवाली हँसी में डूबी थीं। लेकिन उनका निशाना अब [illegible] गाजी था। मास्टर साहब ने उससे डपटकर पूछा, "यह तो [illegible]

कि तुम बाबू के साथ हो ! लेकिन सच यह है कि बाबू तुम्हारे संग जा रहे हैं। यह बताओ, जा कहाँ रहे हो ?"

"सोचता हूँ, कालीनगर चला जाऊँ !" गाजी ने कुछ अटकते हुए उत्तर दिया।

"हुँ ! आप कभी कालीनगर गये हैं ?" उन्होंने मुझसे ही पूछा था।

"नहीं।" मैंने कहा।

"आप वहाँ तक चले तो जायेंगे बड़े आराम से, लेकिन लौटेंगे कैसे ? यह सोचा है ?"

गाजी तपाक से बोला, "क्यों नहीं ! कालीनगर के उस पार नैजाट है, वहाँ जाऊँगा। वहीं से मोटरगाड़ी मिलेगी, बशीरहाट के लिए।"

"उसके बाद ?"

ऐसा लगा, आगे के रास्तों का सारा रहस्य बाबू ब्रह्मनारायण को मालूम है और वह इसमें फँसाकर ही दम लेंगे।

गाजी ने हँसते हुए बात साफ़ करने की कोशिश की, "वहाँ पहुँचते ही मैं बाबू को कलकत्ता जानेवाली गाड़ी पर बिठा दूँगा !"

बाबू ब्रह्मनारायण ने तत्काल कुछ कहा नहीं। गाजी ने भी उन्हें भुलावे में डालते हुए कहा—"बाबू, सारे रास्ते उसी एक ही से जुड़े हुए हैं। जो मन को भा जाये, वही ठीक है।"

मास्टर साहब ने उसकी बातों को अनसुना करते हुए मुझसे पूछा, "पता नहीं ? मैं खुद नहीं समझ पा रहा !"

उनकी इस बात से मेरे हृदय में रुंधा आवेग, जैसे कण्ठ फोड़कर निकल आना चाहता था। अपरिचित यात्री ! वह कहाँ जाये ? किसके साथ जाये ? कैसे लौट पायेगा ? इन सब पर विचार नहीं कर पाता। वह अपने मन को कैसे बहलाये ? समझाये ? जो खुद ही नहीं समझ पा रहा, वह दूसरों को कैसे समझाये ?

लेकिन मेरे गले में रस्सी बाँधकर क्या होगा ? माँ-बेटी के गले की रस्सी तो खुली थी। उनके खुलेपन से मेरा रुंधा स्वर भी फूट पड़ना चाह रहा था।

लिनि ने सहज ही कहा, "बाबा भी थोड़े-से—।"

साथ ही, उसकी आँखों की नाच रही पुतलियों से इस पराये यात्री को यह समझने में कोई परेशानी नहीं हुई कि बेटी अपने बाप के बारे में क्या कहना चाहती है। और यह भी कि उन्हें गलत न समझा जाये।

इसी समय कानों में बेहद मोटी-सी आवाज पड़ी, "आप लोगों ने टिकट तो ले लिया है ?"

कहाँ पाऊँ उसे

खिड़की के बाहर, टिकट बाबू उपस्थित थे। उन्होंने इस दड़बे में घुसने की जरूरत नहीं समझी या फिर हिम्मत नहीं की। खिड़की से हाथ बढ़ाना ही काफ़ी होता। एक हाथ में कापी और दूसरे में पेन्सिल। उन्हें नहाने-धोने या खाने-पीने का समय मिला था या नहीं, वही जानें। दोनों आँखें रूखें-सूखे बालों से ढँकी हुई। रह-रहकर खाँसी की ठनठन! लेकिन सीना एकदम खुला हुआ चौपट!

गाज़ी ने कहा, "दो टिकट। एक कालीनगर तक, फर्स्ट किलासवाला। और एक मेरा।"

टिकट बाबू ने लिखते-लिखते ही, भाड़ा बता दिया। मैंने हाथ बढ़ाकर भाड़ा दे दिया।

अचानक ब्रह्मनारायण की नुकीली आवाज़ बींध गयी, "उसका भाड़ा भी आपने ही चुका दिया?"

गाज़ी ने हँसते हुए कहा, "तो फिर कौन चुकायेगा बाबू? आखिर मैं भी तो उनके साथ ही जा रहा हूँ!"

उसने अपनी बात यहीं पूरी नहीं की। मुरशेद का नाम लेकर हँसता-गुनगुनाता रहा। हालाँकि ब्रह्मनारायणजी उसकी बातों से अप्रभावित हो रहे।

उन्होंने थोड़ी देर के बाद फिर पूछा, "लौटोगे कब?"

गाज़ी ने उसी मुसकराहट में उत्तर दिया, "बाबू के साथ ही।"

अब इसका जो भी आशय हो, जिसे जो समझ में आये, वही ठीक। मास्टर ब्रह्मनारायण ने अपनी गरदन हिलायी और झिनि से बोले, "वाह! क्या बात है? यह तो ठीक तेरी तरह ही फ़िलासफ़ी बघार रहा है! दूसरे के मत्थे दिन-भर का भरण-पोषण और राह-खर्च! और खुद आराम से ढपली बजा रहा है। है न!"

झिनि के होठों पर की सहज हँसी उसके पूरे चेहरे पर खेल गयी। गाज़ी अपने हाथ में टिकट लिये उसे निहारता रहा और फिर गुनगुना उठा—

"प्रेम का सौदा जो न जाने,
उसके संग क्या लेना-देना..."

टिकट बाबू इस बीच बाबू ब्रह्मनारायण के पास जाकर खड़े हो गये, जहाँ एक मुँह था और बातें हजार थीं। रुपये निकालकर देते हुए बोले, "तीन टिकट, गोसावा।"

उनके कुछ कहने के पहले ही टिकट बाबू कुछ लिखने लग गये थे। जैसे उन्हें सारी बातें पहले से ही मालूम हों। ब्रह्मनारायण बाबू तब तक पिछली बातों को ही चबा रहे थे। मैं सोच रहा था — अब इधर इतनी दूर आकर कौन घर लौट पायेगा, और वह भी इस फ़कीर के संग। इसके लिए टेंट का पैसा लगाकर घूमना-फिरना—बलिहारी है। अब मैं अपनी फिलॉसफ़ी की बातें किसी को क्या बताता!

इस बीच बेटी की नजर बाप से जा टकरायी। दोनों हँस रहे थे और खुश थे। शायद इसीलिए गाज़ी का गुनगुनाहट-भरा स्वर वे नहीं सुन पाये : 'प्रेम का सौदा जो न जाने, उसके संग क्या लेना-देना!'

प्रेम के इस सौदे से किसे सम्बोधित किया जा रहा है! तो फिर एक बार कहकर तो देखे! मास्टर साहब क्या प्रेम का सौदा करना नहीं जानते! मगर इतना साहस कहाँ? गाज़ी केवल मेरी आँखों में आँखें डाले हुए मुसकराये जा रहा था। शायद ब्रह्मनारायण की विद्रूप हँसी के कारण।

"और इसीलिए आपने इसे अपने संग ले लिया! क्यों न?"

ब्रह्मनारायण ने गरदन हिलाकर मेरी बात को पूरा किया, फिर पत्नी और कन्या की ओर आँखें मिचमिचाते हुए हँसे। लेकिन हर खेल की एक उलटी चाल भी होती है। उसी उलटी चाल को बढ़ाते हुए अब बेटी बोली, "तो इसमें क्या हुआ बाबा। उन्हें अच्छा लगा, इसलिए साथ लिये जा रहे हैं। तुम तो हर बात में अड़ जाते हो।"

हाँ, ठीक ही तो है। किन्तु यह कन्या आगे कुछ बोलती क्यों नहीं? इसका पिता अपने ही रक्त का कुछ तो ऋणी हो। फिलॉसफ़ी 'सेण्टिमेण्ट' नहीं, तो फिर है क्या बला! गाज़ी को साथ लिये घूमना भी तो इसी से जुड़ी हुई सनक है। इसके अतिरिक्त और जो भी कुछ है, उस सबकी खबर तो सिर्फ़ मास्टर साहब को है, उनकी झोली में बन्द। कम-से-कम धुँधलका छँटे, या कुछ तो रहस्य मिटे। मिनि अब एकदम सहज हुई इस पराये से हँस-बोल रही थी। पर इस यात्री को इतना साहस नहीं हो रहा था कि उसकी 'हाँ' के समर्थन में सिर हिला-डुला सके।

लेकिन क्या सब कुछ यह सचमुच सहज था? फिर तो वह 'बावला मन' और 'पागल' ही क्यों कहलाता! ब्रह्मनारायण अपनी ही दुनिया में खोये हुए थे। बोले, "भले ही तुम इसे मेरी ज़बरदस्ती कह लो। मगर इसका मतलब तो नहीं हुआ न कि यह गाना गाता रहे और हम अपनी जेब का पैसा लुटाकर पीछे-पीछे घूमते रहें। तुम लोगों से यह संसार थोड़े चलेगा!"

मिनि के गले से समुद्री नदी की तरह एक उजली फेनिल खिलखिलाहट फूट

पड़ी। बिलकुल ज्वार की तरह। ज्वार में एक पर एक पड़ती आती लहरों की तरह: उमड़ती-उफनती हुई। माँ से कहा उसने, "बाबा की बातें सुन रही हो माँ? मैंने क्या यही कुछ कहा था?"

माँ ने बेटी का पक्ष लिया, "अरे छोड़ उनकी बातें।"

"छोड़ दे! क्यों? रुपया, रुपया है, ठीकरा नहीं। आखिर हम लोगों का भी एक ज़माना था। पर ऐसा नहीं था।"

माँ और बेटी! और उन दोनों की सखियों-जैसी मुक्त मन की हँसी। ब्रह्मनारायण की आँखें कुछ बुझी-बुझी-सी दिखीं। अपने आश्रितों की ओर देखते हुए और आँखें तरेरते हुए बोले, "मैं जान सकता हूँ कि महाशय करते क्या हैं?"

महाशय! उनके स्वर में व्यंग्य ही नहीं, नुकीलापन भी था। उनकी आँखों की भाषा यदि पढ़ पाता तो वहाँ साफ़ लिखा दिखता, 'साधु-फ़कीर के पीछे रुपया फूँकते हुए अच्छा तो लग रहा होगा, पर यह सारा पैसा आ कहाँ से रहा है?' उनकी निगाहें अब तक तिरछी थीं। बरछीनुमा तीखी निगाहों की तरफ़ देखते हुए मुझे अपनी पाठशाला के मास्टर साहब की याद आ गयी। साथ ही, उनकी कालनागिनी-सी लचकती-लहराती बेंत की भी। हल्का-सा स्वर भी कितना आततायी हो सकता है, इसे वह बचपन से ही जानता है। तभी दाँतों के बीच पिसते हुए ये शब्द उसके कानों में पड़े: "क्या बाबू ने किसी नाटक-मण्डली में नाम लिखा रखा है।"

ओह! साँप अपने शिकार को पाकर जैसे झूमता फिरता है—स्थिति लगभग वैसी ही दुखदायी थी। फन काढ़े हुए सम्भावित दंश की यन्त्रणा से ही हृदय काँपने लगता है। उस शिकारी की नज़र जब मास्टर साहब की आँखों में उतरा जाती तो फिर उसे वहाँ से हटाना मुश्किल था। हाँ यह ठीक है कि पाठशाला के पण्डितजी की आँखों में—उस बघैली नज़र में—कोई दोष न था। उस दिन के बालक के नन्हें-से हृदय में बैठा हुआ आतंक आज परिहास बनकर रह गया है।

एकरामपुर के बामनपाड़ा के केदार चक्रवर्ती की नाट्य-मण्डली आज भी इन आँखों में समायी हुई है। वे दिन थे जब नाक दबाने पर दूध टपक आता था। ऊपर से वह स्वयं था एक भले परिवार का बेटा। और थे—केदार चक्रवर्ती, उलझे-पुलझे बालोंवाले। इन आँखों ने उन्हें न जाने किन-किन भूमिकाओं में देखा था। कभी प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु, कभी बेहुला के चाँद सौदागर, कभी रामायण के राम तो कभी महाभारत के अर्जुन के रूप में। साठ साल से अधिक वय के उस व्यक्ति के व्यवहार और गुणों ने, पता नहीं उसपर कैसा एक जादू-सा डाल दिया था। एक दिन गाल थपथपाकर यूँ ही उन्होंने उसे बुलाया था। उस पुकार में ऐसा सम्मोहन था कि वह माँ-बाप, भाई-बहन, घर-बार सब कुछ

भूल गया था। घर से भागकर देह पर नीला मुरदासंग मलने लगा था। पहनावे में पीताम्बर, हाथ में टिन की झिलमिल मकरमुखी बंसी, पैरों में घुंघरू। उसी मण्डली में था किसी धोबी का लड़का जो प्रह्लाद बना करता और उसे मधुसूदन भैया कहकर बुलाता। रंग-मण्डली में वह मुँह में बंसी लिये खड़ा रहता और मंच के पीछे बैठे पटले मौसा अपनी 'फ्लूट' बजा देते। यही दृश्य अगर आज किसी सिनेमा हॉल में हो तो आज के लोग उसे "प्ले-बैक' ही तो कहेंगे। वहाँ भी ऐसा ही कुछ था। वंसी सुनकर प्रह्लाद विह्वल हो उठता और वह स्वयं खिलखिला देता। सामने बैठा एक-एक दर्शक कृष्ण को देख लेता; पर प्रह्लाद था कि बेचारा आधा दर्जन पेट्रोमैक्स जलते होने पर भी उसे देख न पाता। वह पाँव के घुंघरू छनकाता हुआ निकल जाता। पुकारता, 'प्रह्लाद मैं यहाँ हूँ।' और पागल प्रह्लाद उन्मत्त हुआ दौड़ पड़ता : "कहाँ ? कहाँ छिपे हो मधुसूदन भैया ! किधर ?"

लेकिन घर लौटने पर इस कृष्ण भगवान् की पीठ कितनी बार छिलती, यह हिसाब कौन रखे ! इसीलिए वह आज भी पण्डितजी महाशय की घूरती हुई दृष्टि नहीं भूल पाता। जिस बात को लेकर वह आज इन दृष्टियों पर सोच-विचार कर रहा था ब्रह्मनारायण की दृष्टि उतनी मर्मान्तक नहीं थी। उस समय मर्यादा-पुरुष राम के साथ रावण की लड़ाई थी या थी फिर खुशामद-भरी चिरौरी। अब तो केवल अपना सिर ही आगे बढ़ा देना था। कुछ भी हो, ब्रह्मनारायण की आँखों में किसी ब्रह्म-राक्षसजैसी जिज्ञासा थी। धोती, कुरता और एक झोली —क्या इनसे भी किसी तरह की ढिठाई की गन्ध आ रही थी ? या हो सकता है यह सोचते हों कि इस अजनबी यात्री का घर-बार खूब भरा-पूरा है। इसीलिए जंगल में जंगली मच्छर मारने निकले हैं। दूसरों की कमायी-जमायी दौलत पर मौज मार रहे हैं। साथ में और चार-जन भी बहती गंगा में हाथ धो रहे हैं।

मेरे कुछ कहने से पहले ब्रह्मनारायण ने अपनी भूल का सुधार करते हुए कहा, "मुश्किल तो यह कि आजकल इतना मात्र पूछे जाने पर कि जनाब क्या काम करते हैं—लोग नाराज हो जाते हैं।"

इतना कहने के बाद बूढ़े की आँखें अपनी बेटी को देखती हुई चौड़ी हो गयीं। मुझे कुछ कहने का जब तक अवसर मिलता, झिनि का स्वर सुन पड़ा, "ठीक ही तो है। तुम फिर यह सब पूछते क्यों हो बाबा ? उन्हें बताने में कोई असुविधा भी तो हो सकती है।"

बात बिलकुल सही थी—हो ही सकती है। कम-से-कम अपनी शालीनता तो बची रहे। मैं निरुपाय होता हुआ बोला, "बस इतना ही विश्वास दिला सकता

हूँ कि बेकार नहीं हूँ।"

पहले झिनि की हँसी उमगी, फिर मास्टर साहब की। मुझे लगा, मेरी धीमी आवाज से ही उन्हें विश्वास हो गया है। हाथ उठाकर बोले, "अरे भाई, इसमें अविश्वास की बात नहीं। यूँ ही पूछ लिया। और क्या ?"

लेकिन बात यहीं कहाँ तम होनेवाली थी। इसका आभास तो आगे चलकर हुआ। हाँ, उनका विश्वासपात्र होने का लाभ भी मिला। इसीलिए उन्होंने बातचीत को दूसरी तरफ़ मोड़ दिया—नदी की धारा की तरह। बोले, "भई, आजकल जैसा कुछ माना जा रहा है, उसमें किसी से उसकी जीविका या पेशा पूछने या बताने-जैसी कोई बात ही नही रही। क्यों, यह मैं नहीं समझ पाता। जब तुम कोई चोरी-चमारी नहीं करते तो लोगों को बता देने में भला क्या हर्ज ? पर आजकल की तो रीत ही कुछ अजीब-सी है।"

ब्रह्मनारायण ने अपना हाथ इस तरह उलटा दिया मानो हवा कुछ उसी तरह उलटी बह रही हो और उसके सिर-पैर का कुछ पता न हो। वह शायद यही समझाना चाहते थे। लेकिन उनकी चोर-उचक्केवाली बात से आघात पाकर मेरी रीढ़ झनझना उठी। चुप बैठे रहना भी मुश्किल जान पड़ा। हालाँकि इससे भी क्या आता-जाता। मैं कालीनगर जा रहा हूँ और ब्रह्मनारायण गोसावा। मैं अपने घाट पर उतर जाऊँगा और वहीं मेरी यात्रा भी समाप्त हो जायेगी। मेरी जीविका से उनके मन में कोई गाँठ पड़ती हो तो इसमें भला मेरा क्या दोष !

झिनि हँसती हुई बीच में ही बोल पड़ी, "बात केवल चोरी-उठाईगीरी की नहीं। लोग चाहे जो पूछा जाना पसन्द नहीं करते। बस। तुम्हारा वह सब पूछना ही उचित नहीं।"

ब्रह्मनारायण ने हाथ पर हाथ रखकर कहा, "हाँ तो अब कहाँ पूछ रहा हूँ।" और गरदन हिलाकर आगे बोले, "कहीं पुलिस के जासूस-वासूस हों तो उन्हें असुविधा हो ही सकती है।"

झिनि एक उदासी-फीकी हँसी के साथ इस पराये यात्री को तरफ़ देखती हुई बोली, "तो फिर बार-बार क्यों पूछ रहे हो ?"

इसका क्या आशय ? क्या झिनि यह कहना चाहती थी कि मैं कोई गुप्तचर हूँ ! पुलिस के गुप्तचरों से मेरी कोई दुश्मनी नहीं। लेकिन आज तक के जीवन में अपने बारे में मैंने जो कभी सोचा तक नहीं, उसे आँखें मूँदकर कैसे मान लूँ ? इसके अलावा ब्रह्मनारायण मुझे एक हताश-से व्यक्ति जान पड़े। पागल जब सम्मान्य हो उठे तो वह दयनीय हो जाता है। रास्ते की जान-पहचान रास्ता पूरा होते ही समाप्त हो जाती है। मुझे लगा कि न बोलने का जितना कुछ दायित्व है, वह बोलने के दायित्व से निःसन्देह अधिक सार्थक होगा। मैंने

सिर उठाकर उन्हें बताया, "नहीं, ऐसा कुछ नहीं है, मैं केवल एक छोटा-मोटा लेखक हूँ।"

"अच्छा, तो आप लिखते हैं!" जैसे कोई ढीला-ढाला पाल तेज हवा के झोंके से तन उठा। ब्रह्मनारायण किसी नाट्यमण्डली के सूत्रधार की तरह जोर से बोले, "झिनि सुन, मुझे पहले से ही सन्देह था कि यह कवि-अवि होंगे?"

"जी, इसका मतलब?"...पर आगे कुछ कहने का अवकाश न था। ब्रह्मनारायण बीच में ही कूद पड़े, "ओह, तो कथाकार हैं!" कहानियाँ लिखते होंगे। एक ही बात है। अरे, जो 'गप्प' है, वही कविता है। मैं तो चेहरा देखकर ही समझ गया था।"

तो यह सब उनके लिए 'गप' था। गल्प या कहानी का तनिक भी सम्मान नहीं। अब इसके बाद भूलकर भी 'साहित्य-साधना'-जैसी कोई बात की तो क्या कुछ सुनना पड़ेगा! लेकिन उनके आश्रितों के चेहरे पर कौन-से भाव थे, अबतक मैं यह कुछ समझ पाता, उससे पहले ही ब्रह्मनारायण रहस्यपूर्ण हँसी के साथ बोले, "तभी तो मैं कह रहा था कि यह 'फिलॉसफ़ी' से क्यों चिपका हुआ है। कोई कवि या लेखक न हो तो कौन इसके चक्कर में पड़े।"

ब्रह्मनारायण के लिए यह सब हास्यास्पद ही था। जो थोड़ी-बहुत प्रसन्नता हाथ आयी थी वह भी खिसक गयी। उनकी बातों से ऐसा ही लगा जैसे यह भी जंगल में भैंस चराने में शामिल है। नहीं तो मास्टर साहब 'गप्प' को भी कविता में एकाकार नहीं करते।

मुड़कर देखा तो पाया झिनि की कजरायी आँखों में जिज्ञासा थी—सहज और सीधी। बाप की जिज्ञासा समाप्त हुई तो बेटी में कौतूहल जागा! पता नहीं, अलाप का यह कैसा सिलसिला था कि हृदय का स्वर और लय ही टूट जायें। दिगन्त पर छोर दीख रहा था। ऊपर नीला आकाश टँगा था। धूप थी। पानी के इर्द-गिर्द पंछियों के झुण्ड अपने-अपने बसेरों से दूर वनभोज के लिए इकट्ठा थे। यहाँ किसी का कोई नाम नहीं, घर-बार नहीं, परिचय का संसार नहीं। पर सरहदी सीमाओं पर तो बेड़ियाँ कस दी जाती हैं। लेकिन अपरिचय की कोई सीमा नहीं, उसकी कोई चिन्ता नहीं। चाहे जैसे चलो, जो चाहो बोलो। बँधी हुई धरती की सारी सीमाओं को पीछे छोड़कर, उससे किनारा करके वह चली आयी हूँ।

लेकिन कहाँ है वह रास्ता! अभी तो चारों ओर चौपड़ बिछी हुई है। उत्तर दिये बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता। सहयात्रियों का भी थोड़ा-बहुत अधिकार तो होता ही है। साथ हो, एक आधुनिका विदुषी है। अब जब सब कुछ स्वीकार है तो नाम बताये बिना टला भी नहीं जा सकता। अपनी तुच्छता

और संकोच के कारण चुप रहूँ तो शालीनता में बाधा पड़ती है और उजागर करने पर अहंकार की बू आती है। जो भी हो, नाम बताना ही पड़ा।

सुनते ही क्षिनि जैसे चिल्ला उठी, "क्या ग़ज़ब! यह नाम तो सुना है!"

पर ब्रह्मनारायण ने तुरत उलटा दावँ चलाया, "तू इन्हें जानती है, मैं तो नहीं जानता!" एकदम सीधा वार था, तनिक भी इधर-उधर नहीं। फिर हाथ उलटकर बोले, "हाँ, आखिर वह सब मैं पढ़ता भी तो नहीं।"

मेरे भीतर का लेखक सब सुन रहा था। कहीं इस सचाई को जानकर मर्माहत न हो उठे वह। मास्टर साहब का यह उपकार भी तो उसे ही ग्रहण करना था।

क्षिनि ने तब अपने पूज्य पिता को सचेत किया, "अब तुम जब कुछ पढ़ते ही नहीं तो जानोगे कैसे? मैंने इनकी कई रचनाएँ पढ़ी हैं।"

"कई रचनाएँ!" ब्रह्मनारायण ने अपनी जीभ से दाँतों को ठेलते हुए कहा, "इतना अधिक लिख डालने पर भी इनका व्यक्तित्व तो भारी-भरकम नहीं लगता!"

"क्यों? यह जरूरी है क्या कि अधिक लिखनेवाला डील-डौल से भरकम हो ही!" क्षिनि ने विरोध किया, "बाबा की बातें अजीब ही होती हैं।"

"नहीं, पर रोब-दाब तो होता ही है।"

इस बीच स्वामिनी का स्वर भी तिर आया। उन्होंने मेरी एक किताब का नाम बताते हुए कहा, "अरे वही किताब तो! मैंने भी पढ़ी है, खूब अच्छी लगी थी।"

मास्टर साहब चौंक पड़े। आँखें ऊपर कपाल तक उछल गयीं। अपनी स्वामिनी—अर्थात् बागबाजार की उस बारहसाला लड़की को जो कभी मोटी रेशमी साड़ी में गुड़ी-मुड़ी हुई आयी थी—की ओर देखकर कहा, "अच्छा, तो तुमने भी पढ़ डाला। फिर तो कहना ही क्या है?" कहते हुए वह बूढ़ा किसी बालक की तरह हँसने लगा।

इधर माँ-बेटी में बातें हो रही थीं। मुझे इस आधुनिका से जो श्रेय मिलना था वह उसकी युवा आँखों में झिलमिला रहा था। संकोच के सारे आवरणों के बीच कई जिज्ञासाओं की वहाँ झलक भी थी। हालाँकि इनमें मेरी दिलचस्पी न थी। दिगन्त तक पड़नेवाली मेरी छाया लम्बी हो चली थी। जैसे उमड़ती हुई अथाह प्रसन्नता के बीच कोई बेड़ा आकर रुकावट डाल दे।

मास्टर साहब की आवाज़ सुनाई पड़ी, "मैं नहीं जानता यह सब आप कैसे लिख-लाख लेते हैं। पर इससे कुछ होता-जाता नहीं। और आजकल तो जो कुछ लिखा जा रहा है..."

अरे ओ लेखक ! अभिमान बाद में करना, पहले अपनी विरुद तो सुन ले और अपना प्राप्य-पुरस्कार तो लेता जा। लेकिन उन्हें जवाब अपने घर से ही मिल गया, "तुम कुछ पढ़ते तो हो नहीं, अच्छा-बुरा क्या समझोगे !"

"अरे पढ़ता भले न होऊँ, पर पन्ने तो उलट-पलट ही लेता हूँ। पढ़ूँ क्या खाक ! वह सब अब पढ़ा ही नहीं जाता !"

झिनि ने प्रतिवाद किया और अपने तर्क भी दिये। पर शाम वहीं ढलती है जहाँ बाघ का भय होता है। अपने कानों में रुई ठूँस ली थी—सुनूँगा नहीं। अच्छा-बुरा तो जीवन-भर लगा ही रहता है। वही सब भूलने के लिए तो आज निकला था। न कोई काम, न कोई चिन्ता। मन इस कटघरे के बाहर उड़ रहा था। जो वकील हैं, वे जिरह करते रहें। अब इस अदालत में जब कोई मुन्सिफ़ आयेगा तो उसकी राय पूछी जायेगी। यह आसामी तो अपनी गरज से ही काम करता है।

मुँह घुमाया तो सामने गाजी का चेहरा दीखा। इस कटघरे की बातचीत से उसे कुछ लेना-देना था या नहीं, यह वही जाने। यह फ़क़ीरा तो सचमुच का पाजी है। वही हल्की-सी मुसकराहट—जैसे उसे किसी गड़े हुए खजाने के रहस्य का पता हो। जिसको केन्द्र बनाकर इन सारी बातों की शुरुआत हुई थी, वह अब भी उसी तरह डूबा हुआ था। और पंक्तियाँ गुनगुना रहा था—

"जल में कमल का पत्ता टलमल, पर भीगे नहीं कमल
उसकी साखी दही की हाँडी, जिस पर जमा है माखन
जिसे मिल गया प्रेमठिकाना, उसे किसी से क्या लेना
प्रेम का सौदा जो ना जाने; उसके संग क्या लेना-देना...!"

गाजी गाते-गाते अचानक थम गया। फिर आँखों पर पड़ती धूप को हाथ की ओट देकर दूर देखता हुआ बोला, "अरे बाबू, वह दीख रहा है कालीनगर। बस अब आ ही गया।"

मैंने देखा—दूर पूरब की ओर मस्तूलों का जमघट है। बाँध के इर्द-गिर्द कई घर छितरे हुए हैं। और घर ही नहीं, घर के काँधे पर घर, मकान पर मकान। एक बहुत बड़े पहिये की तरह। अब दिगन्त का छोर एकदम खुला हुआ नहीं दीख रहा था। वहाँ कई एक पेड़ खड़े थे। मानो पैदल बटोहियों को छाँव देना चाहते हों।

कप्तान के कैबिन में भोंपू बज उठा। इतनी देर से चला आ रहा था, पर ऐसा पहले नहीं हुआ था। न ऐसे दृश्य ही पहले दिखे थे। शायद इस बार यात्रियों की संख्या अधिक थी। इसीलिए पहले से ही हड़बोंग मची थी : यात्रा समाप्त हो रही है, यात्रियो तैयार हो जाओ ! इस भीड़ में चढ़ना-उतरना—सबके लिए

एक समान ही है। भोंपू की आवाज़ से सारे तर्क-वितर्क ढेर हो गये। ब्रह्मनारायण ने पूछा, "कौन-सी जगह है ?"

"कालीनगर गंज," गाजी बोला।

विदुषी के स्वर में जो विस्मय था, उससे मैं भी चकित हुआ। वह बोलीं, "आपकी जगह तो आ गयी।"

"हाँ।"

"च्व...बाबा के कारण कोई बातचीत भी न हो पायी। आप भी बहुत परेशान हुए होंगे ?"

"नहीं, मैं क्यों परेशान होने लगा।"

"हुए भी तो हमें भला क्यों बताओगे," यह स्वामिनी बोल रही थी। यहाँ आप या तुम की कोई मर्यादा नहीं थी। औपचारिकतावश जो सहज हैं, उसे गँवा देना अन्यथा होता। जो दिल में था, कह दिया। सहज होकर ही सरल हुआ जा सकता है। क्या मैं सचमुच परेशान हुआ था ? मैंने अपने-आपसे पूछा। हाँ, थोड़ा कुछ घबरा जरूर गया था। वह भी बातचीत के कारण नहीं, विचित्र स्थितियों के कारण। तर्क में यों भी अरुचि है। यहाँ तक कि ब्रह्मनारायण की बातों से भी कई बार उसका अन्तर तरंग-ज्वार में भीगा है। आज की लेखनी अगर उसके हृदय-द्वार को नही झिंझोड़ती तो यह बात अनकही क्यों रहे भला! मैंने कहा, "नही, नही; आप विश्वास रखिए, मैं तनिक भी उद्विग्न नही हुआ।"

सहधर्मिणी की सहजता से शायद ब्रह्मनारायण भी ढीले पड़े। उन्होंने भी औपचारिक 'आप' को गोली मारकर कहा, "अरे बेटा, कुछ ऐसा-वैसा मत सोच बैठना। जो मन में था, कह दिया।"

मैंने हँसते हुए कहा, "ठीक ही तो किया।"

"लेकिन झिनि नहीं मानेगी, वह तो मुँह फुलाये रहेगी।"

मैंने झिनि की ओर देखा। लगा, वह इन सारी बातों से अनजान है। झुंझलाहट-भरी आवाज़ के साथ मुसकराने की असफल चेष्टा करती हुई बोली, "नहीं, मुझे तो बहुत ही बुरा लग रहा है।"

मैंने कहा, "मैं तो जरा भी..."

"नहीं, मैं बाबा की बात नही कर रही। बाबा तो हैं ही वैसे। लेकिन यह सोचकर कि अब आप उतर जायेंगे, अच्छा नहीं लग रहा।"

"लेकिन यह सब कहकर तुम उसे गोसाबा तक नहीं ले जा सकतीं।" ब्रह्मनारायण की बात सुनकर सभी हँस पड़े। इस बीच गाजी पुकार उठा, "बाबू, लॉंच घाट पर लगेगी।"

क्षिति तब तक अपना बैग खोलकर काग़ज़-क़लम लिये तैयार थी। बोली, "नाम-पता तो लिख दीजिए। पत्र लिखूँ तो उत्तर ज़रूर दीजिएगा।"

अब मन को भुलाये रखने का समय नहीं था। लिख तो दिया, पर यह भी जानता था कि यह कोई वादा नहीं। विदुषी की कजरायी की आँखों की उत्सुकता से ऐसा लगा कि अब गोसाबा है ही कितनी दूर! उसका भी कोई किनारा तो होगा। और अगर मझधार में भी हो तो मैं उसका माँझी नहीं। मैंने हाथ उठाकर नमस्कार किया, "अच्छा, तो चलता हूँ।"

ब्रह्मनारायण कहने लगे, "उतर ही रहे हो तो जाओ। लेकिन अगर आज लौट न सको तो कल फिर हमारे साथ ही लौटना पड़ेगा।" मैं उस दड़बे से हँसता हुआ बाहर निकला। उनकी पत्नी की ओर देखा तो मुझमें एक बार फिर शिशु होने की इच्छा जगी। क्षिति की आँखें ऊपर टँगी थीं। गाज़ी ने अपनी जटा फैलायी और दाढ़ी हिलाकर ढपली को अपने सिर से टेकते हुए बोला, "बाबू, जा रहा हूँ, फिर आपके दर्शन होंगे। चलूँ माँ ठाकुरानी! दीदी को इतना ही कहना है कि आपको फिर कभी गान सुना सकूँ।"

"सुनो भाई फ़क़ीर, नहीं गाज़ी, ज़रा सुनना"—ब्रह्मनारायण ने पुकारा। अपनी जेब से एक चवन्नी निकालकर बोले, "मेरा हिस्सा ही बाक़ी क्यों रहे, जब कि गान तो मुझे भी अच्छा लगा था।"

गाज़ी ने मुरशेद के नाम से एक बार दरवाज़े पर फिर माथा टेका। मुँह से कुछ बुदबुदा भी रहा था। माँ-बेटी हँस पड़ीं। मैंने ब्रह्मनारायण की उसी एक चवन्नी में जैसे एक रुपया देख लिया। सीढ़ियों से उतरते हुए मैं यही सोच रहा था कि मनुष्य को अन्तिम रूप से पहचान पाने का अहंकार एकदम थोथा है।

किनारे पर उतर जाने के बाद मैंने देखा—क्षिति हाथ ऊपर उठाये चुपचाप खड़ी है। हृदय का पाल अब तिर नहीं रहा, स्तब्ध है। होठ काँप रहे थे।

गाज़ी ने अपनी ढपली उठाकर कहा, "दीदी, फिर भेंट होगी।"

...

उधर कप्तान ने अपने सिर के ऊपर लटकती रस्सी को खींचकर घण्टी बजायी और आगे चलने का इशारा किया। निचले हिस्सों के यन्त्र ज़ोरों से धड़धड़ा उठे। इस घाट के यात्रियों का उतरना समाप्त हुआ। खलासी ने तख़्ते का अगला सिरा बाँध के ऊपर से खींच लिया। जल-भड़भड़िया पीछे की तरफ़

हटा और फिर मुड़ने लगा। फिर ज़ोर की आवाज के साथ वह बीच मँझदार में उतर गया। उसके पीछे पानी में ऊपर उठती हुई फेन-राशि तैरती रही।

हम, इधर दिगन्त के एक छोर पर खड़े थे। हमारा दड़बा दूसरे छोर पर गया था : जहाँ एक छपी हुई साड़ी का आँचल हवा में लहरा रहा था। कह नहीं सकता मैं किस औपचारिकता के कारण खड़ा था। यह जानता था कि राह चलती भेंट राह के साथ ही समाप्त हो जाती है; फिर भी परिचित जनों को खड़े होकर विदा किया जाता है।

जल-धारा प्रवाह के साथ बहती चली जा रही है। मन, तू भी तो एक घाट है, जहाँ अनगिनत यात्री पड़ाव डालते हैं, फिर चले जाते हैं। तू इस बहाव को झेलता रहता है। तेरा हिसाब आज कुछ है, कल को कुछ और। कल का हिसाब परसों समाप्त। काल की गति उसे कालान्तर में बदल देती है। आज का हिसाब तो बस आज ही देखना है। धूप, नदी की नीली धारा, पंछियों के झुण्ड, पेड़-पौधों और आकाश तक फैले खेतों तक ही तुम्हारा विस्तार नहीं। कहाँ जाते हो, क्यों जाते हो, क्या तुम्हें भी उसी अनाम-अनजाने की खोज है ? उस कटघरे के यात्रियों ने तुम्हें बहुत कुछ सिखाया। उनका अनुग्रह स्वीकार करो ...।

इस बीच गाजी अपनी धुनकी में गुनगुना रहा था—

"पता नहीं वह किस जाल में आकर मन को फाँस गया,
मन और कुल का मान गँवाया, फिर भी हाथ न आया,
क्या मेरे मन में कोई अब तक प्रेम नहीं उमगा था।"

गाजी किसको किस खुशी में सुना रहा था, पता नहीं। मैंने उसकी ओर देखा। देखा काली आँखों की पुतली में नदी की मुड़ी हुई धार में तैरता हुआ जल-मड़मड़िया एक नन्हें कण की तरह उतर रहा था। यों उसके गान से मेरे कान शरम के मारे लाल नहीं हो रहे थे; पर इच्छा हुई कि मुरशेद का नाम लेकर उसे डपटकर रोक दूँ।

हठात् वह नाम-मजूरा मेरी ओर देखकर हँस पड़ा। उसने हाथ की मुट्ठी खोल दी। उसकी काली-कलूटी हथेली पर ब्रह्मनारायण की दी हुई चवन्नी दमक रही थी। अब तक झोले में नहीं गयी थी।

गाजी बोला, "यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा पत्थर कब किससे गल-पिघल जायेगा। अब देखिए न, उस बूढ़े बाबू ने कैसी जगमग चीज दे दी। और मैं कहता हूँ : नहीं, प्रेम का सौदा जो नहीं जाने, उसके संग क्या लेना-देना! मुझसे यह क्या गुनाह हो गया। मेरी पीठ पर मुरशेद की पाँच जूतियाँ पड़ें।"

मैं संकोच में पड़ गया। गाजी का मन तो सचमुच ही चोरी चला गया

और चोर कोई और नहीं, ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती हैं। मैं मन का चोल और
स्वभाव देखता रहा। एक चवन्नी में ही सोलह आने का सुख : जो गाज़ी के
मन-प्राण को आन्दोलित कर रहा है। चवन्नी के रूप में यह अन्तिम दान उसकी
अँजुरी में अब तक चमक रहा है। इसीलिए तो वह कह रहा है : "क्या मेरे
मन में अब तक उसकी लगी नहीं जगी थी।" यदि लगी होती तो उस रूप में
अरूप को पहचानने की भूल नहीं होती। वह ऊँची आवाज़ में गा उठा :

"न जाने वह कहाँ बसा था...पता नहीं था।
उसके बिन मैं मर जाऊँगा अब हाय...हाय...हा....!"

"तो फिर मर ही जाओ न। चलो हटो, अब जाने दो।" पीछे से किसी ने
पुकारा। देखा तो लगा कोई पहचाना हुआ चेहरा है। हाँ, इसमें भी क्या चूक
हो सकती है। इन महाशय की बग़ल में मिल की लाल सूती साड़ी के आँचल से
घूँघट को देखकर ही पता चल गया कि ये गाज़ी के चाचा-चाची हैं। अच्छा :
महतो चाचा का भुच्च चेहरा तो काफ़ी फैला हुआ है। थुलथुल भी नहीं,
काफ़ी कसे हुए हैं। मुझे पता नहीं कोयल की नज़र कैसी होती है। पर चाचा
की आँखें इतनी लाल थीं कि लगता जैसे कोयल की आँखें चिपका दी गयी थीं।
पास खड़ी चाची की आँखों पर भी दृष्टि गयी। कहीं उनकी आँखों की खुमारी
से ही तो चाचा के मोटे होंठ भी नहीं रँगे हुए हैं। चाचा ने सूती कोट के ऊपर
पश्मीने का शाल कमर पर लपेट रखा था। लेकिन उनके हाथ में कोई बक्सा या
सूटकेश नहीं था, प्लास्टिक का एक शहरी बैग था। सिर के बाल उलझे हुए।
पता नहीं कब से कंघा छुआ तक नहीं गया था। गले का स्वर ऊँचा था। पान से
रँगे दाँतों से झरझर हँसी फूटी आती थी।

बात तो हाँक देनेवाली ही थी। पगडण्डी बाँध पर से जाती थी। चौड़ी :
बस एक आदमी के गुज़रने लायक। दो जन साथ-साथ नहीं जा सकते। किसी
एक को रास्ता देना पड़ेगा।

"महतो चाचा, अच्छा तो तुम हो!" गाज़ी ने मुड़कर पूछा और फिर बाँध
को ढलान पर उतरकर खड़ा हो गया। मैं भी उसके पास खड़ा था।

महतो ने जवाब दिया, "और कौन होगा!" फिर पीछे मुड़कर कहा,
"आओ!"

चाची के मुँह में अभी बीड़ी नहीं थी। चेहरे पर घूँघट भी पूरी तरह नहीं
पड़ा था। मैंने इन बातों का पहले भी बुरा नहीं माना; अब भी नहीं मानता।
बीड़ी ही क्यों जो जी चाहे पीये। चेहरे पर उनके अब भी स्नेह और आत्मीयता
की तरलता थी। क़स्बाई ढंग से पहनी हुई साड़ी से ये और भी उजागर हो
फूटी आ रही थीं। उसके चेहरे से उसकी देहयष्टि और भी कमनीय लगती थी।

कहाँ पाऊँ उसे

यहाँ हाट-बाजार में महतो की पत्नी के हँसने से शायद उसकी मर्यादा पर आँच आती। फिर भी, गाज़ी की ओर देखते हुए, चाची के माथे की बिन्दी झिलमिला उठती। आँखों में चोरी-छिपे एक मुसकान खेल जाती। गाज़ी इस पराये मुसाफ़िर की तरह किसी लाज-भरे संकोच का शिकार न था। लेकिन उधर ताकने के लिए अपने आग्रह को प्रकट न कर तिरछी निगाहों से ही काम लेना होगा।

गाज़ी ने पूछा, "चाचा, अब भी वहीं भोलाखालि जा रहे हो ?"

"नहीं, थोड़ी देर के लिए नारायण के घर ठहर जाऊँगा," महतो ने उत्तर में कहा।

उसकी बातों से लगा चाचा ठहरेंगे नहीं लेकिन अचानक खड़े होकर पीछे मुड़े और बोले "ये बाबू कौन हैं ?"

गाज़ी मेरी तरफ़ देखकर हँसा; फिर बोला, "बस, रास्ते में मिल गये। घूमने निकले हैं।"

महतो की लाल-लाल आँखों की दोनों पुतलियाँ भी लाल ही थीं। वह 'बाबू' की तरफ़ देखकर हँसा और हँसते-हँसते खाँसने तक लगा। फिर बोला, "इस खाली बाजार में क्या घूमना। यहाँ देखने को है ही क्या ?"

फिर हँसते-हँसते ही दोनों आगे बढ़ गये। चाची ने भी एक बार पीछे मुड़कर देख लिया। खरीद-बिक्री के लिए दुकानें सामने की ओर लगी थीं। लेकिन घाट की ओर जानेवाली पगडण्डी भी यही थी। कालीनगर—सचमुच ही नगर बना हुआ था। घोड़ा-गाड़ी खोजना बेकार था। नदी, नाले, नहर सब पुल और पुलियों से पटे हुए। इनके ऊपर से ही चलना-फिरना होता। घाटों पर नावों का जमघट था। एक माँझी से लेकर दस मल्लाहोंवाली बड़ी-बड़ी नौकाएँ ! चाहे जैसी ले लो। इनमें यन्त्र लगे थे या नहीं, पता नहीं। पर उत्तर की तरफ़ दो मोटर लाउंज जरूर लंगर डाले खड़े थे। उनसे परे हटकर नौकाएँ आ-जा रही थीं। लगता जैसे वही यात्री-घाट है। उस पार भी घाट था और बाँध के इर्द-गिर्द घर। उन घरों के पीछे से भी एक सँकरी-सी पगडण्डी निकल गयी थी। साफ़ दीख नहीं रही थी पर लोग उसपर चल-फिर रहे थे, ऐसा आभास हुआ।

दूसरी तरफ़ से एक सीधा रास्ता नाक की सीध में आगे निकल गया था। खेतों में लोग भी दीख रहे थे। कहीं-कहीं धान की कटाई भी शुरू हो गयी थी। दूर-दूर तक फैले उन दृश्यों को निहारते हुए मैं उनमें जैसे खो गया।

"बाबू"—गाज़ी के गले का अस्फुट स्वर सुन पड़ा।

मुड़कर देखा। आँखें तो लौट आयीं; पर मन अब भी दूर कहीं भटक रहा था। गाज़ी की दाढ़ी की एक-एक गच में उसकी मुसकान डूबी थी। आईने-

जैसी आँखों के धुँधलके में कुछ झिलमिला रहा था। बोला, "यह कैसा लग रहा है बाबू ?"

गाजी का आशय अच्छा था या बुरा—यह समझ न पाया। उसने तो अपना पासा-भर फेंका था। चाल चलने की बारी मेरी थी। मेरा मन कालीनगर में उमगा था और अब दिगन्त पर टिका था। नये-नये विचार उमड़ रहे थे। सामने एक उत्सव-भरा सपना आकृति ग्रहण कर रहा था। यहाँ की प्रकृति और मनुष्यों को देखकर उनके बीच एक नये ही इस सम्बन्ध सूत्र का पता चला। यह प्रकृति मात्र सुन्दरी ही नहीं, उसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। उसने अपने को इस परिवेश में उड़ेल दिया है और अब निर्लिप्त भाव से बैठी है—आकाश की ओर निहारती हुई, अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार।

मैंने पूछा, "यहाँ पेड़-पौधे नहीं हैं ?" चारों ओर निचाट खामोशी फैली है। क्यों ? क्यों ?"

गाजी मुसकराता, "लोग-बाग अब यहाँ सोना जो उगाने लगे हैं। यह पेड़ों की ही वादी है। जहाँ खड़े हो, वहाँ अभी हाल तक सुन्दरी के पेड़ों का वन था। सघन वन। यहाँ के राय साहब के वाहनों पर उनके स्वजन घूमते-फिरते। उस समूचे वन को काट-काटकर यह स्थान आबाद किया गया, इसीलिए इसका नाम है बादा।"

गाजी सुन्दरवन की बातें बता रहा था। चूंकि इस वन में सुन्दरी के घने पेड़ थे, इसीलिए 'सुन्दरवन' नाम पड़ा! मैंने कई पेड़ों का नाम सुना था—साल, पीपल, सागवान; लेकिन इतने मुग्ध भाव से लिया गया यह नाम नहीं सुना था। नाम ढूँढ़ने की बहुत आवश्यकता भी नहीं पड़ी होगी। ऐसा कि जो आँखों में बस जाये और जी चुरा ले जाये—वह सुन्दरी का पेड़। पर गाजी 'अभी हाल तक.......' ऐसा क्यों कह रहा था ? कितने दिन हो गये होंगे भला। मैंने पूछा, "अभी हाल से आपका क्या तात्पर्य है ?"

गाजी ने अपनी दाढ़ी को मुट्ठी में करते हुए कहा, "बस यही कोई सौ-डेढ़ सौ बरस।"

जैसे कोई एक-डेढ साल पहले की बात रही हो। गाजी की दाढ़ी-मूँछ तो अब भी काली थी। दो-चार फतोइयाँ सफ़ेद हो गयी थी जो काली दाढ़ी-मूँछ के जंगल में दिखाई तक न देती। न, बालों से उसकी उम्र का अनुमान नहीं लगाऊँगा। इस बादा में, चैत के मैदान की तरह उसका खिला चेहरा इतना सजीला बनाना कि उससे भी उम्र का पता नहीं चल पाता। यह सब तो यहाँ के घाट-बाट, धूप और हवा का अवदान है। इसे सौ-डेढ़ सौ क्यों, पचास साल का आदमी भी नहीं माना जा सकता। क्यों ? यह मैं नहीं बता सकता। मैंने

अपने आपको इस रूप में समझा लिया कि गाजी के हिसाब में कोई गलती नहीं। आज भले ही उसे रास्ते-रास्ते भटकते हुए मुरशेद के नाम की मजदूरी करनी पड़ती है, लेकिन उसके बाप और दादा भी तो कभी यहीं थे। वह उनसे ही सुनी हुई बातें मुझे सुना रहा था।

यहाँ की धरती नयी है : आदिवासिनी की तरह, जो आँचल तक लेना नहीं जानती। चतुर्दिक् फैली विशाल सभ्यता इसे साज पहनाने नहीं आयी। इस निर्जन क्षेत्र में, नारियल और सुपारी के वे पेड़ भी नहीं दीख रहे जो हवा में अब तक अपना सिर हिला रहे थे।

मैदान के एक छोर पर मेरी दृष्टि आ जमी। मुँह से निकला, ऐसा दृश्य तो पहले कहीं नहीं देखा।

गाजी ने गरदन हिलाकर कहा, "हाँ बाबू, सचमुच ऐसा कहीं है भी नहीं। जैसा नाम, वैसा धाम। और बाबू, हम लोग तो जंगल की सीमा पर खड़े हैं। सुन्दरबन यहाँ से है ही कितनी दूर। पेड़ों को देखना हो तो आगे चलिए। कितने पेड़ देखेंगे आप? वहाँ तो पेड़ ही पेड़ हैं : नीचे पेड़ और ऊपर आकाश। धरती दिखाई ही नहीं देती। दिन में घटाटोप अन्धकार छाया रहता है।"

आज इसी जंगल को काट-छाँटकर एक छोटी-सी बस्ती आबाद है। अब हाट है, बाजार है। मैंने गाजी से कहा, "जंगल फिर किसी दिन जाऊँगा। आज तो बस यहीं आस-पास घूम लूँ।"

गाजी हँसा, "मैंने तो वैसे ही कह दिया था बाबू! वहाँ घूमना इतना आसान नहीं। यहाँ तो पेड़ दिखाई देते हैं, वहाँ ऐसा नहीं। चलिए, थोड़ा चक्कर लगा आयें।"

गाजी बाँध के ऊपर चढ़ा और दक्षिण की ओर चल पड़ा। बायीं ओर घरों की पाँतें थीं। दरवाजे दूसरी तरफ थे। दायीं ओर नदी। मैं गाजी के पीछे-पीछे चल रहा था। सामने से आते व्यक्ति को थोड़ा टेढ़ा होकर गुजरना पड़ता था। दूर से आती हुई कई प्रकार की आवाजें सुनाई पड़ रही थीं : शब्द, स्वर, चीख-पुकार, हँसी—सब कुछ। ये सब उन घरों के उस पार से छन-छनकर आ रही थीं जहाँ सदर हाट था। थोड़ा आगे चलकर बाँध मुड़ गया था। वहीं मोड़ पर मैंने देखा : एक पक्की मस्जिद और फिर [illegible] उसकी मीनार। अर्थात् यह बस्ती अगर डेढ़ सौ बरस से आबाद है तो यह मस्जिद भी उतनी ही पुरानी होगी। उसकी बनावट और उसके ऊपर बनी [illegible] भी पुरानी नहीं थीं। मगर कोई मन्दिर अभी तक कहीं दिखाई न पड़ने पर यह अनुमान हुआ कि कालीनगर में पहले-पहले बसनेवाले मुसलमान ही रहे होंगे।

बाँध के ऊपर से हो—दो घरों के बीच की पतली [illegible]

पुकारा, "बाबू, जरा इधर से आइएगा। यहाँ का बाजार भी देखते जाइए।"

ढलान से उतरकर मैं जा पहुँचा। वहाँ एक दूसरी ही दुनिया बसी थी। बाजार में इधर-उधर ताकता-झाँकता मुझे कभी नहीं भाया। चारों ओर फैली, घर की चुनी हुई दीवारों से लगी—दुकानों की पाँतें सबके बीचों-बीच एक छोटा-सा ऊँचा चबूतरा था। बाजार था : पर खरीददार नहीं थे। लकड़ी के तख्तों या टिन की चादरों के छप्परों के नीचे बिछी हुई मनिहारी का सामान बिक रहा था। कई जगह चटाइयाँ बिछी थीं और किनारे लगी चौकियों पर गद्दे बिछाये महाजन लोग आराम से लुढ़के हुए थे। आलमारियों में तह पर तह कपड़े लगे हुए थे। शान्तिपुरी और फ़रास गंगा की या फिर मिलों की झकझक सफ़ेद साड़ियाँ—जैसी चाहो वैसी। कलकत्ता-बम्बई—हर जगह के मनभावना छपाईदार कपड़े। फ़िल्मी तारिकाओं के नाम पर बिकनेवाली साड़ियाँ। यही नहीं, इस कस्बे की दुकानों में रेशमी-पशमी शाल-दुशाले और हर प्रकार के वस्त्रों की भरमार। आलता, स्नो, पाउडर—सब क़रीने से आलमारियों में सजे हैं। रेशमी चूड़ी, गुरियों की माला, नक़ली सोने-चाँदी के ज़ेवर—सभी कुछ तो। इतना ही नहीं, यह जो विदुषी अभी सर्र से निकल गयी, उसके विलास-प्रसाधन के लिए लिपस्टिक और काजल भी प्रस्तुत हैं। लॉजेन्स या बिस्कुट चाहिए तो वह कारखाने के छपे हुए पैकटों में उपलब्ध।

गाजी ने इस बीच समाचारों का आदान-प्रदान भी शुरू कर दिया था—"ओह, मालिक आप हैं! अच्छे तो हैं। बस, यूँ ही चला आया....। जय मुरशेद... साधन दादा! कब लौटे तुम देखो, अब एकाध पान का बीड़ा तो तुम्हें खिलाना ही पड़ेगा। तो फिर चक्कर लगाकर आऊँ?..."

गाजी ने फिर अपने इस साथी को बताया, "बाबू, हाट का दिन होता तो देखते कि भीड़ किसे कहते हैं। पाँव टेकने की जगह नहीं होती।"

उसका कहना ठीक था। इतना बड़ा बाजार, सप्ताह में किसी एक दिन वहाँ हाट लगता होगा। उसी दिन बेचने-खरीदने की सारी सरगर्मी होती होगी।

यह जरूर कि वहाँ चीजें सारी हैं। सब तरह की मिल रही हैं। लोग लेते भी। "पाँ लागूँ कविराजजी, अब तक घर नहीं गये। काफ़ी देर हो गयी।"—गाजी सबसे बातें कर रहा था। कविराज महाशय ने क्या बताया, मैं सुन न पाया। मैंने देखा उनकी अवस्था काफ़ी हो गयी थी फिर भी चश्मे के पीछे से मुसकान झाँक पड़ती थी। औषधालयवाली छाप भी ठीक-ठीक थी। डॉक्टरों के क्लिनिक भी थे वहाँ। डिग्री-विग्री की चर्चा तो बेकार होती। हाँ सीना टटोलनेवाला अलग रहता और आलमारियों में शीशी-बोतल होती। रोगी भी बैठे दिखे। साइनबोर्डों की तरफ देखने से कोई फ़ायदा नहीं। जहाँ अपने ही

हाथों 'डॉक्टरी दवाख़ाना' लिखा हो—वह भी टिन के टुकड़े पर तारकोल से—वहाँ क्या देखना! गाज़ी के शब्दों में 'चीनी के दानोंवाली दवाई' वाले दवाख़ाने भी थे। गाज़ी के साथ सभी का परिचय था।

इससे भिन्न ढंग का साज-सिंगार देखना हो तो और आगे बढ़ना होगा : सैलूनों की तरफ़। ऐसा लगेगा कि कलकत्ता की दीवारों पर ही फ़िल्मी पोस्टर्स नहीं चिपकाये जाते, यहाँ के सैलूनों की दीवारों पर भी उनकी भरमार है। हर फ़िल्मी स्टार यहाँ हाज़िर है। कलकतिया भी, बम्बइया भी। इनके अलावा कैलेण्डर भी हैं। किस सन्-संवत् के हैं यह देखना-पूछना बेकार होता। इनके सामने तो आदमी अपनी ही जन्म-तिथि न भूल जाये जो आश्चर्य : सैलूनों में रेट-लिस्ट कहीं नहीं टँगी। सब कहीं गत्ते पर स्याही पोतकर सूचना-जैसी दे दी गयी थी : हेयर कटिंग का 'अपटूडेट' या 'एकमात्र केन्द्र'।

इसके और आगे पान-बीड़ी की दुकानें। यहाँ बीड़ी जगत् मे अद्वितीय 'मुकन्दलाल बीड़ी' या 'हनीफ साहब की बीड़ी' का बोलबाला। पहला कश लेते ही वह चित्रवाली बाला जुल्फ़ें बिखराकर आँखें मटकाकर हँसने लगेगी। अब अगर ऐसी चमत्कारी बीड़ी का भी उपभोग न किया जाये तो फूटे भाग में कौन-सा सुख बदा है भला!

एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि महादेव हों या मुहम्मद, काशी हो या काबा, किसी भी देश के नेता हों या मन्त्री—सबकी झलकी इस भीड़ में मिल जाती। पान-बीड़ी की दुकानें दो-चार लोगों के जुड़ते ही गुलज़ार हो उठती। इस बेसुरे दिन में भी—गुल-गपाड़े, हँसी-ठट्ठे, सिनेमा के गाने, और ताश-शतरंज के अड्डे जमे। गाज़ी की बातचीत सबसे जारी।

अब इसमें जिन्हें दोष ढूँढ निकालना हो, निकालते रहें। सब मिलाकर मैं तो एक नये संसार में विचर रहा था। नये अनुभव, नये संवाद। कौतूहल का आकर्षण आगे खींच रहा था। मन में तरंगें ही तरंगें। महानगर के रोब-दाब का अहंकार तो वही भीतर शेष नहीं ? नहीं, मैं टेढ़े होठों के साथ मुसकराया। लगा जैसे अपरिचय की सारी दीवारें लाँघ आया हूँ। साज-बाज-भरा यह सारा परिवेश मुझे बरसों का परिचित जान पड़ा। केवल इसलिए नहीं कि मैं उधर पूर्वी बंगप्रदेश देख आया हूँ, बल्कि इसलिए कि परिवेश सदियों की अतीत गाथा दोहरा रहा था। इस हाट में अतीत का साक्षात्कार एक नया स्वाद-भरा अनुभव था।

कुछ और बढ़ा। सूने टप्पर के नीचे एक काली लड़की बैठी थी—चिंगड़ी माछ लिये हुए चेहरे पर भूख की छाप, आँखें काले गड्ढों में धँसी हुई। देह पर शायद सब मिलाकर ढाई-तीन हाथ का चिगली लगा टुकड़ा। रूखे बालों की लटों पर

मक्खियों की भिनभिन। जिस कच्चू के पत्ते पर मछलियों का ढेर, उसके पास ही नंगी धरती पर उसका नंगा बच्चा हाथ-पाँव फेंकता पड़ा खेल रहा था। कब उस माँ की वे मछलियाँ बिकती हैं, कौन जाने। और वह आदमी जो गमछा फैलाये दो-डेढ़ सेर लाल चावल लिये बेचता बैठा वह भी कुछ नगद पैसा पाने के लालच में घर-भर के मुँह का कौर व्यवसाय पर चढ़ाये जा बैठा था। इस बाजार में अब के विक्रेता ऐसे हैं जो बुरे दिनों का भयानक चेहरा देखते हुए जी रहे हैं। यहाँ के इस इतने फैले हुए बाजार में भी विस्तार दारिद्रय का ही था।

गाजी की बातें यहाँ भी नहीं चलीं। एक से बोला, "तुम सोरेन की बहू हो ना?"

चेहरे पर हँसी खिल आयी।

बहू ने हँसकर कहा, "कब आये?"

"आज ही। आज ही लौट भी जाऊँगा। सोरेन मजे में तो है?"

"वह मजे में कब नहीं रहा। देखो जाकर भरी हँड़िया पी के पड़ा है।"

दोनों हँस दिये। बहू ने गाजी के साथी को एकाध बार देख लिया।

गाजी ने कहा, "अरे, तू कब तक यह मछली बेचती रहेगी? जा घर और इन्हें ही भूनकर दोनों पति-पत्नी मिलकर रहो।"

फिर दोनों हँस पड़े। बहू ने कुछ कहा नहीं। दो-एक बातें और थोड़ी-सी मुसकान।

पर इसी से एक परिवार की समूची तसवीर आँखों के सामने तैर गयी। गाजी ने थोड़ा आगे बढ़कर कहा, "देखा बाबू, सन्थालन-बहू बाजार में बैठी है और मुआ मरद घर में, नशे में धुत्त पड़ा है।"

"वह सन्थाली है?" मैंने पूछा।

"बस नाम से ही, जमना तो यहीं है।"

जो सम्भव नहीं, वह भी मानना पड़ा। लेकिन गले में ऐसी खनकती हँसी कहाँ से दबाये रखती है। घर का भात हँड़िया में बदल गया है। पति चित्त पड़ा है। पालने का शिशु हाट में लोट रहा था, कच्चू के पत्ते पर छोटी-छोटी चिंगड़ी माछ पड़ी है। फिर भी यह खिलखिलाहट जो मर नहीं सकती, अमर है।

इसके बाद सामने ही मैंने देखा: धान का पहाड़-सा खड़ा था। शहर के किसी भी एक मंजिले मकान जितना ऊँचा। और एक-दो नहीं, धान के ऐसे कई-कई टीले।

गाजी ने बताया, "यहाँ धान-चावल की कई आढतें हैं। और बाबू यह तो कुछ भी नहीं। कभी हाट के दिन आकर देखिए।"

इतनी सूचना देकर वह फिर दूसरी ओर छिटक गया और बातचीत में लग

गया। सोरेन की बहू उसके साथ हँस रही थी। आढ़तिया भी उसे घूर रहा था और पान चबाते हुए गाज़ी से हँस-हँसकर पूछ रहा था, "अरे गाज़ी, बहुत दिनों बाद दिखे!"

ठीक इसी समय मैंने हारमोनियम का स्वर सुना। जितने ज़ोर से वह बज रहा था, उतनी ही ऊँची आवाज़ में काँसे का थाल बजाती हुई एक लड़की गा रही थी: "प्रेम किया भाई, संग लिया ना....ना....आ....आ....आ.... !"

"कौन है? सखि कौन है, जो यमुना किनारे बंसी बजा रहा है?"

सुन्दरवन के इलाक़े में, इस हाट के बीच, क्या यह भी ठीक वैसी ही जगह है? दुकानों का जमघट, धान-चावल की आढ़तें! लेकिन इन सबके बीच इतने ऊँचे, लेकिन महीन, स्वर में कौन हारमोनियम बजा रहा है! बजा ही नहीं रहा, गा भी रहा है। किसी स्त्री का स्वर है! आवाज़ से ऐसा ही लगा। हर शब्द की अनुनासिक-ध्वनि से पता चलता कि गला जैसे किसी धातु में ढला हुआ था। उस समय से एक ही पंक्ति सुनाई पड़ रही है—'प्रेम किया भाई, संग लिया ना!......'

यहाँ यह 'भाई' उद्बोधन विशेष विचार्य है। इस 'भाई' के कई-एक अर्थ हैं। परिस्थिति और परिवेश-वश कौन किसे नहीं कहता है 'भाई'। प्रेमी और प्रेमिका भी अपनी अंतरंग बातचीत में—'भाई' हो जाते हैं। इस गायिका का 'भाई' कौन है। किसे यह उलाहना दिया जा रहा है—कौन जाने!

गाज़ी पास ही था और पैदल चलते-चलते बातें करता जा रहा था। आढ़तिया बाबुओं को किसी काम को निपटाने की कोई जल्दबाज़ी नहीं थी। सामने धान का अम्बार, मजदूर काम में जुते हुए। तराज़ू पर माल का वज़न हो रहा था। बाहर का धान भीतर रखा जा रहा था। कुछेक लोग बही-खाता खोले हिसाब-किताब लिख रहे थे। ऐसे दिनों में केवल संग्रह होता है। अभी ख़रीदोराम फिर बेचोराम। और फिर मुनाफ़ा और लालचराम की बारी। नुक़सानराम कब गरदन धर दबोचे कुछ नहीं कहा जा सकता। ख़रीद-फ़रोख़्त के बीच नफ़ा-नुक़सान का ज्वार-भाटा बाहर से दीख नहीं पड़ता। यहाँ आढ़तियों के चेहरों पर ज्वार-ही-ज्वार उमड़ रहा था। दिगन्त तक फैले खेत ही इसके साक्षी थे। धरती माता परिपूर्ण हैं—बस, वह फलती-फूलती रहे। ज्वार के सारे तिथि-पंचांग का

निर्धारण तो बस वही करती है।

"तुम्हारे साथ यह कौन है गाजी !"

आढ़तिया महाजन और महाशय—ये सभी केवल आँखों से देखकर ही निर्विकार नहीं रह सकते। हाट का दिन होता तो और बात थी। भीड़ में कितने ही लोग आते-जाते रहते हैं—जाने-अनजाने सभी। लेकिन कभी-कभार ऐसे बेतुके दिनों में भी—अजनबी लोगों के अचानक दीख जाने पर, एकदम चुपचाप नहीं रहा जा सकता। इसीलिए यह पूछताछ हो रही थी। गाज़ी का एक वही जवाब—"बाबू घूमने निकले हैं।"

किसी-किसी आढ़तिया की त्योरियों पर बल पड़ गये। उनकी आँखें गाज़ी के इस बाबू की माप-जोख में व्यस्त थीं। अचरज कैसे न हो भला! यह कोई तुम्हारा महानगर या भारी भरकम पोत-पत्तन नहीं। गंगा के घाट-पाट और गंज-गली में भी कोई घूमने आता है क्या! एक बूढ़े आढ़तिया हुक्का खींच रहे थे...गुड़ुक...गुड़ुक। हँसकर बोले—"यहाँ क्या देखेंगे भला! यही धान और चावल।"

रास्ते पर घूमते रहने का यदि यही एक कारण हो तो भी इन पापिन आँखों को यह सब देख पाना भी कहाँ नसीब होता है। अपने इलाके में धान-चावल भी इस रूप में कहाँ दिखाई पड़ते हैं। फिर भी, सीधे-सरल शब्दों में उत्तर देना पड़ा—"बस, इसी बहाने नयी-पुरानी जगहों को देख लेता हूँ, और क्या ?"

"हाँ, सो तो है।" बूढ़े आढ़तिया ने हुक्के की नोल मुँह से हटायी : "जहाँ भी जाइएगा—इधर खेत है तो उधर पानी। बीच में बाजार। बैठिए, आप खड़े क्यों हैं ?"

"नहीं, बैठूंगा नहीं।" बैठना चाहता भी न था। यद्यपि बूढ़े सज्जन ने बड़े आदर से पास बुलाया था। मैं औपचारिक ढंग से धन्यवाद देता हुआ बोला, "नहीं, बैठ नहीं पाऊँगा। जरा घूम-फिरकर देख लूँ।"

आढ़तियाजी पोपले मुँह में हँसी भरकर बोले, "देखिए, मगर यहाँ देखने को है भी क्या! हाट के दिन आते तो देखते कितनी साग-सब्जियाँ, धान-चावल लदकर जाते हैं और उसके साथ गाय, भेड़-बकरी ही नहीं, आदमी भी।"

"आदमी भी ?" मुझे आश्चर्य हुआ।

"इसमें अजरज की कौन-सी बात है बाबू! क्या सिर्फ धान-चावल, साग-सब्जी और पशु-पक्षी ही बिकते हैं, आदमी नहीं बिकते? कितने ही आदमी अनजान जगहों पर चालान किये जा रहे हैं। उनके बैठने का ठाँव आखिर है कहाँ ? हाट के दिन आते तो देखते कि भरी हुई नौकाएँ कहाँ गुम हो जाती हैं। अब इसे बिकना कहा जाये या नहीं। पेट के धन्धे में पड़कर पता नहीं कहाँ चले

जाते हैं इतने सारे लोग ! थोड़ी-सी तम्बाकू पीजिए न !"

कोई दूसरी जगह होती तो मैं उनकी बातों को मजाक में उड़ा देता। कम-से-कम उस मौक़े पर तो अवश्य ही जब कोई हुक्का पीने की दावत दे। लेकिन भूल गया—किसी की उम्र से ही उसकी शालीनता पर विचार नहीं किया जा सकता। राह चलता मुसाफ़िर था, दूध पीता बच्चा नहीं। जब खुद सौंट रहे थे तो सामने खड़े सज्जन को पीने के लिए न पूछना तो अच्छा नहीं दीखता। उस पर ठहरा मैं एक बाहरी आदमी। मैंने कहा, "नहीं, नहीं, मैं तम्बाकू नहीं पीऊँगा।"

"अरे ओ विश्वास महाशय ! ये तम्बाकू नहीं पीते, सिगरेट पीते हैं—सिगरेट !" गाजी ने हँसते हुए कहा।

विश्वास महाशय गरदन हिलाते हुए बोले, "फिर भी, पूछ लेना हमारा कर्तव्य है।"

मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ आया। लेकिन उस बूढ़े सज्जन ने आदमी के बिकने की जो बात बतायी उसे मैं भूल न पाया। मैं सोचता रहा : क्या धान-चावल, गाय-भेड़ की तरह आदमी भी बिकते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं है। ठीक है आदमी श्रम के हाथों बिक जाये। पर, यह भी एक तरह का बिकना ही है ! इतनी दूर, इस भेड़ी-बाँध के खारे किनारे हाट में, रोजमर्रा की बातचीत में भी—पता नहीं, किस प्रकार की निर्ममता पनप रही है। और इस प्रकार की यह निष्ठुरता भी शायद एकदम अकारण या मिथ्या नहीं।

लेकिन इस बीच वह गीत कहाँ खो गया ? हारमोनियम के मद्धिम स्वर पर थिरकती वह पंक्ति—'प्रेम किया भाई, संग लिया न...।' मैं जबतक गाजी से पूछता कि इस बीच जैसे हाहाकार मच गया। मैं समझ न पाया कि यह जलजला-सा किधर से आया। एक मोटा तगड़ा आदमी, आयु यही कोई तीस के आसपास होगी—उघरी हुई देह, हमारे पीछे-पीछे पागल की तरह दौड़ता हुआ आया। उसके धर-पकड़ने की कोशिश में कई-एक लोग आपा-धापी कर रहे थे। लेकिन उसके पराक्रम के सामने सब बेकार। वह आदमी इतने जोर से चिल्लाया जैसे पूरा आकाश गुंजा देना चाहता हो, "नहीं, छोड़ दो मुझे। छोड़ो ! आज मैं उसका खून पिये बिना नहीं मानूँगा।"

किसका खून पीना चाहता था वह ! मेरी दृष्टि गाजी पर गयी। गाजी उस पागल की तरफ़ देख रहा था। इस अपरिचित इलाक़े में मैं गाजी के सिवा किसी को नहीं जानता था। लेकिन उसका ध्यान भी मेरी तरफ़ न था। वह जैसे अपने-आपसे कह उठा : "ये लो, यह पाल महाशय अचानक कैसे पगला गये। आखिर हो क्या गया !"

पाल महाशय इतनी देर में कुछ और आगे बढ़ आये थे। जो उन्हें रोके हुए थे, उनमें से एक ने कहा, "अरे भाई अनादि, ज़रा ठण्डे दिमाग़ से काम लो। तुम जाओ। हम देखेंगे कि आगे क्या करना है।"

बस यही कहना चाहिए कि हम भी अनादि के पास अनन्त काल की तरह चिपक गये। वह जिस तरह तेज़ी से दनदनाता हुआ आया कि मुझे सामने से एकदम हट जाना पड़ा। वह और आगे बढ़ा। जो उसे सँभाले हुए थे, वे भी आगे बढ़े। तालाब के बग़ल में सँकरी-सी पगडण्डी थी और उसके दोनों ओर मकान थे। हम चूँकि किसी के घर में घुस नहीं सकते थे, इसलिए गाज़ी के साथ मैं भी उसे सँभालनेवाली भीड़ के धक्के खाता रहा। मैंने गाज़ी से पूछा, "बात क्या है, वह किसका खून पीना चाहता है ?"

गाज़ी के लिए यह तमाशा मुझसे भी अधिक अनूठा और चिन्तनीय था। उसने अनादि की तरफ़ देखकर कहा, 'मैं खुद नहीं समझ पा रहा हूँ बाबू। बस यही समझ लीजिए कि मामला बहुत गड़बड़ है। चलिए, देखते हैं। जहाँ तक मुझे पता है, आदमी तो भला ही है!"

गाज़ी का सारा दिन तो मुरशेद के नाम-जप और बाबू के सत्संग में ही कट गया। लेकिन मैं न तो गुरु को जानता हूँ न मुरशेद को। कहाँ जा रहा हूँ, क्यों जा रहा हूँ, किसको खोज है, इसका भी पता नहीं। बस इतना ही जानता हूँ कि इतनी दूर बादा के बाज़ार में आकर, मुझे इस प्रकार के खून-खराबे में कोई रुचि न थी। इसीलिए मैंने मना करते हुए कहा, "तुम जाओ, मैं मारपीट नहीं देखना चाहता।"

गाज़ी मुझमें विश्वास जगाते हुए बोला, "ओ हो, बाबू! इसमें डरने की कौन-सी बात है भला! आप आइए तो सही। देखें क्या बात है ?"

भय तो नहीं, दुश्चिन्ता अवश्य थी। जिन परेशानियों को पीछे छोड़ आया था—इतनी सारी चिल्ल-पों और आपाधापी में, वे परेशानियाँ यहाँ भी उपस्थित हैं। कौन जानता है कि उसकी दुश्मनी किसके संग ठनी है। जिसमें मेरा हाथ नहीं, वहाँ मेरा काम भी नहीं! यह अनादि पाल, अगर वह किसी की हत्या भी कर दे तो मुझे विश्वास नहीं कि मैं उसे रोक पाऊँगा। फिर जाना बेकार था। कौतूहलवश ? नहीं, अब वह कौतूहल भी शेष नहीं रहा। वह सब भी मैं अपने जनपद और सम्बन्धित समाज की सीमा में छोड़ आया था। वहाँ जहाँ मैं कुछ कर सकता था या कह सकता था। वहाँ मेरे कौतूहल का कोई अर्थ होता। जिज्ञासा का कोई उद्देश्य होता। आज तो मेरी भूमिका किसी दूसरे परिवेश की सीमा में बद्ध है। इसलिए मुझे आज अनादि पाल के पागलपन से कुछ लेना-देना न था।

पर नहीं देखना या नहीं चाहना—यह सब अपनी मरज़ी से सम्भव नहीं।

वह नाम-मजूरा गाजी अपने खुरदरे हाथों में बाबू का हाथ पकड़कर खींचता हुआ ले चला : "तुम भले ही लाख हाथ छुड़ाओ, पर अब तुम्हें कौन छोड़े ? कैसे छोड़ दूँ भला !" गजब का साहस है इस गाजी में। पता नहीं, यह इतना साहस कहाँ से जुटा लेता है ! उसके चिप्पियोंवाले अँगरखे की धूल से मेरा सारा शरीर भर गया। वह बात-ही-बात में मेरा हाथ पकड़कर ले चला। मान और अपमान का वहाँ कोई प्रश्न न था। बाबू जैसे उसके हाथ का खिलौना बन गया था, जहाँ मन हुआ वहाँ घसीट ले चले। मैंने चाहा कि अपना हाथ छुड़ाकर उसे डपट दूँ। पर इसके पहले ही एक दूसरा दृश्य दिखाई पड़ा। मैं हाथ झटकने की बात भूल गया। 'डाँट गले में ही अटककर रह गयी। मैंने देखा, एक घर के सामने, नीचे ड्योढ़ी पर एक लड़की पाँव लटकाये बैठी है। अनादिगाल और उसे रोकनेवाली भीड़ वहाँ आकर रुक गयी है।

यह मैं पहले ही बता दूँ कि मैं लड़कियों की उम्र पर कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता। पर उसे देखकर मुझे लगा कि वह युवती कन्या थी। परदेसी, इससे जरा दूर ही रहना। सावधान ! यह लड़की नहीं, कोई नागिन थी अपना फन काढ़े। उसकी परछाईं भी डोले तो समझो कि अब डँसनेवाली है। उसकी उनींदी आँखें सुलग रही थीं, जैसे रात भर जगी हो। मोटी-मोटी आँखें, थिर हुई ! लगा जैसे आग लपलपाती धारदार कटार हों, होठों पर पान की लाली सूख गयी थी। वह भी एक शान-चढ़ी कटार की तरह दिप रही थी। सीने में धधकती आग को होठों से भींचे हुए। ताजे पान से रँगे हुए होठों की लालिमा कुछ दूसरी ही होती है। उनमें रंग होता है, आग नहीं। मुख साँवला था, लेकिन उसपर गजब का पानी ! नाक लम्बी न थी, पर छोटी होती हुई भी नुकीली थी। नथुने हिल रहे थे, इसलिए नाक की लौंग का पत्थर भी रह-रहकर कौंध जाता था। सिर पर घूँघट न था। जूड़ा ढीला पड़ा हुआ। माँग का सिन्दूर भी मद्धिम हो चला था। माथे की बिन्दी कपाल तक फैल गयी थी। देह पर ब्लाउज न था, कसी हुई अँगिया थी। फूलों की छापेवाली हलकी और झीनी साड़ी पहन रखी थी। इसी से मिलता-जुलता फूलछापेवाला साया था। पाँवों का आलता कुछ फीका पड़ गया था। उसके सारे साज-सिंगार पर विषाद की काली छाया डोल रही थी। गले का हार और हाथ की चूड़ी से भी ऐसा ही कुछ आभास हो रहा था। लेकिन उसका हाव-भाव इन सबके सर्वथा विपरीत था। मैं समझ न पाया कि युवती की आँखें किस पर टिकी हैं। शायद किसी पर भी नहीं। नागिन की आँखें मानो अपनी ही छाया को बींध रही थीं।

वह जिस घर की ड्योढ़ी पर बैठी है उसके पीछे का दरवाजा बन्द था।

अनादिपाल की नजर वहीं लगी थी। उसे तीन-तीन आदमी पकड़कर नहीं रख पा रहे थे और वह ज़ोर लगाकर ड्योढ़ी पर चढ़ना चाहता था। मुँह से उसका क्रोध झर रहा था—"वह दरवाज़ा मैं लात मारकर तोड़ दूँगा। आज मैं उसका खून बहाकर ही दम लूँगा। मैं कहता हूँ अगर मरद है तो बाहर निकल! ज़रा मेरे सामने तो आकर बता! मैं भी तो देखूँ तेरी 'पिरीत की कुड़कुड़ी' फुदकन!"

उसे सँभालनेवाले दल में से ही किसी ने कहा, "छी-छी-छी....अनादि! तुम यह क्या कर रहे हो! हाट-बाज़ार के लोग हँस रहे हैं। इससे क्या मिल रहा है! तुम चलो तो सही। जो करना है, हम लोग कर रहे हैं।"

अनादिपाल का भैरव कण्ठ-स्वर फूट पड़ा, "जग हँसाई में और बाक़ी रहा क्या? सरे-बाज़ार थू-थू हो रही है। इसने मेरा ही नहीं, सारे खानदान का सिर नीचा किया है। मैं उसे आज छोड़ूँगा नहीं! नहीं, नहीं, बिलकुल नहीं। मैं कई बार इसे समझा चुका हूँ, अब नहीं। आज तो मैं उसे निपटाकर ही दम लूँगा।"

इतना कहकर वह फिर सबका हाथ छुड़ाता हुआ ड्योढ़ी पर चढ़ने की चेष्टा करने लगा, पर हाथ छुड़ा न पाया। उसने फिर हांक लगायी: "बाहर निकल दोग़ले, हरामज़ादे! ज़रा मैं भी तो देखूँ तेरी प्रीत फुदकती है या तेरी मौत।"

मैं कुछ समझ न पाया। बन्द घर में कौन है? किस पर यह गम्भीर चोटें की जा रही हैं। एक तरफ़ यह लड़की अपने पाँव लटकाये बैठी है, बीच में घर का दरवाज़ा बन्द है और उधर प्रेम को धिक्कारा जा रहा है। इसमें भी जैसे कोई जानी-पहचानी गन्ध है। घर में कौन छुपा है? कौन है यह युवती!

इस बीच और भी जन इधर-उधर से इकट्ठा हो गये। केवल एक ही बात समझ में नहीं आ रही। युवती की भाव-भंगिमा भी कुछ अजीब-सी लगी। उसकी जलती आँखों में आग थी और फन उठाकर डँस लेनेवाला तेवर। भिंचे हुए होठों से लग रहा था, वह इस भीड़-भरे हंगामे में अपनी हीनता से तमककर ऐसी बैठी है। और यदि मेरी पकड़ ठीक है तो मैंने इस एक बात पर विशेष ध्यान दिया कि अनादिपाल चाहे जितनी उछल-कूद मचाये, ड्योढ़ी तक चढ़कर दरवाज़े पर लात मारने में वह एकदम असमर्थ है। कहीं कोई ऐसा अंकुश है जो उसे रोके हुए है, पर साफ़ दीख नहीं पड़ता।

मुझे ऐसा लगा कि पाँव झुलाये बैठी यह युवती ही यह बन्धन है। इसने एक बार भी आँख उठाकर अनादिपाल की ओर नहीं देखा। अपनी सनक के

कहीं पाऊँ उसे

बावजूद अनादि इस ओर से सतर्क लगा। उसकी नजर भी इस पर नहीं।

मैंने गाजी की ओर देखा। गाजी की दृष्टि एक-एक कर सबके चेहरों पर दौड़ गयी। अभी तक वह दूसरी ही दुनिया में था।

अनादिपाल को सँभालनेवाले दल के एक आदमी ने फिर समझाया : "सुनो अनादि, पागल मत बनो! तुम जाओ। हम उसे बाहर निकाल लाते हैं। उसके बाद जो मन आये करते रहना। चलो, तुम यहाँ से चलो तो सही!"

मामला इतना आसान न था। उस पर खून जो सवार था—उसमें आग लगी थी। उसे झुठलाया नहीं जा सकता। अनादि का सारा धैर्य आज टूट चुका था। वह चीत्कार कर उठा, "नहीं, उसे लिये बिना मैं वापस नहीं जाऊँगा। आज या तो वह रहेगा या मैं। लम्पट....विष्टा का कीड़ा कहीं का! अभी उस दिन हरामजादे ने नाक रगड़कर क़सम खायी थी। पिछले हफ़्ते खुद लड़की देखकर आया है। मैं इसकी शादी करना चाहता हूँ और जनाब फिर यहाँ हाजिर....और क्या?

अनादिपाल ने फिर दोनों हाथ उठाकर कहा, "बलि दूँगा, आज मैं इस पट्ठे की बलि चढ़ा दूँगा। मैं कह रहा हूँ निकल!"

बड़ी विचित्र स्थिति थी। लगता है, आज सचमुच ही किसी की हत्या होकर रहेगी। जैसी गाली-गलौज हो रही थी, उससे तो कानों में आग लगी जा रही थी। इकट्ठे हो गये लोगों में से एकाएक किसी ने कहा, "अरी ओ दुलि! लगता है कोई हंगामा होकर रहेगा। तू उस छोकरे को बाहर क्यों नहीं बुलाती?"

युवती ने बोलने वाली की तरफ अपनी गरदन मोड़ी। उसका तेवर और भी बल खा गया। होठों की प्रत्यंचा कहीं अधिक टेढ़ी हो गयी। स्वर में भी जैसे कटार चमक रही थी : "जरा सुनो तो? दुलि उसे गोद में लिये घर में घुसी बैठी है क्या! जहाँ तुम सब खड़े हो, दुलि भी तो वहीं बैठी है।"

यह तो ठीक ही कहा उसने! दो-टूक बात। एकदम जीती-जागती दुलि—तुम्हारे सामने पाँव झुलाये बैठी है। दुलि—इसके नाम का तो पता चला। पर यह लड़की है कौन? इस घर के साथ इसका कौन-सा सम्बन्ध है। भीतर छुपा हुआ प्राणी कौन है जिसने नाक पकड़कर क़सम खायी थी कि अब यहाँ नहीं आऊँगा। उसकी शादी के लिए लड़की भी देख ली गयी है। फिर भी वह यहाँ आया है! इन सारी बातों से तो 'दुलि' नामक इस युवती के बारे में थोड़ा सन्देह होता है। इसके घर में बन्द प्राणी का शायद इससे कोई सम्बन्ध है। क्या पता, वह 'प्रीत' न हो, जो अनादि के अनुसार कुड़कुड़ाती-फुदकती है।

उसी वक्ता ने फिर रास्ता सुझाया, "नहीं, यह बात नहीं। तू छोकरे को

बाहर आने को बोल। वरना यहीं खून बह जायेगा।"

दुलि ने अपनी देह को हलके-से झटक दिया, मानो सारी विरक्ति-भावना का बोझ पटक दिया। होंठों को चबाती हुई वह बोली : 'मैंने उसे बुला तो नहीं भेजा। अपनी मरजी से यह घुसा है और अपनी ही मरजी से बाहर निकलेगा।" यह उसका फ़ैसला था और उसके इस फ़ैसले में कोई ग़लती नहीं दिखी। दुलि ने तो बुलाया तक नहीं और यदि वह अपनी ख़ुशी से आया हो तो उसे अपनी इच्छा से ही निकलने दो। इस बात में क्या खोट है। लेकिन ऐसा लगा कि भीतर ही भीतर कोई धारा बह रही है। जो ग़ोता मारना जानता हो वह देख ले ग़ोता लगाकर।

"घर तो तेरा है, तू नहीं तो और कौन बोलेगा—?" बोलनेवाले का स्वर इस बार तनिक रूखा था।"

अचानक नागिन ने अपनी गरदन हुलायी। उसकी आँखों की कटार अब लपलपा रही थी। घृणा फूटी पड़ रही थी। उसकी एक-एक साँस में फुफकार था। बोली, "घर मेरा हो सकता है, पर आना-जाना तो सबका लगा रहता है। मैं अपनी ज़ुबान से निकल जाने की बात कैसे कह सकती हूँ, भला बताओ। किसी गिरस्त का तो घर नहीं। यहाँ तो सभी का आना-जाना रहता है।"

यह कहते हुए घृणा-वितृष्णा में भरकर उसने अपना चेहरा तेज़ी से फिरा लिया। रात को बाँधे गये जूड़े की दो-एक लटें झटका खाकर खुल गयीं और उसमें चाँदी का एक रुपहला काँटा खुलकर काँधे पर झूलने लगा।

ख़ूब समझ-बूझकर इस पथिक को अपनी राह लेनी थी। अब पता चला, मैं बाज़ार के किस किनारे पर खड़ा था। यह भी एक हाट था—बेचने-ख़रीदने का। मेरे अन्तस् के किसी कोने में, इस बारे में कोई धारणा नहीं बन सकी थी। बस, इसका हलका-सा आभास ही था। मुझे इस ख़रीद-फ़रोख़्त के इतिहास का कुछ पता न था कि यह धन्धा कब से आरम्भ हुआ। लेकिन जब से इस दुनिया की ओर आँखें खुली हैं, तब से मैंने समाज और जनपद के इर्द-गिर्द इस हाट का बोलबाला देखा है। क्या पता, यह इसी सभ्यता का उपहार हो। मैं इसके विस्तार में नहीं जाऊँगा। जहाँ जितनी चमक-दमक है वहाँ उतनी ही नगर-नायिकाओं की भीड़ है। जहाँ जितना ताम-झाम है वहाँ नगर-विलासिनी वेश्याएँ भी भरी-पड़ी हैं। दुलि की बातों से ही स्पष्ट था : ऐसे इलाक़ों की ख़ूबियाँ अपने-आप बेनक़ाब हो जाती हैं। इस बीच हारमोनियम की महीन किन्तु द्रुत गति के बेसुरे स्वर और काँसे की थाली-सी टनकती आवाज़ ने चौंका दिया—'प्रेम किया भाई, संग लिया ना!' अब मेरा अन्तर जान पाया कि किस निकुंज से यह आवाज़ सुन पड़ी थी।

अब यहाँ खड़े होकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं हो रहा था। ना रीढ़ की हड्डी में कँपकँपी छूट रही थी, न लज्जा या संकोच से आहत था। क़तारों में खड़े इतने सारे मकानों में किनका वास है यह भी अब रहस्य नहीं था। लेकिन दुलि नाम की इस युवती की बातों ने अनादिपाल की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। लगा, उसके गले की उभरी शिरा या फिर माथे की नस तड़क उठेगी। पहले वह बुरी तरह झल्लाया और फिर ज़ोर से चिल्लाया, "अबे लुच्चे, सूअर! इस बार अब अगर बाहर नहीं निकला तो मैं यह दरवाज़ा तोड़कर रख दूँगा। भाइयो, तुम सब मेरे साक्षी हो!"

दुलि उसी क्षण नागिन की तरह बिफर उठी। आँखों की आग खून के छींटों की तरह सुलग उठी। दूसरी तरफ़ देखती हुई वह बोली, "घर का दरवाज़ा कोई हराम का नहीं। जब इस मकान में हूँ तो फिर इसकी देखभाल का, मरम्मत-मुरव्वत का काम मेरा है। सुना आप सभी ने?"

अब यह तय था कि खून होकर रहेगा। जो धार अब तक भीतर-ही-भीतर बह रही थी, उसमें विलासिनी दुलि ने ज्वार उठा दिया—सबके सामने। क्यों, जब घर में कोई गृहस्थ नहीं तो यह लड़की व्यर्थ का विवाद क्यों बढ़ा रही है?

वादी के इस हाट में मुझे कवि हाल के बिल्वमंगल और चिन्तामणि के दर्शन हुए। इस रूप के हाट में अरूप की आग भी कहीं धीरे-धीरे जलती है क्या? और यह प्रीत भी वही पुरानी प्रीत है क्या? बार-बार उस व्याकुल चिन्तामणि को लौटना पड़ता है इस धरती पर, क्योंकि बिल्वमंगल ने जाल फैला रखा है। दुलि की बातों से लगा कि वही क़िस्सा दोहराया जा रहा है। 'जब आने को नहीं कहा तो जाने के लिए क्यों कहूँ?' आख़िर इसका क्या मतलब है! यही न कि जो भीतर से बन्द है, वह वहीं पड़ा रहे!

"भीतर कौन है?" अब मैं गाज़ी से पूछे बिना नहीं रह सका।

गाज़ी ठहरा पूरा पाजी। उसकी आँखें अभी भी मिचमिचा रही थीं। धीरे से बोला, "वही पुराना क़िस्सा है बाबू! घर के अन्दर पाल महाशय का छोटा भाई अनन्तपाल है। मैं बाद में आपको सब कुछ बताऊँगा।"

तब तो यह वही अनादि-अनन्त काल की गाथा है। कोई नहीं बता सकता कि यह कब शुरू हुई और कब पूरी होगी। इससे तो अच्छा है कि यह खेल चलता रहे और हम किसी दूसरी ओर चल दें। जितना कौतूहल है वह मिट जाये—यही बहुत है। जितना कुछ बाक़ी है अब उसमें कोई आकर्षण नहीं। लेकिन इसी बीच, बहुतों ने अनन्त का नाम लेकर पुकारना शुरू कर दिया था। अनादिपाल भी चिल्ला रहा था। उसने फिर एक ज़ोर की हाँक लगायी, "तू अगर मेरे बाप का बेटा है तो निकल आ बाहर।"

बाहर आने को बोल ! वरना यहाँ खून बह जायेगा।"

दुलि ने अपनी देह को हल्के-से झटक दिया, मानो सारी विपदा-आपदा का बोझ पटक दिया। होंठों को चबाती हुई यह बोली : "मैंने उसे बुला तो नहीं भेजा। अपनी मरजी से वह घुसा है और अपनी ही मरजी से बाहर निकलेगा।" यह उसका फ़तवा था और उसके इस फ़तवे में कोई ग़लती नहीं दिखी। दुलि ने तो बुलाया तक नहीं और यदि वह अपनी खुशी से आया हो तो उसे अपनी इच्छा से ही निकलने दो। इस बात में क्या खोट है ! लेकिन ऐसा लगा कि भीतर ही भीतर कोई धारा बह रही है। जो ग़ोता मारना जानता हो वह देख ले ग़ोता लगाकर।

"घर तो तेरा है, तू नहीं तो और कौन बोलेगा—?" बोलनेवाले का स्वर इस बार तनिक रूखा था।"

अचानक नागिन ने अपनी गरदन डुलायी। उसकी आँखों की कटार अब लपलपा रही थी। घृणा फूटी पड़ रही थी। उसकी एक-एक साँस में फुत्कार था। बोली, "घर मेरा हो सकता है, पर आना-जाना तो सबका लगा रहता है। मैं अपनी जुबान से निकल जाने की बात कैसे कह सकती हूँ, भला बताओ। किसी गिरस्त का तो घर नहीं। यहाँ तो सभी का आना-जाना रहता है।"

यह कहते हुए घृणा—वितृष्णा में भरकर उसने अपना चेहरा तेज़ी से फिरा लिया। रात को बाँधे गये जूड़े की दो-एक लटें झटका खाकर खुल गयीं और उसमें चाँदी का एक रूपहला काँटा खुलकर काँधे पर झूलने लगा।

खूब समझ-बूझकर इस पथिक को अपनी राह लेनी थी। अब पता चला, मैं बाजार के किस किनारे पर खड़ा था। यह भी एक हाट था—बेचने-खरीदने का। मेरे अन्तस् के किसी कोने में, इस बारे में कोई धारणा नहीं बन सकी थी। बस, इसका हलका-सा आभास ही था। मुझे इस खरीद-फ़रोख्त के इतिहास का कुछ पता न था कि यह धन्धा कब से आरम्भ हुआ। लेकिन जब से इस दुनिया की ओर आँखें खुली हैं, तब से मैंने समाज और जनपद के इर्द-गिर्द इस हाट का बोलबाला देखा है। क्या पता, यह इसी सभ्यता का उपहार हो। मैं इसके विस्तार में नहीं जाऊँगा। जहाँ जितनी चमक-दमक है वहाँ उतनी ही नगर-नायिकाओं की भीड़ है। जहाँ जितना ताम-झाम है वहाँ नगर-विलासिनी वेश्याएँ भी भरी-पड़ी हैं। दुलि की बातों से ही स्पष्ट था : ऐसे इलाकों की खूबियाँ अपने-आप बेनक़ाब हो जाती हैं। इस बीच हारमोनियम की महीन किन्तु द्रुत गति के बेसुरे स्वर और काँसे की थाली-सी टनकती आवाज ने चौंका दिया—"प्रेम किया भाई, संग लिया ना !" अब मेरा अन्तर जान पाया कि किस निकुंज से यह आवाज़ सुन पड़ी थी।

अब यहाँ खड़े होकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं हो रहा था। न रीढ़ की हड्डी में कँपकँपी छूट रही थी, न लज्जा या संकोच से आहत था। क़तारों में खड़े इतने सारे मकानों में किनका बास है, यह भी अब रहस्य नहीं था। लेकिन दुलि नाम की इस युवती की बातों ने अनादिपाल की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। लगा, उसके गले की उभरी शिरा या फिर माथे की नस तड़क उठेगी। पहले वह बुरी तरह झल्लाया और फिर जोर से चिल्लाया, "अबे लुच्चे, सूअर! इस बार अब अगर बाहर नहीं निकला तो मैं यह दरवाजा तोड़कर रख दूँगा। भाइयो, तुम सब मेरे साक्षी हो!"

दुलि उसी क्षण नागिन की तरह बिफर उठी। आँखों की आग खून के छींटों की तरह सुलग उठी। दूसरी तरफ़ देखती हुई वह बोली, "घर का दरवाजा कोई हराम का नहीं। जब इस मकान में हूँ तो फिर इसकी देखभाल का, मरम्मत-मुरव्वत का काम मेरा है। सुना आप सभी ने?"

अब यह तय था कि खून होकर रहेगा। जो धार अब तक भीतर-ही-भीतर बह रही थी, उसमें विलासिनी दुलि ने ज्वार उठा दिया—सबके सामने। क्यों, जब घर में कोई गृहस्थ नहीं तो यह लड़की व्यर्थ का विवाद क्यों बढ़ा रही है?

वादी के इस हाट में मुझे कवि हाल के बिल्वमंगल और चिन्तामणि के दर्शन हुए। इस रूप के हाट में अरूप की आग भी कहीं धीरे-धीरे जलती है क्या? और यह प्रीत भी वही पुरानी प्रीत है क्या? बार-बार उस व्याकुल चिन्तामणि को लौटना पड़ता है इस धरती पर, क्योंकि बिल्वमंगल ने जाल फैला रखा है। दुलि की बातों से लगा कि वही क़िस्सा दोहराया जा रहा है। 'जब आने को नहीं कहा तो जाने के लिए क्यों कहूँ?' आख़िर इसका क्या मतलब है! यही न कि जो भीतर से बन्द है, वह वहीं पड़ा रहे!

"भीतर कौन है?" अब मैं गाजी से पूछे बिना नहीं रह सका।

गाजी ठहरा पूरा पाजी। उसकी आँखें अभी भी मिचमिचा रही थीं। धीरे से बोला, "वही पुराना क़िस्सा है बाबू! घर के अन्दर पाल महाशय का छोटा भाई अनन्तपाल है। मैं बाद में आपको सब कुछ बताऊँगा।"

तब तो यह वही अनादि-अनन्त काल की गाथा है। कोई नहीं बता सकता कि यह कब शुरू हुई और कब पूरी होगी। इससे तो अच्छा है कि यह खेल चलता रहे और हम किसी दूसरी ओर चल दें। जितना कौतूहल है वह मिट जाये—यही बहुत है। जितना कुछ बाक़ी है अब उसमें कोई आकर्षण नहीं। लेकिन इसी बीच, बहुतों ने अनन्त का नाम लेकर पुकारना शुरू कर दिया था। अनादिपाल भी चिल्ला रहा था। उसने फिर एक जोर की हाँक लगायी, "तू अगर मेरे बाप का बेटा है तो निकल आ बाहर।"

बाहर आने को बोल ! वरना यहाँ खून बह जायेगा ।"

दुलि ने अपनी देह को हलके-से झटक दिया, मानो सारी विपदा-आपदा का बोझ पटक दिया। होंठों को चबाती हुई वह बोली : "मैंने उसे बुला तो नहीं भेजा। अपनी मरजी से वह घुसा है और अपनी ही मरजी से बाहर निकलेगा।" यह उसका फ़तवा था और उसके इस फ़तवे में कोई ग़लती नहीं दिखी। दुलि ने तो बुलाया तक नहीं और यदि वह अपनी खुशी से आया हो तो उसे अपनी इच्छा से ही निकलने दो। इस बात में क्या खोट है ! लेकिन ऐसा लगा कि भीतर ही भीतर कोई धारा बह रही है। जो ग़ोता मारना जानता हो वह देख ले ग़ोता लगाकर।

"घर तो तेरा है, तू नहीं तो और कौन बोलेगा—?" बोलनेवाले का स्वर इस बार तनिक रूखा था।"

अचानक नागिन ने अपनी गरदन डुलायी। उसकी आँखों की कटार अब लपलपा रही थी। घृणा फूटी पड़ रही थी। उसकी एक-एक साँस में फुफकार था। बोली, "घर मेरा हो सकता है, पर आना-जाना तो सबका लगा रहता है। मैं अपनी जुबान से निकल जाने की बात कैसे कह सकती हूँ; भला बताओ! किसी गिरस्त का तो घर नहीं। यहाँ तो सभी का आना-जाना रहता है।"

यह कहते हुए घृणा–वितृष्णा में भरकर उसने अपना चेहरा तेजी से फिरा लिया। रात को बाँधे गये जूड़े की दो-एक लटें झटका खाकर खुल गयीं और उसमें चाँदी का एक रूपहला काँटा खुलकर काँधे पर झूलने लगा।

खूब समझ-बूझकर इस पथिक को अपनी राह लेनी थी। अब पता चला, मैं बाज़ार के किस किनारे पर खड़ा था। यह भी एक हाट था—बेचने-खरीदने का। मेरे अन्तस् के किसी कोने में, इस बारे में कोई धारणा नहीं बन सकी थी। बस, इसका हलका-सा आभास ही था। मुझे इस खरीद-फ़रोख्त के इतिहास का कुछ पता न था कि यह धन्धा कब से आरम्भ हुआ। लेकिन जब से इस दुनिया की ओर आँखें खुली हैं, तब से मैंने समाज और जनपद के इर्द-गिर्द इस हाट का बोलबाला देखा है। क्या पता, यह इसी सभ्यता का उपहार हो। मैं इसके विस्तार में नहीं जाऊँगा। जहाँ जितनी चमक-दमक है वहाँ उतनी ही नगर-नायिकाओं की भीड़ है। जहाँ जितना ताम-झाम है वहाँ नगर-विलासिनी वेश्याएँ भी भरी-पड़ी हैं। दुलि की बातों से ही स्पष्ट था : ऐसे इलाक़ों की खूबियाँ अपने-आप बेनकाब हो जाती हैं। इस बीच हारमोनियम की महीन किन्तु द्रुत गति के बेसुरे स्वर और काँसे की थाली-सी टनकती आवाज ने चौंका दिया—'प्रेम किया भाई, संग लिया ना !' अब मेरा अन्तर जान पाया कि किस निकुंज से वह आवाज सुन पड़ी थी।

अब यहाँ खड़े होकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं हो रहा था। ना रीढ़ की हड्डी में कँपकँपी छूट रही थी, न लज्जा या संकोच से आहत था। क़तारों में खड़े इतने सारे मकानों में किनका बास है यह भी अब रहस्य नहीं था। लेकिन दुलि नाम की इस युवती की बातों ने अनादिपाल की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। लगा, उसके गले की उभरी शिरा या फिर माथे की नस तड़क उठेगी। पहले वह बुरी तरह झल्लाया और फिर ज़ोर से चिल्लाया, "अबे लुच्चे, सूअर! इस बार अब अगर बाहर नहीं निकला तो मैं यह दरवाज़ा तोड़कर रख दूँगा। भाइयो, तुम सब मेरे साक्षी हो!"

दुलि उसी क्षण नागिन की तरह बिफर उठी। आँखों की आग ख़ून के छींटों की तरह सुलग उठी। दूसरी तरफ़ देखती हुई वह बोली, "घर का दरवाज़ा कोई हराम का नहीं। जब इस मकान में हूँ तो फिर इसकी देखभाल का, मरम्मत-मुरव्वत का काम मेरा है। सुना आप सभी ने?"

अब यह तय था कि ख़ून होकर रहेगा। जो धार अब तक भीतर-ही-भीतर बह रही थी, उसमें विलासिनी दुलि ने ज्वार उठा दिया—सबके सामने। क्यों, जब घर में कोई गृहस्थ नहीं तो यह लड़की व्यर्थ का विवाद क्यों बढ़ा रही है?

चांदी के इस हाट में मुझे कवि हाल के बिल्वमंगल और चिन्तामणि के दर्शन हुए। इस रूप के हाट में अरूप की आग भी कहीं धीरे-धीरे जलती है क्या? और यह प्रीत भी वही पुरानी प्रीत है क्या? बार-बार उस व्याकुल चिन्तामणि को लौटना पड़ता है इस धरती पर, क्योंकि बिल्वमंगल ने जाल फैला रखा है। दुलि की बातों से लगा कि वही क़िस्सा दोहराया जा रहा है। 'जब आने को नहीं कहा तो जाने के लिए क्यों कहूँ?' आख़िर इसका क्या मतलब है! यही न कि जो भीतर से बन्द है, वह वहीं पड़ा रहे!

"भीतर कौन है?" अब मैं गाज़ी से पूछे बिना नहीं रह सका।

गाज़ी ठहरा पूरा पाजी। उसकी आँखें अभी भी मिचमिचा रही थीं। धीरे से बोला, "वही पुराना क़िस्सा है बाबू! घर के अन्दर पाल महाशय का छोटा भाई अनन्तपाल है। मैं बाद में आपको सब कुछ बताऊँगा।"

तब तो यह वही अनादि-अनन्त काल की गाथा है। कोई नहीं बता सकता कि यह कब शुरू हुई और कब पूरी होगी। इससे तो अच्छा है कि यह खेल चलता रहे और हम किसी दूसरी ओर चल दें। जितना कौतूहल है वह मिट जाये—यही बहुत है। जितना कुछ बाक़ी है अब उसमें कोई आकर्षण नहीं। लेकिन इसी बीच, बहुतों ने अनन्त का नाम लेकर पुकारना शुरू कर दिया था। अनादिपाल भी चिल्ला रहा था। उसने फिर एक ज़ोर की हाँक लगायी, "तू अगर मेरे बाप का बेटा है तो निकल आ बाहर।"

मैंने सोचा था—भला कटहल की लकड़ी का यह दरवाजा खुलेगा भी? कहीं दुलि के कसे होठों की तरह ही वह भिचा न रहे! लेकिन सारे बन्धन तार-तार हो गये। हुड़का खट से खुला। अनन्तपाल ड्योढ़ी पर आकर खड़ा हो गया। दोनों भाइयों के चेहरे एक-जैसे थे। बस उम्र में ही थोड़ा अन्तर था। अनन्त का सिर झुका हुआ था और आँखें जमीन पर गड़ी। जैसे कोई चोर रंगे हाथ पकड़ा गया हो। लेकिन उसे प्रमाणित तो करना था कि वह अनादिपाल के बाप का ही बेटा है।

वहाँ खड़े हर-एक के चेहरे पर सन्तोष का भाव था। क्यों न हो, सिर पर सवार एक बुरी बला टल गयी। उस समय दुलि की दर्प-भरी आँखों की अबूझ चमक देखने लायक़ थी। उसने चुपचाप अपनी गरदन फिरा ली। उसके होठ खुल गये। नाक की लौंग का पत्थर दो-एक बार झिलमिला उठा। जैसे बुरा सपना देखने के बाद नींद टूट जाये और भयभीत आँखों में उसकी छाया ठहर जाये।

इसी बीच अनादिपाल को उसके साथी ठेलते हुए ले चले : "चलो, चलो! अब जो भी फ़ैसला करना हो, बाद में करते रहना। अब जब कि वह बाहर निकल आया है, बेकार झमेला बढ़ाने से क्या फ़ायदा!"

अनादिपाल जीत गया था। उसने एक विजेता के पराक्रम से वापस लौटते हुए अपने बाप के जाये की तरफ़ एक बार फिर घृणा की दृष्टि से देखा। अनन्त भी भारी क़दमों से आगे बढ़ता चला आ रहा था।

दुलि ने फिर अपना सर्प-फन उठाया। वह चोट खायी तिलमिलाती नागिन की तरह बिफरी थी, इसलिए और भी भयंकरी हो उठी थी। आँखों की आग अब भड़क उठी थी। उसका सारा शरीर दहक रहा था। वह फूत्कार छोड़ती हुई बोली, "ठहरो!"

अनन्त खड़ा हो गया। दुलि बिजली की तरह भीतर गयी। क्षण ही लगा कि बाहर ड्योढ़ी पर आकर सारा सामान पटक दिया। उसमें एक नयी साड़ी, मनीहारी की कुछ चीजें—हिमानी, पाउडर और आलता। एक रूमाल भी था जिसमें कुछ रुपये बँधे हुए थे। एक ठोंगा भी था जिसमें खाने की चीजें थीं। दरवाजे के पास एक बार फिर उसका चेहरा झलका। आवाज आयी—"वह सब साथ ले जाओ। जरा भी शरम हो तो इधर मुँह काला मत करना।"

दूसरे ही क्षण तेज आवाज के साथ दरवाजा बन्द हो गया। लेकिन दुलि की आँखों में कौंधती चमक मुझे गंगा के कछार की तरह मालूम हुई।

मैंने सोचा था, बिल्वमंगल अनन्तपाल दरवाजा खोलकर अपने भैया को एक ही बाप की सन्तान होने का प्रमाण देकर चला जायेगा। लेकिन जब ड्योढ़ी पर उपहार की डाली पटक दी गयी तो अनन्त थम गया। कहीं अनादिपाल के पुरुषार्थ से दरवाजे खुलवाने की सारी युक्ति ही खोयी न हो जाये! अनन्त फिर वहीं बन्द दरवाजे की ओर न दौड़ पड़े! इस तमाशे के आरम्भ होने के पहले हमारा यहाँ से खिसक जाना ही बेहतर होता। जो भीड़ में शामिल थे उनके चेहरे भी तमतमा रहे थे।

ठीक इसी समय अनादि के दल के एक आदमी ने चिढ़ाते हुए कहा, "देखा अनन्त! बाजारू औरतों का मिजाज ऐसा ही होता है। सबके सामने बेइज्जत कर देती हैं।"

वापस लौटते हुए ऐसी बातें कानों को नहीं सुहातीं। उसे सुनते ही बिल्व-मंगल का तेवर भी कुछ अजीब-सा हो उठा। उसका सीना तन गया और चेहरा दिप गया। मानी को सचमुच ही अपमान करनेवाली बात छू गयी। ऊँचे स्वर में ललकारते हुए वह बोला, "इसमें इतनी शेखी बघारने की क्या जरूरत है? पहले तो मेरे मुँह पर ही सामान पटक दिया, फिर मुझे दुतकार रही है? मैं भी यह क़सम खाकर जा रहा हूँ कि इस दरवाजे की तरफ़ थूकूँगा भी नहीं।"

यह कहते हुए वह दौड़ पड़ा। दरवाजे की ओर नहीं, उपहार सामग्री की ओर। और दोनों हाथों से उसे बटोरने लगा।

अपना परिवेश होता तो मैं इतनी सहजता और कौतूहल से यह सब देख न पाता। कहा गया है न, अपरिचय का दायरा किसी भी सीमारेखा में नहीं बँधता। उसका कोई दायित्व भी नहीं होता। सारा गोलमाल तो इस जान-पहचान में है। यह परिचय की तमाम बेड़ियों को कस देता है। अपरिचितों की इस भीड़ में, मेरा न कोई दोष था, न दायित्व।

वैसे दायित्व न भी हो, लेकिन दादा की इस बिल्वमंगल वाली घटना से मैं अपने आपको लज्जित-सा अनुभव कर रहा था। सिर स्वतः ही झुका जा रहा था और अन्तर धिक्कार उठा था—'छी...छी....छी...।' एक दर्शक के रूप में

करता भी गया। या फिर मैं इन सारे हंगामों में शामिल हो जाता। घर से प्रेमी का निकल आना एक तरह से ठीक ही था। यहाँ तक तो उसमें एक बहती हुई धारा का आवेग था। लेकिन तब उसने अपना पाँव कीचड़ में डाल दिया था।

यह वृत्तान्त अब भी समाप्त नहीं हुआ। मैंने देखा, दरवाज़ा फिर एक बार धड़ाम से खुला—दुलि की फूत्कार के साथ : "अपनी क़सम याद रखना और फिर अपना मुँह इधर मत करना।" और दरवाज़ा दुगुनी आवाज़ के साथ फिर बन्द हो गया। मुझे इसमें कोई सन्देह न था कि दुलि की आँखों में जो कछारी धार थी उससे उसका काजल धुल चुका था।

"नहीं आऊँगा...नहीं आऊँगा....नहीं आऊँगा।"

बार-बार खायी गयी ऐसी क़समें ही प्रेमी की शोहरत का ढिंढोरा पीटती हैं। अपनी छाती पर सारी उपहार-सामग्री लादकर वह ड्योढ़ी से नीचे पैर बढ़ाने लगा। उसके साथ और भी कई लोग हो गये थे। किसी ने फब्ती कसी, "घर का माल घर में ले जाओ, काम देगा।"

इस जैसे मोहल्ले में, ऐसा तमाशा मैंने पहले कभी नहीं देखा था। लेकिन इसमें सिर्फ़ तमाशा ही था, आनन्द नहीं। भीतर-ही-भीतर मुझे स्वयं लज्जा का अनुभव हो रहा था। ऐसा अनुभव जहाँ ग्लानि और धिक्कार का मिला-जुला भाव था, साथ ही एक तरह की उदासी भी छा गयी। गहरी साँसें बोझ लगने लगी। प्रकाश के वृत्त में अँधेरा-सा छा गया। जैसे किसी लपकते-झपकते ताल-स्वर में अचानक किसी वाद्य का लम्बा आलाप छिड़ जाये। आँखों के आगे गंगा के छलकते मुहाने की तरह काजल धुली दो आँखें उमड़ती रहीं।

'इसको कहते हैं मरना,' गाजी बोल उठा।

मैंने गाजी की ओर दृष्टि की। उसके लाल-लाल दाँत, लेकिन उसकी उन आँखों में, जहाँ इछामती बल खाती थी वहाँ अवसाद की काली छाया गहरा रही थी। वहाँ अब गाजी के पाजीपने की झलक नहीं थी। मेरी ओर देखकर वह बोला, "आप समझे बाबू! मरना इसी को कहते हैं। इसीलिए मुरशिद ने कहा है—किया, किया भई, सब कुछ किया। मौत आयी और कब चल दिया—यह तू जान न पाया!"

आस-पास खड़े सारे-के-सारे तमाशाई दुलि और अनन्त की कहानी में अपनी टिप्पणी जोड़ने में व्यस्त थे। उसकी बात को कोई नहीं सुनता। मैंने पूछा, 'किसकी मौत?'

"जो मर गया, उसकी।" कहते हुए गाजी की आँखों का आईना झिलमिला उठा। अब वहाँ वह काली छाया नहीं थी। बोला, "मौत तो जानते होंगे बाबू!

इसी तरह किसी ने ताड़ पर लटक कर मर जाना चाहा था। इसको कहते हैं जीते-जी मर जाना।"

मैंने भानुसिंह की पदावली में पढ़ा था—'री मौत, तू भी मेरे कान्हा की ही तरह।' ऐसी मृत्यु में सुख है या दुख, मुझे इतना ज्ञान कहाँ? फिर भी, गाजी के कथन में अगर किसी की मौत हुई हो तो वह निश्चय ही बाजार में बैठी दुलि होगी। नहीं तो बीच बाजार में जो लड़की अपने रूप की दुकान सजाकर बैठी हो वह किसी नगद रक़म की आशा से ही तो। मजूरी हो या उपहार—क्यों उसने वह सारा-का-सारा उठाकर फेंक दिया। मर्यादाएँ तोड़ जिसने सीधे मर्म-स्थल को आहत किया। फन काढ़े, पाँव लटकाये ड्योढ़ी पर बैठी रही, दरवाज़ा खुलते ही जिसके सीने में ज्वार उमड़ पड़ा—उसका फन आखिर क्यों ढीला पड़ गया, चेहरे पर उदासी छा गयी और अन्तर में उठनेवाले बादल आँखों की नदिया में आ ढले! अन्धकार में अपनी अन्तर्दाह लिये वह मुँह छुपाये बैठी होगी—क्या इसी को वेश्याओं का कोठा कहते हैं!

समाज भी अनादि-अनन्त जैसे लोगों को लेकर है। मैंने अपने मन को समझाया: तुम इस घड़ी अपने सामाजिक होने का गर्व मत करना। पराजिता दुलि की अन्तर्वेदना, उसके आँसू उसे सम्मिलित करना है। मुझे उसके लिए पूरी सहानुभूति थी। मन वहीं भटक रहा था। निरुद्देश्य भटकते या फिर अनजानी राहों पर चलते हुए मुझे यही तो मिला था।

उस अनजाने पथ पर पाँव बढ़ाते हुए मैं सोच रहा था 'मौत अगर किसी की हुई हो तो वह—वही दुलि होगी।'

गाजी ने कन्धा उचकाया—"क्यों बाबू! अनन्तपाल जीवित रहा आया क्या?"

अपने स्वभाव के अनुसार मैंने खिन्न होकर कहा, "हाँ यही मैं भी सोच रहा था। किस मुँह से वह झगड़ा करता। उसी ने तो सारा गुड़ गोबर किया है।"

वैसे मैं खुद हैरत में पड़ा था कि मैं अपने आपको कैसे इन सबसे परे मान रहा था। मेरे जैसा भला आदमी दुलि और अनन्त की बातों में कैसे पड़ गया और वह भी राह चलते एक फ़कीरे के साथ!

गाजी को मेरी मानसिकता से कुछ लेना-देना नहीं। वह चुपचाप जैसे कोई गूढ़ बात बता रहा था, "बाबू सारा गुड़-गोबर करना हो तो पाना है! है कि नहीं, बताइए?"

उसके कहने का आशय कुछ दूसरा ही था। मैं उसे समझने की कोशिश किये बिना चुप लगा गया। गाजी हँसकर बोला, "बाबू! मैंने आप से कहा था न, कि बाद में बताऊँगा। अरे बाबू, इन ड्योढ़ियों पर कितना कुछ फेंका जाता

है, क़समें खायी गयी हैं—यह सब मैं देख-सुन चुका हूँ! यही ढाक के तीन पात, नहीं समझे! पुराना क़िस्सा है बाबू, पुराना लफड़ा। क़स्बे के सारे लोग जानते हैं।"

"इसका मतलब यह है कि तुम..."

मेरा वाक्य पूरा होने के पहले ही गाज़ी बोल उठा, "मैं क्यों रहूँगा बाबू! आज की ही रात वह सामान जिसका है, उसके घर पहुँच जायेगा। तब मान-भंजन की लीला होगी। उसके बाद ही तो प्रेम-सम्मेलन होगा।"

गाज़ी हैं...हैं....हँसने लगा। फिर बोला, "अब आप पूछेंगे कि अनन्त घर से बाहर ही क्यों निकला तो इसका जवाब है कि दस लोगों के सामने भाई की इज्जत को भी बचाये रखना था। इसी तरह दुलि का भी मान दस लोगों के सामने हेट हुआ। बाबू, घर हो या बाजार—औरतों की तो बस वही टेक है: "हुँह...इस दुनिया में मैं बड़ी हूँ या तुम्हारे बाप-भैया।" दुलि की भी वही बात है। अब औरतों को तो ऐसे ही समझाना पड़ता है: 'अरी रानी, बिना तुम्हारे यह दुनिया क्या है—ख़ाक है।' अनन्त इसी चक्कर में फँसा हुआ था, बाबू!"

उसकी बातों से मेरी आँखें आश्चर्य से फैल गयीं। धूल-भरी और थिगलियाँ लगी गुदरी धारे, काँधे पर झोली लटकाये—यह फ़क़ीर औरतों की मानसिकता को कैसे समझ लेता है! यह तो उनके पल्ले की बात नहीं, जो मुरशेद के नाम की मजदूरी करते हैं। जिनकी सुर के साथ संगति नहीं, वे ताल कैसे देंगे! यह आदमी सिर्फ़ मुरशेद के नाम की मजदूरी करनेवाला या ढपली बजाकर घूमने-वाला फ़क़ीर नहीं। दूसरे भी काम हैं। संसार में इसकी सहज रुचि न होती तो ऐसी बातें कहाँ से फूटतीं?

गाज़ी अब तक अपनी गोटी को पकड़कर शह दे रहा था, "मान में पड़कर ही तो आदमी संकोच में पड़ता है और विवाद में भी। जैसा आपने बताया, सब गुड़-गोबर करना। इसीलिए तो मैंने कहा—बिना लुटाये—कुछ नहीं मिलता! हाँ, ड्योढ़ी पर फेंका गया सामान वहीं ड्योढ़ी पर पड़ा रहा, या उससे कोई लेना-देना नहीं, या फिर अनन्त यूँ ही चला जाता तो फिर आप समझ सकते थे कि यह अलगाव है या छोड़कर चला जाना है। कीचड़ तो वहीं फैलता है, जहाँ भीतर-ही-भीतर कुछ फूट रहा होता है।" गाज़ी की आँखों में वही मुसकान फैल गयी।

मैंने पाया कि प्रेम-सरिता का वह रसिक माँझी खुद एक सरिता है। उसमें कहीं तरंगें हैं, कहीं भँवरें। भले ही वह दिखाई न पड़ती हों। इन्हें तो यह अनुभवी माँझी ही दिखा सकता है और इसमें तैरना भी वही सिखा सकता है, जिसका गोत्र प्रेम ही है। मेरे मन में जो लज्जा-संकोच दुतकार रहा था, अब

वह प्रीत की लड़ी से गुँथ गया। जिसे हम सरल-सहज समझते हैं, वहाँ यह सब उलटा हो जाता है। प्रेम ऐसी सरिता है जिसमें आँखें मूँद बहता चला रहा हूँ। जो उसे देखकर अपनी नौका खेता है, वह कैसा प्रेमी! वह देखकर चलनेवालों के लिए नहीं है। जो देख-भालकर चलते हैं, ऐसे माँझी कातर होते हैं। आश्चर्य कि इस गाजी में वह माँझी छिपा है! कहीं वह इस अँगरखे की किसी थिगली में तो नहीं छुपा!

मेरी ओर देखकर गाजी मन-ही-मन थोड़ा झेंप गया। हाथ जोड़कर बोला, "रोष मत लाइएगा बाबू! आपको ऐसी बेकार जगह देखनी पड़ी।"

"नहीं, मुझे क्यों रोष होने लगा!" मैं जबतक उसे आश्वस्त करता तबतक हारमोनियम की महीन किन्तु बेसुरी आवाज़ कानों में पड़ चुकी थी। साथ ही वह खनकता स्वर—एकदम सामने से ही। गाजी की चाल अचानक तेज हो गयी। बोला, "आइए बाबू, चलें।"

इतनी देर बाद गाजी को मेरे सामने संकोच का बोध हुआ! बहुरुपिया कहीं का! तभी तो वह मुझे इस बाजार से दूर खींचकर ले जाने लगा। कुछ दूर बढ़कर वह बायीं ओर मुड़ गया। सामने ही नया दिगन्त खुल गया था। खाने-पीने की ढेर सारी दुकानें। जो भी चाहिए, हर चीज़ हाजिर—मण्डा-मिठाई, खाजा-गाजा। हाट ज़रा दूर हटकर होने पर भी इसे अनदेखा नहीं किया जा सकता: शीशे की आलमारियों में सजी-सजायी मिठाइयाँ। बड़े-बड़े नादों में रसगुल्ले, राजभोग और गुलाबजामुन। हो सकता है ये नाद अल्युमीनियम के हों। लकड़ी के बड़े-बड़े किश्तों में गाल फुलाये गजा महाशय हैं, पैंबखायीं इमरतियाँ हैं। पीतल की बटलोइयों में संदेश हैं। एक स्थान पर लिखा है—'मीठा दही'। दुकान का हलवाई भी एकदम सामने बैठा है। यहाँ भी तसवीरों की भीड़ लगी है—हर दुकान पर! साथ ही, देवी-देवताओं के ढेर सारे उपदेश भी!

इस मोड़ पर आकर गाजी सब कुछ भूल गया था जैसे। दुलि और अनन्त को भी। अनजानी राहों पर मैं क्यों इस तरह भटक रहा हूँ या किसकी तलाश में निकला हूँ—यह भी उसे याद नहीं। यहाँ रसिया रस में नहीं, रस की धारा में भीग रहा था। तत्त्वज्ञानी 'महाप्राणी' किसे कहते हैं—कौन जाने! मैंने पाया कि वह 'महाप्राणी' मेरे साथ पूरा दिन बिताकर अब खाली पेट के उपवास से बिलख रहा है। इतनी सारी बातें एक ही पल में खो गयीं। मैंने सोचा, सूरज काफ़ी दूर निकल गया है, दोपहरी जाने कब बीत गयी? दिगन्त की ओर उड़नेवाला कोई भी पंछी बिना दाने के नाम कैसे गाये। हृष्ट-पुष्ट आदमी और सिर्फ़ आदमी ही क्यों, छोटे-मोटे जीव-जन्तु तक इसकी बात नहीं भूल

पाते। दिन-भर की भूख—पता नहीं, अब तक कहाँ दबी पड़ी थी! मौक़ा पाकर अब सामने खड़ी ललकार रही थी—किसी डाकू की तरह!

ऐसा नहीं था कि इन सारी सामग्रियों को देखकर ही वह महाप्राणी चौंक गया हो। ख़ून में इसकी एक पिनक होती है, जिसे इसकी ख़ुशबू मिल जाती है। कहीं से चावल पकने की भी गन्ध आ रही थी, साग-सब्ज़ियों की भी—इतनी दूर किसी हाट में जिसकी आशा करना भी बेकार होता। दरअसल यहाँ जो दुकान लगाये बैठे थे, यह उनकी रसोई थी। मूढ़ी-मिठाई के मुक़ाबले भात और सब्ज़ी के लिए यह बँगाली कोढ़ा एकदम पागल हो उठा था।

मैं खड़ा हो गया था। गाज़ी मुझसे दो क़दम आगे था—वह भी रुक गया और पास आकर बोला, "बाबू कुछ ख़रीदेंगे क्या?"

ऐसा न होता तो मैं हाट में खड़ा ही क्यों होता! मैंने कहा, "भूख लगी है, कुछ खा-पी लेने की ज़रूरत है।"

बात गाज़ी के मन को छू गयी। बोला, "आह्-हा, मुरशेद, रहम करते रहना। इतनी देर हो गयी। मुझे भी कुछ ख़याल न रहा। क्या खायेंगे बाबू?"

अभाव में जो भी हाथ लग जाये। कहा, "क्या खाऊँगा भला! दूसरी चीज़ें तो मिलेंगी नहीं। दही-मिठाई से ही अपनी भूख मिटा लूँ।"

"आइए बाबू! बहुत बढ़िया राजभोग है—सन्देश है," सामने ही एक दुकान से आवाज़ आयी।

उसकी पुकार सुन-सुनकर मैं अपने पाँव बढ़ाना चाहता ही था कि गाज़ी बोल उठा, "बाबू! आपसे कुछ कहने का साहस नहीं जुटा पाया, यहाँ पास ही भात वाले दो-तीन होटल भी हैं।"

"भातवाले होटल?"

"हाँ बाबू! इनमें लारानदार होटल बहुत ही साफ़-सुथरा है। आपने सुना नहीं, महतो चाचा ने कहा था कि एक बार नारायण के घर से होता हुआ आयेगा। इसका माने था, चाचा और चाची वहाँ से खाना खाकर निकल जायेंगे।"

भात के होटल की बात सुनकर शरीर में जैसी सनसनी दौड़ जाती है। पर मन कहीं असमंजस में था। मैं किसी ओर भी आगे बढ़ नहीं पाया। गाज़ी ने फिर मेरा हौसला बढ़ाया:

"लारानदार के यहाँ आपको टेबल-कुरसी, काँच का गिलास और चीनी मिट्टी के प्लेट भी मिलेंगे।"

इच्छा आगे बढ़ने की हुई। यह कोई छोटी बात नहीं थी। दूर-दराज़ बसे इस छोटे-से क़स्बे में, मेज़-कुरसी पर बैठकर प्लेट में भात खाना। आगे बढ़कर

देख लेने में क्या हर्ज था। मैंने कहा, "चलो देखते हैं।"

'चलो' कहकर भी हम रुके रहे। सामने दो मकानों के बीच एक छोटी-सी गली से घुसते ही मैंने देखा—सामने टाट से घिरी बाड़ पर तारकोल से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—'श्री श्रीकृष्ण हिन्दू होटल।' बस इतना ही। मिट्टी से बनी सीढ़ियों को पार करते ही भीतर एक प्रांगण-सा था। लेकिन कहीं-कहीं कुछ छकने-छानने की आवाज आ रही थी। इधर गाजो दूसरी ही तरफ़ देखता हुआ इस श्रीकृष्ण हिन्दू होटल से आगे बढ़ चुका था। इस बार टाट का बेड़ा नहीं था। यहाँ पत्तों से छाये छप्पर के नीचे लकड़ी का एक तख्ता झूल रहा था और उस पर लाल रंग से लिखा हुआ था—'महामाया हिन्दू होटल।' नीचे जगह का नाम। टाट का बेड़ा यहाँ भी था, पर वह एकदम खाली नहीं—वहाँ बड़े औपचारिक ढंग से लिखा था—'आइए, यहाँ हर प्रकार का आहार मिलता है...वगैरह-वगैरह।'

यहाँ खड़े होते ही किसी की पुकार सुनाई पड़ी—"अरे गाजो, भोजन करने आये हो क्या ?"

मैंने देखा, कमरे के बीचोंबीच बेड़े से लगे बूढ़े महतो कच्ची जमीन के फ़र्श पर बैठे थे। उसके सामने रखी क़लई चढ़ी थाली में गरम भात से भाप उठ रही थी। पास ही एक आदमी उकड़ूँ होकर उससे बातें कर रहा था। इस दुबली-पतली कायावाले आदमी के गले में मोटा-सा जनेऊ और उँगलियों में फँसी बीड़ी। उस बदरंग जनेऊ को देखकर किसी के लिए भी केंचुए का भ्रम हो सकता था। ऐसा नहीं कि नहाते-धोते समय उसे घोया-रगड़ा नहीं जाता होगा। लेकिन दैनिक कार्यों में तेल और धूल की चढ़ती हुई परत से उसका रंग ऐसा ही कुछ हो गया था।

"बाबू को थोड़ा-बहुत खिलाने के लिए लिवा लाया," गाजो ने महतो की बात का उत्तर दिया।

चाचा की नजर अब बाबू पर आ जमी। उसने पुकारा, "आइए न, भीतर आ जाइए! दाल-भात और टेंगरा मछली का झोल मिलेगा। नारायण! अरे भाई, तुम और किन-किन चीजों का नाम बता रहे थे ?"

सामने बैठा वह आदमी, जिसकी दुर्बल काया पर पड़ा जनेऊ ही परिचय दे चुका था, दो बार तड़ातड़ बीड़ी का कश खींच, भारी आवाज में बोला, "छोटी झिंगड़ी मछली की चटनी।"

यह तो मैं समझ गया। लेकिन मुरशेद के नाम की मेज-कुरसी वहाँ कहाँ ? शीशे के गिलास के बदले महतो के सामने भी एक छोटी-सी लुटिया। चीनी मिट्टी के प्लेट की बात करना ही बेकार था। अब इन आँखों में कहीं मोतिया-

बिन्द रहा होता तो मैंने जगह-जगह मुलम्मे छूटे बरतनों को भी नहीं देखा होता।

मैं अपनी आँखों से देख रहा था और गाजी अपने अन्तर से झांक रहा था। बड़ा फ़र्क़ था। बोला, "भीतर चलिए बाबू, उस ओर मेज-कुरसी भी है। भीतर बहुत जगह है न!"

मैं सोच ही रहा था कि गाजी आगे बढ़े तो मैं भी उसके पीछे हो लूँ! लेकिन वह आगे नहीं बढ़ा। अब जब यहाँ आ गया तो देख ही लूँ! महाप्राणी की आँखों को क्या धोखा देना! गरम भात, टेंगरा मछली के झोल की बात सुनकर बंगाली मन उस सबका स्वाद पाने को आतुर हो उठता है। फिर भी, पता नहीं कोई था, जो उसे पीछे खींचे जा रहा था। मैंने कहा, "आओ!"

गाजी हँसकर बोला, "बाबू, मैं भीतर कैसे जा सकता हूँ भला! यह हिन्दुओं का होटल है। आप जाइए, मैं वहाँ दरवाजे के पास जाकर खड़ा हो जाता हूँ।"

कहते हुए वह दो-चार क़दम उधर बढ़ गया। मैंने देखा, भीतर जाने का एक और दरवाजा था। लेकिन गाजी की बात से मेरा अन्तर विह्वल हो उठा। गाजी मुसलमान हैं, मुझे इसका भान न रहा। सच ही तो है, हमारे नगरों, बन्दरों, रसोईघरों में चाहे जो व्यवस्था हो वहाँ के बावर्चीखानों में जात नहीं जाती, जहाँ हमारी जीभ से लार टपकानेवाला भोजन खान साहब तैयार करते हैं, जात-पात तो दूर की बात, उनके हाथ का पाकर ही हम कृतार्थ हो जाते हैं। और यहाँ अगर गाजी ने ड्योढ़ी पर पाँव भी रख दिया तो धर्म पाताल में चला जायेगा।

"आइए बाबू, भीतर आ जाइए।" अबकी बार खुद नारायण ने खड़े होकर स्वागत किया।

ड्योढ़ी लाँघकर भीतर घुसा ही था कि एकाएक चौंक गया। हृदय की धड़कनें तेज हो गयीं। पाँव के पास, पता नहीं टेढ़ी-मेढ़ी काली चमकती हुई कोई चीज रेंगती नजर आयी। मैं साँप समझकर पीछे हट गया! नारायण ठाकुर ने हँसते हुए धीरज बँधाया, "बाबू, भय की कोई बात नहीं, काले चींटे हैं वे।"

"चींटे?"

"हाँ, काले चींटे। आपका कुछ नहीं बिगाड़ेंगे। आइए, वहाँ कुरसी पर आराम से बैठ जाइए।"

मुझे अपने अभिजात बंगाली होने का विशेष अहंकार नहीं कि मैं काले चींटे को भी न पहचान सकूँ। फिर भी, पता नहीं किस अँधेरे कोने से ऐसे

मोटे और काले चींटे क़तारें बाँध-बाँधकर निकले आ रहे थे—मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था।

इसी बीच नारायण ठाकुर ने फिर से कहा, "आइए, इधर आ जाइए।"

चींटों का अखाड़ा पार कर मैं निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गया। अरे, वहाँ तो सचमुच ही मेज़-कुरसियाँ थीं। पर थीं एकदम अस्त-व्यस्त। लेकिन मेज़-कुरसी के उस ओर वहाँ फ़र्श पर कौन बैठी है? लगा, मैंने उसे कहीं देखा है! इस बारे में कुछ सोच ही रहा था कि महतो चाची ने झट से अपना घूँघट खींच लिया। ओह हो, पराये आदमी के सामने बीड़ी पीने में भले ही कोई संकोच न हो, पर इसका मतलब यह तो नहीं कि उसके सामने मुँह में कौर भी डाला जाये।

लेकिन महतो की पत्नी की पत्तल ऐसी जगह पर थी कि आँखें टिक ही जाती थीं। उसकी तरफ़ पीठ फेरकर बैठूं—यह भी सम्भव न था। मेज़-कुरसी की भी वैसी कोई व्यवस्था न थी। ऐसे समय में घूँघट खींच लेना लज्जावती की सही पहचान होती है। फिर वह किसी पराये मर्द के सामने खाये या जो करे। उनका मुखड़ा आश्विन मास की तरह सौम्य और तरल था और आँखें शरत् काल के सरोवर-सी निर्मल! वह किधर देख रही थी—मैं जबतक यह समझ पाता दो-एक बार उसकी झलक दिखाई पड़ी। फिर वह घूँघट की आड़ में छिप जातीं।

बिना देखे मैं यह समझ गया कि वह अपनी आँखों से नारायण ठाकुर को धमका रही है: "अरे मुए, तूने इस मिन्से को यहाँ क्यों बैठने दिया?"

मैं वहाँ से हट जाना चाहता था। लेकिन नारायण ने कहा, "बाबू बैठ जाइए।"

उधर से महतो का स्वर भी सुन पड़ा: "अरे बैठ भी जाइए महाशय, काफ़ी देर हो चुकी है।"

"हाँ बाबू, अब कोई दिक्क़त नहीं, बैठ जाइए।"

सामने दरवाज़े के पास, बाहर के बरामदे में बाँस की खूंटी से लगकर गाजी बैठ चुका था। एकदम आमने-सामने। वह भी एक-सी बात करता है। फिर महतो की पत्नी की आँखों में—जिनमें काजल की मोटी रेखा खिंची थी—वह किस बात की चमक थी? उसका क्या कारण था?

जो भी हो, रास्ते का मुसाफ़िर भोजनालय में आया है। खाना अच्छा लगा तो खायेगा, और चला जायेगा। इसमें पूछताछ की ऐसी क्या बात है? जब सब कह रहे हों तो अपना स्थान ग्रहण करो। ज़रा ठहरो! एकदम शहरी तरीक़े से कुरसी खींचकर बैठना चाहो भी तो बैठ न पाओगे। थोड़ा-सा भी सन्तुलन खोया कि एकदम ज़मीन पर, अन्टाचित्त! मैं कुरसी खींचकर जैसे ही बैठना

चाहता था कि देखा वह बल खाकर आँधी उलट रही है। उसका एक पाँव किसी गड्ढे में धँस गया है। नारायण ने सँभालने के लिए अपना हाथ बढ़ाया ही था कि इसके पहले मैंने उसे थामते हुए कहा, "ठीक है, ठीक है।"

मैंने कुरसी का फँसा हुआ पाँव स्वयं बाहर निकाला। इस बीच उस सीकिया नारायण की दुबली देह से गुम्बद हिलानेवाली बादशाही आवाज गूँज उठी :

"फोंचा, अबे ओ साले...फोंचा!"

एक तो फोंचा! और ऊपर से साला! मैं समझ न पाया। हो सकता है, दोनों ही गालियाँ थीं। मैंने इसके पहले ऐसा नाम नहीं सुना, इसीलिए यह गाली की तरह ही लगा। अगर 'घोंचा' गाली है तो फोंचा क्यों नहीं! बुलाने के साथ ही, घर के पीछे से जवाब मिला—"बस अभी आया ठाकुर महाशय!"

लगा जैसे उसकी आवाज किसी मटके से आ रही हो। बड़ी ही दयनीय! धप-धप—जमीन को कँपाता हुआ, पीछे के दरवाज़े से जो अन्दर आया—वह नारायण ठाकुर के सर्वथा विपरीत था। सारा शरीर एकदम रूखा और उसपर खड़िया के दाग़। शरीर पर उगे रोओं से ढँक गये हैं इसलिए वे दिखाई नहीं पड़ते। धूप में तपकर, पानी में भीगकर या फिर महामाया होटल के धुएँ में उसका रंग कुछ ऐसा हो गया था—जैसे आग में तपाया हुआ ताँबे का पैसा! शरीर के रोओं और सिर के बालों में काले रंग का कोई नाम-निशान नहीं। यहाँ तक कि भौंहों का रंग भी मटमैला पीला हो गया था। क़द नाटा था, पर शरीर पर मांसपेशियाँ भरपूर थीं। नारायण ठाकुर-जैसे सीकिया को वह एक हाथ में ही कलाबाज़ी खिला सकता था। फिर भी, वह अपनी छोटी-छोटी आँखें मिचमिचाता हुआ इस तरह हाजिर हुआ जैसे हाथी के सामने मेंढक। एक कुचैली-सी धोती पहने, घुटने से डेढ़ बित्ता ऊपर तक चढ़ी।

उसे देखते ही नारायण ठाकुर अपना पंजर कँपाते हुए ज़ोरदार आवाज में फूट पड़ा :

"साले, तुझे कित्ती बार कह चुका हूँ कि मिट्टी लाकर उस गड्ढे को मूँद देना।"

हाथी चीं-चीं करता रहा और मेंढक गरजता रहा। बड़ा विचित्र था यह पूरा इलाक़ा। हरेक बात में मजेदार तमाशा, अजीब मेला! क्या सारी दुनिया ऐसी ही है? ऐसी ही विचित्रताओं से भरी! केवल ध्यान देकर देखने की ज़रूरत है। जहाँ ठीक न जान पड़े वहीं ठीक है। और वहीं इसकी रौनक़ दिखाई पड़ती है, जहाँ बेतरतीब रंग बिखरे हों। फोंचा वैसा ही लग रहा था जैसे किसी अजगर के सामने कोई बकरी। नारायण के सामने वह टूटे स्वर में

एकदम महीन सूत कातता हुआ बोला, "हाँ, मूँद तो दिया था !"

"चोप्प...चोप रहो साले !"

दीवार कँपानेवाली इस डाँट से मुझे ही अपनी कुरसी सँभालकर बैठ जाना पड़ा। डाँट क्या थी मानो तोप का गोला छूटा हो! क्या तैयारी थी! अब कोई यदि यह पूछे—अरे ओ मुसाफिर, कुरसी खींचते समय वह गड्ढे में क्यों जा गिरी? तो कुरसी का पाया कहेगा—'वहाँ गड्ढा क्यों था?' गड्ढा बोलेगा—'फोंचा ने मूँदा क्यों नहीं!' और फोंचा ने तो पहले ही जवाब दे दिया—'मैंने तो मूँद दिया था।' मुझे लगा इन सारी आफतों की जड़ है—यह भूख! यह लगती ही क्यों है?

"फिर झूठ बोला?" नारायण ठाकुर का गला अब तक घड़घड़ा रहा था। उसकी दुबली-पतली काया समेत हाथ-पैर जिस तरह से हिल रहे थे उससे लग रहा था कि कहीं वह तमाचे न रसीद कर दे या लात न जमा दे! इस बीच, दरवाज़े के पास एक और मूर्ति प्रकट हुई। मटमैली डोरिया साड़ी, काली-कलूटी बहू। उसकी नजर नारायण ठाकुर पर थी। लगा वह भी इस घटना से कहीं जुड़ी हुई है। एक बच्चा हाथ पकड़े हुए था, दूसरा गोद में। उसने अपनी माँ का सीना उधेड़ रखा था। एक स्तन पर उसकी नन्हीं हथेली थी और दूसरे को वह मुँह में दे रखा था।

महतो ने मामला सँभालना चाहा: "अरे, जाने भी दो ठाकुर, यह सब बाद में होता रहेगा।"

ठाकुर का गुस्सा! इतनी जल्द शान्त होनेवाला कहाँ? बोला, "अब तुम्हीं देखो महतो भैया! साला फिर मेरे मुँह पर ही झूठ बोल रहा है। क्या ऐसा ही मूँदा जाता है गड्ढा! साला खाने में लोढ़ी काम करने में कोढ़ी! उधर देखो, हमारे बाबू की बीवी! हर साल बच्चे जनमा रही है। आखिर इतना भार कौन सहेगा?"

बड़ा ही भयंकर अपराध था। जबरदस्त आरोप! और यह सारा दोष था तो फोंचा का। नारायण ठाकुर ही नहीं, सरकार बहादुर को भी चाहिए कि फोंचा को फाँसी पर चढ़ा दे। इस युग में जिन दो चीजों पर इतना प्रतिबन्ध है, उसमें इतनी बहादुरी दिखाने से कैसे चलेगा भला!

नारायण ठाकुर ने फिर धमकाते हुए कहा, "अब खड़ा-खड़ा क्या मुँह ताक रहा है? जाके फटाफट प्लेट-ग्लास वगैरह निकाल। टेबल साफ़ कर! बाबू को खाना लगाना है।" कहते हुए वह एक क्षण रुका। फिर किसी की ओर देखे बिना जल्दी से अन्दर के दरवाज़े से अदृश्य हो गया। उसके साथ फोंचा भी।

पता नहीं, क्या बात थी? मैं यही सोचता हुआ कुरसी पर बैठा रहा।

तीनों की तरफ़ घूम-फिरकर देख लिया। बीवी के साथ महतो की भी आँखें टकरायीं। चाची ने जीभ काटकर घूँघट खींच लिया। मैं ठहरा पराया आदमी! बीड़ी पीनेवाली बात तो आयी-गयी हो गयी।

गाजी ने दूर से ही हँसते हुए कहा, "जय मुरशेद! क्या तमाशा दिखा रहे हो। सेंध मारता है कोई और चोर कहलाता है कोई!"

महतो ज़ोर से ठठाकर हँस पड़ा: "घास खाया घोड़े ने, मार लगी गधे को—वही बात है।" स्वामी की बात सुनकर स्वामिनी फिर एक बार खिल-खिलाकर हँस पड़ी। गाजी बोला, "क्या बात कही है चाचा! यह तो यही बात हुई न—हाय सखी! मैं किसके गले में झूल जाऊँ! मेरा मदन तो बहुत बड़ा तहसीलदार है।"

हँसी में अपनी खाँसी डालते हुए महतो ने जवाब दिया, "क्यों, गले में झुलाने के लिए तो वह फोंचा है ही। अभी-अभी तो वह बोल गया कि बहू हर साल बच्चे पैदा करती है। तो ये फोंचा को ही तो बाप कहकर पुकारते हैं। ठाकुर को तो नहीं कहते।"

...सब खिलखिलाकर हँस पड़े।....

"एक बार की बात है," महतो ने कहना शुरू किया। "ऐसा हुआ कि मैंने फोंचा से कहा, तेरे पास तो तीन बच्चे हैं। एक मुझे दे दे। मैं उसे पढ़ा-लिखाकर बड़ा आदमी बनाऊँगा। उस बेटे ने क्या कहा, मालूम है! बोला—'मैं अपने मालिक से पूछकर बताऊँगा।' वह सचमुच ही उससे पूछेगा! यह कौन जानता था भला? यही अभी पिछले साल की बात है। मैं आढ़तियों से रुपये उगाहने आया था। थोड़ी देर में मैंने देखा—ठाकुर की विकराल मूर्ति मेरे सामने आ ठहरी: 'हँह, तुम किस मुँह से फोंचा का बेटा माँग रहे थे! तुम बहुत बड़े जोतदार होओगे अपने घर में, रुपयों का घर पर अम्बार लगा होगा। पर इसका मतलब यह तो नहीं कि फोंचा के लड़के पानी में बहते हुए आ गये हैं। या कि रास्ते के आवारा कुत्ते या बिल्ले हैं!' है न, मज़े की बात! मैंने कहा, नहीं, मैंने तो मज़ाक किया था।"

उसकी बात खत्म नहीं हो पा रही थी। घूँघट के भीतर से हँसी के साथ प्रसन्नता का स्वर सुन पड़ा: "ठीक ही तो कहा था।"

"अब जो भी समझना चाहो। मन-ही-मन समझो कि किसका किधर खिंचाव है। चाहे जो भी कह लो, खून तो अपनी ओर खींचता ही है," गाजी ने कहा।

इधर गहरी चुप्पी छायी थी। थोड़ा आश्चर्य भी हुआ। इतने में, वही काली-कलूटी बहू अन्दर दाखिल हुई। एक हाथ में बच्चा था, दूसरे में बाल्टी। स्वास्थ्य बहुत बुरा नहीं था। आदमी भी उसका हृष्ट-पुष्ट था। साज-सिंगार वैसा

नहीं था। ऐसा नहीं लगता था कि बैठकर खानेवाला शरीर है। मैं महतो की बीवी का चेहरा नहीं देख पा रहा था। लेकिन फोंचा की बीवी के साथ अवश्य ही आँखें मिल जाती थीं। उसके चेहरे पर हँसी की रेखाएँ थीं। वह मेज़ के सामने आकर खड़ी हो गयी फिर बाल्टी नीचे रखकर उसने उसके भीतर से गीला कपड़ा निकाला। इसे कपड़ा न कहकर टुकड़ा कहना ही उचित होगा। मैंने जल्दी से हाथ उठाकर कहा, "अरे छोड़ो भी, रहने दो—करोगी क्या ?"

वह तनिक चौंक गयी, फिर ठहरकर बोली, "पोछूँगी।"

मैं पहले ही समझ गया था इसीलिए रोक दिया था। उस गुदड़ी को देखकर, उससे साफ़ की गयी मेज पर खाने की इच्छा न थी। इससे अच्छा तो यही होता कि मैं बिना पोंछी हुई मेज पर ही खाना खाता। मैंने कहा, "साफ़ करने की ज़रूरत नहीं, यूँ ही ठीक है।"

बहू शायद मेरी बात समझ न पायी। बेचारी असमंजस में पड़ गयी। बस इधर-उधर टुकुर-टुकुर ताकती रही। गाज़ी पुकार उठा, "बाबू ने जो कहा वही करो। धोने-पोंछने की विशेष ज़रूरत नहीं।"

बहू ने कितना कुछ समझा, पता नहीं ! वह उस गूदड़ को बाल्टी में फेंककर अपने सूखे आँचल से मेज़ साफ़ करने लगी। अब यों भला कैसे भोजन परोसा जा सकता है। आख़िर कुछ तो करना ही है। मैं उसकी तरफ़ देख रहा था कि शायद वह आँख उठाकर ताकेगी। उसकी आँखों में झांककर शायद उसके अन्तर का पता चले। पर उसने नहीं देखा। वैसे ही, वह भी मन-ही-मन मुसकरायी। वह मुसकान संकोच-भरी थी या नहीं—मैं नहीं कह सकता। संकोच में भी एक तरह का माधुर्य होता है। गोद के बच्चे ने फिर आँचल खींचना चाहा—उसे बायें हाथ से रोकते हुए वह बाल्टी लेकर चली गयी। महतो ने बीवी की ओर देखकर कहा—"गूदड़ी का रंग ही ऐसा है।" और वह चला गया।

इस बीच फोंचा फिर प्रकट हुआ। उसने मेरे सामने चीनी-मिट्टी का प्लेट रख दिया। काँच का गिलास भी। क्या सफ़ाई थी ! मैंने देखा, प्लेट पर मकड़ी के जाल का दाग़ था। इधर-उधर टूटा-फूटा भी। क्या करता ? मन मारकर रह गया। संकोच और असुविधा से मेरा स्वर करुण हो गया। "केले का पत्ता है ?" मैंने पूछा।

फोंचा अचानक हैरत में पड़ गया। फिर टूटे गले से बोला, "हाँ, है। आप केले के पत्ते में खायेंगे ?"

"हाँ।"

उसने फिर अचरज में भरकर कहा, "बाबू लोग तो प्लेटों में खाते हैं ना—इसीलिए....। अच्छा मैं ले आया।" कहते हुए वह प्लेट उठाकर ले गया।

"पत्ते को पानी में धोकर लाना," मैंने कहा।

"अच्छा!"

मैं फिर जल्दी बोला, "और हाँ, पत्ते को उस गूदड़ से मत पोंछना!"

"अच्छा बाबू!" उसका यह जवाब घर के भीतर से आया। महतो ने हँसकर कहा, "देखो, कैसा तमाशा है। और हमारी तरफ़ किसी को केले के पत्ते में खाने को दो, तब देखो बाबुओं का तेवर कैसा चढ़ जाता है? हूँह...थाली में नहीं परोस सकते!"

गाजी बोला, "मैं सोचता हूँ, बाबू के लिए चीनी-मिट्टी का प्लेट ही ठीक होता, और यह? यह भी ठीक है।"

इधर महतो की बीवी का घूँघट कुछ नीचे सरक आया था। वह गाजी को देख रही थी। कुछ देर में पत्ता आ गया। धोये गये मुलायम पत्ते पर अब भी पानी की बूँदें थीं। इस बार मेरी आँखें खुशी से चमक उठीं। पीछे-पीछे नारायण ठाकुर भी आया। उसने गरम-गरम भात परोस दिया। फिर बैंगन की भुजिया डालकर डब्बू में दाल उठा लाया। उसकी खुशबू, उसका रूप देखकर मैं समझ नहीं पाया कि किस चीज की दाल है। लेकिन मैंने फिर अपने जी को समझा लिया कि कौन-सी चीज क्या है? किससे परोसी जा रही है? यह सब आँखें उठाकर भी नहीं देखूंगा। किसी भी चीज की दाल हो—भाप उठती देखकर लगा गरम है। दाल-भात मिलाकर जैसे ही कौर को मुँह तक ले गया कि गाजी से आँखें जा टकरायीं। गाजी ने मुसकराते हुए बोला, "काफ़ी देर हो गयी है, दिन ढल गया!"

मेरे हाथ का कौर हाथ में रह गया। मुँह में डाल न सका। मैं भले ही नाम-हीन मजदूर था। रहस्य का सन्धानी। तो भी, क्या मन में रस की धारा कहीं नहीं उमड़ती। सीने में कोई चीज तड़प उठती है, ऐसा भी नहीं है! मुझे लगा, कोई मेरे भीतर से मुझे धिक्कारते हुए बुरा-भला कह रहा है। मैं कुछ क्षणों के लिए गाजी के चेहरे से अपनी निगाह उठा न सका। उसके रूखे-सूखे शिकन-भरे चेहरे पर मुसकान-भरी तरंगें खेल रही थीं। कहीं भी कोई मालिन्य न था। ढलते दिन के साथ मेरा पेट जल उठा था। पर क्या वह मुरशेद नाम का मजूर आदमी नहीं? मैं अपने संगी को भूल गया! मेरी भी भूख का जवाब नहीं। मैंने कौर को पत्ते में रखते हुए कहा, "तुम क्या खाओगे? भात या और कोई दूसरी चीज?"

गाजी की आँखों के आईने में कोई नन्हा बालक शरमा गया। वह जल्दी से बोला, "वह तो होता रहेगा बाबू! पहले आप थोड़ा-बहुत पा लीजिए।"

अगर मैंने ठीक से देखा हो तो पाया कि उसके चेहरे की नयी झलक मेरी

आँखों में भी समा गयी। मैंने अबतक अपने ही महाप्राणी को और देखा था। अब लगा, मेरे जैसा ही दूसरा महाप्राणी मेरे सामने खड़ा है। अब उसकी दोनों आँखें स्नेह से डबडबा रही थीं। मैंने कहा, "वह नहीं हो सकता। जो होगा, एक साथ ही होगा। यह तो बताओ, क्या खाओगे?"

गाजी 'हा-हा' हँसने लगा। बोला, "बाबू भी खूब कहते हैं—जो होगा, एक साथ ही होगा!"

उसकी हँसी से उसकी प्रसन्नता का पता चला। उसे देखते हुए मैंने महतो की बीवी की ओर भी देख लिया। घूँघट कुछ और सरक गया था। फिर आँखें मिलीं। उसकी कजरायी आँखों में अब दूसरा ही भाव झाँक रहा था। मुझे नजर समेटने में कुछ देर हो गयी। उसकी आँखों में मेरी और गाजी की ही नजर झाँक रही थी। फिर वह गाजी की ओर मुड़कर बोली, "अब अभी और क्या खाओगे? बस थोड़ा-बहुत भात खा लो!"

उसके चेहरे पर घूँघट-वूँघट जो भी पड़ा हो—आवाज कानों में सही पड़ रही थी। उस ओर से महतो ने कहा, "हाँ अब तो दिन चढ़ आया। अब पेट मिठाई-विठाई की बात क्या समझेगा?" फिर खुद पुकारने लगा, "अरे ओ ठाकुर, कहाँ हो? गाजी को भी भात परोसो।"

भीतर जाता हुआ ठाकुर हैरत में पड़ गया। नये ग्राहक को देख वह बहुत प्रसन्न होगा—ऐसा नहीं था। गाजी से बोला, "तुम्हें भी भात ला दूँ?"

"अब आज जब मुरशेद ने दिन तय किया है तो...." गाजी ने हँस दिया।

गाजी की बात समाप्त नहीं हुई। उसके पहले ही नारायण ठाकुर ने कहा, "लेकिन मैं पहले ही बता दूँ, तुम सहन में बैठकर खाना नहीं खा पाओगे? दस-बीस लोग आते-जाते रहते हैं। छू जाने का भय है।"

अब चाहे जो कह लो, पर कोई उसकी मुसकान नहीं छीन सकता। गाजी बोला, "मैं नीचे बैठकर ही खाऊँगा। बस एक केले का पत्ता भेजने को कहिए। पानी पीने का बरतन मेरे झोले में पड़ा है।" उसने अल्युमीनियम का गिलास बाहर निकाल लिया। नारायण ठाकुर को यह सब देखने की जरूरत नहीं: "हाँ, तो बताओ, क्या-क्या खाओगे?"

"जो कुछ भी है आपके पास, सब दे दो। पर मछली-वछली नहीं।"

"यहाँ नहीं। उधर चलो," ठाकुर भीतर जाते-जाते बोला।

मेरे मन में भी धक्का-सा लगा। गाजी के धर्म में रोक-टोक है या नहीं—मैं नहीं जानता। लेकिन मुसलमान की औलाद होते हुए कोई निरामिषभोजी हो—ऐसा पहली बार ही देखा। मैंने भोजन करते हुए आँख उठाकर देखा। गाजी ने हँसकर कहा, "साँई गाजी दरवेश की ओर से कोई मनाही नहीं है बाबू! बस,

यही मांस-मछली खाने में कोई रुचि नहीं।" कहते हुए वह गरदन ऊँची कर गाने लगा :

"क्या हिन्दू क्या मुसलमान।
मिल-जुल करो साँई का काम।"

महतो मालकिन ने पुकारकर कहा, "यह गाना नही, अच्छा गाना सुनाना पड़ेगा।"

"हाँ, सुनाऊँगा चाची! पहले कबीर का क़िस्सा सुना लूँ। सुनो, बहुत ही मजेदार किस्सा है। बाबू, आप भी सुनेंगे न?"

पता नहीं, वह कबीर का कौन-सा क़िस्सा सुनाना चाहता था। मैंने कहा—"हाँ, सुनाओ।"

गाजी ने कबीर का क़िस्सा शुरू किया।

"हाँ तो बाबू! एक था जुलाहा। उसकी एक जुलाहिन थी। वे कहाँ रहते थे—मैं नही कह सकता! शायद काशी या गया के पास कोई जगह रही होगी।"

कहाँ है गया? कहाँ है काशी? इसमें पड़ने की जरूरत नहीं। पर उसकी बात से लगा कि बस यहीं किसी मुहल्ले के आस-पास की बात है। इन दोनों स्थानों के बीच कितनी दूरी है—उसकी बात से यह समझ पाना कठिन था। नारायण ठाकुर ने तबतक केले के पत्ते पर भात परोस दिया था। वह बीच में ही बोल उठा, "क़िस्सा-कहानी बाद में कहना, पहले भात को सहेज लो। दाल भी तो डालना है।"

"दे दीजिए। यह किस्सा मैं आपको ही सुनाने के लिए तो कह रहा हूँ, ठाकुर महाशय!" गाजी ने भात को सहेजते हुए कहा।

"जैसे मुझे कोई काम ही नहीं है, तुम्हारी गप्पें सुनने के अलावा!"

ठाकुर खाने को क्या देता, जैसे उसपर मुसीबत आ पड़ती है। वह फिर डपटकर बोला, "धीरे-धीरे हाथ चलाना, नही तो छींटें पड़ जायेंगे। यहाँ दस आदमी खाने आते हैं। जरा देखूँ। भुजिया ले लेना..."

गाजी से मेरी आँखें मिली। नहीं, इसमें हार मानने की कोई बात नही। उसकी आँखों में कोई झेंप नहीं थी। वह बोला, "मैं आपका ग्यारहवाँ आदमी हूँ? कहीं छींटें लगा सकता हूँ?"

गाज़ी ने फिर अपनी पलकें नचायीं। इस नाच के साथ महतो मालकिन की आँखें भी चमक उठीं। महतो चाची के साथ, गाज़ी का भावनात्मक सम्बन्ध भी जुड़ गया है। शायद बहुत दिनों की जान-पहचान है। कई बार गान गाये-सुने गये हैं। गिरस्थिन बहू और मुसाफ़िर गाज़ी के इस मधुर परिचय का यह खेल बड़ा अन्तरंग है। उधर से महतो की आवाज़ आयी, "उसके बाद ? तुम तो बोलते-बोलते चुप हो गये ! उस जुलाहे-जुलाहिन का क्या हुआ, बोलो !"

इस बीच ठाकुर अपनी देह बचाते हुए फुदककर दूर हट गया। गाज़ी ने कहा, "हाँ, तो एक था जुलाहा और उसकी जुलाहिन। वे दोनों एक बार किसी की शादी की दावत उड़ाने चले। जुलाहे का नाम था नूरी और जुलाहिन का नीमा। तो चलते-चलते जुलाहिन ने देखा—सामने एक तालाब है, तालाब में बड़ा-सा कमल का फूल और पत्ता। उस कमल के पास ही तैर रहे कमल के पत्ते पर एक सुन्दर-सा शिशु तैर रहा था। उसे देखकर जुलाहिन मचल उठी। माँ का हृदय था, मानता भी कैसे ? समझी चाची ! जुलाहिन ने उस कमल के पत्ते से उस शिशु को उठाकर अपने सीने से लगा लिया।...अच्छा बाबू ! अब ज़रा यह तो बताइए ? यह जो शिशु था—आदमी का बच्चा—उसकी कोई जात है ?"

बड़ा कठिन प्रश्न था ! बाबू का कान भी गाज़ी की तरफ़ था। और पत्ते पर गरम-गरम टेंगरा मछली। झोल के रंग की बहार देखकर मिजाज एकदम मुग़लई हो उठा। उसमें लाल रंग तो नहीं मिलाया गया था लेकिन सूखे लाल मिर्च के बिना यह रंगत नहीं आती। इन बातों को सोच-सोचकर पेट की अँतड़ियों में आग जल उठती है। उधर महतो दम्पति को दही परोसा जा रहा था। उसमें किसी की रुचि थी भी या नहीं, ऐसा कुछ नहीं लगा। प्रश्न तो यह था कि सरोवर के कमल-पत्र पर जो शिशु तैर रहा था—उसकी जात क्या थी भला ?

बाबू के कुछ पूछने के पहले ही महतो ने कहा, "उस बच्चे के माँ-बाप का तो पता चले पहले ! वरना जात का पता कैसे चलेगा ?"

गाज़ी ने हँसते हुए गरदन हिलायी और बोला, "तो जो बच्चा पानी में तैर रहा है। मैं उसके माँ-बाप की तलाश में कहाँ जाऊँ ? अब, यह तो तय था कि यह नन्ही-सी लड़की किसी आदमी की सन्तान थी। इसीलिए कह रहा था कि लड़की की क्या जात होती है ? इसलिए उसी गीत की बात हो रही थी : "बिन सुन्नत अरु जनेऊ के, जात न जाये पहचानी।"

बीच में ही अपनी बात को रोककर वह उस गान की पंक्ति को सस्वर गाने लगा—

"सुन्नत करके हुआ मुसलमां, नारी का कौन विधान।
बामन पीठ जनेऊ धारे, बमनी की पर क्या पहचान ?"

गीत समाप्त नहीं हुआ था कि नारायण ठाकुर की पुकार सुन पड़ी, "अरे! पहले खाना तो खा लो! पत्ते में भात पड़ा हुआ है और भला आदमी बामन-बामनी को पहेलियाँ बुझा रहा है।"

महतो मालकिन की हँसी खिलखिलाहट बनकर फैल गयी। उसमें एक और महिला की हँसी का स्वर मिल गया। दरवाजे के पास वही बहू खड़ी थी। उसे फोंचानी कहूँ या नारायणी—मैं समझ नहीं पा रहा।

भात में हाथ डालकर गाजी ने कहा, "नहीं, इसीलिए तो कह रहा हूँ कि तुम आदमी का नाम भले रख लो, पर जात का नाम तो मनुष्य ही है। है कि नहीं बाबू? नाम से ही तुम्हें बुलायें और काम से तुम्हें समझें। अच्छा बाबू, यह तो बताइए कि फूलों की कोई जात है?

प्रश्न कठिन नहीं, बल्कि कठिनतम था। 'आदमी' ही नहीं, अब फूलों को लेकर खींचातानी शुरू हो गयी थी। गाजी के विचार और उसकी अपनी व्याख्या से बाबू का परिचय ही कितना-सा था! और जवाब पाने की आकांक्षा से ही ये बातें कही नहीं जा रहीं। अब किसी आदमी को सामने रखे बिना तो बातें होतीं नहीं। वह बोल रहा था: फूल की कोई जात नहीं होती। फूल फूल है, चाहे चम्पाकली कहो या जूही कहो या तगर; वह तो तुम्हें दिया नाम है! तुम्हारा काम है—मिठास और सुगन्ध बिखेरना, रूप से झिलमिल करना, देवी-देवताओं की पूजा में लगना—यही न! ठीक कहा न!"

मेरी इच्छा हुई कि कहूँ जब माला में पिरोये जाकर गले में झूमते हैं, जूड़े में शोभा पाते हैं, तब? तब भी उसके काम की बात ही होती है। काम का मतलब 'काम का' नहीं—काम से उसके गुण पर विचार होता है। गले में झूलना या जूड़े में शोभा पाना—यह भी उसके गुण ही तो हैं।

"और जिस फूल में शोभा नहो, बदबू है—उसके बारे में क्या कहोगे?" नारायण ठाकुर ने चुभता हुआ तीर छोड़ा।

"निरगुण कहूँगा ठाकुर महाशय, निरगुण!" जवाब जैसे गाजी के मुँह पर ही था। जात से गुण का विचार नहीं होता। इसीलिए तो मैंने कहा कि आदमी फूल की तरह है, है कि नहीं, कहिए बाबू! तुम राम हो या रहीम—इससे मतलब नहीं। तुम पूजा में लगे हो या नहीं—इस बात को सोचो! है कि नहो बाबू! कहते हुए गाजी ने अपनी आँखें नचायीं और गरदन हिलायी। दाढ़ी भी लहरा उठी। और फिर गुनगुनाने लगा जैसे कोई गीत कह रहा हो, "पूजा में लगे रहना होगा, लगना ही होगा, इसी में तुम्हारी जात का मान है।" यद्यपि इन शब्दों में कोई साज-बनाव नहीं। मन में कोई तरंग भी नहीं जगती! लेकिन कहीं कोई हूक-सी उठती है। राम-रहीम से कुछ आता जाता

नहीं। पूजा में लगे हो या नहीं, यह सोचो। यह तो वही बात हुई न—"कथा कहना आना चाहिए, कथा तो सोलह धाराओं में बहती है। कान में वह सुनने के समय कुछ और होती है, और नीचे उतर कर कुछ दूसरी। अब सोचो, गाजी किस दिशा में बह रहा है।"

बात यही थी : बात की बात छोड़ो, जीवन को पूजा में लगाओ।

गाजी की आँखों में वही रहस्य झिलमिला रहा था। इसे कहते हैं माया-जाल-अपने हास और रहस्य से इन्द्रजाल बुनना। अब तुम किस पूजा में लगोगे—इस बात में क्या मर्म है—यह मन-ही-मन समझो। मैं सोच रहा था : कन्धे पर झोला, शरीर पर अँगरखा धारे—पैबन्द और धूल से लिपटा यह रूखा-सूखा आदमी चाहे जिस किसी का नाम मजदूर हो—एक तरह से भिखारी ही तो है, और क्या ? जिसकी जिन्दगी दर-दर भटक रही है, राहों और घाटों पर जो नाम का गुण गाता है, हाथ फैलाकर ही जो अपना भरण-पोषण करता है, वह ऐसी बातें कहाँ से उठा ले आता है ! किस प्रकार सोच लेता है ! मैं विदेशों की बात नहीं जानता। पता नहीं, वहाँ दर-दर भटकते, गाँव-घर-घूमते लोग इस प्रकार की हँसी हँसते हैं या नहीं; ऐसी बातें कर पाते हैं या नहीं ! लेकिन ज़रा इस देश, भारत देश का दरवाजा खोल कर तो झाँको—तुम पाओगे हाट-बाज़ार में भी, फक्कड़ और दीन भी आध्यात्मिक बातें करते हैं। पेड़ तले बैठा नंगा आदमी भी जीवन की व्याख्या करता है। यह केवल इसी देश में है। जहाँ सोने का मुकुट भी हेय है। बरगद के पेड़ के नीचे राजाओं का असली राजा विराजता है। देह पर गूदड़ धारे, हाथ ऊँचा उठा-कर नाचता है। आधुनिकतम सुख-सामग्री को छोड़कर चला जाता है, राढ़-प्रदेश की सप्तपर्णी की छाया में—'छातिमतला' में। जिसे घर से निकाल दिया, एकदम ड्योढ़ी के नीचे, वह भी धूल में बैठकर और हँस-हँसकर ऐसी बातें करे। किताबें और पोथियाँ रख दो एक तरफ़। ऐसे स्थान पर ऐसी बातें ! इस धरती पर और कौन है, जो सुना सकता है ?

कोई नहीं। इसीलिए तो इस देश की मिट्टी की बात सबसे पहले होती है। इस देश के गीतों में माटी की गन्ध है, या इसके प्राणों में धूल भरी गन्ध है। इसीलिए इस देश की माटी में लोटकर लोग साष्टांग प्रणाम करते हैं। इस देश को पता है कि इसी माटी से बड़ी-बड़ी विभूतियों का जन्म हुआ है। जो सारे ऐश्वर्यों के स्वामी थे, वे भी इसी धूल में समा गये। इसीलिए यहाँ की धूल को देह पर धारण कर सारा देश मुसकान बिखेरता है और तत्त्व का बखान करता है। राजभवन छोड़ जो पेड़ के तले विराजता है, और ऐसे श्रेष्ठ उपदेश देता है, रूप को अरूपता प्रदान करता है।

गीत समाप्त नहीं हुआ था कि नारायण ठाकुर की पुकार सुन पड़ी, "अरे! पहले खाना तो खा लो! पत्ते में भात पड़ा हुआ है और भला आदमी बामन-बामनी की पहेलियाँ बुझा रहा है!"

महतो मालकिन की हँसी खिलखिलाहट बनकर फैल गयी। उसमें एक और महिला की हँसी का स्वर मिल गया। दरवाजे के पास वही बहू खड़ी थी। उसे फोंचानी कहूँ या नारायणी—मैं समझ नहीं पा रहा।

भात में हाथ डालकर गाजी ने कहा, "नहीं, इसीलिए तो कह रहा हूँ कि तुम आदमी का नाम भले रख लो, पर जात का नाम तो मनुष्य ही है। है कि नहीं बाबू? नाम से ही तुम्हें बुलायें और काम से तुम्हें समझें। अच्छा बाबू, यह तो बताइए कि फूलों की कोई जात है?

प्रश्न कठिन नहीं, बल्कि कठिनतम था। 'आदमी' ही नहीं, अब फूलों को लेकर खींचातानी शुरू हो गयी थी। गाजी के विचार और उसकी अपनी व्याख्या से बाबू का परिचय ही कितना-सा था! और जवाब पाने की आकांक्षा से ही ये बातें कही नहीं जा रहीं। अब किसी आदमी को सामने रखे बिना तो बातें होतीं नही। वह बोल रहा था: फूल की कोई जात नहीं होती। फूल फूल है, चाहे चम्पाकली कहो या जूही कहो या तगर; वह तो तुम्हें दिया नाम है! तुम्हारा काम है—मिठास और सुगन्ध बिखेरना, रूप से झिलमिल करना, देवी-देवताओं की पूजा में लगना—यही न! ठीक कहा न!"

मेरी इच्छा हुई कि कहूँ जब माला में पिरोये जाकर गले में झूमते हैं, जूड़े में शोभा पाते हैं, तब? तब भी उसके काम की बात ही होती है। काम का मतलब 'काम का' नहीं—काम से उसके गुण पर विचार होता है। गले में झूलना या जूड़े में शोभा पाना—यह भी उसके गुण ही तो हैं।

"और जिस फूल में शोभा नहीं, बदबू है—उसके बारे में क्या कहोगे?" नारायण ठाकुर ने चुभता हुआ तीर छोड़ा।

"निरगुण कहूँगा ठाकुर महाशय, निरगुण!" जवाब जैसे गाजी के मुँह पर ही था। जात से गुण का विचार नहीं होता। इसीलिए तो मैंने कहा कि आदमी फूल की तरह है, है कि नहीं, कहिए बाबू! तुम राम हो या रहीम—इससे मतलब नहीं। तुम पूजा में लगे हो या नहीं—इस बात को सोचो! है कि नहीं बाबू! कहते हुए गाजी ने अपनी आँखें नचायीं और गरदन हिलायी। दाढ़ी भी लहरा उठी। और फिर गुनगुनाने लगा जैसे कोई गीत कह रहा हो, "पूजा में लगे रहना होगा, लगना ही होगा, इसी में तुम्हारी जात का मान है!" यद्यपि इन शब्दों में कोई साज-बनाव नहीं। मन में कोई तरंग भी नहीं जगती! लेकिन कहीं कोई हूक-सी उठती है। राम-रहीम से कुछ आता जाता

वह शिशु बोला, "मैं भूत-प्रेत नहीं, तुम्हारा कोई भी अनिष्ट नहीं होगा। तुम अपनी पत्नी के पास लौट जाओ?" शिशु के सुन्दर चेहरे-मोहरे को देखकर जुलाहा कुछ आश्वस्त हुआ। वह लौट आया। एक बार फिर शिशु ने कहा, "तुम दोनों मेरा पालन करो, इसमें डरने की कोई बात नहीं।" इस तरह वह शिशु जुलाहा-जुलाहिन के घर में रहकर बड़ा हुआ। वही बालक बाद में कबीर कहलाया। अब इसमें सचाई चाहे जो भी हो..."

गाजी की बातें खत्म नहीं होतीं। नारायण ठाकुर बोल पड़े, "यह सब कोरा क़िस्सा अपने पास रखो। कबीर का वृत्तान्त मुझे मत सुनाओ! मेरे घर में अब भी किताब पड़ी हुई है। उसमें छापे के अक्षर में सारा क़िस्सा लिखा है। चाहो तो मैं पढ़कर सुना दूँगा।"

इतिहास का वितण्डा शुरू हो गया अब! वह भी इतनी दूर, बादा के एक भोजनालय में। एक ओर पाठक ठाकुर, तार्किक की भूमिका में तो दूसरी ओर, रास्ते का दरवेश।

मुझे यह स्वीकार करते हुए संकोच नहीं कि ऐतिहासिक कबीर की ऐतिहासिकता के बारे में मुझे इस तरह की बातों की कोई जानकारी न थी। अपना झोला झाड़कर इतना ही बता सकता हूँ कि सम्भवतः शक संवत् की सोलह से लेकर सत्रह शती तक उनका जन्म और तिरोधान हो चुका था। पठान सुलतान सिकन्दरशाह उस समय गद्दीनशीन थे। काशी में किसी हिन्दू राजा का शासन था। लेकिन कबीर के जन्म के बारे में मेरी विशेष जानकारी नहीं थी।

"किताब की क्या जरूरत है भला? आप बताइए, हम सुन लेंगे"—गाजी ने कहा।

नारायण ठाकुर इतने सीधे और कच्चे खिलाड़ी नहीं। बोले,

"अच्छा यह तो बताओ कि कबीर के गुरु कौन थे?"

"रामानन्द ठाकुर", गाजी ने हँसते हुए कहा।

नारायण ठाकुर तनिक हतप्रभ हुए। फिर बोले, "हाँ उसी रामानन्द ठाकुर की कृपा से कबीर संसार तर गये थे।"

गाजी सिर हिलाकर हँस पड़ा। बोला, "खैर, यह बात छोड़िए। उसका भी उत्तर है लेकिन उसके बाद क्या हुआ, यह बताइए!"

ठाकुर ने कहा, "बताता हूँ। उसी रामानन्द ठाकुर का एक ब्राह्मण शिष्य था। उसके एक विधवा बेटी थी। रामानन्द ठाकुर ने उस लड़की को आशीर्वाद देते हुए कह दिया—'पुत्रवती होओ!' उन्होंने उसके विधवा होने का खयाल नहीं किया। इधर गुरुदेव का आशीर्वाद! वह फले बिना रह नहीं सकता। और हुआ भी ऐसा ही। उस विधवा के लड़का हुआ। लेकिन लोकनिन्दा के भय से

मन की बातें मन को ही छूती हैं। नारायण ठाकुर के मुँह से ठीक इसके विपरीत बातें निकलती हैं। वह खिन्न होकर बोला, "सारी की सारी फालतू बातें यहीं हो रही हैं।"

उधर महतो चाचा का ध्यान हठात् टूट गया। उसने एक लम्बी-सी उसाँस ली, "भई, बात तो तुमने एकदम ठीक कही! पर वह सब कुछ पूजा में कहाँ लगा पाया।"

पूरे सहन का परिवेश ही जैसे बदल गया। हँसी-खुशी का तरल वातावरण लम्बी उसाँसों से बोझिल हो उठा। यद्यपि वहाँ किसी तरह का अन्धकार नहीं फैला था। वह काला भुच्च आदमी—जिसका रूप देखकर आँखें मुँद जायें, जिसकी मोटी-मोटी उँगलियाँ पत्ते में परसे गये दही में डूबी हों—अचानक इतना दयनीय क्योंकर हो गया? ऐसा प्रतीत होता था जैसे यह पृथ्वी के आदिम युग का प्राणी हो, गुहावासी। उसका मोर्चा हर तरह से मजबूत था, फिर भी, पता नहीं किस प्रकार की असहायता से वह कातर हो उठा था। अब उसके हृदय की बात कौन जाने? पता नहीं, गाजी ने उसके अन्तर के किस तार को झंकृत कर दिया है।

उधर महतो मालकिन की दोनों बड़ी आँखों में घाम झिलमिला रही थी। वे शान्त और गहरी हो उठी थीं। अधखुले घूँघट की आड़ में, उसकी दृष्टि कहीं दूर चली गयी थी। बाहर की शून्यता में सम्भवतः हृदय का कोई ज्वार खो गया था। उस समय गाजी अपना सिर नीचा किये मुट्ठियों में भात भर-भर-कर मुँह में डाल रहा था...सप्...चप्...सप्...।

इसलिए मुझे ही पुकारना पड़ा, "लेकिन उस कहानी का क्या हुआ? कमल-पत्र का वह बालक?"

गाजी ने मुँह में भात भरकर सिर हिलाया। फिर जल्दी से गिलास से मुँह लगाते हुए बोला, "अरे हाँ! जो कह रहा था...तो समझे न महतो चाचा!"

"हाँ...हाँ कहो भी तो!"

"तो जुलाहन ने उस शिशु को अपने सीने से लगा लिया। और फिर जुलाहे से बोली, "देखो, हमें एक बच्चा मिल गया है।" और वह बच्चा था भी इतना-सा, एकदम अभी-अभी गर्भ से निकला। आह रे मुरदोद! और उस बच्चे ने अचानक किलकारी मारी और आँखें खोलकर बोला, "मुझे काशी ले चलो!" इतना सुनना था कि जुलाहे की जान अटक आयी। सोचने लगा: इतनी-सी जान और इस तरह की बातें! यह अवश्य कोई भूत-प्रेत होगा! वह जुलाहिन को छोड़कर लगा दौड़ने। अब चाहे जो भी कहो। वह तो मुरदोद का दिन था। एक मील दौड़ने के बाद उसने देखा, सामने उसी शिशु का चेहरा हँस रहा है।

वह शिशु बोला, "मैं भूत-प्रेत नहीं, तुम्हारा कोई भी अनिष्ट नहीं होगा। तुम अपनी पत्नी के पास लौट जाओ?" शिशु के सुन्दर चेहरे-मोहरे को देखकर जुलाहा कुछ आश्वस्त हुआ। वह लौट आया। एक बार फिर शिशु ने कहा, "तुम दोनों मेरा पालन करो, इसमें डरने की कोई बात नहीं।" इस तरह वह शिशु जुलाहा-जुलाहिन के घर में रहकर बड़ा हुआ। वही बालक बाद में कबीर कहलाया। अब इसमें सचाई चाहे जो भी हो..."

गाजी की बातें खत्म नहीं होतीं। नारायण ठाकुर बोल पड़े, "यह सब कोरा क़िस्सा अपने पास रखो। कबीर का वृत्तान्त मुझे मत सुनाओ! मेरे घर में अब भी किताब पड़ी हुई है। उसमें छापे के अक्षर में सारा क़िस्सा लिखा है। चाहो तो मैं पढ़कर सुना दूँगा।"

इतिहास का वितण्डा शुरू हो गया अब! वह भी इतनी दूर, बादा के एक भोजनालय में। एक ओर पाठक ठाकुर, तार्किक की भूमिका में तो दूसरी ओर, रास्ते का दरवेश।

मुझे यह स्वीकार करते हुए संकोच नहीं कि ऐतिहासिक कबीर की ऐतिहासिकता के बारे में मुझे इस तरह की बातों की कोई जानकारी न थी। अपना झोला झाड़कर इतना ही बता सकता हूँ कि सम्भवतः शक संवत् की सोलह से लेकर सत्रह शती तक उनका जन्म और तिरोधान हो चुका था। पठान सुलतान सिकन्दरशाह उस समय गद्दीनशीन थे। काशी में किसी हिन्दू राजा का शासन था। लेकिन कबीर के जन्म के बारे में मेरी विशेष जानकारी नहीं थी।

"किताब की क्या जरूरत है भला? आप बताइए, हम सुन लेंगे"—गाजी ने कहा।

नारायण ठाकुर इतने सीधे और कच्चे खिलाड़ी नहीं। बोले,

"अच्छा यह तो बताओ कि कबीर के गुरु कौन थे?"

"रामानन्द ठाकुर", गाजी ने हँसते हुए कहा।

नारायण ठाकुर तनिक हतप्रभ हुए। फिर बोले, "हाँ उसी रामानन्द ठाकुर की कृपा से कबीर संसार तर गये थे।"

गाजी सिर हिलाकर हँस पड़ा। बोला, "ख़ैर, वह बात छोड़िए। उसका भी उत्तर है लेकिन उसके बाद क्या हुआ, यह बताइए!"

ठाकुर ने कहा, "बताता हूँ। उसी रामानन्द ठाकुर का एक ब्राह्मण शिष्य था। उसके एक विधवा बेटी थी। रामानन्द ठाकुर ने उस लड़की को आशीर्वाद देते हुए कह दिया—'पुत्रवती होओ!' उन्होंने उसके विधवा होने का खयाल नहीं किया। इधर गुरुदेव का आशीर्वाद! वह फले बिना रह नहीं सकता। और हुआ भी ऐसा ही। उस विधवा के लड़का हुआ। लेकिन लोकनिन्दा के भय से

मन की बातें मन को ही छूती हैं। नारायण ठाकुर के मुँह से ठीक इसके विपरीत बातें निकलती हैं। वह खिन्न होकर बोला, "सारी की सारी फालतू बातें यहीं हो रही हैं।"

उधर महतो चाचा का ध्यान हठात् टूट गया। उसने एक लम्बी-सी उसाँस ली, "भई, बात तो तुमने एकदम ठीक कही! पर वह सब कुछ पूजा में कहाँ लगा पाया।"

पूरे सहन का परिवेश ही जैसे बदल गया। हँसी-खुशी का तरल वातावरण लम्बी उसाँसों से बोझिल हो उठा। यद्यपि वहाँ किसी तरह का अन्धकार नहीं फैला था। वह काला भुच्च आदमी—जिसका रूप देखकर आँखें मुँद जायें, जिसकी मोटी-मोटी उँगलियाँ पत्ते में परसे गये दही में डूबी हों—अचानक इतना दयनीय क्योंकर हो गया? ऐसा प्रतीत होता था जैसे यह पृथ्वी के आदिम युग का प्राणी हो, गुहावासी। उसका मोर्चा हर तरह से मजबूत था, फिर भी, पता नहीं किस प्रकार की असहायता से वह कातर हो उठा था। अब उसके हृदय की बात कौन जाने? पता नहीं, गाजी ने उसके अन्तर के किस तार को झंकृत कर दिया है।

उधर महतो मालकिन की दोनों बड़ी आँखों में घाम झिलमिला रहा था। वे शान्त और गहरी हो उठी थीं। अधखुले घूँघट की आड़ में, उसकी दृष्टि कहीं दूर चली गयी थी। बाहर की शून्यता में सम्भवतः हृदय का कोई ज्वार खो गया था। उस समय गाजी अपना सिर नीचा किये मुट्ठियों में भात भर-भर-कर मुँह में डाल रहा था...सप्...चप्...सप्...।

इसलिए मुझे ही पुकारना पड़ा, "लेकिन उस कहानी का क्या हुआ? कमल-पत्र का वह बालक?"

गाजी ने मुँह में भात भरकर सिर हिलाया। फिर जल्दी से गिलास से मुँह लगाते हुए बोला, "अरे हाँ! जो कह रहा था...तो समझे न महतो चाचा!"

"हाँ...हाँ कहो भी तो!"

"तो जुलाहन ने उस शिशु को अपने सीने से लगा लिया। और फिर जुलाहे से बोली, "देखो, हमें एक बच्चा मिल गया है।" और वह बच्चा था भी इतना-सा, एकदम अभी-अभी गर्भ से निकला। आह रे मुरशेद! और उस बच्चे ने अचानक किलकारी मारी और आँखें खोलकर बोला, "मुझे काशी ले चलो!" इतना सुनना था कि जुलाहे की जान अटक आयी। सोचने लगा: इतनी-सी जान और इस तरह की बातें! यह अवश्य कोई भूत-प्रेत होगा! वह जुलाहिन को छोड़कर लगा दौड़ने। अब चाहे जो भी कहो। वह तो मुरशेद का दिन था। एक मील दौड़ने के बाद उसने देखा, सामने उसी शिशु का चेहरा हँस रहा है।

वह शिशु बोला, "मैं भूत-प्रेत नहीं, तुम्हारा कोई भी अनिष्ट नहीं होगा। तुम अपनी पत्नी के पास लौट जाओ?" शिशु के सुन्दर चेहरे-मोहरे को देखकर जुलाहा कुछ आश्वस्त हुआ। वह लौट आया। एक बार फिर शिशु ने कहा, "तुम दोनों मेरा पालन करो, इसमें डरने की कोई बात नहीं।" इस तरह वह शिशु जुलाहा-जुलाहिन के घर में रहकर बड़ा हुआ। वही बालक बाद में कबीर कहलाया। अब इसमें सचाई चाहे जो भी हो..."

गाजी की बातें खत्म नहीं होतीं। नारायण ठाकुर बोल पड़े, "यह सब कोरा क़िस्सा अपने पास रखो। कबीर का वृत्तान्त मुझे मत सुनाओ! मेरे घर में अब भी किताब पड़ी हुई है। उसमें छापे के अक्षर में सारा क़िस्सा लिखा है। चाहो तो मैं पढ़कर सुना दूँगा।"

इतिहास का वितण्डा शुरू हो गया अब! वह भी इतनी दूर, बादा के एक भोजनालय में। एक ओर पाठक ठाकुर, तार्किक की भूमिका में तो दूसरी ओर, रास्ते का दरवेश।

मुझे यह स्वीकार करते हुए संकोच नहीं कि ऐतिहासिक कबीर की ऐतिहासिकता के बारे में मुझे इस तरह की बातों की कोई जानकारी न थी। अपना झोला झाड़कर इतना ही बता सकता हूँ कि सम्भवतः शक संवत् की सोलह से लेकर सत्रह शती तक उनका जन्म और तिरोधान हो चुका था। पठान सुलतान सिकन्दरशाह उस समय गद्दीनशीन थे। काशी में किसी हिन्दू राजा का शासन था। लेकिन कबीर के जन्म के बारे में मेरी विशेष जानकारी नहीं थी।

"किताब की क्या जरूरत है भला? आप बताइए, हम सुन लेंगे"—गाजी ने कहा।

नारायण ठाकुर इतने सीधे और कच्चे खिलाड़ी नहीं। बोले,

"अच्छा यह तो बताओ कि कबीर के गुरु कौन थे?"

"रामानन्द ठाकुर", गाजी ने हँसते हुए कहा।

नारायण ठाकुर तनिक हतप्रभ हुए। फिर बोले, "हाँ उसी रामानन्द ठाकुर की कृपा से कबीर संसार तर गये थे।"

गाजी सिर हिलाकर हँस पड़ा। बोला, "ख़ैर, वह बात छोड़िए। उसका भी उत्तर है लेकिन उसके बाद क्या हुआ, यह बताइए!"

ठाकुर ने कहा, "बताता हूँ। उसी रामानन्द ठाकुर का एक ब्राह्मण शिष्य था। उसके एक विधवा बेटी थी। रामानन्द ठाकुर ने उस लड़की को आशीर्वाद देते हुए कह दिया—'पुत्रवती होओ!' उन्होंने उसके विधवा होने का ख़याल नहीं किया। इधर गुरुदेव का आशीर्वाद! वह फले बिना रह नहीं सकता। और हुआ भी ऐसा ही। उस विधवा के लड़का हुआ। लेकिन लोकनिन्दा के भय से

उसने बालक को सबसे छुपाकर जन्म दिया और कहीं दूसरी जगह रख आयी। वही था वह लड़का जो जुलाहा-जुलाहिन को मिला और उसे अपने घर ले आये तथा पाल-पोसकर बड़ा किया।

..."हाँ, यह हो सकता है। पर मतलब तो वही निकला!" गाजी बोला। "वही कैसे निकला? कबीर हिन्दू का लड़का था।"

गाजी ने गरदन घुमाकर पूछा, "उसके बाप का नाम जानते हैं आप? मैं तो आजतक नहीं जान पाया कि कबीर का बाप कौन था?"

खाना-पीना और परोसना—सब गया भाँड़ में। अब यहाँ कबीर पर बहस हो रही थी। नारायण ठाकुर केवल क्षुब्ध ही नहीं, क्रुद्ध भी थे। गाजी की ओर हाथ नचाकर बोले, "अब ऐसे लण्ठ को क्या समझाऊँ? जब गुरु का आशीर्वाद था ही तो फिर बाप से क्या लेना-देना? गुरु ने आशीर्वाद दिया तभी तो बालक पैदा हुआ। अब भी समझे? हिन्दू गुरु का आशीर्वाद था, इसीलिए विधवा के पेट से जन्म हुआ। अब यदि तुम उसकी जात न मानो तो इससे क्या फ़र्क पड़ता है?"

गाजी हँसता रहा। गुरु के आशीर्वाद से जन्म हो या कमल-पत्र पर अवतरित। मेरे लिए दोनों ही वृत्तान्त समान थे। तो भी, इस कथा में कोई ऐसा संकेत था, जो यथार्थ की सीमा में आता था। किन्तु गाजी हँसता रहा और हँसते-हँसते बोला, "ठाकुर महाशय! आप यही कहना चाहते हैं न कि कबीर हिन्दु थे?"

"निश्चय ही", नारायण ठाकुर ने बीड़ी जलाते हुए कहा।

"तो फिर सुनिए!" गाजी ने बात बढ़ायी।

"जात-पाँत कुल का पड़ा, एह शोभा दिन चारि।
कहत कबीर सुनहु रामानन्द, एहो रहे झक मारि॥
जात हमारी बानी कुल करता अरु मारि।
कुटुम्ब हमारे सन्त हैं, मूरख समझत नाहिं॥"

हो सकता है, रामानन्द उनके गुरु रहे हों, पर कबीर जात-पाँत से परे थे। उनकी साखी में—उनकी जाति है, पूरी मानव-जाति। साधु उनके कुटुम्बी हैं। उनकी कोई विशेष जात नहीं—न हिन्दू न मुसलमान।"

नारायण ठाकुर फिर हतप्रभ हुए। मैं भी हैरत में पड़ गया। यह तो बहुत ही तगड़ी चाल थी। इस बीच मैं कई अवसरों पर गाजी की उड़ान देख चुका था। वह झूठ-मूठ ही नहीं टकराता। प्रमाण जुटाकर प्रश्न करता। वह केवल मुरशेद नाम की मजदूरी करता फिरता है, यह मैं नहीं कह सकता! एक पलड़े में शब्द रखता है तो दूसरे पलड़े में बटखरे भी। बिना वज़न की, अर्थहीन बातें

नहीं करता। कौन जाने, नारायण ठाकुर अब उसे छपे हुए अक्षर दिखायेगा या नहीं। लेकिन उसका हाव-भाव कुछ दूसरे ही प्रकार का हो उठा था। बोला, "यह बात दूसरी है।"

गाजी हँसकर फिर भात खाने लगा...सपा...सप्। और फिर एकदम मीठे स्वर में बोला, "थोड़ा-सा भात दीजिएगा, ठाकुर महाशय!"

नारायण के चेहरे से जान पड़ा, जैसे उसकी नस-नस में आग भड़क उठी हो। स्वयं अन्दर न जाकर उसने सहन से ही आवाज लगायी—फोंचा बर्तन में जो भात बचा है, वह इसे दे जा।"

महतो मालकिन बिना हँसे नहीं रह पायी। उसकी आँखों में उतर आने-वाली शाम की परछाईं फिर दोपहर की चमक में ढल गयी थी। ठाकुर और गाजी भीतर-ही-भीतर कहाँ-कहाँ लड़ पड़ते हैं—यह उसे पता हो जैसे! वह गाजी की ओर देखकर जिस तरह मुसकरायी, उससे लगा कि वह भी उसे सराह रही थी। बोली, "तो क्या यही तुम्हारी कहानी थी? बस!"

गाजी ने कहा, "नहीं, नही! और भी है। असली बात तो रह ही गयी। जात-पाँत का तमाशा भी तो वहीं है।"

उसने फोंचा से भात लिया और उसे मिलाते हुए कहने लगा, "उसके बाद बेचारे कबीर थे कि चल बसे। मरते ही, मुसलमान बन्दों ने कहा, 'हम इन्हें क़ब्र में दफ़नायेंगे।' हिन्दू चेलों ने कहा, 'नहीं, हम इन्हें जलायेंगे।' दोनों में घोर विवाद! उसने भी लाठी उठा ली, इधर इसने भी लँगोट कस ली। जिन्दा रहते हुए उस आदमी ने जो कुछ कहा था—सब बेकार। जब दोनों ओर से मार-पीट की नौबत आ गयी तो कबीरदास प्रकट हुए। बोले, 'झगड़ा मत करो, मेरी लाश को उघाड़कर देखो।' दोनों दल उनकी लाश पर टूट पड़े। देखा, वहाँ कबीर न थे। चादर के नीचे, बस फूल ही फूल थे। अब लो, किसे जलाओगे और किसे दफ़नाओगे! पर विधान तो कुछ-न-कुछ करना ही था। इसीलिए आधे फूल तो ले गये काशी के महाराजा। उन्होंने उन फूलों का दाह-संस्कार किया और भस्मी को एक जगह रखवा दिया। शेष आधे ले गये दिल्ली के सुलतान और गोरखपुर के किसी गाँव में उन्हें दफ़ना दिया। लो, अब तुम उनकी जात पर विचार करना चाहो तो करते रहो।

यह कहते हुए वह फिर सिर झुकाकर खाने लगा। ऐसा कभी भी नहीं लगा कि गाजी कोई दार्शनिक बात कह गया। वह तो सिर्फ़ शैतानी में भरकर नारायण ठाकुर को छेड़ रहा था और मन-ही-मन आनन्दित हो नाच रहा था। क्षण भर बाद उसने फिर जोर से पुकारा, "अब हरि हरि पुकारो रे मन! ठाकुर महाशय, जरा फोंचा को दही देने कह दीजिएगा।"

इसे शैतानी न कहूँ तो और क्या कहूँ ! नारायण ठाकुर तबतक भीतर जाकर अन्तर्धान हो चुका था। इस बीच मेरे पत्तल में दही परसा जा चुका था। महतो भी उठ खड़ा हुआ, इस कहानी के रहस्य में ही कहीं डूबा !

फिर अपनी धुन में गरदन उचकाकर बोल उठा, "देखो तो सही ! खुद प्रकट हुए और अपनी व्यवस्था कर गये। अन्यथा ये सब तो उनके शरीर के दो टुकड़े ही कर डालते !"

महतो मालकिन पत्तल छोड़कर उठती हुई बोली, "तुम्हें गान भी सुनाना पड़ेगा।"

गौर करने पर मैंने पाया कि महतो की बातों में जिस तरह का तीखापन था, उसकी बीवी की बातों में नहीं ! हो सकता है, दोनों दो अलग-अलग प्रदेशों के हों।

गाजी बोला, "अब समय कहाँ है ? भोलाखालि भी तो जाना है !"

महतो मालकिन ने अपनी देह को हौले से मोड़ा और फिर हाथ उठाकर अँगड़ाई लेती हुई बोली, "थोड़ा बैठकर चलूँगी। भरे पेट से चल न पाऊँगी।"

यह कह उसने तिरछी निगाहों से पति की ओर देखा। जो तबतक ड्योढ़ी पर पाँव रख चुके थे। उधर ही आचमन की व्यवस्था थी। मालकिन भी उधी ओर चली गयीं।

गाजी ने फिर एक बार पुकारा, "ठाकुर महाशय ! थोड़ा-सा दही देना।"

भीतर से ऊँची और गुस्से में ढली आवाज आयी, "अब दहीं-वही कुछ नहीं है। उठो ?"

"अच्छा...ठाकुर महाशय, ठीक है।" कहता हुआ गाजी मेरी तरफ देखकर हँसा। वह जूठी पत्तल मोड़कर पता नहीं, किधर चला गया ? शायद उसी ओर निकल गया हो, जहाँ उसके छुए जाने का डर न हो। इस छुआछूत के इलाके से कहीं दूर।

लेकिन उसका हँसता चेहरा अचानक ही कैसा करुण हो उठा था। महामाया हिन्दू होटल का दही कोई अमृत तो नहीं। मैं सारा-का-सारा खा भी न पाया। दूसरी तरफ़ गाजी, चाहकर भी न पा सका। इसमें पैसे की वैसी कोई बात न थी। ग्लानि, विवशता और अपमान के बदले भी मैं उसकी दरपन जैसी आँखों में सिर्फ़ मुसकानभरी झाँकी ही देखता रहा था। क्या उसके भीतर, नीचे-ही-नीचे कोई दूसरा स्रोत न था ! मेरा मन नारायण के प्रति विक्षुब्ध हो उठा।

लेकिन ऐसा क्यों हो जाता है ? इससे तो अच्छा है कि गाजी की तरह हँस पड़ूँ। इस प्रकार विक्षुब्ध होने को तो कितने ही अवसर आ जुटते हैं। अब उन्हें देखता चलूँ तो ठोकरें ही लगेंगी या सब मान लूँ तो अपना ही मुँह काला

होगा। इससे तो अच्छा है कि हँसकर निकल जाओ।

मैं सावधानीपूर्वक कुरसी से उठ खड़ा हुआ। इसे भोजन का अध्याय नहीं, बल्कि कबीर-पर्व कहना उचित होगा। बे-वक़्त शरीर बहुत भारी लग रहा था। बाहर काफ़ी समय बीत चुका था। ढलती धूप हलकी पड़ चुकी थी—दिन के आखिरी पहर में शान्त और ललछौंही।

हाथ-मुँह धोने के बाद, अब पैसे चुकाने की बारी आयी। लेकिन नारायण ठाकुर कहाँ थे? मेरा अनुमान ग़लत नहीं था। ठाकुर स्वयं ही रसोइया थे और स्वयं ही मालिक। पैसे लेने-देने का काम भी उसका ही था। इधर गाज़ी भी ग़ायब हो चुका था। दूसरी तरफ़, मालिक-मालकिन अपनी बातों में मगन थे। महतो बोल रहा था: "जो मिल जायेगा, वही ले आऊँगा, तुम जाकर बैठो!"

इसी बीच फोंचा आ गया। उसके गले की आवाज़ चूहे की तरह चीं चीं कर रही थी जिसका उसके चेहरे से कोई भी मेल न था। उसने पूछा—"बाबू! आप बैठेंगे या जायेंगे?"

बैठने का कोई प्रश्न ही न था। खाना-पीना हो चुका तो अब ग्राहक विदा ही होगा। महतो बोल उठा, "क्यों भई, कहीं पानी में गिर गये हैं या इजलास में हाज़िर होना है कि खाना खाते ही विदा होना पड़ेगा?"

फोंचा बोला, "मैंने तो ऐसा नहीं कहा! ठाकुर महाशय ने पूछने के लिए कहा, इसीलिए।"

महतो भी ठहरा महतो। उसने झड़प दिया, "इसमें पूछने की क्या बात थी! खाना हो चुका, अब थोड़ी देर बैठेंगे, बीड़ी-ईड़ी खींची जायेगी। और सुनो, तुम बरामदे पर एक आसन डाल दो! तुम्हारे ठाकुर भी तो अब खाना खाने बैठेंगे?"

"हाँ।"

"तो उससे कह दो। खाकर आयेगा तो पैसे ले लेगा।"

बात किसकी हो रही थी, कौन कह गया! फोंचा कुछ कहने के पहले ही एक आज्ञापालक की तरह चुपचाप चला गया। खाना खाने के बाद होटल के बरामदे में आसन बिछाकर बैठने की रीति का मुझे पता न था। महतो ने इसी बात को दोहराया, "अरे महाशय, थोड़ी देर बैठ भी जाइए! पान-बीड़ी फूँकिए।

यह तो आपका शहरी होटल नहीं कि खाना खाया, दाम चुकाया, और चल दिये।" कहते हुए वह मेरी ओर से अपनी दृष्टि पत्नी की ओर फेर ली। फिर पूछ बैठा, "हाँ, तू बोल रही थी न?"

बहू का मुख दूसरी ओर था। जवाब मिला—"मैं कह रही थी, गाजी के लिए भी पान के दो बीड़े ले आना।"

महतो के मुँह से 'हाँ या ना' कोई शब्द नहीं फूटा। वह बरामदे से उतर नीचे टहलने लगा। फोंचा इस बीच आकर एक शीतलपाटी बिछा गया। अब यहाँ जो चाहो, करो!

करने को कुछ नहीं था? खा चुका था, इसलिए पैसे दिये बिना जा नहीं सकता था। फिर गाजी मुझे अकेला छोड़कर चला गया था। उसके लौट कर आने तक कहीं जा भी नहीं सकता था। अतः शीतलपाटी पर ही गद्दी जमानी पड़ी। महतो की बहू बरामदे से हटकर दरवाजे के पास खड़ी हो गयी। उसके शरीर का आधा हिस्सा घर के भीतर और आधा बाहर था। घूँघट की ओट में रहने के बावजूद उसका मुखड़ा दूसरी तरफ़ था। यह मैं साफ़ देख रहा था।

इस बीच पता नहीं कब, एक बीमार कुत्ता आ टपका। काला-भूरा रंग। वह सामने फेंकी गयी राख के ढेर से उतरा और सन्देह-भरी नजर से सीढ़ियों की ओर देखता रहा। फिर पास आकर अपने कान डुलाने लगा और पूँछ हिलाकर आशा और निराशा-भरी आँखों से ताकने लगा। दरवाजे के पास चूड़ियों के छनकने की आवाज आयी। अरे, गाजी से भी साहसी! उछल कर वह सीढ़ियों पर चढ़ गया और जिधर से आवाज आ रही थी वहाँ दौड़ पड़ा। इतना ही नहीं, उसने अपना अगला पाँव लाल साड़ी की तरफ़ बढ़ा दिया। तभी महतो की बीवी हँसती हुई बोली, "अरे मुँह जले! देह पर मत कूद! क्या है यहाँ, जो तुझे दूँ?"

वह यह सब क्या जाने? इसलिए वहाँ से भागने का नाम नहीं ले रहा था। फिर भी, वहाँ से हटना पड़ा उसे, जब अचानक दूर से महतो और गाजी को आते हुए देखा। मैंने भी देखा—दोनों के मुँह चल रहे हैं। कुछ चबा भी रहे हैं और बातें भी कर रहे हैं, एक साथ। रंगे हुए होठों को देखकर ही पता चल गया कि चबाई जाने वाली चीज पान है। बातचीत का एक हिस्सा महतो के मुँह से फूट रहा था, 'अरे, वह सब तुम मुझे क्या बताओगे? मैं अनन्ता और उस अनादि को तो अच्छी तरह पहचानता हूँ। मुझे तो उस दुलि छोकरी पर गुस्सा आ रहा है...अच्छा यह लो...।"

सीढ़ियों पर चढ़ते हुए महतो एक बात से दूसरी बात पर चला गया।

अपनी पत्नी की तरफ़ पान बढ़ाते हुए कहा, "तुम कौन-सा मसाला दिया हुआ जर्दा लाने को कह रही थी ? वह तो कहीं मिला नहीं। फिलहाल इसी से काम चलाओ !"

फिर मेरी तरफ़ पान का बीड़ा बढ़ाते हुए बोला, "लीजिए, यह पान...!"

गाजी ने भी अपने लाल-लाल दाँत निपोरते हुए कहा, "हाँ बाबू ! पान खाइए।"

लेकिन मेरे जैसा ठलुआ इस रस से सर्वथा वंचित था। इसलिए कहना पड़ा, "मैं पान नहीं खाता।"

पर मेरी बातों को अनसुनी करते हुए महतो बोला, "आपका नाम लेकर मैंने पान लगवाया है। अब खा भी लीजिए महाशय !"

गाजी ने हँसकर अपनी गरदन हिला दी। अब फोंचा द्वारा लाये गये आसन पर बैठने के अलावा कोई चारा न था। लेकिन पान के मामले में वह सम्भव न था। जिससे दम घुटने और गला अटकने लगे, ऐसी चीजों को दावत देकर कष्ट उठाना कोई अक्लमन्दी न होती। इसलिए महतो से हाथ जोड़ते हुए मैंने कहा, "मैं खा नहीं पाऊँगा, तकलीफ़ होती है।"

महतो ने शायद इससे पहले ऐसी मजेदार बात नहीं सुनी थी। बोला, "आप भी क्या कह रहे हैं महाशय ?" और हो-हो हँसने लगा। हँसी के साथ खाँसी भी फूट पड़ी। वहीं से उसने अपनी कोयल-जैसी लाल आँखों से बीवी की ओर देखा। वह भी हँस पड़ी। साथ ही, अपनी हँसी को दबाने की कोशिश भी करती रही। गाजी भी हँसते-हँसते बोल उठा,—"हमारे बाबू की बातें ऐसी ही मजेदार होती हैं। अभी बाबू की इच्छा नहीं है। इसलिए वह पान तुम्हीं खाकर खतम करो।"

महतो की हँसी अबतक रुकी नहीं थी। मेरे पास ही, बेड़े से लगकर बैठे-बैठे ही उसने कहा, "पान खाने से तकलीफ होती है, ऐसा मैंने कभी नहीं सुना। मैं तो तब से ही नशे का सेवन कर रहा हूँ जब से जनम हुआ है। शराब या भाँग जो भी कहिए, किसी में अरुचि नहीं।

सच्ची-सीधी बात सहज ही निकल जाती है। ऐसी कोई जगह ही नहीं बची, जहाँ किसी छींटे या दाग़ की गुंजाइश हो। लेकिन पान न चबा पाने के साथ इसकी तुलना करने में क्या संगति थी, इस तर्क में मैं नहीं पड़ना चाहता था। इसलिए उनकी हँसी में शामिल होते हुए मैंने कहा, "सचमुच, अच्छा नहीं लगता।"

गाजी बोला, "हाँ, यह हुई न कोई बात, लाजवाब ! 'अच्छा नहीं लगता।' इसके बाद और क्या कहा-सुना जाये।"

इतनी देर तक मेरी बातों को टालकर ही सारी बातें हो रही थीं। महतो बोला, "ठीक बात है! आंगरी, तू खायेगी क्या ?"

महतो की बीवी इस बीच दरवाजे से टिककर जमीन पर बैठ गयी थी। उसने जवाब दिया, "नहीं, मेरे मुँह में है। अब और नहीं डालना।"

इतनी देर के बाद कहो महतो की बीवी का नाम सुन पड़ा—आंगरी। इस नाम की उत्पत्ति कैसे हुई, मैं कोई धारणा नहीं बना सका।

महतो ने कहा, "मुँह में तो मेरे भी है।"

इसी क्षण गाजी पुकार उठा, "तो फिर मुझे दे दो चाचा!"

"हाँ। यह तुम्हारे बाबू का ही पान है, तुम ही खाओ।" उसने हाथ बढ़ाकर गाजी को पान दे दिया। फिर अपनी जेब से बीड़ी निकालते हुए बोला, "अब थोड़ा-बहुत धुँआ भी छोड़ा जाये, क्यों ?"

गाजी ने सीढ़ी के पास बैठते हुए कहा, "भला क्यों नहीं ? तुम पिलाओ तो सही।"

महतो ने एक हाथ में, एक साथ तीन बीड़ियों को सहेजा। फिर दियासलाई से तीली निकालकर तीनों को एक साथ सुलगा लिया। एक बीड़ी गाजी को मिली और दूसरी, दायी तरफ़ बढ़ा दी। शंख चूड़ी पहने एक हाथ ने उसे लपक लिया। जलती हुई वह बीड़ी घूँघट की ओट में ग़ायब हो गयी। तीनों के मुँह से निकलनेवाले धुएँ आपस में गड्डमड्ड हो चले। भोजन के बाद पूर्ण विश्राम का यह दृश्य! बीड़ी के धुएँ के साथ जरदे की खुशबू से सारा वातावरण एकदम बोझिल हो चला।

मेरी सिगरेट भी खत्म हो गयी थी।

एकाएक महतो की बीवी बोली, "लेकिन तुम्हें गान तो सुनाना ही पड़ेगा।"

महतो की बीवी नहीं—'आंगरी'। बहुत कुछ अँगूठी (आँगटि) की तरह। महतो की बीवी का सही नाम अंगूरी था। लेकिन वह जब कभी उसे आंगरी, आदि नाम से भी सम्बोधित करता था।

"सुनाऊँगा चाची! जरा पान-बीड़ी से मिजाज तो छन जाये," गाजी ने जवाब दिया और फिर महतो की ओर मुड़कर बोला, "अरे चाचा! मैं तो यह पूछना ही भूल गया! तुम कलकत्ता गये थे क्या ?"

"नहीं तो। कलकत्ता भला क्या करने जाऊँगा ?" महतो के मुँह से धुँआ छूटा।

"न्न...मैंने सुना था तुम अलीपुर की कचहरी गये थे। कोई मामला-मुकद्दमा रहा होगा ?"

महतो को यह सब कुछ पूछना अच्छा नहीं लग रहा था। गाजी की तरफ़

मुड़कर उसने झिड़क दिया—"क्यों ? खेत-खलिहान के अलावा और कोई काम नहीं है मुझे कि मैं सिर्फ़ मामले-मुक़दमों में ही पड़ा घूमता रहूँ !"

अब देखना यह था कि एक बात से दूसरी बात का सिलसिला कैसे जुड़ता है ? महतो के तेवर का कुछ पता नहीं। गाज़ी थोड़ी देर चुप रहकर बोला, "ऐसा तो नहीं ! फिर भी, निकलना तो पड़ता ही है ! चक्कर तो लगा ही रहता है।"

मैंने सोचा था महतो इस बार उसे बुरी तरह डपट देगा। नहीं ! महतो ने धीरे-धीरे अपनी गरदन हिलायी। उसकी छोटी-छोटी लाल आँखों की दृष्टि कहीं दूर जाकर भटक गयी। उसका चौड़ा-चकला कालाभुच्च चेहरा अचानक नरम और मुलायम पड़ गया, किसी दलदल की नाईं। एक क्षण चुप रहने के बाद वह बोला, "ज़रा तारकेश्वर चला गया था।"

"अ...पूजा-पाठ करने के लिए ?"

महतो ने चेहरा नहीं घुमाया। न आँखें ही फिरायी। बीड़ी का कश भी नहीं खींचा। उधर किसी तरह अंगूरी का घूँघट खुल गया था। बहुओं का घूँघट बार-बार क्यों खुल जाता है और बार-बार उसे क्यों खीचना पड़ता है, यह कोई दूसरा कैसे बताये ? शायद बहुओं की सास या फिर ननदें ही यह रहस्य बता सकें। जो भी हो, अंगूरी ने घूँघट का पट नहीं खींचा इसलिए उसके चेहरे का एक हिस्सा दीख रहा था। अब उसके मुँह से धुआँ भी नहीं निकल रहा। लेकिन बीड़ी अब भी उन्हीं उँगलियों में कहीं फँसी होगी। उसका साँवला चेहरा किसी मूर्ति की तरह निश्चल था। और कजरायी आँखें भी पति की तरह ही कहीं दूर खो गयी थीं।

"नहीं। पूजा-पाठ अब क्या करूँगा भला !" महतो ने जवाब दिया।

गाज़ी अब भी माननेवाला नहीं ! उसने पूछा, "तो फिर कोई मनौती-वनौती होगी !"

इस बार महतो ने एक बार अंगूरी की तरफ़ देख लिया। लेकिन अंगूरी उसी तरह बैठी रही—पान चबाती हुई। उससे गान सुनना चाहा था—इस बात की सुधि भी उसे नहीं रही ! उसके जूड़े में खोंसा गया चाँदी के झूमरवाला काँटा अब एकदम स्थिर था। उसकी झिलमिल चमक ग़ायब थी।

महतो का सारा रोब-दाब, जो उसके भारी-भरकम व्यक्तित्व का पर्याय था, मानो ढह गया। अब वह कैसा असहाय हो पड़ा था ? पता नहीं, कहाँ से अभिशाप की काली छाया उसके सिर पर मँडराती रही थी। "बस और क्या ! मनौतियाँ तो करता ही जा रहा हूँ, लेकिन उनका फल कहाँ मिल रहा ?" वह जैसे कातर हो उठा। साथ ही, गहरी उसाँस ने उसके मन का ढक्कन भी खोल

दिया। मैंने देखा, वह सीने में गहरे घाव छुपाये है। अंगूरी तत्काल बोल उठी, "ओह, यह भी कोई बात हुई? फल मिला या नहीं मिला—यह तुम क्यों बोल रहे हो? मनौती की है। बस, इतना ही कहो!"

अंगूरी के स्वर में थोड़ा उद्वेग था। इसे संस्कार कहा जाये या मर्यादा? जो भी कहा जाये कुछ वैसा ही था कि तुम अपना काम करो, फल तो किसी और के हाथ में है।

"सो तो ठीक है। लेकिन अंगूर! आदमी का मन भी तो कोई चीज है।" उसके स्वर में निराशा भरी थी और आवाज में शिकायत। अब पता चला कि अंगूरी—अंगूर है। अंगूर सुनने में अच्छा लगता है! लेकिन आंगरी तो और भी मीठी लगती है। वह बोली, "जो भी हो। फल नहीं मिला, यह बात कभी नहीं कहनी चाहिए।"

महतो ने धीरे से अपनी गरदन हिलाकर गहरी उसाँस भरी। और तब उसके मोटे काले होठों पर हँसी दौड़ गयी। उसने हँसते हुए कहा, "समय तेजी से निकला जा रहा है।"

उसकी बात समाप्त होने के पहले ही मैंने बाहर झिलमिलाती धूप की तरफ दृष्टि दौड़ायी थी। गाजी की दरपन-सी आँखें अब भी धरती पर टिकी थीं। उसके शिकन-भरे चेहरे पर भी कोई छाया मँडरा रही थी। महतो के गले से आवाज आ रही थी, "समय पर मिलनेवाली वस्तु यदि सही समय पर नहीं मिलती तो फिर उसे पकड़ पाना बड़ा मुश्किल होता है? क्यों, गाजी, है न ठीक बात?"

गाजी ने सिर उठाये बिना ही किसी पद की पंक्तियाँ दोहरा दीं: "एकदम ठीक चाचा! कहा गया है न—'बाँध सको तो स्रोत को बाँधो। जल को बाँधो। फँसी जो मछली जाल को खींचो जल्दी खींचो। फिर क्या फँसेगी अब सूख जाये जल'।"

महतो ने जल्दी-जल्दी अपना सिर हिलाया और बार-बार दोहराने लगा, "एकदम यही बात है। जरा फिर से दोहराओ। पानी सूख गया तो फिर कहाँ फँसेगी मछली! मैं भी अंगूरी को वही बता रहा था। लेकिन मन है कि कम्बख्त मानता ही नहीं।"

वे तीनों ही चुप्प। मैंने देखा, तीनों का धूम्रपान भी बन्द। बीड़ियाँ बुझ चुकी थीं। और अब मैं स्वयं से ही बातें कर रहा था, "ओ जनम के अन्धे! तुमने देखा कहीं प्रकाश में जिसकी चमक कौंधती है! या फिर जो बातें करता है, लेकिन नजर नहीं आता, हाथ के सामने डोलता रहता है, पर ढूँढ़ने लगो तो जीवन भर नहीं मिलता।" ये तीनों मिलकर पता नहीं, एक-जैसी ही कौन-सी

बातें कर रहे थे ? मैं उनका आशय नहीं समझ पा रहा था। बल्कि उनके बीच बैठा किसी दूसरी ही धारा में बहता रहा। ऐसी कोई एक रहस्यपूर्ण धारा, जो अन्दर-ही-अन्दर बह रही थी। मैं एक बाहरी, परदेशी आदमी था—यह इन तीनों के भाव से प्रकट हो रहा था। अब ये तीनों एक हो गये थे और मैं इनसे अलग, दूसरा, विस्मृत और अस्तित्वहीन।

तभी अंगूरी का स्वर सुनाई पड़ा : "यदि मन नहीं मानता तो क्या करोगे, बोलो ? उसे मनाये बिना चारा भी क्या है ? लेकिन अब यह बहाना मत बनाओ कि समय चला गया, समय बीत गया। यह सब तुम्हारे मन का भ्रम है।" कहते हुए उसने घूँघट खींच लिया।

महतो होले-होले मुसकराता रहा। वह मुसकान अंगूरी को जैसे कहीं छू गयी। इसीलिए उसने एक बार आँखें उठाकर देख-भर लिया। मैंने ध्यान से देखा, उसकी बड़ी-बड़ी कजरायी आँखों में आँसू तो नहीं ! लेकिन उससे भी भारी कोई ऐसी पीड़ा थी, जो किसी अथाह तल से निकल पड़ना चाहती थी, पर शायद निकल नहीं पा रही थी।

गाजी ने भी अपनी दरपन-सी आँखों समेत पलकों को धीरे से नचाया और फिर महतो की तरफ़ देखकर बोला, "हाँ, हो सकता है यही हो। मन के भरम से ही तो करम बिगड़ता है। इस मन को बाँधो, पकड़कर रस में जकड़ दो ! चाचा ! अभी तुम्हारी उमर इतनी नहीं कि यह कहा जाये—वक्त चला गया।"

महतो का इन बातों पर ध्यान नहीं। वह अपने में डूबा, अपनी बातें सुना रहा था, "डॉक्टर, वैद्य, और सारे उपाय—सब कर डाले। इतना ही हीं नहीं, अलीपुर कोर्ट के जितने भी जाने-पहचाने वकील और मजिस्ट्रेट हैं, उन्होंने जिस किसी भी डॉक्टर के बारे में बताया, सबको दिखा चुका। अरे, वे सब-के-सब कलकत्ता के डॉक्टर थे। उस पर काली घाट और तारकेश्वर की भी महिमा तो कुछ कम नहीं। अब कपाल में क्या लिखा है—यह देखना है।"

बात पूरी करने के पहले ही महतो ने गहरी उसाँस भरी। दियासलाई की तीली जलाकर बुझी हुई बीड़ी सुलगायी। गाजी ने भी उससे अपनी बीड़ी सुलगायी। मेरी आँखों के सामने जो परदा था, अब वह हट चुका था। एक सन्देह का निराकरण हुआ। साथ ही, एक दूसरी धारणा सजीव हो उठी। क्या महतो निःसन्तान है ? फिर तो उस दिन फोंचा से माँगे गये लड़केवाला प्रसंग केवल मज़ाक़ ही नहीं था।

महतो ने कुरता ऊपर उठाया और टेंट के अन्दर से ही, कमर से बँधी हुई एक जेबघड़ी निकाल ली। मैंने यह सोचा भी नहीं था कि विदेश की किसी

नामी-गिरामी कम्पनी की पुरानी सोने की घड़ी ऐसे किसी आदमी के कुचैले कपड़े से निकलेगी। यह भी, इस दूर-दराज के हाट में। मैं मन-ही-मन हैरत में पड़ गया—बाहर किससे कहता? एक साधारण और दरिद्र किसान से अधिक मैंने इस आदमी के बारे में सोचा तक नहीं था। और ऐसे ही किसी दरिद्र किसान के पास ऐसी घड़ी देखकर, ऐसा कौन है जो मेरी तरह हैरत में न पड़ जायेगा? मैं महतो के बारे में नये सिरे से सोचने लगा।

गाजी बोल उठा, "देखा बाबू! जिसके घर में स्वयं लक्खी ठकुराइन बँधी पड़ी है, उसके भाग्य में कोई सन्तान नहीं।"

महतो मेरी ओर देखकर हँसा। फिर गाजी की ओर मुड़कर बोला, "अब उसकी भी चर्चा छोड़ो। पिछले साल चालीस हजार रुपये टैक्स में चुकाने पड़े। इस साल फिर कितना चुकाना होगा देखो? मेरा तो हर तरफ़ से नुकसान ही है। लगता है, मैं यहाँ कुछ भी नहीं छोड़ पाऊँगा।"

बात समाप्त हुई ही थी कि मैंने देखा, अंगूरी का सिर झुक गया था। घूँघट सरक गया था। इस बार उस झूमरवाले काँटे का फूल जैसे झिलमिला रहा था। शायद उसका सारा शरीर ही काँप रहा था। गाजी ने एक बार आँखें उठायीं और फिर झुका लीं। महतो अंगूरी के कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "रो मत! मैंने तो ऐसी-वैसी कोई बात नहीं कही।"

यह सारा प्रसंग कुछ ऐसा चकित करनेवाला और अप्रत्याशित था कि कोई बात पकड़ में नहीं आ रही थी। ऐसी कोई अन्तर्दृष्टि भी नहीं कि किसी अन्तःस्रोतस्विनी को देख पाऊँ! कुल मिलाकर यही कह सकता हूँ कि इस व्यथा-यात्रा में कहीं-कहीं मैं भावनात्मक स्तर पर चकित और स्तम्भित होकर रह गया था। मेरी भूल वहीं से शुरू हुई थी, जहाँ से मैंने महतो को एक विशेष कोटि का प्राणिमात्र समझ लिया था। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि उसके घर लक्ष्मी ठकुरानी क़ैद थीं, जैसा कि गाजी ने भी बताया था। फिर भी, ऐसा एक धनी मानी, जिसके कुचैले कपड़े के भीतर, टेंट से सुनहली घड़ी बँधी हो—ऐसे घटिया भोजनालय की ड्योढ़ी पर बैठ जायेगा? मैं तो उसके टैक्स अदा करने की शक्ति से भी आश्चर्य में पड़ गया। कृषि आयकर से सम्बन्धित यह राशि चालीस हजार रुपयों तक पहुँच गयी!

यही नहीं, वह अपनी पत्नी के साथ बीड़ी के कश खींचता-खींचता तारकेश्वर से मोटर पर सवार होकर यहाँ तक आया। और गाजी के पास बैठा अपने निःसन्तान होने का दुःख जता रहा है। तड़प रहा है। अंगूरी भी मुँह ढाँपे रो रही थी, आँखों में आँसू लिये। उसका निरीह पति उसकी पीठ पर हाथ रखे अब धीरज बँधा रहा था। उसकी लाल-लाल आँखों में आँसू तो नहीं लेकिन

उसकी तुलना में उसकी पीड़ा अधिक कष्टदायक थी। आँसुओं के निकल जाने पर, थोड़ी देर के लिए जो आश्वस्त तो होता है। यातना से कुछ क्षणों के लिए मुक्ति तो मिलती है। उस बेचारे को तो वह भी प्राप्य नहीं।

इतने में, गाजी के गले की गुनगुनाहट सुन पड़ी। उसने न तो अपना सिर उठाया और ना ही मुड़कर देखा। गरदन हिला-हिलाकर खुद अपने-आपसे न जाने क्या खुसर-पुसर करता रहा। और फिर एकदम धीमे स्वर में किसी पद की पंक्ति दोहराता रहा। मैं समझ न पाया, वह क्या गुनगुना रहा था। इसके बाद ही उसका कण्ठ-स्वर फूट पड़ा : "मन हो सहज नहीं हुआ चेरे, इस फ़कीर के चोले से क्या होगा ?"

दो-तीन बार दोहराने के बाद उसने महतो की ओर देखा। महतो की दृष्टि भी उस पर पड़ी। गाजा हाथ उठाकर गा रहा था अब—

"फ़कीर का चोला पहने, तू नाचता रहा,
धरम की खिल्ली उड़ाता रहा!
अरे ओ बन्दे!
अपने आप ही ठगे गये तुम, औरों को क्या समझाओगे ?
तुम जो इतने गीत गा रहे, औरों को समझा रहे!
खुद को ही बतला न पाये, औरों को क्या बतलाओगे ?"

गाते-गाते गाजी हँसने लगा और फिर रुककर बोला, "मैं चाची से भी यही कह रहा था। मन को किस तरह क़ाबू में रखा जाये, मैं नहीं जानता ? पर चाची, मन को काबू में रखे बिना, कोई चारा नहीं।"

अंगूरी ने अब भी अपना सिर नहीं उठाया। लेकिन उसकी कँपकँपी रुक गयी थी। गाजी फिर गाने लगा। गरदन हिला-हिलाकर गाते-गाते अंगूरी को भी देख लेता था। उसके शिकन-भरे चेहरे पर हँसी खेलने लगी।

पता नहीं, गाजी क्या करता है! कौन-सा जादू-टोना! मैंने देखा, उस पाजी ने फिर नया खेल शुरू कर दिया। उधर-अंगूरी ने अपना मुँह उठाया और आँसू पोंछ लिये। गाजी की ओर देखना चाहकर भी वह नहीं देख पायी। केवल इतना ही बोली, "गाओ!"

गाजी का तत्काल गान शुरू हो गया—

"मन का मानुष मिला नहीं, मैं मन ही मन सोचूँ
मन की तड़प में तड़पूँ, मैं मन ही मन सुलगूँ
वन की आग सभी को सूझे, मन की आग न दीखे।
किसकी छाया में मैं अब अपनी मन की तपन बुझाऊँ!"

उसने अपनी झोली से ढपली निकाल ली। और फिर डुप-डुप ताल देते

हुए गरदन हिलाने लगा। अंगूरी के पान-रंगे होठों पर हलकी-सी मुसकान दौड़ गयी। अपनी मोटी-मोटी आँखों से एक बार उसने गाजी को देख लिया। गाजी ने ढपली पर थाप देना बन्द किया और फिर गाने लगा—

"ओ मेरे जीवनधन! बता मैं तुझको पाऊँ कैसे?
घूम रहा हूँ इसी आस में, मन्दिर मस्जिद
पूछ चुका मैं मुल्ला पण्डित—
तुम तक मैं आऊँ कैसे?"

फिर वह पुकार उठा—मानो आकाश को हिला देना चाहता था,

"मिया जानकर फिकरे कसते, घर के अन्दर घुसकर
ओरे, दिन के अन्धे, रात भटकते
वह मिल पायें कैसे...?"

जैसे ही गाना पूरा हुआ महतो बोला, "यह हुई न बात!" गाजी ने उत्तर दिया, "तो फिर यह बेवक़ूफ़ी क्यों? मैं कहता हूँ इस भाग-दौड़ की ज़रूरत क्या है? जब जमीन पर दो पेड़ हैं तो एक में फल लगेगा ही—मन को समझो, मन को समझाओ!"

महतो और अंगूरी ने गाजी की तरफ़ इस तरह देखा मानो कोई आकाशवाणी सुनी हो। मुझे भी कुछ ऐसा ही लगा। इस आदमी के बहाने उसने मुझे मेरा आशय बता दिया। फिर भी, मन था कि कहीं दूर बहता हुआ चला आ रहा था।

इसी बीच नारायण ठाकुर सामने आकर खड़े हो गये। भोजन के बाद, उँगलियों में अभी-अभी सुलगायी गयी नयी बीड़ी! गाजी से मुनकर बोला, "बस, इसी गले के कारण ही तुम तर गये!"

गाजी ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "वैसे ही, जैसे आपके गुनी हाथों में पड़कर दाल और भाजी अमृत-जैसी सुस्वादु हो जाती है।"

नारायण ठाकुर ने सन्देह-भरी नजरों से गाजी की ओर ताकते हुए कहा, "बस, शुरू कर दिया न बेकार की बातों का पागुर...।"

नारायण ठाकुर की बातें सुन और उसके चेहरे का भाव देखकर अंगूरी खिलखिला उठी। उसकी आँखों के आँसू अब तक नहीं सूखे थे। मन की जहाँ

कर रखनेवाले सारे दरवाजे भड़भड़ाकर खुल गये थे। उसमें प्रकाश भर गया, जिससे भीतर की सारी सीलन सूख गयी।

मैं केवल गाजी की तरफ़ देख रहा था : यह आदमी कोई जादू जानता है या केवल तुक्के भिड़ाता है, पता नहीं! उस बरामदे की हवा, जिसमें बादल घुमड़ रहे थे, उमस भरी थी—दूर करने का सारा चमत्कार उनके झोले में बन्द है—यह मैं नहीं जानता था। यह गोताखोर केवल गोत-मुक्ताएँ ही नहीं चुनता। कहता है—'धरती पर जब दो पेड़ खड़े हैं तो कोई एक तो फलेगा ही। बस, मन को पहचानो!' इधर-उधर भागने की क्या जरूरत है भला? यह मनौती-बनौती क्यूँ और किस लिए? तुम्हारा सारा कुछ तो घर के खूँटे से बँधा है। तुम दिन में ही अन्धे की तरह भटक रहे हो, और रात में दीवाने की तरह आवारा फिरते रहते हो। लेकिन अपनी आँखें खोलकर नहीं देखते?

अब मैं यहाँ विज्ञान की क्या युक्तियाँ दूँ? क्या, इसका कोई भगवान् नहीं? फिर वह खुदा या अल्लाताला—जो भी नाम हो। उसकी मनौती, चढावे या दरगाह पर जाना, सब कुछ तो वही है। यह तो अपने गीत भी कुछ दूसरे ढंग से ही गाता है। और गाता ही नहीं, बस, हाँड़ी में आँच देता है, रहस्य का रस उड़ेलकर। इससे बाँझ औरत की रोती आँखें खिल उठती हैं और सन्तानहीन सान्त्वना पाते हैं। साथ ही, बाबा के लखपति महतो के सामने भी वह किसी तरह की चाटुकारिता नहीं कर रहा। जो कुछ कहता—करता है वह अपने स्वभाव के कारण ही। धन या यश के लिए कोई चिरौरी नहीं। एक बीड़ी मिल जाये, बस उसी से कृतार्थ।

गाजी ने गरदन हिलाकर हँसते-हँसते कहा, "यह कोई झूठी तारीफ़ नहीं है ठाकुर! तुम्हारे हाथ में सचमुच बहुत गुण है। औरतें भी तुम्हारे-जैसा खाना नहीं बना सकतीं।"

केवल गाजी ने ही प्रशंसा नहीं की थी, महतो ने भी की थी। नारायण उस गोष्ठी में सम्मिलित होने के लिए जमीन पर बैठ गया। बोला, "अब तुम्हारे दस-बीस आदमी खाकर जो कहेंगे, वैसा ही होगा।"

ठाकुर तनिक नरम पड़ा। महतो ने अपनी पत्नी की ओर देखा। अंगूरी ने भी कनखियों से पति की ओर झाँक लिया। महतो ने तुरत कहा, "अरे भई, जरा सुनना! मैंने ऐसा नहीं कहा था। यह तो सबको पता है कि तुम्हारे हाथ का खाना न मिले तो मेरा दिन ही न कटे।"

अंगूरी ने धीरे से झिड़क दिया, "ओह, ऐसी भी क्या बात है? मैंने तो ऐसा कहा ही नहीं।"

इन सबके ऊपर गाजी की हँसी थी। महतो ने सफ़ाई दी, "अरे नहीं,

बस ऐसे ही कह दिया, और क्या ?" और उसने बुझी हुई बीड़ी सुलगा ली। थोड़ा झुककर उसने पत्नी तक भी आग पहुँचायी। महतो मालकिन ने, जहाँ तक सम्भव हो पाया, मुझसे छुपकर अपनी बीड़ी सुलगा ली। गाजो भी तपाक से महतो की तरफ़ झुका और महतो के हाथ में जलती हुई तीली अन्ततः उसके भी काम आ गयी। नारायण ठाकुर दो ही क़दम पीछे बैठे थे। थोड़ा-सा आगे बढ़ते तो शायद दोनों टकरा जाते। गाजो ने देखा नहीं। बस यूँ ही अपनी बीड़ी खींचता रहा। आराम से।

इसी बीच फोंचा दिखाई पड़ा, बिना कुछ बोले चुपचाप दरवाजे से चिपका। नारायण के चेहरे पर खिन्नता दौड़ गयी। अपनी दुर्बल काया को खींचकर उसने कमर से एक बीड़ी निकाली और फोंचा की ओर फेंक दी। फोंचा ने उसे उठाया और बिना किसी तरफ़ देखे चला गया। अब जो समझना हैं, समझते रहो। कहने को तो ढेर-सी बातें थी, लेकिन मेरे पल्ले इतना ही पड़ा कि फोंचा भी खाना खा चुका था और अपने मालिक से उसे जो मिलना था वह लेकर चलता बना।

कहाँ गया ? अपनी काली-कलूटी हृष्ट-पुष्ट बीवी के पास ? कहीं भी जाये। यहाँ इस प्रदेश में, इन लोगों की अपनी विशिष्ट चर्या है जो मुझे छन्दहीन प्रतीत हो रही है। ठीक इसीलिए फोंचा का आना या चला जाना किसी को नहीं खलता, कोई कुछ नहीं कहता।

सभी अपनी बीड़ी खींचते रहे ? फिर भी, पता नहीं क्यों ? अंगूरी की आँख में हलकी-सी चमक दौड़ गयी थी।

महतो ने जम्हाई ली। बोला, "दिन डूब चुका। अब उठना चाहिए।"

उसकी बातों से मुझे अपनी बात याद आ गयी। मैंने तत्काल नारायण से पूछा, "मेरा कितना हुआ ?"

नारायण जैसे तैयार ही बैठे थे। छूटते ही बोले, "आपके हुए दो रुपये दो आने।" भात-दाल-तरकारी, आठ आने; मछली, चार आने; दही, चार आने; एक रुपया....।"

वह उँगली की रेखाएँ पढ़कर हिसाब देने लगा, जिसकी कोई जरूरत नहीं थी। मेरे हिस्से तो दही और मछली भी आयी थी, फिर भी, मेरे हिसाब में एक रुपया। लेकिन गाजो के हिसाब में मुझसे भी ज्यादा, एक रुपया दो आने इतना कैसे हो गया ?"

नारायण ने यह भी खुलासा कर समझा दिया, "और इसका हुआ; आठ आने का दाल-भात-तरकारी और फिर ऊपर से दस आने का भात।"

"ठीक है"—कहकर मैंने उसका पूरा हिसाब चुकता कर दिया। तभी गाजो

बोल उठा, "बाबू को हिसाब की जरूरत नहीं।"

ठाकुर ने कहा, "तुम चुप भी रहो। बिना बताये चलेगा कैसे ? तुम्हारा क्या ? हिसाब देना मेरा काम है, लोगों को झाँसा देना नहीं।"

ठाकुर ने अपनी टेंट में रुपये खोंस लिये। महतो ने भी कुरते के नीचे—भीतरी जेब से पैसे निकाले। इस बीच गाजी ने कहा, "ठाकुर महाशय, आपके जैसा गुनी हाथ मेरे पास होता तो मैं लोगों को पेड़ के पत्ते भी खिला देता। हाथ के जादू से ही लोग सब भूल जाते।"

एक लम्बी हँसी के बाद वह फिर बोला, "लेकिन लोगों को भुलाये रखना सबके बस की बात नहीं। उन्हें तो काम से ही भुलाये रखना पड़ता है। मेरी तरह एकदम फक्कड़ बनकर नहीं।

उसका लक्ष्य कहाँ था और उसकी बातें कैसे प्रभाव डालती थीं—यही देखना था। नारायण ठाकुर ने तिलमिलाकर कहा, "मैंने कब कहा कि तुम केवल फक्कड़पना करते रहते हो···? बड़े खच्चर किस्म के आदमी हो तुम ?"

ठाकुर की बोली में चमक थी, पॉलिश लगी। कोई रोक-टोक नहीं उसकी श्रीमुख-वाणी में। गाजी भी ठहरा एकदम पाजी। गुस्से में भरे स्वर से गाली-गलौज सुनकर मुझे लगा इस हँसी-मजाक को यहीं रोकना चाहिए। लेकिन अंगूरी पर ऐसा कोई दायित्व नहीं था। वह गाजी की तरफ देखकर हँसने लगी। किसी अल्हड़ नायिका की तरह। प्रौढ़ावस्था के निकट पहुँचकर भी उसकी भरी-पूरी जवान देह ढली नहीं थी। अब भी वही कसाव और वैसी ही विह्वलता, जिसे लाल साड़ी में कसकर बाँधा नहीं जा सकता था। चूँकि यह धरती अबतक फली नहीं, इसलिए अब भी उसमें वन की सोंधी महक थी। इस बंजर भूमि में, इसकी मिट्टी में अबतक कोई फ़सल नहीं उगी—इसलिए कहीं कोई कील-खूँटी भी नहीं। एकदम अरण्य-सी। वन वीथी सी—थोड़ी-सी पुरवा बहते ही लहक उठती है। उसे क्या पता कि कितने प्राणों में तूफान उमड़ने लगता है ? तब सहसा इसका आभास नहीं होता कि इस देह में एक ऐसी युवती क़ैद भी है, जो माँ होने के लिए मचल रही है। धूम्रपान की लत के बावजूद उसके गले की मिठास अबतक क़ायम थी। बल्कि उसकी खिलखिलाहट में ऐसा जादू था जो फैलता चला जाता था।

मुझे लगा कि गाजी भी जोर से हँसना चाहता है लेकिन ठाकुर का गुस्सा देखकर वह थम गया। धीरे से बोला, "ओह, आप क्यों बतायेंगे भला! मैं तो कह ही रहा हूँ। लीजिए अब चुप ही रहूँगा—अब कुछ न कहूँगा।"

गाजी दूसरी तरफ़ देखने लगा। तभी महतो ने कहा, "तुम भी कैसे हो गये हो ठाकुर! उसकी बातों में इतना गुस्सा होनेवाली क्या बात थी भला!

लो, हमारे हो गये ढाई रुपये । क्यों ठीक है न ?"

नारायण का गुस्सा अबतक ठंढा नहीं हुआ । बोला, "अब तुम्हीं देखो महतो भाई, वह चुन-चुनकर ऐसी बातें करता है कि मेरा पित्त जल उठ आता है। जितनी भी बातें...सब फालतू की..."

गाजी उस समय अपने पिछले गीत की पंक्ति दोहरा रहा था, "जो ना बाते प्रेम की बातें...उसके संग क्या लेना-देना...।"

"तुम्हारे हिसाब में क्या ग़लती होगी, महतो भाई। ढाई रुपये ही हुए हैं।" ठाकुर महतो के हाथ से रुपये लेते-लेते कहा । लेकिन अपनी बात पूरी करते-करते वह फिर गाजी पर झुंझला उठा, "अरे दूर रखो अपना लेना-देना । मैं तुमसे प्रेम किये बिना तड़प-तड़प कर मर रहा हूं न !"

गाजी बोला, "यह आप क्या कह रहे हैं ठाकुर महाशय ? मेरे संग प्रेम करने की खातिर आप मरेंगे क्यों ? मैंने ऐसा तो नहीं कहा ! और प्रेम है कहां? प्रेम तो प्रेमी के मन में है । हमारे-आपके सबके मन में । आप प्रेम की बात नहीं जानते—यह मैं कैसे कह सकता हूं ? वाह, मुरशेद—छी-छी-।'

महतो के दिये हुए रुपयों को अपनी टेंट में खोंसने के बाद ठाकुर ने अपनी गुस्सायी आँखों से उसे तरेर, अपने होठों को बिचका दिया । कोई जवाब नहीं दिया । उधर अंगूरी की हँसी रोके नहीं रुक पा रही थी । बोली, "तुम गान सुनाओ...गाजी !"

गाजी के गान आरम्भ करने के पहले ही फोंचा की बहू आ गयी । उसकी गोद में वही बच्चा था । लेकिन इस बार उसका सीना किसी मैदान की तरह खुला न था । वहां डोरिया साड़ी का आंचल था । उसने नारायण ठाकुर की तरफ़ पान का बीड़ा बढ़ा दिया । ठाकुर ने पान लपककर पूछा, "सौंफ नहीं लायी तुम ?"

ठाकुर फोंचा को 'तू' कहता था और बहू को 'तुम' । स्त्री जो ठहरी । बहू ने बायें हाथ की सौंफ दायें हाथ में डालकर ठाकुर की तरफ़ बढ़ा दी । बहू के मुंह में भी पान था और उसकी पीक उसके होठों के दोनों किनारे से चू रही थी, जिससे होठों की लाली बढ़ गयी थी । इस समय अंगूरी दूसरी तरफ़ देख रही थी । बहू ने पान चबाकर होठों को दबाया और हँस पड़ी । महतो ने आँखें मटकायीं, "वाह, केवल ठाकुरानी ही पान खायेंगी, हम नहीं खायेंगे ?"

बहू आंचल को होठों तक ऊपर उठाकर बोली, "खायेंगे, मैं लाकर ले आऊं ?"

गाजी मुसकरा उठा, "बस यूं ही पूछ लिया । अभी-अभी तो खाया है !" और उसने गान गाना शुरू किया—

कहां पाऊं उसे

'काने चोर ने चोरी की, घर मे रहकर सेंध लगाये।
बेगारी करके मर जाये, काने के भाग्य में लक्ष्मी नहीं
...उसके संग क्या लेना-देना...।"

फिर गान रोककर गाजी ने ढपली निकाली और धीरे-धीरे ताल देने लगा। अंगूरी की तरफ़ देखकर मुसकराता जा रहा था। मैंने देखा, नारायण ठाकुर माथा झुकाकर, अन्यमनस्क भाव से पान चबा रहा है। मुझे डर था गाजी फिर कहीं कोई छेड़-छाड़ न करे। पर नहीं, ढपली पर ताल देता हुआ वह गाता रहा—

"नीम का पेड़ लगाओ, उसकी जड़ में ढालो सौ-सौ दूध के मटके—
तो भी उसका स्वभाव न जाये, न आये उसमें थोड़ी-सी भी मिठास
उल्लू को चाहे दूध से नहाओ, पर वह देख न पाये सूर्य किरण
पर चींटी जाने चीनी का स्वाद, रसिक ही जाने प्रेम की बात...
जो न जाने प्रेम...उसके संग क्या लेना-देना...?"

गान समाप्त होने के पहले ही नारायण ठाकुर उठ खड़ा हुआ। दुबली-पतली काया, पेट थोड़ा आगे निकला हुआ। उसके ऊपर जनेऊ। जैसे कोई नंगी तलवार खड़ी हो। दाहिने हाथ का अँगूठा नचाकर उसने चिढ़ाया—

"तुम्हारे इस गान का मतलब भी कोई नहीं समझेगा। गान है कि स्साला... बेहूदगी...!" इतना कहता हुआ वह तेजी से भीतर चला गया। अगर वह सँभला न होता तो फोंचा की बहू से टकरा गया होता। बहू अवाक् होकर सबकी तरफ़ देखती रही। उसके बाद वह भी ठाकुर के पीछे-पीछे चली गयी। अंगूरी हँस-हँसकर दुहरी हुई जा रही थी।

गाजी की आँखें चमक उठी थीं। फिर भी उसके कहने का ढंग कुछ ऐसा लगा मानो उसके मन में कोई पीड़ा हो, "ठाकुर महाशय मुझे फूटी आँखों नहीं देखना चाहते।"

महतो भी हँस पड़ा, "तुम बेकार का बखेड़ा जो खड़ा कर देते हो। ठाकुर जभी तो तिलमिला उठता है।" महतो का स्वर एकदम मुलायम हो उठा था। गाजी ने बात बढ़ायी, अब देखो न, वह समझते हैं कि मैं उन्हीं को चिढ़ाने के लिए गान गा रहा हूँ।"

महतो बोला, "सो तो गाते ही हो।"

गाजी ने हाथ जोड़कर कहा, "मुरशेद का नाम लेकर कह रहा हूँ चाचा, मेरा ऐसा कोई आशय नहीं! सच कहूँ चाचा! मैं जो कुछ भी गाता हूँ, सब अपने लिए। खुद को गा-गाकर सुनाता हूँ। लेकिन यह भी सही है कि ठाकुर महाशय को देखते ही मुझे बहुत सारे गानों की याद आ जाती है।"

अंगूरी फिर खिलखिला उठी और बोली, "और गान गाओ!"

महतो ने उसी समय हाथ उठाकर मना करते हुए कहा—"नहीं, अब और नहीं। उधर देखो, धूप कब की ढल गयी। अब चलूँगा।" और झटके के साथ उठ खड़ा हुआ। दरवाज़े के पास वाले कमरे में ही उसकी बगल में लटकाने वाली झोली और चादर पड़ी थी। आगे बढ़कर उसने पहले की तरह ही चादर को कमर के गिर्द लपेट लिया और बैग को हाथ में लटकाते हुए कहा, "उम्मीद है आज तो चाँदनी खिलेगी। अन्यथा अन्धकार में चलना तो बड़ा मुश्किल होगा।"

"अरे चाचा, पैदल ही जाओगे? गाड़ी लाने को नहीं कहा?" गाजी से चुप नहीं रहा गया।

"नहीं! इतना समय ही नहीं मिला कि कुछ कह पाता। फिर कब तक वापस हो पायेंगे, यह कुछ तय भी तो न था। तारकेश्वर में ही तीन दिन बीत गये। सोचा था, वहाँ से कालीघाट जाऊँगा। पर वहाँ जाने का सुयोग न मिला। इधर ढेर सारे काम पड़े हैं।"

गाजी इन सारी चिन्ताओं में डूब गया था जैसे। बोला, "चले तो जाओगे, पर भोलाखालि तक का रास्ता भी दो कोस से कम नहीं!"

"हाँ, चला तो जाऊँगा। लेकिन कभी-कभी गठिया का दर्द उभर आता है।" महतो ने जवाब दिया।

इस गाड़ी के प्रसंग से लगी बात बैलगाड़ी की ही होगी। साथ ही पहली बार ऐसा पता चला कि महतो की उमर काफ़ी हो गयी है। बाल अभी सफ़ेद नहीं हुए। चौड़ा चकला काला चेहरा, लाल आँखें और हृष्ट-पुष्ट देह देखकर ऐसा आभास तो नहीं होता। लेकिन धूप अब पश्चिम की ओर ढल चुकी थी। महतो की बातों से ही मुझे ऐसा लगा, सचमुच, दिन ढल चला।

इस बीच मैं भी उठकर खड़ा हो गया। मेरे ऊपर किसी अनजान पेड़ की छाया थी। उसकी घनी छाया इतनी गहरा उठी है, मैंने इस ओर ध्यान नहीं दिया। हालाँ कि शाम अब तक नहीं उतरी। धूप का कहीं नामोनिशान नहीं था। इस बरामदे पर भी छाया गहरा उठी थी। मैंने हाथ उठाया और घड़ी देखी—पाँच बजने वाले ही थे।

महतो ने मेरी तरफ़ देखकर कहा—"आप भी उठ पड़े। चलिए, आप के साथ भी मुलाक़ात हो गयी। तो आज की रात आप कहाँ रुकेंगे?"

रुकूँगा क्यों? मैंने अपनी कपड़ेवाली झोली को सँभालते-सँभालते कहा—"रुकूँगा नहीं। बस अब लौट पड़ूँगा।"

महतो ने अपनी कोयल जैसी आँखों से, हैरत से मेरी ओर देखकर पूछा—"कहाँ लौटेंगे, कैसे लौटेंगे?"

जवाब गाजी ने दिया—"बशीरहाट से बाबू को कलकत्ता के लिए बस पकड़ा दूँगा।"

महतो ने आश्चर्य में भरकर कंधे पर से अपनी दाहूरी झोली उतार ली। फिर अंगूरी की तरफ़ देखकर बोला, "सुना अंगूरी? यह मकड़ा क्या कहा है? अरे तुम बशीरहाट तक जाओगे कैसे?"

मेरा कलेजा धक् से रह गया। मैंने पहली बार देखा, गाजी की दरपन-सी आँखों की चमक ग़ायब थी। दाढ़ी और मूँछ के साथ उसका चेहरा भी एकदम जम गया था। उसके होठों से इतना ही फूटा—"आँ?"

मेरे कलेजे की धुकधुकी अब भी वैसी ही बनी हुई थी। लगा मैं अथाह जल में डूब चला हूँ। दुश्चिन्ता और परेशानी के कारण मेरी साँस ही अटक गयी हो सीने में। कितना असहाय हो उठा था मैं! यह भूल ही गया कि मैं कहाँ आया था, क्यों आया था? मेरी आँखों के सामने यह अनजाना दिगन्त तैर गया। मुझे लगा, किसी ने मुझे मेरे अपने आत्मीय लोगों से अलग खींचकर निर्वासित कर दिया हो। मैंने गाजी की तरफ़ देखा।

महतो ने आगे कहना शुरू किया—"नैजाट से लेकर बशीरहाट तक का रास्ता तुम्हारे लिए एकदम बिछा हुआ है क्या? ऐसा होता तो मैं उस हासनाबाद से मरता-खपता लाउंज पर यहाँ क्यों आता?"

गाजी ने दबी जुबान से पूछा, "क्यों?"

महतो की साक्षी जुटानेवाली फिर वही अंगूरी थी। बोला, "अँगूरी! जरा इस गाजी मरदूद की बात तो सुन! इधर दो हफ़्तों से सड़कों की मरम्मत हो रही है। दिन-भर में दो-तीन बार का फेरा होता भी है या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। और यह जनाब, बाबू को साथ लिये बशीरहाट चले जा रहे हैं।"

महतो जैसे-जैसे बोलता जा रहा था, वैसे-वैसे मेरा जी बैठा जा रहा था। यह भय नहीं था कि परदेश में हूँ। लेकिन इस बादा के क़स्बे में—भेड़ी बाँध की सीमा पर, आदमखोर मगरमच्छवाले खारे कछार के किनारे न कहीं कोई आश्रय था और न रात बिताने लायक़ कोई जगह। दूर-दराज के मुक़ाबले अपरिचितों का ही अधिक भय था। मैंने अपनी भटकती आँखों से एक बार गाजी की ओर देखा—फिर महतो की ओर।

गाजी की दरपन-सी आँखें काँच की तरह साफ़ थीं। उसमें कोई परछाईं नहीं तैर रही।

अचानक मैंने देखा, अंगूरी मुसकरा रही है। उसने अपनी आँखें उठाकर मेरी तरफ़ देखा और गाजी से बोली—"तो इसमें इतना घबराने की क्या बात

बहुत बड़ा नुकसान हो जायेगा ?"

नुक़सान ? नहीं तो। मैं अपने पीछे ऐसा कोई दायित्व छोड़कर नहीं आया कि नुक़सान उठाना पड़े। एक रात की ही बात थी। वह मेरा कितना नुक़सान कर सकती थी ? जो कुछ था वह मन से आच्छन्न था—सारी विडम्बना उसी को लेकर थी। मन में सोची गयी बातें घटनाओं के दुश्चक्र में फँसकर अन्यथा हो जाती इसीलिए ठोकरें खानी पड़ी थी। जो भी हो, उन तीनों का चेहरा ऐसा उतर गया था मानो सभी मुझसे उधार खाये बैठे हों। गाज़ी ने अपनी दाढ़ी को मुट्ठी में कसकर चेहरा झुका लिया था। महतो की बीवी अंगूरी मेरी ओर ताक रही थी। होठों पर अब वह मोहिनी मुसकान नहीं थी। कजरायी आँखों में भी उद्वेग की छाया उतर आयी थी, जिनमें कौतूहल और जिज्ञासा का भी भाव था। महतो की गुलाबी आँखों में भी वैसा ही कुछ था। मैंने तुरत कहा, "नहीं, नुक-सान की बात नहीं। मैंने सोचा था कि लौट जाऊँगा। इसीलिए, और क्या !"

मैं अपनी बात पूरी नहीं कर पाया कि बीच में ही महतो टपक पड़ा, "नहीं, हम आपकी हालत देखकर चिन्ता में पड़ गये हैं। सोचता हूँ, क्या पता वापस न लौट पाये तो भले आदमी को कोई नुक़सान-वुकसान तो नहीं उठाना पड़ेगा ? क्यों ?"

"ओ हो जब वापस लौटने का उपाय ही नहीं तो ऐसी बातें सोचने से क्या फ़ायदा ?" अंगूरी ने जैसे समाधान कर दिया।

"यह तो ठीक है", महतो ने कहा। "कुछ सुना आपने ? मेरी बीवी भी कह रही है कि आप भोलाखालि ही चले चलिए।"

मैं कुछ कहता इसके पहले ही अंगूरी फिर बोल उठी, "आप ठहरे शहरी बाबू ! पैदल चलने का अभ्यास नहीं होगा। कष्ट तो होगा ही।"

अब इससे क्या समझा जाये ! अंगूरी जाने पर भी जोर देती है और फिर कष्ट की भी बात करती है। दूर है इसलिए मैं पैदल चलने से नहीं घबड़ा रहा था। लेकिन किनारा छोड़कर जाते हुए भी मैं उद्विग्न था। वक्त के हिसाब से पूरी एक रात मैं यूँ ही गँवा चुका था, इसलिए किसी निश्चित ठिकाने पर पहुँच पाने की इच्छा भी नहीं थी। इस हाट और भेड़ी बाँध के पास ही कहीं रात कट जायेगी। मैं यह भी जानता था कि आनेवाली रात कोई हमेशा ठहरनेवाली रात नहीं। वह अंधेरे के साथ उतरेगी और आगामी दिन के प्रकाश में खो जायेगी। मेरा मन फिर पीछे की ओर झाँकने लगा। जीवन में ऐसी घटनाएँ कई बार घटी थीं ऐसा कोई पहली बार नहीं हो रहा था। मैंने इस बार अंगूरी की ओर देखा और कहा, "दो कोस पैदल तो चला चलूँगा, इसमें डरने की क्या बात है ? लेकिन रात बीतने के साथ ही हमें फिर यहीं लौटना पड़ेगा।"

"हाँ, लौटना तो पड़ेगा। पर आप चाहें तो उधर सन्देशखालि से भी लौट जा सकते हैं। तब फिर इधर....।" महतो ने जवाब दिया।

मैंने मन-ही-मन कहा, 'भोला' हो या 'सन्देश', अब किसी खालि की जरूरत भी नहीं। इससे तो अच्छा है कि कालीनगर से ही वापस लौट जाऊँ। इस यात्रा में अब कोई अनजानी जगह तो रही नहीं। "महतो महाराय! रहने भी दीजिए। अब यहीं किसी तरह रात काट लूँगा।" मैंने अपना फैसला सुनाया।

लेकिन मैं तब अचरज में पड़े बिना नहीं रह सका, जब मैंने पाया कि महतो-बीवी के घूँघट में छिपे चेहरे पर अब भी मधुर मुसकान तैर रही है। वह बोली, "रात तो भोलाखालि में भी कट सकती है।"

मैं हैरान था। परिचय की सीमा को छोड़ भी दें तो उसको जिससे आमने-सामने कोई बात तक नहीं हुई, वही महतो की बीवी इतने मनुहार से किस प्रकार बुला रही है? महतो की सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति के बारे में अब कुछ छिपा न था। ऐसे पति की पत्नी को एक स्वतन्त्र महिला समझूँ यह उचित न होगा। न मुझमें उसको स्वच्छन्द कहने का साहस है। अभी-अभी मुझे पता चला था कि पति-पत्नी दोनों तारकेश्वर से मनौती माँगकर लौट रहे हैं। इसलिए चमक-दमक चाहे जैसी भी हो—अंगूरी की आँखों में छल का 'छ' या चातुरी का 'च' नहीं था। वह किसी ऐसी नासमझ बालिका की तरह ज़िद कर बैठी थी, जिसे समाज या लोक-मर्यादा का कोई विशेष ध्यान न हो।

महतो ने हँसते हुए मेरी तरफ़ देखा और बोला, "इसमें यही एक दोष है, समझे! लोगों की परेशानी समझे बिना, सबके साथ खींचातानी। आप घर चलकर देखिए। आज यह तो कल वह—यही सब चल रहा है। अब इतना सब कुछ होने पर भी तुम्हारा अरमान पूरा होता भी है?"

इतना कहकर महतो भी लम्बी हँसी हँसा। बीवी की तरफ़ देखे बिना। मुझे सहसा याद आया कि यह बंजर धरती, यह देह अरण्य, जहाँ थोड़ी-सी हवा चली नहीं कि तूफ़ान मच जाता है। इसके पीछे जो रिक्तता, हाहाकार और क्रन्दन है, उसकी यह गुहार वहीं से आ रही है। इसका क्या मतलब है कि अनजाना-अनचीन्हा, अच्छा-बुरा कुछ नहीं! मैंने महतो से हँसकर कहा, "लेकिन आप मुझे कितना जान पाये हैं जो अपने घर ले जाना चाहते हैं?"

महतो के कुछ कहने के पहले ही, अंगूरी ने अपने पति को कनखी से देखा और हँसकर बोली, "क्यों, क्या हमलोग आदमी नहीं पहचानते? हमें आपसे कोई डर है? गाजो के बाबू स्वयं जितने डरपोक हैं, उसे देखकर डरने-जैसी कोई बात नहीं। आखिर हम भी आदमी पहचानते हैं।" उसकी इस सरलता में भी रंगों की जो मोहिनी थी, वह अंगूरी को देखे बिना नहीं बताया जा सकता!

इस बीड़ी पीनेवाली महतो-मालकिन पर जैसे मेरी श्रद्धा बढ़ गयी। इतना ही नहीं; बिना किसी ठौर के मेरे व्याकुल मन में भी कोई संगीत जाग उठा जैसे। उस सुर का जो मूल स्रोत था, मैंने उसे उन दो काली आँखों में देखा। उन काली पुतलियों में आत्मीयता-भरी चमक थी। उसका एकान्त मन जैसे सभी आत्मीयों को पुकार उठा था—उसमें केवल अपने को ही भरने-पूरने-जैसी उतावली न थी। वहाँ तो यह भाव था : "अगर मेरे पास कुछ है और वह तुम्हारे योग्य है तो उससे मैं तुम्हें पूर दूँगी।" वह केवल अपनी रिक्तता भरना चाहती है—निराश्रितों को आश्रय देकर, भटकों को राह दिखाकर। हो सकता है, उसके घर जाकर देखूँ उन पंछियों को जिनके घोंसले नष्ट हो गये हों या डैने टूट गये हों, वह अपनी गोद में बिठाकर दाने चुगा रही हो। या फिर किसी खोये हुए बकरी के बच्चे को शरण देकर दुलरा रही हो। अपने घर-परिवार से बिछुड़े जाने कितने ही लड़के-लड़कियों को बड़े प्यार से पाला-पोसा जा रहा है। अतः इसमें हैरानी की कोई बात नहीं।

मैंने अंगूरी की तरफ़ देखकर अपनी मुसकराहट के साथ अपनी गुस्ताख़ी के लिए माफ़ी माँगते हुए कहा, "मैं समझ गया। लेकिन साथ जानेवाली बात जाने भी दीजिए! काफ़ी देर हो चुकी है। इससे अच्छा है, भोलाखालि के रास्ते पर साथ ही पैदल चलें। चलिए, आपको थोड़ी दूर तक छोड़ आऊँ।"

अंगूरी ने अपना घूँघट खींच लिया। उसका चेहरा भारी हो गया था। बोली, "घर के लोग घर जायेंगे, उन्हें अब आगे छोड़ देने की जरूरत क्या है भला?"

गाजी को इतनी देर तक हँसने का साहस न हुआ था। लेकिन अब वह हँसे बिना नहीं रह सका। बोला, "अरे चाची! बाबू ने ऐसा कुछ नहीं कहा।"

"तुम्हें अब बाबू की बातें समझाने की जरूरत नहीं"—वह उसी भारी गले से बोलते-बोलते हँस पड़ी। "तुम्हारे बाबू को साथ ले जा पाती तो सारी रात बैठी-बैठी तुम्हारा गान भी सुनती। तुम अपने बाबू से बोलो कि कल सुबह जवान बैलों की गाड़ी में बैठाकर वापस भेज दूँगी।"

अजीब स्थिति थी। इसे भय कहा जाये या असमंजस! मन तो बहुत पहले ही इस महतो-दम्पति के साथ चला गया था। इस उधेड़बुन में, मैं स्वयं को ही अपराधी पा रहा था। अंगूरी की आँखों में अब भी आशा-भरी चमक थी। इसे बदक़िस्मती ही कहना चाहिए कि रास्ते में अनायास ही मिल जानेवाले आमन्त्रण को मैंने सिर झुकाकर स्वीकार नहीं किया। सहज होना भी तो इतना सहज नहीं। अन्तर में क्षमता हो, तभी इस प्रकार सहज हुआ जा सकता है। आपस की दो-चार बातों में या फिर रूठकर या कि तिनककर नहीं। अंगूरी सचमुच ही अंगूरी

थी। एकदम सहज। मैं उसकी आँखों की ओर देखता हुआ भी कुछ नहीं कह सका।

महतो बोल उठा, "नहीं। तुम बेकार किसी को परेशान कर रही हो। अब कहीं जाने के पहले सारा इन्तजाम करके ही तो जाना पड़ता है ?"

गाजी बड़ी उत्सुकता से महतो की ओर देख रहा था। महतो ने इस बार मेरी ओर देखकर कहा, "मैं भी यही कह रहा था, अच्छा हो कि आप यहीं रुक जायें। मैं भी कई मौक़ों पर काम-काज के दौरान नारायण ठाकुर के यहाँ ठहर चुका हूँ। नीवार की खाट, बिछावन और मच्छरदानी वगैरह सब कुछ मिल जायेंगी। डरने की कोई बात नहीं। मेले-ठेले में रुपये-पैसे लेकर भी मैं यहाँ रातें बिता चुका हूँ। और फिर रात को, यहाँ गरम भात भी मिल जायेगा। एक रात की ही तो बात है !"

मुझे गाजी की तरफ़ मुड़कर देखना पड़ा। यह सही है कि मैं उस आदमी को कुछ देर से उद्विग्न होते देख रहा था। पता नहीं, वह क्यों मुझे ऐसी जगह ले आया ? इसमें उसका कोई विशेष उद्देश्य नहीं। उसे जितना पता था, उसी के अनुसार उसने जानकारी दी थी। अब मुरशेद की तरफ से ही कोई उलट-फेर हो तो क्या उपाय ? उसके अपराध-भाव को देखकर मैं समझ गया कि इस बीच वह पता नहीं कितनी बार मुरशेद के पैताने मन-ही-मन अपना सिर पीट चुका होगा।

गाजी महतो की तरफ़ देखकर बोला, "हाँ, इससे अच्छा और क्या होगा !"

नहीं मुझे अब नारायण ठाकुर के घर की तरफ़ नहीं देखना। न इसकी ही कोई चिन्ता थी कि कब किसी बिल से कोई चूहा निकल पड़े या काले चींटे रात से सुबह तक देह का मांस नोंचकर रख दें। फिर भी, इस आदमी को तो थोड़ा बहुत पहचान ही गया था। थोड़ी देर के लिए ही सही, उसके घर में खा भी चुका था। उसके संग जितना भी परिचय हुआ, वही बहुत था। किसी नये परिचय से वह पुराना ही ठीक। अब कहीं नहीं जाना।

महतो ने कुछ देर ठहरकर फिर हँसते हुए कहा, "इस छोटे से कस्बे में रात बिताने में कहीं कोई असुविधा नहीं होगी। आस-पास के छोटे-मोटे महाजन और व्यापारी खुद ही उन जगहों को ढूँढ़ लेते हैं। अब मैं तो वैसे ठिकानों तक आपको नहीं पहुँचा सकता।" यह कह उसने जोर की हाँक लगायी, "अरे ओ ठाकुर। कहाँ मर गये ?"

महतो की इस बात में से निकली व्यंजना मैं समझ न पाया। उधर गाजी ने, 'तौबा तौबा' की ओर मुँह फेर लिया।

इसके साथ ही, मैंने देखा कि अंगूरी ने अपनी तीखी निगाहों से महतो को

कहाँ पाऊँ उसे

ओर ताका। चुपचाप ही उसने मुँह फिराया और भौंह नचाकर उसे जैसे झिड़क दिया। फिर गाज़ी की ओर देखने लगी। गाज़ी बड़ा शर्मिन्दा हुआ 'चाचा की बातें भी कैसी हैं, सुना तो....।'

अंगूरी के पान रँगे दोनों होठ भिंच गये। फिर निचला होंठ उलट दिया उसने। आँखें उदास। मानो इन सबसे उसे कुछ लेना-देना था ही नहीं इसलिए चुपचाप खड़ी रही।

"ज़रा देखूँ...ठाकुर कहाँ चला गया," कहता हुआ महतो घर के भीतर घुस गया। लेकिन उसके चौड़े-चकले काले चेहरे और मोटे होठों पर हल्की-हल्की मुसकान भी खेलती रही। मैं इस बीच समझ गया कि महतो की बात का इशारा क्या था। मेरी आँखों के सामने पोखर के किनारे बने हुए वे घर तैर गये जिनमें दुलि जैसी लड़कियाँ रहती हैं। हाट-बाट के लोग-बाग अपनी रातें कहाँ बिताते हैं, इसे बहुत साफ़-साफ़ बताने की ज़रूरत भी नहीं। महतो की हँसी में, गाज़ी की 'तौबा तौबा' में और अंगूरी की टेढ़ी भौंह से दिखती परेशानी में।

अंगूरी जिस तरह मुँह लटकाये बैठी थी, वह मुझे कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। उसने अपनी आँखों की चमक और खिलखिलाहट से अब तक सारे माहौल को ज़िन्दा बनाये रखा था। मैंने उसके पीठ फिराये चेहरे की तरफ़ देखकर कहा, "जा पाता तो सचमुच बड़ी खुशी होती।"

अंगूरी ने मेरी तरफ़ न देख गाज़ी की ओर देखा और बुदबुदायी, "रास्ते में मिले किसी मुसाफ़िर को घर ले जाना तो मेरा काम नहीं। बस यूँ ही जी में आया तो कह दिया। और क्या ?"

गाज़ी सचमुच बहुत असहाय था। मेरी तरफ़ चोरी से आँख मिलाते हुए बोला, "हाँ, बात तो ठीक ही है।"

मैं समझ न पाया कि हमारी बातचीत कौन-सा मोड़ ले लेगी। पर यह देख रहा था कि अब आमने-सामने कोई बात नहीं हो रही। जो भी कहा-सुना जा रहा था उसका साक्षी-गोपाल मात्र गाज़ी ही था। वही बिचौलिया था। लेकिन वह यह बात क्यों सुना रही थी कि रास्ते के मुसाफ़िर को घर बुलाने का काम उसका नहीं। क्या मैं अब तक उसे नहीं समझ पाया ? मैंने कहा, "मैंने तो वह सब कुछ सोचा भी नहीं।"

नहीं। अंगूरी शायद मेरी बात नहीं सुन पायी। वह गाज़ी को देखती हुई पहले की तरह ही बोलती जा रही थी "तुम्हारे बाबू को जब से देखा है, पता नहीं तब से जी में क्या हुआ ? इसीलिए सोच रही थी, कहाँ रहेंगे, कैसे रहेंगे तभी तो कह रही थी, तुम्हारे बाबू जो सोच बैठे हैं, वैसा नहीं है।" यह कह अंगूरी ने जिस तरह से अपना मुँह फिरा लिया, उससे मेरा कलेजा बिंध

गया। मैं उसके सामने बौना हो उठा। उसकी बातों का मतलब समझने में मुझे कोई परेशानी नहीं हुई। हालांकि इसे अन्तर्यामी ही समझ सकते हैं कि वह जो कुछ सोच रही थी, गलत था। मेरे कुछ कहने के पहले ही गाजी ने जवाब दिया,

"अरे नहीं चाची ! मेरे बाबू ने ऐसा-वैसा कुछ नहीं सोचा। हलफ़ उठाकर कह सकता हूँ।"

"झूठ मत बोलो !" अंगूरी ने मुँह फिराकर कहा।

यह संसार का ही विधान है। मन जब नासमझ हो उठे तो वह किसी दूसरे को भी समझ नहीं पाता। मैंने अंगूरी के निमन्त्रण को सौभाग्य ही माना था। अब वही मुझे अपराधी की तरह कठघरे में खड़ा करना चाहती है। इस अभियोग के साथ असम्मान का भी भाव मुखर था और इसमें मेरी रुचियों को लेकर खींचातानी हो रही थी। मैं यह भी नहीं सोचता कि जो कुछ भी हुआ या होगा वह सर्वथा मेरे अनुकूल ही होगा। लेकिन हर-बात हँसी में ढल जायेगी, ऐसी भी आशा नहीं। सबका अन्तर एक-सा नहीं, यही तो मानव-सृष्टि का सौन्दर्य है, वैशिष्ट्य है। अंगूरी मेरे लिए जैसी थी, वैसी ही बनी रहेगी। लेकिन मैं कहे बिना रह नहीं पाया। "गाजी ने झूठ नहीं कहा। पर जबरदस्ती तो किसी पर विश्वास नहीं कराया जा सकता। आखिर मैं भी, थोड़ा-बहुत ही सही, आदमी पहचानता हूँ।"

गाजी भी तुरत बोल उठा, "अरी चाची सुनो ! तुम मेरे बाबू को ठीक पहचान न पायी ! जरा एक बार आँख उठाकर तो देखो !"

न तो अंगूरी ने आँख उठाकर देखा और न मैंने ऐसी आशा ही की थी। बल्कि मैंने मुड़कर देखा कमरे की तरफ़ जहाँ से नारायण ठाकुर के आने की आशा थी।

गाजी बोलता ही रहा :

"और तुम तो ठहरी माँ दुर्गा ! तुम्हें इसके अलावा और क्या सोचा जा सकता है ?" फिर वह मुझे पुकारकर बोला, "बाबू, तीन साल तक मुक़दमा चलता रहा। जानते हैं बाबू, क्यों ? चाची ने डाकुओं को मार डाला था।"

मार डाला था ! मैं हैरत में पड़ गया था।

गाजी की दरपन-सी आँखों की चमक बढ़ गयी थी : "यही कोई आठ-नौ साल पहले की बात होगी। महतो चाचा के घर में डाकू घुस आये थे। वह सब सिर्फ रुपये-पैसे लूटने के लिए ही नहीं आये थे। चाची को भी पकड़कर ले जाना चाहते थे। चाची के हाथ में थी कटार। और एक ही बार में बस, रामनाम सत्य है ! एक का तो सिर आधा कटा पड़ा था और दूसरे का समूचा हाथ।

चाची की उस मूर्ति को देखकर उन बेटों की सिट्टी-पिट्टी गुम। रुपये-पैसे तो क्या ले जाते, मरे और अफसरों को छोड़कर नौ-दो-ग्यारह।"

गाजी को बीच में ही रोकते हुए संकोच के साथ अंगूरी ने कहा, "अच्छा, बहुत हुआ। अब चुप भी करो!"

गाजी की बात सुनते-सुनते मेरा आँखें उस रक्ताम्बरी पर ठहर गयीं। यह युवती क्या सचमुच ही श्यामा सर्वनाशी है। ऐसा तो कभी सोचा भी न था। देवी दुर्गा की कहानी सुनी है, काली और दुर्गा की प्रतिमाएँ भी देखी हैं। उनसे मेरे जीवन के किसी कार्य-कलाप में कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो—ऐसा भी नहीं। लेकिन मैं अपनी इन आँखों से सचमुच इस कहानी की नायिका को देख रहा था जो एकदम मेरे सामने खड़ी थी—किसी प्रतिमा के बदले। मुझे याद न रहा कि यह वही बाँझ औरत है जो तारकेश्वर से मनौती माँगकर वापस लौटी है, जिसे मैंने हासनाबाद के रास्ते देखा था, घूँघट की ओट में बीड़ी पीते। क्या यह सचमुच की वही रक्ताम्बरी है? उसकी सहजता में उसके अन्तर का जो आशय था, अब वह मेरी समझ में आया। और उधर वह अपना चेहरा घुमाकर किस प्रकार चुप-चाप खड़ी थी। लाज और संकोच में भरकर उसने गाजी को चुप रहने को कहा। मानो वह औरत ही नहीं, उसके नारीत्व में उसका वह अन्तर भी है, जो रक्त से धुलकर गौरवान्वित भी है। उसके रक्त में गंगा-जल की-सी पवित्रता है।

मैं अचरज में पड़कर सोचता रहा कि शक्ति का वास कहाँ है। इस अंगूरी को देखकर तो उसका पता नहीं मिल सकता। क्या वह भूल से यहाँ आ विराजी थी? आ विराजती है, इसीलिए तो यह आभास होता है कि यह नायिका मानवी है। अचानक अंगूरी ने मेरी ओर देखा और फिर 'फिक' से हँस पड़ी। उसकी कजरायी आँखों में फिर वही मुसकान खेल गयी। उसने गाजी की ओर देखकर कहा :

"और अगर उस मामले में खूनी क़रार देकर मुझे चालान कर दिया जाता तो तुम मुझे राक्षसी ही कहते! है न!"

"नहीं चाची! हजार बार चालान होने पर भी तुम हमारे लिए माँ दुर्गा ही बनी रहती।" गाजी ने दाढ़ी हिलाकर कहा। फिर वह अपनी आँखें नचाता हुआ गुनगुना उठा, "मैं ऐसा पूत नहीं कि तुम्हारी लाल-लाल आँखों के भय से सब कुछ भूल जाऊँगा।" वह अपने हाथ उठाकर गाने लगा। अंगूरी खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली, "क्या गा रहे हो, चलो दूर हटो।" फिर उसने चकित दृष्टि से मेरी ओर देखा। कुछ देर पहले की उमस-भरी गुमसुम में फिर हवा का झोंका लगा। कौन जाने, कहाँ से यह पुरवा चली थी?

गाजी की दृष्टि फिर अंगूरी की ओर गयी। और क्षण-भर बाद ही मीठे सुर में गुनगुना उठा :- "दुर्गा नाम की तरी, अपने माथे पर रखूंगा, जतन से सँभालूँगा। अन्त आ जाये या साँस चुक जाये फिर भी, दुर्गा-दुर्गा पुकारूँगा।"

अब देहतत्व नहीं; दाढ़ीवाला गाजी शाक्त पदावली गा रहा था। यह आदमी कितना कुछ जानता था! अंगूरी हँसती-हँसती अपनी भौंहें टेढ़ी कर उसे धमकाती हुई बोली, "ओह, छी...छी...। मुझे लेकर इस तरह देवी-देवता के गीत मत गाओ। पता नहीं, कब सिर पर पाप का भूत सवार हो गया था। जब भी वह सब सोचती हूँ, नींद नहीं आती। अब यह सब बन्द करो।"

गाजी हँसता जा रहा था। वह कुछ कहने जा ही रहा था कि नारायण ठाकुर को साथ लिये महतो वापस आ गया। ठाकुर कह रहा था : "इसमें इतना कहने की क्या बात है? कोई दिक़्क़त नहीं होगी।" फिर मेरी तरफ देखते हुए ठाकुर ने मानो अभय-भरी हँसी हँस दी : "मैं भी तभी से सोच रहा था जब आप घूमने आये हैं तो कोई-न-कोई इन्तज़ाम तो किया ही होगा।"

इतना कहकर उसने गाजी को मुँह चिढ़ाते हुए झिड़क दिया, "क्यों, बहुत फुदक रहे थे? एक परदेशी आदमी को मीठी-मीठी बातों में फुसलाकर तो ले आये और जब ले ही आये, तब वापस भी ले जाओ। अब कह रहे हैं—बशीर-हाट ले जाऊँगा। उस्तादी है, और क्या?"

गाजी ने फिर हाथ जोड़कर माफी माँगी, "बस, अब कुछ न कहिए ठाकुर महाशय! मुरशेद की जूती मेरे मुँह पर...."

इसी को कहते हैं गुनाह बेलज्जत। किसी तरह से भी आप दोषी नहीं ठहरा सकते! लेकिन ठाकुर ने उसकी विनती सुनी भी या नहीं! वह तो बोले चला जा रहा था : "इसीलिए तो मैं कह रहा था इस हुज्जत में कौन पड़े। दो-चार गीत क्या गा लिये, जैसे सब कुछ फ़तह कर लिया।"

"नहीं ठाकुर महाशय! क़सम खाकर कहता हूँ : मैं तो ठहरा दिन का अन्धा और रात का दीवाना। बस इतना ही कहता है कि आज की रात आपको अपने इस बरामदे पर सोने देना होगा"—गाजी तुरत बोल उठा।

ठाकुर के जवाब देने के पहले ही अंगूरी के गले से हँसी फूट पड़ी। ठाकुर गुस्से में भरकर कुछ कहने जा ही रहा था कि महतो बोल पड़ा, "हाँ सो रहना। इसमें क्या आता-जाता है। कोई घर के भीतर तो नहीं सो रहे? अच्छा, तो हम चलते हैं। चल री अंगूरी! चलें।"

नारायण ठाकुर के मुँह में अब तक जो बात अटकी हुई थी वह कुछ इस तरह फूटी : बस बेकार की बातें—"

"बकता है।" अंगूरी ने उसे पूरा किया और इसके साथ ही खिलखिलाहट

कहाँ पाऊँ उसे

गूँज उठी। गाजी ने गरदन घुमायी : "जय मुरशेद!" और सीढ़ियों से नीचे उतरकर पैदल चल पड़ा। मैंने महतो का साथ देते हुए कहा, "चलिए, कुछ दूर तक आप लोगों के साथ चलता हूँ।" मैंने यह बात केवल महतो को ही नहीं कही। जिसे कहना चाहा था उस अंगूरी ने भी आँखें उठाकर मुझे देखा। उस समय उसके होठों पर प्रीति-भरी मुसकान खेल गयी।

इतना ही नहीं, उसने पीछे मुड़कर फिर एक बार नारायण ठाकुर को देख लिया। ठाकुर के मुँह की बात छीनकर उसने उस वाक्य को जिस तरह पूरा किया, उससे ठाकुर की बात ग़ायब हो चुकी थी। वह उसी तरह मुँह बाये हुए था। जर्दा और बीड़ी के धुएँ से काली पड़ गयी जीभ बिना किसी हलचल के एकदम खामोश थी। भँवें सिकुड़ गयी थीं, और आँखों में सूनापन था। मेरी तरफ़ देखते हुए अंगूरी ने अपनी हँसी को संयत कर लिया था लेकिन पीछे मुड़कर ठाकुर को देखती हुई फिर खिलखिला उठी थी।

उसकी यह हँसी ही नहीं, उसकी देह भी झकोले खा रही थी। रक्ताम्बरी के सिर पर घूँघट नहीं था। आँचल भी ढल गया था। उसकी इस भरी—कसी हुई देह में प्रौढ़ वय का कहीं कोई आभास था? नहीं। इस अरण्य की सुन्दरता को प्रकृति ने अपने हाथ से सँवारा था। यह अब महतो की बीवी नहीं; एक भरी-पूरी युवती थी, विलासमयी। वही जिसने डाकू का सिर उड़ा दिया था। जिसके सिर की बलि दी गयी थी उस बेचारे का दोष ही कितना रहा होगा? मौत क्या केवल इसी तरह आती है? हाँ, असुर-वेश में आने पर तो बलि चढ़े बिना उपाय भी क्या है?

इतनी देर के बाद अब नारायण ठाकुर की बकझक बन्द हुई। सीढ़ियों पर से ही दाँत निपोरकर बोला :

"अरे महतो-मालकिन! जा तो रही हो लेकिन अच्छा नमूना छोड़े जा रही हो!"

"क्या छोड़े जा रही हूँ?" अंगूरी ने खड़े होकर गरदन हिलायी।

"मैं समझ गया—समझ गया" ठाकुर ने भी कन्धे उचका दिये। उसकी हँसी वहीं सीढ़ियों पर बिखर गयी। दुबली-पतली देह के साथ सारा अस्थिपंजर भी हिल-डुल रहा था। वह कहता रहा : "मैं समझ गया—समझ गया—

मालकिन !"

अंगूरी ने अपनी त्योरी पर बल डालते हुए डपट दिया, "वही न, जो केवल फ़ालतू की बातों का पागुर करता है ?" और वह फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसके अंग-अंग में नृत्य-भरा छन्द जाग उठा।

महतो भी इस व्यंग्य को समझ गया था। लेकिन उसके पास जीवन-यापन की अपनी शैली थी। यह उसकी उम्र से भी झाँकती थी। वह अपनी बीवी के साथ क़दम मिलाकर नहीं चल सकता। होंठ दबाकर हँसता रहा। फिर पुकार उठा—"बहू! जरा जल्दी-जल्दी आ। दिन एकदम ढल गया!"

अंगूरी आगे बढ़कर उसके संग हो गयी। महतो मेरी तरफ़ देखकर बोला, "यह नारायण ठाकुर भी बड़े मजे का आदमी है।"

"लेकिन गाजी के ऊपर अकसर नाराज रहता है," मैंने कहा।

"ऐसा कुछ नहीं। ठाकुर का स्वभाव ही ऐसा है।" मेरी बात का जवाब दिया अंगूरी ने।

"हाँ, ठीक कहा तुमने। आदमी है ही ऐसा"—महतो ने हामी भरी।

अंगूरी ने कहा, "ऐंड़ लगी बछड़े की तरह। वह जो कहेगा, उसे सुनना ही पड़ेगा। नहीं सुनो तो गरदन पर सवार! देखा नहीं, फौंचा की बीवी के साथ किस तरह बातें कर रहा था? वैसे, फौंचा की बहू भी एकदम गाजी की तरह ही है। झगड़ा-टंटा मोल नहीं लेना, बस मुँह घुमाकर हँस देना। अब ऐसे लोगों के साथ झगड़ा करने भी कौन बैठे?"

महतो की लाल-लाल आँखें और भी बड़ी हो गयीं: "अरे बाबा! साल में एकाध बार ही तो इधर आती हो और सारा नजारा देख लेती हो।"

"क्यों नहीं नहीं देखूँगी भला? मैं कानी हूँ क्या?"

"नहीं, ऐसा नहीं है। इसीलिए मैं भी जब कभी बकझक करता हूँ, तब तुम मुँह घुमाकर हँस देती हो!"

"आह दुर छी...! तुम कोई ठाकुर की तरह थोड़े न भुनभुनाते हो कि मैं वैसा कुछ करूँगी। है कि नहीं?"

महतो मेरी ओर देखकर हँसता हुआ बोला, "अब इसका क्या पता? कुछ नहीं कहा जा सकता। तुमने फौंचा की बहू के बारे में जो कुछ बताया....!"

अंगूरी ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को तिरछा किया और फिर अपनी जीभ मरोड़कर बोली, "एह—हे—हे—।"

महतो 'हा-हा-हा' कर हँस उठा, मानो नशे में हो।

इस बीच हम हाट की सीमा पार चुके थे। सामने थे धान के खाली खेत। खेत के बाद एक लम्बा रास्ता। इतनी देर के बाद गाजी खड़ा दीखा—डटे हुए

धान के खेत के आगे एक हरे-भरे मेड़ पर। आसमान के नीचे अंगरखा धारे और पगड़ी पहने गाजी को देख ऐसा लगा मानो आदिम युग का कोई चलता-फिरता मानव आकाश का ध्यान कर रहा है। हलकी-हलकी हवा में उसकी दाढ़ी-मूँछ लहरा रही थी और इन सबके साथ उसकी पगड़ी की किनारी भी।

जब हम गाजी के निकट पहुँचे तो वह बोला, "मैं सोच रहा था कि पता नहीं, फिर क्या हुआ? ठाकुर फिर कुछ कह रहा था क्या?"

"कहेगा कैसे नहीं? तुम चले आये। वह तुम्हें बुला रहा था," अंगूरी ने कहा।

"मुझे?" गाजी आगे मुड़ते हुए रुक गया।

मेड़ का रास्ता। आस-पास कोई नहीं। मैं सबसे पीछे। मेरे आगे अंगूरी। मैं उसका चेहरा नहीं देख पा रहा था। बस उसकी आवाज ही सुन पा रहा था: "नहीं तो क्या मुझे? तुम तो लौटे नहीं! अब जब लौटोगे, तब वह मजा चखायेगा। ऐसा कह रहा था।"

"क्यों चाची? मैंने तो ऐसा कुछ भी नहीं कहा।" वह सचमुच किसी गहरी आशंका में डूब गया।

"कहा कैसे नहीं? क्या यूँ ही झूठ-मूठ का पागुर करते रहे?"

गाजी अब भी अंगूरी की ओर देख रहा था। उसकी आँखों में ठहरी परछाइँ धीरे-धीरे ग़ायब हो गयी और इसके साथ ही दोनों के ठहाकों से सारा खेत गूँज उठा। कुछेक पंछी भी शोर करते हुए कुछ ही दूर से उड़ गये। हँसी का ज्वार सँभालने के पहले अंगूरी के क़दम लड़खड़ा उठे और वह लचकती हुई खेत में उतर गयी।

"जरा सँभलकर! यह क्या कर रही हो? कहीं मोच-वोच न आ जाये।" महतो पुकार उठा। और फिर खड़ा हो गया।

"नहीं, गिरूँगी नहीं।" अंगूरी ने हँसते हुए कहा और फिर वह दौड़कर मेड़ पर चढ़ गयी। इस भाग-दौड़ में केवल उसकी चूड़ियाँ ही नहीं छनक उठी थी बल्कि सरके हुए घूँघट से झाँकते जूड़े में खोंसे गये झूमरवाले काँटे भी झन-झना उठे।

"गिर पड़ी तो पता चलेगा। और लोग यही कहेंगे कि महतो की बहू दज्जाल की तरह खेतों में दौड़ती-फिरती है।" महतो के स्वर में प्यार-भरी खीज थी।

अंगूरी की साड़ी हवा में लहरा रही थी, महतो के आगे-आगे। "कहने दो। मैं तुम्हारे उन सारे लोगों को जानती हूँ।" कहती हुई अंगूरी ने मेरी तरफ़ मुड़कर देखा। शायद यह बताने कि मैं भी ऐसे लोगों में तो नहीं, जिन्हें वह

जानती-पहचानती हूँ।

लेकिन मैं उस समय न तो महतो की बीवी को देख रहा था और न किसी दज्जाल बहू को। मैं देख रहा था, आनन्दविभोर एक अल्हड़ किशोरी को। देखकर उसकी प्रौढ़ता का अहसास नहीं होता। आलता लगे चिकने और सुन्दर साँवले पाँव लगता, जैसे सफ़र तो अब शुरू हुआ है। जिन्दगी के तमाम उतार-चढ़ाव पार करने में अभी काफ़ी देर है।

मेरी तरफ़ देखकर उसने क्या सोचा, मैं समझ न पाया। लगा जैसे उसने गाजी से कुछ कहा। गाज़ी की 'हा...हा...हा...' हँसी फिर फूट पड़ी। चलते-चलते बोला, "ऐसा न होता चाची तो मैं बाबू के साथ आता ही कैसे? जानती हो चाची, जब बाबू से मैंने पहली बार पूछा था : बाबू, मैंने आपको तो पहचाना नहीं! कभी देखा-सुना नहीं। और आप जायेंगे कहाँ? तो बाबू ने कहा था 'यह तो मैं भी नहीं जानता।' उनकी बात सुनकर बड़ा मज़ा आया। मैंने सोचा, अरे, यह तो बड़े मजेदार बाबू हैं। कहाँ और किधर जायेंगे, यह भी नहीं जानते! फिर कहने लगे 'बस, यूँ ही बाहर निकल पड़ा हूँ।' अब इसी से समझ लो कि कैसे आदमी हैं। तुमने अभी-अभी जो कुछ कहा न, मैंने भी ठीक ऐसा ही सोचा था।"

गाजी ने क्या सोचा था, सारी बातें मुझे लेकर ही हो रही थीं, और मैं नहीं जान पाया। त्योरियाँ चढ़ाकर या अपनी खीज जताकर, औपचारिक ढंग से उन्हें कुछ बता सकूँ, यह भी सम्भव नहीं! ये सारे के सारे लोग अपनी मर्ज़ी के मालिक हैं। मन में जैसी तरंग उठी, बस, वैसी ही सोचते हैं।

अंगूरी ने फिर मुड़कर देखा। महतो चिल्ला उठा, "सँभल के, फिर गिर पड़ोगी।"

गाजी तब भी अपनी बातों में ही खोया था : "इनकी आँखों को देखकर लगा कि बस अभी-अभी दुनिया में क़दम रखा है। गोद के उस शिशु की तरह, जो कुछ देख ले, उसी के लिए मचल उठे। मैंने सोचा, अरे वाह गुरुदेव! सचमुच यह आदमी तो बड़े मजे का है! फिर कहने लगे, कहाँ, कैसे, किधर जाना है—नहीं जानता।" कहता हुआ वह आकाश को गुंजानेवाली हँसी हँस उठा।

मैं सिर झुकाये पैदल चला जा रहा था। एक बार गाजी की ओर देखना चाहता था, लेकिन उसने पीछे मुड़कर देखा ही नहीं। महतो ने टिप्पणी की, "तुम लोग क्या हवा में तीर चला रहे हो? मकड़े की तरह हँस रहे हो।"

गाजी ने उत्तर दिया, "ऐसा है कि चाची यह कह रही थी कि बाबू एकदम दुधमुँहे बच्चे हैं। बच्चा जिस तरह आँखें फाड़े विस्मय से किसी खेल-तमाशे को

देखता है और मन-ही-मन हँसता है। इसीलिए कह रहा था, हँसता कोई और है और देखता कोई दूसरा है। बाबू को साथ पाकर बड़ा आनन्द आ रहा है। इसीलिए मैं भी मन-ही-मन यही गुन रहा था कि बाबू क्या खेलने के लिए ठीक वैसे ही बाहर निकले हैं जैसे घर से बाहर दौड़ता हुआ कोई बच्चा ! या फिर, लगता है बाहर निकलकर अपना रास्ता ही भूल गये हैं !" कहते हुए गाजी ने मुझमें झांकना चाहा। मैंने दृष्टि घुमा ली।

जो भी हो, गाजी की पिछली बातों ने मुझपर बड़ा गहरा रंग जमाया। अभी, इस घड़ी, यह रंगीन शाम, सुदूर क्षितिज पर झुका हुआ आकाश, इतने सारे स्त्री-पुरुष और जिनके बीच, पता नहीं, मैं कैसे आ गया ? मैं कौन हूं ? कहाँ जा रहा हूँ ? किसकी तलाश है मुझे ? मुझे अपने बचपन की याद आ गयी। तब मुझे अपनी अस्मिता का ज्ञान न था। मुझे अभी भी, बार-बार ऐसा लगता है कि मैं अब तक उससे अपना पीछा नहीं छुड़ा पाया। मैं अब तक वही हूँ जो घर से बाहर खेलने निकल पड़ा हो और खेल-खेल में ही कहीं किसी अनजानी जगह में खो गया हो। वहाँ, जहाँ हर-एक को विस्मय हो रहा है। भले ही, उसे बार-बार अपनी गीली आँखें पोंछनी पड़ी हैं।

वैसे मैं नहीं चाहता, कोई मेरे बारे में बातें करे। लेकिन यह गाजी ? कौन है यह ? लगता है, यह सब कुछ अपने अन्तर से देख रहा है। क्या वह मेरे जन्म-लग्न का साक्षी है ? मुझे आरम्भ से ही जानता है ? क्या वह वही मांझी नहीं, जो मुझे बूढ़ी गंगा के मुहाने से बचाकर ले आया था ? या फिर धलेश्वरी के किनारे बसे, ल्तब्दी गाँव के रामकृष्ण आश्रम के वही साधुजी जिन्होंने एक बार मेरी ठोढ़ी को उठाकर मेरी ओर बड़े स्नेह से देखा था। जिन्होंने अपने गेरुए वस्त्र से मेरी आँखें तो पोंछ दी थीं, लेकिन आँखों की कोरों में समाये विस्मय और कौतूहल को नहीं मिटा पाये। इसके बाद मेरा हाथ पकड़कर और अपनी दाढ़ी की फतोइयों में मुसकराते हुए उन्होंने कहा था, "चलो, मैं तुम्हारे घरवालों के पास छोड़ आऊँ।...."

मेरी आँखों के सामने पूर्वी बंगाल के धलेश्वरी के किनारे से तीन मील दूर एक गाँव धारग्राम तैर गया। एक नन्हा-सा बालक अपनी नानी का आँचल पकड़कर खींच रहा था और रो-रोकर कह रहा था : "आज मुझे इन्दर के साथ ब्रजेर हाट जाने दो न !" और तब नानी ने डाँट लगायी : "नहीं ! ब्रजेर हाट की भीड़ में खो जायेगा तू ! वहाँ बच्चे गुम हो जाते हैं।"

नाती बूढ़ी नानी की बात को सहज ही कैसे मान लेता ? वह उसके लट्ठे का आँचल फिर भी खींचे जा रहा था। उधर घर का नौकर इन्दर सिर पर पाँव रख घर के बाहर भाग जाना चाह रहा था। उस समय वह बालक गला फाड़कर

चिल्ला उठता और नानी की कमर से लिपट फूट-फूट कर रोने लगता। इससे भी नानी का कलेजा नहीं पिघला—ऐसी बात नहीं। उसने इन्दर को पुकारा: "इन्दर! सुन तो। इसे ले जा। देखना, खो न जाये कहीं? सामान खरीदते समय, कुतू की चावलवाली गद्दी में बिठा देना इसे। और हाँ, दोपहर तक लौट आना! इसने कुछ खाया-पिया नहीं।"

बालक सोच रहा था, अगर थोड़ी-सी देर और हो जाती तो इन्दर शायद धोखा देकर भाग ही जाता। उसने इन्दर से ही सुना था कि इस पृथ्वी पर सबसे कौतुक-भरा बाजार यही ब्रजेर हाट है। यह भी कहा था कि नानी को बताकर वह उसे ले जायेगा। और हुआ ठीक इसके उलटा ही! अब जब इन्दर ने उसकी तरफ़ हाथ बढ़ाया तो वह फिर रूठ गया। दरअसल इन्दर ढाका से चारग्राम आया था—नानी के पास घूमने-फिरने। उसके मन में भी यह साध थी कि वह यहाँ से दो मील दूर पश्चिम ब्रजेर हाट देखने जायेगा। इन्दर के हाथ बढ़ाने के पहले ही वह दौड़ पड़ा। ठीक उसी तरह, जिस तरह नन्हा बछड़ा खूँटे से छूटकर अपनी माँ का थन पीने के लिए दौड़ पड़ता है।

दौड़ते ही दौड़ते वह खेत पार कर गया। फिर कुलईचण्डीतला की ओर मुड़ा। वहाँ वह एक क्षण के लिए ठिठककर खड़ा हो गया। उसकी देह में एक बार कँपकँपी-सी छूट गयी और मन में भय की झनझनाहट। लोग कहते हैं, वहाँ पर आदि देवी कुलईचण्डी का वास है। हर राहगीर इसे सिर झुकाता है। कुलईचण्डी की मूर्ति कैसी है? वह यह नहीं जानता। शायद कोई प्रतिमा होगी! उसने भी उसे हाथ जोड़कर प्रणाम किया और फिर आगे भागा। इस बीच इन्दर भी बड़े-बड़े डग भरता आ गया और अपनी मालकिन के नाती का हाथ थामकर बोला, "तुम ठहरे शहरी बच्चे, और यह है गाँव का रास्ता। कहीं खो गये तो? फिर क्या होगा?" वह उसे डरा देता है।

क्या होगा? यह उस शहरी बालक को पता नहीं। वह केवल इन्दर का मुँह ताकता रहा, टुकुर-टुकुर। तब इन्दर उसे बताया कि इन खेतों में, खुले मैदानों में, बड़े-बड़े पेड़ों पर, नहर और नाले के किनारे, पता नहीं, कितनी चुड़ैलें घूमती-फिरती हैं, कितने भूत-प्रेत हैं। फिर उसने उसे वह कहानी सुनायी थी, जिसके नायक का कोई अता-पता नहीं। स्थान, काल और पात्र हैं लेकिन सभी इतिहास को पीछे छोड़ गये हैं। उसने उस गोराई दत्त का भी एक क़िस्सा बताया, जो गाँव के उत्तरी हिस्से में रहता था: "जानते हो, एक दिन गोराई दत्त सिराजदिघि से अपने घर वापस जा रहा था। उस समय रात के नौ बजे होंगे। एकदम घुप्प अँधेरा! गोराई दत्त के हाथ में एक बड़ी-सी रोहू मछली। उसके घर जाने का रास्ता था कादिरताल की तरफ़ से, जहाँ एक बड़ा-सा तालाब था।"

"उसके बाद ? गोराई दत्त जब इस कादिशाल के तालाब के किनारे क़दम-ब-क़दम बढ़ता चला जा रहा था कि उसे लगा, उसके पीछे सूखे पत्तों की खड़खड़ाहट के साथ कोई बढ़ता चला आ रहा है। अब क्या करे गोराई दत्त ?" यह शहर का बच्चा नहीं बता सका। "क्या, गोराई दत्त पीछे मुड़कर देखेगा ? अगर उसने ऐसा किया तो सत्यानाश हो जायेगा। ऐसा किया नहीं कि कोई उसकी गरदन दबोच लेगा।" इस बात से यह तो इस शहरी छोकरे को मालूम हो ही गया कि ऐसी अँधेरी रात में अगर कभी अकेले ही तालाब के किनारे या दूसरी किसी जगह जाना पड़े और इसी तरह की कोई आहट या आवाज सुनाई दे तो सावधान ! कभी पीछे मुड़कर नहीं देखना ! गोराई दत्त को इन सारी बातों का पता था। वह समझ गया कि उसके पीछे कौन चला आ रहा था। उसने इसीलिए मुड़कर देखा तक नहीं।

"और जो उसके पीछे-पीछे आ रहा था, जब उसने देखा कि अरे, गोराई दत्त तो मुड़कर देखता तक नहीं। तो अचानक ऐसा लगा कि गोराई के आगे-आगे कोई जा रहा है। उसके पाँव की आहट सुनाई दे रही थी, लेकिन वह ग़ायब था। और गोराई दत्त भी रुका नहीं ! उसी गति से चलता रहा। क्यों, पता है ? रुकता नहीं कि उसकी गरदन मरोड़ दी जाती। इसी समय गोराई दत्त ने देखा कि तालाब के पानी से एक लम्बा हाथ निकलकर उसकी तरफ़ बढ़ा चला आ रहा है। हाथ भी नहीं, हाथ की सफ़ेद हड्डी जिसमें सोने और चाँदी की चूड़ियाँ छनक रही थीं। और इसके साथ ही, किसी औरत की आवाज : "इँतनी बँड़ी रेहूँ मँछली देखकँर तो जीभ से लाँर टँपक रँही हैं... टँ...प...टँप...। अरें ओं दँत्त बाँबू, यँह मँछली यँहीं छोड़ जाँइये नँ, हँम खाँयेंगे...'।"

"अब क्या करते दत्त बाबू ? करते भी क्या ! उन्होंने अपने हाथ में मछली को और अधिक कसकर पकड़ लिया और चलने लगे। न तो बायें देखा और न दायें। उनकी दृष्टि थी सामने अपने गन्तव्य की ओर। उधर पानी से निकला हुआ हाथ बार-बार उन्हें पुकार रहा था। उस अँधेरे में हाथ की हड्डी चमक रही थी और सोने-चाँदी की चूड़ियाँ खनखना रही थीं।

जैसे-तैसे तालाब का रास्ता पूरा हुआ। दाहिना मोड़ पार कर जब वह अपने गाँव की तरफ़ मुड़ा तो उसे लगा जैसे पानी को कोई हाथी हिलोर रहा है। शायद कोई भयंकर भीमकाय दैत्य पानी से बाहर निकल रहा हो। जब कि ऐसा कुछ भी नहीं हुआ था। गोराई दत्त जब कुछ दूर निकल गया तो सारी आवाजें भी थम गयीं। लेकिन दूर से उसके कानों में वह नक्कू आवाज आती रही—'ठीक है... आँज तों तूँ दाँयीं तँरफ भाँग गयाँ इँसलियें बँच गया....फिर

किसी दिन तेरी गर्दन मरोड़ दूँगी....देखना....' ।"

कादिशाल के तालाब-किनारे बसे हुए पच्छिमी मोहल्ले के गोराई दत्त के इस विचित्र क़िस्से को सुनाने के बाद, इन्दर ने उस शहरी बालक से पूछा : "तुम बता सकते हो, गोराई का पीछा कौन कर रही थी ?" बालक ने जाड़े की सुबह फैली उस मुलायम धूप में भी, इन्दर का मोटा-तगड़ा हाथ कसकर थाम लिया और फिर धीरे से बोला, "मैं नहीं जानता। कौन थी वह ?"

"अरे वह थी, वही मँझली डाइन। अच्छा, यह तो बताओ कि उस समय गोराई दत्त मन-ही-मन क्या बोल रहा होगा !"

"मैं नही जानता," बालक ने भोलेपन से कहा।

"क्यों ? यह तो सभी जानते हैं : भूत है मेरा पूत, डाइन मेरी दाई का नाम। राम-लखन गर साथ हैं तो कौन बिगाड़े काम।" इन्दर ने यह मन्तर पढ़ा।

इन्दर का हाथ थामे उस बालक के होंठ बुदबुदाये और इस मन्तर को याद करने लगा। उसने एक बार भी नहीं सोचा कि कैसे वह भागते-भागते रुक गया था। इन्दर ने पता नहीं, कब वह बंसी बजा दी थी कि वह मन्त्र-मुग्ध साँप की तरह मोहित हो गया। उस दिन तो कुछ पता नही चला, लेकिन बाद में किसी ने बताया कि चारग्राम का यह इन्दर तो बहुत बड़ा बाज़ीगर है।

इन्दर बाज़ीगर तो सचमुच जादूगर था जैसे। सुबह की हलकी और नरम धूप। चारों ओर फैले कलाई और मटर के खेत ओस में चम-चम झिलमिला रहे थे। पेड़-पौधों के झुरमुट में चिड़ियाँ चहचहा रही थी, खजूरों पर टँगी हुई लबनी पर भौंरे गुनगुना रहे थे। ऐसे समय भी, इन्दर ने एक बहुत बड़ा भुतहा राज्य तैयार कर लिया था। उसमें राक्षस थे, प्रेतनी थी और एक लम्बा-चौड़ा कारख़ाना था जिसमें सारी अशरीरी आत्माएँ ग्रीवा और कन्धे उचका-कर ताण्डव कर रही थीं। उस बालक को लगा, जैसे उसके चारों ओर भूत-प्रेत मँडरा रहे हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात न थी, क्योंकि इन्दर तो बतला रहा था : "देखो खूँटे से बँधी वह गाय जो घास चर रही है, हो सकता है, वह कोई डायन हो। अब तुम जैसे ही उसके पास पहुँचे नहीं कि देखोगे वह गाय-वाय नही, पास-पड़ोस में रहनेवाली कोई सुन्दरी है और तुम्हारे सामने खड़ी है।"

शहरी बालक ने इन्दर का लम्बा मज़बूत हाथ थाम लिया। सीने की धड़कन तेज़ हो गयी। कौतूहलवश उसने खूँटे से बँधी गाय की ओर देखा। यह सोचकर कि सचमुच ही यह गाय अब एक सुन्दरी बनकर खड़ी हो जायेगी, लेकिन ऐसा कोई संकेत नहीं मिला। धूप की तरफ़ अपनी पीठ किये, पूँछ दबा-

पटककर वह मक्खियाँ उड़ाती रही और जिस तरह घास चबा रही थी, चबाती रही। फिर भी लड़के ने पूछ लिया : "उसके बाद ?"

"उसके बाद ?...हाँ, उसके बाद तुम उसके पास गये तो देखोगे कि अरे, यह सुन्दरी तो रो रही है। चुप होती ही नहीं। रोती चली जा रही है। उसे देखकर तुम्हारा जी पिघल जायेगा। तुम पास जाकर कहोगे : "तुम किस घर की बहू हो ? क्यों रो रही हो ? तुम किस गाँव में रहती हो ?' तो वह बतायेगी कि वह अमुक गाँव में रहती है। फ़लाँ जगह उसका घर है और वह उस घर की बहू है। उसे डाकू वहाँ से चुराकर ले आये थे और अब यहाँ पटककर भाग गये हैं। उसे वहाँ छोड़ आना होगा।"

"इसके बाद ?"

"इसके बाद ? फिर क्या हुआ ? हाँ तो फिर...? इस 'फिर क्या हुआ' का कोई अन्त नहीं। उस जादूगर का क़िस्सा कभी खत्म ही नहीं होता। इन्दर ने बताया कि उस सुन्दरी को देखकर जो कोई भी मोहित होगा वह मारा जायेगा। क्योंकि वह कोई सुन्दरी थोड़े न है, वह तो डायन है डायन! वही रास्ता भटकाकर ले जाती है, घने अँधेरे जंगल में, घोर भयावह वनों में, बेंत के झुरमुट में या फिर बरगद की लम्बी-लम्बी जटाओं में। और उसके बाद गरदन मरोड़कर उसका खून चूस लेती है। पर इसके बाद भी, वही 'फिर ?' ही रह जाता है। लेकिन उस जादूगर की वंसी तो तरह-तरह की धुनों के साथ बजती ही रहती है। उसकी उस धुन में 'काल और महाकाल' सभी खो जाते हैं, उससे कौन लोहा ले सकता है ?

बालक केवल क़िस्सा ही नहीं सुनता रहा। वह मुँह फाड़े इन्दर के चेहरे की तरफ देखने लगा। उस समय उसके लिए इन्दर, जिसकी गरदन पर बड़े-बड़े बाल हैं, जिसकी बड़ी-बड़ी आँखों में जादू-भरी चमक है, इस दुनिया का आदमी नहीं। वह किसी दूसरी दुनिया से आया है और किसी अनजाने लोक की जादुई कथाएँ सुना रहा है।

जिस तरह चुम्बक लोहे को खींच लेता है, इन्दर भी उस बालक को सम्मोहित कर ब्रजेर हाट आ पहुँचा। इस जगह का नाम ब्रजेर हाट क्यों पड़ा ? यह वह नहीं जान पाया और आज भी नहीं जानता। ब्रजेर हाट भी नहीं—'बेजेर हाट।' दूर-दूर तक छिटके गाँव और चारों ओर फैले हुए खेत। खेत के बीचों-बीच कुछेक बड़े-बड़े बरगद और पीपल के पेड़। उनके आस-पास चारों तरफ़ बने हुए घर। बाँसों की बेड़ियाँ और टिन के छप्पर। हाट का दिन तो था ही। इतनी भीड़ कि कहीं पाँव रखने की जगह नहीं।

इन्दर के साथ एक बार पूरे बाजार का चक्कर लगाने के बाद, मालकिन

के आदेशानुसार बालक को कुतुदास के चावल की आढ़त में बैठा दिया। कुतुदास चौकी पर शीतलपाटी बिछाकर बैठे थे। उनके पास ही एक लकड़ी का बक्सा था। सामने लम्बी बही थी और उसमें लिखे गये हिसाब में लम्बे-चौड़े आँकड़े। चूने या सुर्खी की तरह चावल की ढेरी लगी हुई। तराजू पर मापकर वह बोरा रखा जा रहा था। रामे राम...रामे दो...रामे तीन...। चाहे जो भी हो करे, बिना राम बात नहीं बनती। इन्दर ने दास बाबू को दण्डवत् कर बताया कि यह भूयाँवालों का नाती छोड़े जा रहा है—मालकिन ने कहा था। बाजार से सामान वग़ैरह लेने के बाद वह फिर उसे वापस ले जायेगा।

दास बाबू की चाँद की तरह ही उनके दाँत भी चमक रहे थे। गद्दी पर बैठने की जगह बताकर उन्होंने भूयाँवाले नाती से कहा, "बैठो, बैठो भाई! क्या खाओगे बताओ? कहो? हाँ, बरिसाल का चिकना माल—एक नम्बर... दो मन सैंतीस सेर...।"

एक बात से दूसरी बात पर कूदते हुए वह हर मोर्चा सँभाल रहे थे। हिसाब लिखें कि रुपये गिनें या भूयाँवाले नाती को जलपान करायें। साथ ही, इन्हीं बातों के बारे में पूछताछ भी—शहर, स्कूल, पढ़ाई वग़ैरह-वग़ैरह। इस बीच कोई नौकर एक दोने में जलेबी और खाजा दे गया। बालक को शर्म लग रही थी। संकोच भी हो रहा था। उसने बताया कि उसे भूख नहीं। कुतुदास हँसने लगे। उन्होंने कहा, "खाते-खाते ही तो भूख लगेगी।" और फिर हँसने लगे। हँसते हुए उनकी तोंद हिल रही थी।

बालक को लगा कि खाते हुए सचमुच भूख जग गयी। आढ़त के नौकर ने तुरन्त काँसे के गिलास में जल ला दिया। जलपान करते हुए लड़के के कान में सिराजदिघा की बात सुन पड़ी। दुकान में ग्राहकों की भीड़ बनी थी। उसमें ही दो आदमी यहीं की बातें कर रहे थे कि वे दोनों यहीं से सिराजदिघा जायेंगे। सिराजदिघा—धलेश्वरी नदी के किनारे बसा हुआ एक छोटा-सा थोड़ी आबादीवाला क़स्बा। उस बालक ने वहाँ का जहाजघाट देखा था। उस क़स्बे को भी दूर से देखा था। कोई ओर-छोर न था, केवल पानी, और लोगों का जमघट। और धलेश्वरी—उसका भी कोई आर-पार नहीं। बालक के मन में बहुत दिनों की साध थी कि वह एक दिन सिराजदिघा जायेगा।

उन दोनों की बातें सुन उसका रक्त संचार तेज हो गया। [illegible] तूफ़ान मचल उठा। लगा कि वह उसे उड़ा न ले जाये। उसका [illegible] कर उठा: "मैं सिराजदिघा जाऊँगा।"

उसने सुना, वे दोनों अब भी बातें कर रहे थे कि शाम होते-होते [illegible] पार जाना था मानेंगे। बालक उठ खड़ा हुआ। कुतुदास के [illegible]

वहाँ [illegible]

में एक बार फिर सफ़ेद दाँत चमक उठे। उन्होंने पूछा, "कहाँ चले लाला ?"

बीच में ही पकड़े जाने के भय से उसका हृदय धड़कने लगा। उसने गरदन हिलायी : "नहीं, कहीं नहीं जा रहा।" कुतुदास के मन में कोई खोट नहीं। पता नहीं, उनके जी में क्या हुआ कि बोले, "हाट घूमने की इच्छा है क्या ? हाट भीतर तो तुम खो जाओगे लाला ! ऐसा करो कि बरामदे में बैठकर देखो।"

बरामदे से मतलब था—आढ़त की बाहरी सीढ़ियों पर बैठकर सारा तमाशा देखना। दास बाबू के मन में अब भी कोई शंका-सन्देह नहीं। ऐसे भले आदमी को कैसे छला जा सकता है ?

लेकिन वह अपने को कैसे छले ? धलेश्वरी का स्रोत उसे अपनी ओर खींच रहा था। सिराजदिघा का तूफ़ान उसके सीने में मचल रहा था, उसे उड़ाये लिये जा रहा था। वह बाहर की सीढ़ियों पर जाकर खड़ा हो गया। हर कोई अपने-अपने काम में खोया हुआ। उसकी तरफ़ किसी की दृष्टि नहीं। वह सोच रहा था : कब वे दोनों आदमी बाहर निकलें और...

ज्यादा देर नहीं हुई। दोनों बाहर निकल आये। सीढ़ियों से उतरते हुए वह भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। कैसा रहा होगा वह भोला-भाला, अपने में खोया हुआ, धलेश्वरी की अँधेरी-यात्रा, सिराजदिघा की धुँधली-सी याद लिये हुए वह लड़का ? क्या बूढ़ी नानी की बातों की भी उसको याद नहीं रही ?

नहीं। अब उसे किसी की कोई बात याद नहीं। क्या उसे गोराई की कहानी भी याद नहीं ? उसे याद नहीं कि रास्ते के किनारे खूँटे से बँधी गाय वेश बदलनेवाली भूतनी हो जा सकती है। तो फिर वह क्यों यहाँ-वहाँ भटकता चला जा रहा है, अपनी गरदन मरोड़वाने के लिए ? क्या वह यह सब भी भूल गया ?

हाँ, सचमुच भूल गया। इन भूत-पिशाचों से भी अधिक सम्मोहन धलेश्वरी-सिराजदिघा की पुकार में जो था। जो उसे खींचती चली जा रही थी। इतनी सम्मोहक कि अनचीन्ही, अनजानी होती हुई भी वह बढ़ा चला जा रहा था। उसे कुछ पता नहीं कि सिराजदिघा का रास्ता कितना लम्बा है। कैसा दुस्साहस था वह !

लहरों में जो कूद पड़ता है, उसे फिर कोई डर-वर नहीं होता। वह बालक अब व्रजेरहाट से काफ़ी दूर बढ़ आया था। दोनों ग्रामीण भी आगे-आगे चल रहे थे। उन्होंने मुड़कर देखा तक नहीं कि उनके पीछे कोई बच्चा चला आ रहा है। वे एक मण्डी से सौदा खरीदते हैं और दूसरी मण्डी में बेच देते हैं। बस यही खरीद-बेच के धुन में मस्त। इस डर से कि कहीं पकड़ा न जाये, बालक उनसे कुछ पूछ भी नहीं सकता। बस उनके पीछे-पीछे चला जा रहा था। रह-रहकर अपनी बेचैन आँखें उठाकर देख लेता कि कहाँ है धलेश्वरी ? सिराजदिघा

कहाँ है ?

कितनी देर तक चलता रहा, इसका उसे कोई हिसाब नहीं। जब सूरज माथे पर चढ़ आया तो उसने देखा—दूर कहीं पर घलेश्वरी की चाँदी-सी धार बह रही है। घलेश्वरी, घलेश्वरी! उसके उस पार काजी-सी धुंधली रेखा थोड़ी मुड़कर कहीं खो गयी है जैसे! घलेश्वरी की चमकती-मचलती तरंगें। उनपर अपनी आँखें जमाये रखना बहुत ही कठिन है। नदी में कितनी ही डोंगियाँ, कितनी ही नौकाएँ बहती चली जा रही हैं। देखते-ही-देखते ब्रजेरहाट के दोनों आदमी कहाँ गायब हो गये, इसकी भी कोई सुध नहीं रही। उसकी दृष्टि सिराजदिघा के बन्दरगाह की ओर गयी। अनगिनत घर-द्वार! कोई गिनती नहीं। वह एक ऊँचे-से बाँध पर चढ़ गया। उसे लगा, जैसे वह आकाश को छू रहा हो। माल उतारती-लादती जाने कितनी ही नौकाएँ! कोई हिसाब नहीं। आकाश को छूनेवाली चिमनियाँ, धुआँ निकालती हुई। आदमियों की भी कमी नहीं। धूल उड़ रही थी। वहाँ न तो कोई हाट था न क़स्बा। बालक को याद आया: यह तो सिराजदिघा का बन्दरगाह है। वह उस बन्दरगाह में घुस गया। बेहिसाब दुकानें और बिखरा पड़ा माल। खरीद-बिक्री हो नहीं, कितनी ही चीजें तो तैयार भी हो रही थीं—बिस्कुट, रोटी, बताशे, मिठाइयाँ, चटाइयाँ, जाल...कितना कुछ बताया जाये ?

बालक एक ओर से जाता और दूसरी ओर भटक जाता। फिर दूसरी ओर से तीसरी ओर निकल जाता। न तो उसका कौतूहल मिट रहा था, न उसकी साध। घूमते-फिरते वह फिर घलेश्वरी के किनारे जा पहुँचा। वहाँ घाट पार करानेवाले एक मल्लाह की हाँक सुनाई पड़ी, "नाव लतब्दी जा रही है, जानेवाले जल्दी आओ!"

लतब्दी का दियरा। उसे याद आया: वहाँ तो बुआ का घर है। उसने जल्दी से अपनी जेब में हाथ डालकर देखा। डेढ़ पैसा था। पंचम जॉर्ज की मोहरवाला। देखते-देखते बहुत-से यात्री उस नौका पर अपनी जगह बना चुके थे। नौका पर कोई छपरी नहीं थी। उसने मल्लाह से पूछा, "पार ले जाने के कितने पैसे ?"

मल्लाह ने उस ओर देखा और कहा, "बच्चों के लिये सिर्फ़ आधा पैसा।"

बच्चों का आधा और बड़ों का एक पैसा! वह बिना कुछ सोचे-विचारे नौका पर जा बैठा। उसने सुना था कि सिराजदिघा के उस पार, लतब्दी के दियरेपर जो गाँव बसा है, उसमें कहीं बुआ रहती है। उसकी आँखों के आगे बुआ की धुंधली-सी छवि तैर आयी थी। गोरा-सा चेहरा, बड़ी-बड़ी चमकीली आँखें और माथे पर सिन्दूर का टीका। वैसे उनकी मुख-मुद्रा बड़ी गम्भीर रहती।

मल्लाह ने नौका को धार में छोड़ दिया।

क्या यह बालक भी बिना किसी लंगर की नाव की तरह ही था? कौन है जो खींचकर ले जा रहा था? क्यों बहा जा रहा था? जो उसके आसरे बैठे हैं, उसे उनकी भी कोई सुध नहीं! वह इस तरह अनजानी जगहों में भटकता फिरता है, क्या उसका अन्तर ज़रा भी नहीं कँपता?

कँपता क्यों नहीं? जब वह तीखी धूप से तिलमिला उठता, और दूर-दूर तक कहीं भी, किसी टापू-सी ठहरी, लतब्दी की काली-धुंधली रेखा स्पष्ट नहीं होती, धलेश्वरी का बलुआही किनारा समाप्त नहीं होता, या फिर पेट की भूख रह-रहकर मचल उठती, उस समय उसका नन्हा-सा जी काँप उठता। अगर गहरा अँधेरा घिर आया तो वह अपनी बुआ का घर कैसे खोज पायेगा? यह सफ़र पूरा कब होगा?

नौका पर सवार मुसाफ़िर खरीद-बिक्री के बाद घर लौट रहे थे। सभी अपनी-अपनी जोड़तोड़ में व्यस्त। उस बालक की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं। जब कुछ पूछताछ ही नहीं, तो कोई कैसे जानता कि यह अबोध अपनी राह से भटककर बहता चला जा रहा है! कोई नहीं जानता। अब तक वहाँ, ब्रजेरहाट में कैसी आपाधापी मच गयी होगी।

नौका जब लतब्दी के दियरे से जा टकरायी और लंगर डाला जा चुका तो सूरज पच्छिम में डूबने की तैयारी कर रहा था। बालक ने देखा: किनारे के आस-पास तो कोई गाँव नहीं! सामने चटियल मैदान और उसके बाद खेत। हाँ, उसके एक सिरे पर अवश्य ही एक गाँव है। उसकी आँखों में भय और निराशा के भाव उभर आये थे। उसके आँसू छलक उठे। वह नहीं जानता, बुआ का घर कहाँ होगा? अचानक एक यात्री ने पूछ लिया, "कहाँ जाना है, किसके घर जाना है?"

लड़के ने अपने फूफा का नाम बताया।

"तो फिर रोते क्यों हो? चलो हमारे साथ। हम तुम्हें महाराजजी के पास लिये चलते हैं।" उस व्यक्ति ने उसका हाथ थाम लिया।

बालक के भीतर भय बैठ गया था। उसने बताया कि वह महाराज के पास नहीं जाना चाहता। वह तो फूफाजी के यहाँ जायेगा। उसकी बातें सुनकर सभी यात्री हँसने लगे।

"तुम अपने फूफाजी को देखकर पहचान जाओगे न?" उस व्यक्ति ने फिर पूछा।

लड़के ने स्वीकार किया कि उसने बुआजी को तो दो-एक बार देखा है, लेकिन फूफाजी को नहीं। एक बार फिर सभी मुसाफ़िर हँसने लगे।

"अच्छा चलो, हम तुम्हें तुम्हारे फूफा के पास लिये चलते हैं।" कहकर उसने बालक का हाथ थाम लिया। पैदल चलते-चलते दोनों उसी गाँव के एक सिरे तक पहुँचे। एक छोटी-सी कुटिया थी वहाँ। सामने गेंदा के ढेर सारे फूल खिले थे। पास ही, दोनों ओर फूलों से लदी माधवी लताएँ थीं, जिन्हें ऊपर से मोड़कर तोरण की तरह सजा दिया गया था। कुटिया पर टिन का छप्पर था। जिस पर एक झण्डा लहरा रहा था। सब कुछ शान्त, गम्भीर। खुले हुए द्वार के सामने, दो बाँस के बीच—टिन के चद्दर पर बड़ी खूबसूरती से लिखा था 'रामकृष्ण आश्रम।' पढ़ने के बाद उस बालक ने बड़े आश्चर्य से उस व्यक्ति की ओर देखा। जगह-जगह से उघड़े और पैबन्द लगे जूते के तसमे खोलते हुए उस व्यक्ति ने कहा, "चलो, भीतर चलते हैं।" क्यों? यह लड़का कोई आश्रम थोड़े न आना चाहता था। क्या यह आदमी उसे यहाँ भरती करना चाहता था? बालक का हाथ थामे ही वह भीतर प्रविष्ट हुआ। उसने पुकारा, "साधु महाराज विराज रहे हैं क्या?"

उसकी इस ध्वनि के साथ ही, कमरे से एक व्यक्ति बाहर आया। साँवला रंग और शान्त तथा गहरी आँखें। उम्र पचास के क़रीब। चेहरे पर खिचड़ी दाढ़ी। सिर के बाल भी सफ़ेद हो चले थे और गरदन पर मोटी-मोटी जटाएँ झूल आयी थीं। गेरुआ रंग का धोती-कुरता। लम्बी छरहरी देह। हाथ अपेक्षाकृत अधिक ही लम्बे। बाहर निकलकर उन्होंने कौतूहल-भरी दृष्टि से देखा, एक बार उस व्यक्ति की तरफ़ और फिर लड़के की ओर। फिर बिना कुछ बोले वे और समीप आ गये।

साथवाले व्यक्ति ने नीचे झुककर सिर पर अपना हाथ रखते हुए उन्हें प्रणाम किया और कहा, "यह बच्चा आपका नाम ले रहा था। यह भी बताया कि आप उसके फूफा लगते हैं।"

बालक ने भी मन-ही-मन अस्वीकृति में अपना सिर हिलाया। भला एक साधु उसके फूफा कैसे हो सकते हैं? उधर गेरुआधारी बाबा भी आश्चर्य में पड़ गये। एकदम पास आकर उन्होंने उसका नाम पूछा। बालक ने अपना नाम बताया। साथ ही, उसकी आँखों में आँसू छलक आये।

साधु ने उसके पिता का और फिर उसके घर का पता भी पूछा। लेकिन जवाब देते-न-देते उन्होंने बालक के हाथ को अपने हाथ में लेकर विस्मय से पूछने बैठे, "तुम यहाँ तक आये किसके साथ? कहाँ से चले आ रहे हो?"

लड़के ने तब चारग्राम का नाम बताया। साधु बाबा हँस पड़े—"हँ...हँ... वह तो तुम्हारे मामा का गाँव है।" यह कहते हुए उन्होंने उसे सिर से पाँव तक देखा और कमरे के अन्दर चले गये। वह आदमी भी नमस्कार कर जाने

लगा। साधु महाराज ने उससे कहा, "पता नहीं, यह बालक यहाँ तक कैसे चला आया! आपने इसे मुझ तक पहुँचाकर बड़ा ही अच्छा किया। भगवान् आपको सुखी रखे।"

साधु बाबा ने उसे अपने कमरे में बिठाया। फिर जल्दी से पीतल की एक छन्नी में कुछ नारियल के लड्डू और मिठाइयाँ ले आये। अपने हाथ से जल का गिलास बढ़ाकर पूछने लगे, "हाँ, अब बताओ तो बेटे, तुम लतव्दी तक कैसे पहुँचे?"

तनाव और परेशानी से बालक के गले में मिठाई भी नहीं उतरती। लेकिन जलपान जब सामने आ ही गया तो उसके मुँह में पानी भर आया और इसके साथ ही, आँखों में भी। वह धीरे-धीरे खाने लगा। उसने बताया कि वह किस प्रकार व्रजेर हाट से यहाँ तक चला आया।

साधु बाबा सब कुछ सुनते रहे और बीच-बीच में सिर भी हिलाते रहे। उनकी दो बड़ी-बड़ी आँखें मुसकराती रहीं। उनकी दाढ़ी और जटाओं में भी हँसी झिलमिला रही थी। लड़के की आँखों में भर आये आँसू और रुँधे हुए गले की ओर उन्होंने बहुत ध्यान नहीं दिया। बस इतना ही कहा—"पहले खा लो।"

लड़के का उद्विग्न मन बड़ा चंचल हो उठा था। जल्दी खा-पीकर फिर गटागट पानी पी गया। प्यास इतनी जोरों की लगी थी उसे कि पानी गालों से बाहर बह निकला। लड़के ने अपनी बाँह से उसे पोंछ लिया। उसकी आँखों से अब भी अश्रुधार बह रही थी। रोते-रोते आँखें उसकी लाल हो उठी थीं।

साधुजी सब कुछ चुपचाप सुनते रहे। उन्होंने बिना कुछ पूछे, उसे सब कुछ कहने दिया। थोड़ी देर में उनकी आँखों की चमक और भी बढ़ गयी। वह फिर हलके से मुस्कराये। अचानक उठ खड़े हुए और एक ताखे के निकट जाकर दियासलाई से दीया जलाया। सिर झुकाकर थोड़ी देर तक वहाँ प्रणाम किया। फिर बालक के सामने आकर अपने गेरुए कपड़े से उसके आँसुओं को पोंछ डाला और उसकी ठोढ़ी उठाकर बोले, "चलो, मैं तुम्हें तुम्हारे रिश्तेदारों तक पहुँचा दूँ।"

लड़के का हाथ थामे वह आश्रम के बाहर आये। बाहर से कुटिया की कुण्डी चढ़ायी। माधवी लता से घिरी कुटिया को सामने से देखा और बाग का पैंड़ा खींचकर गाँव की ओर बढ़ गये।

गाँव की टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियाँ पार करते हुए वह दूसरे छोर तक आ पहुँचे। फिर एक बड़ी-सी कोठी के सामने आ खड़े हुए। कोठी एक-मंजिली ही थी, लेकिन सीढ़ियाँ बहुत बड़ी-बड़ी थीं। एक खूब बरामदा था—काफी ऊँचा। वहाँ से खड़े होकर साधु ने अपने हाथ को सिर से लगाया और फिर वहाँ कोठी के पीछे टिन के छप्परवाले घर के सामने आ खड़े हुए। पास ही एक और ऊँचा

चबूतरा था, जिस पर तुलसी का चौरा था। एक दीया जल रहा था वहाँ। थोड़ी देर पहले ही सन्ध्या-पूजा हुई थी। चबूतरे के एक तरफ़ कद्दू की लतर झूल रही थी। साधु बाबा ने खड़े होकर वहीं से पुकारा, "सुरबाला....सुरबाला!"

बालक को याद आ गया : अरे, यही तो उसकी बुआ का नाम है। पिताजी के मुँह से भी वह अकसर यह नाम सुन चुका था। पुकार का कोई जवाब नहीं मिला, लेकिन किसी के पैरों की आहट अवश्य सुन पड़ी। साथ-साथ रोशनी भी आती दिखाई पड़ी। सिर पर अपना आँचल लिये कोई बहू खड़ी थी, हाथ में लालटेन, माथे पर लाल बिन्दी और माँग में सिन्दूर। लाल किनारी की साड़ी। कलाई में शंख और लाह़ी की चूड़ियाँ। रंग एकदम गोरा और आँखें चमकीली। लड़के का हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। वह भीतर-ही-भीतर पुकार उठा, "बुआ...बुआजी!"

लेकिन यह बुआ तो कुछ वैसी न थी, जैसी कि वह दूसरे मौक़ों पर दिखी थी। वह इतनी तो गम्भीर नहीं, जितनी कि अभी दीख रही थी। साँझ की वेला-सी शान्त, उदास और निश्चल। वह सामने आकर खड़ी हो गयी लेकिन एक बार भी बच्चे की तरफ़ नहीं देखा।

"यह तुम्हारे भैया का लड़का है। कोई मेरे पास पहुँचा गया। चारग्राम से आ रहा है। अब सारा क़िस्सा तो यही बतायेगा।" साधु बाबा बोले।

बुआ ने अचरज भरी निगाह से उसकी ओर देखा। फिर उसका नाम ले पुकार उठी, "अरे तो तू आया है?"

बालक की आँखों में फिर आँसू उमड़ आये। वह साधु से अपना हाथ छुड़ाकर सीधे बुआ जी से लिपट गया। बालक को दुलारते हुए वह साधु की तरफ़ देखकर पूछने लगी, "बात क्या है? मैं तो कुछ समझ ही न पायी।"

उसका गला भर आया था। साधु बाबा मुसकराते रहे। फिर बोले, "बालक का मन ही तो ठहरा! सपने में माँ पुकार सुन दौड़ पड़ता है। तुम सारी बातें उसके मुँह से सुनना। अब आज तो सम्भव नहीं, मैं कल सुबह ही किसी को चार-ग्राम भेजकर यह समाचार पहुँचवा दूँगा।"

यह कहकर वह कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। बुआ भी खामोश खड़ी रही। लालटेन की रोशनी में साधु बाबा को आँखों की पुतलियाँ तारे की भाँति चमकती रहीं। फिर बोले, "सुरबाला, तो मैं चलूँ अब?"

बुआ ने कुछ कहा नहीं। सिर्फ़ लालटेन को ज़मीन पर रख दिया। लड़के को अपनी गोद के पास खींचकर उसने अपने आँचल को गले के गिर्द लपेट लिया। साधु बाबा बोल उठे, "तुम्हें तो कई बार कह चुका हूँ, ऐसा मत किया करो। मैं चला।" फिर प्रसंग बदलकर पूछा, "माँ-बच्चे और घर के सभी लोग

तो आनन्द से हैं ?"

"हाँ, हैं।" बुआ ने उत्तर दिया।

बस, इतना ही। और कोई बात नहीं हुई। धरती पर घुटने टेक और सिर झुका उसने साधु बाबा को प्रणाम किया। लेकिन साधु बाबा रुके नहीं, वह तब तक पीछे मुड़कर चलने लगे थे। बुआ ने भी सिर उठाकर देखा नहीं। वह कुछ देर तक इसी तरह पड़ी रहीं।

इस बीच उस बालक ने ध्यान से देखा कि कमरे के भीतर से तीन परछाइयाँ आकर पास खड़ी हो गयी हैं। उनमें एक लड़की थी, लगभग तेरह बरस की। उसके दुबले तन पर एक साड़ी थी जिसका एक छोर उसने अपनी कमर से लपेट लिया था। उसके बाद छोटा-सा बच्चा। और फिर एक आदमी, उस लड़की से काफ़ी बड़ा। वे सभी इस बालक को तरफ़ देख रहे थे। उस लड़की ने इसका नाम लेकर कहा, "तुम वही हो न !"

बालक ने उसी क्षण अपने फुफेरे भाई-बहनों को पहचान लिया। वह उनकी तरफ़ बढ आया। उन सबों ने उसे घेर लिया। बालक का पहला सवाल यही था—"वह साधु बाबा कौन थे ?"

उसके छोटे फुफेरे भाई ने बताया, "वे हमारे पिताजी हैं !"

बालक एकदम हैरत में पड़ गया। उसके फूफाजी साधु क्यों बन गये ? वह गाँव के एक सिरे पर आश्रम बनाकर साधु की तरह रहते हैं।...और वह आज तक नहीं जान पाया कि उसके फूफाजी साधु क्यों हो गये थे ? अपना भरा-पूरा घर-संसार छोड़कर आश्रम में क्यों रहने लगे थे ? उसने फूफाजी को बस दो-एक बार ही देखा था और बुआ को कई बार। उनकी शान्त और गम्भीर आँखों को देखकर उसे बराबर लगता रहा कि इस संसार में—सम्भवतः हर-एक रहस्य को जान पाना बहुत कठिन है। कुछ चीज़ों को तो महसूस-भर किया जा सकता है। उसे उसी रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। और ना ही उसे कोई नाम दिया जा सकता है। उस नामहीन और व्याख्यातीत अनुभव को वह जितनी दूर तक समझ पाया, उससे यही लगा कि लतब्दी के उस दम्पती के बीच उस अलगाव में भी कहीं-न-कहीं कोई सेतु था। उस सेतु के बीच आँसू और हँसी—दोनों ही प्रवाहित हैं। हाँ, एक अनजाना-सा रहस्य भी जुड़ा हुआ है, जिसे कोई नहीं जान पाया।

इस घटना के ठीक सात दिन बाद, भरी दोपहर में कई लोग, झुण्ड बनाकर वहाँ आ धमके। इस झुण्ड में उस बालक के माता-पिता, दीदी, मँझले भैया और नानी सभी थे। और साथ ही, इन्दर भी। सब-के-सब तिलमिलाये शिकारी की तरह क्रुद्ध और क्षुब्ध। उस पंछी को जो पिंजरे में फँसा था—उसे दबोचने के

लिए। उनकी आँखों में व्यग्र जिज्ञासा से अधिक शिकार पाने की भरपूर प्रसन्नता थी। उस लड़के को कुछ ऐसा ही लगा था, तभी तो वह दौड़ता हुआ बुआ की चारपाई के नीचे-अन्धकार में जा छिपा। लेकिन ठीक इसी समय मँझले भैया की तेज आवाज सुनायी पड़ी :

"वह रहा, चारपाई के अन्दर।"

अन्ततः बालक को चारपाई के नीचे से निकाला गया। उसकी देह पर धून और कालिख पुत गयी थी। बाहर निकलते ही उसने देखा : बाबा, माँ, नानी, दीदी और मँझले भैया, सभी उसे घेरे खड़े हैं। उनके साथ, बुआ और उनके लड़के भी। इन्दर भी बाहरवाले चबूतरे के आस-पास खड़ा रहा होगा, क्योंकि उसे कमरे के भीतर आने की मनाही थी। बालक ने आँख उठाकर देखा तक नहीं। उसके दोनों गालों और पीठ में सनसनाहट जगी हुई थी। पता नहीं, कब वहाँ सजा बरस जाये।

लेकिन इसके बदले पिताजी की हुंकार सुन पड़ी—"देखो तो जरा इस बैल-चोर को!"

'बैल-चोर ?' उसने अचरज में भरी अपनी आँखें उठायीं। बुआजी के गम्भीर और उदास चेहरे पर भी हलकी-सी मुसकान दौड़ गयी। उसने अपने दाँतों से आँचल का छोर दबा लिया। उसके बच्चे भी हँस रहे थे। उसकी माँ के होठों पर भी हँसी थी और आँखों में आँसू। होठों को कसकर दबा रखा था। उधर मँझले भैया के डगलस फेयर बैंक्स-जैसे पागल और क्रोधी चेहरे पर आश्चर्य का भाव। वह पिताजी की ओर देख रहा था। उसके मन में भी यह जिज्ञासा थी कि पिताजी के 'बैल-चोर' कहने का आशय क्या था ? अपने इस छोटे भाई की तरह यह प्रश्न कि उसने बैल कब चुराया ? किसका बैल चुराया ? बैल चुराकर वह करेगा भी क्या ? एक दस साल का लड़का इसका प्रतिवाद भी कैसे करे ? पता नहीं, उसके भाग्य में कौन-सा दण्ड-विधान है ? इसके साथ ही, वह यह कहकर कि उसने बैल नहीं चुराया, पिताजी की क्रोधाग्नि को नहीं भड़का सकता। हालाँकि इस बात को बुआ, साधु फूफा वगैरह सभी जानते हैं कि उसने कोई बैल नहीं चुराया।

इसके बाद जिरह शुरू हुई। पिताजी की तरफ़ से नहीं, दीदी की ओर से। बाक़ी सारे लोग सुनते रहे। मँझले भैया की हथेली सुगबुगा रही थी। जब तक एकाध घूँसा न झाड़ा जाता, खुजलाहट कैसे जाती! हालाँकि बुजुर्गों के सामने उसे इतनी स्वाधीनता नहीं मिली थी। जवाब में उस बालक ने जो कुछ भी कहा, उसका सिर-पैर किसी की समझ में नहीं आया। 'वह क्यों इस तरह चला आया ?' इस सवाल के जवाब में वह बालक यही कहता रहा : बस, यूँ ही इच्छा

कहाँ पाऊँ उसे

हो गयी। क्यों हुई ? यह वह नहीं जानता।

माँ का धैर्य टूट चुका था अब तक। गाल पर कसकर एक तमाचा जड़ते हुए उसने कहा, "जानेगा कैसे ? तुझे तो भूत ने पकड़ रखा है। आज मैं तेरे सिर पर सवार भूत उतारकर ही दम लूँगी।" कहते हुए फिर एक चपत जड़ दी।

बुआजी ने माँ का हाथ पकड़ लिया। माँ फफक-फफककर रोती हुई बोली, "नहीं दीदी, आज चार दिन हो गये भूखे-प्यासे। गले से एक दाना भी नीचे नहीं उतरा। पलकें तक नहीं झपकीं।"

बुआ, माँ को दिलासा देती रही। नानी ने भी नाती की देह की धूल और कालिख को झाड़ते हुए दो-चार ठुनके जमा दिये। अपने पोपले मुँह के मसूड़े को चबाते हुए गालियाँ भी दीं: "शहरी बन्दर कहीं का!" और फिर लट्ठे की साड़ी का घूँघट सिर पर खींच लिया। उनका दामाद जो सामने बैठा था। उधर बाबा इन सारे हंगामे से अलग-थलग अपने कपड़े बदलने में व्यस्त थे। आश्चर्य भी हुआ! इधर बुआजी ने अपनी बेटी को आदेश दिया कि वह अपने मामा के लिए हुक़्क़ा भर लाये। इसके बाद एक झटके के साथ ही दीदी उसका हाथ खींच कर ले गयी। उद्देश्य तो था, उसे अच्छी तरह धो-पोंछकर नहाना, लेकिन आशय था, सिर के बाल पकड़कर कुछेक ठुनके लगाना। मझले भैया तो पहले से ही मुट्ठियाँ भींचे थे। पर उन्हें अवसर मिलते-मिलते शाम उतर आयी। झुण्ड बाँधकर जब वह खेलने को बाहर निकले तो बिना मोक्षप्रदाता घूँसे के उनका जी नहीं माना। पर माँ-बाप, नानी और भैया—बुआ के यहाँ पधारे थे और उन सबसे बुआ ने कहा था: "जो भी हो, मुन्ना यहाँ भागकर आया, इसीलिए सबसे थोड़ी मुलाक़ात तो हो पायी।" बस, यही ग़नीमत थी कि बैल-चोरी का अभियोग फिर नहीं लगाया गया।

गाजी की बातों में मैंने उसी बालक को देखा था, मैं जिसे कभी भूल न पाया, न छोड़ सका। किसी अबूझ—अनजाने की तलाश में, पता नहीं वह कहाँ-कहाँ भटक रहा है ? जो घर से भागकर खेलने निकल जाया करता था और खेलते-खेलते फिर कहीं खो जाता था। न जाने किसकी खोज में, किसके आकर्षण से ? गाजी की बात सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी आँखों से शरारत झलक रही थी। पाजी तो वह था ही! लेकिन क्या वह अन्तर्यामी भी था। क्या वह मेरे साथ-साथ पिछले जन्म से ही लगा हुआ है ? और यह अंगूर या अंगूरी, महतो की बीवी, उसकी बड़ी-बड़ी कजरायी आँखों में भी क्या उसे वही बालक दिखाई पड़ रहा है ? वह बालक, जिसकी आँखों में सबको तमाशा-सा दिखता है

लिए। उनकी आंखों में व्यग्र जिज्ञासा से अधिक शिकार पाने की भरपूर प्रसन्नता थी। उस लड़के को कुछ ऐसा ही लगा था, तभी तो वह दौड़ता हुआ बुआ की चारपाई के नीचे-अन्धकार में जा छिपा। लेकिन ठीक इसी समय मँझले भैया की तेज आवाज सुनायी पड़ी :

"वह रहा, चारपाई के अन्दर।"

अन्ततः बालक को चारपाई के नीचे से निकाला गया। उसकी देह पर धूल और कालिख पुत गयी थी। बाहर निकलते ही उसने देखा : बाबा, माँ, नानी, दीदी और मँझले भैया, सभी उसे घेरे खड़े हैं। उनके साथ, बुआ और उनके लड़के भी। इन्दर भी बाहरवाले चबूतरे के आस-पास खड़ा रहा होगा, क्योंकि उसे कमरे के भीतर आने की मनाही थी। बालक ने आँख उठाकर देखा तक नहीं। उसके दोनों गालों और पीठ में सनसनाहट जगी हुई थी। पता नहीं, कब वहाँ सजा बरस जाये।

लेकिन इसके बदले पिताजी की हुंकार सुन पड़ी—"देखो तो ज़रा इस बैल-चोर को!"

'बैल-चोर ?' उसने अचरज में भरी अपनी आँखें उठायीं। बुआजी के गम्भीर और उदास चेहरे पर भी हलकी-सी मुसकान दौड़ गयी। उसने अपने दाँतों से आँचल का छोर दबा लिया। उसके बच्चे भी हँस रहे थे। उसकी माँ के होठों पर भी हँसी थी और आंखों में आंसू। होठों को कसकर दबा रखा था। उधर मँझले भैया के डगलस फेयर बैंक्स-जैसे पागल और क्रोधी चेहरे पर आश्चर्य का भाव। वह पिताजी की ओर देख रहा था। उसके मन में भी यह जिज्ञासा थी कि पिताजी के 'बैल-चोर' कहने का आशय क्या था ? अपने इस छोटे भाई की तरह यह प्रश्न कि उसने बैल कब चुराया ? किसका बैल चुराया ? बैल चुराकर वह करेगा भी क्या ? एक दस साल का लड़का इसका प्रतिवाद भी कैसे करे ? पता नहीं, उसके भाग्य में कौन-सा दण्ड-विधान है ? इसके साथ ही, वह यह कहकर कि उसने बैल नहीं चुराया, पिताजी की क्रोधाग्नि को नहीं भड़का सकता। हालांकि इस बात को बुआ, साधु फूफा वग़ैरह सभी जानते हैं कि उसने कोई बैल नहीं चुराया।

इसके बाद जिरह शुरू हुई। पिताजी की तरफ़ से नहीं, दीदी की ओर से। बाक़ी सारे लोग सुनते रहे। मँझले भैया की हथेली सुगबुगा रही थी। जब तक एकाध घूँसा न झाड़ा जाता, खुजलाहट कैसे जाती! हालांकि बुजुर्गों के सामने उसे इतनी स्वाधीनता नहीं मिली थी। जवाब में उस बालक ने जो कुछ भी कहा, उसका सिर-पैर किसी की समझ में नहीं आया। 'वह क्यों इस तरह चला आया ?' इस सवाल के जवाब में यह बालक यही कहता रहा : बस, यूँ ही इच्छा

हो गयी। क्यों हुई ? यह वह नहीं जानता।

माँ का धैर्य टूट चुका था अब तक। गाल पर कसकर एक तमाचा जड़ते हुए उसने कहा, "जानेगा कैसे ? तुझे तो भूत ने पकड़ रखा है। आज मैं तेरे सिर पर सवार भूत उतारकर ही दम लूँगी।" कहते हुए फिर एक चपत जड़ दी।

बुआजी ने माँ का हाथ पकड़ लिया। माँ फफक-फफककर रोती हुई बोली, "नहीं दीदी, आज चार दिन हो गये भूखे-प्यासे। गले से एक दाना भी नीचे नही उतरा। पलकें तक नहीं झपकीं।"

बुआ, माँ को दिलासा देती रही। नानी ने भी नाती की देह की धूल और कालिख को झाड़ते हुए दो-चार ठुनके जमा दिये। अपने पोपले मुँह के मसूड़े को चबाते हुए गालियाँ भी दीं : "शहरी बन्दर कहीं का !" और फिर लट्ठे की साड़ी का घूँघट सिर पर खींच लिया। उनका दामाद जो सामने बैठा था। उधर बाबा इन सारे हंगामे से अलग-थलग अपने कपड़े बदलने में व्यस्त थे। आश्चर्य भी हुआ ! इधर बुआजी ने अपनी बेटी को आदेश दिया कि वह अपने मामा के लिए हुक्का भर लाये। इसके बाद एक झटके के साथ ही दीदी उसका हाथ खींच कर ले गयी। उद्देश्य तो था, उसे अच्छी तरह धो-पोंछकर नहाना, लेकिन आशय था, सिर के बाल पकड़कर कुछेक ठुनके लगाना। मझले भैया तो पहले से ही मुट्ठियाँ भीचे थे। पर उन्हें अवसर मिलते-मिलते शाम उतर आयी। झुण्ड बाँधकर जब वह खेलने को बाहर निकले तो बिना मोक्षप्रदाता घूँसे के उनका जी नहीं माना। पर माँ-बाप, नानी और भैया—बुआ के यहाँ पधारे थे और उन सबसे बुआ ने कहा था : "जो भी हो, मुन्ना यहाँ भागकर आया, इसीलिए सबसे थोड़ी मुलाकात तो हो पायी।" बस, यही ग़नीमत थी कि बैल-चोरी का अभियोग फिर नहीं लगाया गया।

गाज़ी की बातों में मैंने उसी बालक को देखा था, मैं जिसे कभी भूल न पाया, न छोड़ सका। किसी अबूझ—अनजाने की तलाश में, पता नहीं वह कहाँ-कहाँ भटक रहा है ? जो घर से भागकर खेलने निकल जाया करता था और खेलते-खेलते फिर कही खो जाता था। न जाने किसकी खोज में, किसके आकर्षण से ? गाज़ी की बात सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी आँखों से शरारत झलक रही थी। पाजी तो वह था ही ! लेकिन क्या वह अन्तर्यामी भी था। क्या वह मेरे साथ-साथ पिछले जन्म से ही लगा हुआ है ? और यह अंगूर या अंगूरी, महतो की बीवी, उसकी बड़ी-बड़ी कजरायी आँखों में भी क्या उसे वही बालक दिखाई पड़ रहा है ? वह बालक, जिसकी आँखों में सबको तमाशा-सा दिखता है

और सभी चकित हो जाते हैं। भला ऐसा क्यों है? वह कौन है जिसने मुझे यह रहस्यपूर्ण काजल पहना दिया है कि जो कुछ भी देखता हूँ, वह विचित्र और असाधारण-सा दीखने लगता है?

"गाजी, तुम्हारे बाबू को कोई घर-गिरस्ती है या नहीं!" इसके साथ ही हँसी की झंकार। मुड़कर देखा तो अंगूरी का चेहरा दीखा।

धान का खेत पार कर हम सब पक्की सड़क पर आ गये थे। मेरी एक ओर अंगूरी थी तो दूसरी तरफ़ गाजी। महतो सबसे आगे झोला झुलाये चला जा रहा था। पश्चिमी छोर पर नैजाट का लाल आसमान धीरे-धीरे साँवला पड़ता जा रहा था। पंछियों का कलरव थम गया था। अंगूरी की बात से मेरी सुधि लौटी।

गाजी ने कहा, "बाबू की गिरस्ती तो बसी-बसायी है, चाची! यह तो घर के ही आदमी हैं।"

अंगूरी की बातचीत गाजी के साथ हो रही थी, लेकिन उसकी नजर मेरी ओर थी। उसने गरदन मोड़कर कहा, "वह तो ठीक है, पर आदमी एकदम कच्चे हैं। इनका घर-संसार कैसा?"

"अब कहने से क्या होगा चाची! जिनका घर-संसार होता है, वह कच्चे-पक्के नहीं होते।"

"सो तो मैं समझ गयी कि वह कच्चे-पक्के नहीं होते। फिर तुम्हारे बाबू क्यों हैं?" उसने पूछा।

"दो! अब जवाब दो। कच्चे क्यों हैं? इसका जवाब दिये बिना खैर नहीं।" महतो ने भी अपनी गरदन नचायी।

गाजी हँस पड़ा और उसके साथ मैं भी। मियाँ के मज़ाक पर अंगूरी ने भी अपनी जीभ निकालकर मुँह चिढ़ा दिया, "एह हे—हे! तुम्हें तो कुछ कहे बिना चैन नहीं। तुम चुप भी तो रहा करो!"

महतो ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। सामने की ओर चलता हुआ बोला, "अरे मैंने तो तुम्हारी तरफ से ही कहा था। आखिर सवाल का जवाब तो चाहिए? कोई ऐसी-वैसी बात तो नहीं कि आयी और गयी।"

"ऐसी हो या वैसी। तुमको बीच में टपकने को किसने कहा?" अंगूरी काफ़ी चौकस दिखी।

महतो जैसा था, वैसा ही बना रहा। उसने पीछे मुड़कर देखा नहीं। गरदन के पास मांस की जमी हुई तह से पीठ और गरदन प्रायः एक हो गयी थी। जैसे कोई रीछ चला जा रहा हो। उसका स्वर सुन पड़ा, "ऐसा तो मैंने कुछ नहीं कहा। वैसे इस बात को सुनकर कौन चुप रहेगा भला? इसीलिए कहा था।

अच्छा, अब मैं चुप हो गया।"

मैं सोच रहा था, अंगूरी कहीं उसे फिर झिड़क न दे। महतो की बात में किसी मज़ाक़ का कोई संकेत तो था ही। अंगूरी ने पहले पति की ओर और फिर गाजो की ओर देखकर यह बताना चाहा: तुम्हारे महतो चाचा बड़े पाजी हैं। मैं इन्हें अच्छी तरह जानती हूँ।

"तुम खुद बाबू से क्यों नहीं पूछती कि उन्होंने घर-संसार बसाया है या नहीं?" गाजो ने सलाह दी।

किसका घर? और कौन-सा संसार? मैं समझ न पाया कि अंगूरी क्या सोच रही थी और क्या कहना चाह रही थी? वह तो सिर्फ़ हँसती और होंठों तले दाँतों को दबाये चली जा रही थी। अचानक मैंने सुना: "अरे ओ बाबू! बताते क्यों नहीं?"

अबकी बार एकदम सीधा सामना था। हँसते हुए मैंने कहा, "क्या बताऊँ? किसका घर, कौन-सा संसार?"

अंगूरी को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह विस्मित हो रही थी शायद! अविश्वास-भरी आँखों से वह हेरती रही। फिर पान रंगे होंठों को गोल बनाकर उसने गाजो से कहा, "सुना तुमने? तुम्हारे बाबू घर-संसार की बातें भी नहीं समझते!"

गाजो के होंठों पर खेलनेवाली मुसकराहट उसके एक गाल से दूसरे गाल तक फैल गयी। लाल-लाल दाँत निकालते हुए वह बोला, "आप समझे नहीं बाबू! चाची पूछ रही है कि जब हमारे बाबू इतने कच्चे हैं तो फिर दीवाने की तरह क्यों भटक रहे हैं?"

"तुमने मुझे दीवाना बनकर कहाँ भटकते देखा? मैं तो घूमने निकला हूँ।" मैंने उत्तर दिया।

गाजो ने तुरत ही कहा, "अब देखकर क्या कहा जाये! कहीं भाव देखकर बातें होती हैं और कहीं सुनकर ही उड़ायी जाती हैं।"

"लेकिन इन्हें देखकर तो बैरागी बिन्दास ही कहा जा सकता है।" अंगूरी ने छूटते ही कहा।

गाजो ने इस बात के साथ अपनी टिप्पणी जोड़ दी, "आँखों में और चेहरे पर तो यह उस तरह का कोई भाव ही नहीं आने देते।"

"हाँ, जैसे कहीं कोई ठिकाना ही नहीं! कहाँ ठाँव है, यह भी नहीं जानते! ऐसा क्यों है भला?"

मैंने कभी भी इस बारे में नहीं सोचा। इस तरह की छानबीन हो सकती थी यह भी पता न था। कोई एक अज्ञात-सा आकर्षण था कि चला जा रहा था।

इस यात्रा का चाहे जो भी उद्देश्य रहा हो, मुझे इसकी कोई खबर न थी। बस, इतना अवश्य जानता कि मैं कोई दीवाना नहीं। इस संसार में मुझे भी अनाज का छिलका उतारकर ही दाना हासिल होता है। मैं अपना पता-ठिकाना गँवाकर कोई ठाँव-ठौर खोजनेवाला आदमी नहीं। क़दम-क़दम पर मुझे भी अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता करनी पड़ती है। मेरे मन से असुरक्षा की भावना एक पल के लिए नहीं गयी। इस संसार के ही तमाम लोगों में से मैं हूँ और उन सबके साथ ही मेरे पाँव पड़ते हैं। मैं कोई बिन्दास-वैरागी नहीं। बस, वही एक अनजानी और अबूझ-सी चाह है, जिसे मैं नहीं जानता। मेरे पास ऐसी कोई भाषा नहीं, जिससे मैं उसकी व्याख्या कर सकूँ। इसलिए मैं यह समझ न पाया कि इनकी बातों का क्या जवाब दूँ?"

अंगूरी अब भी जारी थी, "लोग कहते हैं—जानना भी मन ही मन होता है। वैसे तुम्हें देखकर तो लगता है, तुम्हारी दोनों आँखें ठीक-ठाक हैं। भले ही तुम्हारे मन का कोई अता-पता नहीं। क्यों, घर-गिरस्ती बसाने की कोई इच्छा नहीं?" पूछते हुए अंगूरी ने अपनी भौंहें नचायीं। मैंने देखा, कुल मिलाकर अंगूरी की देह किसी अपरूप नृत्य की लय पर थिरक रही थी। मैं कुछ स्पष्ट करूँ इससे पहले ही महतो की आवाज आयी, "हाँ, जवाब तो देना ही पड़ेगा, एकदम!" महतो के काँधे से झूल रहा झोला भी हिलने लगा। उसकी हँसी में वह भी शामिल हो गया हो जैसे। उसकी बातें सुनकर मुझे भी हँसी पचाना कठिन हो गया था। गाजी भी अपने को रोक न पाया। हँसते-हँसते बोला, "चाचा भी खूब रोब जमाते हैं।"

"ओ हो! तो सभी मिलकर मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हो!" अंगूरी तुनक गयी।

इस बार महतो सामने आया। अपनी हँसी को दबाकर बोला, "क्यों, मैंने क्या ग़लत कहा? अरे महाशय जवाब दीजिए न!"

"फिर तुम टपक पड़े जी?" अंगूरी ने उसे तुरत झिड़क दिया।

महतो भी जल्दी से सिर घुमाकर यह कहते हुए आगे बढ़ गया: "अच्छा, ठीक है! अब मैं कुछ नहीं कहूँगा।"

मुझे पता न था कि महतो के भीतर एक शरारती रसिया भी कुण्डली मारे बैठा हुआ है। मैंने सोचा था, सन्तान की आशा में जो आदमी दस मील पैदल चल सकता है, वह रास्ते की थकान से बुझा हुआ और अपनी मानसिकता से आहत है। उसका अन्दर भी रस की धार में तैर रहा है, यह मैं सोच भी नहीं पाया था। इधर अंगूरी के सामने मुक्त कण्ठ से हँस भी नहीं सकता था, अतः अन्दर-ही-अन्दर इतरा उठा। गाजी की भी यही हालत थी। हँसी रोकने के

लिए उसने अपनी दाढ़ी को एक बार झटक दिया और पुकार उठा, "जय मुरशेद !"

अंगूरी को जैसे क्रोध आ गया, "क्या मैं अपनी आँखों से नहीं देख रही ?" और फिर मेरी तरफ़ देखते ही उसके होठों के दोनों छोर पर मुसकान खिल गयी। अब उसमें कोई छल, क्रोध या जहर नहीं था, मैं इतना ही जान पाया। साथ ही, उसके सवाल का जवाब देना भी उचित जान पड़ा। मैंने कहा, "वह सब तो कोई बड़ी बात नहीं, मेरे पास बाक़ी सब कुछ है।"

"मैं यह सब मान नहीं सकती ! सब झूठी बातें हैं।" अंगूरी ने तुरत जवाब दिया।

"क्यों ?" मैंने विस्मय-भरे स्वर में पूछा।

"यह सारा कुछ रहने पर कोई ऐसा दीख पड़ता है भला, जिसकी कोई राह हो न मंज़िल ? न घर और न ही अपने लोगों का अता-पता ?"

मैं इसे मानने को तैयार नहीं। अंगूरी और उसकी अन्तर्दृष्टि—मेरी नहीं। मैं उसकी समझ को अचानक बदल भी नहीं सकता। किसी युक्ति से यह सम्भव भी नहीं। मैंने हँसकर कहा, "अरे यह सब मेरे भाग्य का दोष है !"

गाज़ी ने छूटते ही कहा, "लो अब सुनो ! इसको कहते हैं सौ बात की एक बात।"

अंगूरी ने दृष्टि मोड़ ली। वह अचानक कुछ बोल न पायी। उसकी स्थिर बड़ी-बड़ी काली आँखों में जैसे तीलियाँ सुलग उठीं।

उधर महतो आगे बढ़ने से कुछ रुक-सा गया। दूरी कम करता हुआ हमारे पास आया और मुझसे बोला, "नहीं जनाब ! यह कोई ठीक जवाब नहीं। मेरा दिल भी उस समय से कह रहा है कि महोदय का कोई ठौर-ठौर नहीं।"

मैंने सोचा था कि मैं एक बार फिर ठहाका लगाऊँगा। लेकिन महतो की बातचीत और तेवर से इसमें कोई गुंजाइश नहीं रही। शायद मुझसे अधिक अंगूरी ही समझती थी। उसने भी अपने पति की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहा, "मैंने भी तो यही कहा था जी। चाहे जितनी भी उमर हुई हो, उससे क्या पता नहीं चलता ? और इस अवस्था में कोई अपना ठौर-ठिकाना छोड़कर घूमता-फिरता है ?" कहकर वह हँस पड़ी। वह कोरी हँसी ही नहीं थी, उसमें कई गहरे सवालों की भी झलक थी। अब क्या कहा जाये ? कहने को कुछ था भी नहीं ! हर एक की अपनी एक समझ होती है, अपना स्वभाव होता है।

महतो ने जैसे निपटाना चाहा, "अरे तूने सुना नहीं ? यह सब उनके भाग्य का ही फेर है।"

"तो फिर हम इस भाग्य-दोष को मिटा दें—" अंगूरी तैयार थी।

अरे, इसकी दवा जानती हूँ क्या यह अंगूरलता ? मैंने आश्चर्य से उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखों में निहारा। सचमुच ही उन पुतलियों में कोई रहस्य झिलमिला रहा था।

"सो कैसे ?" महतो ने जानना चाहा।

"क्यों, अपने घर ले जाकर रखूंगी !"

सत्यानाश ! इस मेड़ी बाँध और खारे कछार पर मेरे लिए क्या इतना कुछ ही था ? महतो की लाल आँखें और भी चौड़ी फैल गयीं। बोला, "अरे बाबा, तू घर ले जाकर इस छोरे को आँचल से बाँधे रखना चाहती है ?"

सुनकर अंगूरी एकबारगी शरमा गयी। उसके चेहरे पर मुसकराहट छा गयी। फिर अपनी गरदन लचकाकर घूँघट खींचा और डपटकर बोली, "छी-छी, क्या अनाप-शनाप उगल रहे हो ! मैंने ऐसा थोड़े ही कहा।"

महतो जैसे एकदम बुझ-सा गया। फिर गाजी की तरफ़ देखकर बोला, "तो !"

"क्यों, मेरी बेटी नहीं है ? चम्पा नहीं है घर में ?"

इतना सुनना था कि महतो और गाजी के ठहाके से सारा प्रान्तर गूँज उठा। मैंने सोचा, किसी छोकरे को फँसाने के लिए कोई लड़की तो चाहिए। और इस बारे में अंगूरी की समझ एकदम ठीक है। लेकिन जो राढ़ के तारकेश्वर से सन्तान के लिए मनौती माँगकर लौट रही है, उसे चम्पा नाम की लड़की कहाँ से मिल गयी ?

अट्टहास सुनकर अंगूरी ने पूछा, "इसमें हँसने की ऐसी कौन-सी बात है ? मैं अपनी बेटी को क्या यूँ ही कहीं फेंक दूँगी ? क्या, ऐसा एक लड़का नहीं मिल सकेगा ?"

अब वह लड़की—चाहे जो भी हो। इतना तो पता चला कि अंगूरी मेरी सास बनकर मुझे बाँधे रखना चाहती है। मैं यह सोच भी नहीं पा रहा था कि इस प्रकार के बेतुके मजाक़ से अपने को अलग कैसे रखूं ? महतो ने भी कुछ ऐसा ही कहा, "हाँ तो यह कहो न कि चम्पावती को धकेलकर ऐसा लड़का चाहिए। फिर तो ऐसी लड़की को हम लोग कभी भी सरदर्द नहीं कह सकते।"

"और फिर आजकल जात-पात की बात भी कौन सोचता है ?" अंगूरी आगे बढ़ती गयी।

अच्छा तो अंगूरी को इन सारी बातों का भी पता है ! वह कहती चली जा रही थी : "घर दूँगी, ज़मीन दूँगी, लड़की दूँगी। किसी भी बात के लिए कुछ उठा न रखूँगी। ज़रा पूछकर देखो तो सही, राज़ी है ?"

यह उसने मुझसे ही पूछा। ऐसे बुरे दिनों में इस तरह बैठे-बिठाये घर-

जमाई का पद पा लेना कुछ बुरा नहीं। मैंने हँसते-हँसते कहा, "क्या इस बात की कोई चिन्ता नहीं कि मैं चोर हूँ कि डाकू ?"

"वह हम देख लेंगे," अंगूरी ने आश्वस्त किया।

हाँ, यह भी सच है ! इन बातों से अंगूरी भला क्या डरेगी ? उसके हाथ डाकुओं के खून सने हैं। थोड़ी-सी भी वाक-शॉक की नहीं कि वह सारा इन्तजाम कर देगी। मैंने पूछा, "लेकिन यह लड़की आयी कहाँ से ?"

"जहाँ से आनी चाहिए। किसी माँ-बाप की ही बेटी है। बेचारी जब दो साल की ही रही होगी, उसके माँ-बाप गुजर गये। तब से मेरे पास है। अब तेरह-एक साल की है।"

यह उम्र भी कम नहीं। बल्कि एकदम ठीक है। आज ही सुबह-सुबह उसका नमूना देख चुका था। लाउंज पर चढ़ती हुई वह घूँघट में बन्द बहू, जो तख्ते से जाती हुई कीचड़ में धँस गयी थी।

उधर शाम की काली छाया अब अँधेरे में कहीं खो चुकी थी। कब तक चलता रहा था, इसका कोई हिसाब न था। इसका खयाल तो तब आया जब मैंने धरती पर पड़ी छाया को हिलते-डुलते देखा। सिर के ऊपर आधा चाँद अन्धकार से लड़ रहा था। कहीं थोड़ी रोशनी थी तो कहीं थोड़ा झुटपुटा। दूर खड़े पेड़ों के अस्पष्ट ढाँचे दीख रहे थे। नारियल और सुपारी के पेड़ों के काले आकार दूर से ही पहचाने जा रहे थे। अचानक झींगुरों का शोर सुन पड़ा।

"हमारी लड़की देखने में भी सुन्दर है। क्यों, है न जी ?" अंगूरी बोल उठी।

मैं इस आशा में था कि महतो ठहाके लगाता हुआ अंगूरी की बातों का कोई उत्तर देगा। लेकिन मेरे आश्चर्य का तब ठिकाना न रहा जब महतो की तरफ़ से सुनाई पड़ा 'हुम्'। बस।

इतनी देर के बाद, मैं सचमुच हैरत में पड़े बिना नहीं रह सका कि अंगूरी ने कोई मजाक नहीं किया था। मैं नहीं जानता, इसे उसकी सरलता कहूँ या उसकी बेवकूफी। अपने भाग्य पर भी मन-ही-मन इतरा रहा था। मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि मैं किसी महतो की बीवी की कल्पना को इस प्रकार उत्तेजित कर दूँगा। अंगूरी कोई बात नहीं कर रही, प्रस्ताव रख रही थी। वह कहती चली जा रही थी : "उसका रंग गोरा है, लम्बे घने बाल, बड़ी-बड़ी आँखें।"

लेकिन अंगूरी अपनी बात खत्म नहीं कर पायी, महतो ने उसे रोक दिया : "अच्छा अंगूरी, अब चुप भी हो जा। पागल हो गयी है क्या ?"

उस झुटपुटे अँधेरे में भी मैंने पाया कि अंगूरी ने पहले मुझे और फिर महतो को देखा। महतो उसके पास ही खड़ा कह रहा था, "भगवान् ने यह संसार

कोई तुझसे पूछकर नहीं बनाया कि तुझे जो भा जाये, उसे तू पकड़कर रख लेगी। ऐसा भी कहीं हुआ है पगली? यह कहाँ से आ रहे हैं, कहाँ जायेंगे। और तू उसके मत्थे चम्पा को मढ़कर बाँधे रखना चाहती है?"

क्षण-भर विराम देकर वह फिर बोला, "बहुत दूर आ गये। अब और नहीं! अब ये लौट जायें तो अच्छा! इन्हें वापस भी तो जाना है।"

हम सब रुक गये थे। पास ही एक अनजाना और बौना-सा पेड़ खड़ा था। एकदम घना और ठोस। उस पर जुगनू चमक रहे थे। आकाश में भी तारे टिमटिमा रहे थे। मैंने अंगूरी की ओर और उसने मेरी ओर देखा। मुझे लगा, उसकी आँखों में अब भी जिज्ञासा थी। मैंने कहा, "अच्छा, अब हम वापस चलें।"

मेरे मन में यह इच्छा जगी थी कि मैं उसे बता दूँ कि उसकी गोरे रंग, लम्बे घने काले बाल और बड़ी-बड़ी आँखोंवाली बेटी चम्पावती को अपना न सकने के लिए सचमुच बहुत दुःखी हूँ। अगर यह सब कुछ बताता तो शायद यह निरर्थक प्रसंग और भी लम्बा खिंच जाता। लेकिन अंगूरी ने ऐसा कुछ भी नहीं कहा। दरअसल घर और गृहस्थी का सुख तो अंगूरी के लिए था। मेरे लिए कहाँ? इसमें होने या न होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। वह अपने पति की बात पर मुड़ चली। केवल इतना ही कहा, "जो भी हो बाबू! इस उमर में इस तरह बिना किसी ठौर-ठिकाने के निकल पड़ना अच्छी बात नहीं। बस इतना ही पूछना था कि हमारे मोलाखालि की तरफ़ कब आओगे?"

"अब एकदम कोई निश्चित समय तो नहीं बता सकता। वैसे कभी-न-कभी आ धमकूँगा, यह तय है।" मैंने उत्तर दिया।

"जिसका अपना ही कोई ठिकाना नहीं, वह एकदम ठीक-ठीक बता भी कैसे सकेगा?" अंगूरी की इस बात का मैं क्या जवाब देता? कुछ भी बताना बेकार ही होता। बस मन-ही-मन कह रहा था, "मैं एक दिन मोलाखालि जाऊँगा ज़रूर—याने आ सकता हूँ।"

ठीक इसी समय महतो ने फस्स से बीड़ी सुलगायी। अंगूरी ने उधर ताकते हुए कहा, "यह क्या, बस एक ही बीड़ी सुलगायी? मुझे नहीं दोगे?"

महतो ने उसे डाँटा, "नहीं। तुझे बीड़ी पीने की मनाही है। डॉक्टर ने इतना समझाया, तो भी तू यह लत नहीं छोड़ती।" इसके बाद मेरी तरफ़ देखकर बोला, "अरे महाशय, हम तो आपको दामाद बनाना चाह रहे थे। आप ज़रा मना करके देखिए न!"

अंगूरी ने महतो को उसी समय झिड़क दिया, "देखो, झूठ मत बोलो। अब तो मैं दो या तीन से ज्यादा पीती भी नहीं। पीती हूँ क्या? और यह भी

तो बता दो कि इस नदी की आदत लगायी किसने ? रोज थोड़ा-थोड़ा फुंकवाकर तुमने ही तो यह आग लगायी !"

हमारी दाहिनी ओर नदी बहती चली जा रही थी। आगे थोड़ी-सी मुड़ती हुई बायीं तरफ़ निकल गयी थी। बात कहाँ से शुरू हुई थी और अब तक कहाँ आ पहुँची थी ! सोचा कि बीड़ी से ही बात फिर आगे न बढ़ जाये। पर महतो की आवाज एकदम नरम पड़ गयी, "अच्छा तो पकड़ यह आखिरी बीड़ी। अब चल। देर मत कर।"

"देखते-सुनते नहीं। बस कहीं भी बुरा-भला कहना शुरू कर देते हो"— अंगूरी का गुस्सा अब तक ठण्डा नहीं हुआ था।

महतो ने हम लोगों को विदा करते हुए अपना हाथ उठाकर कहा, "अच्छा, चलता हूँ। जब भी समय मिले भोलाखालि आइएगा जरूर।"

यह एकदम खुले मन का आमन्त्रण था। किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह आगे की ओर बढ़ने लगा। अंगूरी ने एक बार मुड़कर देख लिया। बोली, "ओ गाजी के बाबू ! इस बात को भूल मत जाना। एक बार आना जरूर।" फिर गाजी की तरफ़ मुड़ी : "तुम तो जितनी जल्दी हो, एक दिन आओ।" कहकर वह चली गयी।

"आऊँगा चाची !" गाजी ने उत्तर दिया।

मैं गाजी के साथ लौटने लगा। कुछेक क़दम चलकर हम दोनों ने पीछे मुड़कर देखा। उस झुटपुटी चाँदनी में ऐसा लगा कि अंगूरी भी पीछे मुड़कर खड़ी है। मैं यह समझ न पाया कि उसका हाथ उठा हुआ है या कोई आँचल लहरा रहा है। धीमी-सी आवाज भी सुनाई पड़ी : "जल्दी चल बहू ! अब देर मत कर।" इसके बाद दोनों परछाइयाँ धीरे-धीरे एक हो गयीं। हमने भी कई बार मुड़-मुड़कर देख लिया। गाजी ने इतना ही कहा, "चाची सचमुच बहुत अच्छी है।"

मैंने उसकी बात का कोई जवाब नहीं दिया। मैं चुप रहना चाहता था। आँखों के आगे अंगूरी का सलोना चेहरा तिरता रहा। वह अच्छी है या बुरी— ऐसी कोई भावना मन में नहीं उठी। मैंने सोचा : जीवन, साहित्य से कितना बड़ा है ! तुम जब क़लम उठाकर सोचते हो, क़लम लेकर कुछ रचते हो, उस समय तुम्हारे भाव-संसार, रचना-विधान, तालमेल, शिल्प या संरचना के अनुसार ही लेखनी ढलती है। लेकिन जीवन इससे कहीं अधिक विचित्र है। अप्रत्याशित, अप्रतिम और अपनी शिल्प-संरचना में अथाह। वह किसी भी नियम के अधीन नहीं। लेखनी की टेढ़ी-सीधी या उलटी चाल में इस अ-घर या अथाह की साधना चलती है। इस टेढ़ी-सीधी चाल की भी गोटियाँ होती हैं, पासे

होते हैं और कई तरह के दृढ़ बन्धन भी। लेकिन इनमें अंगूरी नहीं है। वह ऐसी नहीं कि तुम्हारे मन को लुभानेवाले क़िस्से-कहानियों में ढल जाये। वह किसी भी रूपाकार में नहीं। न किसी में उसका आशय। इसके उस चेहरे के साथ सिर्फ़ महतो की बात कानों में गूँज रही थी, 'भगवान् ने तुझसे पूछकर इस संसार को नहीं बनाया कि तू जिसे चाहे, उसे अपने पास सहेजकर रख ले!' यह कौन-सा तर्क था! कौन ढूँढ़े इसका निदान!

निदान केवल वहीं था, जहाँ अंगूरी अब भी एक अल्हड़ किशोरी प्रतीत होती थी। अपने रक्त से आज तक उसमें फल नहीं फला। फिर भी, न जाने कितने ही फूल उसको घेरकर खिले हुए हैं। मुझ तक उनकी खुशबू आ रही है। और वह कितने ही फलों से लद गयी है। और उससे सारी भूख और पिपासा मिटी जाती है। इसलिए, अरे ओ मन, तू देख और समझ! यह संसार जिसके अनुसार नहीं रचा गया, वह भी हाथ फैलाये घूम रहा है। और उसे कितना आघात सहना पड़ता है। इसीलिए वह मनुष्य को देखकर पहचान पाता है।

मैंने एक बार फिर मुड़कर देखा। कुछ भी नहीं दीख रहा वहाँ। मेरे साथ नदी का किनारा, हलकी और मुलायम-सी चाँदनी और एकदम शान्त और एकान्त प्रकृति है। मैंने मन-ही-मन कहा: मैं जिसे खोजने के लिए निरुद्देश्य भटकता रहा हूँ, इसी क्रम में एक बार वहाँ भी जाऊँगा। ऐसा 'निमन्त्रण' भी कहीं भूल सकता हूँ भला?

गाजी इस बीच क्या सोचता रहा, किसे पता? मैंने सुना, वह धीरे-धीरे गुनगुना रहा था। मैं जिस तरह सुनना चाह रहा था उस तरह वह नहीं गा रहा। हालाँकि उसका स्वर बहुत ऊँचा नहीं, फिर भी एक-एक शब्द साफ़ सुना जा सकता था। वह मुझसे दो-चार हाथ आगे चल रहा था और गा रहा था।

"मैं तुझे भले ही भूल जाऊँ, पर भूलूँ न तेरा प्यार।
तू मुझे भूल जाये तो मेरा सब कुछ बेकार।"

क्यों? गाजी इस समय ऐसा क्यों गा रहा है? वह किसके अन्तस् की बात सुना रहा है? वह किसको भूल गया? भूल जाने पर भी जिसका प्रेम तनिक भी कम नहीं हुआ? अगर वह भूल जाये तो इसका सारा कुछ थोथा हो जाये!

मैं तो अब भी उसी अंगूरलता का चेहरा देख रहा था, बड़ी-बड़ी कजरायी आँखें, पान से लाल होंठ और बीड़ी का वह कश !

जब गाजी का गान-स्वर बन्द हुआ तो मैंने उससे पूछा, "यह पद किसका है ?"

गाजी ने मुड़कर देखा और मेरे पास आकर बोला, "यह तो मैं नहीं जानता बाबू ! बस याद आ गया, इसलिए...!" यह मैं नहीं पूछ पाया कि क्यों याद आ गया ?

मैं अचानक ही अन्वेषक हो उठा, "यह तो बताओ कि महतो तुम्हारे बारे में बहुत सारी बातें बता रहा था। वह तो तुम्हारे इलाक़े का रहनेवाला नहीं ?"

गाजी बोला, "हाँ बाबू। आपने ठीक ही कहा कि महतो यहाँ का रहनेवाला नहीं। सुना है, उसके पुरखे तीन-चार पुश्त पहले यहाँ आये थे। इस इलाक़े के खेत-मजदूर होकर। और अब देखिए, कितनी बड़ी जायदाद खड़ी है ! नाम भी हो गया है। घर जाकर देखेंगे तो सब कुछ इस इलाक़े की तरह हो, पूजा-पाठ हो या घर-गिरस्ती।

यह ठीक है कि जिनके पुरखों की धार पीढ़ियाँ इस सारे कछार को मीठा बनाने में लगी हैं, वे सब इसी माटी के पुतले हैं। महतो, कुरमी, ओरांव, मुण्डा, सन्थाल आदि कहने पर भारतवर्ष के दूसरे सीमान्त आँखों के सामने आ जाते हैं। जहाँ की माटी का रंग दूसरा है और जंगल भी कुछ दूसरी तरह के हैं। जहाँ की प्रकृति ऊँची-नीची धरती और पथरीली पहाड़ियों के साथ सजी है।

"तुम्हारी चाची की तो बात ही कुछ निराली है। कहाँ की रहनेवाली है वह ?"—बिना पूछे न रहा गया मुझसे।

उस झुटपुटे अँधेरे में भी गाजी के चेहरे पर हँसी खिल गयी। बोला, "अरे वाह बाबू, वाह ! अरे आपके कान तो बहुत ही पतले हैं। कोई भी बात बिना पड़े नहीं रहती !"

"नहीं, मैंने पाया कि उसकी बातचीत तुम्हारे बोलने के ढंग से मिलती नहीं—इसीलिए।"

"कैसे मिलेगी बाबू ? वह इधर की रहनेवाली नहीं !"

फिर कहाँ की है ? यह तय है कि वह 'ऊँचा-ऊँचा पावत' अंचल की 'शबरी बाला' नहीं। क्योंकि उसकी बातों का लहजा उतना साफ़ न था।

गाजी ने इसका जवाब दिया, "यह भी एक क़िस्सा है, बाबू। यह जो महतो है न, इसने तीन शादियाँ की हैं।"

"तीन शादियाँ ? याने तीन बीवियाँ ?"

"हाँ, पर अब वे तीन बीवियाँ रहीं कहाँ ? पहली बीवी बीमारी से मरी

कहाँ पाऊँ उसे

और दूसरी कहीं खो गयी।"

"खो गयी ? यह कैसे ?"

"यह तो ऐसा रहस्य है बाबू कि कोई नहीं बता सकता। लेकिन...."

गाजी ने यह क़िस्सा शुरू किया और बीच में ही ढीला पड़ गया। उसका सिर झुक गया था—धरती पर पड़ती अपनी छाया की तरफ़। थोड़ी देर चुप रहकर उसने कहा, "मैंने सुना था कि हमारी वह चाची स्वभाव से बड़ी चंचल थी। उसके पाँव कहीं ठहरते ही न थे। लोक-लाज का भी डर न था।"

मैं ठीक-ठीक समझ न पाया।

गाजी ने बात को साफ़ करते हुए कहा, "आप समझ तो गये बाबू ? अब लोक-लाज की अपनी मरजाद होती है। चाहे औरत हो या मर्द, किसी-न-किसी दिन तो ठोकरें खानी ही पड़ती हैं। पता नहीं, वह चाची ठोकर खाकर कहाँ जा गिरी ? कोई नहीं जानता कि वह अपने आप कहाँ जाकर खो गयी।"

"महतो ने कुछ किया नहीं ? बीवी की छान-बीन नहीं की ?"

महतो की इस खानदानी बदनामी से गाजी बहुत ही लज्जित और दुखी लगा। यह गाजी का स्वभाव था या उसकी शालीनता, मैं जान नहीं सका। उसने बिना सिर उठाये कहा, "क्या खोज-खबर लेता बाबू ? इन सब बातों से वह अनजान तो था नहीं ! उसकी देह में भी आखिर महतो-खानदान का खून था। उसे पता चला कि उसकी बीवी नसरत के साथ मोल्लाखालि की तरफ़ भागी है। वह दौड़ा उस तरफ़। बीवी को वापस लौटाने के लिए नहीं; दोनों की गरदन उतारने के लिए। वहाँ जाकर ज्ञात हुआ, नसरत तो उसे लेकर जंगल की ओर भाग गया। महतो चाचा भी जंगल की तरफ़ दौड़ा और पूरे एक महीने तक घर नहीं लौटा। अब मैंने अपनी आँखों से तो नहीं देखा। लेकिन सुना है कि चाचा हाथ में एक गँड़ासा लिये पाखिराला से राईमंगल तक घूमता रहा।"

मेरी आँखों के सामने फिर महतो का चेहरा तैरने लगा। ज्यादा नहीं, कोई बारह साल पहले का महतो, जो अपने हाथ में गँड़ासा लिये सुन्दर बन के जंगलों में भटक रहा है, अपनी बीवी और उसके यार की तलाश में। मैं उसकी उस मूर्ति की कल्पना में डूबा हुआ था जैसे। काली-कलूटी भयावह मूर्ति, जिसकी भूख-प्यास और नींद गायब है। आँखों में बदले की आग सुलगी हुई। हाथ में गँड़ासा और कपड़े के नाम पर एक लँगोटी—बस।

"इसके बाद ?"

"अब इसके बाद क्या बाबू ? चाचा घर लौट आया। वे मिले नहीं। मजे की बात तो यह हुई बाबू कि साल बीतते-न-बीतते वह बन्दर नसरत वापस

लौट आया। लड़ाई का ज़माना था वह। फिर पड़ा अकाल। नसरत के पास जो थोड़ी-सी ज़मीन थी, वह भोलाखालि में ही तो थी। आते ही वह महतो चाचा के पैरों में जा गिरा।

"और वह बहू ?" मैंने पूछा।

"वह नही लौटो। चाचा ने भी उससे पूछा था, 'वह कहाँ गयी ?' नसरत ने बताया था कि बहू तो उसे भी छोड़कर भाग गयी।"

"उसे भी छोड़ गयी !"

"हाँ बाबू, बात सही है। नसरत ही तो उसके लिए सब कुछ नहीं था। ऐसे 'नसरतों' को लपकना ही उसका स्वभाव था। फिर किसी दूसरे नसरत का शिकार कर वह कहीं चली गयी। और इस बन्दर को खाली हाथ वापस लौटना पड़ा था। जाता भी कहाँ ? अपनी खेती-बारी, बीवी-बच्चे वगैरह सब कुछ यहीं छोड़कर तो भागा था। और जब भोलाखालि में रहना था तो बिना महतो चाचा का पाँव पकड़े, कोई चारा था भी नही।"

"महतो ने क्या किया ?"

इस बार गाजी ने सिर उठाया और कहा, "बाबू, अपनी बीवी को तो वह अच्छी तरह जानता था। इसलिए उसे छोड़ दिया। सारी बातें सुनने के बाद इतना ही कहा : 'जाकर अपनी खेती-बारी सँभाल !' और उस बन्दर की आज क्या हालत हुई है, जाकर देखिए तो सही !"

बन्दर याने नसरत ! जिसकी बात करते हुए गाजी के मन में कोई विद्वेष न था, दया थी।

"क्या हुआ उसे ?" मैंने फिर पूछा।

गाजी ने कहा, "करम-जैसी भी कोई चीज है बाबू ! अब अच्छा-बुरा तो मैं नहीं जानता। लेकिन जैसा काम, वैसा फल तो भोगना ही पड़ता है। बस, एक साल के अन्दर ही नसरत का सब कुछ लुट गया। उसे अपने किये का फल मिला—हवालात, क़र्ज, मुक़दमा में फँसकर ज़र-ज़मीन सब छिन गयी। अब वह महतो चाचा के यहाँ चरवाहे का काम करता है। उसकी बीवी भी चाचा की ज़मीन पर मज़दूरी करती है।"

ख़ैर, यह तो दूसरी चाची का क़िस्सा था और [illegible] करनी और भरनी। इसके बाद इस तीसरी [illegible] है ? [illegible] लिया, "तो फिर यह तीसरी चाची [illegible] ?"

इसे सुनकर गाजी हँसा। फिर बोला, "[illegible]"

याने बहते-बहते ! [illegible]

ही आना हुआ हो तो [illegible]

कहाँ पाऊँ [illegible]

हो निगल जाते। मैंने पूछा, "वह भला कैसे ?"

"बताया न बाबू! उस समय चारों ओर अकाल था। पेट की आग से लोग गाँव-घर छोड़कर भाग रहे थे। एक झुण्ड इधर भागता तो दूसरा उधर—शहर की तरफ़। धान-चावल भले ही ग़ायब हो जाये, खेती-बारी तो आबाद रखनी ही थी। मजूरी पाने की आशा में, इस बादा में भी न जाने कितने खेतिहर लोग आये। ऐसे ही एक झुण्ड में कई मजूरनें भी आयीं। और इनमें ही हमारी यह चाची भी थी।...चाचा उस समय उसी बीमारी में फँसे थे।"

मैं इस बात को ठीक-ठीक समझ न पाया। "कौन-सी बीमारी ?" मैंने विस्मित होकर पूछा।

"दिल की बीमारी, बाबू। कहते हैं न, 'तेरे मन के दरपन पर धूल और कालिख पड़ी है। तू एक बार साफ़ कर इसमें झाँक तो ले पगले।' बहू के भाग जाने के बाद चाचा की हालत भी कुछ वैसी ही थी। दरपन पर जो धूल-झूल पड़ी थी, उससे बेखबर। कोई ज़ोर जबरदस्ती-जैसी चीज़ तो नहीं थी वहाँ। एक तरह से ठीक भी था। अब जब कि तुम्हारे यहाँ दाना बिखरा हुआ है तो चिड़िया तो फँसेगी ही। जायेगी कहाँ ? है कि नहीं बाबू ?"

"मैं कुछ समझा नहीं!"

गाज़ी ठठाकर हँस पड़ा, "बाबू, आप तो एकदम भोले हैं। यह जोड़-तोड़ भी नहीं समझ पाये। चाचा की इस सनक को भी नहीं समझ पाये ?"

"नहीं तो!"

गाज़ी ने घड़ी-भर के लिए मेरी ओर देखा और फिर फुसफुसाया, "फिर मैं अपने बाबू को समझाऊँ कैसे ?" फिर वह मेरे और भी क़रीब आ गया। आस-पास फैली मैली चाँदनी में, जहाँ दूर-दूर तक एक कौआ भी न था, मेरे कान के पास आहिस्ते से बोला, "चिड़िया भी नहीं समझे बाबू! औरत...लड़कीज़ात! समझे अब ? चाचा के गोले में तब भरपूर धान था। सब उसके पास हाथ पसारे आते। गाँव में उस समय मर्द थे ही कितने ? सब अपनी जान बचाने की खातिर इधर-उधर भाग-दौड़ रहे थे। औरतें कहाँ भागतीं और सब जातीं भी कैसे ? और भूख तो बाबू सिर्फ़ मर्दों को ही नहीं, औरतों को भी एक-समान सताती है। है कि नहीं, बाबू ? उधर चाचा की यह हालत! मुरशेद ने ही उसे बचाया। यह मुरशेद क्या है बाबू ? विश्वास दिल और दिल में बसनेवाला। अगर दिल में खोट हो और आँखों के सामने अँधेरा तब फिर क्या कुछ बचेगा ? बताइए ? वह भी नहीं रहता। चाचा भी इसमें बर्बाद हो चुका था। जब लड़कियाँ सामने आतीं तभी धान बाहर निकालता।...समझ गये न बाबू! अब इन सब चीज़ों के रहते कहीं दिल का ज़ख्म सूखता है ?"

अब मैं समझा कि चाचा को किस सनक का दौरा पड़ता रहा होगा। भूख से आतंकित बहू-बेटियों को धान देकर उसके बदले वह क्या वसूल करता रहा! वह स्वयं बर्बाद हो चुका था, इसलिए दूसरों को भी मिटाने पर तुला था। वैसे मैंने जिस महतो को देखा था, उससे एक बार भी ऐसा नहीं लगा कि अंगूरी का पति धान दे-देकर औरतों की इज्जत से खेलता रहा होगा। अब वह वैसा नहीं रहा। जब था, तब उसका दिल जख्मी था। वहाँ जहरीला घाव लगा था। दूसरी चाची की बदचलनी का घाव। इसीलिए तो यह बीमारी हुई थी जिसका शिकार बेकसूर लड़कियाँ होती रहीं।

"फिर वह घाव सूखा कैसे?"

"इस नयी चाची को पाकर। उस समय उसकी उमर एकदम कच्ची थी। हर कोई इसे फाँसना चाहता। इधर भी हिलोर-सी उठी थी। महतो चाचा ने भी इसमें अपने आपको झोंक दिया था। बीमारी भी तो तगड़ी थी।

"उसके बाद?"

"इन थपेड़ों से लड़ते हुए चाचा के हाथ ही टूट गये।"

"हाथ टूट गये?"

गाजी 'हा-हा-हा' कर हँस उठा। बोला, "हाँ ऐसा ही समझिए। सचमुच के हाथ कहाँ से टूटते भला? अब जाकर चाचा ने अपने आपको पहचाना और फिर सँभाल लिया। चाचा शैतान से देवता हो उठा। उसकी नजर [illegible] कली पर पड़ी और जो पुरवा के झोंके से लहक उठा। बीमारी तो [illegible] आँखें सलामत थीं। पहले रहने को जगह दी फिर घर का [illegible]। उस बाला ने भी घर का सारा नक्शा ही बदल डाला। [illegible] घर बिठा लिया और तब से आज तक..."

"क्यों, शादी-वादी नहीं की?" मैंने एक [illegible] चाहा।

गाजी हँसने लगा, "अब कितनी शादियाँ [illegible] चुका था। इस बार बिना ब्याह के ही [illegible] बात कि जो कुछ शादी करने से [illegible] दोनों के बारे में सुना। ब्याह [illegible]"

गाजी ने ठीक ही कहा था। [illegible] के चेहरे मुसकरा उठे। [illegible] ही नहीं रोका जा सकता। [illegible] साँस और धड़कनें। [illegible] झनकाकर, [illegible]

कहाँ पाऊँ [illegible]

पर नहीं आयी। आयी थी, संकट से भागती-भटकती, अपनी जान बचाने। इसे ही कहते हैं, आगमन। उसकी सजल आँखों में ही महतो के लिए दवा थी। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि मरने के लिए नहीं, किसी को बचाने के लिए ही भटक रही थी।

मैं मन-ही-मन कह उठा : "धन्य हो अंगूरी! तुम्हारा जीना सार्थक है। यही तो तुम्हारा सबसे बड़ा परिचय है। फिर यह विवाह का ढोंग किस लिए। तुम तो सदा सुहागिन हो—चिरजीवी हो।" घर छोड़कर भागी हुई जिस भूखी-प्यासी लड़की को अपनी जान जुगाने की चिन्ता थी, उसने ही जिसे छू दिया वह धन्य हो उठा। जो रोगी था, यह उपचार पाकर स्वस्थ हो उठा। मुझे ऐसा लगने लगा कि अगर मैं एक बार भोलातालि नहीं गया तो यह अपराध ही होगा। मेरी आँखों के सामने वह खड़ी हो गयी थी, साँवले चेहरे पर अपनी जानी-पहचानी मुसकान लिये। मैंने उसे भरोसा दिलाया : एक बार आऊँगा—अवश्य आऊँगा।

इस बीच हम कब, किन पगडण्डियों और सड़कों को पार कर आगे बढ़ आये थे, कुछ याद न रहा। मैं अनमना-सा गाज़ी के पीछे-पीछे चला आ रहा था। रास्ते कब-कब बदलते गये, इसकी सुध ही नहीं रही। अचानक देखा, हमारी देह पर आग की पीली-चमकीली परछाइँ काँप रही है। सामने ही, आग की लपटें लपलपा रही थीं, एक चबूतरे पर। आस-पास छोटे-छोटे खपरैलवाले घर थे। उस आग के चारों ओर आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष जमा थे। वहाँ कौन किसकी बात सुनता? कोई झगड़ा-फ़साद था या कोई जलसा या फिर कोई पंचायत बैठी थी, कुछ पता न चला। इनके बीच एक आदमी बेसुरे गले से गा रहा था, जिसे समझ पाना बड़ा ही मुश्किल था।

इतने में ही किसी ने भारी आवाज़ में पुकारा : "कौन जा रहा है?"

गाज़ी खड़ा हो गया। उसके साथ मैं भी। गाज़ी ने हँसकर जवाब दिया, "कौन जा रहा है या नहीं, उसे तुम अभी कैसे पहचान सकोगे?"

अधनंगी देहवाला एक बूढ़ा आदमी झूमता और कुछ-कुछ बुदबुदाता ऊँची सड़क पर आकर खड़ा हुआ। उसकी लाल आँखें कहीं दूर खोयी हुई थीं। दाढ़ी-मूँछ बढ़ी हुई। उसकी साँसों के साथ शराब की तीखी बदबू फैल रही थी। मस्ती-भरी हँसी के साथ बोला वह, "क्यों, पहचानूँगा कैसे नहीं? तू तो गाज़ी है!"

उसकी नज़र मुझपर भी पड़ी। उसे क्या हुआ, पता नहीं कि उसने अचानक अपने दोनों हाथों को उठाकर माथे से लगाया और कमर झुकाकर बोला, "अरे, यह लो, मैं बाबू को तो पहचान न पाया। कब आये बाबू?"

गाज़ी मेरी तरफ़ देखकर हँसा। मैं समझ गया द्रव्य-गुण के कारण वह किसी

को भी पहचान सकता हूँ। इसमें अचरज की कोई बात न थी। गाज़ी ने पूछा, "बाबू को पहचान गये तुम ?"

उस आदमी ने अपने सिर को कुछ इस तरह झटक दिया कि उसकी सारी देह लचक गयी। मुझे डर लगा वह गुड़ीमुड़ी होकर कहीं नीचे ढलान तक न ढह जाये। लेकिन वह नहीं गिरा। बोला, "क्यों, पहचानूँगा क्यों नहीं भला ? यह तो हमारे बाजार के महाजन ठाकुर बाबू के बेटे हैं।"

अब कोई इसे क्या बताये ? कहाँ से कहाँ चला आया। मुझे महाजन ठाकुर का बेटा बता रहा है।

गाजी ने हँसते-हँसते कहा, "हाँ, हाँ, तुमने ठीक पहचाना। अब जाओ, जो कर रहे थे, उसी में पिल पड़ो।"

उसने फिर अपने सिर को एक झटका दिया। जैसे किसी पगले भैंसे ने अपना सींग उठाया हो, मारने के लिए। बोला, "क्यों, अभी उस दिन तो बाबू की शादी हुई थी, पर हम लोगों को दावत नहीं मिली। अब तो इनको कुछ खिलाना ही होगा।"

चलो, किसी नवविवाहित की कोटि तक तो पहुँच ही गया। अब यह तुरत कुछ खिलाओवाली जिम्मेदारी से पिण्ड तो छूटे सही। इसी बीच चबूतरे पर जमी भीड़ से कोई कुछ बोल उठा, मैं समझ न पाया। हो सकता है, उसकी भाषा सन्थाली हो, या कुछ ऐसी ही मिलती-जुलती दूसरी बोली। अब मैं समझ गया कि ये दादा के इलाक़े में बसे हुए भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। महतो की तरह इनकी वंश-परम्परा ने यहाँ पीढ़ियों तक वास नहीं किया, इसीलिए भाषा या बोली नहीं बदली।

चबूतरे की चिल्ल-पों सुनकर बूढ़े ने अपनी भाषा में उसे डाँट दिया। क्या कहा, पता नहीं। क्या पता, गाजी कुछ समझ पाया या नहीं। लेकिन वह जल्दी से बोल उठा, "अच्छा तो किसी दिन जमकर दावत होगी। अभी तो हम जायेंगे।"

ऐसा कहने पर भी पिण्ड नहीं छूटा। जिसके पेट में रस हो उसका मुँह कैसे बन्द रहे। उसने फिर हाथ जोड़कर कहा, "तो फिर बाबू ऐसा हैं कि आज हमारे साथ ही खाइए-पीजिए।"

चबूतरे पर भीड़ ही जमा नहीं थी, अब वहाँ किसी झगड़े पर मारपीट की नौबत भी आ पड़ी थी। गाजी ने उसे डपटते हुए कहा, "अरे ओ टेंको, तेरा माथा तो नहीं खराब हो गया ! ठाकुर बाबू के बेटे क्या वह सब पीते हैं ?" और मुझे आगे बढ़ने का इशारा किया। टेंको का माथा ठनका शायद। उसने अपनी जीभ निकालते हुए अपने कानों को रगड़ा : "अरे हाँ...छी...

छी...छी...।"

उसकी बात खत्म नहीं हुई और हम लोग आगे बढ़ आये। उस हागड़े के बीच भी किसी ने ज़ोर की हाँक लगायी : "अरे ओ गाज़ी, गान तो सुना जा।"

"आ हा, जय मुरशेद ! आइए बाबू, चलें।" कहते हुए गाज़ी ने अपने कानों में उँगली डाल ली। चबूतरे पर एक तरफ़ एक अधमरा-सा जानवर देखकर मैं विस्मित हो गया। अब तक ज़रा भी पता न चला था कि चबूतरे पर तीरों से बिंधा कोई जानवर भी औंधा पड़ा है। शायद यह जानवर भी अपनी मौत को सामने देखकर जीवन के लिए पुकार रहा था।

मुझे एक प्रकार की उदासीनता ने घेर लिया। मैं अपने सामने की हर चीज़ भूल गया। याद ही नहीं रहा कि कहाँ से चला था, कहाँ जाना है ? इस रात के साथ-साथ और गाज़ी के पीछे-पीछे चलते हुए मुझे लगा कि एक-एक मोड़ पर कितने ही विचित्र खेल चल रहे हैं। जीवन में एक के बाद एक घटनेवाली स्थितियों में कहीं भी कोई तालमेल नहीं। सब कुछ असंगत और असमंजसपूर्ण है। जिस समय आँखों के सामने बड़ी-बड़ी आँखोंवाला मुसकराहट बिखेरता चेहरा हो, उसी समय इन्हीं आँखों के सामने कोई दूसरा ही उत्सव हो रहा है, और दूसरे लोग जमा हैं। आदमी सबके साथ अपना तालमेल बिठाने की कोशिश करता है, किन्तु देखा जाये तो कहीं कोई मेल नहीं। जो वास्तव में सामने है, वह स्वतन्त्र है और बड़े-बड़े तमाशे इकट्ठा करता है।

"बाबू !" गाज़ी ने मुझे टोका, "आपने गुस्सा तो नहीं माना ?" और फिर दूसरी ओर मुड़ गया। इसमें गुस्सा होनेवाली कोई बात भी न थी।

"नहीं, इसमें गुस्सा मानने को क्या है ?" मैंने उत्तर दिया।

गाज़ी के होठों पर किसी अपराधी की-सी मुसकान थी। वह झेंपते हुए बोला, "बाबू, मेरी ही भूल की वजह से आपको रुकना पड़ा।"

तुम धन्य हो गाज़ी ! इतनी देर के बाद अपराध के लिए माफ़ी। अब तक तुम नहीं समझ पाये। अब तक अपराध होते रहे। मैं उसे क्या बताता ? तुरत नहीं सूझा। मैं जहाँ स्वयं अपने-आपसे पूछ रहा था कि वहाँ, इस तरह के सवालों की कोई गुंजाइश थी भी नहीं।

"अगर मैं पहले से ही यह जानता तो आपको कभी कष्ट नहीं देता बाबू ! ऐसा है बाबू कि डरने की कोई बात नहीं। मैं सारी रात आपके दरवाज़े से लगा बैठा रहूँगा।"

उस हल्की-सी धुंधली चाँदनी में मैंने गाज़ी की ओर देखा। उसके चेहरे को देखकर मेरा अन्तर भाव-विह्वल हो उठा। गला भर आया। ऐसा क्यों होता है ? नहीं जानता। बस इतना ही जान पड़ा कि मेरा हृदय आनन्द की तरंगों से

आन्दोलित हो रहा है और उस ज्वार से मेरा स्वर रुद्ध हो गया है।

"बाबू !" गाजी फिर गिड़गिड़ाया।

मैंने अपने को सँभालते हुए कहा, "नहीं गाजी, मैं गुस्सा नहीं। मुझे सब कुछ बड़ा अच्छा लगा।"

"सचमुच बाबू !" शायद वह किसी बच्चे की तरह कमर हिलाकर खुश हो लेना चाहता था। लेकिन केवल गुनगुनाते ही रह गया, "तू मन को पहले बूझ, मन में जगा है कौन। निर्दय, निर्मम जितना कह ले, सदय हैं उसके जैसा कौन !"

मेरी प्रार्थना इतनी बड़ी नहीं। गाजी जिस तरह गा रहा था, मैं ठीक उसी तरह नहीं सुनना चाहता। लेकिन उसका आनन्द समझता था। और सोच रहा था कि चूँकि गाजी यहाँ उपस्थित है, इसलिए उसपर भले ही यह दोष मढ़ दूँ। अगर गाजी सामने नहीं होता तो मैं ऐसी दुर्गति में पड़कर किसको दोष देता ? उससे ग़लती हुई थी, इतना ही बहुत है। किन्तु यह भी सही है कि मैं उसे पा सका और इस रूप में जान पाया।

देखते-देखते हम हाट के अन्दर पहुँच चुके थे। रात का अँधेरा मेरी आँखों में तिर रहा था। उस धुंधलके में कुछ भी पता न चला कि हम कहाँ से कहाँ आ पहुँचे। दो-एक घरों से आगे निकलते ही एकदम सामने फिर वही पेड़, जिसके नीचे काली परछाईं उतर आयी थी। उसके ठीक सामने नारायण ठाकुर का महामाया हिन्दू होटल। सीढ़ियाँ सूनी पड़ी थी। भीतर कोई होगा ऐसा नहीं लगा। भीतर एक लालटेन-भर झूल रही थी।

हम दोनों सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर आये। ठीक उसी समय दीवार के पास छाया हिली और फिर उठ खड़ी हुई। उसकी देह पर और फिर चेहरे पर रोशनी पड़ी। उसने अपनी ढीली-ढाली साड़ी को जल्दी से सँभाला और अपने खुले हुए बाल दोनों हाथों से कसकर पीछे की तरफ़ खींच लिये। मुझे उसका चेहरा कुल जाना-पहचाना-सा लगा। चेहरा गम्भीर था और आँखें थोड़ी सूजी हुईं। टूटे हुए सपने की नाईं चौंककर उसने मेरी अजनबी आँखों में निहारा। आँखें मिलते ही उसे लगा कि मैं कोई परदेशी हूँ। फिर मेरी तरफ़ सिर से पाँव तक देखकर उसने अपना चेहरा घुमा लेना चाहा।

ठीक इसी वक़्त गाजी बोल उठा, "अरी, दुली महारानी।" और अपनी गरदन आगे बढ़ा दी। युवती भी उसकी तरफ़ देखकर विस्मित हो उठी। बोली, "अं...तुम ! यहाँ ?"

अरे, यह तो पोखर के किनारेवाली दुलि है—अनन्त की दुलि! यह अपना अड्डा छोड़कर इस समय नारायण ठाकुर के भोजनालय में क्या कर रही है? गाजी ने भी यही बात दोहरायी, "तुम इस समय यहाँ?"

दुलि ने एक बार इस परदेसी की ओर देखा। उसके नाक की लौंग फिर दो-तीन बार चमक उठी। फिर एकदम सहज होकर उसने कहा, "नारायण दा को एक बात बताने आयी थी। दरअसल आज मांस-भात पकाकर भेजना तय हुआ था। बस, यही बताने आयी थी कि अब भेजने की ज़रूरत नहीं।"

गाजी ने पूछा—"भला क्यों महारानी! आज क्या खाना-दाना कुछ नहीं?"

दुलि ने अपना मुँह दूसरी तरफ़ हटाकर कहा, "नहीं, आज जो कुछ अच्छा नहीं। यही सोचकर यहाँ आयी कि मना करके घर जाके सो रहूँगी। लेकिन यहाँ तो कोई है ही नहीं।"

"कोई नहीं? फोंचा? फोंचा की बीवी?"

"कहाँ, कोई तो नहीं! सब कुछ सूना पड़ा है। फोंचा दा का एक बेटा भीतर बैठा है। उससे पूछा तो बोला, 'क्या पता, नहीं जानता!' इसीलिए बैठी हूँ। अब बिना बताये जाऊँ भी कैसे? फोंचा दा के साथ इत्ता-सा भात भेज दिया तो उसे फेंकना ही पड़ेगा।"

उसने फिर परदेसी की तरफ़ देखा। इस बार उसकी आँखों में अजनबीयत नहीं थी, जिज्ञासा थी। वह कनखियों से मुझे देख रही थी। चेहरा फिराते हुए उसका जूड़ा खुल गया और बालों का गुच्छा बिखर गया। उसने फिर हाथों से उसे सहेज दिया। ऐसा करते हुए उसकी देह क्यों लचक उठी या कबूतरी की तरह उसने गरदन क्यों मटकायी—यह कैसे बताया जाये? जीवन-यापन की एक शैली तो होती ही है; अब चाहे जो भी पेशा हो या रोजगार हो उसकी छाप नहीं छूटती। चोगा-चपकन हो या न हो, वकील के बोलने का ढंग बता देता है कि वह वकील है। इसी तरह, अलना हो या नहीं, डॉक्टर पहचान लिये जाते हैं। दरोग़ा की चाल हो या पण्डित के बोल—बात समझ में आ जाती है। दुलि इससे परे कैसे हो सकती थी? इस क़स्बे में कोई नया आदमी आया है, तभी तो भोजनालय में है। अब उसकी जीविका की जो भी अदा रही है, वह बिना रंग दिखाये कैसे रह सकती है? भले ही, कुछ घण्टे पहले उसके सीने में कोई आग धधकती रही हो।

उसकी ओर देखने पर पता चला कि उसकी सूजी हुई आँखों में कोई तूफ़ान ठहरा रहा। काफ़ी आँसू निकल चुके थे शायद! उसने अभी-अभी जिस तरह आँखें उठाकर देखा था, वह एक छलना ही तो थी। इसके पीछे का जो क़िस्सा था, वह कुछ वैसा ही था, जैसे किसी पंछी के सामने अचानक शाम घिर गयी

हो। रात का अँधेरा गहरा चुका था, लेकिन कोई प्रसन्नता न थी; न कोई पुकार, न कोई गीत-संगीत। सिर्फ़ उदासी-सी छायी थी।

गाजी ने हँसते हुए पूछा, "लेकिन आज के दिन मांस मिलेगा कहाँ महारानी ? आज तो हाट का दिन भी नहीं। बशीर ने कुछ काटा-वाटा है क्या ? कोई खस्सी-पाठा....।"

दुलि ने हँसने के बदले होठ भींचकर उत्तर दिया—"खस्सी-पाठा नहीं, आज बटेर का मांस पकाने के लिए कहा था।" और होठ बिचका दिया। इसमें मुझे कुछ अजीब-सा हलकापन लगा।

गाजी ने छूटते ही कहा, "अरे वाह, फिर तो आज बड़ी रौनक़ रहती। किस वजह से यह सब खटाई में डाल दिया और एकदम उपवास पर उतर आयी ?"

दुलि की भँवें कँपी और नाक की लौंग झिलमिलायी। "बताया न, जी अच्छा नहीं। कुछ खाने की इच्छा नहीं।" मुँह फेरकर कहते हुए वह अन्दर के दरवाजे की ओर आगे बढ़ गयी। गाजी ने तत्परता दिखायी, "अरी ओ महारानी, मेरा तो उस कमरे के अन्दर जाना मना है। जरा एक कुरसी बाहर निकाल देना, बाबू बैठेंगे।"

मेरा माथा ठनठनाया। मैंने कहा, "नहीं-नहीं, मैं स्वयं जाकर लिये आता हूँ।" और मैंने कमरे में अपना पांव बढ़ाया। दुलि ने तब तक एक कुरसी उठा ली थी। दरवाजे तक आते-आते उसने फिर आँखें उठाकर देखा, जिनमें वही जिज्ञासा थी। कुरसी लाते-लाते उसने अपने हाथ से लालटेन भी उठा ली थी। दरवाजे तक पहुँचते ही गाजी ने उसके हाथ से कुरसी लेकर दीवार से टिकाते हुए कहा, "आप बैठिए बाबू! ठाकुर महाशय या फोचा के आते ही हाथ-मुँह धोने के लिए पानी लाने को कहूँगा।"

दुलि दरवाजे से लगी खड़ी थी और सीढ़ियों पर रोशनी दिखा रही थी। गाजी की ओर कौतूहल-भरी नजरों से देखती हुई उसने लालटेन को दरवाजे पर टाँग दी और होंठ भींचती हुई अन्दर चली गयी।

ठीक इसी समय भीतरी दरवाजे की तरफ़ से उसी सीकिया देह की भर्रायी आवाज सुनाई पड़ी—"कौन है वहाँ ?"

"मैं हूँ नारायण दा!" दुलि ने ही जवाब दिया।

"लो—और मैं तुम्हारे घर से वापस आ रहा हूँ।"

"भला क्यों ?"

"उधर मुसलमानपाड़ा गया था न इसीलिए। टेंको की बस्ती में आज सूअर मारा गया है, सब उसी में मगन हैं। मैंने सोचा, वह सब तो आज मुरग़ी देंगे

हाँ। साले, जब तक टनटनायेंगे नहीं, मुरग़ी के दड़बे में घुसेंगे कैसे ? इसीलिए साँझ ढलते ही मुसलमानपाड़ा गया था। चीज तो अच्छी ही मिल गयी। मैंने सोचा, लौटते हुए तुम्हें भी दिखाता चलूँ। वहाँ जाकर देखा तो पाया दरवाज़े पर ताला लगा है। और जो कुछ सुना...'' नारायण ठाकुर अपनी बात पूरी नहीं कर पाये कि दुलि ने बीच में ही टोक दिया, ''हाँ, मैं भी तुम्हें यही बताने आयी थी। अब मांस-भात भेजने की जरूरत नहीं, नारायण दा...!''

थोड़ी देर तक चुप्पी छायी रही। इसके बाद नारायण ठाकुर फिर शुरू हुए : ''हाँ, ठीक ही तो है। तुमने अपना और अनन्त का खाना मँगाया था। वह नहीं खायेगा, यही न ! तुम तो खाओगी ? अब घर वापस लौटकर फिर चूल्हा सुलगाने की जरूरत भी क्या है ?''

''हाँ, अब अपने लिए खाना-वाना क्या बनाना ? भूख-प्यास ही नहीं। मैं आज रात कुछ भी नहीं खाऊँगी। चिड़ियों को काटा-कूटा तो नहीं ?''

''नहीं, उन्हें तो फोंचवा ही मारे-काटेगा।'' नारायण के गले की मोटी आवाज जैसे बेसुरी हो गयी।

''तो उन्हें मारना भी नहीं। तुम न रखना चाहो तो किसी दूसरे को बेच देना। या फिर मैं ही किसी दूसरे को बेच दे सकती हूँ।'' दुलि के स्वर में किसी खिंचे हुए तार की-सी झंकार थी।

''अरे नहीं-नहीं, यह भी कोई बात हुई ?'' नारायण ने बात को खत्म करना चाहा और चुप हो गया।

अब सारा सिलसिला समझ में आ गया। आज की रात दुलि और अनन्त का रस-विहार था। लेकिन अनन्त ने इस प्रेम से अधिक भैया की प्रतिष्ठा को मान दिया था। 'प्रेम की बातें जो न समझे, उसके संग क्या लेना-देना' गाजों के उसी गीत की याद आ गयी मुझे। ख़ैर, जो होना न था उसकी चिन्ता किस लिए ? अपनी भूख से, पेट से कुछ लेना-देना नहीं ? दुलि को आज की रात क्या सचमुच भूख-प्यास नहीं ?

अब हर एक 'क्यों' का तो कोई जवाब नहीं ! इसे तो उस सन्दर्भ से जोड़कर देखना है, जिसके तहत सारी सौग़ात उठाकर सीढ़ियों पर फेंक दी गयी थी। और फिर दरवाज़ा बन्द ! जिसने यह प्रेम उपहार दिया था उससे बढ़कर और क्या है ? जिसके संग दावत में शामिल होने की बात थी, उससे अपनी भूख तो बड़ी नहीं।

यहाँ प्रश्न यह है कि वेश्याओं के पास पेट के सिवा होता ही क्या है ? कुछ नहीं ! कुछ रहता तो वह दूसरे मर्दों के पास क्यों सोती ? यह समाज उसे कितनी इज़्ज़त देता है ? यही बहुत है कि वह इस सचाई को समझे।

गाजी मेरे पास ही, चुपचाप बैठा हुआ था। उसने एक गहरी-सी उसाँस छोड़ी। सामने का पेड़ अपनी गहरी काली छाया के साथ लिपटा था। उसके आस-पास धुँधली चाँदनी खामोश पड़ी थी। कभी-कभार इर्द-गिर्द फैले मकानों से लोगों की आवाज सुन पड़ती थी। लगा, जैसे पास बहती नदी की बीच धारा से कोई पुकार उठा हो।

"अनादिपाल भी एकदम उजड्ड आदमी है। माल-मसालेदार पकवान का मजा किरकिरा करने के लिए हाथ में छिलनी-करछुल डुला रहा है!" नारायण ने पक्के रसोइये की तरह अपनी बात रखी।

"अब जाने भी दो नारायण दा, इन सारी बातों को!" दुलि शायद तंग आ चुकी थी, "छोड़ो भी।"

नारायण का स्वर तीखा हो गया। खीजकर बोला, "क्यों, छोड़ने की क्या बात है इसमें। और अनन्ता...हुँ, उसे बार-बार तुम्हें बेवकूफ बनाने की क्या पड़ी है?"

दुलि को इस तरह कोई धीरज बँधाये, यह अच्छा न लगा। उसके अन्तर में जो धार बह रही थी, वहाँ न पहुँचकर, ऊपर-ऊपर किनारे पर पतवार खेने से क्या लाभ होता! वहाँ तो उसे अपने आप ही धीरज बँधाना है। दूसरे के हाथ का स्पर्श भी उसके लिए दाहक है।

"कौन क्या बेवकूफ़ी कर रहा है, मैं इसकी चिन्ता नहीं करती!"

लेकिन नारायण ठाकुर चुप रहनेवाला कहाँ! इतना ही बहुत था कि वह अपनी आदत के मुताबिक़ झुंझलाया नहीं, "भई दुलि, तुम भले ही इन सब चीजों की परवा न करो, न सही! पर अनन्ता के आते ही तुम वह सारा कुछ भूल जाती हो। यह अच्छी बात नहीं। तुम्हारा दस-बीस लोगों के साथ कारोबार है। ठीक है, आयें—बैठें और खिसकें। अब इससे ज्यादा शह देने की जरूरत भी क्या है?"

नारायण ठाकुर केवल होटल चलाने की जोड़-तोड़ के बारे में ही नहीं जानता, वह देह के कारोबार पर भी भाषण झाड़ सकता है। उसकी बातों से लगा कि वह दुलि के मामले में थोड़ा उदार है।

लेकिन दुलि की परेशानी दूसरी थी। हँसकर बोली, "ओ हो! कुछ सुनोगे भी या....। मैं तो वही बात बताने तुम्हें आयी थी।"

"अच्छा-अच्छा! क्या बात है?"

दुलि की आवाज धीमी पड़ गयी। फिर भी, सब कुछ साफ़-साफ़ सुन पड़ा। बोली, "मैं अपने घर में ताला लगाकर आयी हूँ। जानती हूँ, वह आधी रात वहीं शोर मचायेगा। इसीलिए मैं यह कह रही थी कि मैं यहीं रह जाऊँगी।

फौंचा'दा की बहू के साथ ही सो रहूँगी। बस, रात ही तो काटनी है।"

ओ हो! तो सिर्फ़ मांस-भात पकाने की मनाही के लिए ही नहीं, वह सारा सिलसिला ही बन्द कर देना चाहती है, इसीलिए आयी है। रात के पिछले पहर में चोरी-छिपे होनेवाली मुलाक़ात भी ख़त्म!

"तो यही बात थी? ठीक ही तो है। फौंचा की बहू के पास ही रहना। इसमें क्या है?"

"नहीं, तुम्हें कोई असुविधा तो नहीं होगी?" दुलि ने पूछा।

उसकी बात सुनकर मैं दुलि का चेहरा देख लेना चाहता था कि इसी समय किसी के पाँवों की आहट सुन पड़ी। साथ ही नारायण की बोली, "नहीं, नहीं, इसमें मुझे क्या असुविधा हो सकती है!"

सामने की धुँधली रोशनी और अँधेरे में जो खिचड़ी पक रही थी, उससे लगा कि दुलि के सामने रहते नारायण काफ़ी परेशानी महसूस कर रहा था। शायद इसीलिए उसने उसे वहाँ से चले जाने को कहा होगा।

और इधर गाज़ी गुनगुना उठा :

"घर की कुण्डी लाख चढ़ाओ,
सेंध मारनेवाले मानेंगे कैसे?
काला बिल्ला चोर की नाईं, अन्धकार में छुपा हो जैसे।"

इसी बीच, "वहाँ कौन है रे?" नारायण चिल्लाया।

"आप सबका गाज़ी, ठाकुर महाशय!" गाज़ी की आवाज़ पिघली हुई थी। और इसके साथ ही, उसी अनुपात में नारायण की जली-भुनी बातें वहाँ तैरने लगीं, "हम सबका नहीं, एकबारगी सारे संसार का। तुम्हारी बेवक़ूफ़ी से तो देह में आग लग जाती है। न कोई बात न विचार। बस, महाशय ने गाना शुरू कर दिया।"

"वो...गान जैसे एकदम होठों पर आ गया," गाज़ी ने कहा।

"आ ही गया तो सुनाना ज़रूरी था क्या?" वह धीरे-धीरे अपनी आवाज़ की तरह बढ़ता चला आया। फिर आते ही पूछ बैठा, "ख़ुद तो आकर जम गये यहाँ! और बाबू को छोड़ आये कहाँ? भोलाखालि में ही—" लेकिन दरवाज़े तक पहुँचते ही नारायण को जैसे कोई झटका-सा लगा। दरवाज़े के पास रखी गयी लालटेन की रोशनी का एक हिस्सा मुझ पर भी पड़ रहा था। मुझे देखते ही उसकी बोलती बदल गयी, "अरे, तो आप आ चुके हैं? मैंने सोचा, क्या पता, क्या हुआ? महतोवाली बात थी, कहीं भोलाखालि ही तो नहीं ले गया?"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। गाज़ी ने ही कहा, "हाँ, ऐसा ही तय हुआ था। अब चाची को तो आप जानते ही हैं। एकदम छोड़ ही नहीं रही थी।

और इधर बाबू को डर था कि रात बीतने के बाद सुबह निकलने में ही देर हो गयी तो....?"

लेकिन नारायण के पास यह सब सुनने का फ़ालतू वक़्त नहीं। उसने मुझसे कहा, "सर्दी लग रही होगी, बाहर बैठने की क्या जरूरत है। आप तो अन्दर चलकर बैठिए।"

"जायेंगे क्यों नहीं ? आप पानी भिजवाइए। हाथ-पाँव तो धो लें," गाजी ने टोका।

"मैंने फोंचा को चापाकल से पानी लाने को कहा है। वह जबतक पानी लाकर दे, आप तबतक भीतर जाकर बैठिए।" नारायण बोला।

"यहीं ठीक हूँ मैं। ऐसी कोई बात नहीं। बाहर ही बैठा हूँ," मैंने बताया।

ठाकुर ने कुछ कहा नहीं। उसके भीतर जाने के बाद मैंने सोचा, बाहर ठण्ड पड़ रही है, इसलिए वह मुझे अन्दर जाने को कह रहा है। एक बाजारू लड़की दुलि को भी अन्दर जाने की छूट है। लेकिन गाजी को नहीं। क्यों ? यह कौन बताये ? यह तो आदमी के हाथों बनाया गया नियम है। जबतक वही नहीं तोड़े, तबतक कोई नहीं मिटा सकता ! कोई एक तोड़ दे, तो वह विधर्मी हो जायेगा और सब तोड़ डालें तो धर्म ! मैं पूछे बिना रह न सका, "इस कस्बे में मुसलमानों की दुकानें वगैरह नहीं हैं ?"

"बहुत-सी हैं। क्यों बाबू ?" गाजी हैरान था।

"तुम वहीं जाकर रात नहीं बिता सकोगे ?"

गाजी को हँसी आ गयी। बोला, "आप इसकी चिन्ता क्यों करते हैं बाबू ? मैंने ऐसी कितनी ही रातें जाग-जागकर बितायी हैं।"

"तुम्हें ठण्ड में परेशानी होगी।"

"मेरी झोली में एक कथरी है। और देह पर भी जो है, वह भी कुछ कम नहीं। इसमें फटे-पुराने आठ-दस कपड़े तो हैं ही।"

फटे पुराने आठ-दस कपड़े ? धन्य है यह अंगरखा भी ! अब इसके बाद क्या कुछ कहा जाये ? इसके अलावा एक कथरी भी है। पता नहीं, इस झोली में और क्या-क्या है ? आखिर गाजी की झोली है या मज़ाक़ ?

गाजी ने हँसते-हँसते बताया, "और दूसरी बात यह है, बाबू कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान—मेरे-जैसे आदमी को कौन अपने घर में ठहरने देगा ?"

"क्यों ?" मैं सचमुच आश्चर्य में पड़ गया।

"क्या पता, वह चोरी-चमारी करके भाग जाये ?"

हम दोनों ने एक दूसरे की तरफ़ देखा। वह मेरी कुरसी के पास ही जमीन पर बैठा था। लालटेन की रोशनी उसके चेहरे के जिस हिस्से पर पड़ रही थी—

वह मेरी आँखों से ओझल था। जो हिस्सा देख पा रहा था, वह अन्धेरे में डूबा था फिर भी मुझे ऐसा लगा, मैं उसकी आँखों की मीठी-मीठी मुसकान देख पा रहा हूँ। उसने जो कुछ कहा, सचमुच वैसा मैंने कभी सोचा न था। सड़कों पर हाथ फैलाकर गाता हुआ कोई देखा-सुना फक्कड़-सा आदमी आकर मेरे घर रात बिताने को कहे तो क्या मैं पनाह दे देता!

इसमें पूछने की क्या बात है? नहीं देता। गाज़ी के नतीजे पर पहुँचते हुए मैं अन्दर से हिल गया। मुझे लगा, मेरे गाल पर तमाचे जड़ दिये गये हों। अविश्वासपूर्ण और विवेकहीन निर्णय से जी खट्टा हो गया। मैंने कहा, "जो करता है, करता रहे। लेकिन तुम्हें तो यहाँ सभी जानते-पहचानते हैं।"

गाज़ी फिर मुसकरा उठा। बोला, "ख़ैर वो जानते तो हैं बाबू! पर आप तो मानते ही होंगे—'जिसकी जैसी अवस्था, उसकी वैसी व्यवस्था! जो सहता है, वही रहता है।' गाज़ी ठहरा दरवेश। इस फ़क़ीरे के दिन तो पेड़ के नीचे ही कट जाते हैं। सिर पर अगर किसी छप्पर को ज़रूरत हो तो इस हाट में इसकी भी कमी नहीं। आप चलकर देखिए तो सही, ऐसे कितने ही छप्पर हैं। वैसे घर के भीतर बन्द पड़े रहने की मेरी इच्छा ही नहीं होती। अगर ऐसी इच्छा करूँ तो लोग उलटा समझ लेंगे।"

थोड़ी देर बाद गाज़ी फिर बोल उठा, "आपको परेशान होने की ज़रूरत नहीं बाबू! सामने ही बरामदे पर छप्पर है, उसी से मेरा काम चल जायेगा। और फिर..."

उसकी बात ख़त्म नहीं हुई। वह मेरी ओर घूमकर बोलता गया, "अगर गाज़ी को आज बहिश्त में भी रहने की इजाज़त मिल जाये तो वह बाबू को छोड़कर कहीं नहीं जायेगा।"

यह तो सरासर चमचागिरी थी। ख़ुशामद। लेकिन उसकी बातों में कोई कपट नहीं था। वह अपने दिल की ही बात नहीं कह रहा था, क़सम भी खा रहा था जैसे।

इसी समय, नारायण ठाकुर प्रकट हुआ। इसके पहले वह दुलि के साथ पासवाले कमरे में ही बातचीत करता रहा था। दरवाज़े के पास दुलि की परछाई भी डोल रही थी।

"मुरग़ी चलेगी बाबू?" ठाकुर ने पूछा।

"क्यों, बात क्या है?"

"चलती, तो फिर मुरग़ी ही पकाता। बटेर तो एक ही है न!"

वैसे ठाकुर के मुँह खोलते ही मैं समझ गया था कि वह क्या कहेगा। वह कौन-सा बटेर था, मैं यह भी जानता था। अब किसी के मुँह की चीज़ को

छीनकर तो नहीं खाया जा सकता ! यह सारा आयोजन जिनके लिए था उनमें से एक सामने खड़ी थी । कोई सन्देह नहीं कि ठाकुर ने उसकी सलाह के अनुसार ही यह प्रस्ताव रखा होगा । बटेर से उसकी अरुचि का कारण भी जानता था कि उसे भूख नहीं । मैं न भी खाऊँ तो भी उसकी जान कोई बचनेवाली नहीं । लेकिन अभी-अभी जो कुछ घटित हुआ था, उससे मैं इसे खाने की स्थिति में नहीं था । और फिर, मेरे साथ निरामिष गाजी भी तो था । मेरे जवाब को सुनने के लिए उसके भी कान खड़े थे ।

"नहीं, मैं मुरग़ी नहीं खाऊँगा", मैंने अस्वीकृति में सिर हिला दिया ।

दुलि कोई अंगूरी तो थी नहीं । वह मुझे नहीं जानती होगी । भले ही यह परदेशी उसके बारे में जानता हो । वह बोल उठी, "आप मुरग़ी नहीं खाते ?"

मैंने उसकी तरफ़ हैरत से देखा । उसके शरीर पर लालटेन की रोशनी पड़ रही थी । उसका आँचल ढला हुआ था, अंगूरी की ही भाँति । उस अधेड़ उम्र में भी मैंने वहाँ एक तरह की हरियाली और ताजगी देखी थी, लेकिन दुलि समुद्री लहरों की तरह खारापन लिये हुए थी । उसके छींटे से आँखें चुनचुना उठीं । नाक और मुँह में जल का खारा स्वाद भर गया हो जैसे । इसमें दुलि का क्या क़सूर था भला ? उसकी इस बात का मतलब क्या था, यह भी बहुत छुपा न था । मुरग़ी का इन्तजाम हो जाने पर नारायण के सामने उसकी जवाबदेही खत्म हो जाती । इसीलिए मुझे फिर बताना पड़ा, "खाता तो हूँ, लेकिन आज नहीं खाऊँगा ।"

अपना चेहरा घुमाते हुए मुझे लगा दुलि भी मेरी तरफ गरदन मोड़कर देख रही है । शायद वह मेरे उत्तर से यह जानना चाहती हो कि इसकी वजह क्या हो सकती है ? लेकिन कुछ बोली नहीं ।

अचानक गाजी बोल उठा, "क्या हुआ बाबू ? खाइए न !" यह उसका आतिथ्य-भरा आग्रह ही था । अपना घर-द्वार न भी हो, पर बाबू की सुख-सुविधा का तो उसे खयाल रखना ही था ।

"नहीं, एकदम इच्छा नहीं ।"

"तो फिर मछली-भात ही तैयार करूँ !" नारायण अन्दर जाते-जाते बोला ।

गाजी ने बताया, "ऐसा है ठाकुर महाशय, आज आप ही वह भोग लगाइए ।"

वैसे यह बताने की जरूरत नहीं कि उसी समय वह खोजता हुआ लौटा और लपका, "ज्यादा बेकार की बातें पगुराया मत करो, समझे ? किसी ने आज तक देखा है कि मैं मुरग़ी खाता हूँ ?"

गाजी ने भी छूटते ही माफ़ी माँगी, "अरे रे-रे, छी-छी, इस बात को तो

मुझे याद भी नहीं रही !"

गाजी को याद तो था ही; बस यही तो उसकी अदा थी। उधर नारायण ने भी कुछ कहा-सुना नहीं। दुलि भी दरवाजे के उस पार चली गयी। कमरे के भीतर से किसी दूसरे की भी आवाज सुन पड़ी, शायद फोंचा की काली-कलूटी बीवी के संग दुलि की बातचीत हो रही हो। गोद में बच्चा भी होगा, जिसे वह बीच-बीच में डपट भी देती थी। वे दोनों आपस में दुःख-सुख की बातें कर रही थीं।

दुलि बोली, "ऐसे मुए प्यार का तो मुँह ही झुलस दूँ।"

"आदमी की नीयत का कुछ पता नहीं चलता," दूसरी औरत बोली।

वह जिस आदमी की बात कर रही थी, मैं उसे जानना चाहता था। वह नारायण ठाकुर था या फोंचा? और दुलि किस प्यार के मुखड़े को झुलस देना चाहती थी? अनन्त के या खुद अपने प्यार के?

मैं मन-ही-मन विस्मित था। घर के भीतर प्रेम को धिक्कारनेवाली वेश्या थी और फोंचा की बहू को क्या कहा जाये, निरंकुश या उच्छृंखल? चाहे जो भी हो, थी तो वह गृहस्थिनी ही। किसकी गृहस्थिनी? मैं यह नहीं बताना चाहता। फोंचा उसका पति था और नारायण—परमेश्वर। वे सब किसी-न-किसी रूप में एक दूसरे से जुड़े थे। शायद इस तरह की बस्ती का यही नियम था। किसी व्यवस्थित जनपद या मर्यादित समाज से परे। थोड़ी देर बाद फोंचा हाथ में बाल्टी लिये आया और उसे सीढ़ी के एक किनारे रखकर घुटती हुई आवाज में बोला, "आइए बाबू! हाथ-पाँव धो लीजिए!"

दिन-भर की भाग-दौड़ ने शरीर को चूर-चूर कर दिया था। हाथ-मुँह धुलते-धुलते ही, फोंचा ने एक रस्सीवाली खटिया घर के अन्दर, दरवाजे के पास लगा दी। उस पर डाले गये बिछावन को देखकर नाक-भौंह भी नहीं सिकोड़ पाया। नीचे चाहे जो कुछ भी हो, उसके ऊपर लाल रंग की किनारी-वाली एकदम सफ़ेद साड़ी बिछा दी गयी थी, जो उसकी बहू की ही रही होगी। ठाकुर को भी इस समय कुछ जल्दी ही पड़ी थी। खाने की सारी व्यवस्था जल्दी ही निपटा दी गयी। गाजी सीढ़ियों के पास ही जमा था। वहीं उसके भोजन का इन्तजाम किया गया।

दुलि को खिलाने के लिए ठाकुर और उस औरत ने बड़ी खींचतान की। पर जिसका जी ही उचट गया हो, उसे क्या कुछ खिलाया जाये? पास के कमरे में, जैसे-तैसे सबका खाना-पीना सम्पन्न हुआ। पता नहीं, सब सो भी गये थे या नहीं! चारों ओर नीरवता-सी छायी हुई थी। फोंचा के बेटे-बेटियों का शोर कभी-कभी सुन पड़ता और फिर वे सब भी चुप हो गये। साथ ही, रोशनी

भी गुल हो चुकी थी। अब सब कोई सो चुके थे शायद!

यहाँ, इस कमरे में अब भी बत्ती जल रही थी। मैंने देखा, घड़ी में सिर्फ़ साढ़े नौ बज रहे थे। फिर भी ऐसा लग रहा था कि आज की यह काली रात, गहरी हो नहीं; सारे संसार को वह एक जंगली सन्नाटे में डुबा देना चाहती है।

मेरी आँखों के सामने ही दरवाज़ा खुला था। उसके पास बैठा गाज़ी अब भी मेरी दी हुई 'छिगरेट' को सुलगाकर कश खींच रहा था। मेरे सिर के ऊपर मच्छरदानी का चँदोवा भी टाँग दिया गया था। पैसे देकर हर तरह की सुख-सुविधा मिल जाती है। यहाँ इस अनजान जगह में भी इस तरह की व्यवस्था कठिन नहीं जान पड़ी, भले ही, वह बहुत साधारण हो।

अब इस लालटेन का क्या किया जाये? मैं इसी सोच में पड़ा था कि फोंचा आ पहुँचा, अँधेरे कमरे की ओर से धीरे-धीरे चलता हुआ। उसके हाथ में एक बोरी थी और अँगुलियों में फँसी जलती बीड़ी। बोरी बिछाकर वह बैठ गया और बीड़ी सूँतने लगा। फिर बोला, "बाबू, रोशनी जलती रहेगी या फिर धीमी कर दूँ?"

"बुझा दो," मैंने कहा।

"बाबू! आप दिन-भर काफ़ी परेशान रहे हैं, अब सो जाइए," गाज़ी का भी सम्बोधन स्वर सुनाई दिया। इस बारे में दो बात नहीं हो सकती! मैं मच्छरदानी खींचकर सोने लगा। फोंचा ने बत्ती बुझा दी। एकबारगी घुप्प अँधेरा छा गया। फिर धीरे-धीरे खुले दरवाज़े से बाहर की धुँधली-सी चाँदनी अन्दर घुसी और इसके बाद उस झुटपुटे उजाले में मैंने देखा कि गाज़ी ने घर की ड्योढ़ी पर ही अपनी झोली फैलायी और उस पर अपना सिर टिका लिया। बाहर झींगुर पुकार रहे थे। थोड़ी ही देर में फोंचा की नाक बजने लगी। गाज़ी धीरे-धीरे कुछ गुनगुना रहा था। फिर वह गुनगुन भी थम गयी।

इस नयी जगह पर नींद नहीं आ रही थी। थकान इतनी थी कि करवट बदलने की भी इच्छा शेष नहीं रही। बस, वैसे ही चुपचाप पड़ा रहा। . . .

अचानक मुझे लगा कि कोई दबी आवाज़ में किसी को बुला रहा है: "प्यारी...सुनो तो!" किसी मर्द के गले की आवाज़! वह किस प्यारी सखी को पुकार रहा है? कौन बुला रहा है, और आखिर क्यों? थोड़ी देर बाद फिर उसकी आवाज़ आयी। इस बार वह कुछ ऊँची और साफ़ थी। लगा, सामने के दरवाज़े के पास ही, सीढ़ियों पर खड़ा होकर कोई पुकार रहा है: "अरी ओ प्यारी! सुना नहीं?"

कई बार, रुक-रुककर आवाज़ आती रही। इसके बाद, कमरे में किसी के

क़दमों की आहट भी धीरे-धीरे बढ़ती गयी। और लगा, इसके साथ ही, किसी के पाँव के झांझर भी ठुन-कुन ठुन-कुन बज उठे। उस अँधेरे में भी, साफ़ दिखाई पड़ी एक मूर्ति, जो भीतर से बाहर आकर दरवाज़े पर खड़ी हो गयी। अरे, यह तो दुलि है! वह बड़ी सावधानी से गाज़ी को लाँघ गयी और फिर सीढ़ियों से उतरती गायब हो गयी।

इसके बाद मुझे दुलि का इतना ही कातर स्वर सुनाई पड़ा : "नहीं-नही, कभी नही!"

उस मर्द की आवाज भी एकदम पिघल चुकी थी अब तक। वह बोल उठा, "मैं तुम्हारे पाँव पकड़ता हूँ मेरी जान!..."

फिर वही "नहीं-नहीं ना-नुच...।" लेकिन धीरे-धीरे यह ना-ना भी कहीं दूर जाती हुई डूब गयी। इधर फोंचा की नाक बजती रही, घर्र...घर्र...र्र।

मैं कुछ अजीब तरह की परेशानी में था। उठकर बैठ न पाया। अजीब-सी जिज्ञासा मन में जाग उठी। केवल अनुमान ही भिड़ा सकता था। फिर भी *कुछ समझ न पाया। ठीक इसी वक़्त, गाज़ी ने धीमी लेकिन भरी हुई* आवाज़ में पूछा, "बाबू! सो रहे हैं क्या?" मुझे जवाब देने में थोड़ी देर हुई। कुछ सोचता रहा। भला गाज़ी के साथ किस बात की आँख-मिचौली?

"नहीं।" मैंने कहा।

"आप कुछ समझे?" उसने पूछा।

"हाँ। शायद दुलि बाहर निकल भागी।"

"किसकी *पुकार पर, यह जान पाये?"*

"अनन्त तो नहीं?"

"और दूसरा कौन होगा?" इतना कहकर वह हँसा।

मेरी आँखों के सामने दुलि का चेहरा तैरने लगा। सूजी हुई आँखों की पुतली में आग। जिसने सारा उपहार लाकर पटक दिया और न आने की क़सम दी थी। वही, अब दौड़ी चली आयी थी। भले ही, अपना घर छोड़कर पराये घर में घुसी हो। *अभी-अभी तो कह रही थी : ऐसे यार के मुँह में आग....!*

हाय री चिन्तामणि! उसे एक बार बुलाकर यह पूछने को जी कर रहा था कि तू किसका मुँह झुलसाना चाहती थी, किस प्रीत का? खुद अपनी या अनन्त की!"

मेरी बेचैनी गायब हो गयी। नहीं जानता, दुलि और अनन्त के भाग्य में क्या बदा है? यह किसी दिन पता भी चल पायेगा इसमें भी सन्देह है और न

मैं इसे जानने आ पाऊँगा। जीवन की बहती धारा में, हर मोड़ पर, कई रंग हैं, जिन्हें मैं देखता जा रहा या फिर जिनके बीच गुजरता चला जा रहा हूँ। देखने और गुजरते चले जाने के इस अन्तराल में किसका लेना-देना शेष है, मैं नहीं जानता!

गाजी चुपचाप पड़ा था। हो सकता है मुरशेद नाम का मजदूर अब सो गया हो। मुझे नींद नहीं आयी। घण्टे बीते जा रहे थे। उदासी मेरा पीछा ही नहीं छोड़ रही थी। इसके बाद ही, एक ओर कोने में दियासलाई की एक तीली जल उठी। फोंचा उठकर एक बीड़ी सुलगाने लगा था। तीली की रोशनी में उसका चेहरा कुछ पलों के लिए दीखा। उसकी दोनों आँखें खुली हुई थीं और दृष्टि सामने की ओर। उस पर कोई भाव न था। तीली बुझ गयी। अँधेरे में अब रह-रहकर बीड़ी का जलता हुआ सिरा चमक उठता था।

क्या सोच रहा है वह? क्या उस दिन की बातें—जिस दिन उसका विवाह हुआ था और पुरोहित ने उसे शुभ लगन में असीसा था। उस दिन, शायद उसके घर में पंचलैट जले हों। ढोल-ढकने बजे हों। गले में फूलों की माला पड़ी हो और शरीर पर नया अंग-वस्त्र धारे अपने नाते-रिश्तेदारों से घिरी एक कच्चे उमर की सलोनी बहू।

क्या सचमुच वह यही सोच रहा है? उसे देखकर ऐसा लग रहा था कि रोएँदार सीने के अन्दर कुछ नहीं, सब खाली-खाली है। पास ही, अन्दरवाले कमरे में जो सो रहे हैं, क्या अब भी वहीं उसकी आँखें टिकी हैं?

बीड़ी के बुझते ही, सब कुछ अन्धकार में डूब गया। कहीं कुछ नहीं दीखा। कहीं कोई आवाज नहीं। किसी सवाल का कोई जवाब नहीं। बस, अँधेरा ही अँधेरा।

शायद मैं भी कुछ देर के लिए सो गया था। लगा, कहीं दूर से कुछ सुनाई पड़ रहा है और फिर कानों के पास बज रहा है। अचानक आँखें खुल गयीं। कुछ ही क्षणों में, सारा अपरिचित-सा परिवेश, अचानक पहचाना-सा लगने लगा। बाहर अँधेरा न था लेकिन कमरे में अब भी हलकी-सी छाया तैर रही थी। फोंचा भी नजर नहीं आया और न उसकी टाट ही। दूर से जो आवाज कानों में पड़ रही थी, वह गाजी की गुनगुनाहट थी। वह दरवाजे के पास ही, अपना मुँह बाहर की तरफ किये बैठा था और अपने दायें हाथ की मुट्ठी में दाढ़ी को जकड़कर गुनगुना रहा था—

"ओ दीनों के रखवाले, बताते क्यों नहीं?
अगर तुम मन्दिर में ही रहते हो—
तो यह संसार किसका घर है?

कोई कहता पूरब में हो तुम, नाम तुम्हारा राम
कोई कहता अली हो तुम, पच्छिम तेरा धाम
तो फिर सूना क्यों है अन्तर...
तुम कहीं नहीं रहते, ओ दीनों के रखवाले ?
कोई न जाने, तुम तो मन में ही बसनेवाले ।"

गाज़ी कल से ही, अपने पदों में वही बातें दुहरा रहा है कि उसकी कोई जात नही, ईश्वर नहीं, ख़ुदा नहीं। 'मन का मानुष' ही सब कुछ है—एकमेव अद्वितीय। जो कभी मुरशेद है तो कभी दीनों का रखवाला। इस धर्म को क्या नाम दिया जाये भला ! कौन है वह 'मन का मानुष' ?

वह अचानक ही रुक गया और मेरी तरफ़ देखकर पूछ बैठा, "बाबू ! आप जग चुके क्या ?"

उसकी बात का कोई उत्तर न देकर मैंने मच्छरदानी से अपना सिर बाहर निकाला। गाज़ी ने कहा, "जय मुरशेद ! थोड़ी देर तक और सो सकते थे बाबू ! अभी कोई सुबह थोड़े न उतरी है।"

"वैसे देर भी नहीं है। देखते-ही-देखते धूप निकल आयेगी।"

"अब यह तो नही पूछूँगा बाबू कि रात नींद कैसी आयी ? एक तो नयी-नयी जगह, उस पर ढपली-राग।"

मैं समझ न पाया यह 'ढपली-राग' क्या है ? हैरान होकर मैंने पूछा था कि यह क्या बला है भला ?

गाज़ी ने कहा, "ढपली-राग की महफ़िल नही जानते बाबू ! मैं अपने अनन्त बाबू और दुलि महारानी की बात कह रहा था।"

मैं इस लफ़ड़े में पड़ना नही चाहता था इसलिए मैंने उसे रोक दिया, "महमूद गाज़ी !"

गाज़ी ने काफ़ी देर के बाद अपनी झुकी हुई गरदन ऊपर उठायी और जैसे गद्‌गद होकर बोला, "अरे, बाबू को तो अब तक मेरा नाम भी याद है। हाँ तो क्या कह रहे थे बाबू ?"

यह मेरी स्मरण-शक्ति की प्रशंसा नहीं थी। यह नाम मैंने कल ही तो सुना था। दरअसल यह गाज़ी की विनम्रता थी कि ऐसे छोटे-मोटे नाम को कौन याद रखता है भला !

"तुम्हारा धर्म क्या है ?" मैंने उससे पूछा।

गाज़ी ने अपनी भौंह मटकायी। उसकी आँखों से कोई सवाल झाँक रहा था। लेकिन उसकी दाढ़ी की एक-एक फतोइयाँ मुसकरा रही थीं। बोला,

"यह अब क्या पूछ रहे हैं ? किस धर्म की बात कर रहे हैं बाबू ?"

"तुम्हारे धर्म की। तुम्हारे पदों को सुनकर तो कुछ भी समझ नहीं पाता।"

"क्यों? मैंने ऐसा तो कुछ नहीं कहा।" गाजी की मुसकान में अब भी कोई रहस्य था।

"नहीं। मैं कुछ समझ नहीं पाया।"

"अब अपने पदों में भी नहीं समझा पाया तो फिर कैसे समझाऊँगा बाबू? धरम या धरम का मरम जो भी कह लीजिए, बस ये पद ही तो हैं।"

सच ही तो है! यह तो उस कवि की ही साखी है न कि लिख-लिखकर जो समझा न पाया, उसे मुँह से कैसे समझाया जाये? डालियों से उमगकर, पत्तियों को उरेहकर और सुगन्ध बिखेर यदि अपना परिचय नहीं दे पाया तो फिर कैसे बता पाऊँगा भला कि मैं कौन-सा फूल हूँ, मेरा नाम क्या है?

मेरा सवाल अब भी वहीं लटककर रह गया था। इस अबूझ को समझाने का बीड़ा कौन उठायेगा? इसलिए मैंने फिर पूछा, "न तो तुम्हारे राम हैं न अली!"

गाजी आँखों को डुलाता हुआ जैसे अब भी कोई मजाक़ कर रहा था :

"हाँ बाबू! न राम हैं, न अली। काशी, गया, मक्का-मदीना—कुछ भी नहीं।"

"तो फिर क्या है? कौन है?"

हाथ खोलकर अपनी तर्जनी को सीने पर घुमाते हुए वह बोला, "बस, बाबू! यही घर है।"

घर किसको कहते हैं? शरीर को या प्राण को? गाजी मेरे पास और खिसक आया जैसे गुपचुप कोई राज की बात बताना चाहता हो : "वह क्या कहते हैं न बाबू, 'यही घड़ी है रे पगले, मन के मानुष की पहचान और भजन कर।' वह रसिया जब चला जायेगा, तब पड़ा रहेगा खाली घर। इसी घर में तो सब कुछ है बाबू!"

यह शायद मौत की बात कर रहा था या किसी और की? कौन है वह रसिया? किसका भजन किया जाये? कैसा है उसका रंग-रूप? क्या सब कुछ कल्पना ही है! यह शरीर, सिर्फ़ शरीर ही नहीं, इसे घर भी कहा जा रहा है। मैंने पूछा, "बस, और कुछ नहीं?"

अपने सीने पर दोनों हाथ रखकर उसने अपनी अधखुली आँखों से देखते हुए कहा, "है बाबू, दुखियों के रखनेवाले मुरशेद।"

"यह मुरशेद कौन हैं?"

"वह गुरु हैं; गुरु ही सत्य हैं, मुरशेद सत्य हैं।"

बड़ा कठिन था इन बातों को समझना। गुरु का नाम लेकर चलना ही धर्म

है क्या ? इनके पास और कुछ नहीं। गाज़ी के पद का मुखड़ा याद आ गया :
"इस दुनिया में आकर भी मैं मन-मुरशेद न जान पाया..."

"तुम लोगों के लिए गुरु ही सब कुछ है ?"

गाज़ी ने सिर हिलाकर कहा, "एकदम। गुरु के अलावा और है भी क्या बाबू ? वही तो सारे रास्ते दिखानेवाले हैं।"

"कौन-से रास्ते ?"

"इस मन के मानुष की पहचान के रास्ते।"

"मन के मानुष की पहचान....?"

"हाँ। यहाँ भी उसी रसिया की ही बातें हो रही हैं।"

"यह रसिया कौन है ?"

"अरे बाबू, वही तो—जो अधर है, पकड़ में नहीं आनेवाला।"

लगा, अँधेरे में तीर चलाये जा रहे हैं। अन्धे के हाथ बटेर लगी हो जैसे ! ओर-छोर का पता ही न था। मैं गाज़ी का मुँह ताक रहा था—उसके शिकन-भरे चेहरे पर भावों का मेला लगा हुआ था। दरपन-सी आँखों में रंगीन सपने उतरा रहे थे।

"वह रहता कहाँ है ?" मैंने पूछा।

"बाबू, न तो वह मन्दिर में है न मस्जिद में, और न आसमान में।" और फिर अपनी तर्जनी को सीने पर घुमाता हुआ बोला, "वह है इसी घर में—इसी घट में।"

"कैसा है देखने में ?" मैं अब भी अबूझ बना था।

"उसका कोई रूप नहीं। निराकार है वह।"

फिर वही गोल-मोल बातें ! रहस्य का जाल फैलानेवाली। मैं लगभग निराश होकर बोला, "मैं ठीक से नहीं समझ पाया।"

"मैं भी कहाँ समझ पाया हूँ बाबू ? उसे पकड़ पाता तो उसे 'अधर' ही क्यों बताता भला ?" गाज़ी ने जवाब दिया।

"क्यों, पकड़ा क्यों नहीं जाता ?"

"...जाता होगा बाबू। वरना यह साधन-भजन किस लिए है ? लेकिन यह बड़ा ही मुश्किल काम है बाबू ! हर कोई नहीं पकड़ पाता।"

"तो फिर कैसे पकड़ा जाता है ? कोई तन्त्र-मन्त्र होगा ?"

"नहीं बाबू। तन्त्र नहीं, मन्त्र नहीं; जप नहीं, तप नहीं।"

फिर उसी रहस्य का ताना-बाना। हो सकता है, गाज़ी बताने को राज़ी न हो। या फिर बताने-जैसी कोई बात ही नहीं। शायद इसीलिए इतनी पहेलियाँ बुझायी जा रही थीं। मैंने कहा :

"तुम लोग तो जात-पात नहीं मानते !"

"नहीं ! बिलकुल नहीं ।"

"तो फिर तुम्हें निरामिष भोजन भी नही करना चाहिए था ?"

गाजी को हँसी आ गयी । बोला, "अरे बाबू, खाने-पीने की कोई मनाही नही । यहाँ तक कि मांस-मछली और शराब तक को हराम नहीं माना गया ।"

बड़ी अजीब बात थी ! मांस और शराब की मनाही नहीं । उधर गाजी को मैंने निरामिष भोजन खाते देखा था । मेरे कुछ कहने के पहले ही गाजी फिर बोल उठा, "मेरी बात दूसरी है । मैं मांस-मछली खा नहीं पाता, बाबू । अब आप साई या दरवेश, चाहे कुछ भी कह लीजिए । इनको किसी चीज की मनाही नही । चाहे जो खा लें, जहाँ खा लें ।"

गाजी ने जितना कुछ बताया, वह सब मेरी समझ में नहीं आया । भारतवर्ष में एक ही नहीं, ऐसे कई सम्प्रदाय होंगे । इसकी भी आशा न थी कि वह सब कुछ मेरी समझ में आ ही जायेगा । एक बार तो ऐसा लगा कि वह निरीश्वर की बातें कर रहा है । फिर ऐसा प्रतीत हुआ, शायद रहस्यवादी हो । लेकिन इस झमेले में न पड़कर गाजी के धर्म में, मनुष्य चाहे जैसा भी हो, वह हर चीज में है । धर्म की बात न कर अच्छा है, उसके गान ही सुनें ।

मैं उठकर खड़ा हो ही रहा था कि उसने कहा, "बाबू, अच्छा यह तो बताइए, इस संसार में सबसे बड़ा कौन है ?"

उसके लिए तो वही रसिया—वह 'मन का मानुष' ही रहा होगा । मैं यह जानता हुआ भी चुपचाप रहा । गाजी ने कहना शुरू किया : " 'मनुष्य' । सबसे बड़ा है मनुष्य । है कि नहीं बाबू ? और इस मनुष्य के दो हिस्से हैं—नर और नारी । मर्द और औरत । ठीक है न ?"

इतने लोगों को देख-सुनकर जिसकी साध न मिटी हो, वह किस प्रकार बोले 'नही' । मैंने कभी इस बात के लिए गर्व नहीं किया कि मनुष्यों से परे या अलग होकर जीवन बिताया जा सकता है । इसी तरह अपने को परे रखकर और सारी चीजों को कैसे सहेजा जा सकता है ? उधर गाजी को मेरे उत्तर की अपेक्षा भी न थी । वह अपनी बात अपने ढंग से कहता रहा :

"तो फिर ऐसा है बाबू, दूसरों को भी बिना इन दोनों के कुछ नहीं मिलता । यही तो उस 'अधर' की बात है, उसे अकेले नहीं पकड़ा जा सकता । जिस तरह गृहस्थी चलाने के लिए स्त्री-पुरुष का होना जरूरी है, 'मन के मानुष' के लिए भी दोनों में तालमेल होना जरूरी है । समझे आप ?"

मैंने भँवें ऊँची कर गाजी की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा । वह मुझे किधर लिये जा रहा था—क्या कहना चाहता था ? लगा, दूर से किसी के क़दमों की

आहट सुनाई पड़ी हो। यकायक वह आहट कभी सामने आकर खड़ी हो जायेगी, ऐसा नहीं है। बस, उसकी बातें हो रही हैं। उसकी एक साधना-पद्धति के बारे में।

"तो असल में यह वैसा ही है, जैसे घर-गिरस्ती में मियाँ-बीवी। और यहाँ है वही—पुरुष-पिकिति, समझे ?" गाजी खुलासा कर रहा था।

पिकिति अर्थात् प्रकृति। मैं यहाँ तक समझ गया। इस अधर को साधने की साधना क्या है, साधन क्या है, इस बारे में भी थोड़ा-बहुत जान पाया।

गाजी कहता रहा: "मियाँ-बीवी तो सीधे चले चलते हैं। पुरुष-पिकिति ऊपर चलते हैं। यह बड़ा मुश्किल है बाबू, ऊपर जाना। इसमें ब्रह्मचर्य की जरूरत पड़ती है।" कहते हुए उसने दाढ़ी फटकार दी और फिर आँखें मूँदकर हँसने लगा। मेरा अनुमान बहुत गलत नहीं था। ऐसा नहीं कि इस बारे में मैंने कुछ सुना न था। लेकिन इसका धर्म और मर्म क्या है, मैं नहीं जानता ? गाजी के सम्पर्क में आकर अचानक फिर मेरे मन में कौतूहल उठ खड़ा हुआ। कल की सुबह, अधर माँझी की पुकार के साथ, नौका में हम साथ ही बैठे थे, और तब से लेकर अब तक हम संग थे। यह भी पता चल गया कि बशीरहाट बस्ती के पास ही वह कहीं रहता है। कन्धे पर झोली लटकाये, गान सुना-सुनाकर वह नाम की मजूरी करता फिरता है। उसकी इस बात से मुझे कुछ अजीब-सा लगा। इसी-लिए मैंने पूछा, "तुम्हारी भी कोई पिकिति होगी ?"

गाजी पहले तो थोड़ी देर के लिए एकदम ठिठक-सा गया फिर हो-हो-हो हँसने लगा। उसकी हँसी रुक ही नहीं रही थी। क्या बात हुई ? वह पागल तो नहीं हो गया ? उसकी हँसी कुछ देर बाद थमी तो मैंने देखा गाजी का चेहरा ही बदल गया है। अब वह पहलेवाला गाजी नहीं। कोई अल्हड़ किशोर हो और बुरी तरह शरमाकर झेंप रहा हो। उसने अपना सिर झुकाकर उत्तर दिया, "अब आप जो भी कह लीजिए, एक है।"

उसके इस प्रकार झेंप जाने से मैं इतना तो समझ ही गया था कि कोई-न-कोई 'पिकिति' तो होगी ही। और इसमें किसी साधक के इस तरह शरमाने की कोई जरूरत भी नहीं थी। मैंने कहा :

"शादी की होगी ?"

"तौबा-तौबा, गाजी और दरवेशों के लिए शादी ? नहीं बाबू, नहीं। इस दुनिया में कौन किसकी पत्नी और किसका कौन स्वामी ?"

इस तरह यदि सब पुरुष और प्रकृति ही हैं, तो यह 'पिकिति' आती है कहाँ से ? उसे क्या मुरशिद भेज देते हैं ? मैंने मुझे यह सब पूछना नहीं पड़ा। गाजी ने खुद ही बताया : "यह सब कुछ पता न था बाबू ! वक्त के साथ ही हर चीज

मिलती चली जाती है। हालांकि मैंने कभी भी वक़्त-बेवक्त की परवा नहीं की। बस, मैं था और मेरी यह झोली! इसी तरह अकेले ही घूमते-घामते, यही कोई दस-ग्यारह साल पहले, हाड़ोया के मेले में पहुँच गया। वहां पहुँचा ही था कि तमाशा हो गया। आप हाड़ोया के मेले के बारे में तो जानते ही होंगे बाबू ?"

मैंने इनकार में सिर हिला दिया।

गाजी ने आँखें फैलाते हुए कहा, "वहाँ बड़ा भारी मेला लगता है बाबू ! हर साल फागुन महीने की बारह तारीख को—पीर गोराचाँद का मेला।"

पीर, उसपर यह गोराचांद ? मैं इन दोनों में तालमेल न बिठा पाया। पीर की दरगाह पर हिन्दू लोग चढ़ावा चढ़ाते हैं या मुसलमान किसी गोरा का सजदा उतारते हैं, यह जानना सचमुच बड़ा कठिन था। इनमें अन्तर कर पाना और भी मुश्किल ! नामों का बड़ा चक्कर रहता है। किसी एक का नाम था, दुलाल अली ! यह किसी मूर्ति का नहीं, आदमी का—जिसमें दुलाल भी है और अली भी—दोनों हाज़िर। खैर। मैंने पूछा, "वह कौन थे ?"

"एक बहुत बड़े साधक थे। वहीं उनका अखाड़ा था। हिन्दू-मुसलमान सभी उनके बन्दे। और हाड़ोया तो एक बहुत बड़ा क़स्बा है बाबू, विद्याधरी नदी के कछार के किनारे। बेड़ाचांपा से दक्खिन की तरफ जाना पड़ता है। उधर कभी जाना हो तो जरूर दर्शन कीजिएगा।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उधर जाना हुआ तो जरूर देखूंगा। और गाजी ने उस मेले के बारे में जितना बढ़ा-चढ़ाकर बताया था, उससे लगा कि सारा ब्रह्माण्ड उसमें समा गया होगा। देखने की इच्छा भला क्यों न जगे ?

गाजी कुछ देर तक दरवाजे के पास, चौखटे पर कुछ काटता-मिटाता रहा। फिर बोला, "हाँ तो ग्यारह साल पहले घटी उसी घटना के बारे में कह रहा था, बाबू ! उसी साल, हाड़ोया के मेले में इससे मेरी मुलाक़ात हुई थी।"

"किससे ? पिकिति से ?" मैंने जानना चाहा।

गाजी ने गरदन हिलाते हुए कहा, "हाँ"। हालांकि उसकी लाज अब तक नहीं मिटी थी। मुझमें सारा वृतान्त जान लेने की जिज्ञासा जग उठी थी। मैंने पूछा "कैसे ?"

गाजी की तन्द्रा मानो भंग हो गयी। बोला, "अब क्या कहा जाये कैसे ? हर साल की तरह उस बार भी वहाँ पहुँचा था। सुबह का वक़्त। दरगाह पर बताशा लुटाया गया था। कुछेक बताशे लपककर मैं इधर-उधर घूमता रहा। फिर सोचा, इस तरह कब तक डोलता फिरूँ ? कहीं जमकर बैठ जाऊँ और गान शुरू करूँ। दो-चार पैसे मिल गये तो शाम को दाल-चावल का भोग लगाऊँगा। इसलिए दरगाह के पासवाले चबूतरे पर बैठकर ही अपनी डफली बजाने लगा।

वहाँ उसी बरगद की छाया तले, मैं ढपली और घुंघरू की ताल के साथ गाने में मगन हो गया। लोगों को भी अच्छा ही लगा होगा, इसलिए दाल-चावल के साथ पैसे भी मिले। पास ही कोई दल बैठा था। आस-पास के ही लोग उसमें रहे होंगे। लोगों की भीड़ का क्या कहना? खैर, इसी दल में कुछ ऐसे भी थे, जो बिलकुल मेरे पास आकर गान सुन रहे थे। दल के साथ एक लड़की भी थी, पचीसेक साल की रही होगी। देह पर बिना किनारी की पीली साड़ी, कपाल पर बिन्दी और कन्धे पर फैले हुए बाल। उसे देखकर ऐसा लगा बाबू कि मेरे गान में सबसे ज्यादा वही रस ले रही है। वरना वह मेरे इतने नजदीक क्यों खिसक आती? जितनी बार आँखें उठाता नजर उसी से टकरा जाती। उसने एक बार आँखें मटकाते हुए कहा: 'हाय! बाबाजी का गान सुनकर तो ऐसा लगता है कि कहीं प्राण ही न निकल जायें'।"

"उसकी इस बात को सुनकर उसके आस-पास बैठे दल के दूसरे लोगों को बड़ा बुरा लगा होगा, तभी तो उनके चेहरे तमतमा गये थे। लेकिन उस पगली को इन सब बातों की रत्ती-सी भी परवाह ही नहीं थी। गान सुनने के साथ-साथ उसकी उतावली भी बढ़ती चली जाती थी। अब यह गाजी क्या करे? इसका तो सारा कारोबार इन्हीं गानों को लेकर था। जो सुनना चाहे, उसे सुनाये बिना करे भी तो क्या? है कि नहीं बाबू?"

"अब उस पगली की भी सनक देखिए! उसके दल के सारे लोग जब खिचड़ी खाने बैठे तो उसने केले के पत्ते में ढेर-सी खिचड़ी लाकर मेरे सामने रख दी। मैं तो बुरी तरह झेंप गया। बिना खाये रह भी नहीं सकता था। हेठी हो जाती। और इसमें गाजी का क्या आता-जाता है! आज मौत, कल फौत। दूसरे दिन, भोर होते ही वह चली जायेगी। फिर कौन कहाँ है, किसको पता? इसी तरह मन को समझाकर खिचड़ी खा गया। लेकिन एक बात है, पगली का दिल तो बहुत अच्छा निकला बाबू! उसका अन्तर्मन भी एकदम ताजा था। बस मिजाज ही कुछ चिड़चिड़ा-सा था।"

"और देखने में कैसी थी?" मैं अब बिना पूछे रह न पाया।

गाजी फिर हँसने लगा और हँसता-हँसता बोला, "बाबू ने खूब सवाल किया। तो बाबू, है तो वह काली। लेकिन इससे वह बुरी नहीं हो गयी। अब सभी लड़कियाँ तो गोरी-चिट्टी नहीं होतीं! वह काफी हृष्ट-पुष्ट, चुस्त-चौकस लगी। रंग भले ही काला हो, लेकिन उसमें भी चमक थी। और ऐसे सलोने चेहरे पर बड़ी-सी लाल बिन्दी तो बहुत ही फबती है।"

"जो भी हो बाबू, मैंने इन सब बातों पर ध्यान नहीं दिया। इधर जैसे-जैसे शाम ढलती जा रही थी, भीड़ भी गहराती चली गयी। रात-भर का मेला!

जगह-जगह पर गान, ढोल-ढप, यात्रा, जादू और सरकस। अब इन सारी चीजों से अपने को क्या लेना-देना ? बस, यही जो थोड़ा-बहुत घूम-फिर लिया, बहुत है। सोचा, हाथ-मुँह धोकर थोड़ी देर के लिए नदी किनारे जा बैठूं। फिर घूमना हुआ तो घूम लूँगा। नदी का पानी खारा था, इसलिए उससे हाथ-मुँह धोना तो सम्भव न था। दरगाह के पास ही चाँपाकल था। हाथ-मुँह धोकर नदी किनारे जाने के पहले मैं फिर उस दल के सामने जाकर खड़ा हो गया। शायद उससे मुलाकात हो जाये। जिसने इतने गान सुने और खुश होकर भरपेट खाना खिलाया, उससे फिर कभी भेंट हो या न हो। इसलिए भी मिल लेना ठीक लगा। लेकिन उस दल में उसे नहीं देख पाया। मैं धीरे-धीरे विद्याधरी के किनारे आ गया। यहाँ भी खासी भीड़ जमा थी। वहीं किसी एकान्त स्थान की तलाश में मैं पैदल चलता-चलता एक निर्जन स्थान पर जाकर बैठ गया।"

"आसमान पर चाँद खिल चुका था। हलकी-सी चाँदनी फैली हुई थी। आस-पास केवड़े की जंगली झाड़ियाँ थीं। यह गाजी भी उधर ही बैठा हुआ कुछ निहार रहा था। नदी के बीचोंबीच टीयरा-सा था। इसी समय किसी ने पीछे से आकर पुकारा : 'अरे क्या हुआ साईं बाबा, परेशान होकर यहाँ क्यों बैठे हुए हो ?' इस गाजी ने देखा—अरे, यह तो वही सजीनी पगली है। बोला, 'नहीं, परेशान क्यों होने लगा ? सारे दिन लोगों के बीच पड़ा रहा। अब जाकर खुली हवा मिली है।' कुछ और कहता, इसके पहले ही वह एकदम पास आकर बैठ गयी और बोली, 'कहीं मेरी वजह से परेशान होकर तो नहीं भाग आये ?' मेरे पास तब हँसने के सिवा चारा भी क्या था ? हँसते-हँसते बोला, 'अरे, तुम्हारे डर से कौन भागेगा भला ? तुम्हारे साथ तो अपना भी जी जुड़ा गया था'।"

"वह बोली, 'कहाँ, साईं को देखकर तो ऐसा जरा-सा भी नहीं लगता। ऐसा होता तो अपने पास बुलाते। साथ बैठने कहते और नाम-गाम पूछने को जी करता। है न ...?'

"हाँ, अब झूठ क्या कहूँ ? उस समय मेरा दिल अजीब तरह से धड़क रहा था। कहीं कुछ टीस रहा था। गहरी उसाँसें भरकर मैंने उससे पूछा, 'नाम क्या है ?'

उसने बताया—'तारा।'

मैंने उससे हलका-सा मजाक किया, 'कौन-सा तारा ? आँखों का या आसमानी तारा ?'

वह बोली, 'जिसको जैसा दीखे। साईंजी को कैसा दीख रहा है ?'

'साईं नहीं, लोग मुझे गाजी कहकर पुकारते हैं।'

'तो गाजी ही सही ! गाजी को कैसा दीखता है ?' फिर वही सवाल।"

'अब बाबू, आप ही बताइए, ऐसी बातों से मनुष्य का मन या 'मन का मानुष' हैरान हो या नहीं ?'

मेरी भी तब यही दशा हो गयी थी बाबू। उसाँस भरते हुए मैंने उससे कहा, 'मुझे तो तुम आसमानी तारा लगती हो।'

'कैसे ?'

'जिसे आँख उठाकर देखा तो जा सकता है, हाथ बढ़ाकर थामा नहीं जा सकता।'

तारा खिल-खिलाकर हँस पड़ी। मुझे लगा, जैसे विद्याधरी में ज्वार आ गया हो।

'और नयन का तारा ?' तारा ने फिर पूछा।

'वह तो साथ-साथ ही रहता-बसता है, अपने में ही।'

तारा कुछ देर चुप बैठी रही। फिर बोली, 'अगर तुम साथ ले लो तो रह सकती हूँ।'

अब बाबू को क्या बतायें! मुझे लगा, मेरे अन्दर में कोई सागर उमड़ पड़ा हो। शायद यह भी मुरशेद की ही लीला हो, जिसने अधर को पकड़ने का फन्दा मेरे हाथ में थमा दिया। मैंने पूछा, 'तुम्हारे साथ के लोग-बाग क्या कहेंगे !'

'क्या कहेंगे ? मैं किसी की दासी नहीं। किसी को कुछ नहीं बताऊँगी।' वह जैसे तैयार ही थी।

तब मैंने उसे नयनतारा नाम से पुकारते हुए कहा, 'तो फिर ऐसा है नयनतारा, मैं तुम्हें साथ लेकर उस 'मन के मानुष' को भजूँगा।'

'जो तुम्हारे मन का मानुष है, वही मेरा भी इष्ट है।'

'तो फिर चलोगी कब ?'

'आज ही, एकदम अभी'—वह बोली।

'तुम्हारा सामान वगैरह ?'

'कुछ नहीं लेना।'

अब बाबू को क्या बतायें! वह उस समुद्री ज्वार की तरह उमड़ी चली आयी थी, जो पीछे मुड़कर नहीं देखती। यही उसका स्वभाव है।

'तो, ऐसे ही सही। नयनतारा तैयार है तो सब ठीक है। अब यहीं से सीधे पैदल निकल जाना चाहिए'।"

इतना कहकर गाजी चुप हो गया। मैंने अपनी भौंहों को चढ़ाकर होंठ दबाते हुए कहा, "अरे वाह गाजी, इसे ही कहते हैं, 'प्रकृति-प्राप्ति'।"

मैं सचमुच ही अन्यमनस्क-सा हो गया। गला सूख चला था। मैं थोड़ी देर तक कुछ न बोल पाया। बस, मन-ही-मन गाजी को शाबाशी दे रहा था। गाजी की आँखें नीची थीं। मुझे भय था, अपने काले-काले नाखून से वह कहीं चौखट ही न उखाड़ फेंके।

अब इसे क्या कहा जाता? जैसा कि उसने बताया कि वे अब साधक नहीं रहे। तो फिर इसे हरण कहा जाये? प्रकृति हरण! ऐसा भी सम्भव है क्या? या फिर यह तुम-जैसे वीर्यवानों की वीरभोग्या वसुन्धरा है! इसका नाम ब्याह नहीं, शादी या निकाह नहीं, हरण नहीं, भोग नहीं। इसका नाम है—प्रकृति-प्राप्ति, जो मुरशेद से मिलाती है। जय मुरशेद! इसे घर-गिरस्ती नहीं कहते, 'मन के मानुष' का भजन कहते हैं।

इतनी देर बाद मेरी शंका का समाधान हुआ। मैं सोच रहा था कि गाजी हर जगह और इतनी जल्दी जुगलबन्दी कैसे कर लेता है, ताल से ताल मिलाकर। उधर लाउंज पर माँ-बेटी को सँभालता रहा। इधर अँगूरी-महतो और दुलि-अनन्त ही नहीं, नारायण ठाकुर और फोंचा की बहू के बीच चलनेवाले अन्तरंग सम्बन्धों के साथ भी दाढ़ी हिला-हिलाकर ताल देता रहा था। यह सब सिर्फ़ मुरशेद का ही कमाल न था। मुरशेद को बीच में ले आने का सारा लीला-माहात्म्य इस मतवाले के चलते ही था। मैं उसकी बातें सुनकर और उसके चेहरे पर उभरनेवाले भाव से समझ ही गया था—यह गाजी बड़ा पाजी है। वरना ऐसा भी होता है क्या? जो काले चेहरे से मेल खाते लाल टीके की शोभा देख चुका है, वह जुगलबन्दी में किसी तरह की ग़लती कर भी कैसे सकता है? और अब यह बदतमीज और बेशरम गाजी खुद कैसे शरम से लाल होता जा रहा है। सिर तक नहीं उठा पा रहा।

"तो फिर वहीं से पैदल चल पड़े होंगे?" मैंने पूछा।

गाजी ने गरदन टेढ़ी की। फिर बोला, "हाँ, मुरशेद का नाम लेकर।"

यह तो जानी हुई बात थी। बिना मुरशेद का नाम लिये पाँवों में ताक़त कहाँ से आती? मैंने कहा, "तो नयनतारा सारा कुछ छोड़कर चल पड़ी। साथ कुछ भी नहीं लिया?"

गाजी ने अपनी झोली दिखाते हुए कहा, "साथ ले जाने को था ही क्या बाबू? इसी तरह की एक झोली!"

"हो सकता है। आखिर कुछ कपड़े-लत्ते तो चाहिए थे। बस, एक ही साड़ी में निकल पड़ी!"

"इसी को तो ज्वार कहते हैं बाबू !"

लेकिन इस क़िस्से को ख़त्म करने के साथ ही वह चुप कहाँ होनेवाला ? वह फिर बताने लगा, "उसके दल के लोगों के बारे में सोचकर मेरे मन में भय समाया हुआ था। क्या पता, मेले में हमें साथ पाकर अगर कोई झगड़ा-फ़साद उठ खड़ा हो तो खामख़ाह शोर-शराबा मच उठेगा। सब यही कहेंगे, महमूद गाज़ी लड़कियों को लूटता फिरता है। मैंने यह बात नयनतारा को बतायी ही थी कि वह साँप की तरह फन उठाकर तुरत फुफकार उठी। उसकी उस मूर्ति के बारे में क्या बताऊँ बाबू ? आँखों में आग, चेहरे पर आग; वहाँ नयनतारा न थी, सिर्फ़ आग धधक रही थी।"

गाज़ी कुछ इस तरह बोल रहा था, जैसे उसकी आवाज़ और उसकी भंगिमा उसी आग में डूबी हो। उस अग्नि-मूर्ति से सुन्दर और कोई चीज़ त्रिभुवन में नहीं। ऐसी आग में जल-मरने में भी पता नहीं, कितना सुख है। वह बताता रहा, "नयनतारा ने होठों को टेढ़ा कर अपनी लाल बिन्दी को कँपाते हुए कहा, 'हिस्स....स, क्यों ? मैं क्या किसी की ख़रीदी हुई बाँदी हूँ कि कोई टंटा-फ़साद होगा। किसी की देवदासी या रखैल नहीं। कोई सामने आकर कुछ कहे तो सही, उसका मुँह झुलस दूँगी।' अब इसके बाद इस गाज़ी के मन में भय कैसा ? ऐसा महसूस हुआ कि अगर मेले में इकट्ठी सारी भीड़ हमारा रास्ता रोकना चाहती तो नयनतारा को रोक न पाती। बाबू ! सच कहता हूँ, मैंने ऐसी लड़की अपनी ज़िन्दगी में अब तक नहीं देखी।"

गाज़ी के मुँह से लड़की सम्बोधन उचित नहीं लगता। उसे 'चिकिति' कहना चाहिए था। लेकिन उसमें उसका भी दोष नहीं था। उसने बताया, "हम दोनों सारी रात चलते रहे और बशीरहाट पहुँचे।"

"सारी रात ?"

"हाँ बाबू ! कोई नज़दीक थोड़े न था। बीस-पचीस मील तो होगा ही।"

"इतनी दूर पैदल निकल गये ! परेशानी नहीं हुई ?"

"हमें पैदल चलने में क्या परेशानी होगी बाबू ? अब तक चल ही रहा हूँ," गाज़ी ने मुसकराते हुए कहा, "और हमारी चाल भी कैसी थी बाबू ! एकदम समुद्री ज्वार की तरह। थोड़ी-बहुत चाँदनी छिटकी थी। हम दोनों सड़क छोड़कर खेत के रास्ते से चल पड़े थे। कोई बरसात का समय तो था नहीं।"

मेरी आँखों के सामने अंगरखा पहने, काँधे पर झोली लटकाये और तेज़ी से लपकते जा रहे उस आदमी की तसवीर उभर आयी जिसकी मूँछ-दाढ़ी हवा में लहरा रही है। उसके साथ-साथ एक युवती भी चली जा रही है। उसके साँवले चेहरे पर ग़ज़ब की चमक, माथे पर बड़ा-सा गोल टीका, बिना किनारी की गेरुआ

साड़ी, खुले बाल और कांधे पर बादल की तरह लहराते बाल हैं। फीकी-सी चाँदनी में दोनों खेतों के मेड़ों पर आगे-पीछे चले जा रहे हैं। सूर्योदय के पहले वे एक दूसरे के चेहरों को अच्छी तरह देख भी नहीं पायेंगे। उषा के आगमन के साथ ही पुरुष और प्रकृति का परस्पर परिचय हुआ होगा। और फिर दोनों एक दूसरे की आँखों में झाँककर बातें करते रहे होंगे।

इस बीच अगर नारायण ठाकुर प्रकट नहीं हुए होते तो न जाने, इस बारे में और भी क्या-क्या बातें होतीं ? गाजी का चेहरा अब भी लाज से लाल था। नारायण ने आते ही पूछा :

"नींद तो ठीक-ठाक आयी ?"

"हाँ, एक तरह से ठीक ही आयी", उत्तर देता हुआ मैं हड़बड़ाकर उठ गया। बाहर काफ़ी धूप निकल आयी थी।

"दुलि महारानी कहाँ भाग गयी ठाकुर महाशय ?" गाजी ने पूछ ही लिया।

नारायण का तेवर ही बदल गया हो जैसे—"जिस चूल्हे में जाना था, उसी चूल्हे में गयी। तुम्हें पता चल गया था क्या ?"

"क्यों, आप लोगों को पता नहीं चला ?" गाजी ने सवाल लौटाते हुए पूछा।

"पता कैसे नहीं चलता ! वह भी मुझे ! पहले तो वह घर के पिछवाड़े ही नाम लेकर पुकारता रहा।"

"फिर आपने जवाब क्यों नहीं दिया ?" गाज़ी ने पूछा।

नारायण ने अपना अँगूठा दिखाकर कहा, "जवाब देकर क्या होता ? अपनी ही बदनामी होती—और क्या ? बात यही है : नंगे को ही लाज नहीं तो देखने-वालों को लाज कैसी ? यह कोई नयी बात नहीं। इसे लेकर तीन हो गये।"

"इसीलिए...जय मुरशेद !" गाजी कुछ आगे कहना चाहता था कि ठाकुर ने मुझसे पूछा, "बाबू, आपको कुछ पता चला था ?"

गाजी ने बड़ी सहजता से बताया, "अरे बाबू के नजदीक से ही निकल भागी। उस समय तो हम जगे हुए ही थे।"

इस बात से नारायण ठाकुर कुछ आहत होकर बोले, "न्न...अब उन लोगों को आने न दूँगा। 'दादा-दादा' कहकर आयेगी और बेवकूफ़ बनाकर चली जायेगी। कहते हैं न, भले लोगों का जमाना नहीं; लकड़ी से खेलेंगे तो आग और अंगारे निकलेंगे—और क्या ? फिर हमारा क्या जाता-आता है ?"

यह बात भी वहीं रह गयी। मैंने देखा, फोंचा की बहू चाय का गिलास लेकर दाखिल हुई। उसके एक हाथ में बच्चा भी था।

गाजी ने भी तुरत एक गिलास चाय की इच्छा प्रकट की। ठाकुर एक बार

फिर चिड़चिड़ा उठे, "मिलेगी, पहले अपना गिलास तो बाहर निकालो।"

"निकाला हुआ है।" कहकर उसने अपनी झोली से अल्यूमिनियम का गिलास निकाला और उसे उंगलियों से ताल देता हुआ बजाने लगा। फोंचा की बहू की मुसकान फैल गयी। फोंचा ने बरामदे पर पानी ला रखा था। ठाकुर ने गाजी से कहा, "चाय पीने के बाद बाबू को थोड़ी देर के लिए मैदान घुमा देना।"

मैं उसकी बात का आशय समझ गया। चाय के बाद मैदान। वहाँ से निपटकर आने के बाद मैंने जाने के बारे में पूछ-ताछ की। गाजी जहाज घाट जाकर रास्तों का पता लगा आया और बस-मोटर और साथ ही, लाउंज के बारे में भी। पता चला कि बसों के आने-जाने के समय में हेर-फेर होता रहता है। बसें चलती तो रहती हैं। रास्ते खुले हुए हैं। लाउंज भी गोसाबा से लगभग साढ़े नौ बजे आ पहुँचेगी। वह यहाँ रुकती नहीं, केवल मुसाफ़िरों को उतारकर या बिठाकर चल देगी। गाजी ने बताया, "अच्छा तो यही होगा। क्योंकि कच्ची सड़कों का कोई भरोसा नहीं। लाउंज ही ठीक है। हासनाबाद उतरते ही बस मिल जायेगी।"

"नहीं गाजी, इससे अच्छा तो वही रास्ता है।" मैंने कहा।

"क्यों बाबू, जब उपाय है तो फिर क्या परेशानी है?"

मैंने उसे ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती की बातों की याद दिलायी। गाजी हँसते-हँसते लोटपोट हो गया। बोला, "बाबू की बातें! कोई चोरी तो नही की?"

नहीं, चोरी तो नहीं की। लेकिन इससे भी बड़ा अपराध हो गया हो जैसे। अगर उनसे भेंट हो गयी तो बातचीत का सिलसिला कौन-सी करवट लेगा, इसका अनुमान लगाना बहुत कठिन न था। डर इसी का था। मास्टर साहब अपना उपदेशामृत पिलाये बिना छोड़ेंगे नहीं। पहली बार तो किसी तरह बच गया था।

"लेकिन उन्होंने बताया था, इसी रास्ते वापस लौटेंगे।"

"अब चाहे जो हो। अगर भेंट हो ही गयी तो बुरा क्या है? फिर वह तो बड़े मजे के आदमी हैं।"

उसे तो हर आदमी में, चाहे वह चक्रवर्ती महाशय ही क्यों न हो—मजे का आदमी दीख जाता है। चक्रवर्ती की डाँट-डपट से भी वह आतंकित नहीं। मन-ही-मन मैं सोचने लगा कि अगर मुलाकात हो ही जाती है तो इसमें बुरा क्या है? ब्रह्मनारायण गरदन मटका, सिर हिला, दाँत कड़कड़ा और चँदिया चमकाकर जो भाषण देंगे, उसे ही देख-सुनकर मुग्ध होता रहूँगा।

नारायण ठाकुर के होटल के अन्दर आकर मैं तैयार होने लगा। हाथ-मुँह धोकर कपड़े पहने। सुबह का नाश्ता तैयार था—मूढ़ी, गरमागरम जलेबी और चाय। फिर सारा हिसाब चुकता किया। इस हिसाब में केवल खाने-पीने का ही उल्लेख था। ठहरने का कोई भाड़ा शामिल न था। मैंने ठाकुर से पूछा—"ऐसा क्यों?"

"यह भी कोई बात हुई महाशय! अब एक रात ठहर गये तो इन्तजाम कर दिया। और क्या? इसके लिए कुछ नहीं लेना।"

सामने फोंचा खड़ा था। उसे कुछ न देता तो जी में कचोट होती। उसे कुछ देने को बढ़ा ही था कि वह दमघुटी आवाज में बोला, "नहीं, नहीं! आप मुझे पैसे क्यों दे रहे हैं?"

मैं यह भूल गया था कि यह शहर का होटल नहीं। वहाँ टिप न देने पर नौकर और बेयरे न तो आँखों से देख पाते हैं और न कानों से सुन पाते हैं। लेकिन फोंचा? वह इन सारी बातों का अभ्यस्त नहीं। यहाँ ऐसा चलन नहीं। फिर भी जब देना चाहा था तो देकर प्रसन्नता ही होती। मैंने कहा, "इसमें क्या है, मैं खुश होऊँगा।"

"अरे ले भी लो फोंचा दा। बाबू जब दे रहे हैं," गाजी ने उसे मनाया।

फोंचा ने पैसे ले लिये। अन्दर, दरवाजे के पास उसकी बहू बच्चे को गोद में लिये खड़ी थी। मैंने देखा, वह आँखें झुकाकर विदा करने खड़ी थी। ऐसी तो कोई बात नहीं थी। एक रात ही तो इस सराय में बीती थी, फिर भी, कुछ ऐसा था कि हर कोई खामोश था। इस खामोशी में भी जैसे कहीं कोई संगीत बज रहा था। ऐसी कई यात्राएँ की हैं मैंने—उनमें से अधिकांश के बारे में मैं भूल चुका हूँ, कुछेक को अब भी भूल नहीं पाया। यहाँ, वही न भूलनेवाली बात थी, न भूल पानेवाली रात।

"अच्छा तो चलूँ!" मैंने पाँव बढ़ाते हुए कहा।

"इधर आना हो तो जरूर आइएगा," नारायण ठाकुर के स्वर में अपनापन था।

"जरूर आऊँगा।"

"चलूँ ठाकुर महाशय!" गाजी ने भी इजाजत ली।

ठाकुर अचानक किसी बछड़े की तरह बिदक गया, फिर झुंझलाकर पूछ बैठा, "इसके बाद आप कब प्रकट होंगे?"

यह भी अजीब तरह की बिदाई थी। मैं समझ न पाया कि इसमें उसका

आशय क्या था। यह वह न्योता दे रहा था कि फिर आना। गाजी ने कहा—"अभी कुछ भी नहीं बताया जा सकता है ठाकुर महाशय। मुरदेव कब किधर ले जायें, कुछ नहीं कह सकता। वह जिस दिन इधर ले आयेंगे, आ जाऊँगा।"

"चल दूर जा....खाली फ़ालतू बातें पगुराता रहता है," नारायण ठाकुर ने अपने होंठ बिचका दिये। पता नहीं, इसमें उसका कितना स्नेह था या था भी कि नहीं।

हम हाट का रास्ता पार कर मेड़ी बांध के किनारे आ खड़े हुए। साढ़े नौ बज चुके थे। नदी थोड़ी दूर तक चलती हुई मुड़ गयी थी, मानो आगे जाकर कहीं खो गयी हो। वहीं कहीं से 'गुड़-गुड़' की आवाज आ रही थी। गाजी ने बताया कि लाउंज आ रही है। तरंगें ऐसी मचल रही थीं, जैसे ज्वार आ गया हो। सूरज की किरणों से झलकती नौकाएँ इस पार से उस पार आ-जा रही थीं। माल चढ़ाया-उतारा जा रहा था, कल की ही तरह। मछुए जाल फेंककर खींच रहे थे।

दूर मोड़ पर, लाउंज दीख पड़ी और फिर घाट पर आकर खड़ी हो गयी। कोई उतरा नहीं। उस पर चढ़नेवाले यात्रियों में सिर्फ़ हम दोनों ही थे। एक मिनट भी न लगा होगा। मेरी नजर सबसे पहले ऊपर छत पर गयी, फ़र्स्ट क्लास की तरफ़। वहाँ तो कोई भी न था। खाली पाकर मैंने चैन की साँस ली। अब वहाँ का सारा साम्राज्य हमारा था।

मैं सीधा चढ़कर ऊपर जा बैठा। गाजी उसी तरह बाहर बैठ गया। बोला, "बाबू, आप जिस बूढ़े बाबू के बारे में इतना कुछ सोच रहे थे, वह तो आये ही नहीं?"

हाँ, वह नहीं आये। मेरा मन जो उन्हें न पाकर एक तरह से आश्वस्त हो उठा था, वही थोड़ी देर बाद निराश हो उठा जैसे। कल की बात बार-बार याद आ रही थी। यही तो मन की गति है। कभी कहता है 'चाहिए' और कभी कह उठता है 'नहीं चाहिए।'

मैं थोड़ी देर यहीं कुछ सोचता रहा। धीरे-धीरे दिगन्त तक फैले आकाश पर मेरी नजर फैल गयी। गाजी कुछ गुनगुना रहा था। मुझे उसकी और नयनतारा की बातें याद हो उठीं। गाजी ने नयनतारा को बताया था कि वह मन के मानुष को भजेगा। वह पकड़ में न आनेवाले 'मानुष' को पकड़ पाया है या नहीं? लेकिन बात करने की इच्छा नहीं थी मुझमें। मन-ही-मन यह सब सोच रहा था और उसकी गुनगुनाहट को पकड़ पाना चाहता था। इधर गाजी लहराती हवा के ताल में ताल देकर गा रहा था:

कहाँ पाऊँ उसे

"चाह थी कि अधर को पकड़ूँ, पर बन्धन में जकड़ गया।
अपना आप गँवा बैठा, व्यर्थ हुआ, ऐसी मौत में पड़ गया।"

मैं प्रकृति और पुरुष की ऐसी व्याख्या नहीं जानता। साईं या दरवेश फ़क़ीरों के साधन-भजन में इसकी क्या पद्धति रही है—यह भी नहीं जानता। थोड़ी-बहुत धारणा तन्त्र-मन्त्रों के लिए थी और गाज़ी की बातों में इसका संकेत था। उसके उस स्वर में दाम्पत्य जीवन को ही तो दोहराया गया था। साधक ऊपर की ओर जाता है। इसके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। यह उस गाज़ी का वक्तव्य था, जो रास्ते-रास्ते भटकता फिरता है अपने धूल-भरे अँगरखे को उड़ाता हुआ।

इन सारी साधना-पद्धतियों का क्या महत्त्व है, यह मेरे लिए सर्वथा अज्ञात है। मेरी अवधारणाओं और बोध से परे। मैं इस बारे में जानना चाहता था और यह पूछना चाहता था कि नयनतारा के साथ गाज़ी की यह ऊर्ध्व यात्रा किस प्रकार सम्पादित होती है ? उनकी इस साधना-चर्या में, ब्रह्मचर्य साधन में प्रेम की क्या भूमिका है ! है भी या नहीं ? जैसा कि उसके गान से ही प्रकट होता है : 'प्रेम की बातें जो ना जाने, उसके संग क्या लेना-देना ?' मेरी आँखों के सामने विद्याधरी नदी के किनारे जोगिया गाज़ी बैठा था और पास ही एक जोगन। जहाँ की मद्धिम चाँदनी में चारों ओर रतिनाथ के बाण चल रहे थे। केवल विद्याधरी के ज्वार में ही आवेग न था, उन दोनों के मन-प्राण में भी तरंगें उमड़-घुमड़ रही थीं।

पता नहीं, यह पाप है भी या नहीं ? हो सकता है। मन पाप से परे नहीं हो पाता। उस पाप-विचार में भी कोई अन्तरंग है, हमदर्द है—जिसे मैं याद कर रहा हूँ। विद्याधरी के किनारे कहीं कोई है जो एकदम, सहज और नितान्त भाव से मुझे छू जा रहा है। यह सब सोचते हुए मेरी नींद जो कल की रात पूरी हो न पायी थी, आँखों में उतर आयी। मुझे झपकी-सी आ रही थी। इंजिन की भड़भड़ाहट, उमड़ते हुए जल-प्रवाह का कलकल, धुन्ध-भरी धूप और हलकी-हलकी ठण्डी हवा का मुलायम स्पर्श मुझे कहीं दूर ले गया। इनके बीच घाट-घाट पर बँधी हुई यात्री-नौकाएँ—उनका भी आभास हो रहा था।

"बाबू, हासनाबाद आ गया !" गाज़ी ने पुकारकर घोषणा की।

वापसी के समय इस कछार का अध्याय समाप्त हो रहा था। सूरज सिर पर चमक रहा था। घड़ी पर नज़र डाली—दोनों काँटे आपस में एकाकार हो रहे थे। लाउंज के घाट पर पहुँचने के पहले जल्दी-जल्दी में हर कोई सामने इकट्ठा हो रहे थे। कप्तान ने सबको डपट दिया, "यह देखो, सब सामने फाटक

पर जमा हो गये हैं। अरे भाई, उतरना ही तो है।" कहकर उसने ज़ोर से भोंपू बजा दिया। साथ ही, कोई बोल उठा, "बशीरहाट की अदालत तो आपकी बात सुनेगी नहीं; वहाँ तो दूसरा ही घण्टा बज रहा है।"

अदालत में घण्टी बज रही है। हाकिम की पुकार है। जल्दी चलो, जल्दी। गाज़ी ने मुझे संकेत किया, "बाबू, पहले भीतर के लोग उतर जायें, इसके बाद आराम से उतरते हैं।"

मैंने उसकी बात मान ली। धक्का-मुक्की खाने का कोई लाभ न था। वह पहली बस जो बशीरहाट की तरफ़ जायेगी—उसमें जगह मिल पाना बड़ा मुश्किल लग रहा था। हमें भी जल्दी थी। पर अदालती जमघट की बात ही कुछ निराली थी। हम अनमने भाव से उस छँटती हुई भीड़ को देखते रहे। जब लोगों का ताँता कम हुआ तो उसी समय पता नहीं, क्या बात हुई कि सीने में जैसे दम अटक गया। गाज़ी ने मेरी ओर देखा और मैंने गाज़ी की तरफ़। उसके खुले हुए मुँह पर फैली मुसकान धीरे-धीरे उसकी दाढ़ी-मूँछ तक बिखर गयी।

मैंने देखा, उस तहखाने के अन्दर से निकली लोगों की भीड़ की आखिरी टुकड़ी में क्षिनि, उसकी माँ और ब्रह्मनारायण शामिल हैं। मैं भी निचले तह-खाने से होता हुआ बाहर आया। ब्रह्मनारायण ने लाउंज से बाहर निकलकर पाँवड़े पर सपरिवार पाँव रखा। पीछे मुड़कर देखने का समय नहीं उनके पास। उनके पीछे आ रहे लोगों की जल्दबाज़ी से भी वे परेशान थे। मास्टर साहब नींद में अलसाये-से लगे। उनकी पत्नी और क्षिनि का बनाव-सिंगार पहले-जैसा न था। लगा कि बिछावन छोड़ते ही सब-के-सब सवार होने को दौड़ पड़े थे। मुझे हैरत इस बात से हुई कि क्या उन्होंने कालीनगर के घाट पर हमें नहीं देखा था? हम लोगों की नज़र भी नीचे की तरफ़ नहीं गयी—ऊपर केबिन की ओर ही तकते रहे।

घाट से ऊपर आये ही थे कि लड़की ने पीछे मुड़कर पूछा, "बाबा, कौन-सी बस पर चढ़ेंगे?" लेकिन वह अपनी बात समाप्त नहीं कर पायी। बालों के गुच्छे से ढँकी हुई उसकी एक आँख में अचरज समाया हुआ था। वह अपनी दूसरी आँख पर छायी बदली को हटाना भूल गयी। उसे इस बात का भी ध्यान न था कि उसके कन्धे से खिसका आँचल कहाँ लहरा रहा है। बालों में न फूल लगे थे और न आँखों में काजल। होठों पर भी कोई दूसरा रंग नहीं, सहज गुलाबी रंग के अलावा।

"जिस पर सब चढ़ रहे हैं, उसी पर चढ़ना है," ब्रह्मनारायण ने उसकी बात का जवाब दिया।

इसी बीच गाजी ने आवाज दी, "आप लोग शायद नीचे बैठे थे। है न रानी दीदी ?"

ब्रह्मनारायण पीछे मुड़े। उनके साथ उनकी पत्नी भी। ब्रह्मनारायण के नक़ली दाँतों में एक बार ज्वार-सा उमगा। उन्हें वापस अपनी सही जगह तक पहुँचने में थोड़ा-सा वक्त लगा। आँखें चमक उठी थीं। उन्होंने अपने दोनों होठों को बिचकाकर कहा—"अरे यह तो ग़जब हो गया ! नदी नाव संयोग !"

धीरे-धीरे हम सभी किनारे पर चढ़ आये। ब्रह्मनारायण ने पुकारते हुए अपनी सलाह दी, "अरी झिनि, माँ को मना कर दे। इस बस पर जाना सम्भव नहीं होगा।"

उधर बस का कण्डक्टर चिल्ला रहा था, "चलो-चलो, जल्दी आ जाओ।"

जिन्हें जल्दी थी, वे दौड़े। दौड़ते-दौड़ते किन्हीं ने पुकार भी लगायी, "ज़रा रोकना भाई।"

इधर कण्डक्टर परिवारवालों और ऐसे ही दूसरे लोगों को सम्बोधित कर रहा था, "अरे आओ भी, जल्दी चलो। नहीं तो इसी तरह [illegible] यहीं पापड़ बेलते रहोगे।"

उधर ब्रह्मनारायण को कोई गँवार-सा आदमी [illegible] दे रहा था। उसकी देह खुली थी—कोई किसान या मजदूर होगा। [illegible] देह खुजलाते-खुजलाते बोला वह, "इसके बाद भी एक मोटर [illegible] बाबू ! उसी से जाइएगा। माँ ठाकुरानी को लेकर इस पर चढ़ना बड़ा मुश्किल होगा।"

"इसके बादवाली कितने बजे छूटेगी ?" ब्रह्मनारायण ने पूछा।

जवाब दिया बीड़ी-पान के एक दुकानदार ने, "तीन मिनट के बाद।"

"ओ। तो इसका मतलब हुआ [illegible] घण्टे बाद।" मास्टर जी ने अपना हिसाब लगाया। और फिर निश्चिन्त हो गये।

इधर माँ-बेटी की आँखें मुस्करा रही थीं। दोनों धीरे-धीरे मुस्करा रही थीं। नागरिका के चेहरे पर [illegible] हँसी [illegible], लेकिन माँ ही उद्विग्न भी नजर आ रही थी वह। [illegible] कि चेहरे पर [illegible] नहीं। [illegible] की हवा के झोंकों से उसका चेहरा [illegible] हो गया था। [illegible] इसीलिए बुझी हुई थी कि न तो [illegible] पर [illegible] है न आँखों में [illegible]। [illegible] के प्रिंटवाली सूती साड़ी में [illegible] थीं। [illegible] बालों को [illegible] गरदन के ऊपर [illegible] नहीं किया। इसलिए [illegible] ही बातें हो रही थीं। [illegible] खींच लेती थी—[illegible] के लिए। [illegible] करने का उपक्रम।

अब मुझसे कोई पूछे कि इन अभागी आँखों ने इनमें भला ऐसा क्या देखा तो मैं यही कहूँगा कि जैसे काली कसौटी पर सोने की रेखा दमकती है या फिर रुपहली धूप में सोनलता झलकती है, वैसा ही कुछ। वस्तुतः कोमलता हो या तरलता—इनका मन से गहरा सम्बन्ध है। उसकी आँखों को देखकर लगता था, जैसे उनमें कोई गहरा संकेत हो। रात अच्छी तरह सो न पायी होगी—इसलिए उन जगी हुई आँखों में अधिक स्वच्छता थी। इस मुड़ी-मुड़ी साड़ी में भी वह सहज लग रही थी। हाथ में बैग झूल रहा था।

ब्रह्मनारायण ने मुझसे कुछ भी नहीं कहा। उन्होंने बेटी को बुलाकर कहा, "देखा न! कैसी रही ?"

क्षिनि जवाब क्या देती ? हँसती रही। मैं गाजी की ओर देख रहा था। वह बोला, "बड़ा अच्छा रहा बाबू। है न ?"

वह तो समझ में आ ही रहा था। मास्टर साहब का व्यवहार कुछ वैसा ही था, मानो उनके सामने दो शैतान छात्र खड़े हों। हँसते-हँसते बोले, "खूब पकड़े गये, क्यों ?"

"तो फिर इस तरह पूछकर तंग करने की क्या जरूरत है ?" श्रीमती ने टोका।

"पहले यह तो सुन लो कि वह क्या कह रहे हैं!" कन्या ने मेरी तरफ़ देखते हुए अपने बाबा से कहा।

ब्रह्मनारायण अपनी ही हाँके जा रहे थे :

"अरे, कभी सोचा भी तो होता। ग़रीब की बात पुरानी हो जाने पर ही याद आती है। उस समय सब कुछ खोल-खोलकर बताया था, लेकिन कौन किसकी सुनता है ? अब बात समझ में आयी ?"

मेरे कुछ कहने के पहले ही क्षिनि बोल उठी, "ठीक ही तो है। आपने बाबा की बात पर ध्यान नहीं दिया।"

"नहीं, बात यह है कि..." मैंने जल्दी से उन्हें कुछ बताना चाहा।

"अब बहाने बनाने से काम नहीं चलेगा!" मास्टर साहब ने बीच में ही रोक दिया, "बात-आत छोड़ो। पहले यह बताओ कि मेरी बातों को अनसुना किया या नहीं ?"

"हाँ...!" मैंने गरदन झुकाकर स्वीकार कर लिया। मेरी यह दयनीय हालत देखकर माँ और बेटी फिर खिलखिलाकर हँस पड़ीं। श्रीमती ने कहा, "तेरे बाबा भी कम झक्की नहीं।"

ब्रह्मनारायण ने हाथ उठाकर कहा, "अच्छा तो अब चलें। खाली गाड़ी खड़ी है। फिर तुम्हारा क़िस्सा सुनेंगे।"

अब भी कुछ कहना-सुनना बाकी था क्या ? भगवान् बचाये ! मैंने पाँव आगे बढ़ाया ही था कि उसकी आँखें गाजी पर पड़ी। अब उसे याद आया और आँखें चार होते ही उनके नकली दाँतों का जोड़ा फिर एक बार खिल उठा, "अच्छा, तो तुम भी हो दरवेश ? मेरा सिर ! भूल गया...!"

इधर गाजी भी डटा हुआ था—मुसकराता हुआ। मूँछ-दाढ़ी के साथ उसका अंगरखा भी हवा में लहरा रहा था। उसके साहस की बलिहारी। ब्रह्मनारायण को जताते हुए बोला :

"बाबू, मैं ठहरा गाजी !"

"अब चाहे जिसमें खुश रहो। मेरे ठेंगे से।"

"हाँ, यह तो आपने ठीक ही कहा बाबू !" गाजी ने गरदन हिला दी।

ब्रह्मनारायण का ध्यान उधर नहीं था। एक रूखी झुंझलाहट के साथ वह बोले, "सो तो मैं भी समझ गया बाबू ! उस समय तो बहुत फड़फड़ा रहे थे। कह रहे थे, गैंजाट या कि फैंजाट से सीधी बस मिल जायेगी। वहीं से वापस लौट जायेंगे।"

"वो गैंजोट नहीं, नैंजाट है।" गाजी ने तुरत सुधार दिया।

"भाड़ में जाये तुम्हारा नैंजाट। यह सब नाम कोई भला आदमी नहीं ले सकता। तुम्हीं लोग ले सकते हो।"

ब्रह्मनारायण की धमकी से गाजी थोड़ा नरम पड़ा, "सो तो है बाबू !"

ना कहकर आफ़त कौन मोल ले ? किसमें इतना साहस है कि चोंच लड़ाये ? ब्रह्मनारायण ने पहली ही बार रामबाण छोड़ा, "हाँ, तो कहाँ गयी तुम्हारी वह बस ?"

गाजी ने अपने कपाल को उँगलियों से ठोंककर कहा, "सब मुक़द्दर का चक्कर है बाबू !"

मुक़द्दर का रोना रोकर भी ब्रह्मनारायण को रिझाया नहीं जा सकता था। मैंने बचाव के लिए कहा, "इसमें उसका कोई दोष नहीं।"

"तो फिर किसका दोष है ?" मास्टरजी मेरी तरफ़ मुड़े।

उनकी भंगिमा देखकर मैं अपनी हँसी रोके नहीं रोक पा रहा था। साथ ही, मुझमें इतना साहस न था कि सामना करूँ ? मैंने कहा, "सच तो यह है कि इसमें किसी का दोष नहीं। रास्ते ही खराब हैं। कल शाम से समय पर गाड़ी नहीं चल रही।"

लेकिन मास्टर साहब माननेवाले नहीं। गाजी से बोले, "जब इन बातों का पता नहीं था तो फिर ले क्यों गया था तू ?"

गाजी ने अपने झुर्रीदार चेहरे पर हँसी बिखेरी और हाथों को कान पर

उठाकर कहा, "यही मेरी गुस्ताखी थी बाबू !"

"परे रखो अपनी इस गोस्ताखी-पोस्ताखी को।" और वह बस की तरफ़ बढ़ आये। गाजी ने अपना मुँह नीचे कर लिया था, तो भी उसकी छिपी मुसकान मेरी आँखों से ओझल नहीं थी। उसकी मुसकान का जवाब अपनी मुसकराहट से देता हुआ मैं जैसे ही मुड़ा कि झिनि से दृष्टि जा मिली। अबतक उसकी झिझक दूर हो चुकी थी। उसने चकित हो एक बार अपने बाबा को देखा और फिर अपनी निगाह झुका ली।

उधर श्रीमती की तनी हुई भृकुटि से लगा वह श्रीमान् से कुछ क्षुब्ध-सी हैं। उन्होंने नाक सिकोड़कर कहा, "पता नहीं, क्या बकबक कर रहे हैं ? अच्छा भी तो नहीं लगता।" और तमककर अपनी गरदन झटक दीं। फिर मेरी तरफ़ देखा और हलके-से मुसकरा दीं।

हम सब एक-एक कर बस में सवार हुए। कहाँ बैठना है, यह चक्रवर्ती महाशय बता रहे थे। मैं आगे बढ़ता जा रहा था ताकि गाजी को लेकर बैठ सकूँ। पर उन्होंने मुझे रोकते हुए कहा, "तुम यहीं पर बैठो, मेरी बग़ल में।" वहाँ तीसरे आदमी की गुंजाइश न थी। मेरे मन में गाजी के लिए चिन्ता थी, लेकिन नयनतारा में खोये हुए गाजी ने पहले ही बता दिया, "आप बैठिए बाबू। वहीं बैठ जाइए। मैं ठीक हूँ।"

वह पीछे की तरफ़ बैठ गया। माँ-बेटी हमारे सामने बैठी थीं। झिनि ने अपना चेहरा फिरा लिया था, हालाँकि वह मुड़-मुड़कर देख लेती थी। आमने-सामने देख पाना मुश्किल लग रहा था। मैं बार-बार 'झिनि' कह रहा हूँ। मेरा दिल कह रहा था, ठीक ही कहा। वस्तुतः यह वही विदुषी अलका चक्रवर्ती है, यह भी मैं नहीं भूल पाया हूँ। वह क्या सोच रही है, नहीं जानता। मेरी ओर देखकर बोली, "गाजी को उतनी दूर क्यों बिठा दिया। उसे अपने पास की सीट पर बैठने को कहिए न !"

मेरे कुछ कहने के पहले ही ब्रह्मनारायण ने बता दिया, "बस, यही तो तुम लोगों में एक खराबी है। हर चीज़ में आपाधापी। क्यों भला ? यह क्या कोई बच्चा है कि खो जायेगा ?"

मैंने मुड़कर पीछे देखा। गाजी दूसरी ही ओर देख रहा था। क्या पता, उसके कान इधर ही लगे हों ? मन-ही-मन हँस भी रहा हो।

"तुम भी बड़े ज़िद्दी हो बाबा। वह इनके साथ ही तो था।" झिनि मान नहीं रही थी।

मैंने जल्दी से कहा, "कोई बात नहीं। वहाँ भी तो आराम से बैठा है।" ब्रह्मनारायण शान्त-चित्त हुए। झिनि भी मुसकरायी। वह अपने बाबा को

तनिक गर्व से देख रही थी। "मैं तो यह समझ ही नहीं पाया कि आप सब नीचे बैठे हुए हैं," मैंने चर्चा शुरू की।

ब्रह्मनारायण ने अपनी लम्बी उँगली उठाकर माँ-बेटी की ओर इशारा करते हुए कहा, "इनसे पूछो। कहने लगीं, ऊपर जाकर बैठने का मतलब है ठण्डी हवा में कुलफी हो जाना।"

श्रीमती ने बेटी की तरफ़ देखा और हँसकर बोलीं, "देखा तो। हर बात का बतंगड़ बना देते हैं। मुँह-अँधेरे घर से चले थे। उस समय कैसी ठण्ड थी! फिर ऊपर रोशनी भी तो न थी। भूत की तरह झूठ-मूठ का कौन बैठा रहता वहाँ?"

"अच्छा, तो तुम लोगों ने हाड़ कँपानेवाली ठण्ड की बात नहीं कही?" ब्रह्मनारायण ने बात को यों ही नहीं छोड़ दी।

लेकिन श्रीमती भी तैयार बैठी थीं, "और तुमने सिर पर कपड़ा नहीं बाँध लिया था उस समय! गरमी लग रही होगी शायद?"

ब्रह्मनारायण चुप—असहाय। उनकी समझ में न आया कि क्या जवाब दें। इसी बीच झिनि ने सफ़ाई दी, "लेकिन बाबा, मैंने तो तुम्हें एक बार भी ठण्ड के बारे में कुछ नहीं कहा।"

"हाँ, तुमने नहीं कहा।" फिर कुछ देर तक सोचने-विचारने के बाद भँवें उठाकर बोले, "लेकिन उस समय तुमने फिर क्या कुछ बताया था? हाँ....हाँ... याद आया। तुमने कहा था न—'आते हुए तो हम छत पर आये हैं। वापस जाते हुए नीचे बैठकर जायेंगे। लोगों के साथ चलते हुए अच्छा भी लगेगा।' अब इस भीड़-भब्भड़ में ऐसा नया क्या लगना था भला! दरअसल तुम्हें भी ठण्ड लग रही थी, अपनी माँ की तरह ही।"

विदुषी अलका एक बालिका की नाईं मुँह फुलाकर रूठ गयी और जैसे मुँह चिढ़ाते हुए बोली, "हाँ, हाँ, लग रही थी। तुम्हें तो नहीं कहा?" साथ ही इस नये परिचित को देखकर वह तनिक शरमा भी गयी। स्वर्णलता की भाँति उसकी चिकनी देह पर गुलाबी रंगत छाने लगी थी। सिर झटकने से उसका चेहरा बालों में छुप गया। माँ ने बेटी को दिलासा देने के बहाने अपने पति को ही डपट दिया, "अच्छा अब तुम चुप भी करो!"

ब्रह्मनारायण की त्योरी ढीली पड़ी और वह हौले-से मुसकराये। माँ-बेटी को सताने में उन्हें बड़ा मजा आता होगा। गाजी के मुक़ाबले यह भी कुछ कम उस्ताद नहीं। बस, ऊपरी तौर पर ही कठोर दीखते हैं। मुझसे कहने लगे, "यही नहीं, कालीनगर के घाट पर भी इस तरह गुड़मुड़ होकर बैठ गयी कि तुम्हें देखा तक नहीं।"

श्रीमतीजी अब सचमुच ही परेशान दिखीं, "तो तुमने कौन-सा देख-सुन लिया था ?"

लेकिन मास्टरजी ने उसी तरह संयत होकर उत्तर दिया, "मुझे तो तुम दोनों ने सुलाकर छोड़ दिया। अब नींद में कोई क्या देखे ?"

"तुमको सुला दिया था ?" स्वामिनी झुंझला उठीं।

हँसी मेरे होठों तक मचल आयी थी। मैं उसे रोक न पाया। उधर भी, एक अव्यक्त-सी खुशबू बिखेरते हुए बालों के गुच्छे लहरा उठे। वहाँ पर साँवली-सी गरदन चमकने लगी। उसके बीचों-बीच रीढ़ की तरह ही हलकी-सी रोमावली नीचे तक उतर आयी थी, और फिर हलके रंग के ब्लाउज के अन्दर खो गयी थी। इस हँसी ने झिनि को भी अपनी गिरफ़्त में ले लिया था। अब वहाँ रोष न था, मुसकान थी जो उसके अंगों में थिरक रही थी। उसने खिड़की से अपना सिर टिका रखा था।

ब्रह्मनारायण के चेहरे पर भी एक अजीब-सी मुसकान थी, बच्चों की जैसी। बोले, "देखा तो झिनि, तेरी माँ किस तरह झुंझला उठती है।"

झिनि अपने में ही खोयी रही। उसने सिर नहीं उठाया। माँ ने भी मुड़कर नहीं देखा। मास्टरजी ने मेरी तरफ़ निहारा तो मेरी हँसी और भी तेज हो गयी। उधर भी वैसा ही जोर बढ़ा और झिनि की चिकनी-साँवली गरदन लाल-गुलाबी हो उठी।

इस बीच कई नये चेहरे बस में सवार हो चुके थे। खलासी बार-बार चिल्ला रहा था। गाड़ी नये मुसाफ़िरों से बात-चीत करने में व्यस्त था।

झिनि की हँसी भी शान्त हुई। उसका स्वर सुन पड़ा, "तुम्हीं तो माँ को छेड़ते रहते हो। फिर हम दरवाजे की तरफ़ मुँह किये बैठे भी न थे। उलटी तरफ़ बैठे थे। इसीलिए इन्हें देख न पायी।"

ऐसा नहीं था कि मेरे मन में यह बात नहीं आयी हो। लेकिन इसे लेकर कोई लम्बी बहस चल पड़ेगी—यह मैंने नहीं सोचा था। अब जिसके लौटने की आशा ही न हो, उसकी राह भला कौन देखता है ?

"अच्छा, तो तुम अब अपनी बात बताओ !" मास्टर साहब ने मुझसे पूछा, "कल कहाँ-कहाँ गये, क्या किया ? जरा मैं भी तो सुनूँ !"

झिनि भी अपनी माँ के पास सिमट आयी। मैंने महामाया हिन्दू होटल और क़स्बे के बारे में बताया। नारायण ठाकुर के आतिथ्य का भी सन्दर्भ दिया। महतो और अंगूरी या दुलि और अनन्त के बारे में चुप हो रहा। यहाँ वह सब कुछ बताया भी नहीं जा सकता था।

सारी बात सुनने के बाद ब्रह्मनारायण बोले, "सारा कुछ तो देख-सुन आये

लेकिन तुम्हें अपनी जान का भी डर नहीं ?"

मैं कुछ समझ नहीं पाया कि कल कहीं ऐसी कोई बात हुई हो, जिसमें जान जाने का भय हो। मैंने चकित हो उनसे पूछा, "क्यों, वैसा तो कहीं कुछ...?"

ब्रह्मनारायण ने बीच में ही टोकते हुए कहा, "अरे वह सब कहीं दिखाई-सुनाई नहीं पड़ता। इस बादा कस्बे के बारे में थोड़ा-सा भी जानते रहे होते तो गरम-गरम भात खाकर, दरवाजा खुला रखकर और अपने प्रिय गाजी को सिरहाने बिठाकर भी नहीं सो पाते।"

"क्यों ? जरा बताइए तो ?"

"बताऊँ ? तुम्हारी जेब में कितने रुपये थे ?" उन्होंने एक तरह से धमकाते हुए पूछा।

"थोड़े-से ही !"

उन्हें मेरी बात जँची नहीं। बोले, "माना थोड़े-से ही थे लेकिन घड़ी तो थी ! उँगली में अँगूठी भी चमक रही है। जहाँ पाँच रुपये के लिए लोग खून-खराबे पर उतर आते हैं; वहाँ यह सब तो पूछना ही क्या है ? चकाचक है।"

सचमुच, मुझे इन बातों का पता न था। वहाँ भी ऐसा कुछ देखने में नहीं आया था। ब्रह्मनारायण ने जोड़ा, "तुम नहीं जानते। आये दिन इन सारी जगहों पर चोरी-डकैती होती ही रहती है। नदी-किनारे तो और भी लूट-खसोट मची रहती है। जितनी नावें, उतने ही डाकू ! पानी में मगरमच्छ, सूनी सड़कों पर बाघ और घरों में डकैतों का हमला ! और तुम वहाँ रुके रहे ? इसे दुस्साहस ही कहूँगा।"

ऐसा ही होता तो उस इलाके में इतने गृहस्थ नहीं होते। ब्रह्मनारायण ने अपनी आशंका को जिस तरह मेरे सामने रखा था, उससे मुझे अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करने का मौका नहीं मिला। न मैं कुछ कहना चाहता था। इसके बाद उन्होंने असली बात बतायी : "इन सबसे बढ़कर तुम्हारे साथ यह जो गाजी है, हो सकता है खुद कोई चोर-डाकू हो। तुम उसके बारे में क्या जानते हो ? अगर रात में कोई गला काटकर ही फेंक देता तो कौन देख पाता ?"

सौभाग्य से गाजी पास न था। बस चल पड़ी थी। मशीन की घड़घड़ाहट में बातें उस तक नहीं पहुँची होंगी। जो लोग गाजी को घेरे बैठे थे, उन्हें वह गान सुना रहा था—"मन में तो है हरि हरि, हाथों में कौड़ी...। गिनते-गिनते मर जाओगे, काहे की यह दौड़ा-दौड़ी।"

ब्रह्मनारायण की बातों को सुनकर जी को बड़ा धक्का-सा लगा। तिलमिला उठा। मैं गाजी का शिकनों से भरा हुआ चेहरा देख रहा था। उसकी दरपन-सी आँखें और चेहरे पर फैली रौनक ! नयनतारा का साईं बाबा यह

आदमी उस 'अधर मानुष' की तलाश में है। उसकी इस विचित्रता के सम्मुख मैं नतमस्तक था। मैं मन-ही-मन दोहराने लगा, "नहीं, मैं इन बातों पर विश्वास नहीं करता। मेरी साँसों पर ऐसे अन्यायों का बहुत ही बोझ है, उसकी दाह है। पर मैं ऐसा पाप नहीं कर सकता। मैं गाजी पर अविश्वास नहीं कर सकता।"

इन सारी बातों से ब्रह्मनारायण बेखबर थे। इससे क्या लेना-देना था उन्हें? उन्हें दोष भी नहीं दिया जा सकता। हर आदमी अगर एक ही ढर्रे को अपना ले तो इस संसार का सारा चाकचिक्य कहाँ रहे? वह अपनी चाल चल रहे थे, अपने स्वभावानुसार।

मेरी आँखें झिनि से जा टकरायीं। पता नहीं, वह कब से मुझे हेर रही थी। मैं बिना मुसकराये रह न पाया। झिनि की आँखें कुछ पूछ रही थीं, उनमें जिज्ञासा थी। उसकी पतली-सी भौंहें हवा के झोंके से नाच उठीं। उसने बाबा की ओर देखकर कहा, "गाजी को वह अच्छी तरह पहचानते हैं बाबा! इसीलिए विश्वास किया गया।"

मैंने सोचा था, ब्रह्मनारायण स्वभावतः ही सिर पर कोई आसमान उठा लेंगे, लेकिन यह ब्रह्म वह ब्रह्म न थे। वह अचानक कहीं गहरे डूब चुके थे, "सो तो ठीक ही है। मैं तो बात की बात कर रहा था। वह विश्वास-पात्र है, यह तो मैं भी समझता हूँ। लेकिन मैंने अपनी इस जिन्दगी में जितना कुछ देखा है, मैंने पाया कि हर युवक एक ही तरह की बात करता है।" वह कुछ देर के लिए रुके। हम जब तक उनकी बातों का आशय समझ पाते वह फिर शुरू हो गये, "झिनि, लगता है, तू भी यह सब पढ़-लिखकर अब लड़कों की-सी बातें किया करती है। यह सब कहते हुए मुझे बीरू की बातें याद आ जाती हैं।"

अचानक, झिनि की आँखों में विस्मय-भरी चमक खेलने लगी। फिर लगा कि वह चोट खाकर थम गयी है। उसके होंठ काँपने लगे थे और स्वर्णलता-सी चम्पई देह कुम्हला गयी थी। एक दृष्टि मेरी ओर डालते हुए उसने रोकना चाहा, "अब उसकी बात छोड़ो भी बाबा!"

श्रीमती ने भी एक बार श्रीमान् की ओर देख मुँह कुछ इस तरह फेर लिया कि मुड़कर देखना ही नहीं। यह सब देख मैं भी किसी दूसरी ही दुनिया में खो गया, जहाँ सब कुछ इससे परे था।

तभी ब्रह्मनारायण ने कहा, "इसमें ऐसा क्या है? कुछ नहीं। अब तू ही बता! हेनरी पर विश्वास करके ही तो वह उसके साथ निकला था। हेनरी उसका कैसा गहरा मित्र था, लेकिन वह गया तो गया, फिर वापस नहीं लौटा।"

बात के खत्म होने के पहले ही मैंने देखा कि झिनि की आँखों पर शबनमी बूँदों की तरह आँसू झिलमिला रहे हैं। उसने अपना मुँह बाहर की ओर कर

लिया। अब कोई 'कुछ नहीं बोल रहा था। इंजिन की घड़-घड़ आवाज़ में मुसाफ़िर बतिया रहे थे। उनके बीच गाज़ी गा रहा था—

"जब दिन था, तब धन्धे में था
अब अन्धकार जबड़ा फैलाये निगल रहा।
बताओ, मैं क्या करूँ?"

मेरी आँखों के सामने धूप में नहाते खेत-खलिहान। हवा में डोलते हुए नारियल और सुपारी के पेड़, जिनकी छाया मुझे छू जाती थी। इस कल्पना में देश-देशान्तर का अँधेरा कहीं मेरी आँखों में ही बसा था। वीरू कौन है? हेनरी कौन था? कौन आया और कौन गया...?

कुछ देर के बाद अपना गला साफ़ कर ब्रह्मनारायण ने मुझसे कहा, "वीरू मेरा बेटा था। इंजीनियरी पास कर विदेश घूम आया था। उसका एक अँगरेज़ मित्र था, नाम था हेनरी। हेनरी...आगे क्या था झिनि?"

"वाइलडेम...." झिनि ने बताया।

"हाँ-हाँ, हेनरी वाइलडेम। दोनों एक ही स्थान पर नौकरी करते। हेनरी को पीछे छोड़कर वीरू को प्रोमोशन का एक मौक़ा मिला। हेनरी को यह सब कुछ अच्छा नहीं लगा। उसने वीरू को आमन्त्रित किया और धोखे से मार डाला। यही कोई पाँच साल पहले की बात है।"

मुझे लगा, मेरी पीठ पर किसी ने चाबुक मार दी हो। मैं एक दूसरी ही दुनिया में आ गया। मेरे पिछले रास्ते और उसकी तमाम पहचान खो चुकी थी जैसे। "उसके बाद?" मैंने पूछा।

"उसके बाद और क्या? हेनरी पकड़ा गया। जेल में है। लेकिन इससे मेरे मन को क्या सान्त्वना मिली? बोलो! आदमी का मन कोई..."

मुझे क्या पता था कि यह आदमी, जो मेरी बग़ल में बैठा है, वही आदमी है—हरदम हँसने-हँसानेवाला। अपनी सन्तान की मौत से आहत होकर घूम रहा है—यह कोई कैसे जान पाये? और इतना ही नहीं! वह हृदय को विदीर्ण कर देनेवाली इस दुर्दान्त दुर्घटना को भी कितनी सहजता से बता गया, एकदम शान्त और संयत स्वर में! यह उस पहाड़ की-सी स्तब्धता थी जिसकी कई चट्टानें नीचे खाई में जा धँसी हों। मैं अब क्या कहता? चुप रहा।

मैंने गाज़ी पर अविश्वास नहीं किया, और ना ही उस पिता के संशय को हीनभाव से देख पाया, जो अपनी सन्तान खो चुका है। उसके प्रति मेरी श्रद्धा को बल मिला, क्योंकि अब मैं उसे और भी निकट से देख पा सका। और जो कुछ भी देखा या पाया है, लगा कि उस सबमें कोई अमोल रतन छिपा है। जो कोरी आँखों से नहीं दीखता, ऐसा ही कोई अमोल अरूप रतन! मुझे

पहली बार आभास हुआ कि वैसा कुछ है। मैं अपनी झोली में रतन-जैसी किसी चमकती चीज को उठाकर, उसे 'टुन-टुन' बजाकर नहीं रखता। फिर भी, मेरी झोली भर जाती है। मेरी इच्छा हुई कि मैं उस वृद्ध सज्जन का हाथ पकड़ लूँ और उन्हें आश्वस्त करूँ, लेकिन ऐसा नहीं कर पाया। मुझे तो अपना ही नीड़ ढूँढ़ना था। जिसका दुःख है, वही रोता है।

मैं बहुत देर तक कुछ बोल न पाया। इस काटती चुप्पी में ही उस घटना की भयावहता अपने को नये सिरे से दोहरा गयी। किसी मलबे के हटाये जाने के बाद ही पता चल पाता है कि कितना नुकसान हुआ। मैंने भी इस घटना के सारे सूत्रों का संयोजन किया। मन-ही-मन गुनने लगा। कोई 'विदेश से घूम आया है' का मतलब हम लोग साधारणतः 'विलायत से वापस बाबू' समझते हैं। विलायत में रहे इन्जीनियर लड़के को उसके दोस्त ने बुलाया और उसकी हत्या कर दी। इस बात को सोच पाना और उसकी तहों में जाना एक अन्धी-यात्रा थी। लगा कि मैं किसी घुप्प अन्धेरे कमरे में बन्द हूँ। कुछ भी नहीं दीखता....।

सामने तीनों के चेहरे तीन तरफ़ थे। माँ-बेटी और बाप एक पूरा परिवार। इनके बीच बीरू नाम से जुड़ी कई स्मृतियाँ, पता नहीं, किन-किन रूपों में तैरती-उतराती होंगी?

ब्रह्मनारायण ने अपने होंठ हिलाये और खिड़की से मुँह निकाल बाहर देखते रहे। दूर जहाँ धूप से लिपटी हुई हरियाली दूर तक फैली हुई थी। पता नहीं प्रकृति से उन्हें कितना लगाव है! माँ का चेहरा नीचे झुका हुआ था और बेटी खिड़की से सिर टिकाये बैठी थी।

मैं श्रोता था। बातें सुनकर उस घटना के बारे में जान पाया था। तब फिर यों ही कुछ बोलना मेरे लिए सम्भव भी न था। "इस संसार में कुछ भी असम्भव नहीं।" थोड़ी देर बाद मैं इतना ही कह पाया।

ब्रह्मनारायण की आँखें जहाँ थीं, वहीं जमी रहीं। अपना सिर धीरे से हिलाते हुए बस इतना ही बोले : "ठीक ही कहते हो।"

गाड़ी के दरवाजे से चिपका खलासी बीच-बीच में चिल्ला उठता या फिर रास्ते पर चलते लोगों को ही छेड़ता जाता। कभी सीटी बजाकर तो कभी बातें बनाकर। उधर गाजी कुछ गा रहा था, जिसे सुनकर उसके पास बैठे लोग हँस-हँसकर उसे वाहवाही देते। कण्डक्टर रह-रहकर घण्टी बजा देता और पैसे लेकर नये यात्री को टिकट देता चलता। गाड़ी धूल उड़ाती और शोर मचाती चली जा रही थी—गाँव दर गाँव। इन सारी हलचलों में भी मैं चुपचाप बैठा

था—किसी समुद्री किनारे की तरह।

वापसी के समय भी लगभग वैसा ही दृश्य था। झाड़ियों पर पूँछ हिलाते पंछी, जिनकी आवाज सुन नहीं पा रहा था। आसमानी सितार पर चढ़े हुए टेलिफ़ोन के तार। उस पर बैठे पंछी ताल-तलैयों पर नहाती महिलाएँ। कमर पर कलसी उठाये आ रही बहुएँ अपना घूँघट हटाकर दो-एक बार इस हवा-गाड़ी को भी निहार लेती।

कुछ देर बाद, झिनि ने धीरे से अपना चेहरा सीधा किया और मेरी ओर देखा। चेहरे पर घिर आये रूखे बालों को समेटकर उसने अपनी आँखें पोंछ लीं। लेकिन उनमें समाये आँसू की लाली नहीं मिटी। वह हौले-से मुसकुरायी। इससे थोड़ा अँधेरा अवश्य छँटा; पर विषाद की छाया पूरी तरह नहीं गयी।

मैं अपने तईं वीरू का प्रसंग फिर नहीं उठा पाया, लेकिन मेरे मन की जिज्ञासा नहीं मिटी। प्रसंग बदलते हुए कहा, "आप कितने भाई-बहन हैं?"

"दो थे, अब सिर्फ़ एक।" कहती हुई झिनि ने फिर मुसकराने की कोशिश की, "लेकिन आपको आश्चर्य होगा कि हेनरी पर हमारा गुस्सा नहीं रहा। बल्कि उसके लिए हमें दुःख होता है।"

मैंने अचरज में पड़कर झिनि की आँखों में निहारा। कितनी विचित्र थी उसकी बात! इसमें किसी सीमा तक करुणा का आदर्श हो सकता है, लेकिन अपने भाई के हत्यारे पर किस बात के लिए यह करुणाभाव? हो सकता है, क्रोध न रहे लेकिन दुःख किस बात के लिए! मैंने ब्रह्मनारायण की ओर भी एक बार देख लिया। वह अब भी कहीं दूर खोये थे।

"क्या इससे सान्त्वना मिली?" मैंने झिनि से पूछा। मेरा संकेत उसके बाबा की बातों के लिए था।

"नहीं। सान्त्वना तो क्या मिलती! अब भैया को कहाँ पाऊँगी भला? लेकिन ग़लत को तो ग़लत ही कहना होगा।"

"ग़लती किसकी थी?" मैंने पूछ लिया।

"हेनरी की।"

"यह कैसे कहा जा सकता है?" मैं पूछे बिना नहीं रह सका।

"यह खुद हेनरी ने बताया," झिनि ने मुझे विश्वास दिलाया।

मैं हैरत में पड़ गया जैसे। तुरत कुछ बोल न पाया। झिनि की आँखों में दूर-दिगन्त तक फैली हरियाली छाया खेल रही थी। बोली, "हेनरी ने किसी कोर्ट मुक़दमे में मामला नहीं बढ़ाया और न उसने खुद को बचाना चाहा। आरम्भ से लेकर अन्त तक उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। जिस दिन उसका फ़ैसला होनेवाला था, उसकी माँ और बहन भी कचहरी में आयी थीं। लेकिन

पेशी होने के पहले हेनरी मेरे बाबा के पास आकर खड़ा हो गया। बोला वह अच्छी तरह जानता था। बाबा के पैरों से लिपटकर बोला, "काका बाबू! मुझे माफ़ कर दीजिए!"

क्षिनि की आँखों में आँसू की बूँदें फिर छलछला उठीं। अब इसके आगे मैं क्या कहता? सिर्फ़ सुनता रहा और खामोश बैठा सोचता रहा।

"बात यह थी कि हेनरी हमारे घर के लोगों-जैसा ही था। भैया की तरह ही मुझसे 'तू-तुम' कहकर बातें करता। एक साथ बैठकर खाता-पीता। जानते हैं, मुझसे कहता: 'इस एंग्लो शब्द को हटाकर मुझे इससे छुटकारा दिला दे। मैं इण्डियन हूँ।' एंग्लो-इण्डियन कहकर बुलाने पर बड़ा गुस्सा दिखाता और मन-ही-मन अपमानित महसूस करता।"

मेरे मन में उस अनदेखे हेनरी के लिए नयी जिज्ञासा जग उठी। मैं जिन भारतीय अंगरेजों के बारे में जानता था, हेनरी का स्वभाव उनसे कुछ अलग-सा जान पड़ा। मैं उनकी भारतीयता के बारे में नहीं जानता। उन्हें भारतीय कहकर बुलाया जाये, ऐसा आग्रह भी कभी नहीं सुन पाया। इन बातों को सुनकर मेरे मन में भी थोड़ी-सी शंका उत्पन्न हुई। इसीलिए मैंने कहा, "ऐसा साधारणतः देखने में नहीं आता।"

क्षिनि बोली, "हाँ, वह सबसे अलग था। वह हमारे घर कुछ इस तरह आता कि क्या बताया जाये? देखे बिना विश्वास नहीं होगा। कभी भी ऐसा नहीं लग रहा होता कि वह कभी छल-प्रपंच भी रच सकता है। शोर मचाता घर में प्रवेश करता और इधर-से-उधर भटकता रहता। जब कभी तो सारा घर सिर पर उठा लेता। कभी झगड़ा करता तो कभी बात-बात में बतंगड़ खड़ा कर देता, पतंग उड़ाता—क्या नहीं करता? वैसे मोहल्ले के लोग उसका हमारे यहाँ इस तरह आना-जाना एकदम पसन्द नहीं करते रहे। क्या कुछ नहीं बोलते रहे वे?" क्षिनि अपनी बात को ठीक-ठीक प्रस्तुत कर नहीं पायी। उसके होठों पर टेढ़ी-सी मुसकान फैल गयी। सिर झुकाकर उसने कनखी से मेरी ओर देखा। उसके चेहरे पर लाज-भरा जो भाव उभर आया था, उसके बारे में कुछ न बताना ही अच्छा होगा। पड़ोसियों की इस काना-फूसी से वह थोड़ी-परेशान-सी नजर आने लगी थी, यह जानते हुए कि उनके मुँह में जो आये उसे बकते रहने का क्या आशय था? पड़ोसी हो चाहे राहगीर—हम सब भी तो वही हैं, वैसे ही हैं। मैं भी इनसे अलग नहीं।

अलका चक्रवर्ती उर्फ़ क्षिनि का हृदय किसी झूले पर सवार था। शायद कहीं कोई फूल खिल उठा हो। या फिर अनचीन्हे-से कोने में, कहीं कोई कली चटकी होगी। और हेनरी क्या सिर्फ़ हेनरी ही हो सकता है, कोई भौंरा नहीं?

झिनि हौले से मुसकरायी। फिर मेरी ओर देखती हुई बोली, "हेनरी भी उन बातों को लेकर मेरा मज़ाक़ उड़ाता और कहता, 'मोहल्ले के लोग अपने भाई-बहनों के बारे में भी ऐसा क्यों नहीं सोचते?' मैं उसे 'हेनरी दा' कहती। कहती, 'तुम मेरे सचमुच के भाई थोड़े न हो?' वह एकदम गुस्से से लाल हो जाता और कहता, 'तो यह बता मैं तेरा सचमुच का क्या हूँ?' मैं कहती, 'तुम तो मेरे भैया के दोस्त हो।' इतना सुनते ही वह आग-बबूला हो उठता। उसको चिढ़ाने में तब बड़ा मजा आता। फिर वह भी मुझे छेड़ता रहता।" झिनि मुसकरा उठी।

सचमुच! एकदम पागल था। लेकिन उसकी मति इस तरह मारी जायेगी, किसे पता था?" ब्रह्मनारायण हमारी बातों को कब से सुन रहे थे, नहीं मालूम।

हम सब एक बार फिर चुप हो गये। उन दिनों की सारी स्मृतियाँ कहीं दूर जाकर डूब रही थीं कि झिनि फिर बोल उठी, "वह अब भी जेल से हर हफ़्ते चिट्ठी लिखा करता है। उन चिट्ठियों को पढ़कर उसके प्रति और भी सहानुभूति बढ़ती है। वह बराबर लिखता रहता है, 'मैं अब तक जिन्दा हूँ, यही मेरे लिए सबसे बड़ी सज़ा है'।"

झिनि चुप हो गयी। क्षण-भर बाद उसने पलकें उठाकर कहा, "आपको बुरा तो नहीं लगा?"

"मुझे क्यों बुरा लगने लगा भला?"

"आपको इतना कुछ सुनना पड़ा।" आधुनिका ने औपचारिकतावश पूछ लिया। मैंने कहा, "इसमें बुरा लगने की क्या बात है?"

"आप हैं, इसीलिए तो कहा।" झिनि आश्वस्त हुई।

मैं कितना कुछ समझ पाया, उसमें कितना सही या ग़लत था—इसे दावे के साथ बताता भी कैसे? किसी चीज़ को एकदम सही रूप में जान पाने की मेरी योग्यता है ही कितनी? ऐसा होता तो रास्ते-रास्ते भटकने की क्या ज़रूरत थी? जानकर भी सब कुछ अपरिचित-सा रह जाता है, या जहाँ जाना है वहाँ भी नहीं पहुँच पाता। मैं झिनि की पीड़ा का अनुभव कर रहा था लेकिन मेरा अन्तर हेनरी की बातों से भी उद्विग्न हो उठा था—'अब तक जिन्दा हूँ, यही मेरी सबसे बड़ी सज़ा है।'

ठीक इसी समय गाजी की हाँक सुन पड़ी, "दांसचूड़ आ गया बाबू!" सुनते ही ब्रह्मनारायण ठनके। उठकर खड़े हो गये और बोले, "अच्छा, आ गया?"

गाजी ने तुरत हाथ उठाकर जताया, "बैठिए बाबू, बैठ जाइए। अभी

झिनि अब भी मेरी ओर देख रही थी। कल विदा के समय उसकी जो तसवीर थी, उसकी भी याद ताजा हो आयी। उसके चेहरे पर उदासी-भरी छाया थी। जहाँ खुशी की चमक थी, वहीं अब निराशा-भरी परछाईं उतर आयी थी : कृष्णपक्ष का चाँद जो रात्रि के अन्तिम प्रहर में मद्धिम हो जाता है। राह चलते हुए इतना ही दीख था। गाड़ी अब तक रुकी नहीं थी। माँ ने हँसते हुए कहा, "अच्छा तो बेटा, चलूँ!" उन्हें तनिक बुरा तो लगा ही होगा।

मैंने अपना सिर झुकाकर कहा, "ठीक है। मेरा दुर्भाग्य है।"

मैं अपनी बात पूरी करता कि तभी विदुषी का स्वर झंकृत हो उठा, "आप इस बारे में कुछ मत सोचिएगा। दुर्भाग्य किसका है, यह तो आप अच्छी तरह समझते होंगे।" कहते हुए वह बेटी का हाथ पकड़कर आगे बढ़ गयी। झिनि ने एक बार पीछे मुड़कर देखा। मैंने कहा, "मुझे गलत मत समझिएगा।" मैं सचमुच असहाय था लेकिन फिर उस ओर से कोई जवाब नहीं आया।

गाड़ी रुक गयी। ब्रह्मनारायण पुकार उठे, "आ री झिनि!"

झिनि ने अपना पाँव आगे बढ़ाया। फिर अचानक पीछे मुड़कर कहा, "आपका पता मेरे पास है, याद है न!"

"हाँ, याद है।"

"सचमुच!" उसके होठों के कोने पर मुसकान खेल गयी।

"देखा जायेगा। अच्छा, तो चलूँ!"

"अच्छा!"

उन सबके उतरते ही गाजी पुकार उठा, "जा रहे हैं बाबू?"

"तो यहीं पड़ा रहूँगा क्या?" मास्टरजी ने अपना उत्तर थोप दिया।

गाजी ने खिंचे हुए गले से ही जवाब दिया, "प्रणाम बाबू! प्रणाम लेना माँ रानी, प्रणाम दीदी!"

गाड़ी गड़गड़ाती हुई चल पड़ी और सबकी आवाज उसी में डूब गयी। गाड़ी आगे जाकर कुछ इस तरह मुड़ गयी कि खिड़की से किसी की परछाईं तक नहीं दिखी। पीछे नारियल और सुपारी के पेड़ों से घिरे आम और जामुन के पेड़ों की घनी छाया दीख रही थी।

शरीर पर धूप लग रही थी। सूरज पच्छिम की ओर झुक गया था। शरद काल की यह धूप अब बहुत सुहानी नहीं रही थी। रास्ते के किनारे पर दीखने-वाले पंछी अब गायब थे। इसी समय जैसे किसी ने कान के पास आकर कहा, "अब थोड़ी देर बाबू के पास बैठूँ! समय तो हो ही चला है।"

"और कितनी देर है?" मैंने पूछा।

"ज्यादा दूर नहीं। देखते-देखते ही जा पहुँचेंगे। बशीरहाट पहुँचते ही गाड़ी मिल जायेगी। इन्तजार नहीं करना पड़ेगा।" मैं जानता था गाजी मुझे इस तरह क्यों ढाढस बँधा रहा था। मैं थोड़ा सरक गया और उसे बैठने को कहा।

"क्यों बाबू ! तकलीफ़ तो नही हो रही है ?" गाजी की दरपन-सी आँखों में स्नेह और करुणा थी।

"नही तो। क्यो ?" मैंने कहा।

"इतनी देर हो गयी। नहाना-धोना खाना-पीना, कुछ भी तो नहीं हो पाया। आपको तो आगे भी कितनी दूर जाना है।" गाजी परेशान लगा।

ख़ैर, वह तो होगा ही। यही तो रास्ते की रीत है, जिसे मैंने अपने स्वभाव में उतार भी लिया है। मैंने कहा, "यह कोई नई बात नही।"

"मुझे तो बार-बार यही कचोट रहा है कि मेरी नादानी से बाबू को इतना कष्ट उठाना पड़ा। क्यों बाबू, इस गाज़ी की याद तो रहेगी न ?"

"अरे, क्यों नही।" मैंने उसकी तरफ़ देखकर कहा।

"तो बाबू, आपसे एक बात कहूँ...?"

'कहो !"

"बाबू, अगर कभी मौका मिले तो हाड़ोया के मेले में जरूर आइयेगा। फागुन महीने की बारहवी को। वहाँ पीर गोराचाँद का मेला लगता है। आइयेगा न बाबू !"

उसकी आँखे भर आयीं। दरपन-सी यह आँखें झिनि की नहीं। मुझे याद आया, हाड़ोया का मेला उसके लिए सिर्फ़ पीर गोराचाँद का ही मेला नही, वही तो उसे नयनतारा मिली थी। यह मेला गाज़ी और नयनतारा का मिलन-मेला था। मैंने उससे पूछा, "तुम तो हर साल वहाँ जाते होगे !"

"जय मुरशेद ! क्या पूछा रहे है बाबू ? हाड़ोया नही जाऊँगा तो और कहाँ जाऊँगा ! इतना बड़ा मेला और कहाँ लगता है !

मैं गंभीर बना रहा। कुछ देर बाद पूछ सका, "तुम्हारी नयनतारा भी जाती है क्या ?"

गाजी हा...हा...हा करके हँस पड़ा, "यह भी कोई पूछने की बात है बाबू ? उसे साथ नही ले गया तो गाज़ी की गर्दन ही उतार ली जायेगी।"

सर्वनाश ! एकदम गर्दन ही साफ़। फिर तो गाजिन के बहाने ही उसकी गर्दन बची हुई है ! अधर को साधने के लिए ही उसने वहाँ अपनी प्रकृति को प्राप्त किया था। यह तो उसका स्मृति-तीर्थ था, मुरशेद से मिलाने वाला तीरथ। वहाँ जाकर दोनों विवाह की वर्षगाँठ मनाते हैं। फागुन की बारहवी तिथि—हाड़ोया उसी प्रकृति-प्राप्ति की सालगिरह मनाने की जगह है। वहाँ

जाने का मतलब और क्या है ?

"मौका मिला तो जरूर आऊँगा" मैंने कहा।

वशीर हाट आ गया था। ढेर-सी गाड़ियाँ खड़ी थी। देर हो जाने के बावजूद, हम दोनों ने बैठकर चाय पी। विदा के पहले ज़रा गला तो तर कर लें।

मैंने चाय पीते-पीते पूछा, "तुम तो कल से ही घर से ग़ायब हो। तुम्हारी नयनतारा चिन्ता नही कर रही होगी ?"

गाजी ने हँसकर कहा,, "यह कोई नयी बात थोड़े है बाबू; ऐसा तो कई बार हुआ है। अब बाहर तो जाना ही पड़ता है। नयनतारा अपने बाल-गोपाल को लेकर..."

मुझे ऐसा लगा कि किसी ने मेरे गाल पर तमाचा मारा हो। यह आदमी क्या कह रहा है ? इतनी देर तक पुरुष और प्रकृति के संग ऊपर जाने की बातें कर कर रहा था और अब बाल-बच्चो की बात कर रहा है !

मेरी परेशानी से गाज़ी भी परेशान हो उठा, "क्या हुआ बाबू ?"

"तुमने बताया था न कि पति-पत्नी की तरह कोई घर-गिरस्ती नही, मन का मानुष...।"

मैं अपनी बात पूरी न कर पाया। गाजी एकदम शर्मिन्दा हो उठा। किसी तरह हँसकर बोला, "यह बन्धन मैं बाँध नही पाया बाबू ! वह बड़ा ही मुश्किल काम है।"

यह तो उसने ठीक ही कहा। गाज़ी, जो अँगरखा पहनकर दीन-दुखियों के रखवाले की खोज मे निकल पडा है। जिसके लिए मुरशेद ही सत्य है, बाकी सब कुछ मिथ्या है। तो फिर दोनों मियाँ-बीवी और बच्चे-कच्चे, यह सब क्या है ? पाप है क्या ? गाज़ी बोला—"बाबू, अब हम दोनो मियाँ-बीवी हैं। साथ ही, मुरशेद नाम की मजदूरी भी चल..."

"नही छोड़ पाये। क्यों ? ख़ैर, बाल-बच्चे कितने हैं ?"

"चार हैं।"

गजब है यह गाजी। मुरशेद के नाम मे सचमुच ही कोई चमत्कार है। जो अब तक संसार के बाहर दीख रहा था, वह भी संसार के करोड़ों लोगों में शामिल है। वह अपनी सन्तान के प्रति कितना सदय और बीवी की ख़ातिर कितना उदार है। कही स्नेह से करुणार्द्र, तो कही प्रेम में गद्‌गद्। झोली, ढपली और अँगरखे के साथ, बंगाल का एक गायक अपनी चर्या में एकदम आम आदमी की तरह है।

गाजी, सचमुच ही पाजी है। मैं हँसता या फिर उसपर गुस्सा होता, इसके पहले ही मेरी गाड़ी चिल्लाने लगी। मेरा अन्तर विह्वल हो उठा। मैंने अपनी

जेब में हाथ डालकर कुछेक रुपये निकाले और कहा, "बच्चों के लिए कुछ ख़रीद लेना।" मैं गाड़ी पर दौड़कर चढ़ गया। उसकी ओर देखते-देखते मैंने हाथ हिलाया। मुझे ऐसा सुन पड़ा, जैसे वह कह रहा हो—"फागुन की बारह तारीख़—बाबू, हाड़ोया के मेले में..."

क्यों ? और किस लिए ?

यह कैसे बताऊँ ? कौन है जो बार-बार घर से बाहर निकाल देता है ? उस पागल का नाम नहीं जानता, जो पुकार रहा है और किसी दीवाने की तरह भटकाता हुआ ले जा रहा है। उसे ईश्वर कहूँ ? नहीं, उसके साथ तो कुछ भी जान-पहचान नहीं। यहाँ तो न किसी ईश्वर की बात है और न उसके अन्यान्य प्रतिरूपों की। उसे भी तो सुनकर या पढ़कर अथवा चित्रों या मूर्तियों में ही जाना जा सकता है, ऊपरी तौर पर। उसका निवास कहाँ है, यह पता नहीं। अगर इस दुनिया के बारे में कहूँ तो इससे तो केवल हानि ही उठानी पड़ी है, लाभ क्या हुआ ? रक्त-माँस का सस्कार इस कार्य में मेरी कोई सहायता नहीं कर पाया। बल्कि कुछ नही कर पा सकने की मानसिकता से रिक्तता ही आयी है।

पता नही, इन सबके बीच भी क्या कुछ रह गया है ? कुछ है, जिसके बिना यह सारा का सारा खाली या फिर अधूरा-सा लग रहा है। उस नाम हीन, अनजाने का पता-ठिकाना पाने के लिए ही भटक रहा हूँ—अन्तर में प्यास लिये। इसी आस के साथ चला जा रहा हूँ। पता नहीं, कुछ मिलता भी है या नहीं ?

रास्ता सीधा न था, घूमकर जाना पड़ा। हमे छातिम तला जाना था। शान्तिनिकेतन का छातिमतला। पौष मेले की पुकार पर, 'आओ'''आओ, तुम सब आओ।' जहाँ महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का आश्रम और रवीन्द्रनाथ का शान्तिनिकेतन है। वटतला है, जहाँ से महर्षि सूर्योदय देखा करते थे। जिस दिन महर्षि वहाँ दीक्षित हुए थे उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ था कि उसी दिन उनका पुनर्जन्म हुआ है और तभी से सात पौष का दिन इसी रूप में मनाया जाता। वीरभूम अंचल में स्थित उसी लीला-भूमि की यात्रा शुरू हो गयी जो जोगिया रंग से रंगी पड़ी है। साथ ही, महर्षि के अमृतपुत्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कीर्ति भी जुड़ी हुई है। वहाँ तिल-तिल जोड़कर तिलोत्तमा-का-सा स्वरूप नहीं बना, सारे विश्व को समेट कर विश्व-भारती बनी है—'विश्वं भवत्येकनीडम्।' यह तो

किसी यशस्वी की कृति है। इसके अलावा यहाँ की मिट्टी का एक अलग ही आकर्षण है, जिसे महर्षि ने अपने ध्यान में सिरजा था, कुछ इस तरह, जिस तरह मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की ऋचाओं में वह उद्भूत हुआ था। इसीलिए मैं यहाँ तक आ पहुँचा। महर्षि-तीर्थ, कवितीर्थ और विश्व-प्रांगण में—इन सबके केन्द्र में है छातिमतला। अवसर था, महर्षि के उसी दीक्षा-दिवस के अनुष्ठान का, सात पौष का, और उसीसे जुड़ा हुआ था पौष मेला, जहाँ विभिन्न रंग-रूप का रंगारंग आनंद लेने आ पहुँचते हैं, सारे बंगाल का उत्कर्ष और ऐश्वर्य जहाँ एकत्र हो जाता है। इन बातों को सुनकर ही तो मैं भी यहाँ पहुँचा था।

लेकिन चक्कर कुछ वैसा ही रहा। मैं छातिमतला तक घूमता-फिरता हीं पहुँचा था। कलकत्ता से नहीं, संथाल परगना से होता हुआ। पहले अण्डाल और फिर वहाँ से टेढ़े-मेढ़े रास्तों का सफ़र खत्म कर इधर बढ़ा था। देह पर अब तक दक्षिणी हवा की चिपाचिपाहट थी। ग्राज़ी के काले चेहरे की चमक झिलमिला जाती थी। राढ़ की मिट्टी रंगी हुई है और वह सुदूर संथाल परगना के अंचल तक फैल गयी है। और इसमें सिर्फ़ मैं ही नहीं, जहाँ तक यह ठण्डी हवा उड़ती चली जा रही है वहाँ तक सारे जन-जीवन, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों पर इस रंग की छाप है। इस पर अगर फागुन का रंग छा जाये तो क्या कहना!

मैं जिस गाड़ी पर सवार था वह साँइथिया जा रही थी। वहाँ से बोलपुर स्टेशन और उसके बाद शान्तिनिकेतन। वहाँ से छातिमतला, असली शान्तिनिकेतन। मेरी बगल में एक बूढ़ा बैठा हुआ था। उसे देखकर यह समझ पाना कठिन था कि वास्तव में वह क्या करता होगा। चेहरे और पोशाक से किसी किसान की तरह ही लग रहा था। मेरी खुली हुई किताब के पन्नों पर उसकी आँखें लगी थीं। उसने दो-एक बार अपने होंठों को भी हिलाया। हो सकता है, उसने शब्दों के हिज्जों को ठीक से बिठाने के लिए ऐसा किया हो। अगर वह पढ़ा-लिखा समझदार आदमी होता तो मेरे लिए थोड़ी परेशानी होती। अच्छा हुआ। मैं भी देर तक होंठों को दबाये हुए बैठा रहा, लेकिन हँसी रुकी नहीं। किताब से अपनी नज़र हटाकर मैं दूर देखने लगा।

अण्डाल के निकलते ही उसने पूछा, "कहाँ जायेंगे?"

मैंने उसे छातिमतला नहीं बताया। शान्तिनिकेतन भी नहीं।

"बोलपुर"—यही बताया था।

"ओ! साँइथिया जाकर गाड़ी बदलनी पड़ेगी तब तो"

इस सूचना के साथ ही वह फिर उसी काली किताब पर झुक गया। उसके रूखे और शिकन भरे चेहरे पर एक साथ कई भाव आये गये। वह अपनी आँखें सिकोड़ कर कुछ पढ़ने की कोशिश करता और बीच-बीच में अपने होंठों से

कुछ बुदबुदाने लगाता। अगर उसने एक बार भी सिर उठा कर कुछ पूछा होता तो मैं उसे छातिमतला का सारा वृत्तान्त बता देता। लेकिन उसने कुछ पूछा नही। मैं भी किताब खोले बैठा रहा।

खिड़की के उस पार, बाहर, आकाश अपने अनन्त विस्तार के साथ फैला था। साफ़-सुथरा और चिकना। नीलम की तरह पारदर्शी। पता नही, मैं अगर अपना चेहरा बाहर निकाल कर उसमे झाँकता तो देख पाता या नही। धीरे-धीरे जैसे-जैसे ठण्ड कम होती जा रही थी, आकाश भी धुँधलाता जा रहा था। नीचे धान के खेत फैले थे। कटनी हो चुकी थी। बीच-बीच में छोटे-छोटे गाँव थे और यहाँ-वहाँ ताड़ के पेड़। आम-जामुन के पेड भी खड़े थे। गाँव की धूल मे नंग-धड़ंग बच्चे खेल रहे थे। क्या उन्हे ठण्ड नही लगती? पूस की हवा उनकी हड्डियों को नही भेदती? बड़े-बूढ़े भी पीठपर धूप की गठरी लादे यहाँ-वहाँ अड्डा जमाये बैठे थे। रेल की पटरी के किनारे जो पोखर थे वहाँ भी गाँव की औरतें, लड़कियाँ नहा रही थीं, कपडे कूट रही थी। चरवाहे गायें चरा रहे थे। भाई चरवाहे, इतना ख्याल रहे कि वे मूँग-मटर या उडद के पौधों की तरफ न मुड़ जायें। जहाँ कही गन्ने के खेत लहरा रहे थे। बैलगाड़ियाँ चली जा रही थी। किसी पर सारा परिवार लदा था तो किसी पर भूसे की टोरियाँ। कोई-कोई खाली ही रपटती चली जा रही थी।

बीच-बीच मे जब-तब कोई तालवन दीख जाता। राढ़, विशेषकर उत्तर-पश्चिम राढ मे जहाँ कहीं भी ऐसे जलाशय होते, वहाँ ताड़-के पेड़ो का घेरा अवश्य होता।

वैद्यनाथपुर स्टेशन के गुजरते ही गाड़ी ढलान की तरफ़ बढ चली। उसके साथ ही सारी प्रकृति जैसे नीचे उत्तर आयी थी। मेरे पाँव के नीचे 'गुम धुम धुम गुम' जैसी आवाज़ हो रही थी। आकाश आगे की ओर फैल गया था। दूर-दूर तक उसके बीच लाल रंग का रेतीला मैदान धूप में तप रहा था और उसके सीने से धुँआ-सा उठ रहा था। लाल मैदान के इर्द-गिर्द ऊँचे-नीचे पेड़ और उबड-खाबड़ ज़मीन। पुल पर से ऐसा लगता था, मानो एक बहुत बड़ा धूसर अजगर धूप में कुण्डली मारे अलसाया पड़ा है। उसकी देह पर हरी-नीली धारियाँ खिची हुई है और धूप मे उसकी खाल चमक रही है। उसके किनारों पर काली-पीली मूर्तियाँ हिल डोल रही थी। शायद कपड़े साफ़ कर रही थी।

मुझे लगा, मैं इस नदी का नाम जानता हूँ शायद। क्या पता, कुछ दूसरा ही नाम हो? मैं इसी असमंजस से पड़ा सामने देख रहा था कि बूढे ने कहा, "यह अजय नदी है।"

अजय नदी! मैंने मुड़कर देखा। बूढा नदी नही, मेरी तरफ देख रहा था।

चेहरे पर कई दिनों की दाढ़ी-मूंछ। उसने धीरे से मुसकरा कर पूछा, "आपने इसे पहले कभी नहीं देखा ?"

"नही।" मैंने गर्दन हिलाकर कहा।

"इसके बाद कस्टगेरम है, बीरभूम शुरू हो गया।" बूढ़े ने बताया। नये मुसाफिर को इस बारे मे थोड़ी-बहुत जानकारी दे देनी चाहिए, शायद यही सोचकर उसने कहा हो।

अजय नदी पीछे बहती रही। हम बीरभूम की तरफ़ बढ़ चले थे। नयं स्टेशन पर गाड़ी लगी थी। चढ़ते-उतरते मुसाफिरो का शोरगुल शुरू हो गया था। संथालियो का एक झुण्ड डिब्बे मे घुस आया। औरत-मर्द, लड़के-लड़कियाँ सभी थे। उनमे से कुछेक बड़े अजीब-से लग रहे थे। दिन चढ़ चुका था, इसलिए भीड़ भी बढ गयी थी। आपस मे हँसी-चुहल का बाजार गरम हो उठा। एक था जो गीत मे मस्त हो रहा था—'अब और नही सहा जाता ओ ठकुरानी…' सुनते ही एक बार मेरा माथा ठनक गया। उधर ठहाके लग रहे थे। संथालो के उस झुण्ड मे कई-एक जवान छोकरे भी थे जिनके सिर पर बड़े-बड़े रूखे बाल छितराये थे। वहाँ धुँआ उड़ाने का अड्डा-सा जमा था। सब-के-सब अपनी गपशप मे खोए हुए। युवतियाँ उनकी बातें समझती थीं, यानी जो समझना था, वह समझ रही थी। उन्हें देखकर जवान लड़के क्या कुछ कहते-करते हैं, वे यह भी जानती थी। लेकिन शायद यह नही जानती थीं कि उन्हें अपने शरीर के अंगो को कैसे ढँकना चाहिए। वे सब एक-दूसरी की आँखो मे झाँककर अनायास हँस देती।

"सालो ने शराब पी रखी है।" मेरे पास बैठे बूढ़े ने कहा।

उसने उन सथालो के लिए ही ऐसा कहा होगा। सथालिनें अपनी ही दुनिया मे मस्त थी। सब-की-सब सजी-धजी थी। मर्द सफ़ेद धुले कपड़ों मे थे, औरतें सफ़ेद साड़ी मे। किसी-किसी ने कुरती भी पहन रखी थी। मैं हैरत मे था कि महँगाई के इस दौर मे इन्होने अपने सिर मे इतना तेल कहाँ से डाल रखा है। इतने चमकते बाल! इतना ही नही, उन्होंने जूड़े मे अजीब-सी कोई चीज खोसी हुई थी। धान की बाली की तरह लबी-सी कोई चीज जो सिर के ऊपर से उठती हुई पीछे कनपटी की तरफ़ मुड़ गयी थी! ज़रा-सी मुड़ी नही कि वह डोल उठती। पता नही, क्या था? न तो धान की बाली, न कोई घास। लगता था, फूलों का पराग हो। जिनकी उम्र ज्यादा थी, उन्होंने इसे नही खोंसा था। किशोरियों और युवतियों से यह कैसे छूट जाता?

वे सब-की-सब ऊँचे स्वर मे गाने लगी जिसे सुनकर बग़ल मे बैठा बूढा झल्ला पड़ा, "अब तुम लोग चुप भी होगी या नहीं, एकदम कान ही तो खा लिये।"

मैं इस बूढ़े के साथ अण्डाल से चला था। उसके ऊबड़-खाबड़ और ताँबई चेहरे को देखकर लगता था कि वह इस अंचल की धूप, बारिश और तपिश से परिचित है। यहाँ की मिट्टी की तरह ही उसके चेहरे के रंग थे। वैसे उसके बाल एकदम काले थे, इसलिए चेहरे पर मोटी-मोटी रेखाओं के बावजूद मैं उसकी उम्र का कोई हिसाब नहीं लगा पाया। आँखें काली, लेकिन उनमें एक तरह का धुँधलापन भी तैर रहा था। उसने एक सूती पैंट पहन रखी थी और कुरते के ऊपर ख़ाकी रंग का एक लंबा-चौड़ा कोट डाल रखा था, जो जगह-जगह से चीकट हो चला था। हो सकता है, किसी फ़ौजी से मिल गया होगा। खुद कोई फ़ौजी रहा होगा, ऐसा तो नहीं लगता। हो सकता है, उसने दूसरे ही मोर्चों पर लड़ाइयाँ लड़ी हों। उसके पैरों में हवाई चप्पल थी, जो उस फ़ौजी कोट के मुकाबले बहुत ही निरीह लग रही थी। लगता है, चीजें जैसे-जैसे जुटती गयीं, चढ़ती चली गयीं। पाँवों को जब ठण्ड काटती होगी तो उसे ही पता चलता होगा। इसीलिए उसके श्रीचरणों की दशा बहुत ही करुण थी। ठिठुरती हुई उँगलियों की बिवाइयों में खून भी रिसता रहा होगा। उसके दाग भी थे कहीं-कहीं।

मैं उसे जब से देख रहा, वह अपने सामने एक खुली किताब पर ही झुका हुआ था। जिल्द पर कहीं कुछ लिखा न था, न उसकी ओर उसका ध्यान ही था। आँखें एक ही जगह जमी हुई थी। बीड़ी पीने की आदत थी उसे। इसलिए रह-रह कर उसकी दियासलाई की तीली जल उठती। इस तरह उसका इतने गहरे डूब जाना भी मुझे खल रहा था। ऐसा अक्सर नहीं होता। अब गुस्सा आए कैसे नहीं? भले ही, यह सरकारी गाड़ी थी लेकिन आपसी तालमेल भी कोई चीज़ है। सरकारी हो या साहूकारी, सहकारी हो या गैर सरकारी, हर कहीं से कोई-न-कोई अपेक्षा तो होती ही है। वह उन लोगों को डपटता हुआ मुझसे बोला, "जरा देखिये तो महाशय, क्या हंगामा मचा रखा है।"

उसकी आवाज में खनक थी। बोलने का ढंग भी कुछ निराला ही था। उसमें ठनक भी थी और थोड़ा बनावटीपन भी। उसे सुनकर वे सभी कुछ देर के लिए ठिठके। उन्होंने एक साथ उसकी तरफ़ देखा।

"क्यों, तुझे किसी ने कुछ कहा है?" एक बूढ़े संथाली ने हँसते हुए पूछा।

"अरे मुझे क्या कहेगा कोई? लेकिन इतनी चिल्ल-पों क्यों हो रही है?" वक्ता ने उसे झिड़क दिया।

बूढ़ा चुप बैठा रहा। दूसरे भी। गाने वाले टुकड़ों में से कोई गा रहा था, "लिखना-पढ़ना सीख गये, फिर भी न समझ पाये।"

मुझे लगा कहीं कोई हंगामा न उठ खड़ा हो। नहीं, कुछ भी नहीं हुआ। उधर सभी अपनी बातचीत और हँसी-ठट्ठे में मस्त थे। हाँ, इतना जरूर [illegible]

हो चला था। इस पढ़ाकू वक्ता की नजर अब मुझपर टिकी थी। चोर तो भाग गये। पकड़ा गया मैं। जैसे उस खामोशी का गवाह मैं ही था।

मैंने अपना मुंह घुमा लिया था, लेकिन उसी समय फिर उसकी आवाज आयी, "अब इन वज्र मूर्खों को क्या समझाऊं। भला बताइये तो? आज का दिन तो गया। कल मेरी सद्गति है। यह कोई बैठे रहने का समय है?"

सद्गति! मैं चौंक गया। यह क्या बात हुई! उसने मेरी तरफ किताब बढ़ाते हुए कहा, "आप यह किताब देख ही रहे हैं—'बंगाल की गद्दी', यह कोई नाटक नहीं, जात्रा है। इसमें मेरी सिराज की भूमिका है, सबसे लम्बी। मैं लोकोशेड में काम करता हूं। चार्जमैन छुट्टी देता नहीं, इसीलिए सफ़र में आते-जाते इसे याद कर रहा हूं। अब यह सब क्या बताऊं और किसको बताऊं मैं?"

"अच्छा तो यह बात है," मैंने थूक निगलते हुए कहा।

"नहीं तो मैं रोक क्यों रहा था? आप बोलपुर के शान्तिनिकेतन के बारे में तो जानते ही होंगे?"

"हाँ, जानता हूं," कहते हुए मैं समझ गया था कि वह इतना बौखला क्यों उठा था। 'बंगाल की गद्दी' का नायक सिराज शान्तिनिकेतन को जा रहा था।

"वहाँ मेला लगता है, यह भी जानते होंगे?"

"हाँ, सुना है।"

परसों से मेला लग रहा है। नौ पौष की रात हमारी जात्रा है वहाँ। अब मैं इन लोगों को क्या समझाऊं भला?"

पौष मेला की जात्रा! अचानक मुझे यह आदमी अपना-सा लगने लगा। छातिमतला के समारोह में होने वाली जात्रा का नायक मेरा सहयात्री! 'बंगाल की गद्दी' का सिराज मेरे साथ!!

मेरे तन-मन में एक विह्वल रोमांच-सा जाग उठा था। बात केवल जात्रा की ही नहीं थी। जात्रा के नायक को देखकर मैं भी तो कभी जात्रा का नायक बनना चाहता था, जिसे देखते-देखते और रमते-रमते मैं घर-द्वार तक भूल गया था। उसने भी इसमें अपना नाम लिखा लिया था। उस समय कैसी शान थी! यह लड़का 'जात्रा दल' का लड़का है! कभी यह प्रह्लाद बनता है तो कभी पीताम्बर धारे मुरलीधर। स्कूल-घर से भागता, और जात्रामंडली के साथ घूमता-फिरता। ऐसा नहीं था कि घर में स्नेह भरी गोद न

थी, या मुंह का दाना-पानी छोड़ कर माँ की आँखों से आँसू नहीं झरते थे। कोठरी में वह रात-रात भर अपनी व्याकुल आँखों से चारों ओर हेरती रहती। लेकिन इधर पीठ पर जो नगाड़े बजते, इससे भी यह त्रस्त हो जाता। अन्ततः उसी नगाड़े की चोट से घबराकर उसने जात्रामंडली को नमस्कार कर लिया था।

जात्रा के नाम से कितने ही स्वप्न उसकी आँखों में तैरने लगते हैं। तन में सिहरन और मन में पुलक जाग उठती है। जात्रामडली क्या है ? रहस्यपुरी या माया नगरी या कि एक विचित्र ससार ! बचपन में उसका द्वार खोलने के बावजूद मैं अन्दर न जा पाया। तब से लेकर अबतक मन मे जैसे कोई ललक सी जगी हुई है। कभी सोचा था कि मैं भी एक दिन राजा बनूंगा, शहशाह का रूप धारूंगा। आज वह सब कुछ कहाँ चला गया ? राजा और नवाब, दीवान और काज़ी के सभी सपने डूब गये ! अब जेब में क़लम है और कांधे पर झोली।

लोकोशेड के चार्जमैन से आतंकित नवाब सिराजुद्दौला सामने बैठे थे। छुट्टी माँगे नही मिलती, इसीलिए कानों के पास ही मंत्र बुदबुदाते हुए पाठ कठस्थ किया जा रहा था। लोकोशेड में नौकरी कौन-सी थी, मैं यह जानकर तनिक आश्वस्त होना चाहता था।

मैंने पूछा, "आप वहाँ क्या करते हैं ?"

"क्लीनर हूँ।" उधर से जवाब मिला।

एक दम क्लीन जवाब ! बात इसकी भी नहीं थी। वहाँ तो 'बंगाल की गद्दी' और सिराजुद्दौला के अभिनय का प्रश्न था। वह क्लीनर हो या फायरमैन—इससे क्या आता-जाता है ? दरअसल मुद्दा कुछ दूसरा ही था, जिसे उठाते हुए उसने कहा, "पहले तो इसका ही पता नही था कि जात्रा होगी भी या नही ! सब कुछ तो दूसरों के हाथ मे है। शायद आप समझे नही। मेले के जो आयोजक हैं, उनके बारे में मैं बता रहा हूँ।"

छातिमतला के हजारों रग हैं, यह मुझे पता था, लेकिन वहाँ जात्रा भी होगी इसका पता न था। मैंने पूछा, "मेला में जात्रा भी होगी ?"

सिराज का तेवर ही बदल गया। रूखे बालों की एक लट जो उसके माथे पर झूल रही थी, झटकते हुए उसने बताया, "एकबार तो बन्द हो गयी थी। अब फिर नये सिरे से शुरू हो रही है। हमने अपने बचपन में एक-से-एक बढ़कर कम्पनी का काम देखा था—एक-से-एक बढ़कर धाँसू अभिनेता। उनके अभिनय के बारे में कुछ कहना छोटा मुँह बड़ी बात होगी।"

कहते-कहते उसकी आँखें नाचने लगी। वह किन्ही पुरानी यादो मे खो गया। उसकी बातों में कही कोई अभिनेता मचल रहा था। यह स्वाभाविक ही था। लेकिन अचानक उसकी आवाज बुझ गयी और वह किसी विषाद मे डूब

गया—"अब न तो वैसी नाटक कम्पनियाँ हैं, न अभिनेता और न अभिनय। कोई मज़ाक थोड़े न था ! अच्छे-अच्छे घरों के लड़के, ब्राह्मणों के बेटे और पढ़े-लिखे लोग ऐक्टिंग करते थे तब।"

उसकी आँखें खिड़की के बाहर कहीं दूर खो गयी थीं। फिर एकाएक मेरी तरफ़ मुड़कर बोला, "अब उस तरह के बाजे भी नहीं बजा करते। उस समय क्लारनेट फूंकते ही दस-पन्द्रह गाँव के लोग यह समझ जाते कि इस 'पें... पें...या पोंड् पोंड्' का मतलब क्या है, अब तो वैसी आवाज निकालने में बजयों की हवा निकल जाये। तब के 'फुलुट' की आवाज भी कैसी गमगम थी...बापरे ! लगता कि बाँसुरी वाले के कलेजे में कोई दस-बीस धौंकनी हो।"

मैं सिराज की बातें सुनकर हैरत में पड़ गया। कहना चाहिए, मन्त्रमुग्ध हो गया। वह जिस तरह से कह रहा था—होंठ दबाकर हँसना या सिर नचा-कर अभिनय करना—मुझे पता न था कि वह अनजाने पहलुओं को इस तरह छेड़ देगा। मुझे यह भी पता न चला कि कब उसने मुझे मेरे बचपन की याद दिला दी और मैं उनींदी रातों की उत्तेजना भरी घड़ियों में खो गया। कहाँ खो गयी वह वंशी-ध्वनि ! सभी रो रहे हैं उसके सुर में—राजा-रानी, पेड़-पर्वत, धरती-आसमान...

कहाँ खो गया है नगाड़े का वह स्वर जो पखावज के साथ ज़ोरों से बज उठता था। झांझर की झँकार के बीच कोई हुँकार भर उठता था—'अरे ओ नराधम, तो फिर ठहर, मैं तेरी गर्दन उतार कर बताऊँगा कि मैं कौन हूँ...' वैसे अभिनेता और वादक हैं भी या नहीं ! कहाँ देख पाऊँगा वह तेवर और मुखमुद्रा, वह गूँजती आवाज...!

मुझे इस बारे में कुछ बताने की ज़रूरत न थी। सिराज ने अपना हाथ मटकाते हुए कहा, अब सब कुछ पर्दे के पीछे ही होता है। मंच तीन तरफ़ से बन्द। मानो सारा खेल घर में ही हो रहा हो। पाठ याद करने की कोई ज़रूरत नहीं, पर्दे के पीछे से बताया जाता है और इशारों में सबकुछ समझा भी दिया जाता है। जो बाजे बजते हैं वे भी मिन-मिन करते हैं, उनमें कोई दम-ख़म नहीं होता। नाटक और थेटर होते हैं, जात्रा नहीं होती। इससे क्या होगा ? जात्रा में उतरने के लिए कलेजा चाहिए। है कि नहीं...बताइये ?"

मैं अपनी गर्दन हिलाकर स्वीकृति भरने जा ही रहा था कि दूसरी तरफ़ से कोई बोल उठा, "हाँ एकदम ठीक कहा।"

मैं कुछ बता न पाया। कहनेवाला एक बूढ़ा था, मेरे पास ही बैठा हुआ। उसकी हँसी में उसकी बढ़ी हुई मूँछ-दाढ़ी डूब गयी थी। हँसते हँसते कहने लगा, "थेटार वगैरा में होता क्या है जी ! बस, नाच-गाने देख लो। अब वह सब लोगों को ख़ाक अच्छा लगे। अरे, खेल तमाशा तभी जमता है, जब दस-बीस

लोगों के बीच खेला जाये।"

उसकी बात कुछ वैसी ही चुभ गयी जैसे जगबहादुर खानबहादुर के रहते कोई छोटा वज़ीर कुछ बोलने की गुस्ताख़ी कर बैठे। सिराज ने होंठों पर टेढ़ी-तीखी मुस्कान रखकर बूढ़े की तरफ़ देखा—इनायत भरी नज़रों से। फिर उसे अनदेखा करते हुए मुझसे बोला, "हां...एक ही बात है।"

रुकिये जहांपनाह। इस नाचीज वजीर को इस क़दर मत ठुकराइये!

बूढ़ा कहने लगा, "हमारे रामपुरहाट मे एक रेल टिकटबाबू थे, लोचनराय। एक साथ दो दो बाजे बजाते। अपनी आंखों से देखा है मैंने जनाब, इसी जात्रा में। एक हाथ में बंसी और दूसरे में वायलिन। एक रखते तो दूसरा उठाते, दूसरा रखते तो पहला उठाते। पसीना पोंछने का समय नहीं मिलता। चेले-चपेटे हाथ में अँगोछा लिये पास बैठे रहते। इतना अच्छा बजाते थे टिकिट-बाबू कि क्या बताऊँ?"

अब सिराज क्या कहेगा? बूढा आदिम युग का जो ठहरा। इतने वर्षों तक आँखें फाड़े, मुंह बाये सब कुछ देखता-निगलता रहा है। देखा नहीं, उसका पेट कितना बड़ा है! अब अगर तुम चाहो या न भी चाहो, तुम्हें उससे भी बड़ा उगालदान लाना पड़ेगा। आखिर उसकी यादों के जख़ीरे मे भी तो कुछ पड़ा है। पता नहीं, कितनी यादें अंगड़ाइयां ले रही है।

सिराज़ का मूड उखडा हुआ था। उसके तिरछे होठों पर अब भी वही मुस्कान खेल रही थी। कुछ वैसी ही, जैसे किसी पागल का प्रलाप सुनकर नवाब साहब मुस्कुरा रहे हों। उसने होंठ चबाकर कहा, "अरे, ये बजवैये कोई पहलवान तो होते नही। मैंने कई बार लोचनराय का बाजा सुना है। बजाते हैं, लेकिन वह बात पैदा नहीं होती जो होनी चाहिए।"

लोचनराय के बूढ़े भक्त के मन में कोई आक्रोश न था। बातें हो रही थी, इसलिए चुप बैठा नहीं रहा गया। हथेली फिराकर बोला, "खैर, यह तो मैं नहीं जानता। हमारा मन तो झूमने लगता। इसके बाद थे गोलायला के किष्टो चौधुरी—उनका अभिनय भी देखा है। जैसा चेहरा मोहरा था, वैसा ही भरा-पूरा कण्ठ-स्वर। राम और रावण—एक समान।"

सिराज की हंसी चौड़ी हो गयी—"शाबाश...। अगर वह मंच पर होता तो ताली भी बजाता। ठीक उसी तरह जिस तरह घसीटी का अभिशाप सुनकर सिराजुद्दौला हँसता और ताली बजाता है। उसने व्यंग भरे शब्दों मे कहा, "अब यह भी कोई बात हुई। रामपुरहाट के किष्टो'दा के बारे में तुम क्या बताओगे? हम दोनो कई बार एक साथ अभिनय कर चुके हैं।"

"तो फिर तुम्हें क्या बताऊँ, तुम तो सब जानते ही हो"—बूढ़े ने हथियार डाल दिये।

सिराज ने कहा, "किष्टो'दा का सब कुछ अच्छा है। बस 'मोशन' नहीं है। सारा वक्त लड़ने-भिड़ने में ही चला चला जाता है। हाँ, अपनी जवानी के दिनों में वे ज्यादा अच्छा काम करते थे।"

इधर बूढ़ा अपनी ही बातों पर अड़ा था—"वह सब तो मैं नही जानता। अभी कुछ दिन पहले 'छिन्नमस्ता' में देखा था। किष्टो उसमें शिव बने थे। बहुत ही जँच रहे थे।"

सिराज़ ने बूढे की बात पर ध्यान नही दिया, बस नवाब-जैसी मुद्रा मे मेरी ओर देखता हुआ टेढ़ी हँसी हँसता रहा। उसकी तिरछी निगाह अब भी बूढ़े की तरफ़ थी। मेरी किसी बात का वहाँ कोई महत्त्व न था। न तो मैंने रामपुर हाट के टिकट बाबू का वादन सुना था और न किष्टो चौधुरी का मंच अभिनय देखा था। लेकिन उनकी बातों से मुझे इतना संकेत मिल गया था कि यदि मुझे लोचनराय या किष्टो चौधुरी कही मिल जायें तो मैं उन्हें पहचान लूंगा। आखिर है तो इसी माटी के। अपने बचपन में मैंने जो कुछ पद्मा नदी के उस पार देखा था, अजय नदी के इस पार भी वही सब था। आख़िर अन्तर भी कितना होता!

सिराज के तेवर और मिजाज को भाँपकर बूढा चुप हो रहा। उसने अभिनेता महोदय को सिर से पाँव तक देखा और फिर खिड़की की तरफ़ खो गया। मैंने सोचा, सिराज शायद अपना पाठ घोटेगा। नही, वह अपनी पिछली बातो का एक सिरा अपने हाथ में लिये बैठा था—"वही तो मैं भी कह रहा था। अब इन लोगों को क्या कहा जाय? दो साल पहले पार्ट किया था। अब सब कुछ याद तो रहता नहीं। कोई रिहर्सल नही, बात नही। इसलिए जितना कुछ हो सकता है. उसे एकाध बार दोहरा ले रहा हूँ। वहाँ पहुँचने पर तो नहाने-खाने की भी फ़ुरसत नहीं होगी।

मैंने सिर हिलाकर हामी भर-दी। कुछ कह न पाया। पर बात छातिमतला और पौपमेला की थी, इसलिए यह सिराज किस जात्रा-कम्पनी का था, यह जानने की इच्छा भी थी। मैंने पूछा, "आपका दल कहाँ है?

सिराज के होंठो पर अवसाद भरी मुस्कुराहट फैल गयी; उसे समेटते हुए वह बोला, "बोलपुर की ही मडली है। लेकिन अब नाम-धाम कुछ भी नही। आजकल जो हालत है, उसमे जात्रा या गान होना संभव नही। शादी-ब्याह और बच्चे-अच्चे होने के बाद यह सब हो नही पाता।"

उसकी परेशानी अकारण नही थी। 'कलाकार' की चर्चा कुछ तो विचित्र होती ही है। अन्यथा लोकोशेड में पड़ा हुआ यह आदमी लोगों का मनोरंजन करने नही आता, कहीं किसी इंजन के चक्के में फँसा होता। भात बहुत बड़ी चीज़ है, वह जात नही देखती। बताने लगा, "फिर भी, ऐसा है कि कोई पुकारे तो

कहाँ पाऊँ उसे

रुका नहीं जा सकता। आवाज सुनी नहीं कि दौड़ा आ जाऊँगा। अब अपने रुपये-पैसे लुटाकर तो यह सब कर नहीं सकता। कोई खोज-खबर ले तो और बात है। लेकिन इस बार तो हमारा भाग्य कि मेले से बुलावा आया है।"

मैंने गर्दन हिलाकर पूछा, "आप शायद बोलपुर में ही रहते हैं?"

"जी, कई पीढ़ियों से। दादा-परदादा के जमाने से।" उसकी आवाज में थोड़ी रुखाई आ गयी थी। यह उसके स्वभाव का अंग था या दोष—मैं समझ नहीं पाया। वह अपने मोटे अँगरखे का एक पल्ला झाड़कर बोला, "मेरे पिताजी भी वहीं काम काम करते थे न, यानी शान्तिनिकेतन में।"

"अच्छा!"

"और क्या?"

इतना बताते ही अचानक जैसे उसकी कीमत बढ़ गयी। वह अधिक सम्मान योग्य हो गया। शान्तिनिकेतन केवल नाम ही नहीं, इसके अतिरिक्त भी वह बहुत कुछ है। सचमुच वह आदमी भाग्यवान था।

मैं यह नहीं पूछ पाया कि वे काम क्या करते थे! उसने स्वयं बताया, "वे घर-द्वार का सारा काम करते। यही नहीं, खेतों पर भी काम करते। बारहों महीने किसी-न-किसी काम में फँसे रहते...वही आपके ठाकुर-परिवार के जमाने में।"

ठाकुर परिवार! कौन ठाकुर परिवार? मेरी आँखों में प्रश्न था।

सिराज ने बताया, "माने...रविठाकुर का परिवार।"

मेरे कानों से जैसे कोई चीज आ टकरायी। जो नाम बहुत दिनों से कई बार सुनता आ रहा था—उसके मुँह से वह बड़ा बेसुरा-सा लगा। इसे विडम्बना ही कहनी चाहिए, या फिर संस्कार। इस आदमी की जबान पर यह नाम कुछ जँचता नहीं। कर्त्ता ठाकुर या ठाकुर महाशय तक तो ठीक है।

मैंने उससे पूछा, "आपने उन्हें कभी देखा था?"

"एक नहीं, कई बार," उसने छूटते ही जवाब दिया। साथ ही, उसकी गर्दन लचकी और फिर अकड़ गयी।

इस आदमी का सारा कारोबार आधा-अधूरा नहीं, पूरा-का-पूरा है। सवाल किया नहीं कि जवाब दागने को तैयार। मुझे उससे कोई ईर्ष्या न थी, न कुछ लेना-देना था। मैं इतना ही सोच रहा था कि इस आदमी ने—जो न तो किताबें लिखता है, न कोई रचना करता है और न किसी सभा-सोसाइटी में भाषण ही देता है, जो मात्र लोकोरेड में काम करता है और जात्राओं में हिस्सा लेता है—उस महान व्यक्तित्व का दर्शन किया है। और मैं अभागा उनके दर्शन तक न कर पाया!

मेरी इच्छा हुई कि मैं उससे पूछूं, क्या कभी उनके साथ कोई बात भी हुई ? इसके पहले ही वह बोल उठा, "हम सब उनकी तरफ़ तो जा नही पाते थे। बच्चे जो थे हम। उनसे डर भी लगता था। हाँ, इन मेले-ठेले के दिनो मे या स्टेशन की तरफ़ जाते हुए ही हम उन्हे देख पाते।" एक क्षण मौन रहने के उपरान्त सिराज ने बात बदलते हुए पूछा, "आप कहाँ जायेंगे ?"

"बोलपुर।" मैंने बताया।

"बोलपुर ? वही रहते हैं क्या ?"

"नहीं।"

"हाँ, तभी तो मैं सोच रहा था—वहाँ के होते तो जरूर पहचान लेता। आप शायद शान्तिनिकेतन मे ही काम करते होंगे ?"

"नहीं ! मेला देखने जा रहा हूँ।"

"अच्छा...अच्छा।" सिराज अपनी जगह पर ही एक बार घूम गया। उसकी आँखों में कोई चिन्ता थी, जिसकी छाया मैं साफ़ देख रहा था।

"पहले कभी आये है ?"

"नही।"

"तो फिर ठहरेंगे कहाँ ? कोई इंतज़ाम किया है या नही ?"

यह तो मैं भी जानता था कि वहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। तिल रखने की जगह नही होती। पहले से ही कोई व्यवस्था न हो तो पेड़ के नीचे ही रात काटनी होगी। इस पौष मेले मे काटती ठण्ड का आंतक बाघ से कुछ कम नही। मन मे चाहे जितनी गर्मी या जोश हो, शरीर की गर्मी को साथ लेकर उससे नही लड़ा जा सकता। इसलिए पहले से ही कोई-न-कोई व्यवस्था होनी चाहिए। अगर टिकना भी हुआ तो उस अपरिचित, किन्तु प्रिय स्थान पर मैं अकेला नहीं, और भी कई होंगे। तो भी जैसा देश वैसी दशा तो होगी ही। मैंने कहा, "हाँ, कोई छोटी-सी व्यवस्था हो जायेगी।"

सिराज ने फिर याद दिलाया, 'देखियेगा सर, अगर इन्तजाम न हुआ तो बड़ी मुसीबत होगी। आजकल इतनी भीड़ होने लगी है कि मत पूछिए !"

"अच्छा, इतनी भीड होती है !" मैं सचमुच परेशान हो उठा।

सिराज की आँखों में अँग्रेज बहादुर की तोप सुलग उठी-जैसे। उसने अपने होंठों को सिकोड़ते हुए कहा, "मत पूछिए। बोलपुर के बाज़ार में चीज़ों के दाम बढ जाते हैं। पता नही, कितने लोग आते हैं। आप जा ही रहे हैं। देखियेगा, कितनी भीड़ होती है ! औरत-मर्द सभी...! जिनको जहाँ भी जगह मिली, वहीं पड़ जाते हैं। कहाँ जायें ?"

भीड़ की बात सुनकर डर जाना मेरे लिए नयी बात न थी। फिर भी अपनी जुगाड़ पर भरोसा था। और मैं केवल छातिमतला ही तो नही जा रहा

था। वहाँ जाने वाले लोग भी तो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उन्हें भी तो देखना था। अन्यथा, यह मेला किस बात का ! यूँ ही, किसी खाली दिन में हो आता। पर इस समय तो सारे बंगाल और आस-पास के अंचल का सारा रंग इसी आयोजन में ढल जाता है। और इस पर भी कोई भीड़ की ही बात करे तो प्रयाग के कुम्भ-मेले से बढ़कर कौन-सा मेला होगा !

सांइथिया आ गया था। यहाँ रुककर दूसरी गाड़ी पकड़नी थी। सिराज मेरे साथ था। मेरे बड़े बैग को उठाते हुए वह बोला, "आप फ़िक्र न करें। मैं सामान ले लेता हूँ—आप चलिए।"

गाड़ी में वैसी कोई भीड़ न थी। सिराज ने मेरे पास बैठते हुए पूछा, "आप कहाँ से आ रहे हैं ?"

"बस, यूँ ही घूमता-घामता।...संथाल परगना की ओर से।"

"अच्छा। तब तो बोलपुर पहुँचने पर ही पता चलेगा कि कलकत्ता की तरफ़ से कितने लोग आ रहे हैं।" सिराज के होठों पर हल्की-सी मुस्कुराहट फैल गयी थी। मैंने उसकी तरफ़ देखा तो वह झेंपता हुआ बोला, "आप जब पौष मेला जा ही रहे हैं तो नौ पौष की रात हमारी जात्रा में जरूर पधारियेगा।"

"हाँ—हाँ, जरूर।"

मैंने मन-ही-मन सोचा। कितने दिन हो गए, कोई जात्रा देख नहीं पाया। शान्तिनिकेतन के पौष मेले में ही इसका सुयोग मिलेगा। पता नहीं, इतने दिनों बाद इसका स्वाद कैसा लगे !

सिराज अब भी मुस्कुरा रहा था। बोला, "आपको वैसे ही कह रहा हूँ सर ! रिहर्सल वगैरा तो हुई नहीं और न पाठ ही याद है। बस किसी तरह हो हवा जाय। और क्या ? यह रोना-धोना तो लगा ही रहेगा।"

मैंने छूटते ही कहा, "अरे-रे-रे, ऐसा क्यों कह रहे हैं ! मुझे जात्रा देखना बहुत ही अच्छा लगता है।"

"ऐसी बात है, फिर तो क्या कहना है ?" सिराज की आत्मीयतापूर्ण लम्बी हँसी फैल गयी, "ऐसा है, तो मैं आपको दावत दे रहा हूँ। मैं सचमुच आपका इन्तजार करूँगा। आप आयें तो मुझे खबर कर दीजियेगा। ग्रीनरूम में पूछियेगा : अतुलदास को बुला दो। बस, मैं आपको मंच पर ले चलूँगा। जहाँ बाजे बजते हैं, वहीं बैठियेगा।"

अतुलदास, सचमुच अतुलनीय था। उसने मुझे जो सम्मान दिया था—वह खूब परखकर ही। जो जात्रा नहीं देखते, वे कभी नहीं जान सकते कि पूरी जात्रा-

मंडली के सामने—पहली पंक्ति में बैठकर जात्रा देखने का क्या आनन्द है! कैसा रोमांच है! अब वह बचपना नही रहा, नहीं तो इस सुख की कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते। इस उम्र में भी कुछ ऐसी ही सिहरन-सी हुई। मैंने हामी भरी, "हाँ आऊँगा।"

अतुलदास के चेहरे पर प्रसन्नता थी। गम्भीर-सी मुद्रा में बोला, "बस इतना ही कह सकता हूँ कि कोशिश पूरी करूँगा। पता नहीं, आप आनन्दित होंगे या नहीं! फिर गहरी उसांस के साथ उसने इतना और जोड़ा, "अब तमाम कोशिशों के बावजूद कुछ नहीं हो पाता। पहले जितना कुछ कर पाता था, अब सम्भव नहीं रहा। अब आपको क्या बताऊँ! 'बंगाल की गद्दी' में सिराज के अभिनय पर मुझे मैडल भी मिला था—यही दो बरस पहले की बात है।"

"अच्छा, ऐसी बात है!"

"और क्या? लेकिन अब तो हर साल गले का ज़ोर कम होता जा रहा है। इतना चीखना-चिल्लाना पड़ता है! क्या खाकर चिल्लाऊँगा भला? जात्रा के अभिनय मे असल चीज़ है साँस। दम-खम नहीं रहे तो आवाज़ कहाँ से निकले! और आजकल जो महँगायी है उसमें क्या बताऊँ कि बाल-बच्चों के साथ भरपेट भोजन तक नहीं जुट पाता। बस, आपको ही बता रहा हूँ।

सिर्फ मुझे ही क्यों? यह बात तो सबको बतानी चाहिए। लोकोशेड का क्लीनर तो फिर भी किसी तरह अपना जीवन चला रहा है। इसके साथ ही, उन कलाकारों का भी प्रश्न है, जिनके सीने की साँस चुक रही है, गले की आवाज़ घुट रही है, फिर भी सकोचवश किसी को कुछ कह नहीं पाते।

अतुलदास का गला रुँध गया था शायद। इसीलिए वह अन्यमनस्क भाव से खिड़की के बाहर ताकने लगा था।

बाहर खेतों मे धूप ढल रही थी।

मेरी इच्छा हुई कि मैं उससे पूछूँ कि सारी दुनिया का कुल वज़न कितना है और अतुलदास के कन्धे पर संसार का कितना बोझ है। लेकिन इसकी कोई ज़रूरत नहीं पड़ी। और पूछकर ही सब कुछ नहीं जाना जा सकता कि बताओ भाई, तुम्हारी हैसियत क्या है। बिना पूछे ही इस क्लीनर की मुद्रा सबकुछ बता रही थी। धूल में अटे, नंगे-अधनंगे, भूखे-रूखे बच्चों को देखकर ही पता चल जाता है कि वस्तुस्थिति क्या है? फिर भी जो हँसते-खिलखिलाते हैं, हथेली से

अपनी नाक पोंछते हैं और धूल में लोट-लोटकर अपनी जीत मनाते है। मृत्यु इस अभिशप्त जीवन से हर पल अपना हिसाब माँगती रहती है और उसे नष्ट कर देना चाहती है। लेकिन जीवन कभी हार नही मानता, अपराजित प्राण से दीप्त रहता है वह !

मैंने अतुलदास की तरफ देखा। वह दूर-दूर तक फैले खेतों की ओर निहार रहा था— चुपचाप। उसकी आँखें स्नेहावेग के कारण तरल हो उठी थी। वह जिन्हें साथ लेकर भर-पेट खा नही पाता उनके भूखे चेहरे उसकी आँखों के सामने तिर उठे थे। साथ ही, एक और चेहरा—उसकी घरनी का, जिसके साथ उसकी घर-गिरस्ती जुडी थी, दुःख-सुख जुड़ा था और जो अपने घूँघट में मुस्करा रही थी। उसकी आँखें झिलमिला उठी। लेकिन शिल्पी हार नहीं मानता। क्लीनर ने अपने टेढ़े-मेढ़े चेहरे को अच्छी तरह छील रखा था। आँखों में काजल की पतली-सी रेखा भी चमक रही थी। नाज-पानी की चिन्ता को भुलाकर कलाकार रंग-मडप की ओर जा रहा था। क्लीनर की जिजीविषा पेट के लिए और कलाकार की आकाक्षा उस कला की साधना के लिए, जो पकड में नही आती। उसकी पकड़ से परे जब वह दूर निकल जायेगा तब शायद समझ सके—'इसी मनुष्य में वह है।'

मैं उसे कुछ कह न पाया। वह अपनी धुन में खोया था। मैंने भी अपनी आँखें खेतों पर टिका रखी थी, जहाँ पीली धूप ढल रही थी। रंगी हुई लाल माटी से आकाश लाल हो उठा था। उसकी लाली से कटे हुए धान के खेत लाल हो चुके थे और आसपास के ही नही, दूर खड़े पेड़ भी लाल हो उठे थे। ऊबड़-खाबड़ जमीन के चप्पे-चप्पे पर धूप बिछल रही थी। उसका रंग अब न तो धूसर था न काला, बल्कि लाल के ऊपर बैंगनी रंग की झाईं थी।

मैं राढ़ अंचल की यह रक्तिम संध्या पहली बार नही देख रहा था, इसके पहले भी देख चुका हूँ—कई साल पहले। आज तो मैं 'छातिम तला' की प्रार्थना में सम्मिलित होने जा रहा था। और उस बारे मे मैं पहले से कुछ जानता भी था। लोगों से सुन-सुनाकर बहुत-सी बातों का पता चला था। फिर भी, तब और अब की बातों, अवधारणाओं में और रंग-रूप में बड़ा अन्तर आ गया था। किताबों में लिखा रहता है न—'पहली ही नजर मे प्यार।' कुछ वैसा ही। राढ प्रदेश के उस रूप में प्रबल झंझावात था। उसका उन्मन आग्रह शिराओं में नाच-नाच उठता। इस रंगोत्सव में केवल आकाश की लाली ही सम्मिलित न थी, उसकी रक्तिम आभा में वसन्तोत्सव का लाल रंग भी मिल गया था। 'छातिम तला' का जो भी परिवेश रहा होगा, उससे इसका कोई मेल न था और न इसमें वहाँ की उपासना का मौन-गाम्भीर्य। इस रंगनृत्य के छन्द-छन्द में मानलीला की-सी सहजता थी और शिशुओं का खेल भी। और था, पुरुष

की गोद मे नारी का अनन्य सौंदर्य और रूप-ऐश्वर्य, आदिम—उन्मुक्त—सहज और अनावरित।

मेरी वह यात्रा इस रास्ते सपन्न नहीं हुई थी। मैं अभी-अभी जिस साँइथिया को छोड़ आया था, वहाँ से भी होकर नहीं आया। सीधे कलकत्ता से इस तरफ चला था तब भी, गहरी रात के सन्नाटे में बोलपुर का वह स्टेशन दीखा था। तब भी मेरे दिमाग़ मे छातिमतला' की याद कौंध गयी थी। चूँकि जाना कहीं और था, इसलिए वहाँ उतरना सम्भव न हो पाया था। हमारी उस यात्रा का अन्तिम पड़ाव था रामपुर हाट, जिसका नाम अभी थोड़ी देर पहले लिया था, जिस स्टेशन के टिकट बाबू लोचन महाशय बाँसुरी और वायलिन साथ-साथ बजाते थे। उस समय मेरे लिए जैसा बोलपुर था, वैसा ही रामपुर हाट। वहाँ भी रात के आखिरी पहर मे ही हम उतरे थे। रात काफी गहरी थी। सारा स्टेशन भी गहरी नींद में वैसे ही डूबा था जैसे कोई यात्री गाड़ियों की आवाज़ या फिर इजन की सीटी से अचकचाकर जग जाये और फिर करवट लेकर सो रहे।

अब तो वहाँ काफ़ी रोशनी और रौनक़ होगी। पहले वैसा न था। मैं जिन यात्रियो के साथ था वे राजपरिवार से सम्बन्धित थे। अब अगर राजा-महाराजा सुनने पर चोग़ा-चपकन पहने किसी व्यक्ति का चित्र उभर आये तो बड़ी मुसीबत होगी। मेरे साथ राजपरिवार के जो वंशधर थे उनकी देह पर एक मोटा-सा हाफ शर्ट था और पैरों मे मोटे कपड़े की पतलून। कलाई पर कोई कामचलाऊ घड़ी। कुल मिलाकर एक सामान्य व्यक्ति। कहीं से भी राज-पाट की कोई गन्ध नहीं। पाँवों में काले रंग के जूते, वे भी पुराने। सारी रात पान चबाये जाने से उसकी लाली केवल उनके होंठ या दाँतों पर ही नहीं, पीक के छींटो के रूप में शर्ट पर भी उतर आयी थी।

पर, उन युवराज का चेहरा इतना गोरा-चिट्टा कि आँखें नहीं ठहरती थीं। गोरा ही नहीं, आग की तरह झिलमिलाता। आँखों की पुतली और बालों का रंग काला न था। आँखें नीली थीं—आसमानी। बालों का रंग मेहंदी जैसा। छाती चौड़ी, इतनी कि दोनों हाथों को मिलाकर भी मापना मुश्किल था। वे राय महाशय के नाम से परिचित थे। जीविका वही लोचन बाबू वाली थी। अर्थात् ये भी टिकट बाबू ही थे—किसी दूसरे छोर पर—रेलवे में। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उनका राज-परिचय झूठा या थोथा था। वे अपने ही राज्य की यात्रा पर निकले थे, जिसका नाम था मलूटी। उस राज्य के बड़े हिस्सेदारों में से एक और अपने हिस्से के बड़े कर्ताधर्त्ता। उनके साथ उनकी गृहिणी भी थी। उनका जमाना होता तो वह भी बड़े घराने की बड़ी महारानी कहलाती। इस समय तो किसी रेल-कॉलोनी की निवासिनी थी—टिकट

कलेक्टर की पत्नी। उन्हें उनके ढेर सारे बच्चे घेरे हुए थे जिनकी आँखों में भी रात के अन्तिम पहर की नींद बसी हुई थी। राढ प्रदेश की उस यात्रा में वे सब मेरे सहयात्री थे।

कातिक की रात का अन्तिम पहर था वह। रात सर्द होती जा रही थी। मैंने देखा, वे सब स्टेशन के बाहर आकर जैसे ही खड़े हुए कि पता नहीं, कहाँ से दो काले-कलूटे आदमी दौड़े आये और राय महाशय के पैरों पर गिर पड़े। राय महाशय के दिपते चेहरे पर प्रसन्नता भरी हँसी फैल गयी। उन्होंने वहाँ की मलूटी बोली में ही पूछा, "कौन है...साना ?"

"हाँ मालिक।" उनमें से एक ने जवाब दिया।

"और वो कौन है...मैं पहचान नहीं पाया ?"

तब उस दूसरे आदमी ने जवाब देते हुए कहा था, "देखा, बड़े मालिक मुझे नहीं पहचान पाये। मैं लारान हूँ।"

लारान...अर्थात् नारायण। मैंने पहली बार उत्तरी राढ़ प्रदेश की बोली सुनी थी। मेरे कान खड़े हो गये, आँखें फैल गयीं। मैंने इसके पहले 'साना' नाम नहीं सुना था। 'लारान' कई बार का सुना-सुनाया था। दोनों ही उस समय मालकिन को प्रणाम करने में व्यस्त थे।

राजा ने कहा था, "अच्छा, तो तू हमारे गदाई का बेटा है ?"

लारान को उनकी बात पर कुछ ऐसी हँसी आयी, मानो उसने कभी ऐसी बात सुनी ही न थी। उसने खिलखिलाते हुए जवाब दिया, "हाँ, और कौन होगा भला !"

साना और लारान ने इस बीच मुझ जैसे अपरिचित को भी देखा था और हँसने लगे थे। उनकी आँखों का रंग कैसा था, मैं कुछ समझ न पाया। शायद पीला होगा। देह का रंग कितना काला था, यह भी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। वे चाहे जितने भी काले हों मैंने 'काले हरिण की आँखें' तो देखी नहीं। बस, इतना ही कहा जा सकता है कि अगर उनके हिलते-डुलते हाथ न दीखते तो इस गाढ़े अँधेरे में उन्हें देख पाना सम्भव नहीं था।

बड़े मालिक ने कहा, "पहचान पाता तो फिर कहना ही क्या था ? यहाँ साल में एक बार तो आना हो पाता है। धीरे-धीरे सब कुछ भूलता जा रहा हूँ।"

साना बोल उठा था, "होगा ही। एक जुग के बाद तो आना होता है। वह भी माँ काली की पुकार पर। वही तो एक बन्धन है।"

मालिक ने हँसकर कहा था, "तूने ठीक ही समझा। खैर, कितनी गाड़ियाँ लाये हो ?"

साना का जवाब था, "दो। और कितनी लाता ? चिट्ठी में तो इत्ता ही

काला फनियल साँप कहीं से आया और उसके सिर पर फन फैला कर बैठ गया। बालक सोया रहा। उसे कुछ भी पता नहीं चला कि उसके सिरहाने कुण्डली मारे कोई बैठा है।

इसके बाद... इसके तुरन्त बाद ही, एक संन्यासी उधर से गुज़र रहे थे। उन्होंने देखा, एक कालिया नाग फन फैलाये बैठा है। वे ठिठक गये। काटो तो खून नहीं। वे दूर से ही उस बालक के सुकुमार चेहरे को देखते रहे। उन्होंने ठीक ही सोचा : 'यह तो कोई ऐसा-वैसा बालक नहीं। बड़ा भाग्यशाली है। पता लगाना होगा, कौन है यह !'

वे वहीं पर खड़े-खड़े इस आश्चर्यपूर्ण घटना को देखते रहे। थोड़ी देर के बाद लड़के की नींद टूटी। वह सुगबुगाया। काले नाग ने भी अपना फन समेट लिया और चुपचाप सरक गया—एक तरफ़। लड़का नींद से उठ बैठा। उसी समय उस साधु ने आकर उससे पूछा, "बेटा, तेरा घर कहाँ है? मुझे तू एक बार अपने घर ले चल !"

बालक ने सोचा, ये साधु यहाँ कहाँ से आ गये ? खैर, घर जाना चाहते हैं तो चलें। वह उन्हें घर ले गया। लड़के की माँ घर पर ही थी। साधु ने उसकी माँ से कहा, "आज तो मैंने एक अद्भुत दृश्य देखा है। मैं कहे देता हूँ माई, तेरा बेटा राजा होगा। मैं इसे दीक्षित करना चाहता हूँ। पहले से ही दीक्षा दे देने पर यह सभी आपत्तियों से मुक्त हो जायेगा। दीक्षा नहीं दी गयी तो कभी भी कोई विपत्ति आ सकती है। मैं काशी का रहने वाला हूँ।"

संन्यासी का परिचय पाकर माँ बहुत प्रसन्न हुई और आश्वस्त भी। संन्यासी ने उसे कोई बीजमन्त्र देकर दीक्षित किया, और फिर वे चलते बने। जाते-जाते कह गये, "उपयुक्त समय पर मैं स्वयं उपस्थित हो जाऊँगा।"

इसके बाद—दिन बीते, रात बीती, महीने और साल भी। वह लड़का इसी तरह गाय चराता रहा। एक दिन गाय चराते समय ही एक पक्षी न जाने कहाँ से उड़ता हुआ आया और उस बालक के कन्धे पर बैठ गया। बहुत ही सुन्दर पक्षी था वह। उसके पंख सोने के तार से मढ़े हुए थे। शायद वह कोई सुनहला बाज़ था, जिसके एक पाँव में सोने की एक टूटी हुई ज़ंजीर बँधी थी।

वह पंछी किसका था और कहाँ से आया था—कौन जाने ? लेकिन अब ऐसा सुन्दर पंछी हाथ लग गया तो उसे कौन छोड़े। उसने उसे धीरे से दोनों हाथों से पकड़कर छाती से चिपका लिया और घर लेता आया।

उधर, दिल्ली के बादशाह की सवारी निकली थी। गाँव के पास ही कहीं उनका पड़ाव था। दरअसल, वह सुनहला बाज बादशाह का ही था, जिसे वे बहुत ही प्यार करते थे। उसे उन्होंने बहुत बड़ी कीमत देकर किसी देश से मँगवाया था। फिर सवाल इसकी कीमत का नहीं था। वह उन्हें अपनी जान से ज्यादा

हाथों से उसे मोती चुगाते और हर समय अपने पास ही

प्यारा था। वे अपने उड़ जाने पर बादशाह की नींद हराम हो गयी थी। उन्होंने
रखते। दों को हुक्म दे दिया था कि जहाँ से भी हो वे उसे ढूँढ़

उसके इस तरह और तमाम सिपाही उसकी तलाश में भागते-दौड़ते फिर
अपने तमाम कारिं गुस्से से आग बबूला हो उठे थे। सबकी गरदन पर तल-
निकालें। लाव-लश्क बाज लाओ, नहीं तो फाँसी का फंदा।
रहे थे। इधर बादशा को इस विषय में कुछ भी ज्ञात न था। वह सुनहले बाज
बार लटक रही थी : और फिर तीलियों के पिंजरे में डालकर झुलाता रहता।

इधर, उस बाल चला। हारकर बादशाह को यह घोषणा करनी पड़ी कि
को खिलाता-पिलाता पस लायेगा, उसे पुरस्कृत किया जायेगा। फिर तो राज-

बाज कहीं नहीं मि के गाँव वाले भी उसकी खोज में जुट गये। तभी बालक
जो उस बाज को वा कि वह बाज तो उसकी बहन के घर में ही है। मामा ने
पुरुष ही नहीं, आस-पा ह को सौंप देना चाहा। लेकिन भान्जा अड़ गया, "नहीं,
के मामा को पता चला नहीं दे सकता।"
उसे ले जाकर बादशा तो बड़ा ज़िद्दी है। उन्होंने उसे भय दिखाया। बालक की
मैं यह बाज किसी को कित हो उठी। उसने भी बेटे को समझाया, "बेटा, यदि

मामा ने देखा, यह गया तो वे सूली पर चढ़ा देंगे। तू उन्हें यह वापस कर
माँ भी बुरी तरह आत
बादशाह को पता चल कि अपनी जिद पर अड़ा रहा। मामा की धमकी का
दे।" नहीं हुआ। अन्त में, मामा ने उसे 'पुरस्कार' की बात

लेकिन बालक प रस्कार मिल जाये, यही बात बहुत है। वे उसे बादशाह
उस पर कोई असर
बतायी। उसे ही यह पु लते ही बादशाह की खुशी का ठिकाना न रहा। बालक
के पास ले गये। पुरस्कार में दी जाये कि वह भी खुश हो जाय। वे बोले,

बाज के वापस मि हुआ। तुम कल सुबह सूरज के उगते ही, घोड़े पर
को ऐसी कौन-सी चीज़ र चक्कर लगाकर आओगे, वह सारी जमीन तुम्हें इनाम
"ठीक है, मैं बहुत खुश
चढ़कर जितनी दूर तक की पहली किरण फूटते ही बालक घोड़ा लेकर दौड़ा।
में दे दी जायेगी।" ह के पड़ाव के पास लौटा तो वे खाना खाने बैठे थे।

दूसरे दिन, सूरज । दानपत्र और हुक्मनामे पर उनके दस्तख़त होना बाकी
शाम को जब वह बादश जब बैठ ही गये तो जूठे हाथ से क़लम कैसे पकड़ते? फिर
उनका फ़रमान तैयार थ थी? "ले आओ फ़रमान", उन्होंने हुक्म दिया और
थे। लेकिन खाना खाने ह पर अपने जूठे हाथ का पंजा लगाते हुए बोले, "लो,
उसकी ज़रूरत भी क्या
दस्तख़त करने की जग

कहाँ पाऊँ उसे

यह छाप ही मेरे दस्तखत हैं।"

इतना कह बड़े मालिक ने एक गहरी साँस ली। उधर भोर हो चुकी थी। पूरब का आकाश लाल हो उठा था। राय साहब की आँखों में अब भी वह सपना तैर रहा था। उनकी आँखों की नीली पुतली में उसी अतीत की छाया झिलमिला रही थी। उनकी गोद में उनका बच्चा अब भी सो रहा था।

हम सब एक चौड़ी सड़क पर काफ़ी आगे निकल आये थे। भोर के झुटपुटे में बैलगाड़ी का कच्चा रास्ता दिखाई दिया—एकदम लाल था। ऊबड़-खाबड़ तथा कंकर-पत्थरों से भरा। बीच-बीच में गहरे गड्ढे भी, जिनमें कहीं-कहीं गेरुए रंगवाली पानी की लकीरें खिंची थीं। ऐसा लगता था, हम किसी बैलगाड़ी पर नहीं, झूले पर सवार हों। गाड़ी किसी बिगड़ैल जानवर की तरह कभी घूमकर, तो कभी तिरछी होकर चली जा रही थी। उस पर बैठे-बैठे मेरी हड्डियाँ भी चटख रही थीं।

बड़े मालिक इस तरह हँसकर बोले जैसे कोई स्वप्न देख रहे थे, "बादशाह के हाथ की छाप वाला वह फरमान अब भी हमारे पास है—फ़ारसी में लिखा। कागज़ पीला-पुराना जरूर हो चुका है लेकिन अब भी काफ़ी मजबूत है।"

यह सुन मुझे आश्चर्य हुआ। कौतूहलवश मैंने तब पूछा था, "मुझे दिखायेंगे ज़रा?"

"अरे क्यों नहीं? वह तो हमारे घर में ही है, मेरे पास।" उन्होंने जोड़ा, "हम सब बड़े घरानेवाले हैं न, इसीलिए।"

मैं मन-ही-मन सोच रहा था, उस समय बादशाह पता नहीं क्या खा-पी रहे होंगे। उस खाने का रंग कैसा था? कबाब-कोफ्ता रहा होगा। उस कागज़ पर उनकी छाप रही होगी। और उसकी गन्ध! वह खाना तो निषिद्ध ही रहा होगा—सामिष। यदि ऐसा था तो उन कुलीन ब्राह्मणों ने उस अस्पृश्य फरमान को हाथ फैलाकर कैसे ग्रहण कर लिया था? तब जात नहीं गयी?

लेकिन मैं कुछ पूछ न सका। इतना साहस नहीं था। राजा अपने घर में था, जैसे शेर अपनी गुफा में। मेरे मन में ऐसा ही कोई दूसरा क़िस्सा था। किताबों में कहीं पढ़ा था कभी। लेकिन वह ऐतिहासिक तथ्य नहीं, प्रवाद ही था।

वहीं नवाब खान जहाँखान, जिनके दरबार में दो ब्राह्मण भी रहा करते। एक दिन नवाब ने उन्हें दरबारी भोज का न्योता दिया। दावत की बात सुनते ही उन्होंने जीभ काटते हुए कहा, "दुर्गे...दुर्गे! यह कैसे होगा जहाँपनाह! हम नहीं आ सकते। वह भोजन तो हम छू भी नहीं सकते। और तो और, उसे सूँघना

भी पाप है।—'घ्राणेन अर्धभोजनम्।' हमें माफ़ कर दें, जहाँपनाह!"

नवाब को भी एक चालाकी सूझी। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, "मैं भी तुम्हारी बमनाई देखता हूँ।"

उसने ब्राह्मणों के लिए सर्वथा निषिद्ध मांसों को पकाने की व्यवस्था उन-उन स्थानों पर की जिधर से दोनों ब्राह्मण आते-जाते थे। जैसे ही वे वहाँ से गुजरते, उनकी गन्ध उनका पीछा करती। प्याज़-लहसुन, घी और मसालों की सोंधी बू पाकर वे दोनों नवाब के पास पहुँचे और निवेदन करने लगे, "आस-पास ही कहीं वैसा भोजन पकाया जा रहा है, उसकी बू आ रही है।"

नवाब ने कहा, "बू आ रही है? अच्छा चलिये, जरा हम भी देखें कहाँ से आ रही है वह?"

जाकर देखा तो ब्राह्मणों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। ख़ान जहाँख़ान ने हँसते हुए कहा, "घ्राणेन अर्धभोजनम्, इस बात की इत्तिला तो आपके सारे समाज को भी देनी पड़ेगी, क्यूँ?"

उन्हें बता दिया गया और इस तरह दोनों पतित भी हुए। और समाज-च्युत हो ही गये तो फिर नवाब की दावत में सम्मिलित होने में क्या आपत्ति थी? निषिद्ध मांस तो खा नहीं रहा था कोई? कहते हैं, इसी से पीराली ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। अब इसमें सच क्या है और झूठ क्या—यह मत पूछो! इस अधम इतिहास को स्वीकार करना मुश्किल हो जायेगा।

मैंने बड़े मालिक राय महाशय से पूछा, "इसके बाद?"

उन्होंने बताया, "इसके बाद फिर कई घटनाएँ घटीं। कितनी समस्याएँ, युद्ध, द्वन्द्व, यहाँ से वहाँ भाग-दौड़। और अंत में, यही मलूटी। हमें दिल्ली की बादशाहत ने ही 'राजा' की उपाधि दी थी। अब तक वह उपाधि साथ लगी है—देख ही रहे हो!" इतना कहकर उन्होंने अपने बच्चे की ओर देखा। पता नहीं, क्यों? एक टिकट कलेक्टर अपनी गोद में पड़े किसी राजा के वंशधर को देख रहा था, शायद।

फिर अचानक बोल उठे थे, "अगर तुमने यह सोच रखा हो कि वहाँ जाकर तुम राजाओं की बड़ी-बड़ी कोठियाँ, बड़े-बड़े स्तंभों वाली अट्टालिकाएँ देखोगे, चमचमाते प्रांगण देखोगे तो फिर ठगे जाओगे। मलूटी के राजाओं ने कभी पक्के घर नहीं बनवाये। मिट्टी की दीवारें और उसपर फूस का छप्पर—बस।"

यह क्या?

राजा का घर और कच्ची दीवारें! फूस का छप्पर!

मैंने तो ऐसा पहले कभी नहीं सुना था। लेकिन मैं अपना मुँह नहीं खोल पाया।

बड़े मालिक ने हँसते हुए कहा, "पहली पीढ़ी के राजाओं ने जो राजप्रासाद

बनवाया था, वह धँस गया। उसमें कई लोग मारे गये। तब मौलीक्षा ने आदेश दिया था कि यहाँ पक्के भवन नहीं बनाये जाँय। तब से ऐसा ही चला आ रहा है।"

राजप्रासाद क्यों धँस गया, मौलीक्षा ने ऐसा आदेश क्यों दिया—इसे जानने के लिए तुम्हें फिर आदिवंश की राजगाथा सुननी पड़ेगी। बड़े मालिक ने मुस्कराते हुए बताया, "ऐसा मत समझना कि राजाओं ने ईंटें नहीं जुड़वायी और कहीं कुछ नहीं बनवाया। उन्होंने पूजा के लिए मंदिर, चबूतरे बनवाने, नाट्यशालाओं का निर्माण करवाया। मलूटी मंदिरों का स्थान है। जितने घर हैं, उतने ही मंदिर। बल्कि मंदिर ही कहीं-कहीं ज्यादा हैं। लाखों-करोड़ों ईंटों वाला मंदिर भी है। उसकी अनगिनत ईंटों पर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं और फूल कढ़े हैं।"

एक क्षण उन्होंने सामने की तरफ देखा और फिर बोल उठे, "वह देखो, वह रही मलूटी। हम आ गये।"

गाड़ी नीचे ढलान पर उतर रही थी तब। मेरु और कुचैले पत्थर की तरह वह इलाका कुछ अजीब-सी आकृति लिये था। दरअसल वह कोई चटियल पहाड़ी थी। एक ऊँची-सी चट्टान किसी लहू-लुहान विशालकाय प्राणी की तरह औंधी पड़ी थी। बैलगाड़ी उसकी टेढ़ी, अकड़ी और रक्तपूर्ण पीठ पर से हड़-हड़ाती गुजर गयी। धूप निकल चुकी थी। लाल धरती चिलक रही थी। अब उसपर आँखें नहीं टिकती थी।

गाड़ी की टप्पर को कसकर पकड़े-पकड़े मैंने देखा—न तो वहाँ घर था, न दीवारें और न पेड़-पौधे। उस ढलान के बाद फिर एक चढ़ाई थी। साथ ही, सबसे पहले एक मन्दिर दीखा—लाल रंग का मन्दिर, अलंकृत और उत्कीर्णित दीवारों वाला दूर से अस्पष्ट और अबूझ-सा।

मैंने पाया, सचमुच मलूटी में अनगिनत मन्दिर हैं। किन्तु उनके सामने वह लाल चट्टान जिस तरह औंधी फँसी पड़ी थी और उस पर रपटती हुई गाड़ी जब नीचे उतरी, तो उसकी टप्पर से मेरा सिर जा टकराया। मेरे मुँह पर जबरदस्त चोट लगी। लगा, जैसे किसी बर्रे ने मेरा होंठ काट खाया है। टप्पर में लगी कमची की एक तीली चुभ गयी थी। राय साहब कातर हो उठे, "आह हो, बाबा को चोट लग गयी!"

उन्होंने अपनी गुलाबी हथेली से मेरा सिर सहला दिया। इसके बाद कोई चोट लगी भी हो तो भी गायब। अब मेरे सामने किसी दूर-दराज़ के कस्बे के किसी स्टेशन के टिकट बाबू का नहीं, मलूटी राजाओं के बड़े घराने के वंशधर का व्यक्तित्व था। उनका स्नेहिल सम्बोधन और बात-बात मे, 'बाबा' कहकर पुकारना मुझे आनन्दित कर देता।

मैंने कहा, "नहीं, ऐसी कोई खास..."

लेकिन मेरी बात पूरी होने के पहले ही उनका स्वर तेज हो गया, "अरे साना, जरा रोक···सँभलता क्यों नही ? क्या किसी को मार कर ही रहेगा !"

यह उनकी फटकार न थी, उद्वेग था। किसी अतिथि को चोट लग जाये तो उनका जी दुखेगा ही।

जैसा राजा वैसी प्रजा। उसने पहाड़ी ढलान पर भागते जा रहे बैलों को रोकने की भरपूर चेष्टा की। इसका प्रमाण उसकी बोली थी—"अबे जरा देख के चल...सूअर कही के...।" फिर उसने जवाब देते हुए कहा, "बड़े मालिक ! आप समझते है न ! इन सालों को घर की गन्ध मिल गयी है। गाँव आ गया न !"

राय महाशय क्या नही समझते ! मनुष्य ही नहीं, जानवरों को भी रात-दिन की भाग-दौड़ के बाद तनिक-सा विश्राम मिलता है। जितनी जल्दी हो, गर्दन से जुआ उतारकर सानी-पानी में अपना मुँह डाल सकें। जितने पास उतनी ही बेसब्री।

तब रायसाहब ने हँसकर कहा था, शायद मुझसे ही : "तुम्हें अभ्यास नही। हम लोग सँभाल लेते है।"

उधर वही हाँक जारी थी, "चल-चल...अबे चलता क्यों नही !"

मैंने देखा, गदाई का बेटा लारान अपनी गाड़ी खीच रहा था। उसकी गाड़ी का चक्का पानी में डूबा था और लारान पछाड़ खा रहा था। उस गाडी पर मालकिन राय साहब तथा अपनी सतानों के साथ बैठी थी। मैं अवाक् था। यहाँ पानी कहाँ से आया ? पानी तेजी से बहता जा रहता था—छल-छल, कल-कल।

मैंने पूछा, "दलदल तो नही !"

राय महाशय ने कहा, "नहीं बाबा, दलदल नही, सोता है ···काँदर !"

'काँदर !" मैंने किसी जलाशय का ऐसा नाम सुना न था। राय साहब समझ गये कि मै जान नही पाया कि यह कौन-सी बला है। उन्होंने समझाते हुए कहा, "इसे नदी ही कह लो और क्या ? आस-पास पहाड़ होने के कारण ही कोई धारा उतर आयी है। यहाँ के लोग काँदर कहते हैं और नदी भी मल्टी वाले सती-घाट कहते हैं।"

मल्टी ! मलूटी को मल्टी कहते मैंने पहली बार सुना। बगालियों का जो चरित्र है, उसमें हर चीज को अपने ही ढंग से पुकारने की आदत है। कृष्ण हो गये हैं केष्टो, विष्णु हो गये विष्टु...! लेकिन यह सतीघाट ! मैं कुछ पूछना ही चाह रहा था कि वह बोले, "इसी काँदर की घाट पर सतीदाह हुआ था। पति के साथ जल मरने जैसा सतीदाह नही, उससे भी कही अधिक। मैं बताता हूँ,

मुझे भी ऐसा ही लगा था, लेकिन मैं मन ही मन हैरान था—ऐसी काली-कलूटी की यह भरी-पूरी देह ! छातिमतला, शान्तिनिकेतन के नन्दलाल बोस द्वारा चित्रित पुराणों की पार्वती की-सी देहयष्टि। लेकिन बाउरी कन्याएँ तो आर्य नहीं । फिर भी, ऐसी सहजता के बीच उसका रूप चांचल्य बहुत ही मुखर हो उठा था ।

मन की बात मन में ही रही । सामने ही मन्दिर था । पकी ईंटों की दीवारों पर तरह-तरह की रूप-लीलाएँ उत्कीर्णित थीं । दीवारों में लगी ये मूर्तियाँ काल के थपेड़ों से जर्जर हो चुकी थीं । रास्ते के सामने और भी कई मन्दिर खड़े थे । किसी भी मन्दिर में कोई द्वार नहीं । चौखटों पर दरारें पड़ी हुईं । एक मन्दिर के पास ही लाल माटी की दीवारों और फूस के छप्पर के नीचे ए चबूतरा-सा बना था – लिपा-पुता और चिकना । मैं अपने जीवन में पहली बा राढ़ अंचल का कोई गाँव देख रहा था ।

इसी बीच, पता नहीं, कहाँ से ढेर-सारे कुत्ते आकर जमा हो गये । कुछ भौंक रहे थे तो कुछ चुपचाप अपनी पूंछ दबाये दुबके खड़े थे । एक था जो कान समेटे भयभीत खड़ा था और अपनी आँखों से कुछ पूछ रहा था ।

गाँव के रास्ते और उस घाट पर न जाने कितने लोगों के दर्शन हुए। सभी तरह के लोग । राह चलते लोग, मन्दिर के प्रांगण में जमा लोग। पीठ पर जनेऊ धारे और घुटने तक धोती पहने । किसी की देह नंगी तो किसी के गले में जनेऊ तक नहीं। उनकी बातचीत से ही पता चल जाता था कि कौन क्या है?

कोई पुकार उठा था, "अच्छा—अच्छा, अमुक सज्जन आये हैं ! राय बाबू !"

राय महाशय हाथ जोड़कर सबका अभिवादन स्वीकारते । एक बार गाड़ी से नीचे उतरने लगे तो उधर से जवाब आया, "अरे यह क्या ? अरे बाबा, उतरने की कोई जरूरत नहीं । बस सब कुशल-मंगल है न !

राय महाशय किसी को काका, किसी को ताऊ, किसी को दादा जी कहकर पुकारते, तो किसी का नाम लेकर भी । लगभग सभी को वे मेरा परिचय भी देते जा रहे थे । देना ही था । गाँव में कोई अपरिचित आया है, उसे जानना चाहिए । तभी तो सभी पूछ रहे थे : "यह कौन है ?"

गाड़ी अब गाँव की घनी बस्ती से होकर गुजर रही थी । अचानक मेरी आँखें चमक उठीं । सामने एक विशाल अट्टालिका थी । वह कोई पूजा-मण्डप या देव मन्दिर नहीं था । उसकी आकृति से मैं परिचित था । इतनी बड़ी कोठी ? तालवृक्षों से भी ऊँची ! ऊपर धोती-साड़ियाँ सूख रही थीं । मलूटी के सुनहले आसमान पर उसका ऊपरी छज्जा कुछ इस तरह बना था, जहाँ कोई कौतूहल के साथ स्वप्न बुनता रह सकता है ।

इसी तरह के और भी कई छज्जे थे। दो-एक इमारतें भी दीखीं, तालवृक्षों के उस पार आम-जारुल की ओट मे। कुछ देर पहले ही मुझे बताया गया था कि इस रहस्यलोक मे राजाओं के लिए, उनके कारिन्दों के लिए, खास या आम लोगों के लिए कोई भी पक्का मकान न था। मैं इस बारे मे कुछ पूछने जा ही रहा था कि राय महाशय स्वयं बोल उठे थे, "इधर कई दिनों से इस गाँव के सारे लोग एकत्रित हो रहे है, और सभी आज शाम तक आ पहुँचेंगे। वे सबके सब तुम्हारी तरफ गर्दन बढ़ाकर पूछेंगे—'कौन आया है ?'

वे बहुत ही खुश थे। सभी उन्हें पुकार रहे थे और आनन्द से गर्वित राजा अपनी रंगीन हँसी लुटा-लुटाकर सबको प्रेम जता रहा था।

मैंने पूछा, "ऐसे अवसर पर सभी मलूटी आते होगे ?"

"आयेंगे कैसे नही ?" राय साहब बोले, 'काली पूजा मे ही तो सारे आमोद-प्रमोद होते हैं। यहाँ दुर्गापूजा नही होती। राजवश है, लेकिन दुर्गा नही।"

इसके साथ ही, एक दूसरी किंवदन्ती जुड़ी हुई थी। मलूटी, जैसे यह किंवदन्तियों की स्रोतस्विनी थी, आदिजननी। बात-बात में निजंधरी आख्यान। लेकिन यह आख्यान समाप्त नही हुआ। बैलगाड़ी बायी ओर मुड़ती हुई एक बहुत बड़े पूजा-मण्डप के प्रागण में जाकर खड़ी हो गई। लारान की गाड़ी वहाँ पहले से ही खड़ी थी। बड़ी मालकिन भी अपने बच्चों के साथ खड़ी थी। प्रांगण के एक कोने में लाल मिट्टी की दीवार थी और फूस का छप्पर। पास ही दो घरों के सिरे जुड़े हुए थे। कोने के बीचोंबीच एक सँकरी-सी गली थी जिसके उस पार किसी दूसरे प्राँगण का एक हिस्सा दीख रहा था।

उसी गली से घूँघट काढ़े एक बहू आगे आयी। उसके साथ कोई विवाहिता युवती भी थी लेकिन उसके सिर पर घूँघट न था। बहुत-से बच्चे भी आ गये थे वहाँ। सभी ने राय मालकिन की गाडी को घेर रखा था। उनकी चिल्ल-पो और धमा-चौकड़ी से पूजा मण्डप शोर मे डूब गया था।

इसी बीच मैंने देखा कि एक आदमी आ रहा है—नगी देह, उम्र चालीस से कुछ ज्यादा ही रही होगी। दिपता हुआ रंग, आग की लपटों-जैसा चौडा-चकला सीना। कंधे पर झूलता मोटा-मटमैला जनेऊ। धोती घुटने तक ऊँची, पाँव नंगे। हाँ, चौड़ी कलाई में घड़ी बँधी थी। आँखे नीली आसमानी और सिर के बालों का रंग मेहँदी-जैसा।

यह बताने की जरूरत नही कि वह भी इसी राजवंश के थे।

गाड़ी के पास आकर वह झुके और बोले, "आ गये भैया!"

"हाँ। तुम सब ठीक-ठाक हो न ?"

"ठीक हैं।" कहते हुए उसने अपने भतीजे को हाथ बढ़ाकर अपनी गोद

में ले लिया। साथ ही, उनकी नीली आँखों में मुझ जैसे अजनबी के लिए वही प्रश्न झांक गया। "भैया, यह कौन है?"

उसके चेहरे पर मुस्कान खेल रही थी। राय महाशय ने अपने बड़े लड़के का नाम लेते हुए कहा, "हमारे ज्योत्स्ना का मित्र है। शहर के पास ही रहता है। इसे घूमने-फिरने का शौक है। मैंने सोचा ले चलूं इसे भी, अपने यहाँ की काली पूजा देख आयेगा।"

"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा! नीचे उतर आइये।" वे परिचित-सी रंगभरी हँसी बिखेरते हुए बोले।

किसी अतिथि को पाकर इस तरह की प्रसन्नता आजकल दुर्लभ है। देखकर ही पता चल जाता है कि यह मन की हँसी है या मुंह की। राय महाशय तब तक नीचे उतर आये थे। छोटे राय ने नीचे झुककर उन्हें प्रणाम किया। भैया ने छोटे भाई की टोढ़ी को अपनी उंगलियों से छूकर 'चुक' से चूम लिया। फिर वे बोले, "जगस्तु!"

मैंने भी गाड़ी से उतरकर छोटे राय को प्रणाम किया था। वह हा-हा करते ठठाकर हँस पड़े थे, "ओ हो, रहने भी दें आप, पाँवों को न छुएँ। अरे बाबा, अब भी क्या वही जमाना है?"

जहाँ नहीं है, वहाँ नहीं है। लेकिन मलूटी में अब भी वही जमाना था। अन्तर्मन स्वच्छ हो तो दिन-रात नहीं बदलते। बड़ों के लिए छोटों का प्रणाम केवल एक प्रथा ही नहीं — इसमें श्रद्धा, आदर, परिचय और जिज्ञासा सब कुछ है।

मैंने इतना ही कहा, "अब मुझे 'आप' कहकर तो न बुलाइये।"

छोटे राय साहब ने हँसकर अपनी स्वीकृति जतायी, "हाँ इतना तो हो जायेगा। चलिये छोड़िये इस बात को!"

मेरी दृष्टि ठाकुरों के दालान की तरफ़ थी। आज महानिशाकाल की पूजा थी। मैं पहली बार काली-पूजा देख रहा था, मलूटी में अभी तक कुम्हार का काली की प्रतिमा पर काला रंग पोतना समाप्त नहीं हुआ था। आँखों के आस-पास का सारा हिस्सा अब भी सादा था। जिससे कालीजी की मूर्ति की पहचान बनती थी, वह जीभ भी अब तक सफ़ेद थी। गले में झूलता नर-मुण्ड, कटे-फटे अंग-प्रत्यंग और मालाएँ—सब कुछ सादा ही दीख रहा था। एक प्रतिमा पर रंग पोत रहा था तो दूसरा पीछे के हिस्से को चित्रित कर रहा था।

अभी सुबह के साढ़े सात ही बजे थे। निशा आगमन तक प्रतिमा का समुदान सम्पन्न हो जायगा। और फिर महानिशा में प्राण-प्रतिष्ठा।

पूजा-मण्डप तक सीढ़ियाँ चली गयी थी, ऊँची सीढ़ियाँ। वहाँ पर खड़े अनेक

बालक इसकी साक्षी दे रहे थे। जब तक प्रतिमा नहीं बन जाती, वे सब देखते रहेंगे। उनके इर्द-गिर्द जो लोग आ-जा रहे थे, वे प्रायः अधनंगे थे, काले-कलूटे और मैले-कुचैले। कइयों ने बड़े मालिक को पैर छूकर प्रणाम किया। कुशल-समाचार ही नहीं पूछा, अपने-अपने दावे भी पेश किये :

"बड़े मालिक! इस बार नये कपड़े लत्ते चाहिए।"

"बड़े मालिक, दो हँडिये मद चाहिए...देना ही पड़ेगा। फिर तो ऐसा ढोल बजाऊँगा कि माँ जाग उठेंगी—सचमुच।"

राय महाशय ने हँसकर आश्वस्त किया, "हो जायेगा...जरूर होगा।" फिर किसी को कहा, "चल हट हरामजादे! चल फूट...।"

इसके बाद मेरी पीठ पर हाथ रखकर बोले, "चलो बाबा, घर के भीतर चलें। हाथ-मुंह धोकर थोड़ा जलपान कर लो। और फिर तनिक विश्राम कर लेना!"

राय महाशय के साथ ही मैं उनके राजनिवास के भीतर चला आया। वहाँ काफ़ी हलचल थी। बीचों बीच लम्बा-चौडा आँगन था और चारों ओर कोठरियाँ। मैं जिस कमरे में पहुँचा, वहाँ पहले से ही बहुत सारे जन जमा थे। पहले उन सबसे मेरा परिचय कराया गया। फिर राय महाशय ने फ़रमान जारी करते हुए कहा, "मैंने तुम्हे सब कुछ बता, दिखा दिया। अब तुम्हारा जहाँ भी जी चाहे, आओ-जाओ! अब तुम इस घर के बेटे हो, तुम्हें भला क्या कहना-सुनना!"

मैं इस बीच यह बताना भूल ही गया कि राय महाशय का बड़ा बेटा मेरा मित्र था। उसी के कारण मैं यहाँ तक आ पाया था। वह उस समय शहर में नौकरी के लिए इण्टरव्यू देने गया था इसलिए साथ नही आ पाया था। मेरा मित्र, राजवश का एक युवराज; पहले के किसी युग मे जनमा होता तो राज-मुकुट उसी के सिर शोभा पाता। लेकिन उस राजपुत्र की योग्यता इतनी ही थी कि वह किरानी की नौकरी पाने के लिए इण्टरव्यू देता फिर रहा था।

राय महाशय ने अपने छोटे भाई को बुलाकर मेरे बारे में कहा, "ऐसा है कि इसे हमारे दालान के दक्खिन वाले घर के ऊपर ले जाओ। वहाँ थोड़ी शान्ति रहेगी। इधर पूजा-पाठ का शोर-गुल रहेगा।"

मैंने कहा, "तो क्या हुआ! मैं तो वही सब कुछ देखने-सुनने आया हूँ।"

राय महाशय मुस्कराये "सो तो देखोगे ही। लेकिन वह सब तो रातभर होता रहेगा—पूजा, बलि, गाजा-बाजा! सारी रात जागकर काटनी है। दिन-भर शान्ति रहेगी तो थोड़ा-बहुत सो लोगे।"

लेकिन ऊपर के कमरे से उनका क्या आशय था, यह मैं समझ नही पाया। जीवन में पहली बार मैं दो तल्ले के कच्चे घर देख रहा था, उन पर फूस का

छप्पर। मैं आँगन पार कर दक्खिनी दीवार से लगी कच्ची सीढ़ियों से ऊपर चढ़ आया। घर का कोना पीछे ही छूट गया। ऊपर पहुँचा तो हैरत में पड़ गया। ईंट-सीमेंट के बदले गोबर से लिपी-पुती फ़र्श और दक्खिन एवं पश्चिम की तरफ़ खिड़कियाँ। कच्चे बरामदे में खड़े होने पर घर का आँगन दीख पड़ता। दक्खिन की तरफ़ खुली खिड़की से मलूटी का कोई इलाका नहीं दीखता था। वहाँ घने पेड़ों की छाया थी। आम, जामुन और ताल के वृक्षों से आगे कुछ सूझता ही न था। वहाँ अब भी झींगुरों की झुर्र-र-झुर्र-र सुनाई पड़ रही थी। कोयल और सुग्गे की पिक्-पिक् और शिक्-शिक् भी। पेड़ों के पीछे लाल-लाल दीवारें थीं और थे फूस के छप्परवाले घर।

कुछ पक्के मकान भी दीख पड़े। यह क्या? मलूटी के राज-परिवार के लिए इनका बनवाना तो निषिद्ध था? इसी समय छोटे राय ने पुकारा, "कपड़े बदलकर नीचे चले आओ। मैं पानी निकालने के लिए कह दूँ। हाथ-मुँह धो लेना।"

मैं बिना पूछे नहीं रह सका, "अच्छा, मैंने तो सुना था कि मलूटी के राजाओं के लिए पक्के घरों के निर्माण की मनाही है, लेकिन यहाँ तो कुछ मकान ऐसे भी..."

मेरी बात अधूरी ही रही। छोटे मालिक मुस्कराये और बीच में ही इसका उत्तर देते हुए बताने लगे, "हाँ बाबा, तुमने ठीक ही देखा। अब यहाँ कई पक्के घर बन गये हैं। लेकिन ये सब हमारे नहीं। ये हमारे भांजे के परिवार वालों के हैं। राज-परिवार की जब अपनी बेटियाँ ब्याही गयी तो वे सब भी अपने पति और बच्चों के साथ यहीं आ बसीं। यहीं उन्हें ज़मीन-जायदाद मिल गयीं।"

छोटे राय के गुलाबी चेहरे की मुस्कान टेढ़ी हो गयी थी। उन्होंने चलते-चलते कहा, "अब ऐसा है कि हम सबसे हमारे भांजों का परिवार ही अधिक बड़ा और सम्पन्न है। मलूटी भी उन्हीं की हो गयी। हमारे पास न सही, उनके तो पक्के दालान हैं, कोठियाँ है। सुनो, हमारे वंश में एक राजा हो गये हैं—राजा आनन्दचन्द्र। वे..."

वे अचानक अपने आप रुक गये। मैं इस बात का अनुमान लगा चुका था कि फिर कोई आख्यान सुनने को मिलेगा। उन्होंने इतना ही कहा, "अच्छा, ये सारी बातें तो होती रहेंगी। मैं पानी रखवाता हूँ। तुम नीचे आ जाना।"

मैंने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया, "ठीक है।"

छोटे राय नीचे उतर गये। मैंने अपना कुरता उतारते हुए मन-ही-मन सोचा —ऐसा क्यों हुआ? क्या मलूटी के राजा अब हर तरफ़ से सर्वहारा हो चुके हैं? अपने लिए उन्होंने कुछ भी बचाकर नहीं रखा?

ठीक इसी समय लगा कि किसी युवती का स्वर नीचे से आ रहा है। वह

किसी को धमका रही थी, "चल हट रे मुँहजले ! हाथ छोड़ मेरा। वरना मैं सब कुछ बता दूँगी—फूफा जी को!"

मुझे यह सुनकर अजीब-सा लगा। मैंने दक्खिन की खिड़की से नीचे झाँक-कर देखा। बीस-बाइस का एक साँवला युवक एक गोरी लडकी का आँचल थामे खड़ा था। मुझे अपनी आँखों-कानों पर विश्वास नहीं हुआ।

मैंने सुना, "तू जरा पास तो आ..."

छी-छी ! यह मुँहजला तो पीछे ही पड़ गया है। वह युवती भी पूर्ण युवती नहीं थी, पन्द्रह-सोलह की किशोरी थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में आग-सी दहक रही थी। वह गुर्रायी, "क्या करेगा तू?"

और इतना कहते हुए उसने उस युवक के गाल पर 'ठस्स' से एक तमाचा जड दिया। आंचल अपने आप ढीला पड़ गया और युवती दौड़ती हुई भाग गयी। श्रीमान् ने अपने गाल को सहलाया। लेकिन चेहरे पर न कोई क्रोध, न क्षोभ। मैं भी धीरे से पीछे हट गया, अपने गालों पर हाथ रखकर।

सचमुच, यह मलूटी तो एकदम रहस्यलोक है !

मेरे अन्तर से हँसी की धारा फूट चली। मुझे स्वयं को पागल कहने को जी हो आया। अब क्या कहूँ ? बाज पकड़ने वाले चरवाहे राजा के वंशधरों की हवेली ! मिट्टी के दुमहले पर खड़े होकर मैंने यह क्या देखा था ! मलूटी के रूप के वर्णन में ही नहीं, अनुभूति के अरूप में भी रस की धारा बह रही थी। जिस तरह कोई मदारी अपनी डुगडुगी बजाकर हाँक लगाता है, 'आओ—आओ—मदारी आया', ठीक उसी तरह, मन में भी कोई पुकार उठा था, 'देखो—रुको—पूछो—कौतूहल का ज्वार उठा है।'

लेकिन ओ रे परदेशी ! तुम्हारे गाल क्यों सुलग उठे थे—सच बताना ! तुम अपने गालों को क्यों सहलाने लगे ?

पुरुष हो इसीलिए ? सभी पुरुषों की एक ही लीला और गति है ? सबमें उसी चिरपुरुष का हृदय है। उसीने हर अन्तस् में, हर आंख में, कौतुकभरा ज्वार उठाया है। लेकिन दूसरी ओर नीति-प्रवक्ताओं की तनी भृकुटि से बड़ा डर लगता ! वे पूछ सकते हैं, तुमने इतना सारा तमाशा कहाँ देखा ? इसमें कोई दुर्नीति, दुराचार नहीं देख पाये ? पाप-पुण्य का विचार नहीं किया ?

मानता क्यों नहीं ? सोचता भी रहा हूँ। लेकिन घर के नीचे, पिछवाड़े... सोलह और बीस की उम्र के बीच जो लडाई चल रही थी, उसमे धर्माधर्म का प्रश्न उठाकर मैं उसे कुरेदना नहीं चाहता था। न ऐसा कर पाया था। काफी

तक अकेला हँसता रहा था। मैंने यह सोचकर कि अब वहाँ कोई न हो
खिड़की के पास जाकर झाँका था। कुछ ग़लत तो नहीं देखा था मैंने? खिड़की
एक ओर कटहल और दूसरी ओर ताल-वृक्ष था। उनकी छाया में वहीं
श्रीमान् चुपचाप खड़े थे। मसें भीग रही थीं। काले घने सलीक़े से सँवारे घने
बाल, उन पर तिरछे फुग्गे भी बनाये गये थे। दुबली-पतली देह पर सुनहरा
रेशमी कुरता। काली किनारी वाली सफ़ेद और चुन्नटदार धोती का एक सिरा
जमीन पर लोट रहा था। पाँव में क्रीम कलर का पम्प शू। वह केवल खड़ा ही
नहीं था, उसने अपने रेशमी कुरते की जेब से सिगरेट का एक डिब्बा निकाला,
किसी गोरे साहब की तस्वीर वाला। इधर-उधर देखकर सिगरेट को अपने होंठों
से लगाया। तीन तीलियाँ बर्बाद करने के बाद चौथी तीली रंग लायी और तब
कहीं सिगरेट ने धुआँ उगला। चोर का मन ठहरा। अपनी डबडबायी बड़ी बड़ी
आँखों से वह बार-बार चारों तरफ देख लेता था।

हताश प्रेमी चुपचाप खड़ा गहरी उसाँसें ले रहा था। सिगरेट का कश खींचते
हुए वह अपनी पीड़ा भुलाना चाह रहा था। बड़ी सहजता से जब वह कश खींचता
तो उसके मुँह-नाक से धुआँ निकलकर फैल जाता। किसी उत्तेजना से भरा वह
अपनी ही भावनाओं में डूबा था।

मैं यह सोच रहा था कि यह किस शहर का है और किसके घर का मेहमान
है। यह 'मुँहजला' किसी गाँव का तो हो नहीं सकता! ऐसा होता तो रात बीतने
के साथ सुबह-सुबह ऐसा ठाट-बाट नहीं होता। क्या पता, गाँव का ही कोई मन-
चला हो। पानी में डूबे बगवासियो, तुम राढ़ के रंग को क्या जानो!

मैं सोचने लगा, वह लड़की जो इसके गाल पर थप्पड़ लगा गयी, यहाँ तक
आयी कैसे? घरों के पिछवाड़े पेड़-पौधों के झुरमुट तले उसे पकड़कर कौन लाय
यह ठीक है कि उसने सबके सामने उसका आँचल पकड़कर नहीं खींचा होगा

मेरे मन का गुप्तचर पता नहीं कब तक यह सब सोचता रहा, कि इसी सम
नीचे से पुकार आयी। मुझे थोड़ी-सी हैरानी हुई, लेकिन आवाज या उसकी
मिठास के कारण नहीं। मैं तो उसे जानता तक नहीं, पर मेरा अन्तर बोल उठा:
'वह लड़की राजवंश से सम्बन्धित नहीं होगी।' एक तो उसके चेहरे का नाक-
नक्श कुछ भिन्न था और फिर उसने मेरे पुकारे जानेवाले नाम के साथ 'दा'
जोड़कर आवाज़ लगायी थी: "आपके लिए पानी निकालकर रख दिया है—
नीचे!"

उसके शब्दों के उच्चारण में एक तरह की सफ़ाई थी। राढ़-जैसी आरोह-
अवरोह वाली नहीं। उसे समतल और सपाट कहना चाहिए। इसमें लाल माटी
की लय न थी। मैं संकोच से खिड़की के पास से पीछे हट आया। मैं नहीं चाहता
था—यह कौतुक तमाशा बन जाये।

मैंने उत्तर दिया, "बस, अभी आया।"

लेकिन वह सीढ़ियाँ पारकर चौखट के पास आकर खड़ी हो गयी थी। मैंने सोचा था, वह मुझे सूचित कर नीचे उतर जायेगी लेकिन वह तो एकदम कमरे के भीतर तक आ धमकी। बोली, "अरे, आपने तो अपना बैग, सूटकेस—कुछ भी नही खोला ? अपने कपडे भी नहीं उतारे।"

उसकी जल्दबाजी ने मुझे भी हड़बड़ा दिया था। मैंने अपना कुरता उतारते हुए कहा, "लो, अब उतारे देता हूँ।"

मैं उसकी व्यस्तता से भी चिन्तित था। क्या पता, वह क़दम बढ़ाती जिस तरह आयी थी, उसी तरह खिड़की तक जा पहुँचे। इसी आशका से मैंने ऊँची आवाज में बताना चाहा, "आप चलिए, मैं अभी आया।" ताकि वह 'मुंहजला' वहाँ से खिसके तो सही।

लडकी हँसती हुई बोली, "आप मुझे 'आप' कह रहे है ? मैं तो आपसे बहुत छोटी हूँ !"

अब मैं अपने विवेक का क्या करूँ ? जितनी बुद्धि थी वैसा ही कह रहा था। अठारह के आस-पास की अपरिचित युवती को 'आप' न कहा जाये तो क्या कहा जाये ? मेरे सामने जो नारीमूर्ति खड़ी थी, यदि उसके बारे में कुछ कहना पड़े तो यही कहूँगा : एक साँवली-सी युवती। साँवली नही, बल्कि उससे कुछ अधिक ही गाढी। तो फिर काली कहूँ ? कह सकता हूँ।...लेकिन इस साँवले या काले रंग के ऊपर उसका सलोनापन खेल रहा था। बडी-बड़ी धुली-सी आँखों में काली पुतलियाँ चमक रही थी। उसके सफ़ेद दाँत झिलमिला रहे थे। वक्षस्थल पुष्ट और उन्नत। पतली-सी कमर। बालों का एक छोटा-सा गुच्छा उसकी पीठ पर झूल रहा था। एक छोटी-सी गाँठ लगी थी उसमें। कुरती का रंग धुल-धुलकर फीका पड़ गया था और कमर मे खोंसे गये आँचल का एक सिरा धागे से सिला हुआ था।

फिर उसकी बात में जितनी सहजता थी, उसकी भाव-भंगिमा मे नहीं। वहाँ संकोच भरा व्यवहार था। लेकिन उसकी सहजता मे कोई आडम्बर *न होते हुए भी मुझे लगा, वहाँ किसी निर्जन वन की निबिड़ छाया विद्यमान है।* बल्कि यह कहूँ कि उसके तरल सारल्य में कोई पीड़ा झाँक रही थी। उस श्यामा को देखकर मेरे मन मे यह बात घुमड़ने लगी कि जिसके हृदय में इतना स्नेह है उसे रूप-रग प्रदान करने में इतनी कंजूसी क्यों की गयी ? दुहाई है हे कर्तार, तुम्हारी कृपा सब पर एक-जैसी नही। एकमात्र करुणा ही सबमें समान रूप से विराजती है।

यह किसकी लड़की है ?

मैंने यही सोचते हुए कहा, "वह तो ठीक है...आप इस घर की..."

"ओ माँ ! आपने फिर 'आप' कहा !"

मैं हैरान था—सचमुच !

उसने हँसते-हँसते बताया, "वैसे हम सब इनके आत्मीय हैं लेकिन हमारा घर यहाँ नही ।"

"अच्छा तो पूजा के अवसर पर...।"

मैं अपनी बात पूरी न कर पाया था कि उसने ही अपना सिर झुकाये जवाब दिया, "नही । अब तो हम लोग यही रहते हैं । इस दालान के ठीक पश्चिम मे एक छोटा-सा घर है—वही ।"

वह अब भी मुस्करा रही थी, लेकिन उसकी मुस्कान को कोई पीड़ा ग्रसे ले रही थी। वह इतना ही जोड़ पायी, "अब हमारे पास कुछ भी तो नहीं रहा। यही मलूटी मे रहती हूँ, अपने किसी रिश्तेदार के पास ।"

वह रिश्तेदारी कैसी थी, मैं कोई अनुमान न लगा पाया । बस, सुनता ही रहा, कुछ पूछ न सका । किसी विपन्न परिवार की धुंधली-सी तस्वीर मेरी आँखों के सामने आ गयी, जिसमे विडम्बना के साथ-साथ अभावभरी विवशता भी दबे पाँव बढती चलती है ।

मैंने इस बीच अपने धुले कपड़े निकाल लिये थे । नहाने-धोने की सारी सामग्री भी । युवती सीढ़ी की तरफ़ चली गयी थी । वहीं से उसने फिर मुड़कर कहा, "नीचे बरामदे मे ही जल रखा है । आप आ जाइये ।"

मैं उसके जाते ही नीचे उतर आया । देखा, आँगन की लाल ज़मीन पर खड़े छोटे राय हाथ उठाकर चिल्ला रहे थे, "अरे, तू बातें क्यो बना रहा है ? आँय ...? तू नही कर पाता, मत कर ! बात ख़तम । बात बढ़ाने से क्या फ़ायदा ?"

उनके सामने एक काली-कलूटी नंगी देहवाला आदमी उकड़ूँ बैठा था और दाँत निपोरे कह रहा था, "बस सुखाना ही तो है । बाक़ी सब कुछ तैयार है । मैं फ़ालतू कुछ कह भी नही रहा । जब कुटाई ही नही हुई तो चावल कहाँ से दूँ ? मैं..."

वह अपनी बात खतम न कर पाया था कि छोटे राय का गुलाबी चेहरा अचानक लाल हो उठा था और स्वर उत्तेजित, "तुझे बकवास करने को और कोई जगह नही मिलती...अँ...? आज की रात पूजा है । सौ-पचास लोग आयेंगे और तू मुझे पट्टी पढ़ा रहा है ! धान है...!चावल तैयार नही । अब क्या कहा जाय ?"

वह आदमी इस गुलाबी फटकार से तबतक पीछे मुड़ गया था और यही कहता जा रहा था, "अच्छा मालिक, ठीक है । आधा मन चावल भिजवा देता हूँ ।"

छोटे राय कुछ कहने ही जा रहे थे कि उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ गयी। उनका

वह तेवर अचानक बदल गया और रोषभरे चेहरे पर झिलमिलाती मुस्कान खिल उठी। मुझसे कहने लगे, "अब तुम्ही बताओ कि इन लोगों से क्या कहा जाये ? जब ज़रूरत होगी तो माँगकर ले जायेंगे और उसके बाद...?"

अपनी बात को वही अधूरा छोडते हुए उन्होंने फिर पुकारा, "अरी सुशी...।"

मैं बरामदे में ही खड़ा रहा। पास ही से जवाब मिला, "हाँ, कहिए ?"

सुशी ! यह वही लड़की थी, जो मुझे बुलाने ऊपर आयी थी। पूरा नाम क्या था किसे पता ! छोटे राय की बातों में हल्की-सी डपट थी जैसे। उन्होंने पूछा :

"पानी रख चुकी ?"

"जी हाँ, है।" मैंने ही जल्दी से उत्तर दिया।

"तो ठीक है। लेकिन बाबा, तुम्हें तो अभी मैदान भी जाना है, शायद !"

मैदान ? अब ऐसी स्थिति में अचानक मैदान जाने की बात कहाँ से आ गयी ?

इसका उत्तर मुझे भी बहुत जल्द मिल गया था। उनकी गुलाबी मुस्कान कान तक फैल गयी थी। उन्होने आश्वस्त करते हुए कहा, "नही, उसका भी इन्तजाम है। अब मैं तुम्हें वहाँ जाने को नही कहूँगा। घर की बहू-बेटियाँ वहाँ किसी तरह जाती हैं। हम सब तो मैदान ही जाते है।"

मामला अब भी साफ़ नही हुआ था। मैंने सुशी की तरफ़ देखा। वह बेचारी धरती पर नजर गडाये खडी थी। दूसरे ही क्षण मैंने सब कुछ समझते हुए कहा, "नहीं, उसकी कोई ज़रूरत नही।"

छोटे राय की मुस्कान भी छोटी पड़ गयी थी। बोले, "अब तुम यहाँ के रास्ते-घाट भी तो नही जानते, नही तो किसी को साथ भेज देता। ठीक है, हाथ-मुँह धो लो। सुशी ! मालकिन से कहकर खाने-पीने का इन्तजाम कर रखना।"

इतना कह वह फिर किसी कोने में अदृश्य हो गये। उन्हें कही रुकने या खड़े रहने की फ़ुरसत है भी कहाँ ? उन्हें ही क्या, किसी को न थी। आँगन के आर-पार मालकिन, बहू-बेटियों का आना-जाना लगा हुआ था। इस कोठरी से उस कोठरी में, इस बरामदे से उस बरामदे में। किसी के हाथ मे पीतल की परात तो किसी की बगल मे कलसी। कोई साड़ी उठाकर भागी जा रही थी तो किसी के हाथ में फूलों की टोकरी। रसोईघर की तरफ़ तो वैसे ही हगामा-सा मचा था।

इन सबके बीच बरामदे के नीचे लकड़ी का एक मोटा तख़्त बिछा था और पास ही बाल्टी मे पानी। अब चाहे जितना नहाओ-धोओ। पानी की निकासी के लिए बग़ल में ही नाली खुदी थी। शहरी क़िस्म के ग़ुसलखाने की आशा मैंने पहले भी नहीं की थी। इस देह को चूँकि शहर की हवा लग चुकी थी, इस लिए

थोड़ी झुंझलाहट हो रही थी। लेकिन हार मान लेने जैसी कोई बात न थी। मैंने शीघ्र ही अपना सारा काम निपटा लिया था। कपड़े बदल ही रहा था कि सुशी की पुकार फिर कानों में पड़ी। नाम के बाद 'दा'। नीचे ही, एक दूसरी कोठरी मे मैं भोजन करने बैठा था—बड़े राय महाशय के पास ही। हमारा भोजन स्वय मालकिन परोस रही थी और उनके आदेश की प्रतीक्षा मे तत्पर खडी थी सुशी।

लेकिन मैं जलपान देखकर एक बार फिर हैरान रह गया था। एक बहुत बड़ी काँसे की थाली मे अनगिनत पूड़ियाँ, बैंगन की भुजिया और कई तरह की मिठाइयाँ। और, इधर एक अदद पेट।

मैंने कहा, "इतना सारा ! मैं खा नही पाऊँगा।"

सभी हँसने लगे मेरी बात सुनकर। बड़े राय ने अपने मुँह में कौर डालते हुए कहा, "इतना-उतना कुछ नही; बस, खाकर ख़तम करो !"

बड़े राय का स्वर छोटे राय की तुलना मे थोड़ा नरम और मधुर था। छोटे राय होते तो मजूटी वाली बोली में तनिक झल्ला उठते शायद।

बड़ी मालकिन बोली, "खालो, बाबा। कल शाम को थोड़ा-बहुत खाकर गाडी से चले होगे। कहीं कुछ भी तो नही खाया-पिया। दोपहर के भोजन मे तो काफ़ी देर हो जाएगी।"

अब विरोध करने का कोई कारण न रहा। मैं थूक निगलता रहा। सुबह-ही-सुबह इतनी सारी पूड़ियाँ !!

लेकिन सुशी ने मुझे इस संकट से उबार लिया था। बोली, "काकी, उठा भी लीजिये न ! इच्छा होगी तो फिर माँग लेंगे।"

ख़ैर, कुछेक पूड़ियाँ उठा ली गयी। मैंने जलपान करते हुए दो और महिलाओं को भी देखा था। उनमें एक जो विवाहिता थी, वह बहुत कम उम्र की थीं। उनके सिर पर आँचल भी न था। नीली आँखें और दिव्य गौर वर्ण। मैं तुरन्त समझ गया। वे राय महाशय की बहन होंगी। दूसरी ने घूंघट निकाल रखा था। उनका चेहरा तभी दिखायी दिया, एक बार जब वे घूंघट उठाकर इधर देख रही थीं। अधरो पर तब मुस्कान खेल रही थी। तीस के आसपास रही होंगी वे। लेकिन उनकी मुस्कान-माधुरी केवल होंठों या काली-काली आँखों तक ही सीमित न थी, किसी दिव्य प्रतिमा की तरह उनके माथे की टुक-टुक लाल बिन्दी भी जैसे मुस्करा रही थी। इतने से ही मैंने समझ लिया कि ये छोटी मालकिन होंगी। अब यदि कोई यह पूछे कि बड़ी मालकिन की साँवली-सलोनी रूप-शोभा, ीली नाक, बड़ी-बडी आँखें और सौम्य मुस्कान के साथ इनकी इतनी समानता ों है ? तो उत्तर होगा, आखिर ये दोनों सहोदरा ही तो है। यही कारण था बड़े राय छोटी मालकिन को कभी 'तुम' कहते तो कभी 'तू'। आख़िर साली

कहाँ पाऊँ उसे

ही ठहरी ! सच भी और मज़ाक़ भी। जिसे कभी 'जमाई बाबू' कहकर जीभ काटते हुए अंगूठा दिखाया होगा, उसे ही अब 'जेठजी' और 'बड़े ठाकुर' कहकर आदर का दर्जा देना होता है।

जो भी हो, परस्पर सुख-शान्ति और सद्भाव से घर-गृहस्थी चल रही थी। छोटी बहू को भी बड़े जेठ के सामने 'असूर्यंपश्या' बने रहने की चिन्ता न थी। और बड़े राय की मीठी हँसी ! बड़ी ही प्यारी, जैसे अब भी पूछ बैठेंगे, क्यूँ री, मुँह चिढ़ाकर मुक्का दिखायेगी ? अब तो काबू मे आयी।

खिलाने-पिलाने में दोनों ने कोई कोर-क़सर नही छोड़ी।

"अब यह सब कहने से क्या होगा ? जवान लड़के हो, यही तो खाने खेलने की उमर है।"

यह तो ठीक है लेकिन जवान का अर्थ कोई वीर पुरुष तो नही। फिर राज-पाट और राजघरानों से क्या लेना-देना !

जलपान समाप्त करते हुए बड़े राय बोले, "सारी रात गाड़ी मे धक्के खाते रहे। अब जाकर थोड़ी देर आराम कर लो।"

आराम ! मैं इस शब्द का तात्पर्य नही समझ पाया। मै आराम के लिए तो मलूटी नही आया। मलूटी ने मेरे अन्तर को झिझोड़ दिया था। मेरा मन मलूटी की लाल माटी और घाट-बाट पर चौकड़ी भर रहा था। गाँव से दूर—वह रंगीन पगडण्डी, मन्दिरों में टेराकोटा की मूर्तियाँ और अलकृत पौराणिक देवी-देवता ! कांदर का पहाडी सोता, झर-झर बहता—कल-कल करता। ऊपर हेमन्त का नील गगन...और प्रकृति की तरल स्निग्ध हरीतिमा से मिली राजा के इस गाँव की रंग भरी माटी—रहस्यपूर्ण किवदन्तियों का लोक !

मैंने कहा, "आराम तो क्या करूँगा, इससे तो अच्छा होगा थोड़ा घूम-फिर आऊँ।" राय साहब मुस्करा दिये। उनकी इस गुलाबी हँसी मे दुश्चिन्ता की झलक-सी दीख पड़ी।

"हाँ, जा सकते हो, लेकिन अकेले कहाँ भटकते फिरोगे ? किसी को संग लगाना पड़ेगा।"

मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि वह 'मुँहजला' वहाँ भी आकर उपस्थित हो गया। मामा या फ़ूफाजी, पता नही, क्या कह कर पुकारा था।

आते ही कहा, "जाना कहाँ है ?"

बड़े राय ने -छूटते ही कहा, "तुम्हे यह सब जानने की कतई जरूरत नही, बाबा ! मैं किसी अभ्यागत को तुम्हें सौंपकर आपत्ति में नही पड़ना चाहता।"

उस 'मुँहजले' ने अपनी गर्दन को हलके से झटक दिया। उसके तीन-चौथाई बाल एकबारगी नाच उठे थे। उसने पूछा, "क्यों, आपत्ति की क्या बात ? करना क्या है, यह तो बताइये !"

बड़े राय की गुलाबी हँसी टेढ़ी हो सकती थी। वे फिर से बोले, "नहीं बाबा, इन्हें तुम्हारे हवाले न सौंप पाऊँगा, प्यारे! ऊँहूँ...!"

तब प्यारे ने एक बार मेरी तरफ़ उड़ती हुई नजरों से देखा और फिर राय साहब की ओर।

मैं उसके सुकुमार गाल पर गोरी किशोरा के थप्पड़ के निशान ढूँढ रहा था। पर वैसा कुछ नहीं दीखा। पता नहीं क्यों, वह मुझसे नजरें चुरा रहा था। ऐसा केवल किशोरी के 'उपहार' के लिए ही नहीं रहा होगा, राय महाशय भी उसे 'बिनु भय होय न प्रीति' वाली उक्ति से चरितार्थ कर रहे थे। यही कारण था कि वे मुझ जैसे युवक को भी उसके हाथों नहीं सौंपना चाहते थे। वह कोई ऐसा-वैसा 'प्यारे' न रहा होगा।

तभी उसने इसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया। अपनी फरासडंगा वाली कोरी धोती का एक सिरा हाथ में झपटते हुए मुँह बिचकाते हुए बोला, "अच्छा तो फिर जैसी आपकी मरजी!"

इतना कहकर वह जा ही रहा था कि बड़ी मालकिन ने पुकारकर कहा, "ओ प्यारे...जलपान तो करता जा।"

उत्तर में इतना ही कहा, "अभी नहीं।"

बड़े राय हँसते हुए बोले, "न जाने कैसा लड़का है, क्या बताऊँ! इसे लेकर तो बड़ी चिन्ता घेरे रहती है। पता नहीं, कब कहाँ कोई हंगामा खड़ा कर दे। अब किसी तरह की कोई आफ़त खड़ी किए बिना अपने घर लौट जाये—यही बहुत है।"

मैंने पूछा, "यहाँ नहीं रहता?"

"नहीं, इसका घर सिउड़ी में है। हमारा रिश्तेदार है।"

"बड़ा चलता पुरजा है।" मैं उसे 'स्मार्ट' कहना चाहता था।

बड़े राय की गुलाबी हँसी अब लौट आयी थी। बोले, "जरूरत से ज्यादा। अब यहाँ दो दिनों के लिए आया है...तुम देखना, इसको लेकर कोई-न-कोई हंगामा जरूर उठ खड़ा होगा।"

बातचीत करते हुए हम बाहर आ चुके थे। पूजा-प्रांगण और दालान में भीड़ बढ़ती जा रही थी। बच्चे ही नहीं, बड़े भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। उनमें से कुछ सथाली थे और कुछ ढाकी। कुछ तो दालान के ही लोग थे। काली-काली दो बकरियाँ भी थीं वहाँ। वे रह-रहकर में-में करती और सामने पड़े पत्ते चबाने लगतीं। पास ही, परों की झालर सजाये कई ढोल वाले इकट्ठा हो गये थे। बच्चों के हाथ सुगबुगा उठे थे, वे रह-रह कर ढोलों पर कमचियाँ पीट देते। उन नन्हें हाथों से बजाये गये बोलों में महानिशा का जागरण-संकेत था। कुम्हारों के हाथ भी भला कैसे थम जाते! मूर्ति की रंगाई तेज़ी से चल

रही थी। नरमुण्डमाल और अंग-प्रत्यंगों पर पीला रंग किया जा रहा था।

मैंने बड़े राय से कहा, "मैं अकेला ही क्यों न घूम आऊँ! ज्यादा दूर नहीं जाऊँगा।"

बड़े राय किसी असमंजस में डूबकर बोले, "तुम घूम-फिर पाओगे तो? कोई साथ होता तो अच्छा होता। तुम यहाँ के लिए अपरिचित हो। सभी तुम्हें बुला-बुलाकर कुछ पूछेंगे। ख़ैर, थोड़ा घूम-फिर आओ! अगर गाँव घूमना चाहो तो दक्खिन की तरफ़ जाना।"

अच्छा ही हुआ। मैं उत्तर के सती घाट से आया था यहाँ। इसलिए दक्खिन की अनदेखी जगह की तरफ़ ही जाना चाहता था। अहाते के पास से ही, गाँव का मुख्य रास्ता निकल गया था। मैं उसी पर आगे बढ़ गया। बड़े राय ने गलत नहीं कहा था। उनकी आशका से भी अधिक पूछताछ हुई। रास्ते में ऐसा कोई न मिला, जिसने यह न पूछा हो कि किसके घर आये हो, घर कहाँ है, वगैरा-वगैरा। घर की ड्योढी और चौबारे पर बैठे युवक हों, या काले अध-नगे और कन्धे पर गमछा रखे लोग—सबके मुँह पर ऐसे ही कुछ प्रश्न। रास्ते के किनारे एक लँगड़ा पड़ा था। उसने भी हँसकर कहा था, "मैं समझ गया। आप अमुक के जमाई हैं न...दो-चार पैसे फेंकते जाइये।"

पैसे ले लो भाई, पर किसी के घर का जमाई क्यों बनाते हो? मैंने पैसे फेंके और आगे बढ गया। आगे चढ़ाई थी और फिर ढलान—यहाँ पहली बार मैंने ऐसा देखा था। पानी में डूबे पूर्वी बंगाल से इस बंगाल का रूप-रंग सर्वथा भिन्न था। एक घर के बाद दूसरा घर, बल्कि घरों के गुच्छे। लाल माटी की दीवारें और फूस का छप्पर। आस-पास पक्के मकान भी थे। लेकिन जैसा बताया गया था, मकानों से अधिक मन्दिर ही थे। मैंने इसके पहले इतने मन्दिरों को एक साथ कहीं नहीं देखा था। पकी हुई उन लाल ईंटों पर अलंकरण थे। टेराकोटा पर रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की रचना की गई थी। दशानन द्वारा सीताहरण, युद्ध और संहार, और फिर रामराज्य के चित्र। कौरव-पाण्डवों का कुरुक्षेत्र-युद्ध और स्वर्गारोहण। साथ ही, अनेक पौराणिक स्त्री-पुरुष पात्र और सम्बद्ध गाथाएँ। यही नहीं, नवाबों और बादशाही ठाट-बाट की भी कई झाँकियाँ और लोक-जीवन के कई रंग। लेकिन सब जीर्ण शीर्ण। बहुत-से मन्दिरों की दीवारों पर काई जमी थी, दीवारें ढह गयी थीं।

मैं भूल ही गया था कि मैं किस गाँव में आ पहुँचा था। अपने अस्तित्व को भूलकर, अतीत में किसी [illegible] नगरी में खो [illegible] सुख-दुःख, युद्ध-शान्ति, [illegible], [illegible] और हाहाकार [illegible] मैंने देखा, [illegible] बादशाही [illegible] निहार रहा है।

कहाँ पाऊँ [illegible]

मलूटी पर अँधेरा झुक आया था। मुझे वापस भी होना था। मैं गाँव से निकलकर फिर ढलान से नीचे उतर आया। उस लाल माटी के रास्ते के पार—मैंने देखा गाँव के घर-परिवार, बाउरी, बागदी और संथाल परिवार के तमाम लोगों को। चढ़ाई के बाद दक्खिन की ओर दृष्टि गयी तो दूर-दूर तक फैले धान के खेत दीख पड़े। उनके पीछे हरियाली थी और धुँधलके में खोये मन्दिरों के कलश। मुझे याद आया, मौलीक्षा का मन्दिर दक्खिन में ही कहीं प्रतिष्ठित है जहाँ राजलक्ष्मी ग्राम देवी का विग्रह भी है।

चढ़ाई पारकर जब मैं वहाँ पहुँचा तो एकाएक ठिठक गया। कल-कल, छल-छल बहते झरने के स्वर में ज़ोर-ज़ोर से कोई झाँझ-सा बज रहा था : रिम-झिम...झिम-झिम। यह कौन-सा लोक था, धूल में लिपटा। विचित्र संसार—अव्यक्त, अलौकिक। मैं उस स्वर का पीछा करते हुए आगे बढ़ा। सतीघाट से भी ज्यादा चौड़ी गहरी नदी पूरब की ढलान पर उतर गयी थी—झरने के रूप में। किनारे पर बबूल की घनी झाड़ियाँ थीं। काले-लाल रंग के बड़े-बड़े पत्थर बिखरे पड़े थे।

किनारे से एक-एक पग बढ़ाता मैं मन्दिर के पास पहुँच गया। वहाँ और भी कुछेक मन्दिर थे। देवी-पति महादेव की मूर्तियाँ आस-पास बिखरी थीं। ईंट की दीवारों पर महाकाव्यों के चित्र उत्कीर्ण थे। प्रकृति की घनी छाया में कोयल की कूक और पक्षियों की पिक्-पिक् के बीच मैं मानो खो गया। गहरा अँधेरा घिरा हुआ था वहाँ, लेकिन मुझे अपनी सुध कहाँ थी? मौलीक्षा के मन्दिर की वेदी पर बैठकर मैं दिन—साल—तिथि सब कुछ भूल गया। वहाँ से मलूटी गाँव ऐसा दीख रहा था, जैसे किसी कछुए की पीठ पर कोई जनपद बसा हो। उसके उत्तर से नीचे बहती हुई काँदर नदी दक्खिन की ओर मुड़ गयी थी। पश्चिम में पहाड़ी थी और पूरब में लम्बी-चौड़ी समतल जमीन।

मैं कितनी देर बैठा रहा, ज्ञात नहीं। किसी ने आवाज दी तो चौंका : "अरे, आप यहाँ बैठे हैं, अकेले?"

मैंने आँख उठाकर देखा : श्रीमान् प्यारेलाल खड़े थे, होंठों में जलती हुई सिगरेट थामे।

मैंने सोचा था, वह अपनी सिगरेट फेंक देगा; लेकिन वह इन व्यर्थ की औपचारिकताओं से सर्वथा मुक्त था। कोरी धोती की झूलती हुई किनारी को जमीन की धूल चटाता वह मेरे पास ही, मौलीक्षा की ड्योढ़ी पर आ बैठा। उत्तर की प्रत्याशा से कुछ नहीं पूछा था उसने। मैं दीख गया, इसलिए पूछ लिया। ड्योढ़ी पर बैठे-बैठे ही दनादन सिगरेट के कश खींचे और फिर भुन-भुनाया, "ई स्साली कमर टनटना रही है।"

मैं समझ गया था कि उसकी जुबान साना और सारान के बैल हाँकने-

वाली बोली से कुछ अलग नहीं । लेकिन मैं इन शब्दों से उसके पर्यटन के बारे में कुछ नहीं जान पाया, जिससे उसकी 'स्साली कमर' टीस रही थी।

मैं उससे कुछ पूछने का साहस जुटा नहीं पाया था। मैं यही सोच रहा था कि वह घूमता-फिरता नदी किनारे मौलीक्षा मन्दिर तक क्यों आ पहुँचा ? शायद अभिसार का उद्देश्य रहा हो।

उसने अपनी कमर को दो-चार बार झटका दिया। फिर अपनी जेब से सिगरेट की डिबिया निकाली, वही साहब की छापवाली। मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए बोला, "पीयेंगे ?"

"नहीं मेरे पास है।" मैंने अपनी जेब में जल्दी से हाथ डालते हुए कहा।

"रहने भी दीजिये। मेरी वाली ही पीजिये न महाशय।"

उसकी छोटे मुँह बड़ी बात सुनकर जिन्हें क्रोध आता होगा, उनमें मैं नहीं था। मुझे उसकी बातों पर हँसी आ रही थी। मैंने अबतक अपनी डिब्बी निकाल ली थी। मैंने कहा, "वह मुझे रास नहीं आयेगी। इसलिए..."

प्यारे मेरी डिबिया की तरफ़ देख रहा था। अपनी घटिया सिगरेट पर कुछ शर्मिन्दा होकर बोला, "आपकी सिगरेट तो बड़ी कीमती है। अन्दर का माल-मसाला भी उम्दा है। मैंने पीकर देखी है।"

उसने अपनी सिगरेट फेंक दी और मेरी ओर अपना हाथ बढ़ा दिया, "दीजिये तो भला, आपकी ही सिगरेट खीचूं !"

जो भी हो, नशे की गहराई को समझने वाला कोई सहृदय तो मिला। इसमें उम्र की कोई बाधा न थी। वैसे भी बीस की उम्र कुछ कम नहीं। मैंने उसे नज़दीक से देखा, उस्तरा फेरे जाने के बावजूद महाशय के गाल अब भी नरम थे। दाढ़ी ठीक से उगी नहीं थी। मूँछ की पट्टी काली, लेकिन नरम थी। मेरी उमर तब दुगुनी नहीं तो ड्योढ़ी अवश्य थी। लेकिन यहाँ ऐसा कोई लेखा-जोखा न था कि वह मुझसे एक सिगरेट भी न माँग सके।

मैंने जल्दी से सिगरेट निकालकर उसकी तरफ़ बढ़ा दी। उसे लेकर उसने एक बार सूँघा और फिर बायें हाथ के अंगूठे पर उसका सिरा ठोककर उसकी मुखाग्नि की। मुँह से धुआँ निकाल उसने इतमीनान की साँस ली। फिर अपने जूते उतारकर वह मन्दिर की टूटी दीवार पर बैठने ही जा रहा था कि अचानक पीछे हटकर चिहुँक पड़ा, "अरे बाप ! फिर तो एकाध की रेड़ मारनी ही होगी, और क्या ?"

प्यारे ने चाहे जितनी कोशिश की हो, लेकिन उसकी भाषा में जो गँवई संस्कार थे—छूटे नहीं थे। मैं समझ नहीं पाया कि किसकी रेड़ मारेगा। पूछ बैठा, "किसे मारने जा रहे हो?"

"साँप को!"

मेरा कलेजा धक् हो गया। मैंने पूछा "वाकई साँप है क्या?"

प्यारे मुझे कुछ इस तरह देख रहा था, जैसे मैं कोई गँवार हूँ। ग़नीमत थी कि उसने ऐसा कुछ कहा नहीं। अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को गोल करके बोला, "क्या कह रहे है आप? यहाँ साँप नहीं हैं? कल ही तो एक गेहुअन साँप देखा था...बाप-रे बाप! स्साले का फन कित्ता बड़ा था, एकदम मेरे सर पर सवार!"

सुनते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये, गला रुँध गया। मैंने घबराकर पूछा, "फिर?"

"देखते ही दौड़ पड़ा। सामने ही एक पत्थर था उसी से...वर्ना कल तो साले ने ऊपर ही भेज दिया होता। बहुत बड़ी बला टली।"

शायद यह सत्यकथा ही हो। ये महाशय चलते पुरज़े हैं, इसमें कोई शक नहीं। उसके चेहरे को देखकर ऐसा नहीं लगा कि जनाब झूठ बोल रहे हैं। उसने कहना जारी रखा था, "अब आप ही बताइये, इस इलाक़े में साँप क्यों न हों भला! मन्दिर की छतरी देखी है! बाप-रे बाप, एक-एक मन्दिर में जैसे साँपों की खेती होती है। ईंटों के एक-एक जोड़ में भरे पड़े हैं स्साले। लगता है, दूध पिलाकर पोसा गया है। एक भी ईंट उठाओ, स्साले फन उठाये काटने को तैयार!"

"क्यों भला?" मैं हैरत में पड़ गया।

"सभी माँगते है न।"

"क्या माँगते हैं?"

"यही ईंट। और क्या? आपने देखा नहीं इन ईंटों पर क्या-कुछ छपा है। देवी-देवताओं की छाप। मुझसे कई लोग माँगते रहते हैं।"

"क्या करेंगे इनका?"

'पता नहीं, क्या करेंगे!" प्यारे ने जोर का एक कश खींचा और होंठों को टेढ़ा करके धुआँ उगलकर बताया, "ले जाने पर पैसे देंगे, ऐसा कहा है। वे कोई ऐरे-ग़ैरे नहीं, लिखे-पढ़े लोग हैं।"

उसकी बात सुनकर ऐसा जान पड़ा, मानो वह किसी दूसरे समाज से जुड़ा हुआ है। पढ़ने-लिखने वालों से उसे कोई मतलब नहीं। वह अपने गँवई अन्दाज़ में साना और लारान की तरह बोल रहा था। यद्यपि उसके रेशमी कुरते के भीतर से कन्धे पर पड़ी जनेऊ से उसके किसी ब्राह्मण घर के बेटे होने का संकेत मिल गया था। कुछ देर तक मैं उन पढ़े-लिखे शिक्षित लोगों के बारे में सोचता रहा था, जो मलूटी के मन्दिरों में लगाये गये टेराकोटा को पैसे देकर नुचवा रहे थे। मुझे पता था कि बहुत-से लोगों को प्राचीन वस्तुओं के

संग्रह का उन्माद होता है। कोई अपने संग्रह में रखते हैं तो कोई ड्राइंग रूम में। शहर के सम्मानित लोगों के घरों में, कक्षों में, आलमारियों में इन्हें विशेष सजाकर रखा जाता है। सरकारी और विश्वविद्यालय के संग्रहालयों में भी पुरासामग्री की बड़ी माँग है। काष्ठ, पत्थर, मिट्टी की जो भी दुर्लभ वस्तुएँ मिल जायें, उन्हें सहेजकर रखा जाता है।

प्यारे ने कुछ ग़लत नहीं कहा था। मेरे मन में भी थोड़ी उत्कण्ठा थी। मैंने भी यह कल्पना की थी कि मेरे घर की दीवारों पर टेराकोटा की असख्य मूर्तियां जड़ी है। अपने घर की उस दीवार के सामने, साँझ के झुटपुटे में मैं कुछ सोचता हुआ ऋषि-मुनियों के युग में पहुँच गया जहाँ पाराशर मुनि किसी मत्स्यगन्धा की गोद में हैं, हरिण को दुलराती हुई शकुन्तला है, कीचक का सहार करने वाले भीम है। अर्जुन को गीता का उपदेश दे रहे हैं श्रीकृष्ण या फिर ऋष्यश्रृंग मुनि ने पहली बार किसी को देखा है। सीता अशोक वन में उदास बैठी हैं राक्षसियों के बीच। रामचन्द्र दशभुज देवी दुर्गा की पूजा कर रहे हैं।

मैंने यह भी कल्पना की थी कि मलूटी के टूटे-फूटे मन्दिरों के सारे संग्रह को अपने घर में सजाकर उसी आश्चर्यलोक में चला जाऊँगा। उस युग में, जिसकी पुरागाथा और महिमा को जितना जानो-गुनो, साध नहीं मिटती।

मैंने प्यारे से पूछा, "तो फिर क्या हुआ? ले नहीं जा सके?"

प्यारे ने अपने होंठों को बिचका दिया, विरक्ति से। फिर बोला, "नहीं, कोशिश तो मैंने कई बार की। दो-एक बार ले भी उड़ा। एक बार पकड़ा भी गया। फिर तो ऐसी धुनाई हुई कि छठी का दूध याद आ गया था। पूछने लगे, 'क्या करोगे? ईंटों का चूरन बनाओगे?' स्साले! ऐसा समझते थे जैसे मैं सोने की ईंट लिये जा रहा हूँ।

मैंने कहा, "यहाँ तो पड़ी-पड़ी नष्ट ही हो रही है।"

"और क्या?" प्यारे मेरी बात सुनकर उत्साहित हो उठा। बोला, "अब आप ही देखिये न, छोटे-छोटे लौंडे इन मूर्तियों से खेलते फिरते हैं, इनके टुकड़ों को उछालते हैं, और मैं इनसे दो-चार पैसे कमाना चाहता हूँ तो...मार स्साले को...!"

प्यारे की बातें सुनकर मैं अपनी हँसी नहीं रोक पाया। ठीक ही तो है! जिसके टुकड़ों से यहाँ के बच्चे खेलते फिरते है, उन्हें बेचकर यदि वह सिगरेट के लिए दो-चार पैसे जोड़ लेता है तो इसमें क्या अनर्थ हो जाता? बेचारा! च्च...

प्यारे बताता गया, "उनकी वही एक सनक है। सड़ जाये, गल जाये, धूल मे मिल जाये...तेरा क्या? गाँव की कोई भी चीज बाहर नहीं ले जा सकते।

लो रखो...जैसे कुबेर का खजाना मिल गया है ? कलेजे से लगा रखा है... इस्स...!"

एकदम ठीक ! प्यारे की बातों से मलूटी के लोगों के मनोभाव का पता चल गया। उनका मन प्यारे का मन नहीं। प्यारे के लिए वह सौदे की चीज थी, लेकिन मलूटी-वासियों के लिए पवित्र ऐतिहासिक धरोहर। वे अतीत में जो कुछ पाकर खो चुके हैं, वह गाथा—उसका गौरव इन टूटी-फूटी ईंटों में सुरक्षित है। इनसे उनके पुरखों की स्मृतियाँ जुड़ी हैं, इसीलिए वे इन्हें सीने से लगाये बैठे हैं। इन मन्दिरों के ध्वंसावशेषों को वे बड़ी लाचारी से देखते हैं। क्या करें ? सुनहले बाज को पकड़ रखने वाले चरवाहे राजा के वंशजों का मन तो प्यारे को नहीं मिला। वह तो अपने रिश्तेदारों के बहाने सिउड़ी से यहाँ आया था। उसे बाजार भाव से मतलब था और अपने सौदे से। जिन भले लोगों से उसका लेना-देना था, उनकी मानसिकता से भी उसे कोई मतलब नहीं...

मैं ऐसा नहीं कहना चाहता कि इन भले एवं विशिष्ट लोगों के मनोभाव को मलूटी के लोग जानते हैं। मलूटी वासियों के लिए जो सामग्री राजवंश की धरोहर है, नगर के संग्राहकों के लिए वह प्राचीन वस्तु मात्र है। प्यारे की बातों को सुनकर मेरे मन में जो उत्कण्ठा जगी थी, वह मलूटी वासियों के मनोभाव को जानकर शान्त हो गयी थी।

मेरी सिगरेट फुंक चुकी थी। प्यारे अब भी पी रहा था। पोर जलाकर बीड़ी पीनेवालों के बारे में पता था, लेकिन होंठ जलाकर सिगरेट चूसने वालों को नहीं देखा था। क्या प्यारे उसकी आग को भी निगल जाना चाहता था ! ऐसा न करके वह सहज ही मुझसे दूसरी सिगरेट माँग सकता था—यह कह कर, 'कुछ जमा नहीं...जरा एक और निकालिए तो महाशय !'

नहीं। उसे आग खाने की जरूरत नहीं पड़ी। अंगार का आखिरी टुकड़ा उसे फेंक देना पड़ा। धोती की किनारी से अपना मुँह पोंछते हुए बोला, "आप कलकत्ता से आ रहे हैं न ?"

"नहीं, उसके पास ही..."

अब प्यारे मेरी तरफ़ नहीं देख रहा था। उसकी आँखें कहीं दूर भटक रही थीं। वह मेरी आँखों की तरफ़ ताकता हुआ अपना सवाल पूछता लेकिन मेरा जवाब आकाश की तरफ़ देखते हुए सुनता। शायद वहाँ कोई पंछी उड़ रहा होगा। हो सकता है, वह उसके मन में ही कहीं फड़फड़ा रहा हो। मन भी तो एक जंगल ही है। बड़ी-बड़ी आँखों को बन्दकर कहीं खो जाने और अन्यमनस्क होने में देर ही कितनी लगती है ?

मेरी बात पकड़ते हुए उसने कहा, "अच्छा तो फूफा जहाँ काम करते हैं,

आप वहीं के रहने वाले है ?"

मैं समझ गया कि वह बड़े राय साहब की ही बात कर रहा है। मैंने पूछ लिया, "अच्छा तो राय साहब तुम्हारे फूफा है ?"

"यही समझिये...दूर का रिश्ता है।" प्यारे इस गौरव से बहुत अभिभूत न था। राजवंश के साथ उसकी आत्मीयता बहुत महत्त्व नहीं रखती। अपनी ही धुनकी में लहककर बोला, "मै दो बार कलकत्ता जा चुका हूँ।"

यह बताते हुए वह फूल उठा। अपनी जेब से डिब्बी निकालकर उसने एक सिगरेट फिर सुलगायी और उसका धुआँ आसमान में उड़ाते हुए बोला, "कुछ बाकी नहीं रख छोड़ा, सब कुछ देख आया। आप पूछियेगा, सिनेमा...थियेटर.. चिड़ियाघर...विक्टोरिया मेमो...! सब कुछ। जब स्कूल में पढ़ रहा था— तभी।"

"किसके संग गये थे ?"

"अकेला गया था, और क्या ?" प्यारे ने अपनी आँखें मटका दी।

"अच्छा !"

"हाँ, स्कूल से भाग जाया करता था।"

फिर तो प्यारे बड़े गुणवन्त बालक थे। महाशय सिउड़ी से कलकत्ता भाग गये थे, वह भी अकेले। मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं अपनी ही अन्तरात्मा की पुकार सुन रहा होऊँ। कोई अनजानी छाया उसे भी घर से दूर भटकाती रही है क्या ? किसी की उन्मत्त पुकार उसे पकड़ ले जाती है क्या ?

मैंने पूछा, "वहाँ क्यों गये थे ?"

"बस, यूँ ही घूमने-फिरने !"

"डर नहीं लगा ?"

"नहीं।"

"घर वालों ने कुछ नहीं कहा ?"

"बाप-रे, बड़ी खातिर हुई ! हाथ-पाँव बाँधकर रखा गया। दुकान से पैसे चुराकर गया था न, इसीलिए।"

अरे वाह रे प्यारे ! कोई दुराव-छिपाव नहीं। सीधी बात, सादा बयान। बोला, "वरना पैसे मिलते कहाँ से ? माँगने पर देता ही कौन ? हारकर बिना बताये ही निकाल लेने पड़े। और बिना बताये लेना...चोरी है ! चोरी है, तो सजा भी मिलेगी।" लेकिन यह सब कहते हुए प्यारे की आँखें मन्दिर की दीवारों पर कुछ खोज रही थी। वह कह कुछ रहा था, सोच कुछ और रहा था। पता नहीं, किस उधेड़बुन में था।

मैंने पूछा, "तुम्हारी दुकान है कोई ?"

"हाँ, सिउड़ी में ही। इसलिए वहाँ रहना भी पड़ता है। वैसे हमारा घर

मोल्लारपुर में है।"

उसकी बातों में कोई गोलमाल न था, न उत्तर में कोई कंजूसी। एक लगाओ दो पाओ।

मैंने फिर पूछा, "पढ़ाई-लिखाई तो सिउड़ी में ही हुई होगी?"

यह भी कोई सवाल है? प्यारे ने आँख उठाकर मेरी तरफ देखा। परेशान-सा लगा। उसकी मुस्कान भी ढीली पड़ गयी थी। अपनी खिन्नता को छुपाकर बोला, "हाँ, लेकिन ज्यादा कुछ पढ़ न पाया।" अपनी सिगरेट फेंक दी उसने और माथे पर झूल रहे तीन-चौथाई बालों को झटकते हुए कहा, "यहाँ अब कितनी देर बैठे रहेंगे? जायेंगे नहीं?"

घड़ी पर मेरी नजर गयी। सूरज भी उसकी सुइयों की सीध में चमक रहा था—एकदम बीचोबीच। मैंने कहा, "हाँ, अब वापस जाऊँगा।"

मन्दिर के चबूतरे से प्यारे उतर आया और जूते में पाँव डालते हुए कहने लगा, "फफा ने सोचा होगा, पता नहीं, मैं आपको कहाँ घुमाता रहूँगा। अब उनकी मर्जी में कोई ले भी जाये तो कहाँ? जब भरोसा ही नहीं तो क्या कहा जाय? आप बैनागुड़ी गये है?"

मैंने यह नाम कभी नहीं सुना था, इसलिए पूछना पड़ा, "कहाँ है?"

"कोई ज्यादा दूर नहीं। ईसाइयों की मिशनरी है वहाँ। मेरे साथ चलते तो मैं आपको वहीं ले जाता। इतनी देर में हम घूम-फिर आते। खैर।"

मुझे भी अफ़सोस हुआ। मेरी क़िस्मत खराब थी और प्यारे भी बहुत भरोसे के लायक न था। मुझे आश्वस्त करते हुए वह बोला, "अगर जाना हो तो बताइयेगा, ले चलूँगा। मगर उन्हें बताने की जरूरत नहीं, अन्यथा हंगामा उठ खड़ा होगा।"

मेरे मन में भी तब वहाँ जाने की प्रबल इच्छा जगी थी, लेकिन मैं वादा न कर सका। प्यारे के साथ कहीं घूमने के लिए योग्यता भी चाहिए। वैसे वह मुझे बुरा नहीं लगा। उसके भीतर कहीं कोई बैठा था—सरल, निश्छल। ओज और स्फूर्ति से भरा कोई घोड़ा, जो सारे खूँटे तोड़कर जीवन के खुले मैदान में दौड़ रहा है, भाग रहा है। सब कुछ, सारा कुछ उसके पाँव की धूल हो जैसे। पता नहीं, वह कब, कहाँ, किधर उड़ चले!

मौलीक्षा मन्दिर के चारों ओर ईंट की दीवारें थीं—टूटी-फूटी। खँडहरों पर छोटे-बड़े पौधे उग आये थे। दिन के बारह बजे भी मौलीक्षा के इर्द-गिर्द गहरी छाया विद्यमान थी। पंछियों का अविराम कलरव सुन वहाँ से उठने को जी नहीं कर रहा था, लेकिन समय ने उठने को विवश कर दिया। बाहर खुले में आकर मैंने प्यारे के गाल को ध्यान से देखा। मुझे थप्पड़ वाली बात याद आ गयी थी। उस घटना के बारे में मैं जानना चाहता था। लेकिन कुछ पूछने का साहस

नहीं जुटा पाया । उसके जैसा स्पष्ट वक्ता ! पता नहीं, क्या कुछ बोलने लगे, और दम साधे सुनना पड़े ।

मेरे मुँह से इतना ही निकला, "मलूटी बड़ी प्यारी जगह है ।"

"खाक है," प्यारे बीच में ही टपकते हुए बोल पड़ा, "यहाँ क्या है भला ! कुछ भी तो नहीं । ले-देकर यह काली-पूजा है, जो काफी जमती है। इसीलिए यहाँ हर साल आ जाता हूँ ।"

मैं प्यारे को यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य, यहाँ की धरती, उसके वैचित्र्य आदि के बारे में कुछ भी न कह पाया । मैं इन्हीं विचारों में खोया हुआ था कि प्यारे ने बड़ी ही प्यारी सूचना दी, "लेकिन मैं अपनी शादी यहीं करूँगा !"

यह क्या ? मेरे कानो को सहसा विश्वास नहीं हुआ । अब उससे कुछ पूछने की जरूरत न थी । मैंने एक बार ज़ोर से गला साफ़ करते हुए कहा, "अच्छा !"

मैं जिस बात को पूछते हुए घबड़ा रहा था, उसकी तरफ़ प्यारे ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया । वह दूर, गाँव की ओर ताक रहा था । फिर बोला, "बस इतना ही ! इससे अधिक कुछ नहीं ।"

मैंने उसके चेहरे की ओर देखे बिना पूछ लिया था, "सब कुछ तय हो चुका है क्या ?"

प्यारे ने बताया, "हुआ नहीं, हो जायेगा । लडकी मुझे पसन्द है, लेकिन कुछ कह नहीं सकता । अजीब-सी जगह है । वह क्या कहेगी, किसे पता ?"

प्यारे का यह अनुभव था । यह जगह कैसी है, यह तो उसके गाल को ही पता है । अब जानने को बाक़ी बचा भी क्या था ? मैं समझ गया, वह पात्री कौन है । इतना तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि देखने में बुरी न होगी । गुण और स्वभाव के बारे में क्या कहा जाय ? वह लड़की किस घर की थी, किस वंश की थी—यह भी नहीं जानता । थप्पड़ लगाते हुए उसका जो ओज देख पाया था वह तो किसी मानिनी महारानी का-सा था । इसके बाद भी...! यह तो प्यारे का हौसला ही था जो टूटा न था ।

प्यारे काफी देर तक चुप रहा आया था । मैं जितना हैरान था, उतना ही मेरे अन्तर में कहीं कोई हँसी का फ़व्वारा छूट रहा था । मैंने प्रेम के कुछेक रंग देखे थे लेकिन ऐसा नमूना नहीं देखा-सुना था । फिर भी, मैं हँस न पाया था । क्या पता, उसका प्रेम-दर्प आहत हो जाये ! यह भी संभव था कि उस तमाचे से बौखलाकर वह मुझे ही कुछ भला-बुरा कह बैठे !

खेतों से होता हुआ मैं उत्तर की ओर ढलान की तरफ़ बढ़ा तो मेरी दृष्टि

झुण्ड-के-झुण्ड ताड़ वृक्षों पर पड़ी। इतने वृक्ष एक साथ! मैंने पूछा, "यह क्या ताल-वन है?"

प्यारे ने मेरे संकेत को पकड़ते हुए कहा, "ताल-वन नहीं, पोखर है।"

पोखर! नही तो! चारों ओर खुली जगह थी और बीच में ताल-वृक्षों का मेला। मैंने फिर पूछा, "वहाँ पोखर है?"

"हाँ, पोखर के चारो तरफ़ ताड़ के पेड़ है। इन इलाकों मे ऐसा ही है। आप चलेंगे वहाँ!"

मेरा मन वहाँ पहुँचना चाहता था। आँखें तो टिकी ही थी। मैंने कहा, "चलो चलते है।"

प्यारे ने सपाट-सा सवाल किया, "नितक्रिया के लिए जाना है?"

उसने यह प्राकृतिक प्रश्न क्यों उठाया? मैंने सिर हिलाया, "नही तो।"

प्यारे ने बड़े भोलेपन से कहा, "वहाँ पोखर है न, आसानी से पानी मिल जाता है।"

अच्छा तो यह बात थी! मेरी बातों से उसे वैसा ही कुछ जान पड़ा होगा। तभी मुझे छोटे राय की बात भी याद आ गयी।

दर्पन की भाँति उस पोखर का ठहरा हुआ पानी। चारों ओर ऊँची-ऊँची मेड़ें। पानी के किनारे तालवृक्षो की साफ़ परछाइयाँ और बीच में नीला आसमान। पोखर में एक बुढ़िया और एक युवती नहा रही थी। वे बागदी रही होंगी। किसी दूसरी जगह से भी कानों मे टूटी-फूटी आवाज़ आ रही थी, स्त्री-पुरुष की बातचीत के साथ खनकती हँसी!

प्यारे अपने कान खड़े कर इस हँसी को पी रहा था। धीरे-धीरे वह पश्चिम की ओर बढ़ चला। मैं भी उसके पीछे-पीछे चलने लगा था। वहाँ, नीचे ढलान की तरफ़ तालवृक्ष की छाया मे, दो औरतें बैठी थी। एक मर्द भी था वहाँ—घुंघराले बाल, काली नगी देह और कमर में एक अंगोछा। दोनों युवतियाँ साड़ी मे थी। उनके जूड़ों मे काठ की तीलियाँ फँसी थी। बस। आँचल कसे, पाँव फैलाये बैठी थी दोनो। देह कुछ-कुछ अलसाई-सी। तीनों के तीनो भुच्च काले, तवे जैसे। आँखें लाल—जो रह-रहकर झिलमिला उठती।

तीनों के बीच एक हाँड़ी थी, बल्कि हण्डा कहना अधिक उपयुक्त होगा। साथ ही, मिट्टी के सकोरे। बस, समझदार के लिए इशारा ही काफ़ी है। चारों ओर फैल रही बू से ही पता चल रहा था कि उस हण्डे में कौन-सा अमृत है। वे तीनो उसे चख-पी रहे थे, इसीलिए हँसी और खिलखिलाहट का दौर जारी था। सयाली थे तीनों।

वहाँ रुकना नहीं था, इसलिए मैं वापस जाने लगा। लेकिन प्यारे के पाँव जैसे मिट्टी में ही धँस गए थे। उसने पूछा:

"यहाँ क्या हो रहा है ?"

जवाब उस जवां मर्द ने दिया था, जिसकी झिलमिल आँखें मुस्करा रही थीं : "दिख नहीं रहा कि हम ताड़ी पी रहे हैं ? अन्धा कहीं का ? अंबे, दीखता नहीं ...आँय...!"

एकबार पूछते ही वह दनदना उठा। फिर वे तीनों आपस में आँखें जोड़कर हँसने लगे।

प्यारे ने फिर पूछा, "तू किसके घर की परजा है। पूजा के लिए आये नहीं !"

हँ...हँ...हँ...हँ खिलखिलाते हुए उस युवक ने कहा, "पहले आठ आने के छोटे मालिक, उसके बाद हम। तू किस घर का है, चीन्हा नहीं जा रहा !"

प्यारे ने कहा, "छह आने वाले बड़े घर के।"

"अरे तो ऐसा बोला होता...आँय ! ला...पाँव की धूल दे।" लड़खड़ाता वह उठ खड़ा हुआ और प्यारे के पाँवों पर लुढ़क गया।

प्यारे निर्विकार चुपचाप खड़ा रहा, जैसे पाँव की धूल देना उसकी चर्या का अंग हो। फिर नशे में धुत् वह युवक मेरे पैरों के पास आ बैठा। पीछे हटते हुए कहा मैंने, "बस—बस – ठीक है, रहने..."

"क्यों ? रहेगा क्यों ? तू किस घर का है ?"

"हम एक ही घर के हैं।" जवाब प्यारे ने दिया।

थोड़ा-सा अवकाश मिलते ही मैंने कहा, "चलो, वापस चलें।"

अब जाने की इतनी जल्दी भी क्या है ? प्यारे ने छूटते ही पूछा, "क्यों ? थोड़ी-सी चखेंगे नहीं ?" और वह भी बैठ गया।

मैं कुछ समझ न पाया। बस, पूछना ही रह गया, "तुम पीओगे ?"

उसने कहा, "अब कोई टटका...ताजादम तो रही नहीं ताड़ी...काफ़ी घोल-माल हो चुका होगा। थोड़ी-सी चढ़ाने में कोई हर्ज नहीं। अब-जब मिल ही गयी है तो दो हाथ हो जायें।...क्यों ? माल-वाल तो है ?"

उनमे से एक बोली, "है क्यों नहीं, तू पी तो सही।"

मेरे मन में राढ़ से जुड़ी वह स्मृति धन्य हो गयी। उसने मुझे प्यारे से मिलाकर कृतार्थ किया था। अजीब था वह लड़का भी। उसने कहा था कि थोड़ी-सी चखकर वापस चलूँगा। मान ही नहीं रहा था। उस समय वह युवती झण्डे को तिरछाकर एक दूसरी छोटी-सी हाँड़ी मे ताड़ी ढाल रही थी, उसे अपने आँचल से छान भी रही थी और प्यारे की ओर देख-देखकर मुस्करा भी रही थी। प्यारे हाँड़ी की ओर टकटकी लगाये देखता रहा। फिर वह गाना गाने लगा :

"मेरी माँ ने कहा है, पी ले बेटा...पी ले बेटा

मेरा नाम रटे जा, जी ले बेटा...पी ले बेटा"

ऊँचे स्वर में वह टप्पा गा रहा था। उसके गले वह चीज उतरती भी कैसे? वहाँ तो दूसरी ही चीज ढलनी थी। मैं वहाँ रुक नहीं पा रहा था।

"अच्छा प्यारे, तो फिर मैं चलूँ?" मैंने कहा।

"ठीक है।" उसने इतना ही कहा।

अब मैं उसके लिए इतना अजनबी हो उठा था कि उसने कह दिया, ठीक है जाइये। मुझे विदा करते समय वह हण्डे के मुँह पर भिनभिनाती मक्खियाँ उड़ाने लगा। पोखर आते हुए मुझे कुछ चक्कर भी काटना पड़ा था, इसलिए हारकर पूछना पड़ा, "किस तरफ़ से जाऊँ?"

बिना मुड़े ही उसने जवाब दिया, "उत्तर-पूरब के बीचों-बीच चलते चले जाइये, गाँव का रास्ता मिल जायेगा।"

वापस जाते हुए मन कई बार डोल उठा। वह प्यारे जो किसी चरम क्षणों मे विस्मय भरता हुआ कौंध उठा था, दूसरे ही क्षण डूब गया। उसके अन्दर क्या था और बाहर क्या—मैं नहीं जान पाया। मुझे लगा, वह इस संसार में अपनी अकेली राह पर चल रहा है—सारे छंद-बंद तोड़-तुड़ाकर। उसे अपनी भी सुध नहीं। उसे किसी से कुछ नहीं लेना, इसलिए किसी का डर भी नहीं। उसे जाना कहाँ है, घर कहाँ छूट गया—इसका भी पता नहीं। संसार के किसी भी कोने से उसे बुलावा आये, वह जाने को तैयार है। यहाँ तक कि गोरी किशोरी का तमाचा खाने को भी प्रस्तुत। लेकिन, ताड़ी पीकर वह सबके सामने घर कैसे लौट पायेगा?

यह उसका सरदर्द था, मेरा नहीं। मैं ही क्यों, प्यारे की चिन्ता करके चिन्तित होना किसी के बस का रोग नहीं।

बबूल की छोटी-छोटी झाड़ियों के बीच से गुजरता हुआ मैं लाल पगडंडी तक पहुँच गया। लेकिन उस पर पाँव रखते ही प्यारे की चिन्ता में डूबे हुए मैंने मादल की आवाज सुनी। दूर बजता हुआ वह मादक स्वर धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया।

डिम...डिम...डिम...डिम!

मैंने आकाश को छूती हुई काली पहाड़ी रेखा की तरफ़ चौंककर देखा, मेरे पीछे छूट गयी थी वह।

आखिर यह आवाज कहाँ से आ रही है? एक नहीं, कई-एक स्वरों में मादल बज रहे हैं। उनकी आवाज क्रमशः मेरे पास आती जा रही है। अनन्तरात्र है

आदिम युग-खण्ड में मैं बही तो गया था धीरे-धीरे। यह भी मलूटी का एक 'मिथक' था, स्वप्न सा जिसने धीरे-धीरे मुझे ग्रस लिया था।

"अरे बाबा, तुम कहां चले गये थे?"

सामने छोटे राय खड़े थे। उनके साथ एक वृद्ध सज्जन भी थे—बड़े ही सौम्य। लम्बी दाढ़ी—नीचे छाती तक फैली हुई। दाढ़ी-मूंछ के बीच उनका प्रसन्न और गंभीर चेहरा खिल रहा था। दोनों गाँव जाने की राह पर ही खड़े थे, एक छप्पर के नीचे।

"मैदान से..." मैंने बताया।

छोटे राय ने कहा, "यहाँ आओ, मैं चटर्जी महाशय से तुम्हारा परिचय करा दूं।"

परिचय के बाद चटर्जी महाशय बोले, "तुमसे मिलकर बड़ी ख़ुशी हुई बेटा, चलो हमारे घर। फिर लौट आना।"

फिर छोटे राय की ओर मुड़कर बोले, "तुम जाओ, मैं इसे भेज दूंगा।"

चटर्जी महाशय। हाथ में एक मोटी-सी लाठी और गले में जनेऊ। मुझसे पूछा उन्होंने, "तुम्हारे साथ इसी बहाने कुछ बातें हो जायेंगी। तुमने मलूटी का सारा किस्सा तो सुन ही रखा होगा?"

"जी नहीं।" मैंने जवाब दिया।

"तो चलो, मलूटी के किस्से सुनना।"

ईंटों की दीवार, लकड़ी के दरवाज़े और लाल आँगन पार कर चटर्जी महाशय अपनी पक्की ड्योढ़ी तक लिवा लाये। चौखट के सामने नारियल के रेशों से बुना हुआ पापोश था। घुसते ही, कमरे के बीचो-बीच एक चौकी पर बिछावन बिछा था। कांच की अलमारी में किताबें थीं। एक ओर मेज़ थी, जिस पर एक मेज़पोश पड़ा था। दो कुर्सियाँ थीं, एक आराम कुर्सी भी। खुली खिड़कियों से कटे हुए धान के खेत दिखाई पड़ रहे थे। उधर चारदीवारी के किनारे खड़े ताल वृक्षों की आड़ में किसी टूटे-फूटे मन्दिर का शिखर दिखाई पड़ रहा था। कुल मिलाकर, उस पक्की ड्योढ़ी वाले घर पर आधुनिकता की छाप थी।

लाल माटी के ज्वार में डूबा यह कोई राज-भवन नहीं था, बल्कि राजाओं के कुलीन दामाद कुँवर का घर था। इस घर में काली-पूजा की कोई साज-सजावट नहीं थी, न ही लोगों की भीड़, या शोर-गुल। मलूटी गाँव के सुर-ताल से अलग-थलग था यह।

चटर्जी महाशय की पुत्रवधू और नाती के साथ हुई बातचीत को सुनकर

लगा—भाव, भाषा और भंगिमा में वे सब शहरी संस्कार से जुड़े हुए हैं। यहाँ तक कि चाय की प्याली में भी वहाँ का स्वाद था। मैं इस समय चाय पाकर सचमुच कृतार्थ हो गया था। प्यारे मुझे जिस तरह छोड़कर अपनी तृष्णा बुझाने बैठ गया था, उससे मेरा मन हताश-सा हो चला था। मन में भी कोई प्यास सुगबुगा उठी थी। यह भी एक तरह की तृष्णा ही थी। अन्तर केवल चाय और ताड़ी का था और उनके गुण-परिमाण का।

चटर्जी महाशय ने बताया कि बाघा कुलीन किसे कहते हैं। वे स्वयं बाघा कुलीन के वंशधर थे। कभी किसी राजकन्या के साथ हुए पाणिग्रहण के बाद मलूटी में बस गये थे। लेकिन अब...

"अब वह मलूटी कहाँ? न वैसे लोग ही रहे। अब जो कुछ है वह तब के मुकाबिले छदाम भर नहीं। मैं जब आया था तो थोड़ा-बहुत राग-रंग शेष था, कुछ वैसा ही, जैसे किसी घर में यज्ञ की धूम-धाम, भोज-भात के बाद का सन्नाटा होता है। और अब तो वैसा भी नहीं।"

चटर्जी महाशय की बूढ़ी आँखें कहीं दूर दिगंत में खो गयी थीं। राजकन्या के संग अपने परिणय की वेला में जब वे यहाँ, इस स्वप्न-नगरी में, आये थे तो एकदम खो गये थे।

उनकी दाढ़ी काँप रही थी। गहरी उसाँस के साथ बोले, "कहाँ चले गए वे वसन्त मुखर्जी और कहाँ आ लगी है यह मलूटी की नैया!"

"बसन्त मुखर्जी? कौन थे?" मैं पूछे बिना न रह सका।

चटर्जी महाशय ने खोये हुए अतीत के उस पार से उत्तर दिया, "वही, अपने राजा बाज बसन्त, जिन्होंने बादशाह का बाज पकड़ा था और जिसके पुरस्कार-स्वरूप यह राज्य और राजउपाधि मिली थी। बादशाह ने ही उसे 'राजा बाज बसन्त' की उपाधि दी थी। दरअसल ये मुखर्जी थे—भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण। राय तो इनका बादशाही खिताब था।"

इस रहस्यपूर्ण राजगाथा को जब तिथियों और सालों में बाँधा जाने लगा तो यह इतिहास गाथा हो गयी। चटर्जी महाशय ने वह इतिहास सुना ही था, लेकिन यह रहस्य नगरी अब किंवदन्तियों से आवृत हो गयी है - इतिहास रहा हो या नहीं। स्वय राजा बाज बसन्त केवल अठारह की उम्र में चल बसे थे। इसका कारण और कुछ नहीं, गुरु का अभिशाप था।

वह पथचारी संन्यासी, जिसने विषधर सर्प के फन की छाया में सोये चरवाहे बालक को दीक्षा दी थी, बड़ा ही महँगा साबित हुआ। इसके पहले राजा अपने कुलगुरु से दीक्षित हो चुके थे। तभी कुलगुरु ने अपमानित होकर उसे शाप दिया था, 'कुलपुरोहित छोड़कर तूने नये गुरु से दीक्षा ली! जा, तेरी अकाल-मृत्यु होगी।'

और ऐसा ही हुआ। उनके पुत्र राजा रामसा की कहानी भी चटर्जी महोदय ने सुनायी थी। कहने लगे, "इस राय परिवार में अब रह ही क्या गया? उन राजाओं का भला कितना प्रताप था, कितना ऐश्वर्य! राजा रामसा ऐसे ही राजा थे। दिल्ली के बादशाह ने एक लाख सैनिकों को भेजा था उनके विरुद्ध लड़ाई में। वे भी बड़े ही सनकी। आसपास के जो भी राज्य थे, उन्हें भी उन्होंने किसी-न-किसी तरह हड़प लिया था। सभी बादशाह के दरबार में नालिश करने पहुँचे। बादशाह ने उन्हें जिन्दा पकड़ लाने के लिए पहले तो पाँच हज़ार सिपाहियों को भेजा, लेकिन उन्हें रामसा ने यों ही खदेड़ दिया था।

"अपनी हार से बादशाह तिलमिला उठे। और एक लाख सिपाहियों की फ़ौज भेजी। तभी बसन्त को दीक्षित करनेवाले काशी के उस संन्यासी की समाधि टूटी, उसने रामसा को फटकारा, 'मूर्ख, तू यह क्या कर रहा है? इतना अहंकार है तुझे! अब भी सँभल!'

"रामसा भी घबराया हुआ था। एक लाख सिपाही कूच करते आ रहे हैं, कोई मजाक नहीं। उसने गुरुदेव से पूछा, 'उपाय!'

"गुरुदेव ने कहा, 'चलो दिल्ली।' अपने परिवार और नाते-रिश्तेदारों को छुपाकर राजा साहब गुरुदेव के संग दिल्ली चले, जहाँ गुरुदेव की पहचान के एक फकीर थे। बादशाह के दिल मे उस फ़कीर के लिए बड़ी जगह थी। गुरु ने उस फ़कीर से जाकर कहा, 'आप ही रामसा को बचा सकते हैं।'

"फ़कीर ने बहुत सोच-समझकर कहा, 'बादशाह का हुक्म है, [illegible] नहीं किया जा सकता। जब वह गर्दन उतारने पर आमदा हैं तो कोई-न-कोई क़ुर्बानी तो देनी ही पड़ेगी। और तो कुछ नही, खून ही देना पड़ेगा।' और इस तरह रामसा को कुछ पढ़ा-सिखाकर वे उसे बादशाह के दरबार में ले गये, अपने दामन में छुपाकर।

"बादशाह ने फ़कीर की बड़ी खातिर-[illegible] हुआ। फ़कीर ने कहा, 'आपके पास एक आदमी की [illegible] के लिए आया हूँ—बख्श दीजिये उसे।'

"बादशाह बोला, 'आमीन, [illegible] जो बंगाल के एक इलाक़े का राजा है, [illegible]।'

"फकीर ने कहा, 'आप [illegible] की तरह है। आपके गुस्से का [illegible] वह अपनी ग़लती मानकर [illegible] रामसा को अपनी [illegible] मे गिरकर अपनी [illegible] है।'

"फकीर की [illegible]

अपना एक अंगूठा काटकर बादशाह के पैरों में रख दिया।

"फ़क़ीर ने कहा, 'यह रहा रामसा। आपने इसका सिर चाहा था। इसने उसके बदले अपना खून दिया। अब आप खुश होकर इसे माफ़ कर दीजिये।'

"रामसा की आँखें छलछला उठी थीं। बादशाह का कलेजा छोटा न था, पिघल गया। हुकम जारी हुआ, 'फ़ौज वापस बुला ली जाये। लेकिन आइन्दा इसका खयाल रहे कि रामसा के खिलाफ़ कोई शिकायत नहीं आये।'"

चटर्जी महाशय ने कहा, "इसके बाद ही उन्मत्त रामसा एकदम शान्त हो गया। पहले के लोग कुछ दूसरी ही धातु के बने होते थे। अब वह बात कहाँ!"

इनकी बात लेकर कोई अड़ जाये कि जनाब, यह कब का क़िस्सा है? दिल्ली में तब किसकी बादशाहत थी तो इसका उत्तर देना मुश्किल होगा। फिर इस बखेड़े में पड़े भी कौन कि यह क़िस्सा है या किवदन्ती या फिर इतिहास।

ऐसा नहीं था कि अलीलकि ख़ाँ के साथ इन राजाओं की लड़ाई नहीं हुई। इस सच्चाई को आख्यान कैसे मान लिया जाय! उस लड़ाई के बाद ही तो डामरा को छोड़कर राजपरिवार मलूटी आ गया था। डामरा के पास ही राजनगर है। उसके मालिक थे, अलीलकि ख़ाँ। रामसा ने कभी उसके इलाके पर हमला बोल दिया था। राजनगर के ख़ाँ साहब ने मौक़ा पाते ही दो-दो बार जवाबी हमला किया था, पर उनके पैर उखड़ गये। बेचारे तीन साल तक चुपचाप बैठे रहे।

उस समय राजा थे राय राजचन्द्र। उनके दो भाई थे, रामचन्द्र और महादेव। दोनों अपने बड़े भाई के अनन्य सहयोगी। एक बार दोनों तीर्थयात्रा करने निकले। यह खबर अलीलकि ख़ाँ के कानों में भी पड़ी। वह वैसे ही घात खाये बैठा था। रात के अँधेरे में उसने डामरा पर झपट्टा दे मारा।

इस अचानक हमले के लिए राजचन्द्र के सिपाही तैयार न थे। वे गाजर-मूली की तरह कटने लगे। राजचन्द्र ने बड़ी बहादुरी से दुश्मनों का सामना किया। इसी संकटपूर्ण स्थिति में उनके सेनापति नारायण दलुई ने राजभवन में जाकर राजरानी से कहा कि बाल-बच्चों को लेकर भाग चलिये, अन्यथा प्राणों का भय तो है ही, मर्यादा भी नहीं रहेगी।

रानी राजी थी। लेकिन भागकर जायें तो कहाँ! दलुई ने कहा, 'पास ही मलूटी का जंगल है। वहाँ राजाओं का एक गुप्त भवन है।' और, रानी चली आयी दलुई के संग इसी मलूटी में। उस समय यहाँ घनघोर जंगल था—भयानक जानवरों का आश्रम-स्थल।

राजचन्द्र लौट न पाये। अलीलकि ख़ाँ ने उनकी गर्दन उड़ा दी थी। सारा खजाना भी लूट लिया गया था। जब रामचन्द्र और महादेव लौटे तो बड़े भाई की हत्या का समाचार सुनकर फूट-फूटकर रोने लगे। मित्रों ने उन्हें समझाया, रोने में क्या होगा? भावज ने संकल्पभरे स्वर में कहा, 'अलीलकि का सिर

कहाँ पाऊँ उसे

चाहिए। उसके खून से मैं अपने पाँव धोऊँगी।'

मलूटी ही नई राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुई और युद्ध की सारी तैयारियाँ शुरू हुईं। अलीलकि का सिर चाहिए, लेकिन इसके पहले ही अल्ला ताला ने अलीलकि को उठा लिया। उसे कोई लाइलाज बीमारी हो गयी थी।

चटर्जी महाशय के कहने का यही आशय था कि मलूटी में पहले योद्धा थे, वीर थे, धार्मिक थे। ससुराल के पुराने दिनों की बातें सोचकर उस बूढ़े जमाई का कलेजा काँप उठा था, गहरी उसाँसें ले रहे थे वे। उनकी आँखों में जंगली मलूटी का अँधेरा तिर आया था। उनकी रहस्यकथाओं का पिटारा जितना बड़ा था, मेरी जिज्ञासा उससे कुछ कम न थी। बंगाल के एक-एक गाँव में ऐसी राजगाथाएँ बिखरी पड़ी हैं, गली-गली इनसे परिचित है।

मैंने राजा रामचन्द्र का क़िस्सा बड़े राय से भी सुन रखा था। उनकी रानी ने अपनी इच्छा से मृत्यु का वरण किया था और पति के चरणों में सिर रखकर विदा हुई थी। उन्हीं की स्मृति में श्मशान को 'सतीघाट' का नाम दिया गया था। ऐसा भी नहीं था कि राजा ने धर्माचरण करते हुए गेरुआ धारण किया था या अपनी जटा बढ़ायी थी, वे तो मनःप्राण से धार्मिक थे।

इसी तरह राजा आनन्दचन्द्र भी यथानाम राजरसिक थे—गुणवन्त और कलावन्त। उन्होंने ही ब्राह्मण-विदा का विधान प्रचलित किया था। उनकी राज-सभा में रसिक-गुणीजनों की मंडली जमी रहती। एक राजा स्वभावत. ही कवि थे—नाम था गगानारायण। चटर्जी महाशय ने उनकी कविता का एक अंश स्वयं गाकर सुनाया था :

"रानी कहे कह गिरि, ब्रजेन्द्रनन्दन हरि, की रूपे करिला रासलीला।
गोपीगण सगे मेलि, कौतुके करेन केलि, रासरग केमन करिला।"

इन पंक्तियों को उन्होंने कविता की तरह नहीं, मन्त्र की तरह पढ़ा। एक श्रोता की भूमिका में, मैं जिस युग में था, जिनकी कविताएँ पढ़ता था; वह सब कुछ भूल चुका था। कविता की आवृत्ति सचमुच मेरे मन को भा गयी। वे अपने ध्यान में डूबे-खोये थे। वह माधुरी भी अलग ही थी। इतना ही नहीं, कविताओं के बाद गान? मैंने हामी भरते हुए कहा, "हाँ, सुनूँगा।"

अपनी दाढ़ी कँपाकर, भौंह नचाकर राजकवि की तरह उन्होंने गुनगुनाते हुए जो गान सुनाया था, उसमें भैरवी के साथ टप्पा मिला था। उनके कण्ठ में कोई ज़ोर न था, गले में खराश भी थी, तो भी मैंने इस तरह का गान वर्षों से नहीं सुना था।

मैंने कहा, "आप तो बहुत ही अच्छा गा लेते हैं।"

चटर्जी महाशय का साँवला चेहरा दाढ़ी समेत लहरा उठा था जैसे।

उन्होंने सकोच में आकर कहा, "मैं कोई गान-वान तो जानता नहीं, बस तुम्हें

सुना रहा था—यूँ ही।"

मैं बड़े ध्यान से सारे आख्यान सुन रहा था। मलूटी के क़िस्सों का तो कोई अन्त ही न था। एक बैठक में ख़त्म होने वाली नहीं थी यह परीकथा। चटर्जी महाशय जीवनभर इस कहानी को कहते रहते, तो भी पूरी नहीं होती। इसी बीच उनकी पतोहू आकर बोली, "बाबा, मलूटी की कहानी सुनकर इन्हें क्या करना है? और कितनी देर सुनाइयेगा?"

चटर्जी महाशय ने हँसकर उत्तर दिया, "कहानी नहीं है बेटी, इतिहास है। मैंने सुना है, लेखक हैं... इसलिए इन्हें यह सब जानना चाहिए।"

अब इनके इस निर्णय के उपरान्त कोई कैसे न सुने! मुझे यह सब सुनने में अच्छा भी लग रहा था। गीत के बाद उन्होंने फिर कहा, "तो वह वृत्तान्त सुनाऊँ—शेर के शिकार वाला। महादेव के नाती का नाम था हरचन्द्र। उसकी माँ के पास एक भैंस थी—समझ गये न! बड़ी दुधारू थी वह। उस समय मलूटी के आसपास बीहड़ जंगल था। एक चरवाहा उसी भैंस को चरा रहा था कि इतने में एक बाघ ने हमला कर दिया और भैंस को अपना शिकार बनाकर चलता बना। हरचन्द्र की माँ को यह जानकर अपार दुःख हुआ। वे उसे बहुत चाहती थीं। उन्होंने अपने बेटे को बुलाकर कहा, 'जिस बाघ ने भैंस का ख़ून पिया है उसे जीते जी पकड़ लाओ, अन्यथा मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी।'

"हरचन्द्र भी वीर पुरुष थे। माँ की आज्ञा को शिरोधार्य कर वे अपना तीर-कमान लिये जंगल की ओर निकल पड़े। ख़ून के छींटों का अनुसरण करते हुए वे बाघ की गुफ़ा तक जा पहुँचे। बाघ भैंस का ख़ून पी रहा था। तीर कैसे चलाते भला—बाघ मर जाता। उसे तो जीते जी ले जाना था, इसलिए उन्होंने अपने हाथ से तीर को उछाल दिया। बाघ उसके साथ ही उनपर झपटा, लेकिन राजा ने उसकी गर्दन लपक ली और उसी तरह अपनी माँ के पास ले आये।

"माँ भी बहुत बहादुर थी। उन्होंने कहा, 'बस इसी तरह पकड़े रहो, मैं इसे अपने हाथ से मारूँगी।' इतना कहकर वह एक धारदार कटारी ले आयी और एक ही वार में उसे बाघ के सिर में घोंप दिया। बाघ वहीं ढेर हो गया। सोचो, इस वंश में ऐसे भी लोग थे।"

उनकी बातें सुन-सुनकर मेरी आँखों के सामने बड़े राय का चेहरा तिर उठा। मैं उन्हें बचपन से देख रहा हूँ: रेलवे का काला कोट पहने, टिकट वसूलते हुए।

मलूटी की अक्षय गाथा का अन्त नहीं। फिर भी, चटर्जी महाशय चुप हो गये। फिर कुछ ही क्षणों में उन्होंने साधक बामा खेपा का प्रसंग उठाते हुए कहा, "वे मलूटी में नौकरी के लिए आये थे। स्वयं उनकी माँ ने कहा था, 'तुम मलूटी के राजा के पास जाकर नौकरी करो।' लेकिन केवल चाहने से ही क्या होता है?

कहाँ पाऊँ उसे

बामाचरण लिखना-पढ़ना तो जानते नहीं थे, उनसे राज-काज होता भी कैसे ?

"तब बामाचरण ने ही सुझाया था, 'मुझे नारायण का पुजारी बना दीजिए।' वे पुजारी बन गये। यहाँ उन्होंने दो वर्ष तक काम किया। अब जिन्हें स्वयं माँ तारा ने अपनी सेवा में बुला लिया, वह इन सब में अधिक दिनों तक कैसे पड़ा रहता ? वे मलूटी से तारापीठ चले गये—सेमरतला मसान में। और, वहाँ शुरू हुई उनकी तान्त्रिक साधना।"

बस इतना ही, ठीक इसी समय घर के दरवाज़े पर कोई छाया-सी पड़ी। हमने मुड़कर नहीं देखा। स्वर सुनकर ही हम दोनों मुड़े—सुशी थी।

बोली, "ताऊ जी ने आपको बुला भेजा है। घर नहीं चलना ? कित्ती देर हो गयी ?"

मैंने देखा, घड़ी दो बजा रही थी। चटर्जी महाशय की बूढ़ी आँखों में अब भी चेतना-शून्य भ्रान्ति विराज रही थी। दूर-दिगन्त मलूटी की ओर देखते हुए बोले, "सुशी है न ?"

"जी !"

"उन्होंने तुझे बुलाने के लिए भेजा होगा !" चटर्जी महाशय अपने में लौट आये थे।

"हाँ। काफ़ी देर हो चुकी है। इन्होंने नहाया-धोया भी नहीं।"

इसी समय चटर्जी महाशय की पतोहू ने भी आकर कहा, "बाबा, आपको भी स्नान-भोजन करना है। देर हो गयी है।"

चटर्जी महाशय निरुपाय थे, विमर्ष में डूबे। मुझे समझते देर न लगी कि मलूटी का अतीत ही उन्हें जीवित रखे हुए है। उनके सामने का वर्तमान उनके लिए रसहीन है, विवर्ण है। दिन काटने के लिए ही साँसें चल रही हैं। जब तक जीवित हैं तब तक मलूटी की राज-रहस्य-गाथा के प्रवक्ता बने रहेंगे। वे मलूटी की संतान नहीं, उसके प्रेमी हैं।

कहने लगे, "शाम को भी आ जाना, बहुत-सी बातें करनी हैं तुमसे।"

मलूटी की गतिविधि पर मेरा कोई बस न था। फिर भी, मैंने कहा, "अच्छा।"

मैंने पाँव बढ़ाया ही था कि वे फिर कह उठे, "कल दिन का भोजन मेरे यहाँ ही तय है।"

इस बारे में भी मैं अपनी कोई राय ज़ाहिर करने की स्थिति में न था। सारा निर्णय बड़े राय के ज़िम्मे था। मैं पहले की तरह ही अपना सिर हिलाकर निकल आया।

बाहर, रास्ते पर धूप लम्बी हो गयी थी। चटर्जी महाशय की बातें बार-बार याद आ रही थी। मलूटी की इस माटी पर लौकिक-अलौकिक घटनाओं और हजारों किंवदन्तियों का जन्म हो चुका था।

सुशी मेरे साथ चल रही थी। उसने बड़े आश्चर्य से पूछा, "आप इतनी देर से यहीं बैठे थे?"

"नहीं, मौलीक्षा के मन्दिर गया था।" कहते ही मुझे प्यारे की याद आ गयी। मैंने पूछा, "प्यारे घर लौटा?"

सुशी की काली आँखें फैल गयी। अब वहाँ दूसरा ही प्रश्न कौंध उठा था, "नहीं तो। बात क्या है?"

मुझे लगा प्यारे का प्रसंग आया नहीं कि सभी के कान खड़े हो उठते हैं। मैंने कहा, "वो...वो मैंने उसे मन्दिर के प्रांगण में देखा था न, इसलिए।"

सुशी की आँखें अब भी मुझपर टिकी थी। नहीं, वे कहीं दूर खोयी हुई थी। प्यारे का प्रसंग था, शायद इसीलिए। क्या पता, वह कहीं कोई उत्पात न मचा बैठे?

ऐसी कोई परेशानी की बात नहीं थी। यही बहुत है कि वह ताड़ी पीकर घर लौट आये। क्या वह नशे की हालत में खड़ा रह पायेगा? मैंने डरते-डरते ही सुशी को इस बारे में बताया।

सुशी खिलखिलाकर हँस उठी और फिर बोली, "फिर तो ठीक है। मैं सोच रही थी, कहीं कोई ऐसी-वैसी बात तो नहीं। ताड़ी पीने की बात तो सभी जानते हैं। हाँ, ऐसी हालत में वह ताऊ के सामने नहीं आएगा और न ही घर में घुसेगा।"

"तो फिर कहाँ जाएगा?"

सुशी उसी तरह बड़ी निश्चिन्तता से हँसती रही, "यह तो प्यारे ही बता सकता है। जिनके साथ ताड़ी पी रहा होगा, उनके साथ ही कोई व्यवस्था हो जाएगी।"

ठीक ही कहा उसने। प्यारे जैसा था और मैंने जैसा उसे पाया था, उसके लिए कुछ असम्भव न था। इसी समय मेरे मन में यह दूसरी बात भी उठी थी। मैं सोच रहा था, सुशी से पूछूँ या नहीं। वह किशोरी कौन थी जिसने प्यारे के गाल पर तमाचा जड़ा था।

इसके पहले कि मैं इस बारे में उससे कुछ पूछूँ, उसने कहा, "उसके साथ कोई दूसरा भी था?"

"दूसरा?" मैं समझ न पाया।

सुशी ने होंठों को होले से दबाया और हँस पड़ी। फिर दूसरी ओर देखती हुई बोली, "वही...कोई लड़की-वड़की।"

यहाँ पाऊँ इसे

कहते हुए उसने मेरी तरफ़ देखा फिर खिलखिला उठी, अपने दाँतों में आँचल का छोर दबाये। मुझे उसकी इस हँसी में उस तमाचे और किशोरी का रहस्य मिल गया।

मैंने बड़ी हैरत से सुशी की ओर देखा। उसकी बातों में जो भी संकेत रहा हो, उसका मतलब यह तो नहीं था कि तमाचा जड़ने के बाद वह लड़की प्यारे के साथ घाट-बाट घूमती रही होगी। मैं उससे कुछ पूछना चाह ही रहा था कि सुशी ने आँचल को दाँतों तले दबा लिया और अपनी मुखमुद्रा गम्भीर बना ली, वैसे, जैसे किसी अपरिचित पुरुष के सामने किसी युवती का हृदय धड़कने लगे और वह अपनी नज़र झुका ले।

मेरे सामने ही, एक प्रौढ़ सज्जन खड़े थे। नंगी देह, नंगे पैर। कमर में लिपटी ऊँची धोती और कन्धे पर जनेऊ। आँखें कुछ-कुछ लाल। तिरछी निगाहों से उन्होंने पूछा, "कहाँ गयी थी रे?"

सुशी ने घबड़ायी हुई चिड़िया की तरह जवाब दिया, "दीनबन्धु भैया के यहाँ।"

"यह कौन है?" अपनी भर्रायी हुई आवाज में उन्होंने फिर पूछा।

सुशी ने सहमे हुए स्वर में ही उत्तर दिया, "ताऊ के साथ आये हुए हैं। ताऊ जहाँ नौकरी करते हैं, वहीं से। दीन भैया के यहाँ गये थे। मैं बुलाने आयी थी।"

"ओ…।"

बस इतना ही उनके कण्ठ से फूटा। और फिर वे मेरी ओर घूरने लगे। सुशी ने मुझे बताया, "मेरे...बड़े फूफा ...।" और मेरी तरफ़ देखने लगी।

मैंने उसका संकेत समझ लिया था, इसलिए जल्दी से आगे बढ़ आया। उनके पाँव की धूल लेने। एक बार फिर उनका गम्भीर स्वर सुन पड़ा, "अरे रहने भी दो बेटा, जयस्तु। फिर भेंट होगी। अरी सुशी, तू इसे किसी समय हमारे घर लिवा लाना। अच्छा!"

"जी।"

गौरांग ब्राह्मण आगे बढ़ चुके थे, बिना कुछ कहे। सुशी ने बताया, "आप जिनके घर आये हैं, ये उसी घर के बड़े जमाई हैं। बड़ा तेज़ मिजाज है।"

यह बताने की कोई जरूरत न थी। महादेव की तरह गम्भीर स्वभाव के होने पर भी उन्हें रुद्रावतार ग्रहण करते देर नहीं लगी थी।

मैंने सुशी से पूछा, "तुम तो एकदम डर गयी थीं?"

"मैं ही क्यों, सभी डरते हैं! आपके साथ हँस-हँसकर बातें कर रही थी... क्या पता, क्या कह देते! इनके दर्शन से काँप जाती हूँ।"

ठीक ही तो है। कुँवारी कन्या किसी पराये के साथ हँसती हुई बातें करे!

बाहर, रास्ते पर धूप लम्बी हो गयी थी। चटर्जी महाशय की बातें बार बार याद आ रही थीं। मलूटी की इस माटी पर लौकिक-अलौकिक घटनाओं और हजारों किंवदन्तियों का जन्म हो चुका था।

सुशी मेरे साथ चल रही थी। उसने बड़े आश्चर्य से पूछा, "आप इतनी देर से यहीं बैठे थे?"

"नहीं, मौलीक्षा के मन्दिर गया था।" कहते ही मुझे प्यारे की याद आ गयी। मैंने पूछा, "प्यारे घर लौटा?"

सुशी की काली आँखें फैल गयीं। अब वहाँ दूसरा ही प्रश्न कौंध उठा था, "नहीं तो। बात क्या है?"

मुझे लगा प्यारे का प्रसंग आया नहीं कि सभी के कान खड़े हो उठते हैं। मैंने कहा, "वो...वो मैंने उसे मन्दिर के प्रांगण में देखा था न, इसलिए।"

सुशी की आँखें अब भी मुझपर टिकी थीं। नहीं, वे कहीं दूर खोयी हुई थीं। प्यारे का प्रसंग था, शायद इसीलिए। क्या पता, वह कहीं कोई उत्पात न मचा बैठे?

ऐसी कोई परेशानी की बात नहीं थी। यही बहुत है कि वह ताड़ी पीकर घर लौट आये। क्या वह नशे की हालत में खड़ा रह पायेगा? मैंने डरते-डरते ही सुशी को इस बारे में बताया।

सुशी खिलखिलाकर हँस उठी और फिर बोली, "फिर तो ठीक है। मैं सोच रही थी, कहीं कोई ऐसी-वैसी बात तो नहीं। ताड़ी पीने की बात तो सभी जानते हैं। हाँ, ऐसी हालत में वह ताऊ के सामने नहीं आएगा और ना ही घर में घुसेगा।"

"तो फिर कहाँ जाएगा?"

सुशी उसी तरह बड़ी निश्चिन्तता से हँसती रही, "यह तो प्यारे ही बता सकता है। जिनके साथ ताड़ी पी रहा होगा, उनके साथ ही कोई व्यवस्था हो जाएगी।"

ठीक ही कहा उसने। प्यारे जैसा था और मैंने जैसा उसे पाया था, उसके लिए कुछ असम्भव न था। इसी समय मेरे मन में यह दूसरी बात भी उठी थी। मैं सोच रहा था, सुशी से पूछूँ या नहीं। वह किशोरी कौन थी जिसने प्यारे के गाल पर तमाचा जड़ा था।

इसके पहले कि मैं इस बारे में उससे कुछ पूछूँ, उसने कहा, "उसके साथ कोई दूसरा भी था?"

"दूसरा?" मैं समझ न पाया।

सुशी ने होंठों को दाँत से दबाया और हँस पड़ी। फिर दूसरी ओर देखती हुई बोली, "नहीं...कोई लड़की-वड़की।"

कहते हुए उसने मेरी तरफ़ देखा फिर खिलखिला उठी, अपने दाँतो में आँचल का छोर दबाये। मुझे उसकी इस हँसी मे उस तमाचे और किशोरी का रहस्य मिल गया।

मैंने बड़ी हैरत से सुशी की ओर देखा। उसकी बातों में जो भी सकेत रहा हो, उसका मतलब यह तो नही था कि तमाचा जडने के बाद वह लड़की प्यारे के साथ घाट-बाट घूमती रही होगी। मै उससे कुछ पूछना चाह ही रहा था कि सुशी ने आँचल को दाँतो तले दबा लिया और अपनी मुखमुद्रा गम्भीर बना ली, वैसे, जैसे किसी अपरिचित पुरुष के सामने किसी युवती का हृदय धडकने लगे और वह अपनी नजर झुका ले।

मेरे सामने ही, एक प्रौढ़ सज्जन खड़े थे। नंगी देह, नंगे पैर। कमर से लिपटी ऊँची धोती और कन्धे पर जनेऊ। आँखे कुछ-कुछ लाल। तिरछी निगाहों से उन्होंने पूछा, "कहाँ गयी थी रे?"

सुशी ने घबड़ायी हुई चिड़िया की तरह जवाब दिया, "दीनबन्धु भैया के यहाँ।"

"यह कौन है?" अपनी भर्रायी हुई आवाज़ मे उन्होने फिर पूछा।

सुशी ने सहमे हुए स्वर में ही उत्तर दिया, "ताऊ के साथ आये हुए हैं। ताऊ जहाँ नौकरी करते हैं, वही से। दीन भैया के यहाँ गये थे। मैं बुलाने आयी थी।"

"ओ···।"

बस इतना ही उनके कण्ठ से फूटा। और फिर वे मेरी ओर घूरने लगे। सुशी ने मुझे बताया, "मेरे...बड़े फूफा ...।" और मेरी तरफ़ देखने लगी।

मैंने उसका संकेत समझ लिया था, इसलिए जल्दी से आगे बढ़ आया। उनके पाँव की धूल लेने। एक बार फिर उनका गम्भीर स्वर सुन पड़ा, "अरे रहने भी दो बेटा, जयस्तु। फिर भेंट होगी। अरी सुशी, तू इसे किसी समय हमारे घर लिवा लाना। अच्छा!"

"जी।"

गौरांग ब्राह्मण आगे बढ चुके थे, बिना कुछ कहे। सुशी ने बताया, "आप जिनके घर आये हैं, ये उसी घर के बड़े जमाई हैं। बड़ा तेज मिजाज है।"

यह बताने की कोई जरूरत न थी। महादेव की तरह गम्भीर स्वभाव के होने पर भी उन्हें रुद्रावतार ग्रहण करते देर नही लगी थी।

मैंने सुशी से पूछा, "तुम तो एकदम डर गयी थी?"

"मैं ही क्यों, सभी डरते हैं! आपके साथ हँस-हँसकर बातें कर रही थी... क्या पता, क्या कह देते! इनके दर्शन से काँप जाती हूँ।"

ठीक ही तो है। कुँवारी कन्या किसी पराये के साथ हँसती हुई बातें करे!

आखिर लाज-शरम भी कोई चीज है ! मुझे पिछला प्रसंग याद आ गया।

मैंने पूछा, "प्यारे के साथ लड़कियाँ इसी तरह घूमती-फिरती हैं क्या ?"

सुशी के साँवले चेहरे पर सलोनी हँसी खिल गयी थी। साथ ही, शर्मीली-सी झेंप भी "लड़कियाँ नहीं। बस, एक लड़की।"

मैंने कहा, "पोखर के किनारे भी तो दो लड़कियाँ थी उसके साथ।"

"नहीं, वे नहीं है। गाँव की ही लड़की है।"

"अच्छा - अच्छा—वही, पन्द्रह-सोलह साल की कन्या ?" मेरा मन उस रहस्य से परिचित होना चाहता था।

सुशी की बड़ी-बड़ी आँखें फैल गयीं। उसने गला साफ़ करते हुए कहा, "हाँ...हाँ, ऐसी ही होगी, चौदह-पन्द्रह साल की ! इससे अधिक नहीं।"

मैं खुश था कि चलो इस रहस्य पर पड़ा पर्दा तो उठ रहा है। इसीलिए मैंने जोड़ा, "गोरा रंग—साड़ी पहने, देखने-सुनने में बुरी नहीं..."

सुशी जैसे रुक-सी गयी और हामी भरती बोली, "हाँ, आपने प्यारे के साथ देखा था क्या उसे ?"

"हाँ, देखा था, लेकिन किसी मैदान-वैदान में नहीं।" मैंने हँसकर कहा।

"तो फिर कहाँ ?" सुशी मेरे इस रहस्य को पा लेना चाहती थी अब।

मैंने बताया, "सुबह ही देखा था—उसी कोठरी से, घर के ही पिछवाड़े।"

सुशी काफ़ी देर तक चुप रही। लेकिन इस बीच उसकी सहमी हुई आँखों के किनारे हँसी झिलमिला उठी थी। मैंने उसे पिछवाड़े का सारा वृत्तांत सुनाया तो वह खिलखिलाकर हँसने लगी।

मैंने पूछा, "तुम उसी लड़की के बारे में पूछ रही थी न ?"

"हाँ।" सुशी ने झेंपते हुए बता दिया, "उसका नाम तृप्ति है। देखने में बहुत सुन्दर है। है न ?"

तृप्ति को रूपसी स्वीकार करने पर भी मुझे पूछना पड़ा, "जो प्यारे को इस तरह तमाचा मार सकती है, वह उसके साथ इधर-उधर घूमने कैसे जा सकती है भला ?"

सुशी ने गर्दन डुलायी और बोली, "जा सकती है। तिपु जैसी लड़की जा सकती है।"

"अच्छा, इस कांडकाण्ड के बाद भी ?"

"हाँ। प्यारे भी तो पीटता है, कोई छोड़ नहीं देता उसे।"

मैंने मार-पीट के बीच पलते-चलते रहने वाली ऐसी प्रेम-कथा के बारे में पहले नहीं सुना था। मेरे मुँह से निकला, "अच्छा, तो फिर दोनों ही मार-पीट करते हैं ?"

सुशी ने कहा, "प्यारे ही अधिक गुत्थमगुत्था करता है। उस समय प्यारे ने

कहाँ पाऊँ उसे

ही कोई ऐसी-वैसी बात की होगी, इसीलिए...।" वह अपनी बात पूरी नहीं कर पायी। मैंने उसके अधूरे वाक्य का छिपा संकेत समझ तो लिया था, लेकिन यह पूछे बिना न रह पाया कि तृप्ति किस घर की लड़की है।

हम दोनों रास्ते के मोड़ तक आ पहुँचे थे। पास ही मिट्टी के घरों का झुरमुट-सा था। ऐसे ही एक घर की तरफ़, जिसकी दीवारें कच्ची ईंटों से बनी थीं, उँगली दिखाते हुए सुशी ने कहा, "उन्हीं बांडू के घर की लड़की है। प्यारे चाहे जितनी भी मार-पीट करे, तिपू उसी के पास पहुँच जायेगी, आप देख लीजियेगा!"

इसमें देखना क्या था? पक्के प्रेम की यही तो सच्ची निशानी है। लेकिन गाँव के भीतर ऐसा अनाचार! क्या इन छोकरे-छोकरी को रोकने-टोकने वाला कोई नहीं! मैंने पूछा, "उन्हें कुछ कहता नहीं कोई?"

सुशी ने जीभ काटते हुए अपनी आँखें गोल कर लीं और कहा, "कहेगा कौन? कोई जाने तब न।"

"क्यों? तुम तो जानती हो?"

"मैं तो चोरी-छिपे जानती हूँ।"

उसने ठीक ही कहा था। प्रेम की बातें कोई ढिंढोरा पीटकर तो नहीं फैलायी जातीं। सुशी ने सफ़ाई देते हुए कहा, "उन्हें थोड़े न पता है कि मैं यह सब जानती हूँ।"

किसी के जानने, न जानने से भी उन दोनों को कोई फ़र्क़ नहीं पड़नेवाला। दोनों ही उच्छृंखल थे और मुझे लगा कि दोनों ही निडर थे। यही नहीं, प्यारे ने पहले ही बता दिया था कि वह इसी गाँव से ब्याह रचायेगा। उसकी इस घोषणा के बाद मुलाकात तो हुई नहीं उससे! मैं उन दोनों के बारे में जितना अधिक सोच रहा था, मेरे अन्तर में हँसी का कोई सोता उतनी ही तेज़ी से उमड़ा पड़ रहा था।

मैंने आशका व्यक्त की, "इन दोनों मे ब्याह हो जायेगा?"

सुशी बोली, "प्यारे तो जैसे क़सम खाकर ही बैठा है।"

"ऐसा कहा है उसने?"

"और क्या! सबसे। प्यारे का अपना कोई मान-सम्मान तो है नहीं। उसने अपने फूफा और फ़ूफी को भी बता दिया है कि वह तिपू को ही ब्याह ले जायेगा। अब चाहे जो भी हो जाये।"

इतना कहने के बाद सुशी मुझे देखकर मुस्करा दी थी। क्यो? मुझे नहीं मालूम। लेकिन बिना कुछ समझे मैं भी मुस्करा उठा। कारण ऐसा कुछ भी न था। बस, मन का कोई तार झुनझुना उठा था। इसे हम दोनों ही समझ रहे थे लेकिन अनजान बने हुए थे।

हम पूजा-प्रांगण पहुँच चुके थे। इस बीच संथाली रैयतों की संख्या और भी

चढ चुकी थी। बलि के बकरे भी काफ़ी जमा हो गये थे। कटहल के पत्तों की माँग भी बढ गयी थी। कोई अकेला न था। सभी सपरिवार आ जुटे थे। उनकी गोद में बच्चे थे। कुछ तो ज़मीन पर सोये हुए थे। कुछेक अपनी-अपनी माँ की काली नंगी छातियों का अमृत पी रहे थे। अन्य सबकी आँखों में भी अजीब सी चमक थी। सभी प्रतिमा की रगाई देख रहे थे। काली माँ के चरणों तले महादेव पड़े थे, जिनकी देह पर खड़िया पोत दी गयी थी। कटे हुए मुण्डों के मुँह-कान भी रंगे जा चुके थे। ढोल बजाने वाले भी बड़ी तादाद में पहुँच गये थे।

ड्योढ़ी पर ही बड़े राय मिल गये। नहाने के बाद कमर में गमछा लपेटे कमरे के अन्दर घुस रहे थे। मुझ पर उनकी नज़र पड़ी तो बोले, "इतनी देर हो गयी, तुमने अबतक न तो नहाया-धोया और न खाना ही खाया! अब जल्दी करो बाबा, किसी तरह जल्दी नहा-धो आओ।"

लेकिन सुबह जलपान करते हुए उन्होंने तो कोई दूसरी ही बात बतायी थी कि दिन के खाने में काफ़ी देर हो जायेगी। अब कह रहे थे, इतनी देर हो गयी। अपनी रंगीन हँसी बिखेरते हुए उन्होंने पूछ लिया, "चटर्जी महाशय ने पकड़ रखा होगा। क्यूँ?"

उत्तर सुषी ने दिया, "मैं न जाती तो जल्दी नहीं छोड़ते!"

"उन्हें कहे कौन, अजीब सनकी है!"

"उन्होंने कल दिन के खाने पर भी बुलाया है!" सुषी ने बताया।

बड़े राय ने अपनी भौंहें चढ़ाकर पूछा, "क्या?"

इसी समय उनके पास बड़ी मालकिन आकर खड़ी हो गयी। उन्होंने छूटते ही कहा, "ऐसा भी होता है कहीं...अँ? आज की रात पूजा है। कल हमारे घर सबका भोजन होगा और मैं इसे दूसरे के यहाँ भेज दूँगी? जमाई ठाकुर भी खूब हैं!"

बड़े राय के चेहरे पर मुस्कान की कोई लहर-सी दौड़ गयी। टालते हुए बोले, 'अरे, ऐसा कुछ नहीं है, उन्हें याद नहीं रहा होगा। अच्छा, तुम जल्दी से जाकर नहा आओ। सुषी बेटी, इसे पानी निकाल दे। जल्दी कर!"

मैं नहाने-धोने की तैयारी के लिए कपड़े वगैरह उतारने ऊपर जाने को ही था कि अचानक याद आया कि नहाने का पानी कहाँ रखा होगा भला! मैंने सुषी से पूछा, "तुम लोग कहाँ नहाती हो?

"घाट पर, उत्तर की ओर।"

"मुझे भी वहाँ जाना होगा?"

"नहीं।"

वह क्या कहती रही, मैं सुन नहीं पाया, ऊपर चला गया। जब नीचे उतरा तो लगा कि घर में ढेर सारे लोग जुट चुके थे। सुषी बरामदे में खड़ी थी।

चारों ओर भाग-दौड़ और शोरगुल का बाज़ार गरम था। इसी चीख-पुकार के बीच मैंने सुशी से कहा, "घर के बच्चे नहीं दीख रहे। अगर कोई नौकर-चाकर ही हो तो बताओ। वह मुझे घाट तक का रास्ता बता दे।"

"आप सचमुच ही वहाँ जायेंगे ? वहाँ नहाने पर तबीयत तो खराब नहीं हो जायेगी ?" सुशी ने चिन्तित होकर पूछा।

"देखूँ तो सही।"

"तो फिर चलिए, मैं साथ चलती हूँ। लेकिन..."

अपनी बात खत्म करने के पहले सुशी ने मेरी आँखों में झाँक लिया। बोली, "अगर ताऊ ने कोई डाँट-डपट लगायी तो आप जानें ! मैं..."

मैं उसकी बातों को समझ रहा था। वह धीरे-धीरे बहुत सहज हो गयी थी। मैंने कहा, "अच्छा मैं देख लूँगा।"

"अब इतनी देर के बाद पानी खींचना मुझे ठीक नहीं जँचा। इससे तो अच्छा होगा कि थोड़ी दूर चलकर नदी में नहा आऊँ।" मैंने तर्क दिया।

हम दोनों घर के पिछवाड़े से एक दूसरे ही कच्चे रास्ते से आगे बढ़ चले। चलते-चलते सुशी ने खिलखिलाते हुए बताया, "हम सब इसी घर में रहते हैं।"

ताल वृक्षों से घिरा एक कच्चा-सा घर था। पास ही नीम का एक पेड़ भी। उसके नीचे एक स्त्री खड़ी थी। मुझे देखते ही उसने अपने सिर पर आँचल खींच लिया। उसकी तरफ दो कदम बढ़कर सुशी ने कहा, "माँ ! कांदर से आ रही हो ? तुम उपवास कर रही हो, यूँ खड़ी मत रहो। जाके आराम करो।"

सुशी की माँ मुझे आँचल की ओट से ही एक बार देखकर चली गयी। मैंने चलते-चलते पूछा था, "उपवास क्यों भला ?"

"दिन के बारह बजे के बाद अमावस्या चढ़ गयी है। इसके अलावा पूजा-पाठ के दिन माँ कुछ खाती-पीती नहीं।" सुशी ने बताया और एक बार फिर माँ की ओर मुड़कर देख लिया।

वहाँ ऐसा कुछ भी नया नहीं था। फिर भी कोई गति थी। सुशी—एक काली-सी लड़की, लम्बे बालों को बाँधकर बनाया गया जूड़ा, काली गहरी आँखें, सुडौल स्वस्थ शरीर और चाल में सहज स्वच्छन्द लय। बातों में मुस्कान भरी झिझक और स्वभाव में संकोच। गाँव के किनारे उसका घर, जहाँ उसके भाई-बहन हैं, विधवा माँ हैं। कुल मिलाकर सब कुछ किसी प्रवाह या छन्द से जुड़ा हुआ—स्वरबद्ध।

"सुशी दीदी, कहाँ चली ?"

मिट्टी के घर के सामने रूखे बालों वाली घुटने तक साड़ी पहने एक युवती खड़ी थी। कच्ची दीवारों पर दरारें पड़ गयी थीं। युवती जैसे काले पत्थर को तराश कर बनायी गयी थी। और, पत्थर के लाख टुकड़े करने पर भी जैसे

उसमें लचीलापन नही आता, वह भी कुछ वैसी ही दीखी। वैसे यह वह लड़की नही थी, जिसे मलूटी आते हुए मैने कांदर के पास देखा था, चट्टान के पीछे। यह कोई दूसरी थी। इसकी आँखें नशीली थी और देह ढीली-ढाली। रूखे बालो के बीचो-बीच मांग मे सिन्दूर की धुंधली-सी लाली थी। सुशी से सवाल करते समय भी उसकी मादक आँखें मुझ परदेशी पर ही टिकी थी।

सुशी ने कहा, "कांदर..."

उसने आंखों की पुतलियाँ घुमाकर पूछा, "ये कौन...?"

"बड़े मालिक के मेहमान।"

"तू नहाने ले जा रही है?"

"नही, इन्हे कांदर तक छोड़ने..."

"तभी तो कह रही थी!"

उसके कहने से क्या होगा। उस कालिन्दी की आंखों में कुछ दूसरा ही सकेत था। सुशी कोप-कटाक्ष की भाषा नही जानती। बोली, "तेरी खुमारी अब तक नही उतरी, शायद!"

हम दोनो कुछ आगे बढ आये थे। उसका उत्तर खिलखिलाहट मे ढल गया था, "सचमुच नही उतरी। जैसी करनी वैसी भरनी। तू आके देख तो जा, मरद को अब तक होश नही। नशे मे धुत पड़ा है।"

अब सुशी की मुद्रा कुछ दूसरी ही थी। कटाक्ष के साथ ही वह मुस्करायी और बोली, "आज की रात पूजा है, और तुम दोनों...! तुम्हें मौत नही आती?"

कांच की चूड़ियों की खनक की तरह उसकी हँसी बज उठी। सुशी ने मेरी ओर देखते हुए कहा, "पगली है। मरद-औरत दोनों ही इतनी हंडिया पीते हैं कि उफ़।"

"अच्छा!"

"हाँ! अपने घर में ही तैयार करते है। कल की रात भी दोनो बुरी तरह बौराये थे। आपस मे जितनो मारपीट करते है, उतनी ही हँसी-मज़ाक भी। फिर ज़ोर-ज़ोर से रोते-चिल्लाते हैं। कालीपूजा आयी नहीं कि सभी पागल हो उठते है। आज भी ये जो कुछ करेंगे, देखियेगा।"

मैं यही सब कुछ देखने तो आया था।

रास्ते में पत्थर बिखरे हुए थे। यह अजनवी मुसाफिर उस पर बड़ी सावधानी से चल रहा था। जमीन ढालू थी। कहीं मुरम से पटी लाल भूमि तो कही घास-बिछी हरियाली। बीच-बीच मे आम, कटहल के पेड और बगल मे कलसी दबाये स्त्रियाँ—गीली साड़ी का आँचल बड़ी शालीनता से अपने सिर पर साधे। पुरुष गीले गमछे पहने हुए थे। हाँ उनकी आँखो में एक ही प्रश्न था: यह कौन है?'

उस समय घाट पर अधिक भीड़ नहीं थी।

कांदर के उस पार की पथरीली जमीन अपनी पीठ उठाये खड़ी थी। उसके सामने, ठीक बीचों-बीच कांदर की धारा दांयी ओर मुड़कर आँखों से ओझल हो गयी थी। दूधिया जल कल-कल बहता जा रहा था। इस शुभ्र निर्मल धारा के नीचे छोटी-छोटी ककरियां और माटी एकदम साफ दीख रही थी।

इतने उथले पानी में गोता क्या लगाता? लेटकर स्नान करना पड़ा। छीटे उडा-उडाकर नहाता रहा और एक बडे से पत्थर से टिककर धारा के विरुद्ध अडा रहा। मैंने देखा, सुशी किनारे पर खड़ी हँस रही है।

जब पानी से बाहर निकला तो सारा शरीर एक तरह की सुखद शीतल अनुभूति से भीगा था। पता नहीं, पानी में शराब मिली थी क्या! अजीब-सी मस्ती छा गयी थी। घर वापस लौटकर मैंने बडे और छोटे राय के साथ भोजन किया था और सो गया था। इतना ही याद है। जब होश आया तो गहरा, ठोस अँधेरा छाया था। मोटी, भारी आवाज मे कोई गा रहा था, बस। यह कोई रामप्रसादी पद था—शब्दों में थोडा हेर-फेर था। उस अँधेरे ने कुछ भ्रमित-सा कर दिया था मुझे। समझ नहीं पाया, मैं कहाँ हूँ। लेकिन अब मैं वह पद एकदम स्पष्ट सुन रहा था—

'अब तू नाच न अरी बावरी, क्या तू शान्त न होगी!
मरा नहीं, देव शेष है, जागृत है महायोगी
तेरे चरण-भार से शिव की टूट न जाये अस्थि
नीलकण्ठ इस महादेव को छोड़ दे, ओ माँ पगली!
तेरे लिए ही बना वियोगी...
अब तू नाच न अरी बावरी, क्या तू शान्त न होगी?'

मेरी आँखों के सामने उस काले अँधेरे को चीरती हुई माँ काली की प्रतिमा तिर उठी थी। मुझे अब भी स्थान और काल का कुछ आभास न था। ठीक उसी समय मेरी नाक में अजीब तीखी खट्टी-सी बदबू आ घुसी। मैंने अपना हाथ खींचा तो वह किसी चीज मे जा टकराया। उस काले-गाढ़े अँधेरे में क्या था वह? मेरा शरीर अचानक झनझना उठा। मैंने अपना हाथ बढ़ाकर टटोला। लगा, कोई सोया है वहाँ। उसकी देह पर पूरे कपड़े भी हैं। ठीक उसी समय किसी के पैरों की आहट और साथ ही, कोई फुन-फुन-सी भी सुनायी पड़ी थी। मैं कुछ समझने की कोशिश कर ही रहा था कि किसी ने पुकारा, "प्यारे दा, ओ प्यारे...!"

उसकी पुकार खतम होते-न-होते हल्की-सी रोशनी माटी की दीवार पर उभर आयी थी। तभी सुशी का स्वर भी मैंने सुना, "वहाँ कौन है रे?"

"......" कोई उत्तर नहीं मिला।

"कौन है वहाँ ?" फिर वही प्रश्न।

"मैं...तिपु।"

तृप्ति ! अच्छा तो मेरी बग़ल में प्यारे बाबू आकर सोये पड़े थे। इसीलिए ऐसी तीखी-कसैली बू फैल रही थी। तभी तो इस गहरे अँधेरे में तिपु रानी का आविर्भाव हुआ था। अब मुझे याद आया कि आज काली पूजा है और मैं मलूटी ग्राम में पड़ा हूँ। मैं कुछ सोच रहा था कि सुशी हाथ में बाती लिये ऊपर आ गयी।

इसी समय गीत की वे पंक्तियाँ ढोल की आवाज़ में तिरोहित हो गयीं।

बाती जैसे-जैसे करीब आती गयी, सीढ़ी पर वह मूर्ति भी स्पष्ट होती गयी। सँकरी-सी सीढ़ी थी। उस पर एक साथ दो जने खड़े नहीं हो सकते थे। इसीलिए सुशी ने कहा था, "यहाँ क्यों खड़ी है ? भीतर चल। मुझे भी जाने दे।"

तृप्ति कमरे के अन्दर चली गयी और कोने से लगकर खड़ी हो गयी। सुशी के हाथ में लालटेन थी। उसके होंठों पर हल्की-सी मुस्कान थी। मैंने चोरी से उसकी ओर फिर तिपु की ओर देखा। सुशी भी यह सब देखकर प्रसन्न थी। उसे और क्या देखना-सुनना था !

देखा था मैंने, उस नायिका को जो आँखों के लिए सचमुच ही तृप्ति थी। कहना चाहिए—नयन-सुख। गोरोचना गोरी नवीना किशोरी। किसी कुशल मूर्तिकार के हाथों गढ़ा हुआ उसका गोरा मुखड़ा। उत्सव की साज-सज्जा लाल साड़ी, लाल चोली। बनाव सिंगार में कहीं कोई गँवारपन न था, शहरी ठाठ था। सामने की तरफ़ से खींचकर बालों का जूड़ा, जिसमें टँके चाँदी के झुमके। माथे पर कत्थई रंग की बिन्दी। चेहरे पर क्रीम-पाउडर मला गया था या नहीं, कहा नहीं जा सकता। बड़ी-बड़ी आँखें कजराई होने के कारण और भी बड़ी दीख रही थीं। पाँवों में केवल आलता ही नहीं लगा था, नये चमड़े की बू भी थी। रुपहले रंग का सैंडल जो पहन रखा था। पूजा की पूरी तैयारी। कमरे में भीनी-सी खुशबू तैर गयी थी। पता नहीं, वह कौन-सा इत्र छिड़ककर आयी थी।

मैं श्री प्यारेलाल की पसन्द और ज़िद की प्रशंसा करना चाहता था। लेकिन प्यारे—उस की दुर्दशा को क्या कहा जाये ? चुन्नट भरी धोती का एक सिरा धूल में लोट रहा था। रेशमी कुरते की दुर्गत देखकर तो केंचुआ

कहाँ पाऊँ उसे

भी आठ-आठ आँसू बहाता। वह गले से लिपट गया था। नींद में किसी अघोरी की तरह हाथ-पाँव छितराये हुए वह घुर्राटे ले रहा था।

मुझे यह सब बताने मे भले ही देर लगी हो, देखने में नहीं।

सुशी ने इधर-उधर देखते हुए कहा, "मैं कई बार झाँक गयी। आप सोये हुए थे इसलिए पुकारा नही।" वह अपनी मुस्कान को दबाने की चेष्टा मे लगी थी। उसकी भगिमा मे थोड़ा बहुत सकोच भी था।

मैंने कहा, "मुझे बुला लेती। कितनी रात हो गयी अब ?"

"रात कहाँ हुई...? बस थोड़ी देर पहले संध्या-बाती हुई है।"

बच गया। पूजा नहीं हुई अभी। मेरी नींद ने पिछली रात का बकाया भर चुकाया था। सुशी ने आगे बताया, "बड़ी काकी कह रही थी कि आपको चाय नही भिजवायी गयी है, कही उठ न बैठे हो! इसीलिए कई बार आकर देख गयी। चाय पीयेंगे न ?"

"ज़रूर।" मैंने सिमटे-सिमटे पागल की तरह कहा।

भला दिन की नींद तोड़ने का इससे अच्छा और क्या उपाय था? सुशी चाय लाने जा ही रही थी कि तृप्ति को देखती हुई रुक गयी। वह अपने संकोच को दूर करने की चेष्टा में लगी थी इसलिए बोली, "तिपु, तू प्यारे को ही पुकार रही थी न ?"

तिपु ने अपनी किताबी आँखो से मेरी ओर देख लिया था। मुझ अजनबी से उसे संकोच न हुआ हो, ऐसा नही। फिर भी, उसने बड़ी सहजता से गर्दन उछालकर जवाब दिया, "हाँ।"

फिर सुशी की तरफ़ ताककर बोली, "दिन में खाना भी खाया था या नही ?"

उसका संकोच दूर हो गया था शायद! मै ही पशोपेश में पड़ा था। सुशी को ऐसे सवाल की आशा न थी। इसलिए वह अचानक चौंक-सी गयी और मुस्कराकर बोली, "खाता क्या? प्यारे तो शाम को लौटा था। किसी से कोई बात नही। आते ही यहाँ पड़ गया।"

तिपु की आँखें अब निढाल पड़े प्यारे के चेहरे पर टिकी थी। उसकी आँखों मे अकारण क्रोध झलक आया। बोली, "देखो तो क्या हालत बना रखी है! भूखा-प्यासा पड़ा है। सभी पूजा देखने जा रहे हैं और यह नींद मे औंधा पड़ा है। सुशी दी, तू इसे जगा दे न!"

"क्यों? तू क्यो नही जगा सकती ?"

तिपु ने एकबार फिर मुझ अपरिचित की ओर देखा, क़बाब की हड्डी की ओर। मैं वहाँ से उठा और दरवाज़ा पार कर बाहर चला आया। सुशी भी इतना कहती हुई नीचे उतर गयी, "मैं आपके लिए चाय लेकर आ रही हूँ।"

मुझे आँगन की तरफ़ देखने का मौक़ा भी नहीं मिला। मेरे कान वहीं लगे थे जहाँ मेरा जी लगा था। तिपु ने कहा, "प्यारे...प्यारे...! सुन रहे हो न, उठो!"

इसके बाद मैंने सुना, "आँ ऽ...कौन है ...रे ?"

उसके इन शब्दों के बाद वही महीन स्वर—"पहचाना नहीं ?"

प्यारे की उनींदी आवाज़ सुनाई पड़ी—"कौन है तिपु...ऊ...!"

"हाँ, उठो भी अब !"

"नहीं। तू जा! बात मत कर तू मुझसे। तूने मुझ पर हाथ उठाया? एक लड़की होकर ?"

"मैं कह रही हूँ उठो! तुम जब मुझे मारते हो तब ?"

"मैं लड़का हूँ, जवान हूँ। तू मुझे मारेगी ? तू जा...मैं सोऊँगा।"

"ओ प्यारे, सुनो तो, तुम्हारा नशा टूटा नहीं! तुम्हें शरम नहीं आती? फिर वही अकड़ दिखा रहे हो! उठोगे या नहीं? पूजा में नहीं जाना ?"

"मैं कहता हूँ तू चली जा। मेरी मर्ज़ी, मैं नशा पानी करूँ या नहीं करूँ! और करूँगा ..तू जा मुई! मुझसे बात मत कर !"

मैं यह सब देख तो नहीं पा रहा था लेकिन लगा कि प्यारे फिर बिछावन पर लुढ़क गया है और तृप्ति उसे उठाने की भरपूर कोशिश कर रही है। उसकी आवाज़ से ऐसा लग रहा था कि वह उसे सोने न देगी।

प्यारे ने बौखलाकर कहा, "मैं कह रहा हूँ, छोड़ मुझे वरना मारूँगा एक तमाचा तेरे गाल पर !"

"तो मार लो न! जैसे कि मारते ही नहीं। कल तुमने मेरे बाल नहीं खींचे थे? चलो, अब उठो !"

"नहीं, एकदम नहीं! मैं तेरा मुँह भी नहीं देखूँगा स्साली...तू जा।"

इसी समय सुशी आ गयी। बोली, "तुम लोग क्या तमाशा कर रहे हो यहाँ ?"

"अब देखो न दीदी, यह उठता ही नहीं। कहता है मेरा मुँह भी नहीं देखेगा। ज़रा भी शरम नहीं। एक तो दूसरे के यहाँ टिका है, दूसरे हाँड़ी भर ताड़ी पीकर धुत पड़ा है। उस पर नवाबी तो देखो, अकड़ नहीं जाती।"

प्यारे ने चीखते हुए कहा, "सौ बार पीऊँगा। तू जाती क्यों नहीं? सुशी, तू इसे यहाँ से निकाल दे, वरना यहाँ कोई-न-कोई हंगामा हो जायेगा...कहे देता हूँ।"

तिपु ने अपने होंठों को भींच लिया। उसकी आँखों में आग सुलग उठी थी। वह बिफरकर बोली, "बड़े लाट साहब आये हैं...हंगामा हो जायेगा !"

इसी समय सुशी ने डपट दिया, "तुम सब यहाँ क्या कर रहे हो? बड़े चाचा

और चाची को पता चला तो सारा खेल बिगड़ जायेगा। तिपु ! तू अभी चली जा यहाँ से, झगड़ा मत कर।"

थोड़ी देर तक किसी ने कुछ नहीं कहा। फिर तिपु ही फटी हुई आवाज़ में बोली, "ठीक है, मैं जा रही हूँ...याद रहे !"

उस दुमहले घर की छत काँप रही थी या नहीं, ठीक से नहीं कहा जा सकता। वह दम-दम पैर पटकती हुई चली गयी। सचमुच गायब हो गयी।

सुशी ने पुकारा, "आप कहाँ हैं ? बरामदे में !"

मैंने धीमे से 'हाँ' कहा और कमरे में दाखिल हो गया। [illegible] सोया था। वह अभी-अभी लड़-झगड़ रहा था, कौन विश्वास [illegible] काटती हुई मुस्करायी और चाय का प्याला थमा गयी।

चाय का घूँट भरते हुए मैं मन-ही-मन गुन रहा था। मेरे [illegible] नाटक देखना लिखा था ! ऐसा सवाद भी सुनना था ! [illegible] नैतिकता या अनाचार का सवाल था भी कि नहीं, मैं [illegible] कर पाया। अब इसे अच्छा कहा जाये या बुरा, [illegible] मेरा पहला रंगोत्सव था। चाय की चुस्की लेते हुए [illegible] वह इस आनन्द में मेरी सहभागिनी थी। [illegible] थी। वह कनखियों से प्यारे की ओर देखती हुई [illegible] चेहरे से आँचल सरकाकर उसने [illegible] पानी रखा है। जल्दी तैयार हो जाइये। [illegible] चुके हैं।"

'क्यों ?' मैंने बेवकूफों की तरह पूछ [illegible]

"आप सारा कुछ देखने-सुनने [illegible]

ठीक ही तो कहा उसने। [illegible] अकेला घर में बैठने तो आया [illegible] रहा है ?"

सुशी ने मुस्कराकर कहा, [illegible] सही, देखियेगा।" और वह [illegible]

मैंने भी देर नहीं की। [illegible] दमक रहा था। आँगन में [illegible] हर जगह औरत-मर्दों की [illegible] की भीड़। वे [illegible] थी। हर तरफ [illegible]

घर का [illegible] था, तभी कई [illegible]

* कहाँ पाऊँ [illegible]

कौन हैं ?"

पूजा-मंडप के प्रांगण में रखे गये पंचलैट की दूध-धुली रोशनी की चमक दूर गली तक फैली हुई थी। वहाँ भी ढेर सारे लोग जमा थे। गान का स्वर तिर रहा था, "ओ श्यामा, इस समर में तू चली जा झूमकर...।"

यह स्वर न था, वज्रनाद था। उसकी आवाज में अजीब तरह का उन्माद और उतावलापन था। लेकिन कण्ठ स्वर कर्कश न था, मीठा था।

मैं जल्दी-जल्दी किसी तरह हाथ-मुँह धोकर ऊपर आया। कपड़े बदलकर पूरी तरह तैयार हो गया और नीचे उतर आया। सबसे पहले बड़े राय से भेंट हो गयी। वे मोटे रेशम की कोरी धोती पहने बरामदे में ही मिल गये। पूजा थी, इसलिए सूती कपड़ा निषिद्ध था। मैंने आगे बढ़कर उनके पाँव छू लिये। उन्होंने रंगभरी खिलखिलाहट के साथ पूछा, "अच्छा, तो तुम आ गये? नींद-वींद आयी थी न? चाय ले ली थी? पूजा-पंडाल का घर है बाबा, जरा आगे बढ़कर देख-सुन लेना, संकोच मत करना!"

मैं तय नहीं कर पाया कि उनके किस प्रश्न का उत्तर दूँ! उन्हें मेरे उत्तर की प्रतीक्षा भी नहीं थी। बस कन्धे उचकाये और अन्तर्धान हो गये। इसी बीच बड़े राय का आविर्भाव हुआ। उनका गौर वर्ण और भी दिप रहा था। हाथ में केले के पत्ते थे और उनमें भीगे हुए अरवा चावल। वे भी पूजा-मंडप की ओर ही जा रहे थे। उनकी व्यस्तता में हल्की-सी बाधा पड़ी। अचानक रुककर बोले, "अरे तैयार भी हो गये! चलो अब और क्या बताना! तुम स्वयं ही घूम-फिर कर सब कुछ देख लेना। कुछ लड़के आयेंगे, तुम्हें घुमाने ले जायेंगे। घूम लेना...अच्छा!"

कहकर उन्होंने एक युवक को बुलाया। बड़े राय ने उसके साथ मेरा परिचय कराते हुए कहा, "इसे साथ ले जाकर सब कुछ दिखा देना।"

बहुत आवश्यक नहीं होते हुए भी मैं उन तीनों के साथ घूमता रहा। सबसे पहले पूजा-मंडप की ओर...

अब वहाँ दोपहर जैसी बात न थी। पंचलैटों की रोशनी में भीड़ भरे चेहरे तक बदल गये थे। दस-बारह ढोलवाले एक कतार में खड़े थे। ढोलों पर पंख सजे थे। अब तक बीस-पच्चीस बकरे भी वहाँ इकट्ठा हो चुके थे। संथालियों की भीड़ भी काफ़ी बढ़ गयी थी। अपने-अपने अंगोछे, कपड़े फैलाकर परिवार वालों ने अपनी चौहद्दी खींच ली थी।

कुम्हार महाशय का काम अबतक पूरा नहीं हुआ था। मूर्ति प्रायः तैयार थी। छिट-पुट काम शेष था। जीभ में लाल, त्रिनेत्र में काले और आभूषणों में सुनहले रंग की तूलिका फेरी जा रही थी। पीछे का पटचित्र भी तैयार था। एक स्थान अब भी अछूता था—मूर्ति का नेत्र-मण्डल। नेत्रों की दोनों कोरों

पर लाल रंग की हल्की-सी छाप थी। आँखों में पुतली न होने के कारण मूर्ति व भी माटी की मूरत ही लग रही थी—निष्प्राण !

मूर्ति की साज-सज्जा की तैयारी भी जोर-शोर से चल रही थी। शोला के लों के ऊपर उकेरे सारे प्रतीक तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित थे। मलूटी की काली-जा तान्त्रिक पूजा थी। मैंने सुना था, इस पूजा मे मद्य-पान का विधान भी है। सके बिना पूजा निष्फल है। मद्य ही जाग्रत और पवित्र वस्तु है, लेकिन इसका ह आशय नहीं कि बोतल खोली, गटागट पी, और...बोतल खाली। यह मद्य वित्र विचार और पवित्र मन से तैयार होता है।

पूरे धूम-धाम से सारा आयोजन चल रहा था। घर के भीतर से बड़ी-बड़ी रातों मे तरह-तरह के फल, पक्वान्न और पूजा का सामान आ रहे थे। इन बके बीच सबसे बड़ा आकर्षण था—काली नाम का एक पगला गायक। वह जा प्रागण के बीचोबीच बैठा था।

मैं भी उसके पास जाकर खड़ा हो गया। सचमुच ही वह काली का बेटा था—काला चीकट। बत्ती हटा लेने पर उसे ढूंढ निकालना सचमुच ही बहुत मुश्किल होता। देह पर लाल कपड़े—मलूटी की माटी की तरह लाल। सिर र रूखे घुंघराले बालों की जटा। आंखें दहकती हुई, जैसे एक साथ दो सिगड़ियाँ जल रही, या फिर कोयल की लाल आँखो-सी। लाल भी नही, अकवन के फूलों की तरह लाल टूस। मैं उसकी तरफ़ अधिक देर देख नही पाया। उसकी हँसी भी कुछ ऐसी-वैसी न थी। पगली हँसी के साथ-साथ उसकी पुतलियाँ भी नाच उठती थी। हँसते-हँसते उसकी आँखें भर आती। कातर होकर वह जिस समय माँ-माँ कहकर पुकारता तो उसे अपनी कोई सुध नही रहती।

वह गाता चला जा रहा था—एक के बाद एक गीत। मै इस ख़याल में डूबा था कि इसे गान कहा जाये या चीत्कार ! उस गायक ने कुछ ऐसा सम्मोहन-सा डाल दिया था कि सारा वातावरण उसके साथ कभी रोता तो कभी हँसता। उसका क्रन्दन कुछ वैसा ही था, जैसे कोई बालक अपनी माँ से बिछुड़कर रो-पीट रहा हो।

अचानक उसे छोटे राय दीख गये। अपने हाथों मे पीतल का थाल लिये, वे पूजा-मण्डप की ओर जा रहे थे। गायक ज़ोर से चिल्ला उठा, "मालिक, बर्तन लेकर कहाँ चले ? ज़रा सुनते तो जाइये।" वह फिर गाने लगा :

'मांजो रे अपना बरतन ऐसा
साफ दिखे जो आनन
धुंधले दरपन में तो रे बाबू
हो न पायेगा दरसन'

छोटे राय अपनी हंसी लुटाते वही रुक गये। उन्होंने थाल को उलट-पलट

फिर देख लिया : बरतन साफ है या नहीं । गायक खिलखिलाकर हँस पड़ा, कोई गोपनीय रहस्य बता रहा हो । कुछ और पंक्तियाँ जोड़ते हुए उसकी फिर कहीं खो गयी—

'विरजा पार हुए जब, बाबू
बरतन पर छाया का नरतन
रूप की लहरी, नाचे त्रिभुवन
शीतल होगा दहका तन-मन'

गाते हुए उसने अपनी गुलाबी आँखों से कहा, "समझे न मालिक, मतलब ! अब थोड़ी-सी चरनामिरित भी तो चाहिए !"

छोटे राय ने हाथ उठाकर कहा, 'हाँ—हाँ—मिलेगा...।"

उसे घेरकर जो लोग वहाँ इकट्ठा थे, उनमें से कई को हँसी आ गयी थी। एक ने कहा, "माँ का चरणामृत तो सारी रात मिलेगा । और यह तो पेट में भरा है ।"

गायक ने मुँह फैलाया और फिर गाने लगा—

'ओ काली कुण्डलिनि शम्भू भाविनि
जाग माँ अन्तर में, अन्तर में जाग माँ !'

ऐसे गायक को कौन क्या कहे ? वह किसे पुकारता, किसे हँसाता, रुलाता मैं कुछ नहीं समझ पाया । बस उसकी तरफ़ कुछ देर तक यों ही ताकता रहा । मेरे पास ऐसी दृष्टि न थी कि मूर्ति को मूर्ति के अलावा कुछ और देख-समझ पाऊँ ! ऐसा न मन में था, न आँखों में । पता नहीं, वह माँ-माँ कर क्यों कातर हो उठता था ! इस तरह का क्रन्दन मेरे अनुभव से परे था— अनुभवातीत ।

लेकिन यह भी सही था कि मैं गायक के भाव में कहीं गहरे डूब गया था । क्यों और कैसे, भगवान जाने । इसका एक कारण शायद यह रहा होगा कि गायक में कोई छल नहीं था । उसका स्वर सच्चा था और उसमें का भाव प्रबल था । मानो किसी शोकातुर माँ का विह्वल रुदन हो—पुत्रशोक से कातर । सुनते ही हृदय में हूक-सी उठती थी । किसी को पुत्रशोक न भी हो, तो भी ऐसा ही भाव उमड़ पड़ता था । उसकी विह्वलता में रुदन और हास्य का अपूर्व सम्मिलन था । हँसते-[illegible] में डूब जाता और उलाहना भरे

ायक के बारे में सचमुच कुछ पता न था। अब इसे अच्छा कहा जाये या बुरा ! मैंने पाया कि मेरी गहरी साँसों में कोई चट्टानी बोझ उतर आया था। मैं समझ नहीं पाया, ऐसा क्यों हुआ ?

मैंने सुना था, गायक तारापीठ से आया हुआ था। वहाँ के सेमलतला श्मशान के नीचे उसका वास था, जहाँ बामाचरण साधक बामाखेपा (पागल) हुए थे। गायक भी ऐसा ही पागल था। इस युग में भी बामाखेपा जैसा कोई दूसरा साधक हो सकता है, यह मैं नहीं जानता था। मैं साधन-भजन या तत्त्व रहस्य के मर्म से परिचित न था, लेकिन इस पगले गायक गोविन्द के गान में मैं अवश्य डूब-उतरा रहा था, मेरा मन नाच-झूम रहा था। मलूटी में प्रतिवर्ष इसी काली-पूजा के समय उसका आगमन हुआ करता है।

पता नहीं, मैं कब तक उसके गान-भजन में खोया रहा। तभी एकाएक ढाक बज उठे। एक नहीं, एक साथ कई-एक। उनकी गरज-तरज में गायक का स्वर मन्द पड़ता गया। सारी धरती जैसे काँपने लगी थी। मेरे हृदय में, मस्तिष्क में, शिराओं मे उनका स्वर गूंजने लगा। लोगो की आवाज़, भीड़ का शोर-गुल—सब कुछ उसमे डूब गया था। एकाध बार ही किसी डरे हुए बकरे की में-में की आवाज़ आयी और मुझे उनके असहाय एवं स्तब्ध होने का हल्का-सा संकेत मिल गया था।

मैंने पाया, चारों ओर कुछ अजीब-सी चहल-पहल है। कोई अपने मे नहीं, सब उड़े जा रहे हैं। मूर्ति की पुतलियाँ जाग उठी है, जैसे मेरी तरफ़ देख रही हों—मेरी आँखों मे। इसी क्षण किसी ने धड़ाम-से पटाखा छोड़ दिया। छोटे-छोटे बच्चे भी फुलझड़ी जलाकर नाच उठे थे।

पास खड़े उस युवक ने धीरे से कहा, "चलिये, आस-पास घूम आयें।"

मैं उसके और उसके दूसरे साथियों के साथ घूमने निकल पड़ा। किसी अँधेरी घाटी की तरफ चला जा रहा था मैं। अंधकार मे डूबे लोगों की मूर्तियाँ मेरे चारों तरफ़ चल-फिर रही थीं। ढाक की आवाज चतुर्दिक मेरा पीछा कर रही थी। सारा मलूटी गाँव इस आवाज़ में फँसा हुआ झूल रहा था। काले आकाश मे तारे टिमटिमा रहे थे। मलूटी एक रहस्य-लोक की भाँति प्रतीत हो रहा था। और मैं उसके अलौकिक इन्द्रजाल मे खो गया था।

मैं असीम अन्धकार को चीरता चला जा रहा था। सामने कच्चे-पक्के घर, या फिर टूटे-फूटे मन्दिर। आस-पास अनगिन लोगों की भीड़ बढ़ती चली जा रही थी। उस काली रात में किसी का भी मुँह नहीं देख पा रहा था।

चारों ओर ढोल-ढमाके बज रहे थे। दसों दिशाएँ लहर उठी थी। इस अन्धकार मे तैर रहे जन-समुद्र मे, कभी कोई आलोकित द्वीप उभर जाता। वहाँ भी ढाक का स्वर गूँज रहा होता। बीच-बीच मे फुलझड़ी, महताब, पटाखे और अनारदान छूट जाते। लोगो की भीड़ और काली-प्रतिमाएँ—आमने-सामने जहाँ तक दृष्टि जाती, बस यही कुछ दिखता। प्रकाशित द्वीप-पुंज, और कुछ नही। काली-प्रतिमा के मण्डप होते या काली-मन्दिर। कुछेक पण्डालों के दर्शन के बाद मैं सुस्ताने बैठ गया। कुछ लोगों से कुशल-वार्ता भी हुई। इस तरह आगे बढते-बढ़ते मैं मलूटी की अपरिचित सीमा मे प्रवेश कर गया।

काफी तेज़ हवा चलने लगी थी तब, राजमहल की पहाड़ी की तरफ से या फिर बगाल की खाड़ी से। तालवृक्षों के पत्ते-पत्ते मे तलवार की धार चमक उठी थी। इस झोंके के साथ ही, मैंने किसी का अस्फुट आहत-सा स्वर सुना या कि पत्तो का ही मर्मर था वह ! मैं यकायक सावधान होकर खड़ा हो गया। यह तो बडा अनर्थ हो गया ! अँधेरे में, कोई मुझसे टकरा गया था। नही, टकरा गयी थी। कोई लड़की थी। उसके गले से निकला, "उई...माँ।"

पता नही, मेरे पाँव से वह कैसे ठोकर खा गयी थी। उस झुटपुटे अँधेरे मे मैंने देखा, उसके कातर चेहरे पर कोई टीस उग आयी थी। उसके कष्ट से मैं विमूढ़ हो गया। लेकिन मेरे साथी ने उसे ज़ोर से डपट दिया, "रास्ते पर आकर लेट गयी ! परे हटकर सोना था !"

तब मैंने ध्यान देकर देखा था। यहाँ केवल आना-जाना ही नही लगा था, मलूटी के तमाम घाट-बाट, मन्दिर-मकान और छप्पर-छज्जे भी भीड से भरे थे। सारी संथाली प्रजा राजा के गाँव उमडी चली आयी थी। जिसे जहाँ जगह मिली वह वही पड़ गया था। रात तो बितानी ही थी कहीं ! आख़िर वे भी पूजा देखने आये है, वह चाहे मन्त्र-पूजा हो या चाहे कुछ और। उनका उत्सव है और उसी की प्रतीक्षा है।

संथालियों के हाथ में बाँसुरी थी और गले मे मादल। स्त्रियाँ गुनगुना रही थी और पुरुष हँडिया पीकर कबूतर की तरह गुटरगूँ कर रहे थे। जब कभी कोई अपने हाथ में जलती मशाल उठा लेता तो सारा वातावरण जैसे अलौकिक हो उठता। उसकी काँपती रोशनी में असंख्य जीवन्त नर-नारियों के साथ मन्दिर की दीवारों पर उत्कीर्णत अनगिनत देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी हिलने लगतीं।

साँवली रात गहराती जा रही थी। हम आगे बढ़ रहे थे या लौट रहे थे, पता नही। इसी समय, तालवृक्षों के नीचे, बबूल की झाड़ी के पास, मन्दिर की काली मूर्तियों की छाया में, आग की लपटें आसमान छूती दिखाई पड़ी। पता नही, वह आग कहाँ जल रही थी—पास या दूर। पहाड़ी ढलान के एक छोर पर

जलती चिताओं की कतार की तरह आग के कुण्ड प्रज्वलित हो रहे थे। उनकी लाल शिखाएँ काले आसमान को छूने के लिए व्यग्र थी। उनके सामने बौने कद की दो मानव आकृतियाँ हिल रही थीं।

क्या हो रहा था वहाँ ?

कौन थे वे ? क्या कर रहे थे ?

मेरे मन में सहज ही जिज्ञासा हुई थी। साथ के संगियों ने बताया, "शराब बना रहे हैं। रस की भट्टी चढ़ी हुई है, कल के लिए।"

सुनकर मैं कुछ क्षणों तक स्तब्ध रहा आया : तभी तो, अभी से ही लोग बावले हो उठे हैं। कोई सीधा खडा नहीं रह सकता। पिटती ढाकों की कांपती आवाज़े थम गयी थी। इस वीरान सन्नाटे को झींगुरों का स्वर चीर रहा था, या कभी-कभी कोई पक्षी ज़ोर से चिल्ला उठता। इस काटती खामोशी में मेरी रीढ़ कंपने लगी थी। मुझे लग रहा था, मेरे आसपास कोई भयावह कृत्य सम्पादित होने वाला है और यह उसी संभावना की पूर्व सूचना है, अन्यथा इतनी स्तब्धता न होती।

मैं अपने साथियों के साथ, किस क्षण वापस लौट पड़ा, याद नहीं। अचानक किसी का कातर आर्तनाद आरे की तरह चीर गया। यह किसी असहाय पशु का चीत्कार था। उस समय मैं किसी प्रकाश-पुंज द्वीप के ऊपर था — किसी अनजाने पूजा-दालान में। यह किसकी ड्योढ़ी थी, कौन-सा हाट था, कुछ नहीं समझ पा रहा था।

मैंने देखा, मानो पानी में नहायी कोई काली, चमकदार बड़ी-सी मूर्ति चक्कर काट रही है। वह एक बार इधर घूमती तो दूसरी बार उधर दौड़ती। लाल सुर्ख़ आँखें और जलती हुई दृष्टि। बच्चे उसकी सुलगती आँखों के सामने फुलझड़ी छोड़ देते। कोई पटाखा बजा देता तो कोई उसकी पूँछ पकड़कर खींचता। वह काली देह कभी भय से और कभी खीज से फुत्कार उठती, सींगों से उन्हें मारने की कोशिश करती। पर छिटककर जाती भी कहाँ ? मोटे खूँटे से जो बँधी थी !

थोड़ी ही देर बाद उसे बलि देने की पाटी के पास खींचकर लाया गया। उस काली मूर्ति के अँधेरे और निरीह मन-प्राण में कौन-कौन से भाव उत्पन्न हो रहे होंगे, कौन जाने ! स्वयं जमदूत का वह वाहन अपने स्वामी के आगमन की बात भी जानता था या नहीं !

इतने में ही, किन्हीं बलिष्ठ हाथों ने उसकी मोटी गर्दन को बलि-पाटी के अन्दर डाल दिया। दूसरे ही क्षण, घी में डूबे हाथ वाला एक आदमी आया और उसकी गर्दन पर घी चुपड़ने लगा। एक दूसरा आदमी सामने बँधी रस्सी को ज़ोर से खींच रहा था और एक तीसरा पीछे बँधी रस्सी को। भैंसे की गर्दन

पर अब भी घी से मर्दन हो रहा था।

मेरी साँस रुँध गयी थी। मैं स्वयं को बहुत ही विवश स्थिति में पा रहा था। ढाक-ढोल तेजी से पीटे जा रहे थे। मारी धरती फिर एक बार काँप उठी थी। चारों ओर गूंजता वज्रनाद सबको स्तब्ध किये दे रहा था। उसमें आज महाकाल भी बन्दी था।

अगले ही क्षण, आसमान में लपलपाती उजली धार के साथ खांडा चमक उठा। उसपर दोनों ओर आँखें भी चित्रित थीं। मैं चकित दृष्टि से प्रतिमा की ओर देख रहा था जो अपने कराल रक्त रंजित नयनों से मुझे अब भी ताक रही थी। पलक झपकते ही लपलपाते खाडे की धार कौंधी और नीचे उतर गयी।

जमदूत का वाहन नीचे कटा पड़ा था। उसकी भारी भरकम देह ढेर हो चुकी थी। कटा हुआ धड़ सिकुड़ गया था, रह-रहकर तेजी से छटपटा उठता था। कटी गर्दन से दर-दर रक्त बह रहा था। राजपुरोहित अपनी मध्यमा से सबके माथे पर रक्त-तिलक करते जा रहे थे।

उन्होंने अपनी उँगली मेरे माथे से भी छुआई थी। उस तप्त स्पर्श से मेरा शरीर रोमांचित हो उठा था। मुझे लगा था जैसे मेरे अन्तर में कोई करुण चीत्कार भर उठा हो। मेरा जी वितृष्णा से भर गया था।

तभी बलि-पाटी पर काले रंग का एक और छोटा-सा जीव चढ़ाया जाने लगा। मैंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। मेरे मन और आँखों के सामने फैला अन्धकार मुझे उस उजाले से बाहर खींच लाया। अन्धकार में न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा मैं। मुझे अब उसी कमरे की तलाश थी, जो ड्योढ़ी के दुमहले पर था।

लेकिन अन्धकार मेरे पीछे पड़ गया था जैसे। चारों ओर ढोल और ढाक की आवाज, पशुओं का चीत्कार और लोगों का शोरगुल। वहीं कहीं काँच की, या फिर चाँदी की चूड़ियाँ छनक रही थीं।

लेकिन वह ड्योढ़ी कहाँ है? कमरा कहाँ है?

मैं भटकता रहा था उस अँधेरे में, उस विचित्र आनन्द-उल्लासपूर्ण अनुष्ठान के बीच—अकेला। किसकी खोज थी मुझे, मैं आज भी नहीं जानता, तब भी नहीं जान पाया था। बस, जब जो कुछ मिल गया, जो भा गया उसी से जी भर लिया। कुछ बिखर गया और कुछ फटी-पुरानी झोली से झरकर गिर गया। जो कुछ बचा है, उस अपरिचित की खोज में वह मेरा पाथेय बन सकेगा या नहीं—यह भी नहीं जानता! और अगर ऐसा कुछ हो गया तो मलूटी में बीते उस एक रात और एक दिन से जुड़ी स्मृतियाँ ही शेष थीं। मैंने चुपचाप अपने दोनों हाथों को सीने से लगा लिया था।

कह नहीं सकता, मेरी अनुभूति में तब कहीं कुछ प्रत्यक्ष हुआ भी था या

नहीं। इतना ही कह सकता हूँ कि इस पृथ्वी में एक ही स्थान पर इतने लोगों की लीला एक साथ देख पाया था।

अन्धकार मे, हाथ-पाँव मारते-मारते मैं अपने आतिथेय के यहाँ जा पहुँचा। कब, इसका पता नही ! वहाँ भी वही ढाक की आवाज़, पशुओं का चीत्कार, लोगों का उल्लास। काले-पीले भूरे-गोरे लोग इकट्ठा थे, प्रतिमा थी, बलि-पाटी थी। बडे राय का तेवर देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मेरे पास ही खड़े थे, लेकिन मुझे पहचान न पाये। छोटे राय का भी यही हाल था। उनके रग भरे चेहरे पर कोई दूसरी ही चमक थी।

मैं घर के भीतर चला आया था। उस समय वहाँ बरामदे में एक ही बाती टिमटिमा रही थी। लग रहा था, यहाँ उत्सव वर्जित है। मैं उस सन्नाटे को चीरता दक्षिण की तरफ़ बढ़ आया। बरामदा पारकर मैं दाहिनी ओर की सीढ़ी चढ़ने ही जा रहा था कि अचानक फिर थम जाना पड़ा।

किसी का स्वर सुन पड़ा, "नहीं...नहीं...न..."

यह किस स्त्री का स्वर था ! कातर—करुण !

तभी पुरुष-कण्ठ सुन पड़ा, "तेरे पाँव पड़ता हूँ, अब आ भी जा।...सच, बड़ी ग़लती हो गयी...माँ कसम।"

मैं किसी दूसरी सृष्टि में आ चुका था। रक्त उत्सव के उपरान्त कहीं-से कोई वंशी-ध्वनि सुन रहा था, 'देहि पदपल्लवमुदारम्।' मुझे उन्हें पहचानने में देर न हुई।

इसके बाद वही रोषभरा स्वर : "कह रही हूँ न, पाँव मत छूना, मैं नहीं जाऊँगी पूजा-पाठ देखने।"

"तिपू ! मेरी अच्छी तिपू ! मेरी बात नही मानेगी न !"

पुरुष के स्वभाव से परिचित नारी के स्वर में क्रन्दन भरा आक्रोश था—"नही, नहीं। तुम्हें लाज नही आती। कह रहे थे, मुँह भी नही देखोगे, मेरे मुँह पर तमाचे मारोगे !"

मानभंजन का दृश्य चल रहा था। और कुछ कहने-सुनने को बाकी न था। सीढ़ियाँ चढ़कर मैं ऊपर चला आया। कोने मे एक दीया टिमटिमा रहा था। कपड़े उतारकर मैं बिछावन पर लुढ़कने ही जा रहा था कि बरामदे के दरवाज़े से सुशी पुकार उठी, "खाना नही खायेंगे ?"

मैं चौंक पड़ा। मन-मस्तिष्क पर अब भी मलूटी का गहरा अन्धकार छाया हुआ था। वह अँधेरा छँट चला था जैसे। सुशी यहाँ क्यों है ? इस अन्धकार मे सबसे अलग, अकेली—उत्सव और हंगामे से कटी।

मैंने पूछा, "तुम पूजा-मण्डप मे नहीं गयीं ?"

"नही।"

उसका यह छोटा-सा उत्तर इतना छोटा भी न था। यह उत्तर जैसे बहुत दूर से आ रहा था। लेकिन इसका क्या आशय था? इतना ही समझ पाया कि यह आवाज़ किसी चट्टान के नीचे दबी हुई थी।

"क्यों?" मैंने जानना चाहा।

"बस, यूँ ही। कुछ अच्छा नहीं लगता!"

कार्तिक की अमावस और इस महाकाल निशा में मैं मलूटी गाँव में एक नयी बात सुन रहा था—नये स्वर में, नये भाव में : 'अच्छा नहीं लगता?' मैंने उस टिमटिमाती रोशनी में देखा, सुखी सिर झुकाये खड़ी थी। उसने जूड़ा बाँधा था, जो सिर झुकाने के कारण काफी बड़ा नजर आ रहा था। थोड़ा बहुत सिंगार भी। वहाँ कोई तड़क-भड़क तो न थी, लेकिन सारी सजावट मोहक हो उठी थी।

उसने धीरे-धीरे अपना सिर उठाया। मैंने देखा, उसके माथे पर लगी बिन्दी आँखों की पुतलियों के साथ ही चमक उठी है। लेकिन वहाँ न तो हँसी थी और न उत्सव का उल्लास। उसका चेहरा किसी उदासी में डूबा था, जिसे वह बता नहीं पा रही थी। अन्दर-ही-अन्दर घुमड़ते किसी ज्वार की तरह, जो बाहर से पता नहीं चलता।

मेरी जिज्ञासा को कोई अनुकूल उत्तर नहीं मिला। शायद इसीलिए उसने फिर कहा था, "मैं वह सब देख नहीं पाती।"

क्या कुछ नहीं देख पाती?

काली बिन्दी लगाये उस मिनयनी बाला की आँखों के कोर पर आँसू जम आये थे। उसने दोहराया, "मैं देख नहीं पाती।"

कहकर वह पीछे मुड़ी और बरामदे में फैले अन्धकार में खो गयी। मैं चुप बैठा रहा। बाहर पूजा-दालान में पूजा का उत्सव—वही गाजे-बाजे और बलि-पशुओं का चीत्कार। पास ही अन्धकार में 'देहि पदपल्लवमुदारम्' का स्वर आरोह पर था, और ऊपर सुखी नाम की दासी रक्तरंजित मिट्टी पर खड़ी अहिंसा की दुहाई दे रही थी।

मैं अबतक समझ नहीं पा रहा था कि उस अन्धकार भरी यात्रा को पूरी कर मैं यहाँ तक कैसे लौट आया था। अपनी अन्तरात्मा में बैठे किसी अपरिचित को बार-बार नमस्कार करता जा रहा था। प्रार्थना कर रहा था—मेरे मन को जाग्रत रखो, मेरी आँखों को खुला रखो, अन्तर्यामी!

तभी सुखी की आवाज़ दरवाज़े तक तिर आयी। अब उसका स्वर अधिक दीप्त और स्पष्ट था, "आप वापस क्यों चले आये?"

मैंने भी सहज भाव से उत्तर दिया, "तुम्हारी मलूटी में मेरी सुधि खो गयी है। इसका अन्धकार निगल गया है मुझे। कभी कुछ समझ में आता है कभी

कुछ, और कभी कुछ भी नहीं।"

सुशी ने पलभर के लिए मेरी ओर देखा। वह शायद मेरा चेहरा पढ़ रही थी। उसकी आँखों में जिज्ञासा मिश्रित विस्मय था। मैंने पाया, उसके साँवले चेहरे पर कोई मुसकान फैल गयी है।

"आप जिनके साथ निकले थे, वे कहाँ रह गये ?"

"मुझे नहीं मालूम !"

"उनके साथ थोड़ी-सी चढ़ा लेते तो फिर सबकुछ जान जाते।"

मैं उसकी बात समझ नहीं पाया। बस, उसकी ओर तकता रहा।

सुशी झेंप गयी थी शायद ! लेकिन उसने हँसते हुए कहा, "जैसा देवता वैसी पूजा। आप तो जानते ही हैं, यहाँ बिना मद्य कोई पूजा नहीं होती।"

मैं समझ गया, सुशी के इस तरह बोलने का क्या आशय है। लेकिन सुशी मुझे ठीक-ठीक समझ न पायी। यह तो ठीक है कि मैं पागल हो गया था लेकिन मेरा पागलपन कुछ दूसरी ही तरह का था, जिसमें सारे अनुभव गड्डमड्ड थे। मैं एक प्रकार के अलौकिक रहस्य-लोक में फँसा, विवश हो चला था। इसीलिए सबकुछ ऐन्द्रजालिक और अतीन्द्रिय प्रतीत हो रहा था।

मैंने कहा, "इसकी जरूरत नहीं। मुझे इसमें कुछ गलत भी नहीं दीखता। ऐसा कभी देखा नहीं था, इसीलिए...।"

सुशी तेजी से थोड़ा आगे बढ़ आयी। बोली, "आपने बुरा तो नहीं माना ?" उसका स्वर सहमा हुआ था।

"नहीं," मैंने हँसते हुए बताया और पूछ लिया, "तुम पहली बार यहाँ की पूजा देख रही हो क्या ?"

अपनी भौंहें तिरछी करते हुए वह बोली, "नहीं, बचपन से ही देखती आ रही हूँ।"

"फिर भी, नहीं देख पातीं, ऐसा क्या है ?"

वह थोड़ी देर चुप रही और टिमटिमाती बाती की लौ को देखती रही। उसने आहिस्ते-से बताया, "बचपन में यह सब कुछ अच्छा लगता था। बड़ी हुई तो...बाबा नहीं रहे। उनके मरने के बाद बलि-अलि देखने फिर कभी नहीं गयी।"

मैंने पाया, एक असहाय-सी हिरनी मेरे सामने खड़ी है, किसी हत्यारे शिकारी से सहमी हुई। पितृहीन बालिका जो अपने चारों ओर नंगी तलवारों की भीड़ देख रही है और अपने अन्तर में अपनी बेबसी का आर्तनाद सुन रही है। उसके चारों ओर बलि-वेदियाँ हैं जो भूख, ग्लानि, पीड़ा और असुरक्षा की भावना से संत्रस्त है।

बाहर अब भी ढोल-ढमाके बज रहे थे। मेरे मन में सुशी के प्रति स्नेह

उमड़ आया—अन्धकार के आतंक के बावजूद। सुशी ने बहुत विस्तार से कुछ नहीं बताया लेकिन उसकी टूटी-फूटी बातों से मुझे सारी स्थिति का आभास हो गया। पास बुलाकर मैं उसे दुलराना चाहता था।

"आपका खाना परोसूं?"

मेरी मानसिकता भंग हो गयी। सुशी भी किसी संकोच से दोहरी हो उठी थी। मैं उसे टकटकी लगाये जो देख रहा था। इस अन्धे सन्नाटे को तोड़ने के लिए ही उसने पुकारकर कहा, "बड़ी काकी ने कहा था, आप वापस आ जायें तो आपका खाना परोस दूं। रात काफ़ी हो गयी है। दो बज चुके हैं।"

मैंने हाथ उठाकर देखा, घड़ी ढाई बजा चुकी थी। मैंने पूछा, "दूसरे लोग कब खायेंगे?"

"उनका कोई ठीक नहीं...कब!"

मुझे तनिक भी भूख नहीं थी। मत्रूटी के तिलस्मी अंधेरे ने ऐसा सम्मोहन पैदा कर दिया था कि सारी इन्द्रियां शिथिल हो चुकी थीं। स्नायु-तन्त्र निश्चल पड़ा था। इसीलिए मैंने कहा, "खाने की जरा भी इच्छा नहीं है। अच्छा हो थोड़ा सो रहूं!"

और मैं बिछावन पर पड़ गया।

सुशी ने कहा, "तो फिर यह बाती बुझा दूं।"

सारा कमरा गहरे अंधेरे में डूब गया था अचानक। मैंने पूछा, "अब तुम क्या करोगी जाकर?"

"बरामदे में बैठी रहूंगी।"

"क्यों? सोती क्यों नहीं?"

"मुझे नींद नहीं आयेगी।"

मैं चुप पड़ा रहा। इसका कोई आभास नहीं मिला कि वह बरामदे तक चली गयी या नहीं, या वहीं खड़ी रही। उस ठोस चट्टानी अंधेरे में मेरी आंखों के सामने सुशी का चेहरा तिरता रहा, उसका करुण स्वर कानों में गूंजता रहा, "मुझे नींद नहीं आयेगी!"

बाहर बलि का उत्सव मनाया जा रहा था। मेरी चेतना कब थककर सो गयी थी, पता ही नहीं चला।

अचानक कान के पास ही ढाक पीटने की आवाज सुनायी पड़ी। आंखें खुल गयीं थीं। बाहर दिन का प्रकाश था। शरीर पसीने से तर था। मैं नीचे उतर आया था, लेकिन आंगन में रक्त-ही-रक्त देखकर मेरे पांव जम गये थे। पूजा-मण्डप पर वैसी ही भीड़ जमा थी—वही बाजे-गाजे, उल्लास और वही आर्तनाद।

दिन काफ़ी निकल आया था, लेकिन बलि अब भी दी जा रही थी।

गली में रक्त बह रहा था। मैंने कब हाथ-मुँह धोया, कब सुधी के हाथों चाय पी गया, कुछ याद नहीं। मलूटी का सम्मोहन मुझे फिर खींचकर ले चला था।

मैंने देखा, मलूटी की गली-गली में रक्त प्रवाहित हो रहा है। खून में लिथड़े बलि-पशुओं को लोग आसमान में उछाल रहे हैं। उनकी खाल उतारकर, उनके लोथड़े को कंधे पर लादकर पागल की तरह कूद-फाँद रहे हैं। इतना ही नहीं, उनके रक्त को एक-दूसरे पर उछाल रहे हैं, खून के छींटों से खेल रहे हैं। कल की रात से जो रक्तपात शुरू हुआ, वह दिन में भी जारी था। मलूटी की माटी खून से लथपथ थी।

साथ-साथ भरपूर सोमरस पान भी चल रहा था। संथाल स्त्री-पुरुष *हँड़िया की आखिरी बूँद पीकर नशे में झूम रहे थे। यही हाल ढाक-ढोल पीटने*वालों का था। लाल परी के साथ ही, उनके हाथों में आसुरी शक्ति आ गयी थी। वे ढोल पीटते, दौड़-दौड़कर चक्कर काटते और हवा में चौकड़ी भरते, जैसे इस उछल-कूद के बीच खड़े रहना ही वे भूल चुके हों। उनकी गुलाबी आँखों और भंगिमाओं में रस की धार छलक रही थी।

चतुर्दशी की काल-रात्रि अब तक समाप्त नहीं हुई थी। ढाक की गूँज, रक्त-*नृत्य, उल्लास और स्वर-सम्मोहन में बँधे भले-बुरे सबकी एक ही दशा थी।* बड़े राय हों या छोटे, सभी इस उल्लास में आकण्ठ डूबे थे।

इस मोहनी निद्रा में भी सारा कार्यक्रम निर्विघ्न चल रहा था।

दोपहर का स्नान-भोजन किस तरह सम्पन्न हुआ, मुझे इसकी कोई सुध नहीं। बाद में मलूटी की सारी सड़कों पर, पता नहीं, कहाँ-कहाँ से अन*गिनत बिसाती आकर बैठ गये थे—अपनी मनोहारी चीजें बिखेरकर बिसात* बिछाकर। घण्टी बजाकर मिठाई बेचनेवाले। बीन बजाकर साँप का खेल दिखानेवाले जटाधारी सँपेरे और सँपेरिनें। उन्होंने पिटारी खोलकर सर्पों को पूजा-घर के आँगन में छोड़ दिया था। वे इसी तरह मलूटी की गलियों में उन्मत्त भीड़ के सामने भयावह तमाशे दिखाते चले जा रहे थे। पतली कमर दीर्घ नितम्बिनी एक सँपेरिन युवती नाग को अपने गले से लपेटकर कूल्हे मटकाती हुई चिल्ला रही थी: "लो देख लो इस चन्द्रधारी नाग को। इसके फन पर सुनहला चक्कर है, इसके ऊपर तारे हैं। हैं न!" और वह बड़े प्यार से उसे अपनी उभरी छाती पर छोड़ देती। फिर चूमकर कहती, "लेटा रह यहीं, सो जा!"

गले में अजगर लटकाये सँपेरे ने गेहुँअन साँप के फन को अपने मुँह में डाल-

कर निगलनेवाला खेल दिखाया था। मेरे शरीर का एक-एक रोआँ हिल गया था। नागिन का ठण्डा चुम्बन कितना मीठा होता है, सँपेरा यही तो बताना चाह रहा था।

तभी संथाली स्त्रियाँ गीत गाने लगी थीं। उनकी मुसकानों से भी वही रस टपक रहा था।

बिना मलूटी गये मैं साँप का यह खेल कभी नहीं देख पाता!

पूजा-प्रांगण में जब साँप का खेल चल रहा था, मैंने दूसरी लड़कियों के साथ खुशी को भी देखा था। जिसे रक्तपात से भय हो, उसे साँप के इस खेल से भी सहज ही भय लग रहा होगा। उस साँवली युवती की हिरनी-सी आँखों में हलकी-सी मुसकान थी और रंगीन जिज्ञासा। मेरी तरफ़ देखकर वह अपनी पलकें झपका लेती। उसकी आँखों में ही नहीं, मन में भी कोई रंग भरा उल्लास छलक उठा था।

मैं भी साँपों का जादू देख रहा था: आँखों के सामने साँपों को गायब करने का खेल। भयंकर नाग-नागिनों को नचाते हुए हँसी-मज़ाक का तमाशा जारी था। सँपेरों ने कहना शुरू कर दिया था, "नये-नये कपड़े चाहिए, साँप को दूध चाहिए, पेट भर खाना चाहिए। लेकिन इसके लिए साँप का तमाशा ही काफ़ी नहीं। हम ज़हर उतारने की दवा भी देंगे, साँपों को दूर भगाने की जड़ी भी बाँटेंगे, वशीकरण की औषधि भी देंगे।" तभी तो इन चीज़ों की दुहाई दी जा रही थी।

साँपों के खेल के साथ, संथाली औरतों का नाच-गान भी बराबर चल रहा था। वे सब नागिन की तरह झूम रही थीं। अकेली नहीं, झुण्ड-की-झुण्ड। पुरुषों का दल भी पीछे न था, वे भी औरतों के सामने कतार में गुँथे नाच रहे थे। किसी के गले में मादल था तो किसी के हाथ में वंशी। औरतें अब भी बहुत खुलकर नहीं गा रही थीं, गुनगुना रही थीं।

उनका नृत्य पूजा-दालान, आँगन या इधर पूजा-मण्डप से घर के दरवाज़े तक ही नहीं, भीतर चौके तक लहराता चला जाता। सबको दिखाना भी तो था यह नाच।

"अरी ओ बहू-रानी! नाच नहीं देखोगी!"

देखेंगी क्यों नहीं भला? बड़ी-छोटी मालकिन ही नहीं, घर की तमाम औरतें और नौकरानियाँ—सभी घर से बाहर निकल आयी थीं। घर-मालिक भी नाच देखते-देखते उन्हें सँभाल देते, "अच्छा...अच्छा हुआ...बहुत हुआ, अब थमो भी।"

लेकिन इस बात के लिए कोई तैयार न था।

"अभी कहाँ हुआ? अभी देखा ही क्या है? यह भी कोई नाच हुआ? आगे

तो देखो!" इतना कहकर, एक युवक ने पास खड़ी एक संथाल युवती के साथ उन्मत्त भाव से अपना नृत्य शुरू कर दिया था। उसके होंठों से जैसे रस छलक रहा था। नगर के पढ़े-लिखे बाबुओं को उनकी हर भंगिमा अश्लील नज़र आती, लेकिन वहाँ सहज और अकृत्रिम लास्य था। अश्लीलता अगर कहीं होती भी तो ऐसी उन दृष्टियों में ही। उनकी भंगिमा में नहीं। वे जैसे हैं, वैसे ही हैं। उनकी अपनी दुनिया है। शहरी चाल-चलन, बोध और समझ के अनुसार तो उनकी सारी चर्या और शैली ही प्रतिकूल प्रतीत होगी। नये ज़माने की हवा से उनका परिचय नहीं। इसलिए अपनी रीति छोड़ना उनके लिए विष-तुल्य है। वे अपनी रीत पर कायम हैं और वही उनके लिए सहज, स्वच्छन्द और सुन्दर है।

बड़े राय ने अपनी रंगीन मुसकराहट बिखेरते हुए कहा, "चल हट...हराम-ज़ादे!"

बहुएँ और नौकरानियाँ अपने-अपने घूँघट खींचकर हँसने लगीं।

आँगन और दालान में ही नहीं, गली-गली में नृत्य-गीत, खेल-तमाशे हो रहे थे। टिङ् टिङ् घंटियाँ टनटना रही थीं। बम्बई की मिठाई-लड्डू-जलेबी, गरम पकौड़े और समोसे का बाज़ार गरम था। एक बिल्लौरी चूड़ियाँ बेच रहा था, "ले लो रेशमी चूड़ी—प्रेमी को फँसाने का फंदा...पैसे की एक...लो लूट लो!" साथ ही, चमकदार बिन्दी, आलता, सिन्दूर और विलायती पत्थरों-जड़ी अँगूठियाँ। रामपुर हाट के दुकानदार इन सारी चीज़ों के बारे में जानते हैं कि विलायती पत्थर कौन-सी बला है और कलकतिया तेल-फुलेल में क्या कुछ है।

मलूटी की गली-गली में प्रतिमा-विसर्जन के बाजे-गाजे बजने लगे थे। गलियों में बहता रक्त तब तक नहीं सूखा था। चारों ओर 'जय माँ काली' की ध्वनि गूँज रही थी।

सूरज अब तक डूबा न था। फूस के छप्परों पर, तालवृक्षों के पत्ते-पत्ते पर, और मंदिर के एक-एक शिखर पर हेमन्त की सुनहली धूप चमक रही थी। ढाक पर तब कोई दूसरा ही बोल बज उठा था। ढाकी नाच रहे थे। काले पत्थरों-से बने चौड़े चकले और भारी डील-डौल के लोग बाँस की चचरी आँगन में बिछा रहे थे। उनकी आँखें लाल थीं। प्रतिमा के चरणों का स्पर्श करने, सिन्दूर चढ़ाने तथा उन चरणों में चढ़ाये गये सिन्दूर का बचा हुआ हिस्सा घर ले जाने के लिए सुहागिनों की भीड़ जमा थी।

नाच-गान, साँप के तमाशे, ढाक की गूँज और माँ काली की जय-जयकार से मलूटी का रूप ही बदल गया था। इस उत्सव-उन्माद के बीच मलूटी के मन्दिर के कंगूरों पर जो धूप चमक रही थी, उसकी झलक में करुण हास्य का पुट था। कान के परदे फाड़नेवाली आवाज़ के बीच पेड़ की डालियों पर अपने डैने समेटकर कुछ पंछी चुपचाप बैठे थे। पश्चिम के लाल दिगन्त पर उनकी आँखें ठहरी थी। खून से नहायी मलूटी की लाल माटी पर उदासी भरी साँझ घिर आयी थी। इन सबके साथ मन्दिर की दीवारों पर उत्कीर्णित देवी-देवताओं की मूर्तियों ने मानो सिर झुका लिये थे।

प्रतिमा के विसर्जन में क्या कुछ होता है—मुझे पता नहीं था। उत्सव शेष हो चला था। मैं भीड़ के पीछे खड़ा था। थोड़ी ही दूर पर बड़े राय भी खड़े थे, दोनो हाथ जोड़े। उनकी रेशमी धोती का एक छोर पीठ पर था। खुले हुए सीने पर जनेऊ पड़ी थी। उन्हें कल से दाढी बनाने की फ़ुरसत नही मिल पायी होगी, इसलिए गुलाबी चेहरे में झाँई-सी झाँक रही थी। आसमानी आँखों से उमड़ते आँसू उनके गालों पर बह रहे थे। अपनी धुँधली आँखों से वे प्रतिमा की ओर निहार रहे थे।

मेरा मन विह्वल हो उठा था। सीने मे कोई टीस-सी उठ रही थी। मैं उनके पास चाहकर भी नही जा पाया। यह भी न समझ सका कि मेरे जी में ऐसी हूक-सी क्यों उठ रही है? ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था। यह अश्रुपात विसर्जन के लिए तो नही!

इस बीच बड़ी मालकिन बड़े राय के पास आकर खड़ी हो गयी थी। उस समय सुहागिनों को लगाये जा रहे मांगलिक सिन्दूर से उनकी माँग, माथा और गाल लाल हो गये थे। वे कुछ-कुछ कह भी रही थी। उन्होंने अपनी लाल साड़ी के आँचल से स्वामी की आँखें पोंछ दी, जैसे कोई माँ अपने बच्चे को चुमकारती है। न जाने कितने ही लोग खड़े थे वहाँ, पर शायद किसी ने उस पर ध्यान नही दिया होगा।

तभी धीरे-धीरे बड़े राय के होंठों पर मुसकराहट फैल गयी। उन्होंने पीठ पर फैली धोती के छोर से अपना मुँह पोंछ लिया। दूसरे ही क्षण, बड़ी मालकिन नीचे झुकी और स्वामी के चरणों की धूल लेने लगी। बड़े राय कहते ही रह गये, "अरे, यह सब रहने भी दो।"

बड़ी मालकिन ने क्या कहा, मैंने नही सुना। बड़े राय आहत-से आगे बढ़ आये। मुझसे उनकी आँखें मिली, लेकिन मैं चाहकर भी कुछ कह नहीं पाया। कल रात से ही उनसे कोई बात नही हुई थी। समय ही नहीं था उनके पास। अब भी वे किसी सम्मोहन मे डूबे थे।

अचानक रुके और फिर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। अब स्पर्श-अस्पर्श का

कोई विचार नहीं रहा था। उन्होंने पूछा, "सब कुछ ठीक से तो देख पा रहे हो न?"

"जी हां।"

उन्होंने प्रतिमा की ओर ताकते हुए कहा, "बस, इतना ही। और कुछ नहीं बेटा! सब कुछ समाप्त हो गया। साल में यही एक दिन तो आता है। क्या देकर क्या करूं? अब हमारे पास रहा ही क्या? अब प्रतिमा विसर्जित होगी उसी मौलिखा के घाट पर...चलो।"

कहते हुए वे आगे बढ़ गये। उनकी आवाज भर्रा गयी थी, नीली आंखें फिर एक बार छलछला उठी थीं। पूजा-मण्डप में उस समय भी धूम-सी मची थी। लोग पुकार रहे थे, "सावधानी से...हां।"

प्रतिमा को चचरी के ऊपर रखा जा रहा था। मैं पास ही चुपचाप खड़ा बड़े राय की बातें मन-ही-मन गुन रहा था। उनकी बातों का आशय? वे क्या बताना चाह रहे थे? उस ढलती हुई सांझ में आकाश की ओर ताकते हुए पंछी की तरह बाज वसन्त के वंशज ने जो कुछ कहा, उसका अर्थ शायद यही था कि बस यूं ही दिन बीतते हैं, रातें बीतती हैं—निरर्थक—निरुद्देश्य...

जय-जयकार धीरे-धीरे बढ़ती चली गयी थी। प्रतिमा अपनी जगह से हिल रही थी। मैं वहीं खड़ा था, लेकिन छठी इन्द्रिय जाग्रत थी। लग रहा था, जैसे कोई मुझे घूरे जा रहा है। मैंने पीछे मुड़कर देखा, लाल माटी की एक ऊंची-सी टेकरी पर सुशी खड़ी थी। आंखें टकराईं तो उसने झुका ली थीं—धीरे-से मुसकराकर। क्यों, पता नहीं! लगा कि उसका चेहरा भी बड़े राय के चेहरे की तरह ही विषाद-ग्रस्त है। उसकी आंखों में आंसू थे।

मैं प्रतिमा के पीछे-पीछे चल रहा था। सुशी भी आगे बढ़ आयी थी। उसने पूछा—

"घाट तक जायेंगे?"

"हां, वहीं तो प्रतिमा विसर्जित होगी!"

"हां, उसके पास ही एक तालाब है—वही।"

"क्यों? घाट के पास ही तो नदी है।"

"उसमे पानी है ही कित्ता? प्रतिमा डूबेगी कैसे?"

मुझे लग रहा था, मैं स्वयं नहीं चल रहा, भीड़ मुझे ठेलती जा रही है। खड़े रहने की गुंजाइश तक न थी। ढाक की आवाज को पीछे छोड़ती हुई बीच-बीच में ऊंची हांक सुनायी पड़ती, 'संभल के...सावधानी से।' ढाक की आवाज, जय-जयकार, संथाली स्त्री-पुरुषों की पगली भीड़ और इन सबके बीच कहीं-कहीं बावला गोविन्द गा उठता—

'मैं मूँदूँ नहीं नैन...
तारिका कहीं खो गयी तो पाऊँ कहाँ चैन
सारी रैन, मूँदूँ नहीं नैन...'

बावला गायक कहीं दीखा नहीं। सुशी सामने की ओर भीड़ के उस पार प्रतिमा को निहार रही थी। लोगों के कांधे पर रखी चचरी पर सवार प्रतिमा अब भी थरथरा रही थी। लेकिन सुशी प्रतिमा की तरफ़ देखती हुई भी कहीं और खोयी थी। अचानक उसने पलकें उठाकर मुझसे पूछा—

"आप उस पगले का गान सुन रहे हैं न?"

"हाँ।"

"लेकिन वह रो रहा है।"

"कौन, पगला गोविन्द?"

"हाँ!" और इतना कहते हुए सुशी वहीं थम गयी।

"घाट नहीं चलोगी?" मैंने पूछा तब।

"नहीं, हम लोग घाट पर नहीं जातीं।"

"क्यों?"

"लड़कियाँ नहीं जातीं।"

लेकिन संथाली और बावरी लड़कियाँ तो वहाँ जा रही थीं। सुशी की बात में यह संकेत था कि अन्तःपुर की लड़कियों के लिए मौलिक्खा नदी के घाट पर जाना निषिद्ध है। मैंने सुशी से इसका कारण पूछा।

सुशी बोली, "वहाँ बड़ी पगली भीड़ जमा हो जाती है। विसर्जन के समय जब प्रतिमा घाट पर चक्कर काटने लगती है तब हर तरफ़ मार-धाड़ शुरू हो जाती है।"

मैं आश्चर्य में डूब गया, "अच्छा, अपने ही बीच...!"

"हाँ, उसके अलावा..." सुशी अपनी बात समाप्त नहीं कर पायी, मेरी ओर देखकर आँखें झुका लीं और कहा, "आप खुद जाकर देख आइये।"

आगे मैं कुछ न पूछ पाया था। भीड़ का एक जबर्दस्त रेला मुझे बहा ले चला था। गाँव के बाहर नीचे ढलान पर लोगों का ज्वार मचल रहा था। मौलिक्खा का सारा इलाका मेरी आँखों के सामने तिर रहा था। पश्चिमी दिगन्त पर टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी के पीछे सूरज का लाल मुख एकदम शान्त, सौम्य, उदास और रक्तिम हो उठा। साथ ही, आकाश, मौलिक्खा की धरती, ताल-के वृक्षों के पत्ते और उपस्थित जन-समुद्र सभी रक्ताभ हो उठे थे। तभी मैंने देखा था, प्रतिमा की चचरी पर हाथ रखे हुए छोटे और बड़े राय उन्मत्त होकर बेतहाशा भागे जा रहे हैं। घाट की प्रदक्षिणा करके सभी दौड़े चले जा रहे हैं। दूसरी प्रतिमा के साथ भी, दूसरे लोग चक्कर काट-काटकर दौड़ रहे हैं।

सुशी ने ठीक ही कहा था। एक-एक क्षण उत्तेजना-पूर्ण। जब कभी कोई दल प्रतिमा लिये किसी दूसरे दल से आगे निकल जाता या निकल जाना चाहता, तभी जोरों की हुंकार उठती और लाठियां लहराने लगती, "सावधान...आगे जाने दो !" साथ ही, ढाकी भी तेजी से ढाक पीटने लगते।

संथाली लोग नाचते-नाचते उन्मत हो उठे थे। एक ओर पुरुषों की क़तारें, दूसरी ओर सामने ही स्त्रियों की पंक्ति। पहले इनकी सख्या सौ-दो सौ रही होगी। लेकिन अब ये कई हजार की संख्या मे अलग-अलग झुण्डों में नाच रहे थे। लगता था कि लड़कियों के बदन में हड्डियां थीं ही नही। उनके घुटने सामने होते तो कमर पीछे। जब उनकी कमर नाचती तो उभरे हुए स्तनद्वय लहराकर पीछे की तरफ़ चले जाते। और जब उभरे स्तन आगे बढ़ते तो फ़ूल खोंसे जूड़े के भार से सिर हिल-हिल उठते। जैसे नागिनें जीभ लपलपाती हुई अपने दाँतों में विष लिये, फन उठाये किसी को डँसने के लिए तैयार हों और फिर अपना फन समेट लें। नाग-नागिन का यह नृत्य कभी आगे और कभी पीछे रह जाता। वे आगे आते तो लगता कि आमने-सामने दोनों पक्षों की टक्कर हो जायेगी। लेकिन वे एक-दूसरे को छुए बिना ही पीछे मुड़ जाते। उनकी साँसें एक-दूसरे में घुल-मिल जाती होंगी।

युवतियाँ अब और जोर-जोर से गा रही थी। मैं उनकी भाषा नही समझ पा रहा था। गान का आशय उनकी भाव-भंगिमा से, उनकी हँसी से, और उनकी आँखों की चमक से ही स्पष्ट हो रहा था। युवतियों के गीतों के साथ युवकों के मुँह से हिस—हिस—हिस की आवाज़ आ रही थी।

मैं मलूटी की उस आदिम रात्रि के साथ, उसके शेष सम्मोहन से जुड़ा, मौलिक्खा के मन्दिर के पास खड़ा था। मुझे लगा था जैसे नृत्य की एक-एक ताल पर मैं भी झूम रहा हूँ, धरती झूम रही है, आकाश झूम रहा है। मादल का स्वर, वंशी की धुन, युवतियो का गीत और पुरुषों की सीत्कार—सब कुछ मिलाकर मैं एक ऐसी दुनिया में था जहाँ कोई रूप न था। नृत्य-गीत, हास-विलास सब कुछ होते हुए भी अरूप और आकारहीन। मौलिक्खा मे मैंने उसी अरूपी की लीला को देखा था। मैं अनन्त-अतीत के उस पार खो गया था—वहाँ जहाँ सभ्यता के प्रकाश में मानव ने गोता नही लगाया था, जब वह प्रकृति के उन्मुक्त आंगन में बसता था। वही अरूप मेरी आँखों में बस गया था जहाँ रूप ने उसे कभी मुग्ध कर रखा था। मेरी एक-एक शिरा मे प्रवेश कर गया था वह अरूप। इन्द्रियों की सीमा के पार किसी दूसरी ही लोक-लीला में मैं तिरता चला जा रहा था। वहाँ कोई दूसरा ही था जो इस लीला का संचालन कर रहा था। यह वह नही, जिसे मैं अब तक देखता आ रहा था। वहाँ मनुष्य निर्मित कोई नियम-बन्धन नही, जगत् के अचूक नियमों और अमोघ

विधानों से बँधा वह प्राणी मात्र है।

ढाक का स्वर कब मन्द हो गया था, मुझे नहीं मालूम । कब प्रतिमा के संग प्रदक्षिणा शेष हुई और विसर्जन सम्पन्न हो गया ! कब दूर पहाड़ी की ओट में काँपता-थरथराता सूरज का रक्तिम गोला डूब गया और आकाश में तिरछी लाली क्रमशः साँवली पड़ने लगी ! मुझे इतना ही पता था कि इधर-उधर कई मशालें जल उठी है और इनको केन्द्र कर नृत्य-गीत जारी हैं। मादल का स्वर और वंशी की तान के बीच मैंने पाया था कि मौलिक्खा के मन्दिर की दीवारों पर अंकित पौराणिक गन्धर्व और अप्सराएँ भी उनकी लय और धुन पर थिरक रही हैं। उनकी सुडौल देह का अंग-प्रत्यंग नाच रहा है। उनके पीन उद्धत वक्ष, उनकी कटि और अंग-अंग में कामना की हिल्लोल तरंगित हो उठी है। सभी नाच रहे हैं। सब कुछ नृत्यमय—रागमय—गतिमय।

मैं धीरे-धीरे अपनी रही-सही चेतना भी खो बैठा था। मंगल उत्सव की उस पवित्रता में सारा अहंकार गल गया था। यहाँ किस बात का अहंकार ? मेरी आँखों के सामने से ही कोई सभ्यता की गठरी उठा ले भागा था। और मैंने पाया, सारी प्रकृति निरावरण है—उन्मुक्त, कुण्ठाहीन और वर्जनाहीन। वहाँ मानव-सन्तान पहली बार अमृत-पान के लिए चीख रही थी—अमृतभाण्ड-रूपी आकाश-तले सृष्टि की उस आदिम वेला में सभी मुक्त थे—धरती की तरह। निर्वस्त्र पुरुष ने भी सृष्टि-प्रक्रिया के आवेग में प्रकृति के अधरों पर प्रगाढ़ चुम्बनों की झड़ी लगा दी थी। सृष्टि-सरचना के लिए ही धरती की छाती पर कृषि-कार्य आरम्भ हुआ—यही मनुष्य के सुख का श्रम था।

उस झुटपुटे अँधेरे में नग्न प्रकृति की छाती पर नग्न आदिम मानव-मानवी हैं। एक नहीं, ऐसे एकाधिक – शताधिक प्रेमी युगल हैं 'लीला करे दुहुँ...दोहाँ कुहरे सीत्कारे'...वहाँ हास्य था, झंकार थी, आकर्षण था, आलिंगन था। यहाँ भी रूपी नहीं, वही अरूपी था जो मेरी दृष्टि सीमा से परे मुझे असीम की ओर ले उड़ा था और मैं अचेतन की चेतना में डूब गया था। मौलिक्खा के प्रांगण में, उस निबिड़ अन्धकार में, सृष्टि की नग्न-लीला संपादित हो रही थी। यही पुरुष प्रकृति का आत्म-निवेदन था - परस्पर आत्म-दान। जिसने जिसको चाहा, उसे निकट पाकर इस मिलन उत्सव में निमग्न था।

ओ मनुष्य ! उत्सव-अनुष्ठान इसलिए हैं कि धरती उर्वरा हो—यही तुम्हारी पूजा है। पूजा के समस्त आचार-अनुष्ठान, सारे कृत्य सृष्टि की प्रक्रिया मात्र हैं, चाहे वह वृष्टिधारा हो या बीजवपन, या फिर धरती के भीतर प्रवेश कर आनन्दपूर्ण श्रम की सार्थकता। आदिम कामना यही है कि हे धरित्री, तू गर्भवती हो और शस्य प्रदान कर। तू जिस प्रकार फलवती हो, पुष्पवती हो तदनुरूप हमारा अनुष्ठान हो, आचरण हो, और मैं सन्तान उत्पन्न करने में

सक्षम होऊँ।

ऊपर अनन्त आकाश फैला था और नीचे इस महामिलन का विराट लीला-अनुष्ठान। मौलिक्खा मन्दिर की दीवारों पर पौराणिक नर-नारी भी इसी अनुष्ठान में लिप्त थे। सभी वही आदिम प्रार्थना दोहरा रहे थे।

कितनी देर मैं वहाँ खड़ा रहा, नहीं जानता। अपने दोनों हाथ सीने पर रखे मैं अपने उसी अपरिचित के सधान में लगा हुआ था। बलिपशु के चीत्कार मे और ढाक की गूँज में बंदी महाकाल भी अब महावेग बनकर भाग चला। सारी सृष्टि उसके रथ की रस्सी में बँधी, उसकी गति से आबद्ध थी।

"अरे, तू यहाँ बैठा है बेटा !-सभी तुम्हें ढूँढ रहे है। चलो, घर चलो।"

बड़े राय ने आगे बढ़कर मेरा हाथ थाम लिया था। उनके स्पर्श से भी मेरी चेतना शून्य से वापस नही लौटी थी। मैं अनायास उनके साथ-साथ गाँव लौटने लगा था। उस गहन अन्धकार मे मौलिक्खा के प्रांगण मे कोई ज्वार-सा उठ रहा था जिसमें अदृष्ट उतरा रहा था। उसके प्रागण में नक्षत्र झिलमिला रहे थे।

बड़े राय ने मुझसे कुछ भी नही पूछा। सारा गाँव मरघट की भाँति स्तब्ध, शान्त था। शायद मेरा अन्तर ही एकदम ख़ाली हो चुका था। बड़े राय ने कही भी मेरा हाथ नही छोड़ा और सीधे घर लिवा लाये थे। सुशी बाती जलाकर मेरी अगवानी मे चुपचाप खड़ी थी, मेरी ओर टकटकी लगाये। मैंने उसकी आँखों में जिज्ञासा देखी। बड़े राय ने उसे उसी पिछवाड़ेवाले कमरे तक बाती पहुँचाने का आदेश दिया और मुझसे कहा, "तुम थोड़ी देर आराम कर लो !"

सुशी ने पुकारा, "आइए !"

मैंने किसी छाया की तरह उसका पीछा किया। गोविन्द अपनी धीर-गंभीर लेकिन भारी आवाज़ में गा रहा था—

'माँ तूने मुझे अभय नही दिया
तू कैसे बन गयी जगदम्बा
हर की अंगना बनकर मेरा क्या किया...'

"लीजिये, महाशय बोलपुर आ गया।"

मैंने चौंककर देखा, वहाँ मलूटी नहीं, रेलगाड़ी थी—बोलपुर स्टेशन पर खड़ी। सामने अतुलदास का चेहरा। 'बगाल की गद्दी' का सिराजुद्दौला। रेल का क्लीनर। स्टेशन पर लोगों का सागर उमड़ा हुआ था। सभी छातिमतला के यात्री थे।

रेलगाड़ी के लगभग सभी यात्री डब्बे खाली कर नीचे उतर आये। सबको बोलपुर ही जाना था—वही गन्तव्य था। मैं भी अपना थैला वगैरह लिये नीचे उतर आया और बाहरी फाटक की ओर बढ़ चला। मेरे मन पर मलूटी का सम्मोहन अब भी छाया हुआ था। राढ़ का वह प्रथम कीर्तन मेरे कानों में बार-बार गूंज रहा था। आँखों के सामने मौलिक्खा का खुला प्रांगण, नशीली शाम, और वह झुटपुटा जहाँ अरूप लीला में नर-नारियों की जीवन्त मिथुन मूर्तियाँ केलि-क्रीडारत थीं।

उसके बाद भी मैं कई बार मलूटी गया था। सब कुछ बार-बार देख आया था, लेकिन प्रथम अनुभव से उसकी कोई तुलना नहीं। जो पहली बार देखा था वह कोई स्वप्न था। देखा था या नहीं, सच था या झूठ! यह सब कुछ विस्मय और आवेग से भरा था और आज भी सत्य की तरह प्रतीत हो रहा था।

"उधर नहीं, इधर से आइये। पुल पारकर उस ओर जाना होगा।" सिराजुद्दौला मेरे साथ था। न तो वह भीड़ में गुम हुआ, न ही मुझे छोड़कर कहीं चला गया। बल्कि मेरी ओर हाथ बढ़ाते हुए उसने कहा, "लाइए, दीजिए न, मैं भी कुछ ले चलूं!"

यह भी कोई बात हुई? मेरे हाथों में और कंधे पर बोझ था। यह सारा बोझ मेरा ही था। कोई कुली न मिलने पर तो खुद ही ढोना पड़ता। मैं सिराज की पीठ पर इसे कैसे लाद सकता था?

मैंने कहा, "नहीं, आप चलिए। सब ठीक है। कोई मिल जाये...।"

अतुलदास क्लीनर उर्फ़ सिराज ने हँसकर कहा, "कुली-वुली सब मेले में हैं। आप देख ही रहे हैं, कितने यात्री हैं। उस पार कलकत्ते से भी गाड़ी आनेवाली है। लाइए, दीजिए न कुछ सामान!"

अब कोई कुछ न दे तो इसी तरह लपकना पड़ता है। उसने अपना एक हाथ अपने मोटे अँगरखे की जेब में डाल रखा था। जेब भी हाथ भर लम्बी। उसने एक कंघी निकाली और अपने घुंघराले बालों को सुलझाकर मेरे हाथ से झोला लपक लिया और पटरी के ऊपरवाले पुल की सीढ़ियों पर अपना पाँव बढ़ा दिया। पास ही, घेरे के उस पार से रिक्शावाले चिल्ला रहे थे। हमें अभी उनकी जरूरत न थी। हमें तो उस पार जाना था पहले।

झोला सौंपकर मुझे काफ़ी राहत मिली, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। उधर कलकत्ते से आनेवाली रेलगाड़ी भी आ चुकी थी। इस कारण भी इतनी भीड़ जमा हो गयी थी। अतुलदास का स्वर अब कुछ नरम पड़ चुका था और हँसी भी बदल गयी थी। पुल पर आने-जानेवालों का ताँता लगा था। उनके बीच उसने कहा, "देखिए सर, मनुष्य का धर्म है कि दूसरों के कुछ काम आये... है कि नहीं?"

"हाँ, सो तो है।"

"अब अगर आपकी पेटी मैंने उठा ली तो मेरे हाथ में कोई फफोले तो नहीं पड़ जायेंगे !"

तभी धर्म-कर्म की बातें सूझी थीं। सर तो सकोच में डूब गये थे। और अगर किसी तरह के संकोच में न भी पड़ते तो जहाँ गोते लगाकर या फिर आड़े-तिरछे होकर भीड़ से गुजरना पड़ रहा था वहाँ धर्म-पालन के किसी दृष्टान्त पर ध्यान देना बड़ा कठिन था। इस कठिनाई के बीच फिर सुनना पड़ा, "समय पड़ने पर आपकी मदद मैं करूँ, मेरी मदद आप करें...क्यों, ठीक है न ?"

ठीक ही कहा था उसने। फिर भी अतुलदास की तरह मेरी दृष्टि उदार न थी। हाथ बढ़ाकर दूसरे के हाथ का बोझ उठा लूँ, ऐसा आग्रह न था। मैंने लम्बे कोट वाले सिराज की ओर देखा। वह लम्बे-लम्बे डग भरे जा रहा था। उसकी चाल देख मेरे होंठों पर अनायास मुसकान दौड़ गई। उसकी लम्बी सीधी गर्दन देखकर लगता था जैसे बादशाह सलामत दरबार में तशरीफ़ ला रहे हों।

वह आगे भी कुछ कहनेवाला था कि किसी की आवाज़ सुनायी पड़ी, "अतुल ...इसी गाड़ी से आ रहे हो ?"

सीढ़ी के उस पार रेलिंग के किनारे ढेर सारे लोग जमा थे और हाथ बढ़ा-बढ़ाकर पुकार रहे थे, "रिक्शा चाहिए बाबू ? हाँ बाबू...मैंने पहले कहा है... मैंने !"

इसी भीड़ से किसी ने अतुल को हाँक लगायी थी। सुनकर अतुलदास का चेहरा खिल उठा। उसके परिचित को मैंने भी देखा, वीरभूम के किसी छोटे-से क़स्बे का एक मजूर—मेहनत करके पेट भरनेवाला। देह पर एक कमीज़ और सीने के बटन खुले हुए। ठण्ड नहीं लगती होगी शायद ! नीचे घुटने तक ऊपर उठी धोती। वह अपने मित्र को देखकर ही बहुत खुश हो रहा था। लेकिन अतुलदास वैसा नहीं। उसकी हँसी में अजीब-सा पैनापन था—एक तरह का दरबारीपन। उसने अपना कन्धा उचकाकर बता दिया कि वह अतुल ही है और इसी गाड़ी से आ रहा है। फिर दूर कहीं आवाज़ लगाकर उसने पूछा, "निताई, तू गाड़ी लाया है न ?"

"हाँ" निताई ने जवाब दिया।

इसके पहले ही रिक्शाचालकों की भीड़ में से किसी ने मज़ाक भरे लहज़े में पूछा, "क्यों, तू चलेगा ?"

उसके इस सवाल के साथ ही, दो-चार चालकों ने खासी चुटकी ली। सारी भीड़ तमाशाई की तरह खड़ी थी जैसे। लेकिन अतुलदास को बेवकूफ़ बनाना आसान नहीं। हज़ारों दर्शकों के बीच रंग-मंच नायक की भूमिका निबाहनेवाले को ऐसी दो-चार टिप्पस से ज़मीन नहीं दिखायी जा सकती। उसने जवाब दिया,

"नहीं, ये सज्जन जायेंगे।"

उसने गर्दन मोड़कर मेरी तरफ़ संकेत किया और मेरा झोला उसकी ओर बढ़ा दिया। और फिर मेरे कन्धे पर रखे बैग की तरफ़ हाथ बढ़ाकर कहा, "दीजिये न सर, मैं उसे रखने को दे दूँ!"

सामने की भीड़ से निताई का हाथ आगे बढ़ आया। उसकी तरफ मेरी अटैची बढ़ाते हुए अतुल बोला, "निताई, ले पकड़ इसे! बाबू को अच्छी तरह पहुँचा देना।"

मेरे नागर कुटिल मन में विचार आया, मैं अपना सारा सामान किसे दिये दे रहा हूँ? पता नहीं, कौन है यह? जाने-बूझे बिना, थाती न लुटा बैठूँ! मैंने पूछ लिया, "उसका रिक्शा कहाँ है?"

अतुलदास अनायास ही हँस पड़ा, "है। बाहर भीड़ में। दे दीजिए न!"

मेरे तत्पर होने के पहले ही उसने मेरा सामान लपककर निताई की ओर बढ़ा दिया। तभी किसी की आवाज आयी, "निताई की किस्मत अच्छी है, अतुल ने उसे पसिंजर दिला दिया। अरे, हमारे लिए भी तो एकाध लिये आते!"

मैंने मन-ही-मन उनकी बेअदबी की दुहाई दी थी, लेकिन वह तो उसकी चुटकी थी, कोई कटूक्ति नहीं। जो सहृदय होंगे, उन्हें यह सब अच्छा ही लगेगा। उसमें जितनी कड़वाहट थी, उतनी ही मिठास थी। अतुलदास ने हँसकर टाल दिया, "कितने चाहिए...ले ले न। पैसेंजर ही पैसेंजर हैं। मुझे जुटाने नहीं पड़ेंगे।"

अतुल को नीचा दिखाना बड़ा मुश्किल है। बात आयी-गयी हो गयी। लोगों की रेल-पेल और धक्के से बचता सीढ़ी के नीचे तक उतर आया। दोनों ओर से भीड़ का दबाव। कहाँ जाओगे बाबू? ज़रा रुको! इसका नाम है छातिमतला का मेला।

लेकिन इस मेले के यात्री बड़े ही विचित्र दीख पड़े। और भी मेला देखे थे, लेकिन यहाँ का मेला कुछ दूसरा ही था। नगर-नागरी यात्री ऐसे इकट्ठे कहीं नहीं दीखे। सामने की सड़क का नाम चौरंगी। वही जो कलकत्ते के गले का हार है। सारे यात्री यहाँ उसी हार के बिखरे हुए हीरे-जवाहरात और मणि-माणिक्य थे। अंग्रेजी एवं बंगाली शैली में ढले लोगों की भीड़। सिर पर टोपी, मुँह में चुरुट और पैंट-पतलून की नुमाइश। कइयों के गले में टाइयों की रंगारंग बहार। साथ ही, देशी धोती, चादर और कुरते, चोगे और चपकन। मुँह में पाइप, होंठों पर खास मुसकराहट और देशी-विदेशी भाषा में चबा-चबाकर की जा रही बातें।

यात्रियों में केवल पुरुष ही नहीं, महिलाएँ भी थीं। रंगों की प्रदर्शनी: मीनार की तरह ऊँचे जूड़े या फिर माँ काली की तरह कन्धों पर बिखरे केश, जो हवा

के झोंकों के साथ लहरा उठते। दुग्ध-धवल साड़ियाँ। गरम कपड़े की कुरती जिन पर सुन्दर अलंकरण और कढ़े हुए बेल-बूटे। कजराई काली आँखोवाली बिम्बोष्ठा बालाएँ। सब कुछ अनूठा, रंगभरा। सभी छातिमतला की ओर जा रहे है। पता नही, यह मेला कैसा होगा ?

भीड़ में स्थानीय नर-नारी भी थे। आस-पास के दस-बीस स्टेशनों से चले आ रहे थे। इनमे गृहस्थ भी थे और खेतिहर-मजूर भी। सात पौष के एक दिन पहले ही ये प्रवासी यात्रियों को देख-देखकर कौतूहल मे भरे जा रहे थे। मेला-दर्शन के पहले ही इनकी झाँकी का आनन्द ले रहे थे।

इसी भीड़ में कितने ही तो दुकानदार थे। कोई वर्दमान से आ रहा था तो कोई सिउड़ी से। सभी व्यस्त। किसी के पास समय नही। अपनी बिसात फैलाकर बैठने के लिए कोई छोटी-सी जगह भी तो चाहिए उन्हे।

आस-पास जोगिया धारे कुछ-एक साधु भी थे, गले मे एक-इकतारा, दो-तारा टँगे हुए। किसी के सिर पर रगीन पगड़ी तो किसी के सिर जूड़ा। ये वैष्णव थे या बाउल, कौन जाने ! मुझे गाज़ी की याद आ गयी। गेरुए रंग की साड़ी पहने दो-एक 'पिकिति' भी दीख गयी। भीड़ मे सथाली और आदिवासी भी थे।

स्टेशन की सीढ़ियाँ और फिर बरामदा पार कर मैं किसी तरह बाहर निकल आया। अतुलदास मेरा हाथ थामे हुए था। वह मुझे भीड़ से बाहर निकाल लाया था। मैंने निताई को देखना चाहा। उसके पास मेरा सारा सामान था। लेकिन मेरी दृष्टि पड़ने से पहले ही उसने आवाज़ दी: "यहाँ...अतुल, मैं यहाँ हूँ।"

अतुलदास ने मुझसे पूछा, "आप किसके घर जायेंगे ?"

मैंने अपने मित्र का नाम बताया ही था कि निताई बोल उठा, "बस, अब आगे कुछ बताने की ज़रूरत नही। आप आइये। मैं उनको अच्छी तरह जानता हूँ !"

मैं रिक्शे पर बैठ गया। अतुलदास ने उससे कहा, "भाड़ा ठीक-ठीक लेना निताई।"

"वह तुझे कहना न होगा। बाबू मेला देखने आये हैं, मेले में जो मिलता है, वही देंगे।" कहते हुए निताई ने हँस दिया।

अतुल ने भी हँसते हुए कहा, "अच्छा तो सर, तय रहा ! ज़रूर आइयेगा मगलवार को हमारी जात्रा में।"

"हाँ, ज़रूर आऊँगा।"

निताई रिक्शा खींचने लगा। अतुल ने अपने अँगरखे की लम्बी आस्तीन के साथ अपना हाथ उठाकर मुझे विदा किया। ऊबड़-खाबड़ चेहरा और धँसी

हुई आँखोंवाला सिराजुद्दौला, मुझे धूल से अटा एक अँगरखा पहने एक बाउल ही प्रतीत हुआ। उसकी हँसी, उसकी बातचीत और उसकी आँखों में भी किसी की तलाश थी : एक ऐसी अकुलाहट, जो किसी गीत की कड़ी में छुपी रहती है। मैं नहीं जानता यह उस क्लीनर के जीवन की बेबसी थी या किसी कलाकार का हाहाकार...। कुल मिलाकर, मन-प्राण को उदास करनेवाली गहरी उसाँस...। इतना साहस नहीं कि उस पर कृपा करूँ। लेकिन ममत्व जताने में तो कोई कठिनाई न थी। लगा, मैं कितना अकिंचन हूँ...किसी के लिए कुछ नहीं कर पाता। इसीलिए केवल कन्धे उचकाकर रह गया।

अतुलदास ओझल हो गया था—रिक्शों की भीड़ के पीछे।

इसे रिक्शों का जुलूस कहना ही उपयुक्त होगा। आगे-पीछे अनगिनत रिक्शे...बोलपुर शहर के दूसरे वाहन भी थे—बस, कार, बैलगाड़ियाँ। भैंसा-गाड़ी भी। खरीद-फ़रोख्त का बाजार काफ़ी बड़ा था। दूर-दराज के लोग यहाँ आते-जाते रहते होंगे।

हम धीरे-धीरे आगे बढ़े। उत्तर की तरफ़ अधिक खुलापन था। शहरी ढंग के घर-मकान थे। सिनेमा-हॉल भी। लाल माटी के इर्द-गिर्द वेणुवन और दूसरे पेड़-पौधे। सड़क के दोनों ओर मिट्टी के कच्चे घर, खुले मैदान और तालाब। दायें पूर्वपल्ली की ओर मेले की तैयारियाँ। अस्थायी फूस के घर, बेड़े और रंगीन शामियाने। क़नातों से घिरे बड़े-बड़े पण्डालों में न जाने क्या कुछ हो रहा था! वहाँ कोई खेल-तमाशा नहीं था, शिल्प का संसार था। जादू का खेल, साँप, पशु-पक्षियों के कारनामे, लाउडस्पीकरों की आवाज़ और फ़िल्मी गानों की धुनें चल रही थीं। नीले आसमान पर नागरजन दोले झूल रहे थे। शोरगुल के ही बीच ताड़ के पत्ते से बनी बाँसुरी भी बज रही थी। रिक्शा बायीं ओर मुड़ गया और लोहे के एक फाटक के अन्दर दाखिल हो गया। साथ ही रंग ही नहीं, सारे भाव बदल गये। मेरे अन्तर का स्वर-ताल सब बदल गया। आँखें चमक उठीं। गहन हरीतिमा का परिवेश स्वप्नवत् जान पड़ा। लाल पथ के दोनों ओर पेड़ों की गहरी छाया। धूप ढल रही थी...। आम, जामुन, शाल और जमरूल के पेड़ों का परस्पर मेल-भाव कुछ अद्भुत एवं रमणीय हो उठा था।

मैंने कई वन-उपवनों की शोभा देखी है, उनके अलग-अलग रूप भी देखे हैं, लेकिन बायीं तरफ़ मुड़ते ही छातिमतला के परिवेश में मुझे लगा, मैं एक स्वप्न-राज्य में प्रवेश कर गया हूँ। सब कुछ अपने ही रहस्य में डूबा हुआ। आस-पास फैले आँवले के छतनार पत्तों को मैं पहचान गया। यहाँ मेले का कोलाहल न था, न लोगों की वैसी भीड़ ही। शीतकाल की इस असाधारण वेला में अचानक केकाध्वनि सुनायी पड़ी। क्या यह सचमुच ही कोई रहस्य-

लोक था ? पंछी चहक रहे थे। इस सुखद शीतकाल में कौन-सा पछी था वह, जो सीटी बजा रहा था ! इतनी देर तक धूल और धुएँ की बू के बाद, साँस-साँस में अपूर्व सुगन्ध बसती जा रही थी । इस अपूर्व प्राकृतिक सुगन्ध से मेरी नस-नस में एक प्रकार का उन्माद छा गया था।

जहाँ रास्ता आगे जाकर मुड़ गया था, वहाँ पेडों की छाया और भी गहरा गयी थी। साथ ही, प्राकृतिक सुषमा और सुरभि बिखर गयी थी। कामिनी और मौलश्री के अनफूले पेड़ और ठण्ड के कारण सारा असमुकुलित वन-प्रान्तर सिहर-सिहरकर पुकार उठा था, "माघ के आगमन के पूर्व ही मुग्ध मन यह कौन आ रहा है ! वह तुम हो शायद !"

मैं नहीं जानता, साधक की साधना-भूमि और रसिक की लीलास्थली में मेरा हृदय क्यों नाच उठा था ? वह मुसकान, जो होंठों पर बिछल रही थी अपने आप में जीवन-भर की व्यथा को मुखर कर रही थी।

छातिमतला के दीक्षा-पर्व पर आयोजित मेले को देखने के इस आगमन के साथ ही, मुझे इसका पूर्व सकेत मिला कि यह पेड़-पौधों, वन, वीथी, आकाश, रगभरी धरती, घनी छाया, पंछियों की तान—कुल मिलाकर यह प्रकृति का मेला है। इसी सम्पदा को पाकर ऋषि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इस स्थान का चयन किया होगा। मैं सहज ही समझ गया कि यहाँ उन्होंने सन्ध्या-प्रार्थना क्यों की होगी और किसके प्रति अपना नमस्कार प्रेषित किया होगा, उनके अन्तर से उच्चरित हुआ होगा, "आनन्दम् अनन्तम् शुभम्।" इसी प्रकृति के मध्य उन्हें निरवयव, निर्विकार सत्य की अनुभूति हुई होगी। ये पत्ते किस सुचिक्कन उल्लास में थे ! ऋषि के 'नित्य' 'सर्वव्यापी' किस फूल में विराज रहे थे ! इसी आकाश में उनका 'अनन्त स्वरूप' व्याप्त था जहाँ सारे तर्क थोथे हो जाते हैं, युक्तियाँ चुक जाती हैं, सारी व्याख्या असीम मे खो जाती है। क्या यही वह अवस्थान है, जहाँ पहुँचकर यह ज्ञान होता है : 'जिन प्रेमरस चाखा नहीं, अमृत पिया तो क्या हुआ ?' यहाँ उसी की प्रेम-वन्दना की गयी है और जब ऋषि इस प्रेम की दुहाई देते हैं, तब वे क्या वही 'महर्षि' रह पाते हैं ?

नहीं ! तब लगता है कि प्रेम से ही उस रसिया ने अपनी यात्रा शुरू की थी, इसलिए उसकी सारी सृष्टि प्रेममय है।

"बाबू ! यह रहा उनका घर !"

सामने ही बगीचा था। उसमें मौसमी फूल झूम रहे थे। बीच-बीच में घास थी। कहीं-कहीं लाल मोरम बिछी थी। माधवी-मण्डप और तगर का बेड़ा। जूही की लता के पास ही खिली चन्द्रमुखी। जामुन के पेड़ की छाया आम की छाँव में और भी गहरा गयी थी। मैं जबतक अपने मित्र को पुकारता, वे स्वयं उपस्थित हो गये। वे शान्तिनिकेतन में ही काम करते थे। इस समय, किसी

एकान्त कोने में, पेड़ों की घनी छाया में, कहीं बैठकर कुछ गुनते कि सारा गुड़-गोबर हो गया। वहाँ मैं ही अकेला न था। दरवाज़ा खुला तो देखा, सारा घर यात्रियों से भरा था। मुझे देखते ही सभी एक साथ पुकार उठे, "आइये...आइये !" मानो वर्षों की जान-पहचान हो।

मेरे मित्र की पत्नी भीतर से आयी और मधुर भाव से बोली, "अन्दर चले आइये।"

इस एक क्षण में लगा कि मेला जम गया है—हर जगह, यहाँ-वहाँ, वन में, मन में और उपवन-स्थित इस निकेतन में भी।

मैं अन्दर चला आया।

इस बन्धु-निकेतन के जमे-जमाये माहौल में मैं भूख-प्यास सब कुछ भूल गया। आराम की कौन कहे ! वहाँ केवल मेरी तरह बाहर से आये यात्री ही नहीं थे। ऐसे युवक-युवतियों की भरमार भी थी जो इस वर्ष स्नातक हो चुके थे। ऐसे भी थे जो आश्रम की शिक्षा-दीक्षा पूरी कर यहाँ से विदा लेकर, जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में जा रहे थे। ये सभी मेरे मित्र और उनकी पत्नी से इस बीच काफी घुल-मिल गये थे। मेरे मित्र किसी दफ़्तर में थे और उनकी पत्नी एक शिल्प-केन्द्र में। मात्र इसी कारण इनका परिचय इतना प्रगाढ़ न था, बल्कि स्वभावतः ही प्रेम-प्रीति थी, स्नेह का सम्बन्ध था। इस विदा-बेला में यह सम्बन्ध जितना गहरा उठा था, उतना ही कष्टकर भी था।

इसी घिरती हुई साँझ में, पौष की छठी तिथि में कोई किसी से विदा लेने नहीं आया। यह विदा की पूर्व-सन्ध्या थी। उनके गीत, उनकी बातचीत में केवल स्मृति-चारण था। अनेक दिनों की अनेक बातें। मैं एक अपरिचित की हैसियत से उनके सुख-दुख की बातें सुन रहा था। कब किस वनभोज के अवसर पर वह मज़ेदार घटना घटी थी, कब कोपाई नदी की कलकल धारा के साथ किसी शाम घूमने में इतना आनन्द आया था, कंकाली घाट और अजय नदी पार करते समय कैसी विपदा आयी थी—ऐसी ही कितनी बातें। स्मृतिचारण नहीं, यहाँ जैसे स्मरण-उत्सव मनाया जा रहा था।

इसी समय, उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त पर स्थित पंजाब की एक लड़की से उसके सभी सहपाठियों ने एक गीत गाने का आग्रह किया तो उसने रवीन्द्र-संगीत से सबको मुग्ध और चमत्कृत कर दिया—

यदि तुमसे कभी कहीं दूर चली जाऊँ
तो यादों में बसा रखना

कहाँ पाऊँ उसे

प्रेम पुरातन नये राग में ढँक जाये
तो अपने में छुपा रखना

मैं सचमुच अवाक् था। गोरी युवती—तीखी नाक, बड़ी-बड़ी नीली आँखें लहराती केश-राशि, मेंहदी के रंग-जैसी। यह ठीक था कि वह लड़की बंगाल की नहीं, लेकिन उसके गान-स्वर और उच्चारण से यह पता लगाना मुश्किल था कि वह किस प्रान्त की है। उस समय मेरे मन में कोई अरूपी पुकार उठा था। रूप चाहे जो भी हो, अरूप में उसकी ही लीला खेल रही थी। मेरी अन्तर्दृष्टि यही बता रही थी कि इस वाला का सारा संस्कार बंगाल का ही है। जन्म भी यहीं हुआ है। इसीलिए वह सीमातीत है ..असीम।

लेकिन सारी बातें इस गीत से ही पूरी नहीं हो सकती, इसलिए गीत समाप्त हो गया था। सारा स्वर हृदय के पास ही रुंधा रहा। सबकी आँखें छलछला उठीं। रुदन ने गीत को मानो अपहृत कर लिया था। विदा होनेवाले दूसरे छात्रों की स्थिति भी ऐसी ही थी। सभी स्तब्ध और चुप...

मेरे मित्र ने मुस्कराकर कहा, "अरे यह क्या? इतने अच्छे गीत की मिट्टी खराब कर दी। और फिर यहाँ से कोई भाग थोड़े रहा है! जब जी चाहे, हम मिल सकते हैं।" और फिर हँसने लगे।

उनकी यह हँसी बड़ी सूखी थी। उन्होंने अपनी पत्नी को निहारा : वहाँ भी कोई तरलता न थी, विषाद की गहरी छायाभर थी।

उस छाया को लाँघती हुई वे आयीं और उसके सिर पर हाथ फेरने लगीं। पहले तो उन्होंने अपना मुँह फुलाया और फिर धमकाती हुई बोलीं, 'कैसी पगली लड़की है बाबा! इस तरह रोयी-धोयी तो मैं नाराज हो जाऊँगी, हाँ। चलो आँखें पोंछो और गीत गाओ! मैं अभी आयी।"

वे पर्दा उठाकर पासवाले कमरे में चली गयीं। हाँ—हाँ, जल्दी चली जाइये, नहीं तो आपकी आँखों के आँसू पकड़ लिये जायेंगे। फिर आपके पागलपन को कौन देखेगा, और कौन है जो आप पर गुस्सा करेगा?

लेकिन फिर वह समा बँध नहीं पाया। संभव भी न था। इसलिए सारी टुकड़ी ने दूसरा ही गीत गुनगुनाना शुरू कर दिया।

घर के स्वामी अतिथि-सत्कार में व्यस्त हो गये। दिन ढल रहा था, इसलिए अब नहाना-धोना और आराम करना भी आवश्यक था। अपने मित्र के संकेतानुसार मैं घर के कोने में ही स्नानघर की ओर बढ़ गया।

वहाँ दूसरे कमरे से आती हुई हँसी और चुहलें सुनता रहा। लेकिन रुँधे गले में घुटते हुए गीतवाली एक छोटी-सी घटना मैं अबतक नहीं भूल पाया था। सम्भवतः इस आश्रम में, वे सब रोते-धोते आये थे और आज भी वही स्थिति थी। आते समय उन्हें निर्वासन, अपरिचय, भय और संशय का बोध हुआ

होगा। और आज, यहाँ से जाते हुए, न जाने कितनी स्मृतियाँ तिर उठी होंगी—कितने चेहरे, अच्छे-बुरे दिन और प्रकृति की विचित्र शोभा...मनोहर लीला। मैं अभी-अभी कुछेक क्षणों के लिए उस प्रकृति की सुषमा छातिमतला के निकट तक देख आया था।

यहाँ क्या केवल अध्ययन या शिक्षण ही महत्त्वपूर्ण है, या और भी कुछ? यहाँ किसी नये जन्म, इतिहास अथवा मन-प्राण की सृष्टि नहीं होती? अवश्य होती है और उसके साथ ही कितने घरों, लोगों और वन-प्रान्तरों की स्मृतियाँ जुड़ी रहती हैं।

हो सकता है, आज शान्तिनिकेतन के हर-एक घर में इसी पूर्वाध्याय का मचन सम्पन्न हो रहा हो। एक को देखकर ही अनेक को पहचाना जाता है। मेला देखे का ही नहीं, अनदेखे का भी—अलक्ष्य का भी—उत्सव था। छातिमतला के मेले में एक दूसरा ही मेला।

स्नान-भोजन से निवृत्त होने पर भी आराम करने की कोई इच्छा नहीं थी। थकान ही नहीं थी तो आराम कैसा?

मित्र ने पूछा, "घर में या बाहर...कहाँ?"

मैंने कहा, "चहलपहल तो बाहर ही है।"

"मैं भी यही कहना चाहता था। अभी थोड़ा समय बचा है, चलिये बाहर घूमने चलें। आप यहाँ के गुनीजनों से मिलना चाहते थे। इस समय तो सभी व्यस्त होंगे। फिर भी, चलिए तो सही, बहुतों के दर्शन हो जायेंगे।"

ऐसे उत्साही मित्र को पाकर किसका उत्साह नहीं बढ़ता। दूसरे ही क्षण हम बाहर थे। पाँव बाहर रखते ही सारा परिवेश बदला हुआ लगा। इस नये रंग में मन कहीं दूर खो गया। शीतकाल की सुनहली शाम और शान्तिनिकेतन पर झुक आयी उस सिन्दूरी छाया का विवरण मैं नहीं दे सकता। छाया में कोई-न-कोई रहस्य तो होता ही है, लेकिन इस प्रकाश में भी कोई रहस्य तो होगा ही। यह मैं पहली बार अनुभव कर रहा था। सब कुछ कंचन सदृश हो उठा था। शाल के पत्ते-पत्ते साँवई हो चुके थे। अब उनके विदा होने, टूटकर बिखर जाने की घड़ी आ गयी थी। गुलाब-चम्पा की नंगी पत्रहीन डालियाँ सोने की लता-सी चमक रही थीं। जामुन और आँवले के साथ-साथ सोनचम्पा के पत्ते-पत्ते पर ठहरी सुनहली आभा विदा होने के पूर्व सोने के सिक्के लुटा रही थी। छातिमतला, शान्तिनिकेतन की पूर्व सन्ध्या—यह अपूर्व सन्ध्या!

मित्र ने बताया, इसके पास ही पियर्सन पल्ली और एण्ड्रूज पल्ली है। और ये रहे चीन-भवन और हिन्दी-भवन।

मैं सोच रहा था, जब उस रसिक के मानस में राजहंस ने पर खोले होंगे तब यह फाल्गुनी हवा कैसी झूम उठी होगी। उस स्वप्न ने जिस विराट कर्मयज्ञ

कहाँ पाएँ...

की साधना के अधीन रूप ग्रहण किया था, उसका नाम है विश्वभारती। एक नये युग के सूत्रपात की मंगलध्वनि हुई थी उस दिन। उस रसिक ने चाहा था, वह महासागर तक जायेगा प्रकृति की नौका लेकर, जहाँ सारी लीलाएँ एक-रूप हो जाती हैं। आज भी यहाँ उपस्थित होकर ऐसा लगता है, मानो मैं उसी महासागर के किनारे खड़ा हूँ। शान्तिनिकेतन, समस्त भारत और विश्व का मिलनस्थल है, और इसीलिए यह मेला है।

वहीं से एक रास्ता पूरब की ओर तो दूसरा पश्चिम की ओर मुड़ गया था। लाल-सी सड़क आगे मुड़ती हुई हरे-भरे खेतों में, जहाँ सुनहली धूप बरस रही थी, खो गयी थी। पूरब की ओर लोहे का फाटक था। मैं उधर से ही यहाँ आया था। उसके उस पार था यह मेला। वह अब जम रहा होगा।

रास्ता पार कर हम कई कुंजों, वीथियों के बीच से निकले। दोनों ओर आँवले के पेड़ों की कतारें थी। लाल बजरी पर बिखरे आँवले। मेरे मन में सहज ही ललक जगी और मैंने उन्हें उठा लिया। सामने ही अनेक रंग बिखेरता एक छोटा भवन दिखायी पड़ा। फाटक खोलकर अन्दर घुसे तो देखा, उस पर पक्की टालियाँ लगी है, दीवारों पर रंग-बिरंगे काँच लगे चौखटे हैं। लोहे के फ्रेम में कई तरह की शिल्पाकृतियाँ और अलंकरणपूर्ण सज्जा है। दीवार से ऊँचे उठते रथ की तरह एक शिखर आगे खड़ा है। मित्र ने बताया, यह 'उपासना मन्दिर' है।

हम 'छातिमतला' पहुँच गये। वहाँ एक पत्थर की वेदी थी। वहीं ध्यानी ने अपना आसन बिछाया था। उस पर मूल-मन्त्र उत्कीर्ण है। उसे सप्तपर्णी के दो बूढ़े पेड़ों ने घेर रखा है। शान्तिनिकेतन यहीं से आरम्भ हो जाता है। यहीं बैठकर 'पहले प्रेम, फिर अमृत-पान' की साधना शुरू हुई थी—ज्योति जगाने-वाले इसी द्वार से महासागर की प्रेम-यात्रा...

'छातिमतला' को घेरे सप्तपर्णी के पत्तों पर सोने का पानी चढ़ा था। उनकी छाँव में कौन क्या कह रहा है, मैं समझ न पाया। केवल पिक-कूक और कल-रव ही सुन पड़ रहा था। सभी समवेत स्वर में गा रहे थे। अचानक दो-एक सूखे पत्ते झरे। मेरी एक-एक नस झनझना उठी। निश्चल प्राणों में एक तरंग-सी दौड़ गयी। मैंने देखा, सामने ही एक धीर-गम्भीर साधक ध्यानमग्न हैं, लेकिन उनकी आँखें बन्द नहीं थी। उनमें विस्मय, मुग्ध भाव और आनन्द की हिलोर थी। सारी सृष्टि ने उस ऋषि के ध्यान में नया रूप ग्रहण कर लिया था।

'आम्रकुंज' पार करते हुए हम उसी पुरानी दोमंजिली ड्योढ़ी के सामने पहुँचे। तपोवन की उस पहली कुटिया के निकट, जो ऋषि का निवास था : लाल प्रांगण के बीचोंबीच कलाकार की अप्रतिम कृति। उत्तर में लाल मुरम बिछी हुई थी। दोनों ओर आँवले के पेड़ थे। वापस लौटते हुए मुझे लगा,

आम के पेड़ की एक मोटी-सी डाल जमीन पर आसन जमाये बैठी है—धरती पर लोटती मयूर की पूँछ की तरह। नजदीक जाने पर मैंने देखा, श्रीकृष्ण के सिर पर शोभित वह मोर सचमुच विद्यमान है और उसकी पूँछ धूल-धूसरित है। उसे कौन कुछ कह सकता है ?...अपनी पूँछ लिये चाहे जो करे ! उसकी आँखों में कोई भय या आतंक नहीं था, बल्कि उसने अपनी केकाध्वनि से हमें आह्लादित भी किया।

अब जाकर पता चला कि आश्रम में प्रवेश करते ही किनके स्वर ने मुझे चौंका दिया था। शीतकाल की सन्ध्या में ये वर्षा के लिए तपस्या कर रहे हैं। तभी तो यह लाल माटी भीगेगी, दूब-दूब पर वर्षा की फुहार पड़ेगी और श्यामल मेघ के बीच सौदामिनी चमकेगी। क्या मोर उसी दिन की सुधि में खोया था ?

यह भी समझ में आया कि वर्षा न हो तो भी पक्षी पुकारते हैं। मुझे छोटा-नागपुर में सारंगा के उस घने जगल की याद आ गयी, जब कड़कती ठण्डी रात में अलाव जलाये हम सारी रात केकाध्वनि सुनते रहे थे। वहाँ दिन मे भी, मोरों को निर्भय चलते-फिरते देखा था।

मेरे मित्र ने उन छोटी-छोटी कुटियों और घरों को भी दिखाया, जहाँ कभी मरमी—रसिया टिके थे, जो उनके रहने की जगहें नहीं, कर्म-स्थली थी। उन्होने पुराने दिनों की बातें बतायीं, जिन्हें उन्होंने किसी से सुना या फिर किताबों में पढा था। पहले थोड़ी-सी जगह जुटाकर ध्यानी ने सप्तपर्णी के इन्ही दोनों पेड़ो के इर्द-गिर्द आश्रम आरम्भ किया था। दक्षिण की ओर नीचू बँगला जिसके पार बड़ा-सा तालाब और उसके पार भुवनडांगा गाँव। तब वहाँ डाकू रहा करते थे। इतना अच्छा नाम और गाँव के सारे निवासी डाकू ! नाम से उलटा काम। ऐसे-वैसे डाकू नहीं। डाकुओं का सरदार लाठी हो या तलवार— दोनों को समान गति से चलाता था। घोड़े पर सवार होकर वह रात मे वर्दमान जाकर डकैती डालता और सुबह घर आकर सो रहता।

और भी कई आतकपूर्ण किस्से। और यह सरदार किसी डकैती के मामले में पकड़ा भी न जा सका। पकडा गया, उसी तपस्वी के हाथों। दस्यु कर्म की अपेक्षा उसे उनकी शरण मे कहीं अधिक आनन्द मिला। ऋषि के आदेश से उसने केवल डकैती ही नहीं छोड़ी, अपना सारा जीवन ही शान्तिनिकेतन के लिए समर्पित कर दिया। साथ ही, भुवनडांगा के सारे डाकू डकैती छोड़कर हल-बैल लिये खेतों मे उतर पड़े थे। डाकू तब किसान बन गये थे।

मित्र ने 'उत्तरायण' की 'श्यामली' से भी परिचित कराया। इसके आस-पास के उपवनों में कितनी ही कलाकृतियाँ बिखरी थीं। विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ, जिन्हें मैंने पहले कहीं नहीं देखा था। आकाश चूमने की क्षमता-

वाले पेड़ों को, बौना बनाकर गमलों में रख छोड़ा गया था। आम और अमरूद की टहनियां आपस में गुँथी हुई एक-दूसरे में खो गयी थी। इन्हें क्या कहा जाये आम...रूद। एक छोटी-सी कृत्रिम झील भी, जिसके चारों ओर वीथियाँ और कुंज थे। पास ही, एक और नया भवन था: 'रवीन्द्र विचित्रा'। उस रसिया की सारी सामग्री, व्यवहार में आनेवाली चीजें—दुर्लभ-संग्रह और वृत्तान्तादि सब यहाँ सुरक्षित है। मुझे आशा थी, मैं बाद में इन्हें देख पाऊँगा।

शाम ढल चुकी थी। सुनहली किरनें लौट चुकी थी। लाल माटी गाढे झुटपुटे में और भी लाल हो गयी थी। मैं वहाँ के गुणी-ज्ञानी कलाकारों के दर्शनार्थ निकला था, जो उस रसिया के स्थान में रहकर उनके संकल्प को चरितार्थ करने में लगे हुए थे।

सबके दर्शन हुए—चित्रकार, मूर्तिकार, शिक्षक, साहित्यिक, अभिनेता और गायक। जिनके भी घर गया, सबके यहाँ अतिथियों का जमघट। मेरे मित्र के घर की तरह ही घर-घर मेला।

उस दिन काफी रात हो चुकी थी। मेले का कार्यक्रम कल के लिए रख छोडा। रात बीतते ही 'छातिमतला' की यात्रा करनी थी। सबसे पहले उपासना—प्रार्थना, उसके बाद ही दूसरे कार्यक्रम।

सात'इ पौष। 'छातिमतला' में गम्भीर, ऊँचे स्वर में उच्चरित स्तोत्र-गायन के साथ सुबह का आयोजन आरम्भ हुआ। हल्की धूप फैली हुई। यह धूप सुबह और शामवाली नहीं। यह धूप शुभ्र कंचन की छटा है। शुद्ध सोने की छटा सप्तपर्णी से उतरकर दूर्वादल और लाल मुरम पर बिखर गयी है, आम्र और शाल-सागवन के पत्ते-पत्ते पर नाच रही है। छातिम (सप्तपर्णी) की छाया में वेदी है, जहाँ से स्तोत्र उच्चरित हो रहे हैं। इस स्वर-गाम्भीर्य में आँखो के आगे अतीत काल की स्मृतियाँ लहराने लगती हैं। तब इच्छा होती है—'छातिमतला' के गिर्द इतने सारे लोगों की भीड़ में अपनी आँखें मोड़ लूँ। अपनी आँखों को नीचे झुकाये रखूँ या एकदम ऊपर उठा लूँ—जहाँ से स्वर आ-आकर फैल रहा है। जी में आता ही नहीं बल्कि बोल उठता हूँ - 'फिरा दो हमें वह अरण्य।' क्यों किसी तपोवन का बिम्ब उभर उठता है? क्यों ऐसी इच्छा होती है कि एक बार वहाँ हो आऊँ, जहाँ वनस्पति की छाया में ऋषिगण उन मन्त्रों की आवृत्ति करते हैं, जो क्रमशः हरे-हरे पत्तों, धूप, आकाश और महाशून्य में जा पहुँचते हैं। दूर-दूर, किसान और चरवाहे—उसी स्वर को सुनकर, अपने उन ढोरों को लेकर चल पड़ते हैं, जिनके गले की

घण्टी दूर से बजती सुनायी पडती है। पक्षियों के कलरव से कानन की कुसुम-कलियाँ फूटती हैं। ऋषि बाला मानवी माता के चरणों की आहट से गर्भिणी हरिणी को यह संकेत मिल जाता है कि चारा पाने का समय हो गया। मयूर भी अपनी पूँछ फैला केकारव भरते हुए दूसरों को जताते हैं कि दाना दो।

जब लेन-देन के काम से हाट-बाजार में धूप और पसीने मे तर घूमता-फिरता हूँ तो भूल जाता हूँ कि ऐसा भी कोई भारत था। वैसे भारत की जरूरत है या नहीं, यह मत पूछो। यह चंचल पृथ्वी काल-चिह्न लिये नाच रही है। लेकिन मन में कहीं यह साध बनी रहती है और अपने आपको सुदूर अतीत मे देख पाने को चित्त विह्वल हो उठता है अपने पूर्वजो की उसी भारत-लीला में।

स्तोत्र-गान समाप्त हुआ। आचार्य उपासना-वाणी उच्चरित करने लगे। मुख्य वेदी के नीचे ही दूसरी बड़ी वेदी पर संगीत-भवन के निपुण गायकों ने अपना आसन ग्रहण किया है। उनके साथ उनकी छात्र-छात्राएँ हैं। जमीन में बिछी लाल मुरम की आसनी पर अतिथिगण, आश्रमिक संघ के सदस्य और बालक-बालिकाएँ विराजमान है। बाकी, सब मेरी तरह है, घेरे के इधर-उधर फैले हुए।

इन सबके बीच—कितने ही लयपूर्ण और हासभरे स्वर हैं। वहाँ, पेड के नीचे तम्बाकू की सुर्ती चबाते हुए और गले मे टाई बाँधे कोई युवा किसी युवती के कान मे कुछ फुसफुसा रहा है। सुदर्शन युवको और सुघड़ युवतियों का अलग समावेश है, परस्पर हँसी-खुशी की तरग मे उल्लसित। यहाँ सबका स्वागत है। सभी आते है अपनी-अपनी साध सँजोये। जिसकी जैसी भावना...। तुम रहो, अपने 'स्व-भाव' मे !

उपासना के उपरान्त समवेत गान। विभिन्न स्वरों के साथ—एक सुर-ताल मे सब कुछ एक नये स्वरूप मे भास्वर हो उठा। कच्ची सुनहरी धूप चमत्कृत हो उठी। ठण्डी हवा के झोकों मे पत्ते-पत्ते झूमने-थिरकने लगे।

मित्र ने बताया, यह अनुष्ठान पहले उपासना-मन्दिर मे होता था। धीरे-धीरे बढ़ती जाती भीड के कारण अब यह पेड़ो की छाया से खुले मैदान में स्थानान्तरित हो गया। साथ ही बताया : अनुष्ठान पहले यह मेला रास्ते के उस पार पूरब और दक्षिण पल्ली के मैदान से आगे कभी नहीं बढा। पहले का मेला उत्तरायण के पूरब एक गाँव के मैदान मे होता रहा, जहाँ एक सडक बल खाती हुई श्रीनिकेतन की ओर निकल गयी है और एक कोपाई की तरफ़। उसी मैदान के दक्षिण मे, बरगद के नीचे बाउलों का समावेश होता। अब तो सारा कुछ अन्यत्र होता है।

गान के समाप्त होने पर मैं सबसे पहले 'विचित्रा' गया—'रवीन्द्र-विचित्रा', जहाँ उस 'मरमी' के विविध लीला रग और विभिन्न अवशेष हैं। मित्रों द्वारा

कहाँ पाऊँ उसे

दिये गये विविध-विचित्र स्मृति-उपहार, व्यवहृत उपकरणादि, असख्य संवर्द्धना-पदक, पाण्डुलिपि, कलाकृतियाँ और देश-विदेश की विजयिनी-यात्रा से सम्बन्धित अनेक छायाचित्र। इसके अलावा, जिनसे उनकी प्रगाढ घनिष्ठता थी, उनके साथ पारिवारिक तस्वीरें। इन सबके बीच गुजरते हुए दर्शकों की आँखों में, अन्तर्मन में आश्चर्य और औत्सुक्य जाग उठता है। पहले भी देखा है और अब फिर देख रहा हूँ। विस्मय और कौतूहल से बार-बार रोमांचित हो उठता हूँ, जब यह सोचता हूँ कि इसी मनुष्य में 'वह मनुष्य' था। इसी रूप मे वह अरूप था, गोचर में अगोचर, जिसके देह रूपी पिंजरे में उस अनजाने पंछी का आवागमन था, उस पंछी का नाम प्राण-पंछी नही; वह तो कोई अनजाना अनचीन्हा-सा पंछी ठहरा, जो साधनो का साधन है, जिसका प्रसाद ग्रहण कर हम विभिन्न उपचारों में, शिल्प और सौन्दर्य के समन्वय में आनन्दित होते हैं, विचरण करते हैं।

मैंने उसी साधन को साधते देखा। मेरे विचार में, इस विचित्र सृष्टि को बहुतों ने देखा है। जिन्होंने भी देखा होगा, वे सब मेरी तरह ही—उस मरमिया को, जिसका नाम रवीन्द्रनाथ ठाकुर है, ऐसे ही परम कौतूहल और आश्चर्य से देखते-सराहते रहे होंगे।

'विचित्रा' से निकलकर मैं मेला की ओर चल पड़ा। मित्र ने कलाईघडी के काँटे को दिखाते हुए कहा, "काफ़ी देर हो चुकी है, अब घर चलो। सर्दी के दिन यूँ ही छोटे होते है।"

क्या केवल इसीलिए घर वापस लौट जाऊँगा? नही। शीतकाल की सुनहरी घडी वड़ी है या छोटी, मेला मनुष्यों का उत्सव है—सर्दी के छोटे दिनो में धूप का उत्सव। मैं घर नही लौटूंगा। लेकिन मित्र को रोके भी नहीं रखूँगा। मैं अकेला ही उनका अतिथि नही। घर में अन्य कई अभ्यागत है, इसके अलावा उनकी गृहिणी भी वही है। मै उनसे इस धूप में, लोगों के रेले मे धक्कमपेल करते हुए घूमते रहने को भी नहीं कह सकता। मैने कहा, "आप घर चलें, मैं थोड़ी देर में मेला घूम आता हूँ।"

मित्र की ऐसी इच्छा तो नही रही लेकिन उन्हे रोकते हुए भी संकोच हुआ। इसलिए पूछने लगे, "रास्ते तो पहचान लेंगे?"

रास्ता तो सीधा है, सड़क के इस पार और उस पार, बस। एक बार देख लेने पर कोई भूल हो ही नही सकती। मैंने हँसकर कहा, "क्यों नही, पहचान लूंगा।"

बन्धुवर को भी इसका अनुमान था, इसलिए मुसकराते हुए बोले, "रास्ता कोई दूर नही; पगडण्डियाँ बहुत अधिक नही लेकिन नयी तो हैं ही।"

केवल मित्र की बात से ही नहीं, चश्मे के नीचे से झाँकती आंखो में एक

संकेतपूर्ण व्यग्य था। मैंने उत्तर दिया, "नयी हैं तो उन्हें पहचानने की कोशिश करूंगा।"

मेरे मन में था कि किसी दूसरी ओर से पैदल निकल चलूं—सही ठिकानों पर कब चल पाया हूं! ग़लत ठिकानों पर शुरू से ही भटकता रहा हूं; आरम्भ से ही अनजान राहों पर चक्कर काटता रहा हूं। वस्तुतः ठिकाने का गोलमाल कोई अजूबी चीज नही। किसकी तलाश है, किसकी खोज है—यह अगर पता रहता तो ठिकाना भी अपने आप मिल जाता।

मेले का रास्ता बतलाना नही पड़ता। रास्तों का पता खुद चल जाता है। लोगो के चलने का रुझान देखकर ही पता चल जाता है कि मुहाना किधर है। लोक-सागर की तरंगें कहां से उठ रही हैं। लेकिन यह मेला उन मेलों-जैसा नही। पहली बार ठगा-सा रह जाना पड़ता है। इस मेले का रूप-रंग और ढंग ही दूसरा है। 'छातिमतला' के मेले-जैसा हो। चारों ओर शहरी ठाट-बाट और ठसक। स्टेशन पर पहले ही जिन्हें देख चुका था; नर-नारियों की वैसी ही सज-धज। मन धन की तरफ़ खिंचता है। मनुष्य का परिचय केवल उसके साज-संभाल से नही, उसके काम से ही होता है। लगा कि सुदूर राढ़ मे हो रहे इस मेले में सभी अपने अन्तर्मन की डोली मे तिर रहे हैं, हँस-या रहे है।

लेकिन केवल उन्हे देखते रहने पर क्या होगा? बिसाती और बिसातिनों ने कितनी ही दुकानें सजा रखी हैं। बड़ी-बड़ी आंखोंवाला धोती-कुरता पहने वह युवा अपने हाथ के बने खिलौने बेच रहा है। खिलौने बनाने की जानकारी भी उसे, यही शिल्प सदन से मिली है। और, वह जो छरहरी बालिका ग्राहक की आंखों में आंख डालकर मुसकराती हुई, कपड़े पर आकर्षक बातिक दिखा रही है, वह भी आश्रमिक संघ में बना है। चारो ओर आश्रमिक संघ की शिल्पकृतियाँ बिखरी हुई है, ऐसा नही। बाहर से भी कई दुकानदार और दुकानदारिनें यहाँ आये हैं। विभिन्न जिलो-प्रान्तो की विविध शिल्प-सामग्री, लोक-कलाकृतियाँ, पुरानी और अतीत की भूली कई महत्त्वपूर्ण चीजें। सूती, रेशमी, कसीदाकारी, काष्ठशिल्प हो या मुखौटे; महीन बुनी हुई चटाइयाँ, काँसा-पीतल से निर्मित कलापूर्ण पात्र, या लकड़ी के विभिन्न उपकरण—सभी कुछ जगह जगह सजे हैं।

स्त्री हो या पुरुष, सभी की मुग्ध दृष्टि। जैसे एकबारगी ही इन सारी कलाकृतियो को खरीद लेना चाहते है। केवल इसी प्रान्त के ही नही, भारत के हर प्रान्त से आये हुए लोग: विविध भाषा-भाषी, विभिन्न रूप धारे। और सिर्फ़ भारत के ही नही, सात समुद्र पार के नर-नारी भी मेले मे आये है। जरा आँखें उठाकर देखो तो सही। गौराग युवक-युवतियाँ भी मेले मे लगे स्टालो पर झपट

पड़ रहे हैं।

इनके बीच ही, संथाली शिल्पी की ज़मीन पर बिछी दुकान—उसकी शिल्प-सामग्रियों को देखकर आँखें हैरत में खुली रह जाती हैं। वह बिसाती लगाये नहीं, जाल सजाये बैठा है। चाँदी नहीं, किसी चमकीली रुपहली धातु से कई प्रकार के संथाली गहने—गले का हार, कान के झुमके, हाथ के कंगन, नाक का बेसर, नथुनी, कमर की मेखला, करधनी, नूपुर, पाँव-कड़े, बिछुए...। साथ ही ले आया है, जूड़े में लगानेवाले कई आभूषण, खोपा में खोंसे जानेवाले फूलनुमा काँटे। वहाँ रंगीन तितलियों की तरह केवल किशोरियाँ ही नहीं मँडरा रही, युवतियाँ भी ज़मीन पर आँचल फैलाकर बैठ गयी हैं। खरीदारी करने के बाद घर जाने और फिर सजने-धजने में तो बड़ा झमेला है। इसलिए यहीं इन अलंकारों से रूप-सज्जा और फिर मेला-प्रांगण में मुक्त विचरण। एक-दूसरे को देखकर किसी की साध पूरी नहीं होती। उनके आभूषणों की रुनुन...झुनुन झंकृत हो उठती है—'सुन्दरी राधे आओ वन में...मेरी गोपन कथा सुन जाओ सखी...'

वे सभी आश्रम की किशोरियाँ हैं, ऐसा नहीं। बहुतेरी बाहर से आयी हैं। जो भी प्रस्तुत और उपलब्ध है—सब-का-सब उनके लिए है। अन्यान्य स्त्रियों एवं महिलाओं के लिए भी कई चीज़ें हैं। वहाँ केवल धातु के रुपहले आभूषणों की चमक ही नहीं...गुरियों की माला क्या कोई नहीं पहनेगा ? हीरे-पन्ने की सी चमक लिये पत्थरों के रंगारंग अलंकरण इसी तरह पड़े रहेंगे ? ऐसा नहीं है। हर स्थान पर, पेड़-पौधों और किसलयों की तरह झुण्ड-की-झुण्ड नाचतीं, फिरती, रंगीन तितलियाँ टूट पड़ी हैं। इसीलिए कहा था मैंने, केवल सजाकर ही नहीं, जाल फेंककर। जो पकड़कर रखना है, उसे ही अपनी पूँजी बनाकर रख छोड़ा है। लेकिन सब कुछ ज़मीन पर ही नहीं, उनके लिए आँखों को भुलावे में डाले रखनेवाली दुकानें भी सजी पड़ी हैं। वहाँ भी बेचनेवाले और बेचनेवालियाँ हैं। तुम्हें जितना चाहिए, ले जाओ। और सिर्फ़ साज-सिंगार से ही क्या होगा ? पेट का धंधा भी तो है। है या नहीं ? वह भी मिलेगा, खाजा, गजा, जलेबी, पापड़ और पकौड़े, पूरी और कचौरी। और इतना ही नहीं, दूसरी भी कई सामग्री, रोटी-चपाती में भी कई तरह की किस्में—सैण्डविच, चाय-कटलेट, आमलेट-मार्मलेट, सारी चीज़ें मिलेंगी। राजधानी की-सी शान—दुकानों के ऊपर लिखा है—'काफी हाउस'। ज़रा भीतर झाँकने पर पता चलेगा कि नागरिक और नागरिका किसे कहते हैं ! जिसे 'लंच' और 'डिनर' कहते हैं, उसकी भी व्यवस्था है। कागज उठाकर 'मीनू' पढ़ो, खाने-पीने की हर चीज़ का नाम और दाम लिखा है।

ऐसी चहल-पहलवाली जगह पर जान-पहचान का कोई आदमी न मिले,

यह कैसे हो सकता है? राजधानियों के सवाददाता और साहित्यिकों का जमघट, गोल टेबुलों को घेरे कवि-कलाकारों की परिचर्चा-गोष्ठी। जिन्हें वी.आई.पी. के नाम से जाना जाता है, उनका भी अपना-अपना दरबार है।

देखते-देखते पैर थक गये और रुक जाना पड़ा। इतने में मैंने देखा कि एक शहरी ठाट-बाट के भोजनालय में बहुत-से स्त्री-पुरुष भागे चले जा रहे हैं। उनकी रफ़्तार से ऐसा लगा जैसे यह कोई प्रतिष्ठा का प्रश्न हो। क्या हुआ? आखिर वहाँ कौन-सी आश्चर्य लीला हो रही है? ओ हो, क्या बताया जाये अब! मैंने देखा कि चित्रपट के एक सज्जन रक्त-मांस का जीता-जागता पुतला बने घूम रहे है। वह सिने-जगत् के सितारे थे। युवा-युवतियो की आँखें चमक उठी है जैसे। कोई हाथ मिला रहा है, कोई डायरी बढ़ा रहा है, हस्ताक्षर चाहिए। छातिमतला के मेले मे—किसी नगर के नागरिक उत्सव के मुक़ाबिले अब और बाकी क्या रहा?

यहाँ सभी आते हैं। सबकी लीला है यह। 'छातिमतला' के मेले की महत्ता इसी सौन्दर्य के लिए है। और आदमी किसमें है—एक में या बहुतों में। विविध लोगों का यह बहु समावेश देखने का उन्माद आँखों में छा जाता है। इसी उन्माद मे जैसे मस्ता का हिण्डोला भी सम्मिलित हैं।' यदि मन को भुलाना चाहोगे तो तुम्हारा मुँह ही टेढ़ा होगा। विरुद्ध जाना सहज है, समीप बने रहना दुर्लभ। विविध रूपाकारों में उसे देख पाऊँगा इसीलिए यहाँ आया था। उनकी इस झाँकी मे आँखें खो जाती है, मन झूमने लगता है। आज मैं भी इस लोक-सागर-सगम मे उपस्थित हूँ।

लेकिन ठोकरें नही खानी। देखते हुए चलना होगा। जाने-पहचाने लोगों को देखने-सुनते, हाथ उठाकर, हँसते-हँसाते, आते-जाते फिर अपरिचितों मे खो जाता हूँ—दूसरे अनजाने मनुष्यों मे, अनचीन्हें लोगों की तलाश में। लेकिन, हठात् झटके के साथ रुक जाना पड़ा। खाने की ऐसी लुभावनी सामग्रियाँ कि जीभ मे पानी भर आया। मलाई का पेठा, चन्द्रपुली, छेने की खीर, रस-बड़ा आदि सजाकर एक दुकानदारन किसी सम्पन्न वधू की तरह रसिकों को आप्यायित करा रही थी।

पहले आँखों की भूख तो मिटे, अन्तर की प्यास पूरी हो। जीभ और जठर की क्षुधा-पूर्ति तो होती रहेगी। बिना देखे किसी की बदनामी क्यों? खाजा, गजा, जलेबी, झोल, भात और तरकारी—सभी प्रकार के भोजन की व्यवस्था है।

देखते-देखते आगे बढते हुए दक्षिण की ओर चला आया। मेला उपर ही खीचकर ले जाता है। कही भी जाता हूँ—कानों में कोई आवाज तैरती उतराती रहती है। इसके बाद ही, सुन पाया—'यह मानव जीवन फिर कहाँ मिलेगा। ओ भोले मन, इस संसार मे जो कुछ करना है, जल्दी कर...!'

इस गम्भीर कण्ठ-स्वर को सुनकर लगा, जैसे बहुत दिनों से किसी खोयी हुई चीज़ को पाने की लालसा में हृदय उद्विग्न हो उठा हो। आँखें उठीं तो सामने ही एक बड़ा-सा पण्डाल दीखा, जिस पर फूस का छप्पर था। एक गेरुआ अँगरखे-वाला अपनी कमर में बँधी डुग्गी ठोंक रहा था। दाहिने हाथ में इकतारा और बायें हाथ की कलाई में घुँघरू। डुग्गी पर ताल पड़ते ही घुँघरू ठुनुक उठते। चेहरे पर हल्की दाढ़ी उगी हुई थी। मूँछ भी वैसी ही पतली और हल्की। बड़ी-बड़ी नुकीली आँखें। इकहरी काली देह। उम्र कोई बहुत अधिक नहीं रही होगी। यह कोई नया ही बैरागी था। उसे और भी कई लोग घेरे हुए थे। सबकी पोशाक एक जैसी ही थी, लेकिन चेहरे और वाद्य अलग-अलग। कोई दोतारा, तो कोई ढपली, कोई डुग्गी तो कोई खंजरी लिये। एक युवती उँगलियाँ हिला-डुलाकर तुनतुना झनझना रही थी। युवती ही कहना चाहिए। उम्र यही बीस-बाईस होगी, ज्यादा भी हो सकती है। साँवली-सी, लेकिन आँखें हिरणी की आँखों को भी मात करनेवाली। स्निग्ध और तरल। लाल रंग की साड़ी। शायद राढ़ की लाल मिट्टी से ही रँगा हुई। माँग में सिन्दूर भी दमक रहा था।

ऐसी बात नहीं कि मैं इन्हें पहचानता होऊँ, फिर भी किसी गीत की पंक्ति की भाँति—'तुम कौन हो, जो मुझे पागल किये हुए हो। अन्तर्मन यह कहता है, तुम बहुत दिनों के पहचाने हुए हो'—महसूस हुआ। और भी बहुत कुछ देखना है, यही सोचकर निकला था लेकिन पाँव उठ नहीं रहे थे, इस समावेश-द्वार के पास ही जम गये थे।

अँगरखेवाला गायक ध्यान सबका अपनी ओर खींचता हुआ, गीत गा रहा था, जिसका अर्थ था: पता नहीं, कितने जन्मों के भाग्य-फल से, अरे ओ भोला मन, तुझे यह मानव-जीवन मिला है। चल! इस संसार-सागर में अपनी काया नैया खेता चल। जल्दी कर...कहीं यह पानी से भरकर डूब न जाये। तू इस मानव-जीवन को कैसे सार्थक करेगा रे पगले?

इसी तरह सबके साथ सुर मिलाता हुआ, सिर पर पगड़ी बाँधे यह दोतारा-वाला 'जय गुरु...जय गुरु' कहता अचानक उछलकर खड़ा हो गया। अपना अँगरखा झाड़ता, ढुपकी और घुँघरू बजाता नाचता रहा। वहाँ केवल किशोर-वैरागियों का ही जमघट नहीं था, प्रौढ़ वैरागी भी थे। चूँकि वे गेरुआ धारे हुए थे, इसलिए उन्हें वैरागी कह रहा हूँ। राढ़ के बाउलों को पहचानने में कोई असुविधा नहीं होती। वयस्क बाउलों के साथ, दो-एक वयस्का बाउलानी भी थीं। उस समय मुझे गाजी की बात का स्मरण हो आया। क्या ये सब वही 'पिकिति' हैं?

श्रोताओं की संख्या भी कम नहीं। सब तरह के श्रोता—शहरी भी, ग्रामीण भी। एक श्रोता की भाँति मैं भी नीचे बैठ गया और कितनी देर तक सुनता रहा,

नही जानता। हठात् किसी ने मेरे कन्धे को अपने हाथ से छुआ। मुड़कर देखा, एक प्रौढ़ सज्जन खड़े थे। सिर के बाल सफ़ेद हो चुके थे। कुछ इस तरह बिखरे कि वह भी वैरागी-से प्रतीत हो रहे थे। पशमीना का कुरता, उस पर कम्बल की तरह ही कोई मोटा चादर। गोरा रंग धूप से ताँबई हो गया था। चेहरे पर जो मुसकान-माधुरी तैर रही थी, उससे भी कहीं अधिक सरसता उनके अन्तर मे छलक रही थी। इन सबसे भी महत्त्वपूर्ण थी, उनकी तेजस्विता। मूंछ-दाढ़ी नही थी। मुँह मे लम्बी चुरुट लिये थे। धीमे स्वर में रहस्यपूर्ण मुसकान के साथ बोले, "क्यो भई, यहाँ क्यों? मच पर चलिए न!"

मैं अवाक्। फिर भी मैंने कहा, "ज़रूर। लेकिन मैंने आपको पहचाना नही।"

उन महाशय की आँखों में रहस्य और भी गहरा उठा। बोले, "आप मुझे नहीं जानते, लेकिन मैं आपको बुलाये बिना रह न पाया।"

उनकी बात से तनिक शर्मिन्दा होते हुए मैंने हामी भरी: "नहीं, नही। ऐसा क्या है? अवश्य ही बुला सकते हैं।"

"तो फिर आइये—और क्या? यहाँ तो एक रसिक ही दूसरे रसिक को बुलाता है। मैंने देखा, आप यहाँ जाने कब से सुन रहे हैं। इसीलिए मैंने सोचा, आपको बुलाकर ही बैठूंगा। चलिए, पहले चलकर बैठें। उसके बाद दूसरी बातें होती रहेंगी।"

इसके बाद और कोई बात नही हुई। पण्डाल-द्वार से उठकर मंच पर जा बैठा। वह सज्जन बैठते-बैठते अपनी रहस्यपूर्ण मुसकान को और भी गहराते हुए फिर कहने लगे, "अनजाने होते हुए भी जान-पहचान हो जायेगी। सारा तालमेल बैठ जायेगा। आप बैठिए तो सही।"

•

मेरे बैठते ही आस पास बैठे लोग 'जय गुरु—जय गुरु' पुकार उठे। उस लोकगायक ने भी गान रोककर अपना हाथ माथे से लगाया और सिर झुकाकर बोला, 'जय गुरु, जय गुरु।' फिर अपनी बड़ी-बड़ी काली आँखों को नचाकर हँसने लगा। यह किसकी सवर्द्धना थी? किसके प्रति था यह आत्मीयताभरा प्रदर्शन? मैंने मुड़कर देखा, वही प्रौढ़ सज्जन विराजमान थे। उन्होंने भी हाथ जोड़कर उन सबका अभिवादन स्वीकार करते हुए कहा, 'जय गुरु, 'जय गुरु।' और फिर मेरी ओर स्नेहसिक्त दृष्टि से देखने लगे। उन्हें कुछ कह पाने का अवसर न मिला। कुछ कहते, इसके पहले ही उनके पास बैठे एक अँगरखा पहने वृद्ध ने पूछा, 'यह कौन है अचिन बाबू? बेटा है?"

बूढ़े का चेहरा पककर एकदम लाल हो गया था। बाल सफ़ेद, दाढ़ी खिचड़ी और आँखें पारदर्शी, चमकती हुईं। गेरुआ रंग से रँगे कपड़े और हाथों मे खजरी।

"बेटा ?" प्रौढ़ सज्जन ने आश्चर्यचकित हो पहले उस बूढ़े बाउल की ओर देखा। और फिर बूढ़ी से कहा, "सुनती हो, राधा दी, तेरा बूढ़ा इसे क्या कह रहा है ? 'मेरा बेटा !' लगता है, गोपी सठिया गये है।

उन महाशय के साथ बूढ़ी दीदी भी पोपली हँसी-हँसने लगी। दोनों मुझे ही घूर रहे थे। बूढ़ा बाउल गोपी दादा मेरे कारण ही उलझन मे फँसा था। बूढ़ी ने बूढ़े की तरफ रोपभरी दृष्टि से ताक लिया। कुछ वैसे ही, जैसे युवती किसी युवक को। फिर भुनभुना उठी, "तुमने अचिन बाबू को पहलीबार देखा है क्या ? बिनब्याहे कन्हाई की माई।"

गोपी बाउल का चेहरा गोद मे खेलते शिशु की तरह भोला हो उठा। मानो टुकुर-टुकुर ताक रहा हो या फिर आँखें कही और खोयी हों। राधा की बात सुनकर वह और भी चंचल हो उठा, "आँ हाँ, जयगुरु ! मैं तो भूल ही गया। अचिन बाबू की शादी-वादी तो हुई ही नही ! जयगुरु !"

अचिन ! मैंने कभी यह नाम सुना न था। इसके साथ ही, वह बाउलो से दादा-दीदी का सम्बन्ध जोड़ रहा है। कौन है यह आदमी ?

उधर गीत जारी था। अचिन बाबू धीरे-से बोले, "शादी-वादी नही हुई का मतलब यह तो नही है कि 'नही है' दा।"

बूढे की दाढ़ी लहरा उठी। अपनी आँखो को मटकाते, कन्धे उचकाते हुए वह बोला, "जयगुरु ! ऐसा कही होता है। अरे 'ना' में कही 'हाँ' भी छिपा है। जैसे काम में प्रेम, अमावस में पूनम और ज्वार में भाटा।" यह कहकर उसने अपनी आँखें झपका लीं और किसी रहस्य में डूब गया।

अचिन बाबू तुरत अपना हाथ बढ़ाकर बूढ़े के चरणों तक ले गये और आग्रह किया, "चरणों की धूल दो गोपी'दा, क्या बात कही है !"

बूढ़े ने उसका हाथ हटाते हुए प्यार से झिड़क दिया, "धत् तेरे की, यह क्या कर रहे हो ? इतने बड़े आदमी होकर जब-तब पैरों पर हाथ रख देते हो ?"

"चाहे जितना झटक दो दादा, यह हाथ मानेगा नहीं। और, यह बड़े आदमी होने की बात मत कहना ? मैं बुरा मान जाऊँगा, हाँ !"

बूढा दाढ़ी हिलाकर हँसने लगा, "अरे, बड़े आदमी से मेरा मतलब किसी सेठ-साहुकार से है ? तुम सचमुच बड़े आदमी हो, जाति के गौरव।"

अचिन बाबू की आँखें उछल गयी। उन्होने अपनी जीभ काटते हुए अपने हाथ को माथे से लगाया और बोले, "बाप रे बाप ! अब आगे कुछ न कहना, दादा !"

बूढ़े ने कुछ नही कहा। लेकिन दोनों गुपचुप आँखो-आँखों में ही मुसकराते रहे। राधा से आँखें टकराते ही बूढ़ा अपना सिर हिला देता और आँखें झूम उठतीं।

प्रेम-रस का रहस्य यही है । दूसरों के बहाने, अपने बीच घटित होता है । तु
नहीं जान पाओगे कि काम में प्रेम, अमावस में पूनम और ज्वार में भाटा क्या
है, कहाँ है ? इनके बीच रस की जो धारा बहती-छलकती जा रही है, वह इनके
चेहरे और आँखों से ही फूट पड़ी है । इससे अधिक तुम देख भी नहीं पाओगे।

मैं उन्हें न देखकर अचिन बाबू को देख रहा था । इनकी देह पर तो कोई
अँगरखा नहीं, कोई गेरुआ वस्त्र नहीं, लम्बे बाल नहीं, पगड़ी नहीं । इनकी
पोशाक, बातचीत और बायें हाथ में चुरुट देखकर ही पता चलता है कि इनकी
शान ही कुछ निराली है । फिर भी, इस आदमी के साथ इनका परस्पर परिचय
ऐसा प्रगाढ़ था कि मुझे लगा ये एक ही घर के सदस्य हैं । आँखों और चेहरे पर
ऐसा मुग्ध-भाव जैसे प्रेम की सम्मोहिनी में झूम रहे हों । गोरा मुखमण्डल, जिस
पर खिंची आड़ी-तिरछी रेखाएँ भी मुखर हो उठी थीं । सिर के सामने से पीछे तक
खिंचे हुए लम्बे बाल, बीच-बीच में गायब और धूसर । बड़ी-बड़ी नशीली आँखें।
आँखों के चारों ओर हल्की-सी सियाही । कुल मिलाकर, यह किसी सुखी या
सुविधासम्पन्न व्यक्ति का चेहरा नहीं, वहाँ कोई करुण-हास्य की झाईं थी अथवा
मेरी आँखों का भ्रम था यह ?

"कौन है ये ? तुमने बताया नहीं !" बूढ़े ने मेरी तरफ़ संकेत कर पूछ लिया ।

"बन्धु ।" कहते हुए अचिन बाबू मेरी तरफ़ देखकर आँखों-ही-आँखों मुसक-
राये और बोले, "उपयुक्त समय पर सबकुछ सम्पन्न होने पर मेरा बेटा भी
इतना ही बड़ा होता ! और इतना बड़ा बेटा भी तो बन्धु ही होता है। है कि
नहीं ?"

बूढ़े ने अपनी स्वीकृति दी, "बिल्कुल ठीक ! बेटा बड़ा हो तो बाप-बेटे बरा-
बर ही होते हैं । इसी तरह माँ-बेटी भी ।"

बूढ़े ने राधा की ओर अपनी निगाह डाली । राधा भी हँस पड़ी । उसके
चेहरे की सौ-सौ किचियाँ चमक उठीं । लेकिन हाथ में पड़ी खँजड़ी अब भी ताल
के साथ बज रही थी ।

अचिन बाबू ने बताया, "मैंने देखा, दूर खड़े गान सुन रहे हैं तो रहा न
गया । यहाँ मंच तक ले आया । एक रसिक ही तो रसिक को बुलाता है ।"

"जयगुरु ! बहुत ठीक कहा तुमने ! रसिक ही तो रसिक को बुलाता है !
क्या बात है ? लेकिन तुम्हारे इस रसिक की उमर भले ही कच्ची हो, पर इसकी
आँखों का भाव तो देखो !"

बूढ़े के साथ ही, अचिन बाबू ने मेरी ओर देखा । मैं संकोच और आश्चर्य
में डूबा था । आँखें मिला नहीं पाया । अचिन बाबू ने छूटते ही कहा, "देखा
फँसे नहीं ! काली बिल्ली की-सी आँखें हैं गोपी'दा, काली बिल्ली की तरह ।"

बूढ़े की उजली हँसी कहकहे में डूब गयी और फिर खाँसी में । उसका

सिर किसी शरारती बच्चे की तरह हिल रहा था। हँसने-खाँसते बोला, "हूँ—हूँ—हूँ—अरे बाप - जयगुरु, जयगुरु !"

अचिन बाबू भी उसी की तरह हँस रहे थे। बीच-बीच में मेरी ओर देख भी लेते थे। बोले, "मैंने ठीक बताया न गोपी'दा ?"

"एकदम सही ! भला तुम्हारी आँखें धोखा खायेंगी ? और यही नहीं, इसके उलझे-पुलझे बाल भी फँसे फँले हैं। काली बिल्ली से अधिक यह काला चीता लग रहा है। यह काला चीता किसी को पकड़ ले तो अठारह घाव लगा जायेगा। क्यों ? तेरे घड़े में नौ-नौ छेद हैं, तू उसको बन्द कर ले, जा !"

अचिन बाबू ने फिर अपना हाथ बढ़ाया, "वाह गोपी'दा—वाह !"

"चल दूर हो ! अपना हाथ हटा तो सही !" कहते हुए बूढ़े ने उसका हाथ पकड़ लिया। दोनों हँसने लगे। राधा भी अपनी पोपली हँसी हँस रही थी।

मैं अजीब उधेड़बुन में फँसा था। यह ठीक है कि मैं उम्र में अचिन बाबू से बहुत छोटा था, लेकिन अपनी आँखों के चलते काली बिल्ली क्योंकर हो गया ? काले चीते से क्या आशय था ? मैंने संकोचभरी दृष्टि से फिर ताका। मेरी चुप्पी भी इस रहस्य को जानना चाहती थी, लेकिन बताये कौन ? दोनों हँस रहे थे।

अचिन बाबू ने फिर कहा, "तब तो मैंने ठीक ही कहा न, दादा ?"

"हाँ, बिल्कुल !"

"मैंने पास जाकर देखा, बड़ी तन्मयता से गीत सुन रहे हैं। आसपास की कोई सुध नहीं। फिर देखा, गोकुल का गीत सुनते ही आँखों में वही चमक ! होंठों पर तरंग।"

"क्यों नहीं ? गोकुल की बातें जो याद आ गयी।"

फिर वही हँसी और फुसफुसाहट। मैं असमंजस में फँसा, न कुछ सुन पा रहा था, न साफ समझ पा रहा था।

अन्ततः मैंने पूछ ही लिया, "क्या कह रहे हैं आप दोनों ?" बूढ़ा कहने लगा, "कह रहा है, ललिता ! बिल्ली की आँखों में जो आग है, वह आदमी का खून करता है।"

फिर हँसी का ज्वार ! मचलती तरंगें !

अचिन बाबू ने जोड़ा, "और गोपी'दा कह रहे हैं—काले रंग का यह चीता काली गुफा में रहता है, काल-अकाल का विचार किये बिना। कब मार बैठे, पता नहीं !"

बूढ़ा हँसने लगा था, लेकिन खाँसी के कारण उसकी गति मन्द हो गयी थी। फिर भी, उसको मुझ पर दया हो आयी थी। इसीलिए बोला, 'रसिक भैया, तुम समझे नहीं। जो बिल्ली है, वही चीता है। ब्रज में बसनेवाला। तुम्हें

देखकर ब्रज की वही बिल्ली याद आ गयी।"

अचिन बाबू की आँखों मे वही रहस्य झिलमिला उठा। आश्वस्त करते हुए बोले, "अरे भाई, इसमें झिझकने की कोई बात नही। आप ठहरे प्रेमी जीव इसीलिए ऐसी बातें चल निकली। और क्या? लीजिए! चलेगी?"

उन्होंने अपने कुरते की जेब से सिगार निकालकर मेरी ओर बढ़ा दी। बात केवल उनकी बुजुर्गी की ही नही थी। उन्होंने जितनी कीमती चीज मेरी ओर बढ़ा दी, उसे लेने में मुझे बड़ा संकोच हो रहा था। मैंने कहा, "रहने दीजिए, मेरे पास सिगरेट है।"

'वह तो होगी ही। उससे क्या? आप तो नशेबाज़ों की ज़िद जानते ही हैं। वे दूसरों को अपनी रुचि की चीज पिलाकर खुश होते है। आपका जी करे तो ले लीजिये।"

तभी गोपी बाउल कह उठा, "हमारे अचिन बाबू इसी में खुश होते है।"

अचिन बाबू ने अपनी गर्दन हिलायी—"हाँ।"

मैंने हाथ बढ़ाकर सिगार ले ली। बुरा क्या है? राढ़ प्रदेश और फिर पूस का महीना। फूस की छप्पर के नीचे यह सिगार रँग लायेगा। मैंने मुँह से लगायी ही थी कि अचिन बाबू ने तीली जलाकर उसे सुलगा दिया।

बूढ़े की दाढ़ी लहरायी। उसने गर्दन हिलाकर कहा, "ठीक जमा नही, अचिन बाबू! इसका भोला-भाला चेहरा और यह बड़ा सिगार?"

"यह क्या कह रहे हो गोपी'दा? नशे मे तो बस मस्ती की ही महिमा है। यहाँ तो उसी की शोभा देखनी चाहिए।"

"हाँ, बिल्कुल ठीक!"

दोनों ने एक-दूसरे को देखा और हँस पड़े।

तभी मैंने बड़े सकोच से कहा, "मैं एक बात पूछूँ?"

"एक नही, हजार!"

"आपका नाम कुछ अजीब-सा है! पहले कभी सुना नही।"

अचिन बाबू हँसने लगे, "इसे तो लोगों ने ही अजीब-सा बना दिया है। दरअसल मेरा नाम है अचिन्त्य, अचिन्त्य मजुमदार। उससे हो गया अचिन। आज कुछ नया नही! तब से ही है, जब मैं शान्तिनिकेतन मे पढ़ता था। मेरी पढ़ाई-लिखाई यही हुई।"

"अच्छा। फिर तो आप यही रहते होंगे?"

"नही, कभी था। बचपन से लेकर जवानी तक यही पढ़ता-लिखता रहा। यही समझिए, कवि-गुरु के आश्रम में ही वह समय बीता। पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय की उपाधि मिलने तक। इसके बाद जीविका की खोज में भटकना पड़ा। अभी भी कहाँ हूँ—यह ठीक-ठीक नहीं बता पाऊँगा। फिलहाल

लखनऊ में हूं, सरकारी नौकर। तीन साल पहले ही कार्यमुक्त हो जाना चाहता था, लेकिन मालिकों ने रोक लिया। जहां कहीं भी क्यों न रहूं, इस मौके पर तो भागा चला आता हूं। कहीं रुक नहीं पाता। दरअसल..."

अपनी बात को झटके से रोकते हुए उन्होंने अपने सिगार का ज़ोरदार कश लगाया और धुआं उगल दिया। धुएं की आड़ में ही हौले-से मुसकराये और अपनी बात पूरी की, "यह, अपने उसी अतीत में लौट आना है। ऐसा न होता तो उसी पार बैठा रहता, बीच-बीच में यहां क्यों दौड़ा आता? ज्यादा कुछ कहना पड़े तो यही कहूंगा, यहां दोनों ही है, जीवन और यौवन और उनसे जुड़ी कई स्मृतियां।"

वह आगे भी कुछ कहना चाह रहे थे, लेकिन कह न पाये, मुसकराते रहे। उनके चेहरे पर अंकित आड़ी-तिरछी रेखाएं गतिशील हो गयीं। उनमें लिखे न जाने कितने ही अक्षर अपनी मुसकान बिखेरते भास्वर हो उठे। खोयी हुई उन आंखों के छिपे भाव और भाषा मैं पढ़ नहीं पाया। लगा कि इस हंसी से भी परे कोई रागिनी बज रही है, कोई तार छेड़ा जा चुका है। सहज में ही वह असहज लीला रचा रहा है और अचिन्त्य बाबू के भीतर का अनचीह्ना, 'अचिन' वहां खेल रहा है।

काला बाउल इकतारा बजाता और अपनी कमर नचाता हुआ गाये जा रहा था:

> 'मानुष डूबे, मानुष तैरे, मानुष रोये, मानुष गाये
> मानुष आये, मानुष जाये, अपना करम जुगाये
> रे पगले! मानुष है, बस मानुष ही है...'

कुछ एक 'जयगुरु' कहकर पुकार उठे। अचिन बाबू ने कहा, "बस, यही तो एक बात है। और भाई..."

फिर रुक गये कहते-कहते! अपनी बात पूरी कर भी नहीं पाये थे कि उसी काले बाउल ने आकर टोका, "ओ अचिन बाबू! मुझे भी एक चाहिए, लेकिन...!" और उसने उंगलियों से अपने होंठों को छूकर, धूम्रपान का संकेत किया। अचिन बाबू ने उसे डपट दिया, "चल हट! बाउल भी कहीं सिगार पीता है? तुझे तो चाहिए गांजा!"

आसपास जुड़े सभी लोग हंस पड़े। वहां कई युवा कवि और साहित्य-प्रेमी बैठे थे। साहित्यिक भी। उन्हें देखकर ही समझा जा सकता था। सभी अपने हाथों में कलम खोले बैठे थे, गीत लिख लेने के लिए।

उस बाउल ने अपनी पगड़ी झुकाकर एक काली युवती की ओर देखा और कहने लगा, "लो सुनो तुम्हारे अचिन'दा क्या कह रहे हैं?"

उस युवती ने कमान-सी खिंची अपनी भौंह उठायी और अचिन बाबू की

ओर देखकर हँसने लगी। अचिन बाबू उससे भी कुछ कहने को तैयार बैठे थे,
"मैं कोई झूठ थोड़े न कह रहा हूँ—हँ—बिन्दु!"
युवती ने कभी बाउल की ओर तो कभी अचिन बाबू की ओर देखते हुए पूछ लिया, "तो फिर यह क्यों नही बताते कि गाँजा कैसी बुरी बला है। आपने तो ठीक ही कहा कि बाउल सिगार क्यों पीने लगा?"
इकतारा बजने लगा था—बड़्-बड़्-ड्। पास ही बैठे कुछ लोग दोतारा छेड़ने लगे। युवक बाउल मुसकराकर बोला, "तो फिर गाँजा का ही महातम सुनिए। आप गाँजा को छोटा नही बता सकते?"
यह कह उसने अपनी गर्दन हिलायी और गाने लगा, "रे भाई, प्रेम का गाँजा कौन पियेगा?'
अचिन बाबू भी पुकार उठे, "हरि बोल! हरि बोल!"
युवा बाउल की बड़ी-बड़ी आँखे मुँद गयी थी। उसने गाते-गाते एक चक्कर लगाया:

'रे भाई, प्रेम का गाँजा कौन पियेगा?
ठीक सम्हारो रे अपनी चिलम!
मूल इसी के जीवित धरम
मधुर रस और प्रेम की धार
दुश्मन ढाये, ऐसी कटार
ऐसा मरन कौन जियेगा?
प्रेम का गाँजा कौन पियेगा?...'

"मैं आपको एक काम की बात बताऊँ?" उसने पूछा।
"बोलो, जल्दी बोलो!" अचिन बाबू के स्वर मे आग्रह था। बाउल फिर गाने लगा:

'हाँ, साँपो को चुटकी से मसलकर,
उनको अपनी चिलम मे डालो
गुरुचरण मे बैठ के बोलो,
सारा ज़हर कौन पियेगा?
प्रेम का गाँजा कौन पियेगा?'

अचिन बाबू उठ खड़े हुए और ऊँचे स्वर में पुकार उठे, "हरि बोल! हरि बोल!" और अपने कुरते की लम्बी जेब से लकड़ी की एक छोटी-सी डिब्बी निकाली। फिर उसमे ढेर-सा सिगार निकालकर देने लगे, "ले, यह ले! ख़ूब सुनाया तूने—वाह!"
सारी श्रोता मण्डली मुसकरा रही थी, मुग्ध थी।
युवती ने पूछा, "क्यो दादा! अब तो हार गये?"

"हार का मतलब ही है, जीत गया! नही तो तेरा पुरुष कभी ऐसा गीत सुनाता?"

युवती की पलकें लाज से झुक गयी। वह आँखें झुकाकर मुसकरायी और फिर युवा बाउल की ओर आँचल की ओट में तकने लगी।

अचिन बाबू ने फिर कहा, "अब तुम्हारी और गोकुल की जुगलबन्दी सुनूँगा। चलो, गाओ!"

अचिन बाबू की बातें सुनकर सारी श्रोता-मण्डली पुकार उठी, "साधु-साधु।" इतना ही नही, उनमें से कुछ श्रोता जात्रा-मण्डली की तरह ही जय-जयकार कर उठे : "जय हो, अचिन'दा की जय!"

किसी ने कहा, "बिना अचिन'दा कोई चौकड़ी नही जमती।"

एक युवक पुकार उठा, "तभी मैं बहुत देर से सोच रहा था कि अचिन'दा के आने मे इतनी देर क्यों हो रही है।"

अचिन बाबू ने उत्तर दिया, "क्या करता? सुबह-सुबह ढेर सारे पुराने मित्र आ धमके और मैं भी उनमें से किसी-किसी के घर चला गया। इसी भेंट-मुलाकात के कारण थोड़ी देर हो गयी। सरकारी और गैरसरकारी, वी आई.पी, प्रदर्शनी का उद्‌घाटन इत्यादि किसी तरह निपटाकर आ ही गया। इस पौष के महीने में आने का कारण वही तो नही! नये-पुराने मित्रों से भेंट करना और इस मण्डली मे आकर थोड़ी देर बैठना—बस यही तो चाह रहती है। कोई विशेष देर तो नहीं हुई। अरे हाँ, गोकुल! अरी बिन्दु! चलो शुरू करो—जल्दी करो!"

बिन्दु झेंप गयी। यह कैसी बाउल प्रकृति है भला! उसकी काली-काली आँखों की पुतलियाँ किसी गिरस्तन की तरह लाज से भर उठी। उसने मुसकराते हुए लाल किनारीवाली छपी हुई साड़ी का आँचल खीच लिया। फिर भी, उसकी सिन्दूरी बिन्दी झिलमिला उठी।

काले गोकुल की भी यही दशा थी। देह पर चुस्त अँगरखा। कमर की पट्टी एकदम कसकर बँधी हुई थी। चौड़ा-सुडौल वक्ष—लोहे की तरह मजबूत, और सुतवाँ पेट।

बिन्दु बोली, "हम लोग कोई भागे तो नही जा रहे, दूसरों से भी गाने के लिए कहिए!"

तब अचिन बाबू ने गोपीदास बाउल की ओर दृष्टि घुमायी और कहा, "गोपी'दा! यहाँ किसी को नही छोड़ा जायेगा। सभी गायेंगे। मैं सबको कहूँगा। तुम दोनों सुनाओ पहले।"

गोपीदास ने कहा, "यह क्या बात हुई? अच्छा आप कहते हैं तो चलो—गाते हैं!"

उनके साथ ही, बहुतों की गर्दनें झूमने लगी। अचिन बाबू ने अचानक मेरी तरफ़ संकेत किया, "मैं अपने इस युवा बन्धु को तुम्हारा गीत सुनाना चाहता था। गोपी'दा ने बताया न कि इसकी आँखें थोड़ी-बहुत चीता से मिलती हैं।"

तभी बूढ़ा बाउल बोल उठा : "और तुमने भी तो कहा था, काली बिल्ली की तरह है।" उसकी सफ़ेद दाढ़ी लहरा उठी।

गोकुल और बिन्दु के साथ सारी मण्डली हँस पड़ी। कोई सीधी और कोई तिरछी नजर से मुझे देख रहा था। अचिन बाबू ने मुझे अच्छी जगह ला पटका। प्रीति और सम्मान की बातें तो समझ मे आती हैं लेकिन यह सारा कुछ मेरी योग्यता से बहुत अधिक था। इतने लोगों के सामने मैं जैसे झेंपकर रह गया।

अचिन बाबू ने हँसते-हँसते ही मेरी पीठ थपथपायी। कहने लगे, "नही बिन्दु, नही। ऐसा मत करना। अपनी पैनी नजर से इस चीते का शिकार न कर बैठना, हाँ...! चल, अपनी आँखें नीची कर। कर नीची!"

बिन्दु ने उसी क्षण अपने आँचल को खीच लिया। लाजभरी हँसी के साथ वह बोली, "ओह, यह क्या कर रहे हो?"

सभी हँसने लगे। मुझे लगा जैसे मेरी कनपटी सुलग उठी हो। इन महाशय के परिहास को झेल पाना बड़ा कठिन है। बड़ी दुर्गत में फँस गया मैं!

मण्डली पूरी तरह जमी हुई थी। सभी उन्मुक्त भाव से हँस रहे थे। अचिन बाबू ने एक बार फिर मेरी पीठ ठोकी। धीमी आवाज में बोले, "आपको रंज तो नही?"

मैं काफ़ी देर से कुछ कहना चाहकर भी इतना ही कह पाया, 'रज होने-जैसी कोई बात ही नही, बल्कि यह तो रंजन है, आपका प्रेम है। वैसे आपने बड़े संकोच में डाल दिया।"

अपने दोनों हाथों से मेरे कन्धों को झिझोड़ते हुए बोले, "अच्छा, तो यह बात है? हमे भी बड़ा आनन्द आया। चलिए, अब वैसी कोई बात नही होगी। लेकिन बन्धु...!"

उनकी आवाज और भी धीमी हो गयी। मेरे कान के निकट फुसफुसाकर पूछा उन्होने, "मैंने कहा तो एकदम ठीक ही था। यह बात तुम्हारे-मेरे बीच की है। अच्छा यह बताओ, बिन्दु की आँखो से चीते का शिकार हो सकता है या नही?"

"जरूर। हजार बार!"

"हरिबोल!" कहते हुए उन्होने मेरे कन्धे को ठोक दिया।

इसी बीच वाद्य-यन्त्र बज उठे। इकतारा, दोतारा, डुगकी। गोकुल के बायें हाथ की कलाई से घुँघरू बँधे हुए थे, जो रह-रहकर झनझना उठते थे झुम...झुम ...झुम...झुम!

'हरिबोल' उचारने के बाद, अपने गुँथे बालों को थोड़ा झटका देते हुए अचिन बाबू ने टेढ़ी गर्दन कर बिन्दु-प्रकृति की ओर देखा। विन्दु भी होंठ दबा-कर मुसकरायी। आँखों-आँखों में रस की कौन-सी धारा प्रवाहित थी, इसे जानने के लिए अपना अन्तर निर्मल करना होगा। इस छुटभैये को भी वह तीखी-तिरछी नजर से देख लेती। इससे उसका शिकार सपन्न होगा या नहीं, नहीं जानता, लेकिन 'पुरुष' संकुचित अवश्य होगा।

अचिन बाबू फिर पुकार उठे, "हाँ तो बिन्दु, तुमने अपना वाद्य-यन्त्र तो उठाया नहीं?"

बिन्दु ने बिना कोई उत्तर दिये संकेत से ही यह जता दिया कि उठा रही है और मुसकराते हुए ही गोकुल की ओर भी देख लिया। अपनी मुसकान का एक छोटा-सा टुकड़ा बिन्दु ने एक दूसरे काले बाउल को भी परोस दिया। चेहरे-मोहरे से गोकुल की तरह हट्टा-कट्टा। नयी मूँछ-दाढ़ी में चिकना-चुपडा मजीला चेहरा। मुझे सन्देह था कि उसने अपनी आँखों को कहीं काजल से कजराया तो नहीं। उसकी नुकीली पगड़ी मयूरपुच्छ की तरह ऊपर उठी और फिर एक ओर तिरछी झुक गयी।

इधर बिन्दु ने उसकी ओर मुसकराकर देखा ही था कि उधर उसकी उँग-लियों ने दोतारे को छेड दिया। अचिन बाबू ने गोपीदास से पूछा, "यह नया बावाजी कौन है? किसका बेटा?"

गोपीदास ने बताया, "हममें से किसी का भी बेटा नहीं। पाकिस्तान से आया है — किसी उत्तरी इलाके से। मुझे बाबा कहता है। पिछले साल जयदेव के मेले में मिल गया तो साथ लिवा लाया। अब हुगली जिले में कहीं रहता है। चिट्ठी-पाती से खबर मिलती रहती है। गाता तो है ही, बजाता भी अच्छा है। बिन्दु और गोकुल से भी तो जयदेव में ही जान-पहचान हुई थी।"

जयदेव का मेला। केन्दुबिल्व केंदुलि गाँव का मेला। बाउल कहते हैं, 'जय-देव का मेला, जयदेव जाऊँगा।' जयदेव ही परम बाउल है और पद्मावती परमा प्रकृति। जयदेव में स्वयं गोसाईं विराजमान हैं, इसलिए केंदुलि मत कहो; कहो जयदेव और साधो पद्मावती! वे दोनों ही लीला रचते हैं। कहाँ? मणिपुर में, जहाँ से तीन-सौ-साठ रस-नदियाँ प्रवाहित हैं, तेजी से ब्रह्माण्ड की ओर भाग रही हैं। उसी स्रोत से अपना प्राण जोडकर उस 'मनुष्य' को पाया जा सकता है। जयदेव ने उसी से अपना मन-प्राण जोड़ लिया था; यह बाउलों का विश्वास है। यह बात मैं बाद में जान पाया।

अचिन बाबू ने हामी भरी, "अच्छा बजाता है, यह तो मैं देख ही चुका। भंगिमा भी उसकी बहुत प्यारी है।"

"हाँ, अभी उम्र ही कितनी है। लेकिन मन मँजा हुआ है। मुझे लगता है, उस

पर गुरु की विशेष कृपा है।" बूढ़े ने जैसे अनुमोदन किया।

अचिन बाबू के लिए यह केवल गुरु की कृपा नहीं। उन्होंने बताना चाहा, "अब चाहे जो भी कहो गोपी'दा, तुम्हारी आँखों में अब भी वही चीता-भाव है।"

बूढ़ा हँ...हँ...हँसता हुआ बोला, "जय गुरु ! जय गुरु ! तुम्हारी बातें भी बड़ी प्यारी है !" इसके बाद आँखें मटकाकर कहने लगा, "यह भी सच्चे बाउल का ही धर्म है। चीता बने बिना साधन का शिकार नहीं किया जा सकता। एक पद में कहा गया है न—यही चीता कुम्भ को शोष कर, मदन कुह को कुरेदकर, हड्डी मे दांत गड़ाकर रक्त पीता है, लेकिन किसी को इसका पता नहीं चलता !"

अचिन बाबू उस बूढ़े की तरह ही पुकार उठे : "जय गुरु ! जय गुरु !" उनकी आँखों को घूरकर भी, दोनों के बीच प्रवाहित रस की धारा को पकड़ नहीं पाया। अचिन बाबू मेरी ओर कुछ इस तरह से देखते रहे, जैसे उन्हें पता हो कि इन बातोंका रहस्य क्या है ? मुझसे बोले, "भाई, ऐसी ही नित्य-चर्चा मे तत्त्व की बातें छुपी रहती हैं। इन्हे समझ पाना कभी-कभी कठिन होता है। मैं बाद मे बताऊँगा।"

बिना समझे भी, मैं नुकसान में न था। इस अबूझ रहस्यपूर्ण वृत्त में भी जो रस-लीला प्रवाहित थी, मैं उसी मे अबतक आकण्ठ डूबा था। देख-सुनकर भी मुझे यह पता नहीं चला कि अलौकिक रस की वह धारा कहाँ से बह रही है। मुक्त रस की धार मे चाहे जो भी खेल हो रहा हो, मैं उसी मे निमग्न था।

अचिन बाबू ने फिर पूछा, "उत्तर देश के इस बाबाजी का नाम क्या है गोपी'दा ?"

"सोजन।"

"तो फिर सुजन कहो न !"

"अरे एक ही बात है ! हमारे बोल से तो तुम परिचित हो ही।"

दोनों हँसने लगे। अब अचिन बाबू का आग्रह था, "इसके बाद सुजन बाबाजी का गीत सुनूँगा !"

"अवश्य ! उसका स्वर जितना ऊँचा है, उतना मीठा भी है। अपने जन्म-स्थान की खनक भी है उसमें।"

"उत्तर देश की खनक ?"

"हाँ।"

उधर वाद्य-यन्त्र बज उठे थे। बिन्दु ने अपने सामने रखी झोली में हाथ डाल रखा था। फिर जैसे ही उसने अपना हाथ बाहर निकालकर वह काला तुनतुना सिर के ऊपर तक उठा लिया, उस समय ऐसा ही लगा, जैसे किसी काली नागिन

ने अपना भयकर फ़न काढ़ लिया हो। हाथ हिलाते ही, वह झनझना उठा। उसकी एक-एक ताल पर गेरुआ रग की साड़ी और चोलीवाली का अग-अग थिरक उठा। सफ़ेद दन्तपक्ति झिलमिला उठी। काली पुतलियाँ अचिन वावू पर पड़ी और जैसे वोल उठी : "देखो तो अचिन'दा ! मैंने अब साज उठा लिया है।"

अचिन वावू भी हार माननेवाले नही। हँसकर बोले, "अरी लड़की सुन ! प्रेम की जोड़ी में प्रेम नही है, प्रेम से बँधती है जोड़ी।"

"जय गुरु ! जय सांई..." इस बार गोकुल पुकार उठा।

विन्दु चुप न रह पायी। बोली, "आपसे बातो मे कोई जीत सकता है ?"

"क्यों नही ? कोई आये तो सही !" अचिन वावू ने उत्तर दिया।

फिर वही वात ! एक ही बात सोलह दिशाओं में बहती है। कहने का ढंग आना चाहिये। सभी श्रोता हँस उठे। और गोकुल गाने लगा—

'कोई तो बताये, कैसे करूँ मैं शुद्ध सहज प्रेम...
मेरे प्रेम में उफन पड़ा है, काम नदी का ज्वार
काम नदी का ज्वार उठाये मन मे हाहाकार,
सारे वन्धन टूट चुके हैं, बिखर गया है अन्तर द्वार—'

कभी गान तो कभी वाद्य। गोकुल घूम-घूमकर नाचता और आँखें मटकाकर अचिन वावू की ओर देखता। साथ ही, अपने दोतारे के साथ सुजन भी नाचता। विन्दु की आँखें कही दूर खोयी थी। हाँ, होंठों पर वही मधु मुसकान थी। दोनों हाथों मे तुनतुना उठाये बजा रही थी। अचिन वावू ने अपनी अधमुँदी आँखों से ही गोकुल की ओर सकेत किया और इसके साथ ही बिन्दु गीत गाने लगी। जैसे कोई कोयल कूक उठी हो, सप्तम मे। तुनतुने का स्वर आरोहित हुआ और उसके स्वर में खो गया। वह डाल पर बैठे किसी पछी की तरह सन्ध्या-राग अलाप रही थी—

'ओ रे बावले मन ! प्रेम रतन धन नही मिला
प्रेमलता में फूटा काम, फूल प्रेम का नही खिला..."

दोनों की आत्मा अपने स्वर मे भी एक हो गयी थी। आँखें दूर भटक गयी थी, लेकिन साथ-साथ ! कभी सुजन भी उनके साथ बह जाता। वह दोतारा बजा-बजाकर गोकुल और बिन्दु की परिक्रमा करता रहा।

सभी उन्हे तन्मय भाव से सुन रहे थे। उनकी देह ताल के साथ झूमने लगती। जो कलम लेकर पद उतार रहे थे, उनकी कलम भी रह-रहकर रुक जाती।

गोकुल ने फिर शुरू किया—

"काम बिना इस प्रेम का असम्भव है आगमन।"

अबकी बार गोपीदास और प्रकृति राधा—दोनों बूढ़े-बूढ़ी एक साथ ही गा उठे—'जय गुरु ! जय गुरु !'

अवाक् बैठे अचिन बाबू भी गोकुल और बिन्दु के साथ सुर मिलाकर गाने लगे—"कैसे करूँ मैं सहज शुद्ध प्रेम का साधन..."

गीत में सबके-सब तन्मय थे। गायक-गायिका दोनों ही मुड़कर देखने लगे। अचिन बाबू का गोरा चेहरा गुलाबी हो उठा था। आँखें छलछला उठी थी। आँखों की मुसकानभरी सम्मोहिनी जैसे कहीं और जा डूबी थी।

मैंने देखा, गायक और गायिका केवल गीत ही नहीं गा रहे, अपनी आँखों से कुछ और भी कह रहे थे। गेरुआ पहने, अँगरखा डाले ये बाउल बैरागी क्या बताना चाह रहे हैं, मैं यही समझने की कोशिश मे लगा था। ये क्या कह रहे हैं 'काम बिना प्रेम का असम्भव है आगमन।' फिर भी, ऐसा क्यों कह रहे हैं। सुर-ताल मे डूबे और हँस-हँसकर यह बता-जता रहे हैं कि काम, काम नहीं, प्रेम का ही एक नाम है। पकड़ में न आनेवाली बात—'अधर'। मन मे कोई अनजाना-सा स्वर बज उठा था और मैं उसे चुपचाप सुन रहा था।

बिन्दु फिर गा उठी—

'परम गुरु प्रेम प्रीति, काम गुरु हो अपना पति।'

गोकुल ने जोड़ा—

'काम बिना इस प्रेम की और नही कोई गति।
ओ रे बावले मन !'

'जय गुरु' और 'हरि बोल' की जय-जयकार से सारा मण्डप गूँज उठा। अचिन बाबू के स्वर मे कोई स्वप्न तिर रहा था। वे बोल उठे, "आज एकना नही गोकुल ! आज तूने मात दे दी मेरे भाई ! यह गान तेरे बाबा ही गाया करते थे। मैंने किसी दूसरे से अबतक नही सुना।"

मुझे लगा जीवन की इस अरूप लीला-मण्डली का रंग अब कहीं जाकर जमा है।

अरूप-लीला मण्डली ऐसे ही नहीं जमती। सहृदय रसिक न हो तो भाव प्रगाढ़ नहीं होता। गायक-गायिका और श्रोता-मण्डली मे मण्डप जमा था। इस छातिमतला के मेले मे, बाउल गान की चौकड़ी में हर कोई रस-मग्न था। जो गा रहे थे वे भी, जो सुन रहे वे भी। जैसे धरती बिना, पौध नहीं उगती और देह बिना, प्राण को आधार नहीं मिलता, उसी तरह श्रोता भी गायक को प्रेरित करते हैं और गायक श्रोताओं को अभिभूत करते हैं। गोकुल और बिन्दु—एक के बाद एक गीत गाते रहे। इसी बीच गोपीदास ने किसी को बुलाकर चिलम सजाने का आदेश दिया।

गोकुल और बिन्दु के गाये हुए भजन-गीतों का हिसाब देना मेरे बस में

नही। उनके गानों और पदों की दो-एक पंक्तियाँ ही मेरी स्मृति में रह गयीं। और वे शब्दों में ही नहीं, दृश्य-पट पर अंकित होने के कारण ही स्मृति में पड़ गयी। बिन्दु और गोकुल के गीतों में जो भाव था, उसे समझना कठिन ही था। वह नर-नारी के अन्तःप्रेम का मर्म था। प्रेमी-प्रेमिका के बीच सम्पन्न होनेवाले प्रेम के दान-प्रतिदान का रहस्य। मैं नही जानता बाउल कैसे और कितने वैरागी होते है लेकिन गोकुल डील-डौल से एक पुरुष ही था—अपने हाथ-पैर से, अपनी भाव भगिमा से। और बिन्दु एक स्त्री। लाज से उसकी मोटी-मोटी पलकें और भी बोझिल हो उठती थी। अपनी हँसी को छुपाने के लिए वह कभी-कभी अपने तुनतुने को मुखड़े के आगे कर लेती।

इतना ही नही। सुजन जब कभी भी अपने दोतारे के साथ नीचे झुककर उसके कानों मे कुछ बुदबुदाता, उस समय उस सलोनी के चेहरे पर लाजभरी लाली दौड़ जाती। एक बार उसने अपना तुनतुना उठाकर सुजन को मारने का भी अभिनय किया। याद आया—उस समय...गोकुल किसी गीत की ये पंक्तियाँ दोहरा रहा था—

'रति ठीक न हुई तो पगले, सती की दया न होगी
रति के घर ही पति बँधे हैं, मिल जायें तो देर न होगी...'

इस समय अचिन बाबू की हालत अपने आपे से बाहर थी। पगला बाउल और किसे कहा जाये? बाउल सिर्फ वही नहीं, जो गला फाड़कर गाता है। जो प्रेमरस में आकण्ठ डूब जाये, वह कोई दूसरा नही!

इधर चिलम की परिक्रमा एक से दूसरे हाथों मे जारी थी।

"लो भाई, कौन पियेगा प्रेम का गांजा!" गोपीदास ने मेरी ओर सकेत करते हुए अपनी दहकी हुई आँखों से पूछ लिया—"चलेगी?"

मैं यह नहीं कह सकता कि इस बीच मेरी इच्छा नही जग गयी थी, लेकिन इसके पहले ही अचिन बाबू ने हाथ उठाया और गोपी'दा के घुटने पर मारते हुए कहा, "चीते को खूँख्वार मत बनाओ।"

एक-एक कर पांच पद गाकर गोकुल और बिन्दु थम गये। राढ़ के उस इलाके में, पूस की काटती ठण्ड में भी, बिन्दु के सलोने चेहरे पर पसीने की बूँदें छलक उठी थी। गोकुल की पगड़ी के नीचे से भी पसीना चुह रहा था।

लेकिन यही रुकने का कोई कारण न था। अचिन बाबू ने छूटते ही गोला दागा, "हाँ तो सुजन, शुरू हो जाओ! तुम्हारा गान सुनूंगा।"

यहाँ सभी धनी हैं। कोई कंजूस नही। सुजन ने दोतारा बन्द नही किया था। उसने अचिन बाबू की ओर देखकर उस दोतारे को सिर से लगाते हुए नमस्कार किया—"प्रणाम।"

अचिन बाबू पुकार उठे—"जय गुरु!"

"लेकिन गुजन तो ठहरा अकेला !" कहता हुआ सुजन हँसा और उसकी तिरछी निगाह बिन्दु पर पड़ी। बिन्दु ने अपना तुनतुना दिखाया और गर्दन टेढ़ी करके बोली "ताल दूँगी।"

"मैं भी ! तू शुरू तो कर ..." गोकुल ने आश्वस्त किया।

"और सुनो ! अगर तुमने कोई जाना-सुना पद गाया तो साथ भी दूँगा।" अचिन बाबू ने हौसला बढ़ाया।

वहाँ पहले से भी अधिक भीड़ बढ़ गयी थी। हैट-कोट पहने साहबों जैसे श्रोता भी इकट्ठा हो गये थे—सिनेमा-सर्कस छोड़कर बाउल के मण्डप में ! जय-गुरु, जयगुरु !

सुजन ने दोतारा छेड़ दिया। साथ ही, बिन्दु का तुनतुना भी झनझना उठा। उसकी आँखें बिन्दु पर कुछ इस प्रकार टिकी थीं जैसे वह अब भी कोई क्वाँरी कन्या हो। अचिन बाबू ने अन्तर्यामी की तरह मुझे कोहनी से ठेलते हुए सुजन की ओर देखने का संकेत किया और हँसने लगे।

सुजन का गला भारी और काफ़ी दराज था। जैसे हवा के झोंके के साथ ही उदासी-सी छा जाये। स्वर में भर्राया हुआ कम्पन अन्तर को झकझोर जाता। उसने पद-गान आरम्भ किया—

'नारी को पहचान न पाया, जीवन अपना व्यर्थ गँवाया
नारी सर्वनाशी, सारा जगत डुबाया...
नारी को भज, नारी ही भज, गुरु ने यही बताया।'

गोकुल ने ज़ोर से जयजयकार की : "बलिहारी, गोसाँई...बलिहारी !" उसके साथ ही गोपीदास और अचिन बाबू ने भी। श्रोताओं में भी जैसे खलबली-सी मच गयी। उसमें से कई आगे आ जाना चाहते थे। सुजन ने बहुत-से पदों से छाँटकर ही यह पद गाना शुरू किया था, जिसकी शब्द-रचना ऐसी थी कि श्रोता-मण्डली मुग्ध हो उठी।

सुजन नाचता भी बहुत अच्छा था। उसने अपना दोतारा कमर के पास उतार लिया और मुड़-मुड़कर चक्कर खाता रहा। अधिक उछल-कूद नहीं की। अचिन बाबू की ओर घूमकर उसने पूछा, "बाबू गोसाँई ! यह पद आप जानते हैं ?"

अचिन बाबू ने आँखों से ही इशारा करते हुए बता दिया, "नहीं। लेकिन तुमसे सीखूँगा।"

सुजन ने एक बार फिर नमस्कार किया और गाना शुरू कर दिया—

'नारी जिसको गले लगाये, वह नर तो पंजर हो जाये
बाँस में जैसे घुन लग जाये, हरियाली बंजर हो जाये

नयनों का खंजर चुभ जाये...
नर की मुकुटमणि खो जाये,
अपनी सुध-बुध आप गँवाये।'

इस बार गोपीदास का स्वर गूंज उठा, "जय सोजन, जय सोजन।" सुजन ने उन्हे नमस्कार किया लेकिन ऐसा करते हुए उसने बिन्दु को तिरछी निगाहों से देखा और गर्दन हिलाकर कुछ पूछ लिया। बिन्दु ने भी उसे मुसकराकर देखा और गोकुल पर अपनी आँखें टिका दी। गोकुल अपनी नशीली आँखों से तकता रहा।

अचिन बाबू बड़े धीमे स्वर में मुझसे बोले, "बेटा, बड़ा जबरदस्त चीता मालूम होता है। तुम्हे कैसा लग रहा है बन्धु?"

अचिन बाबू काफ़ी देर से, अपने में नही थे। उन्हें मेरा नाम धाम कुछ भी मालूम न था। आवश्यकता भी न थी। "यहाँ तो एक रसिक ही दूसरे रसिक को बुलाता है। इसलिए विशेष परिचय की आवश्यकता ही क्या?"

मैंने कहा, "चमत्कार!"

"किस बात का?" उन्होंने पूछा।

प्रश्न जटिल था। लेकिन मैंने सहज ही उत्तर दिया "चाहे जिसका भी कह लीजिए।"

"बहुत अच्छा! खूब कहा भाई! खूब कहा!"

तभी सुजन आगे का पद गाने मे लीन हो गया।

इधर गोपीदास और अचिन बाबू से भी अधिक ऊँचे स्वर मे कोई बोल उठा, "ओ अचिन'दा! अब तो इन्हें छोड़ दीजिए, काफ़ी देर हो गयी।"

अचिन'दा के साथ, हम सबने भी मुड़कर देखा। गेरुआ कुरते पर सफ़ेद पशमीना चादर ओढ़े, आँखों पर चश्मा चढ़ाये एक प्रौढ़ सज्जन आते दीखे। भीड़ को चीरते हुए वे हमारे पास आ खड़े हुए।

अचिन बाबू उसे पहली नजर मे पहचान नही पाये। फिर बोल उठे, "अच्छा, अच्छा तुम हो? बात क्या है?"

आगन्तुक ने कहा, "गोपीदास के साथ मैंने कुछ लोगों को घर पर खाने का न्यौता दिया था। कितनी रात हो गयी..."

"अच्छा, गोपी'दा ने तो एक बार भी नही बताया?" और गोपीदास की ओर देखने लगे। राधा बोली, 'भूल गये और क्या!"

आगन्तुक ने इसके बाद उन सबको एक-एक कर पुकारना शुरू कर दिया, "कहाँ हो, गोकुलदास, सुजनदास...! चलो भई! काफ़ी देर हो गयी।"

गोष्ठी जमाना और जमी गोष्ठी बिजाड़ना—दोनों ही स्थितियाँ सामने थी। सभी निमन्त्रित जन उठ खड़े हुए—गोपीदास, राधा, गोकुल, बिन्दु और सुजन।

और भी दो-एक सज्जन थे।

अचिन बाबू ने अपना मुँह बिचकाया, "तुम शान्तिनिकेतन वालों में यही बुराई है। सारी गोष्ठी किरकिरी कर दी।"

गोष्ठी भंग हो रही थी। बिन्दु ने निकट आकर पूछा, "क्यों अचिन'दा, तुम्हें भोजन-भात ग्रहण नहीं करना?"

"अरे, भोजन-छाजन तो तीसों दिन चलता ही रहता है। यह बात तो रोज-रोज नहीं होती।"

गोपीदास ने कहा, "बस गया और आया। वहाँ जाकर बैठे थोड़ा रहना है!"

तभी उस आगन्तुक ने आग्रह किया—"आप भी चलिए न, अचिन'दा!"

"ना भई, तुम लोगों की यही शान्तिनिकेतनी चाल मुझे नहीं आती। वहाँ ले जाकर तुम इन लोगों से पचासेक गान झटककर लिख लोगे!"

आगन्तुक ने हँसकर अपना बचाव किया, "दादा आप भी तो कुछ कम नहीं! आप शान्तिनिकेतन से बाहर है क्या?"

"अरे मेरी बात छोड़ो। मैं सरकारी नौकर हूँ। घाट पर पाँव फैलाये बैठा हूँ। मेरा क्या?" अचिन ने निराशाभरे लहजे में उत्तर दिया।

आगन्तुक महोदय निमन्त्रित जनों को साथ लेकर चले गये। बिन्दु अभी भी अचिन बाबू के पास खड़ी थी। पूछने लगी, "अगली गोष्ठी में भेंट होगी न?"

"निश्चय!" अचिन बाबू ने कहा, "तब इस बन्धु से भी तुम्हारा परिचय करवा दूँगा। अभी तो हम दोनों कहीं बैठकर बातचीत करेंगे!"

बिन्दु ने मेरी ओर देखा। फिर पूछ लिया, "गोसाँई को हमारा गान अच्छा लगा?"

सुनते ही अचिन बाबू ने आँखें नचाकर चुटकी ली, "अच्छा, तो बन्धु को एकबारगी गोसाईं ही बना दिया?"

गोसाईं शब्द कहते-सुनते बिन्दु की काली आँखों की चमक के साथ मेरे कान भी झनझना उठे। मैं उस चमक की झलक नहीं देख पाया।

मेरे कुछ कहने के पहले ही बिन्दु बोली, "अच्छा, गोसाँई की तरह नहीं लग रहे हैं?"

"समझ गया, इसका मतलब ही है चीता!"

बिन्दु चुपचाप खड़ी मुसकराती रही। मैंने उत्तर दिया, "बहुत ही अच्छा लगा!"

अचिन बाबू ने याद दिलाया, "तो फिर हो आओ, फिर तो मिल ही रहे है...हाँ।"

बिन्दु अपनी रूप-माधुरी के साथ लहराती हुई चली गयी।

अचिन बाबू ने मुझसे कहा, "आओ बन्धु! कहीं जमकर बैठते हैं। बातें होंगी।"

सूने बाउल-मण्डप को छोड़कर हम आगे बढ़े ही थे कि उन्होंने पूछा, "क्या पीयोगे बन्धु! चाय या कॉफ़ी?"

"जो मिल जाये।"

"तो फिर ऐसी जगह चलते है, जहाँ थोड़ी शान्ति हो।"

मेले में कही कोई ऐसी जगह मिल सकेगी, मुझे सन्देह था। लेकिन नहीं, मिल ही गयी। दक्खिन की तरफ़ थोड़ी दूर बढ़ते ही किसी चायघर का सूना कोना। दुकान मे घुसते ही उन्होंने कॉफ़ी के लिए कहा। हम कुर्सी खीचकर बैठ गये। उन्होंने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है बन्धु?"

मैंने जैसे ही नाम बताया कि उनकी भवें चढ़ गयीं, दृष्टि मेरे चेहरे पर आकर टिक गयी। और, मैं भी उनके गोरे चेहरे पर पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी साँवली रेखाओं को पढ़ता रहा।

उन्होंने कौतूहल से पूछा, "क्या कहा?"

नाम का आशय जानते हुए भी, वह इसका मतलब क्यों पूछने लगे, यह मैं नही जान पाया। पता नही, क्या जानना चाहते थे वह।

उन्होंने फिर पूछा, "अच्छा तो तुम वही लेखक हो?"

बड़ा ही बेतुका-सा प्रश्न! क्या बताता? और इसे घसीटते हुए मुझे उनसे कोई बात करने की इच्छा भी नहीं। मैंने अनमने भाव से उत्तर दिया, "बस, यूँ ही।"

"इसका क्या मतलब हुआ? तुम तो बड़े शैतान हो। इतनी देर तक बताया ही नहीं।"

"अब इसमें बताने जैसी क्या बात है," मैंने हँसकर टालना चाहा। "आपने पूछा ही नहीं।"

"रुको, रुको ज़रा!" उनकी आँखों में अजीब-सी चमक के साथ कोई रहस्य झिलमिला रहा था—"तभी मैं देख रहा था कि चीता-जैसी ऐसी क्या बात है? दूर खड़े रहकर गान सुनने की भंगिमा से ही मैं समझ गया था कि यह कोई रसिया है। अब तो मुझे बिन्दु की ही बात ठीक लग रही है। क्यों? एक-दम सोलह आने गोसाँई! अरे भाई, बताना था न।" और मेरे कन्धे पर हल्की-सी चपत लगाते खिलखिलाकर बोले, "यह तो दैव कृपा है। ख़ूब मिले।"

साथ ही, उन्होंने अपना कन्धा उछालते हुए इस अधम द्वारा रचित छोटी-मोटी दो-चार किताबों का नाम भी ले लिया।

मैं मन-ही-मन इस बेतुकेपन पर भुनभुनाता रहा। यह भी कोई बात हुई भला।

जीवन में पत्ते-पत्ते भटक रहा हूँ। नहीं जानता, इसके मूल में क्या है? किसकी खोज है? बस इतना ही जानता हूँ, यही परम पृष्ठ है, किताबों के पृष्ठ नहीं। इन पृष्ठों पर कौन विराजता है, लिखता है, मैं उस लेखक का नाम नहीं जानता। सृष्टि, प्रकृति और मनुष्य के संग उसी परम पृष्ठ का पाठ चल रहा है। कागजी पन्नों की बात न ही उठायी जाय तो बेहतर। वहीं मेरा दूसरा ही परिचय है। मैं कितना दुर्बल, अक्षम और आतुर हूँ, यह सबकुछ उन पन्नों पर लिखा है। अपने को पहचान न पाने की चीख-पुकार। कुछ विशिष्ट हो पाने की महत्त्वाकांक्षा...और उसकी विडम्बना!

आज इन पावन-परम पृष्ठों को उलटते हुए उन पर क्या बहस करना? लेकिन यहाँ सुनता ही कौन? अचिन बाबू इस छोटी-सी बात के लिए कोहराम मचाये हुए थे। मुझे गौरवान्वित करते हुए गर्व का अनुभव हो रहा था उन्हें। हँसकर बोले, "है न विचित्र-सी बात! ठीक वही आदमी मिल गया। लो कॉफ़ी पियो! लेकिन तुम्हें तुम नाम कह रहा हूँ, बुरा तो नहीं मान गये?"

"जी नहीं, बड़ा अच्छा लग रहा है।"

उन्होंने अपना कन्धा उचकाकर पूछा, "कहाँ ठहरे हो?"

मैंने अपने मित्र का नाम बता दिया। लेकिन पूरा नाम सुनने के पहले ही उन्होंने कहा, "अच्छा, तो उनके घर टिके हो। मैंने भी सोचा था कि सुबह जाकर एक बार दरवाज़े पर अलख जगाऊँगा, लेकिन जा न पाया। खैर! तुम जाकर उन्हें बताना कि अचिन'दा के साथ भेंट हुई थी। बस इतने से ही वह समझ जायेंगे।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि छातिमतला के एक-एक घर से वह परिचित होंगे। बाउल-मण्डप की बातचीत से ही मैं सब कुछ समझ गया था। उन्होंने मेरे मित्र एवं उसकी पत्नी के बारे में भी बताया, "दोनों ही बड़े भले हैं, जैसा लड़का, वैसी ही लड़की!"

कुछ इस तरह, मानो वे दोनों सचमुच ही कोई छोटे-छोटे बालक-बालिका हों। उन्होंने फिर पूछा, "इसके पहले भी कभी यहाँ आये थे?"

"जी नहीं।"

"पहली बार। तब तो बहुत ही अच्छा लग रहा होगा!" कहते हुए अचिन बाबू अन्यमनस्क-से हो उठे। पता नहीं क्या देखने लगे थे? बाहर लोगों की भीड़ या और-कुछ? या कि स्वयं अपने को ही इनमें ढूँढ रहे थे!

मैं पूछ बैठा, "आपका तो यहाँ से काफ़ी पुराना परिचय है।...है न ?"

उन्होंने मुसकराते हुए कहा, "अब किसके साथ परिचय रह गया ? क्या बताऊँ, सारा कुछ तो पहले से ही बिगड़ चुका है। जिनसे परिचय नहीं उनके दरवाजों की कुण्डियाँ खटखटाता रहा हूँ। सारे परिचितों के द्वार एक-एक कर बन्द होते चले गये, जैसा सामान्यतः होता है।"

यह सब उन्होंने जितनी सहजता और निश्चिन्तता से कहा, बात उतनी ही गम्भीर थी। एक सिगार सुलगाते हुए वे फिर बोले, "लेकिन इसमें दुखी होने की कोई बात नहीं। इस शान्तिनिकेतन के साथ मेरा सम्पर्क ही कितना है ? सब-के-सब अपरिचित ही तो हैं ! जो परिचित हैं, उन सबके घर-संसार हैं; नाती-पोते हैं। बहुत सारे तो कार्यमुक्त भी हो गये। उनके साथ यही तो मेरा पार्थक्य है कि वे अपने इस अपरिचित को पहचान ही नहीं पाते। उनके लिए यह शान्तिनिकेतन आदर्श जीविका, गृहस्थी चलाने का साधन मात्र रह गया है या फिर परस्पर मिलने-जुलनेवाली कोई जगह। मेरा न कोई घर है, न गृहस्थी। तुम अपनी शब्दावली में क्या कहोगे ? 'कन्फर्म्ड बैचलर'..!" कहकर फिर हँसे। बुझते सिगार को जोर से खींचते और धुआँ उगलते हुए उन्होंने कहा, "कन्फर्म्ड हूँ या नहीं, यह तो नहीं बता सकता, लेकिन बैचलर अवश्य हूँ।"

अचिन बाबू की बड़ी-बड़ी आँखें लाल हो चली थीं। उनमें अब केवल जिज्ञासा ही नहीं, वहाँ क्रन्दनमिश्रित हास भी था। उनकी आँखों की चमक के उस पार कोई चीज छलछला रही थी जो ढुलक जाना चाह रही थी।

कॉफ़ी की चुस्की लेते हुए उन्होंने फिर कहना आरम्भ किया, "बड़ी इच्छा होती है, किसी को सामने बिठाकर उससे ढेर-सी बातें करूँ। जब नशे में रहता हूँ तो बड़ा अच्छा लगता है। क्या कुछ अच्छा लगता है, किनको पसन्द करता हूँ, तुम यह सब अपनी आँखों से देख ही चुके। वहाँ, जहाँ मुँह खोलकर कुछ कह सकूँ, हँस सकूँ, दूसरों को हँसा पाऊँ—वे जितना चाहें, जब तक चाहें। इसके बाद, जो अगाध समय बचता है उसमें नितान्त अकेला पड़ा रहता हूँ। इसीलिए कह रहा था, किसी से मिलने पर बातें करने की इच्छा होती है। लेकिन प्रश्न है, सुनेगा कौन ? कौन सुनेगा खून के इस उतार की बातें ? अब तो भाटा लगा है। उस आदमी को कौन सुनना चाहेगा जिसकी तीन-चौथाई जिन्दगी बीत चुकी है, भाई !"

"मुझे सुनने की इच्छा है।"

अचिन बाबू ने आँखें उठायीं और हँसे। फिर मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोले, "धन्यवाद बन्धु ! तुम नहीं सुनोगे तो दूसरा कौन सुनेगा ? जो सुनता है, वही सुना पाता है। तुम्हारी बातों से ही मैं समझ गया कि तुम कौन हो ? मेरा मतलब तुम्हारे व्यक्ति से नहीं, सत्ता से है।"

उनकी बातें सुन-सुनकर ऐसा लग रहा था कि कोई चुभता हुआ तीर अन्तस् को बींधकर उद्वेग पैदा कर रहा हो। एक ऐसा आदमी, धरती पर जिसके पाँव नहीं और न तो आकाश में उड़नेवाले पंख ! कहाँ है यह आदमी? किस दुनिया मे अपने अदृश्य डैनों के साथ उड़ता चला जा रहा है ?

कहने लगे, "इसीलिए कह रहा था, सारे परिचय छोड़-छाड़कर सरकारी नौकरी का जूआ कन्धे पर लादे रहा और आज भी लादे हुए हूँ। फिर भी, लगता है कि मैं अब भी बिन्दास बना भटक रहा हूँ। क्यों ? बता नहीं सकता। दरअसल, सबके भाग्य में सबकुछ बदा नहीं रहता। मैं अपने दूसरे मित्रों के जैसा न हो पाया। उनका दूसरा ही परिवेश है, दूसरा ही साम्राज्य। यही मेरा दुर्भाग्य ! वे मुड़कर नहीं देखते क्योंकि उन्हें न तो अवकाश है और न इच्छा। लेकिन मैं एक बच्चे की तरह उनकी तरफ़ मुँह फाड़े देखता रहता हूँ।"

कहते-कहते वह अचानक रुक गये। फिर संकोचवश अपना बुझता सिगार सुलगाने लगे। मेरी साँसें अटकी हुई थी। उनकी अधूरी बातों को सुनकर लगा, वह लड़का अब भी मुँह फाड़े मेरी तरफ़ देख रहा है। कहाँ जाना चाहता था वह, कहाँ जा पहुँचा। जिसकी नन्ही आँखों मे आतुरता, हृदय में प्यास और अन्तर में हाहाकार है, लेकिन जिसके बाल खिचड़ी हो चुके हैं और चेहरे पर हजारों आड़ी-तिरछी रेखाएँ एक-दूसरे को काट रही हैं, वह अपने मुँह से लगी अधबुझी सिगार को जलाता है और फूंकता चला जा रहा है। साथ ही साथ, फुंकता चला जा रहा है।

मैं कुछ पूछ न पाया। अनावश्यक संकोच में ही पड़ा रहा।

उन्होंने ही पूछा, "बन्धु ! तुम्हें खीज तो नहीं हो रही ?"

"बिल्कुल नहीं !" मैंने उत्तर दिया।

"इसीलिए साल में एक बार यहाँ आये बिना रह नही पाता। यहाँ घूम-फिरकर स्वयं को ही टटोलता फिरता हूँ। जीवन मे पहली नौकरी भी यहीं की थी, कुछ ही दिनों के लिए, फिर बाहर चला गया। अब भी ऐसा ही लगता है, सबकुछ यहीं पड़ा है। इसीलिए यहाँ आकर उसे उलट-पलटभर लेता हूँ।" कहते हुए उन्होंने एक हलकी-सी मुसकराहट के साथ कॉफ़ी की चुस्की ली। मैं समझ गया, वह प्रसंग बदलना चाहते हैं। बोले, "अच्छा तो अब तुम अपनी सुनाओ !"

मेरे पास कुछ भी तो नहीं कहने को। केवल सुनने की, उस अनजाने-अनचीन्हे को जानने की साध है। मैंने कहा, "मेरे पास क्या है कहने को ?"

"सबकुछ तो लिख ही डालते हो। क्यों, है न ?" और इसके साथ ही बाउल-मण्डपवाली जोरदार हँसी फूट पड़ी।

मैंने कहा, "वहाँ भी तो कुछ कह नहीं पाता। बस, कोशिश ही करता हूँ।"

"तुम्हारे कहने से क्या होगा?"

मैंने भी प्रसंग बदलते हुए कहा, "आप कब आये थे यहाँ?"

"अब ठीक-ठीक बताना तो मुश्किल है। साल और तारीख़ की भी याद नहीं। एक डोरिया पाजामे पर कुरता डाले चला आया था। ककहरा और बारहखड़ी का सारा तमाशा तो घर पर ही किसी पण्डितजी के हाथों सम्पन्न हुआ था। वैसे शान्तिनिकेतन आश्रम ही पहला विद्यालय था, लेकिन तब और अब के शान्तिनिकेतन में बड़ा अन्तर है।"

अचानक मेरी आँखों के सामने एक प्रतिमा तिर गयी। एक सौम्य व्यक्तित्व, सिर पर लम्बे बाल, चेहरे पर दाढ़ी, देह पर लम्बा अँगरखा। वह शाल-वीथी की सुनहली धूप मे खड़ा है। मैंने पूछा, "आप तो उनके समय में थे, मेरा मतलब रवीन्द्रनाथ ठाकुर से है।"

उनके चेहरे पर कोई चमक-सी दौड़ गयी। छलककर बोले, "हमने उनसे पढ़ा है। उन्हें देखा है और आज भी ऐसा लगता है कि वे यहीं कहीं आस-पास विद्यमान है। यही तो हमारे लिए गर्व की बात है, जिसे हम कभी नहीं भुला सकते।"

वह मजे से सिगार पीने लगे। मेरे लिए यह आदमी रहस्यपूर्ण हो उठा था। जिन नन्हें बच्चों को लेकर एक दिन यह आश्रम स्थापित हुआ होगा, उनमें से अधिकांश अस्ताचलगामी हो चले थे। डूबते सूरज की आभा उनके चेहरे पर थी। अब वे कभी नहीं लौटेंगे। मेरे सामने जो व्यक्ति बैठा है, वह भी उनमें से एक है। कह रहा है, "लेकिन यह समझ ही सकते हो कि वे हमें कितनी देर के लिए मिलते। कितने-कितने लोग! और फिर उनका अपना भी ढेर सारा कार्य, जिसका कोई अन्त नहीं। उन्हें पाना भी तो बहुत ही कठिन था। वह अपने आप में ही एक शान्तिनिकेतन थे। आज तो ख़ैर, बटन दबाते ही बिजली जल उठती है, नल घुमाते ही पानी आ जाता है। चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश। बोलपुर का इतना बडा स्टेशन, गाड़ियों का आना-जाना, लोगों का ताँता, मोटर, साइकिल, रिक्शा और तमाम दूसरे वाहनों की आवाजाही। पहले क्या था यहाँ? बाबा ने यहाँ तक पहुँचा दिया। गाँव का एक छोटा-सा स्टेशन, ऊँघता हुआ। न कोई भीड़, न शोरगुल। पेड़ की घनी छाया में दो-चार बैलगाड़ियाँ सुस्ता रही होतीं। रस्सी से बँधे बैल पूँछ फटकारकर मक्खियाँ उड़ा-उड़ाकर जुगाली कर रहे होते। बैलगाड़ी पर सवार होकर ही हम शान्तिनिकेतन पहुँचे थे। शाम होते ही बत्ती जला दी गयी थी। आज की आँखों से देखो तो वह भी अन्धकार-सा ही लगता है। रह-रहकर सियार की हुआँ-हुआँ और झींगुरों का शोर। सबकुछ बड़ा ही विचित्र-सा जान पड़ता।"

अचिन बाबू अतीत के उसी स्वप्न में खो गये थे और जैसे उस पार से बता

रहे थे : "प्रकाश पत्तों-पत्तों में नाचता-थिरकता। मुग्ध हो जाता मैं।" कहते-कहते उनका चेहरा दिप गया। आँखें लाल हो उठीं। घड़ी-भर के लिए रुके और फिर तपाक-से खड़े होकर बोल उठे, "अब और नहीं बन्धु ! चलो, चलते हैं।"

बजता हुआ स्वर अचानक थम गया। मैं उनके चेहरे से अपनी आँखें समेट न पाया। अपनी जेब में हाथ डालकर उन्होंने मेरी ओर ताकते हुए कहा, "उठो भी।"

"हाँ, उठता हूँ", मैंने उठते-उठते कहा, "यह सत्संग भी बाउल-गोष्ठी की तरह ही अचानक खत्म हो गया।"

अचिन बाबू ने हा-हा हँसते हुए कहा, "अच्छा ! तो ऐसा है कि जब बैठेंगे तो फिर जम जायेंगे। फिलहाल मेला घूम लें।"

उन्होंने जेब से पैसे निकाले। मैंने उन्हें रोका, "आप यह क्या कर रहे हैं ? मैं दे रहा हूँ।"

"रुको भी। तुमने मुझे बुलाया था या मैंने तुम्हें ?"

"आपने।"

"तो फिर ?" कहते हुए उन्होंने पैसे चुका दिये। हम बाहर आ गये। अचिन बाबू ने दक्खिन की तरफ़ पैर बढ़ाया ही था कि मैंने पूछा, "उधर भी मेला लगा हुआ है क्या ?"

"अरे, असली मेला तो उधर ही लगा हुआ है।"

उन्होंने ठीक ही कहा था। छातिमतला के मेले से बिल्कुल अलग तरह का मेला। दूसरी ही तरह की दुकानें और दुकानदार, बिसात और बिसाती। इस अंचल के कारीगर और कलाकारों की शिल्प-सामग्री और निर्मितियाँ। लम्बा-चौड़ा मेला ! यहाँ के दुकानदार और खरीददार भी कुछ अलग ही किस्म के थे। गाँव के लोग या फिर गृहस्थ। धान कट चुका था, नवान्न आ गया। इसलिए घर जोड़ने और सजाने-सँवारने का समय था। इधर-उधर भटकने से क्या लाभ ? एक ही स्थान पर सारी चीजों की खरीदारी के साथ ही, दूर अपने-अपने घरों में लौट जाना है।

इसी मेले मे नागर दोले हैं, ऊँचे झूले; जादूगरों का खेल, सर्कस, तरह-तरह के जानवर, अजगर द्वारा मछली का निगलना, एक आदमी के तीन-तीन सिर; आग जलानेवाली जादुई लड़की, तीली छुआते ही जिसका अंग फुलझड़ी की तरह जल उठे।

इतना ही नहीं, गाँव की बालाएँ हाथ बढ़ा-बढ़ाकर चूड़ीवाली को घेरकर कह रही हैं : सजाओ, खूब सजाना मुझे चूड़िहारिन ! माथे की बिन्दी, पत्थर की अँगूठी, तेल-फुलेल, आलता और सुहाग-सिन्दूर...

धूप लगभग ढल चुकी थी। मैंने कलाई-घड़ी देखी : अरे-रे-रे, तीन तो कबके बज चुके !

"क्या हुआ ?" मुझे चिन्तित-सा देख अचिन बाबू ने पूछा।

"मेरा मित्र भोजन के लिए मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा। मैं तो भूल ही गया।"

"मैं तो यही समझ रहा था कि तुम खा-पीकर निकले हो !"

"........"

उन्होंने हँसते हुए कहा, "अरे किसी जंगल में तो नहीं पड़े ! मेले मे ही तो हो। यहीं खा लेना।"

"यह कैसे होगा ? एक बार तो जाना ही पड़ेगा।" मैंने कहा।

हम दोनों ही उत्तर की तरफ़ लौट पड़े। पीछे लौटते ही, किसी परिचित से चेहरे की झलक मिली। मैं उसकी तरफ़ देखता हुआ आगे बढ़ा ही था कि वह चेहरा मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उसकी आँखें मुझपर ही टिकी थीं और होंठों पर बिछल जानेवाली मुसकराहट ! साथ ही, और भी कई संगी-साथी थे। साथिनें भी। वे सब भी खड़े हो गये और मुझे घूरते रहे।

कुछेक क्षणों के लिए मेरे मन के अँधेरे मे बिजली-सी दौड़ गयी। मैंने पूछा, "आप झिनि हैं शायद !"

"आप पहचान गये ? नही मैं झिनि नही, क्योकि मैंने अपने पत्र में यही लिखा था। लेकिन आपका कोई उत्तर नहीं मिला। मेरा नाम है अलका चक्रवर्ती !"

उसके चेहरे पर मुसकान नही, उदासी खेल रही थी। मैं अजीब असमजस में फँसा था। फिर भी, हँस पड़ा।

इसी समय अचिन बाबू ने कहा, "अच्छा बन्धु ! वहीं बाउल-गोष्ठी मे भेंट होगी !"

मैं सचमुच धर्मसंकट में पड़ गया। किधर जाऊँ ? जब एक तरफ़, आँखें तरेरकर कोई युवती अपना भला-सा नाम बताती हुई अभियोग लगा रही हो और दूसरी तरफ़, अपना हाथ उठाये अचिन बाबू अचानक विदा ले रहे हों।

मैं बिना बोले रह न पाया, "आप जा रहे है ?"

उन्होने इस बीच काफ़ी फ़ासला पैदा कर लिया था। पीछे मुड़कर बोले, "हाँ ! जयगुरु ! वहीं भेंट होगी। जयगुरु !"

और वह चले गये। जाते हुए उन्होंने झिनि उर्फ़ अलका चक्रवर्ती की ओर भी देख लिया था। मुझे उनकी बड़ी-बड़ी आँखो मे वही शरारती बालक दीख गया।

इधर मैं किसी की दृष्टि से बँधा था। अलका मुझे अबतक अपलक

निहार रही थी। अपनी झेंप मिटाने को मैं हँस पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि मुझसे अपराध हो गया। मेरी आँखों में एक पत्र तिर गया। उसमें कुछ इस तरह लिखा था—

"श्रद्धास्पदेषु, आशा है, भूले न होंगे। फिर भी, मैं सबसे पहले अपना नाम बता दूँ। मेरा नाम है क्षिति उर्फ़ अलका चक्रवर्ती है। पिता का नाम है, श्री ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती। हमारी भेंट हुई थी।"

हाँ, वही नागरिका सौम्य सुन्दरी! खारी नदी के जलयान पर जिससे परिचय हुआ था। आँखों का चश्मा हाथ में था अभी। कोहनी से झूलता बैग। बालों का पॉनीटेल तो नहीं, लम्बे बालों का जूड़ा। उससे छिटककर दो-एक सूखी लटें माथे पर तथा गालों के पास झूल रही थीं। राढ़ अंचल की बदरंग धूल उसके चेहरे और देह पर फैली हुई। काजल फीका हो चला था। माथे की बिन्दी के साथ-साथ होंठों का रंग भी जैसे बुझा-बुझा लग रहा था। कुछ वैसा ही, जैसा गोधूलि बेला का आकाश! रेशमी साड़ी का भी यही हाल था। गले में सोने की ज़ंजीरवाली घड़ी के सिवा देह पर कोई आभूषण नहीं।

आँखों में चाहे जितनी भी शिकायत हो, उस आधुनिका को पता था कि उसके साथ और भी लोग हैं, जिनकी आँखों में जिज्ञासा है। मैं अपराध-भाव से आहत था। स्वीकारना ही पड़ा, "हाँ, चिट्ठी तो मिली थी, ऐसा है कि... वो..."

बात ख़त्म नहीं हुई। अलका अब बिलकुल पास ही खड़ी थी। हौले-से बोली, "रहने भी दीजिये! आपकी हँसी और आपकी बातों से कुछ भी समझना मुश्किल है।"

फिर ज़ोर से कहने लगी, "मैं अपने मित्रों से आपका परिचय करा दूँ: ये सुपर्णा'दी—अध्यापिका हैं; लिलि घोष – मेरी सहेली; राधा चटर्जी—सहेली। नीरेन हालदार—हमारे नीरेन'दा—स्कूल के हेडमास्टर; शुभेन्दु बनर्जी—मित्र।"

उन सबने भी मेरा परिचय प्राप्त करने के बाद बताया कि अलका से वे पहले ही मेरे बारे में जान चुके हैं। इसमें बताने योग्य कोई बात ही नहीं। लेकिन शुभेन्दु बनर्जी, मित्र-जैसे नहीं दीखते। इसके बाद, वही बेतुके प्रश्न, जो मुझे अच्छे नहीं लगते। फिर भी, चूँकि बातें साहित्य से सम्बन्धित थीं, सुननी ही पड़ीं। दो-एक वाक्य कह भी गया या कि कहने पड़े।

"कहाँ ठहरे हैं?" मैंने पूछा।

नीरेन'दा ने बताया, "यहीं, एकदम पास ही। दक्खिनपल्ली के एक घर में। आप कहाँ हैं?"

"अब यदि आप दिशा के बारे में पूछ रहे हैं तो कहूँगा, पश्चिमपल्ली में।"

सुपर्णा'दी ने कहा, "आश्रम की ओर ही हैं फिर तो !"

नीरेन'दा भारी-भरकम आदमी थे। खिल्वाट सिर। खादी का कुरता—गेरुआ रंगवाला और ऊपर से मोटी चादर। कन्धे पर टँगी झोली। सुपर्णा'दी कमजोर बीमार-सी। उम्र, यही कोई चालीस ! अनुमान से ही कह रहा हूँ। राधा और लिलि, अलका की समवयसी—तीनों साज-बाज से सुरुचिसम्पन्न युवतियाँ। सुपर्णा'दी इनकी तुलना में धीर-गम्भीर। शुभेन्दु, सिर से पाँव तक साहब। सजे हुए तरंगित बाल, नुकीली-पतली मूँछ—तलवार की तरह धारदार। कद लम्बा और स्वस्थ सुन्दर व्यक्तित्व। उसने अपनी आँखों पर चढा चश्मा खोला नहीं, अलबत्ता धूप के कारण कोट उतारकर हाथ में रख लिया था। गले में साँप की-सी रंगीन चिकनी टाई जिसमें लगी टाईपिन भी सीने पर चमक रही थी।

नीरेन'दा ने बताया, "हम सब अपने एक मित्र के खाली घर में टिके हैं। चलिये न, चलकर देख लीजिये। पास ही तो है। यहाँ से कोई दो-तीन.. मिनट, बस !"

मैं निरुपाय था, निमन्त्रण पाकर भी। सूरज लगभग ढल चुका था। कहना पड़ा, "बाद में आऊँगा।"

"यह मत कहियेगा", पीठ-पीछे अलका ने रोका। मैंने मुड़कर देखा, उसकी फीकी बिन्दी एक बार झिलमिला उठी। रँगे हुए होंठ तनिक भिच-से गये थे, "यह तो सुना ही नहीं कि किसका घर है, कौन सा घर है। आप वहाँ तक पहुँच जायेंगे न ?"

यह अलका न थी, झिनि थी झिनि। आँखों मे धार और बातों में खनक। रोष भी होगा। दर्शनशास्त्र पढ़ी हुई कन्या। इस दार्शनिका को सहज ही मात करना सम्भव नहीं। दर्शन है ही तर्कसिद्ध, युक्तिपूर्ण।

इसी समय राधा चटर्जी ने कन्धे तक छँटे बालों को झटका देते हुए पूछा, "इसका मतलब है, न आने का बहाना !"

अलका ने छूटते ही कहा, "ऐसा मत कहो। वादा करके तो जा ही रहे हैं कि बाद में आयेंगे।"

लिलि ने भी चुटकी ली, "इसके बाद कोई कुछ कह भी नहीं सकता क्योंकि घर का पता-ठिकाना तो उन्हे मालूम ही नहीं।"

नीरेन'दा ठठाकर हँस पड़े। सुपर्णा'दी भी। राधा और लिलि भी खिलखिला पड़ी। अलका चुप खड़ी रही। शुभेन्दु के गम्भीर चेहरे पर भी हलकी-सी मुसकान खेल गयी।

सुपर्णा'दी ने प्यारभरी डपट लगायी, "तुम सब मिलकर उन्हें इस तरह क्यों सता रही हो ? फिर तो वह खूब आ लिये !"

मैंने जल्दी से जोड़ा, "घर का पता तो मैं पूछने ही वाला था।"

"और पता लेने के बाद, आने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती," अलका की इस बात पर राधा और लिलि फिर खिलखिला उठी। नीरेन'दा भी। उन्होंने याद दिलाया, "जो भी कहो, असमय ही उन्हें ले जाना ठीक न होगा। काफ़ी देर हो चुकी है। आपने खाना-वाना खाया या नहीं ?"

विवशताभरे शब्दों में मैंने कहा, "नहीं। मैं तो अपने मित्र के यहाँ टिका हूँ। वे मेरे लिए उद्विग्न हो रहे होंगे।"

तब सुपर्णा'दी ने स्वयं दक्खिनपल्ली का पता बताते हुए कहा, "नहीं, अब इस समय तो कुछ न कहूँगी। लेकिन आना तो पड़ेगा ही।"

राधा ने कहा, "हम भी आपको खिला सकते थे।"

"ठीक है, फिर कभी," मैंने आश्वस्त किया जैसे।

"सचमुच। आपकी बातों पर तो ज़रा-सा भी अविश्वास नहीं होता।"—अलका की इस टिप्पणी पर फिर एक बार सभी हँस पड़े। उसने पीछे मुड़कर कहा, "आप लोग आगे बढ़िये सुपर्णा'दी ! मैं अभी आयी।"

सभी चकित हो गये जैसे। मैं भी। नीरेन'दा ने कहा, "देखा आपने ? इनको साथ लेकर चलना क्या आसान काम है ? वादा करके नहीं निभाना कितना मुश्किल है, अब तो पता चला।"

बस, इतना कहकर वे आगे बढ़ गये—"झिनि देर मत करना ! तुम्हारी वजह से उन्हें भी देर हो जायेगी।"

राधा और लिलि ने भी मुड़कर देख लिया और हँस पड़ी।

अलका ने कहा, "आपको अधिक देर तक खड़ा नहीं रखूँगी। चलिये, थोड़ी दूर छोड़ दूँ।"

"कहाँ ?" मैं चकित था।

"आप जहाँ ठहरे हैं, वहाँ।"

"इतनी देर हो गयी है आप ख़ामख़्वाह उतनी दूर तक..."

"मैं आपका चेहरा देखकर ही समझ गयी कि आपको ज़ोरों की भूख लगी है !"

"आपको नहीं लगी ?"

अलका ने गर्दन टेढ़ी कर आँखें उठा ली। उसकी पलकों के नीचे कोई काली-सी छाया उतरा गयी, अवसाद की हल्की-सी भाईं के साथ। ठमककर बोली, "लगी है। फिर भी, लड़के और लड़की की भूख में अन्तर होता है। मुझे कोई कष्ट न होगा !"

कलकतिया विदुषी ने कैसी बात कह दी ! मैं सुनकर दंग था। रंगभरी धूल से धूसरित सुन्दरी एकदम वैरागन-सी दीख रही थी। चेहरा भी लटक गया था।

स्त्रियों मे सहन-शक्ति अधिक होती है यह तो मैं जानता हूँ, लेकिन मुझे उतनी दूर छोड़कर, वह फिर अकेली वापस आयेगी—इसे पुरुष का हृदय कैसे स्वीकार कर ले ? मैंने पूछा, "लगता है, काफ़ी देर हो गयी बाहर निकले ?"

"हाँ, एकदम सुबह ही कई लोगों से मिलने श्रीनिकेतन जाना पड़ा।"

"इसीलिए काफ़ी थकी हुई दीख रही हैं।"

"आपसे अधिक नहीं !"

जब मैं स्वयं को देख नही पा रहा तो चुप रहना ही पड़ा। लेकिन हँसी रोके नहीं रुकी। उसके चेहरे पर भी हँसी उभरी थी, लेकिन वह फूटी नही। इस परेशानी से बचने के लिए मुझे यह प्रस्ताव रखना पड़ा, "तो फिर हम-लोग कहीं बैठ जायें।"

"कहाँ ?"

"कहीं, किसी चाय-कॉफ़ी घर मे।"

अलका की आँखें तलवार की धार की तरह चमक उठी, किसी जिज्ञासा से। फिर बोली, "भूख के चलते तकलीफ़ तो नही होगी ?"

मैंने उसे विश्वास दिलाया, "किसी लड़की से अधिक नही।"

"लेकिन भूखे-प्यासे आदमी के साथ बात करना किसी लड़की को कुछ अच्छा नही लगता !"

"लड़को को भी।"

अलका की उदासी तो अब भी नही छँटी, लेकिन उसकी नाचती पुतलियाँ चमक उठी। अपने फीके होंठों को उसने भीच रखा था। ऐसी मुसकान भी बड़ी बेईमान होती है, उसे दबाकर उसने कहा :

"आपसे कुछ कहना भी तो है !"

"वही तो सुनना चाहता हूँ।"

"मुझे गुस्से से बड़ा डर लगता है।"

"किसके गुस्से से ?"

"जिसका भी हो। गुस्सा आखिर गुस्सा ही होता है।"

"मुझसे भी डर लगता है ?"

वह होंठो को भीचे बैठी थी। कही वह बेईमान-सी हँसी होंठो को भेदकर निकल न पड़े। बोली, "आप गुस्सा तो नहीं ?"

मैंने गर्दन हिलाकर कहा, "नही।"

अलका मेरी ओर देखकर कुछ ढूँढती हुई-सी बोली, "हमारा परिचय ही कितना है ? शायद इससे अधिक अधिकार जता बैठी।"

अच्छा ! तो इतना लेखा-जोखा उसके मन में चल रहा था। मुझे तो उसकी चिट्ठी की याद आयी हुई थी। उसे मन-ही-मन दोहराते हुए मैंने कहा, "कहाँ,

मुझे तो इसका कोई ध्यान ही नहीं।

"इसके अलावा, अगर आपकी भूख की बात जाने भी दें तो इतना तय है कि आपके साथी आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" वह बोली।

"अपेक्षा न भी हो लेकिन चिन्ता तो करेंगे ही शायद! ख़ैर, वह सब मैं सँभाल लूँगा।"

"तो फिर कहीं बैठेंगे, चलिए।"

अधिक दूर जाना न पड़ा। पास ही, वही रेस्तराँ था, जहाँ मैं अचिन बाबू के साथ बैठा था। कॉफ़ी के लिए कहते हुए, हम एक किनारे बैठ गये।

अलका ने टोका, "इतनी देर हो गयी। आप कुछ खाने को भी ले लीजिए न!"

"आप कुछ लेंगी?"

"नहीं," अलका ने नकारते हुए कहा, "अब यह रूखी-सूखी चीज़ें खाना मुझे पसन्द नहीं। आप कुछ खाइए।"

"मेरी इच्छा नहीं, सचमुच!"

अलका ने फिर मेरी तरफ़ देखा। मेज़ की दूसरी ओर बैठते हुए उसे अचानक ख्याल आया कि उसकी गोधूलि रंग की साड़ी का एक हिस्सा उसके सीने से नीचे ढलक गया है। गोल गलेवाली केसरिया रंग की कुरती में वह एकबारगी संकोच से सिहर उठी। फिर तेज़ी से घूमकर उसने आँचल को अपने सीने तक खींच लिया। लाज से उसकी पलकें झुकी रहीं।

"आपके बाबा कैसे हैं?" मैंने पूछा, "और..."

"आपको उनकी बातें याद हैं?" मेरी बात ख़त्म होने के पहले ही अलका ने हैरत से पूछा।

मैंने भी अचरज में भरकर ही उत्तर दिया, "क्यों, याद क्यों नहीं रहेंगी?"

अलका हौले-से मुसकरा दी। यह वह शरारती मुसकान नहीं। लगा, बदली छँट गयी। मुसकराकर बोली, "आपने इतनी देर कुछ कहा नहीं। इसीलिए सोच रही थी, भूल गये। लेकिन वे तो हमेशा आपकी बातें किया करते हैं।"

सचमुच! मैंने ग़लती की थी। अपने अपराध-भाव से आहत भी था। उनकी सुध मुझे पहले ही लेनी थी। लेकिन ज़रा भी समय नहीं मिला। दूसरी बातों में समय निकल गया।

मैंने सफ़ाई दी, "अब कोई प्रमाण तो नहीं दे सकता, लेकिन आपके बाबा को मैं कभी नहीं भूला। माँ को भी नहीं।"

अलका की आँखें झुकी थीं। धीरे-धीरे उठीं। उनमें कोई जिज्ञासा थी। उसने अपने होंठों को दबाया और आँखें झुकाकर बोली, "यह मैं भी नहीं जानती

कि ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती-जैसे लोग भी इतने मुग्ध क्यों हैं ? हमेशा कहते रहते हैं, बड़ा भला लड़का है और माँ कहती हैं, जरा-सा भी घमण्ड नही।"

मेरी आँखों के सामने दोनों चेहरे एक साथ तिर आये। साथ ही, उनकी बातें! यह सही है कि मैं प्रतिज्ञापूर्वक उन्हें याद न रख पाया। हाँ, अन्तर मे अवश्य ही अंकित हैं।

"उनकी तरह तो नही। लेकिन वे मन में हैं," मैंने कहा।

अलका के होंठों पर तीखी मुसकान खेल रही थी, उसे बिखेरकर बोली, "वे बराबर कहा करते है : आपको पत्र लिखूँ और आपका समाचार उन्हें दूँ। तू लिखती क्यो नही ? मैं कहती रही, जल्द ही लिखूँगी।"

यह अधम शब्द-शिल्पी क्या कहे ! उसके कोप का हिसाब लगाता रहा। बस अपलक देखता रहा उसे। अलका हँसी फिर अपने रेशमी आँचल की ही तरह लहराकर बोली, "मैंने थोड़ा-सा झूठ भी कहा। सोचा था, उत्तर मिलते ही उन्हें बताऊँगी। आप ही बताइये, उन्हें कुछ न बताकर, मैंने ठीक नही किया ?"

इस बीच कॉफ़ी आ गयी थी और मेरे होंठों पर भी वही शरारत भरी मुसकान। लेकिन संकोच पीछा नही छोड़ रहा था। मैंने कहा, "वो...ऐसा है कि मेरा मतलब..."

"कॉफ़ी पीजिए !"

"हाँ।" मेरे मन का चोर मुक्त हुआ जैसे। लेकिन यह इतना सहज भी नहीं। अलका ने फिर टोका, "आपकी मुसकराहट देखकर और बातें सुनकर कुछ समझ नही पाती। इसीलिए फिर एकबार पूछ रही हूँ—आपको मेरी चिट्ठी मिली थी या कि बस टालने के लिए ही कह गये ?"

"सचमुच मिली थी, हाँ..." मैंने जल्दी से सिर हिलाकर हामी भरी।

"तो फिर उत्तर क्यों नहीं दिया ?" फिर वही प्रश्न।

क्यों नही दिया ? अब यह यात्री क्या उत्तर दे ? कथनी में आगे और करनी में पीछे ! लेकिन मेरे सिवा मेरी साक्षी देनेवाला वहाँ था ही कौन ? इतना ही कह पाया, "बस यूँ ही, सोचते-सोचते ही दिन निकल गये। और कोई कारण नही।"

कॉफी की चुस्की के साथ ही अलका तनिक सहज और सरस हो गयी। उसके साँवले-सलोने चेहरे पर धूप खेल रही थी, नदी की तरगो की तरह। अपनी मुसकान को शब्दों में ढालकर बोली, "मैं कुछ कहूँ ? मेरे बाबा और माँ को याद रखकर भी आप मुझे भूल गये, तभी तो कोई उत्तर नही दिया। है न ?"

"नही, नहीं, आप...?"

"लेकिन मैं नहीं भूली। मेरी चिट्ठी से ही लगा होगा।"

"हाँ, सचमुच...।"

यह तो जानलेवा दार्शनिका है। उसकी पुतलियों में हास्य और व्यंग्य, कौतूहल और प्रश्न—दोनों ही मुखर थे।

मैंने उत्तर दिया, "मुझे उन दोनों की याद थी।"

लेकिन इसके पहले ही गुप्ती से नुकीला धारदार छुरा निकल आया—"ढेर-सी चिट्ठियाँ रोज़ ही मिलती होंगी, उनका जवाब देते-देते ही थक जाते होंगे। है कि नहीं?"

"नहीं। ऐसी कोई बात नहीं।"

"फिर क्या बात है?" अचानक अलका का स्वर एकदम बदल गया। जैसे कण्ठ से अन्तर में उतर आया। उसकी मुसकान शायब हो गयी। सलोनी सूरत, धूल से अटा माथा, चेहरे पर उड़ते रूखे बालों के बीच उसका सारा तेवर ही बदल गया। भरे हुए स्वर में धीमे-से बोली, "मेरी चिट्ठी बड़ी बेतुकी-सी लगी होगी!"

मैं उसके चेहरे की तरफ़ ही देखता रहा। तत्काल कुछ कह न पाया। उसने फिर जोड़ा, "फ़िलासफ़ी पढ़ते हुए मैं यह ठीक-ठीक न जान पायी कि आप-जैसे लेखकों को चिट्ठी कैसे लिखी जानी चाहिए। अपने बाबा-माँ की तरह उनकी बेटी भी शायद रीझ गयी थी। इसीलिए पता नहीं, क्याकुछ लिखना चाहकर भी, क्या-से-क्या लिख गयी, अनजाने ही छोटा-मोटा काव्य।"

"अलका देवी!"

"माफ़ी चाहती हूँ। आज अचानक ही आपको सामने पाकर मैं सुध-बुध खो गयी और नादानी कर बैठी! माफ़ कर दीजिए!" और वह उठ खड़ी हुई। उसका चेहरा दूसरी तरफ़ घूम गया था। मैं अपनी कुर्सी छोड़ना भूल गया और उससे कुछ कहना भी। व्यक्ति एवं परिवेश के विशेष सन्दर्भ में सामान्य-सी कोई बात भी, कितनी असामान्य हो जाती है—यह मैं जानकर भी अबतक समझ न पाया। सचमुच, कितनी ही चिट्ठियों का जवाब नहीं दे पाता और स्वयं भी कितने ही पत्रों के उत्तर नहीं पाता। लेकिन राह चलते-चलते ही किसी छोटी-सी मुलाकात ने ऐसी जटिल परिस्थिति में नहीं डाला।

मैं समझ रहा था। अलका ने अपने बैग से रूमाल निकालकर अपनी धुँधली आँखों को पोंछ लिया। कुछ क्षणों के बाद, उसी तरह मुड़कर बोली, "ऐसी कोई बात नहीं। इतना-सा निवेदन करना था, इसीलिए आपको कष्ट दिया। हो सकता है, बाद में अपनी बेवकूफ़ी पर तरस भी खाऊँगी। फिर भी..."

अपनी बात को समाप्त किये बिना ही वह मुड़ी। चेहरे पर अनचाही-सी मुसकान, लेकिन आँखें भीगी...लाल।

"अब रुक न पाऊँगी। चलूँ...पैसे!"

"मैं दूंगा, लेकिन अलका देवी...?"

"नहीं। उस समय जैसा कहा था, अब मैं वैसी अलका चक्रवर्ती नहीं। मैं हूं भिनि, सिर्फ़ झिनि!"

"सुनिये...झिनि...!"

भिनि हँस पड़ी और हँसते हुए बोली, "आपकी बातें सचमुच बड़ी विचित्र हैं। लेकिन अभी कुछ सुनूंगी नही। इस वेला जाऊँगी।"

इतना कहती हुई वह चायघर से बाहर निकल आयी। मैं चकित था। पूछ ही नही पाया कि उस वेला वह कहां जायेगी। शायद अब उससे मुलाकात ही न हो। लेकिन मुझे जो कहना था, मैं कह न पाया।

झिनि अगला मोड़ पार करते हुए एक बार मुड़ी। फिर हँसकर देखा, नीले आकाश पर फैली धूप की तरह...और फिर खो गयी।

झिनि के चेहरे पर नीले आसमान की धूप चमक रही थी। इधर मेरा हृदय भी डूबा हुआ था। बिन बादल-बिजली के ही वज्रपात! चारों ओर अन्धकार था। न अपनी आँखों से कुछ देख पा रहा था और न कानों से कुछ सुनायी दे रहा था। क्या घटित हो गया, मैं समझ नही पाया। बस, आँखों के सामने अनजानी-सी एक युवती थी, दूर की पहचानी। स्वभावतः ही थोड़ी-बहुत बातें, जिनसे विशेष किसी आशय की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

बैरा कॉफ़ी का खाली कप उठाकर ले गया। मुझे इतना ही पता था कि मैं पैसे चुकाकर मेले की भीड़ से गुजरता हुआ अपने मित्र के घर जा रहा था। मेरे कानों में अब भी कुछ शब्द झनझना रहे थे—'फिलासफ़ी पढ़ने के कारण शायद आप जैसे लेखक को...!' कैसे मान लूं भला? ऐसी बातें भी कहीं मानी जाती हैं? संसार-यात्रा में इस तरह की बातों ने रोका भी है, लेकिन बाहरी तौर पर कोई रुकावट नही पड़ी। अन्तर में तो पहले से ही नन्ही-सी जान कहीं और अटकी हुई थी। विदुषी की बातें मैं किस प्रकार मान लेता भला?

बार-बार उसकी बातें कुरेद जातीं! मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। विदुषी की बात तो दूर, किसी के लिए भी मेरे मन में असम्मान का अहकार न था। इससे भी अधिक दाहक मुझे झिनि की डूबती हुई आवाज़ लग रही थी। उसकी धुंधली-सी दृष्टि मेरे हृदय में चुभ रही थी।

मैं चाहकर भी आत्म-धिक्कार से बच न पाया। झिनि के प्रति किया गया मेरा अपराध तो बहुत पहले का ही है। इसके बाद...'नही, मैं अलका चक्रवर्ती

हूँ, झिनि नही।' सचमुच, यह अलका चक्रवर्ती की तरह आयी या गयी नहीं। सबकुछ झिनि की तरह ही। फिर भी मेरा मन कहीं बिंधा था। बड़ा ही अस्पष्ट लेकिन तीखा-सा दंश था। साथ ही, उस पर किये गये अन्याय से मैं स्वयं ही आहत था। मुझे लगा, मेरे चारों ओर नंगे नुकीले काँटे हैं। घातिमत्ता के मेले में एक अजीब-सा तमाशा ही हो गया।

झिनि की आँखों में, उसके स्वर में, उसकी बातों में जो दावा था, वह सब सच है क्या? कितना सच है? मैं मेले की भीड़ से गुजर रहा था, लेकिन इस भीड़ में भी, उसी विदुषी का चेहरा तिर रहा था। टेढ़े-मेढ़े अक्षरोंवाली वे पंक्तियाँ लहरा उठती थी। मैं उन्हें पढ़ने की चेष्टा कर रहा था। स्मृति की आँखों में वैसी धार नही होती। लहरें अब भी उठ रही थी...

"देखती हूँ, दैव जैसी कोई सत्ता है अवश्य! अन्यथा आपको नये सिरे से कुछ बताने को नहीं। नदी-नालों से भरा-पूरा यह दक्खिनी अंचल प्राचीनकाल में आर्यों के द्वारा भी तिरस्कृत रहा। मुग़ल सल्तनत के लिए सुन्दरवन का इलाका और कुछ नहीं, 'दोज़ख' था, याने नरक। 'देशनिकाला' देकर अपराधियों को वहीं भेज दिया जाता। अब तो वहाँ सोना फल रहा है। फिर भी हम यह जानते ही हैं कि यम का द्वार भी वहीं-कहीं दक्खिन में ही है। मैं तो कभी यह सोच भी नही पायी थी कि उसी दक्षिणा-पथ पर बढ़ते हुए, लाउंज पर आपसे मुलाकात हो जायेगी। सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है!

"आपसे तो किसी पत्रिका-कार्यालय या किसी प्रकाशक के निवास पर भेंट होनी चाहिए थी। और आप भी वैसे ही निकले। कपड़े की एक झोली लटकाये किसी फ़कीर से बातें करते निकल गये—उसके साथ हँसते, मुसकराते और उसका गान सुनते। मैंने तो पहले यही समझा था कि आप भी हमारी तरह ही अपने घर-परिवार की ओर लौट रहे हैं, परदेस से अपने देस! मैंने ठीक ही समझा था कि आप उसी अंचल के निवासी होंगे। बहुत सम्भव है, कलकत्ता में नौकरी कर रहे होंगे, या फिर वहीं-कहीं किसी स्कूल के मास्टर होंगे। किसी परचून की दुकान के मालिक भी हो सकते हैं। धान-चावल के किसी आढ़तिया की-सी आपकी सूरत नही, वरना मैं वैसा सोचकर भी देखती...

"लेकिन, जब परिचय हुआ तो, अरे-रे-रे—मैंने तो मन-ही-मन अपनी जीभ काट ली थी, लाज से डूब मरी थी। इस पर से बाबा की ऐसी बातें? सच बताइयेगा, बाबा आपको कैसे लगे? आपने तो इस संसार में ढेर सारे लोगों को देखा होगा, बाबा की तरह कोई मिला आपको?

"ख़ैर, जाने भी दीजिए इन बातों को। मुझे चाहे जितना भी संकोच हुआ हो, लाज आ रही हो, मैं मन-ही-मन बहुत खुश थी। सोच रही थी, भले ही लम्बी दाढ़ी-मूंछ न हो, आप एक प्रौढ़ और प्रबुद्ध व्यक्ति हैं! नहीं, आप तो

एकदम दूसरी ही प्रकृति के हैं। इतना तय है कि आपकी लेखनी के साथ आपका कोई मेल नहीं। इस बात पर माँ के साथ भी मेरी बातचीत हुई थी। वह भी मेरी तरह ही आपकी किताबें पढ़ चुकी हैं। माँ के शब्दों में, आप एक छोटे-से शिशु हैं।

"आपको देखकर हमें सचमुच ही अच्छा लगा था। आपके तो जैसे हाथ-पाँव ही बँधे थे।"

कैसी विडम्बना थी! झिनि ने ऐसी ही कई बातें लिखी थीं। मेरी आँखों में उस नागरी का चेहरा तिर रहा था, लेकिन अब वह कोई नागरिका नहीं, ग्राम-बाला थी, चंचला...जो बेरोक-टोक बोल रही थी, हँस रही थी।

"यह तो भाग्य ही है कि नमस्कार, अभिवादन, नाम-परिचय या वार्तालाप मात्र से हमारी भेंट का अन्त नहीं हुआ। अच्छा ही हुआ! उस समय आप एक दूसरे ही व्यक्ति रूप में थे। आप तो शायद इसी तरह बाहर निकल पड़ते होंगे? बड़ा मजा आता होगा! काश, मैं भी निकल पाती! मेरे जी में भी आता है कि कभी-कभार इसी तरह बाहर निकल पड़ूँ!

"वह नदी, बलुआई किनारा, भेड़ी बाँध, दिगन्त तक फैले खेत, मीठी-मीठी धूप में झिलमिलाता आकाश और उन सबमें आप जैसे खोये हुए थे—किसी अलौकिक राज्य में, जहाँ कोई बाधा नहीं। आपकी तरह मेरे जी में भी उठता है कि मैं उनमें खो जाऊँ, लेकिन ससार ने हमें वह अधिकार नहीं दिया। और, बाबा तो हमेशा यही कहा करते हैं—'अनजानी जगहों पर एक मुसलमान फकीर के साथ, वह लड़का कैसे निकल पड़ा? क्या उसे अपने प्राणों का जरा भी भय नहीं?' सच, मैं भी यही सोचती रही थी कि आपको जरा भी डर नहीं लगता? बादा अंचल की ओर जाते हुए लोग तो यूँ ही सहम जाते हैं। खून-डकैती तो वहाँ आम बात है। क्या यह सारा उपक्रम लिखने की सामग्री जुटाने के लिए है? या कि मन नहीं मानता, इसलिए? मुझे तो ऐसा ही प्रतीत हुआ था कि आप अपने अन्तर की आकुल पुकार सुनकर ही वहाँ गये थे।

"गुस्सा तो नहीं आ रहा? इतना कुछ कह गयी। आपके संग जो बातें हुई थीं, उससे तो लगता है, बुरा नहीं मानेंगे। तभी तो मैं आपके असल रूप को पहचान पायी थी। आपके संगी, गाजी के कारण हमारी मुलाकात एक यादगार बन गयी। सचमुच, आश्चर्य होता है। आखिर हम लोग भी थोड़ी-बहुत यात्रा करते ही हैं, लेकिन किसी अपरिचित को इस तरह अपना संगी नहीं बना लेते। यह तो आपलोगों की ही खूबी होगी। मुझे भी आपका वह गाजी बहुत पसन्द आया था, और उसके गीत तो और भी अच्छे लगे थे। मैंने वैसे गीत पहले कभी नहीं सुने। आपकी वजह से ही यह सम्भव हो पाया।

"बाबा की जिद के बारे में क्या कहूँ? पर उन्हें भी गाजी बहुत ही भाया था। नहीं तो बाबा किसी के साथ इतनी बातें क्यों करते? यह सही है कि मेरे

बाबा सहज ही किसी बात को नहीं मान लेते। हाँ, उसमें रुचि अवश्य लेते हैं। सोचकर सचमुच हैरत होती है। आप कोई जादू टोना तो नहीं जानते? मेरे बाबा तो मुग्ध हैं आप पर। रोज़ न होते तो भैया की बातें सुनकर भी आपसे न कहते। जैसे अवश होकर सबकुछ कह गये। एक बाहरी व्यक्ति के सामने बाबा इतने कातर हो उठेंगे, यह हमने कभी सोचा भी न था। और हम माँ-बेटी भी आपके सामने टप-टप आँसू बहाती रहीं। सचमुच, आप बड़े निर्मम हैं।"

मुझे बड़ा अजीब-सा लग रहा था। छिनि के साथ मेरी दो बार ही मुलाकात हुई थी। दोनों बार ही, मुझे उसकी आँखों में आँसू देखने पड़े। क्या उस विदुषी के अन्तर्व्योम में केवल बादल ही घुमड़ते रहते हैं कि जब-तब बरसने लगते हैं? उसकी मनःस्थिति जैसे उसकी लेखनी में उतर आयी है—

"आपसे ईर्ष्या हो रही है। माँ और बाबा दोनों ही आपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। पचमुख हो उठते हैं। अपने किसी मित्र के आते ही बाबा आपका प्रसंग छेड़ देते हैं। एक दिन कहने लगे: 'होनहार लड़का है। इसे ही कहते हैं कवि और शिल्पी।' मैंने उन्हें बताया भी कि बाबा, वे कवि नहीं, गद्यलेखक हैं। तो छूटते ही कह उठे: 'अरे, एक ही बात है, कवि हो या लेखक। उसको देखते ही पता चल जाता है कि वह कोई सहृदय है, सब समझता है। आजकल के छोकरों की तरह सिर पर बड़े-बड़े बाल रखे नहीं उड़ाता फिरता।' बाबा की बातें...आप समझ ही गये होंगे। बार-बार वह यही बात दोहराते रहे कि दादा के उस छोटे-से कस्बे में रात बिताना उन्हें अच्छा नहीं लगा। मेरी माँ भी यही बातें करती हैं।

"मैं नहीं जानती, आपके माता-पिता हैं या नहीं। आशा करती हूँ, होंगे। वे दोनों आपके स्वभाव से परिचित होंगे, तभी उन्हें भय न लगता होगा। मेरे माँ-बाबा को तो बड़ा भय लगता है। केवल आपको पाकर ही नहीं, किसी दूसरे को भी वे ऐसा ही कहते। मेरी माँ तो कहती ही रहती है कि आप बड़े ही मिलनसार हैं, बड़े ही मधुर। तनिक भी अहंकार नहीं। आप समझ ही गये होंगे कि इनके लिए आपका औपचारिक परिचय बहुत महत्त्व नहीं रखता।

"मैं भी यही कुछ कह रही थी। आप पर मेरा कोई व्यक्तिगत अधिकार तो नहीं, लेकिन एक साधारण बंगाली लड़की की हैसियत से ही...आप इस तरह रात-बिरात में अनजानी जगहों में कहीं ना ही टिकें तो अच्छा। पता नहीं, कब कहाँ कौन-सी विपत्ति आ पड़े।

"वे बराबर पूछा करते हैं कि मैंने आपको पत्र लिखा या नहीं? बहुत दिनों के बाद लिखने बैठी हूँ, तभी चिट्ठी इतनी लम्बी हो गयी। शायद आपका धैर्य

भी टूट चुका हो। फिर भी, कष्ट करना होगा। आप पर मुझे ज़रा भी अविश्वास नहीं, तो भी मैंने माँ-बाबा को नहीं बताया कि आपको पत्र दे रही हूँ। क्योंकि किसी कारणवश यदि आपका उत्तर नहीं मिला या आप कहीं बाहर घूमने निकल गये तो मुझे इनके सामने शर्मिन्दा होना पड़ेगा। विशेष कोई बात नहीं। दरअसल उनकी जितनी उम्र है और आप उन्हें जितने भा गये हैं, उत्तर न पाकर वे सचमुच ही बहुत दुखी होंगे। इसीलिए मैंने यह सोचा कि आपका जवाब मिल जाने पर ही, मैं उन्हें इस बारे में बताऊँगी।

"यह केवल माँ या बाबा का ही नहीं, मेरा भी निमन्त्रण है। किसी दिन हमारे घर पधारिये न ! आप तो कलकत्ता से अधिक दूर भी नहीं। आपके आने पर हम सभी को अच्छा लगेगा। हमारे घर की छत से आदि-गंगा दिखायी पड़ती है। कुल मिलाकर, हमारे यहाँ का परिवेश आपको बहुत शहरी प्रतीत नहीं होगा। आप जहाँ हैं, उससे मिलता-जुलता...

'नहीं, अब आपको अधिक तंग नहीं करूँगी। आपके उत्तर की प्रत्याशा में हूँ। अन्त करते हुए अपना किताबी नाम नहीं लिखना चाहती, यहाँ वह व्यर्थ-सा लग रहा ् । नमस्कारसहित, इति झिनि।"

मैं तबतक मोड़ पारकर आश्रम की सीमा में प्रवेश कर रहा था। मेले की भीड़ भाड़ से अलग, निर्जन में। लेकिन चलते-चलते भी अचानक मेरे पाँव रुक गये। स्मृति की आँखों में, जिसकी लेखनी स्पष्ट थी, उसे मैंने उत्तर क्यों नहीं लिख भेजा ? इसे मात्र विस्मृति या अविचार नहीं कहा जा सकता, अविवेकपूर्ण और शालीनताहीन भी कहा जा सकता है।

कहाँ है मेरा उत्तर? मेरा हृदय क्या उत्तर दे ?

मैं स्वयं से पूछता हुआ, बायीं ओर मुड़ा, मित्र के घर की तरफ़। लेकिन मेरा मन मुझे दायीं ओर खींच रहा था। मेरी आँखें आँवले के पेड़ों की कतार से आगे सप्तपर्णी के पेड़ो की फुनगी पर टिकी थीं। अचानक मेरी आँखों मे चमक-सी दौड़ गयी। मेरी जिज्ञासा के अनुरूप ही मुझे उत्तर मिल गया, अपनी उदास हँसी में। इसमें अविचार, अविवेक या शालीनहीनता-जैसी कोई बात नहीं। मुझे पता है, ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती महाशय किसी के पिता हैं। उनकी गृहिणी के रूप में एक ऐसी माँ थी, जिसकी आँखों में अनवरत करुणा का सागर हहरा रहा था। मुझे उनका स्नेह मिला था, यह मेरा सौभाग्य ! और इस विदुषी युवती की प्रीति भी।

इस जीवन में कितने ही ज्वार-भाटे उतराते रहते हैं। कितना कुछ रेत पर लिखा जाता है, और मिट जाता है। स्मृति में कितना कुछ अंकित हो जाता है। प्रकृति स्वयं अपने हाथों सँवारती है इसे। लेकिन मैं इस आयी-गयी रेत

को छानने नही बैठूंगा। सबकुछ दोनों किनारों पर पड़ा रहे, मैं इन उठती-मिटती लहरों के नियम से स्तम्भित होकर बैठा तो न रहूँ !

इसी तरह, एक दिन ब्रह्मनारायण और उनकी पत्नी का मन भी इन आती-जाती लहरो के साथ रेत में दब जायेगा, क्षिनि का भी। आज का राग-द्वेष, मान-अभिमान, रोना-धोना कुछ भी नही रहेगा। इस आती-जाती भीड़ मे, इस मेले-रेले मे कोई मोड़ नही। यहाँ तो सबकुछ डुबोनेवाला ज्वार है और वही बचा रह जाता है। इसे निष्ठुर बताकर भी क्या किया जा सकता है? जबकि सत्य यही है।

जीवन के सारे प्रश्नोत्तर दूसरी ही विधि के नियमों के अनुसार सम्पन्न होते है। इन्हे लिखने-लिखाने का उपक्रम व्यर्थ है। इसलिए स्वयं को समेट चलो। बगीचे के द्वार पर हाथ रखते न रखते, मित्रवर का उद्विग्न स्वर सुन पड़ा : "मैं अभी-अभी मेला-दफ़्तर जा रहा था जहाँ खोये हुए लोगों के बारे मे सूचना दी जाती है। वहाँ न मिलने पर सीधे थाना दौड़ पड़ता। बात क्या है?"

मैं शर्मिन्दा था। घबराकर बोला, "हाँ, थोड़ी-सी देर हो गयी।"

"थोड़ी-सी देर ? सर्वनाश। इसे थोडी देर कहते है तो अधिक देर किसे कहेंगे ? चार कबके बज गये !"

मैंने तत्काल अचिन बाबू का नाम ले लिया। बन्धु ने उसी क्षण उद्वेग भरी हँसी के साथ उत्तर दिया, "अच्छा, फिर तो थोड़ी ही देर हुई है। उनके शिकंजे से निकल आये, ग़नीमत है।"

बन्धु का घर सूना पड़ा था। गृहिणी और अतिथि सब ग़ायब। मित्र ने बताया, "हारकर मेला की तरफ़ गये हैं सभी। मेरी सहधर्मिणी ने आपका दायित्व मुझ पर रख छोड़ा है। वे सब आपको ही खोज रहे होंगे।"

मैं संकोच से भर उठा, लेकिन मित्र ने मुझपर ध्यान न देते हुए कहा, "आइए, खाना तो खा लीजिए।"

"बस, अभी नहाकर आया !"

"अरे आपका दिमाग़ तो खराब नहीं हो गया? इस काटती ठण्ड में, इस घड़ी नहायेंगे ? बस, हाथ-मुँह धो आइए, इससे ज्यादा नही।"

सूरज ढलने को ही था। बन्धु की सलाह उपयुक्त लगी। जाड़े के दिन बड़ी तेज़ी से निकल जाते है। हाथ-मुँह धोकर हाजिर होना पड़ा। बन्धु ने फिर कहा, "आपकी किस्मत ही खराब है जनाब ! जो कुछ बचा है, सब ठण्डा हो चुका। खिचड़ी, तरकारी और लबात।"

"लबात ! यह क्या है ?" मैंने अचरज से पूछा।

"मिष्टान्न है, खजूरी गुड़ का पीठा।"

मैंने अपनी आँखों से देखा, श्यामवर्ण का खजूरी पीठा ! पेट में सुलग रही

आग ठण्डी खिचड़ी पाकर भी तृप्त हो गयी। जी भर गया, खाते-खाते। जठराग्नि में बैठा महाप्राणी इतना भूखा था, इसका पता न था। बन्धु की आशंका व्यर्थ थी। वह बाहर निकलने को तैयार थे जैसे। मैंने उनसे कहा:

"आप जाइये और दल का नेतृत्व कीजिये।"

"क्यों, आप नहीं जायेंगे?" उन्होंने पूछा।

"मैं थोड़ी देर आराम करना चाहता हूँ।"

"ठीक है। अचिन'दा के चगुल से छूटकर आये हैं, इसलिए यह और भी ज़रूरी है। तो फिर ऐसा है कि आराम करने के बाद, चाय पीकर ही आप बाहर निकल आइयेगा। हम लोग वहीं प्रतीक्षा करेंगे। लेकिन कहाँ?"

"मेले में ही। मैं ढूँढ निकालूँगा आपको।"

बन्धुवर भारी मन से पाँव बढाते हुए चले गये। जाते हुए अपने नौकर पर मेरा भार छोड़ गये। उन्हें रोके रखने के लिए मैं मन-ही-मन अपने को कोस रहा था।

खाना ख़त्म करते-करते ही, मुझे लगा कि राढ़ के आसमान पर अँधेरा उतर आया है। विश्राम करते हुए आँखें लग गयीं। जब खुली तो कमरे मे प्रकाश था और बाहर अन्धकार। पेड़ों पर झींगुर पुकार रहे थे। दूर मेले से लोगो का कोलाहल भी सुनायी पड़ा। मैं जल्दी-जल्दी तैयार हुआ और मेले की तरफ़ भागा। बाउल मण्डप ही मेरा गन्तव्य था।

वहाँ पहुँचने पर मैंने देखा, बाउल-मण्डली के बीच स्वयं गोपीदास गा रहे थे—हाथ मे इकतारा लिये—

'प्रेम का सौदा जो ना जाने, उसके सग क्या लेना-देना।'

मुझे लगा, यह पद तो मैंने कहीं, कभी सुना था। सोचते-सोचते याद आया ...अरे हाँ, इसे तो गाजी ने सुनाया था। इसी बीच गोपीदास ने अपनी गर्दन के सकेत से मुझे बुला लिया।

मैंने देखा, मण्डप के सामने ही अचिन बाबू पालथी जमाये बैठे हैं और तब मैं अचरज में डूब गया जब देखा कि उनके पास ही सुश्री अलका चक्रवर्ती, नहीं, झिनि बैठी है।

झिनि ही नही, सारा दल ही अचिन बाबू को घेरे बैठा था। उनका परस्पर परिचय किस प्रकार सम्पन्न हुआ होगा, इस बारे मे कुछ पूछना ही बेकार है। मेले के लोग, मेले की पहचान। और फिर अचिन बाबू की मौज! पिछली बार विदा लेते हुए उन्होंने झिनि समेत पूरे दल का परिचय ले रखा था, इसीलिए मण्डप मे देखते ही, पास लिवा लाये होंगे।

उनकी एक तरफ़ झिनि बैठी थी और दूसरी ओर राधा, ठीक पीछे की तरफ़ मास्टर नीरेन'दा। पास ही सुपर्णा'दी, लिलि और शुभेन्दु। गोपीदास की आँखें

घूमी ही थी कि मुझपर बहुतों की दृष्टि पड़ी। नीरेन'दा ने हाथ उठा दिया
और उनके बाद राधा ने। झिनि से भी मेरी आँखें मिली। तभी अचिन बाबू उसके
कान के पास झुक आये। पता नहीं, क्या बुदबुदाये कि झिनि झेंप गयी। उसने
आँखें झुका लीं और मुँह फेर लिया। गोपीदास ने अपना इकतारा उठाकर मुझे
बुला लिया। उनकी वृद्धा राधा प्रकृति अपनी ऊँची-टूटी आवाज़ मे गा रही थी—

'उल्लू के ओंधे नयन, देख न पाये सूर्य किरन...'

गोपीदास ने भी अपनी बूढ़ी देह नचायी और भरयि स्वर में जोड़ा—

'चीटी ही जाने चीनी का मर्म
रसिक ही जाने प्रेम का धर्म
प्रेम का सौदा जो न जाने, उसके संग क्या लेना देना?'

मंच की दूसरी तरफ़ गोकुल, बिन्दु और सुजन बैठे थे। कोई चुप न था।
गोपीदास के गान के साथ ही गोकुल अपनी डुग्गी और घुंघरू बजाकर ताल दे
रहा था। बिन्दु अब झांझर बजा रही थी और सुजन अपना दोतारा।

मैं तबतक इस कोशिश मे लगा था कि मण्डप के निकट कैसे पहुँचूँ। अचिन
बाबू ने हाथ उठाकर पुकारा, "इधर चले आओ। राह तकत पथरा गयीं
अँखियाँ...हाँ..."

इस बीच गान समाप्त हुआ और गोपीदास ने वही से हाँक लगायी, "अरे
थोड़ी-सी जगह बना दो, बाबाजी बैठेंगे कहाँ?"

अचिन बाबू ने भी जैसे डपट दिया, "बाबाजी पर बड़ी दया आ रही है?"

सुनते ही गोपीदास ने अपनी बड़ी-बड़ी लाल आँखो को नचाकर इस आक्षेप
का उत्तर दिया, "तुमसे कुछ अधिक नही!"

अचिन बाबू ने उनकी बातों को अनसुना कर दिया और मेरी खातिर जगह
बनाते हुए अलका से बोले, "हाँ तो भई अलका! ज़रा पास-पास सरक आओ
सभी...हाँ...।"

अच्छा, तो इतनी ही देर मे झिनि 'भाई अलका' हो गयी है? और इतनी भी
प्रगति न हो तो अचिन बाबू किस मर्ज की दवा हैं! मैं अबतक खामख्वाह संकोच
में पड़ा था। बोल उठा, "आप लोग बैठे रहिए। मैं यहीं कहीं बैठ जाऊँगा।"

"लीजिये! यह कैसे होगा भला? लगी लगाकर दूर जा बैठे, यह नहीं
चलेगा। धीरे-धीरे कदम बढ़ाकर आ जाओ यहाँ!"

यही तो अचिन बाबू की अदा है। और भी दूसरे बैठे हैं। लेकिन इस आदमी
को छेड़ना, बर्रं के छत्ते मे हाथ देना है। कहाँ से कहाँ चले जायेंगे, कोई नहीं कह
सकता! आस-पास बैठे सभी खिलखिला उठे थे। झिनि भी। उसकी जिज्ञासा
भरी आँखों में आश्चर्य भी कम नही था। कुछ लोगों को पार कर मैं किसी
प्रकार अचिन बाबू के निकट पहुँचा। मेरी एक ओर अब राधा थी और दूसरी

तरफ़ अचिन बाबू और उनके बाद झिनि।

अचिन बाबू ने टोका, "इमने बड़ी देर लगा दी, क्यों अलका ?"

"मैं तो यही सोच रही थी कि इतनी देर हो गयी वापस जाने में। अब आज तो शायद ही आ पायेंगे।" झिनि का उत्तर था।

"फिर भी, एक-एक कर सभी आ ही गये !"

अचिन बाबू ने भी अपनी आँखें घुमा लीं। राधा ही बोल उठी, "बाउल-गान सुनने !"

"एकदम ठीक कहा ! कहते हैं न, 'जैसी बात; जिसकी बात, उसकी घात।' भई राधा ! बाउल-मण्डली मे तो सभी बाउल-गान ही सुनने आते हैं। अब इसमें कुछ कहने-सुनने जैसी तो बात ही नही।" कहते हुए अचिन बाबू ने झिनि की गवाही चाही—"क्यों अलका, है न ?"

झिनि ने तत्काल उत्तर दिया, "आप ठीक कह रहे हैं।" लेकिन इतना कहते-कहते उसका गला रुँध आया। संकोचवश उसका चेहरा लाल हो उठा। होंठों के कोने पर तीखी-सी मुसकान खिंच गयी थी। उसने अपना मुखड़ा दूसरी तरफ मोड़ लिया। विश्वास ही नही हो रहा था कि यह वही विद्यावती आधुनिका युवती है।

पीछे बैठे नीरेन'दा पुकार उठे, "सिर्फ़ गान सुनने ही नही, आप लोगों से भेंट करने के लिए भी..."

"ऐसा है," अचिन बाबू उत्फुल्ल होकर हँस पड़े—"तो फिर क्या कहना !"

उनकी हँसी कुछ ऐसी थी कि हँसी की चाबी दे दी गयी हो। सभी हँसने लगे। इसके साथ ही, इकतारा, झाँझर और दूसरे वाद्ययन्त्र बज उठे। गान शुरू होने के पहले ही अचिन बाबू ने अपना चेहरा मेरी ओर बढ़ाकर पूछा, "यह क्या ?...छी छी छी...तुम ऐसे निकलोगे, पता न था !"

मैं उनकी इस भर्त्सना का आशय समझ भी न पाया था कि उन्होने अपना मुँह फेर लिया। मेरा जी धड़क उठा। मैंने उद्विग्न भाव से पूछा, "क्यों, क्या हुआ ? बताइये तो सही !"

"छी...छी...यह भी कोई कहनेवाली बात है ? न्न...तुम किसी काम के आदमी नही !"

अचानक ऐसा क्या अपराध हो गया मुझसे ? आश्चर्य में डूबा मैं उनकी तरफ देखता रहा। लेकिन उन्होंने तो चेहरा घुमा लिया था। मैं उनसे इस बारे में कुछ पूछना चाह ही रहा था कि गोपी'दा की आवाज़ सुन पड़ी—

"है...ए...ये...

वही प्रेम है गोपी भाव

वह जो सबके मन को भाये
वैराग तो है यह वेद विधि
पर, गोपी भाव है प्रेम निधि
प्रेम में डूबो निरवधि...
प्रेम मे जीवन समाये
भई, प्रेम है गोपी भाव...।"

चारों ओर 'जयगुरु,' 'जयगुरु' की ध्वनि गूँज उठी। बिन्दु से मेरी आँखें मिली तो वह मुसकरा उठी। लेकिन मेरा जी बड़ा खट्टा था। अचिन बाबू के चेहरे पर कोई रोष न था, बल्कि वह धीमे-धीमे मुसकरा रहे थे। गान के साथ उनका सिर भी हिल रहा था। लेकिन मैं उनकी भर्त्सना का कोई कारण नहीं समझ पा रहा था। सभी गान सुनने में खोये थे। केवल मेरा अन्तर ही उद्विग्न था।

गोपीदास ने अपना गान समाप्त किया और बैठ गये। बाउल-मण्डप के बीचोबीच एक सिगड़ी दहक रही थी। गोकुल उसकी आग से चिलम सजा रहा था।

अचिन बाबू ने फिर कहा, "लो भाई, यह प्रेम के गाँजे का विश्राम है। तो फिर हम भी उठें।"

"अरे गुस्सा क्यों हो रहे हो?" गोपीदास ने सफ़ाई दी। "बिना दम मारे कहीं आदमी का दम-खम टिकता है? लो तुम भी खींचो।"

गान थमते ही जैसे रंग मे भंग हो गया। झिनि बोल उठी, "हम सब भी चाय पीकर आते हैं।"

नीरेन'दा ने भी हामी भरी, "तो फिर चलो।"

"अच्छा, तो आप भी जा रहे हैं?" मैंने पूछा।

"क्यों, आप भी तो हमारे साथ चल रहे हैं?" उत्तर झिनि ने दिया और इसके साथ ही, एक क्षण के लिए मुझपर उसकी दृष्टि पड़ी। तभी उसने कहा, "शाम को मुलाकात होगी।" इस बाउल-मण्डप मे, आने के मूल मे मिलने की मंशा रही होगी। अब उसकी आँखों में न क्षोभ था और न अभियोग। आँसू में डूबी आँखों में मुसकान झिलमिला रही थी। वहीं लाजभरा संकोच भी था।

झिनि की बातों को सुनकर अचिन बाबू ने कहा, "यह भी कहने की कोई बात है? इसे छोड़कर यह जायेगा कहाँ?"

उत्तर झिनि ने दिया, "कुछ कहा नहीं जा सकता। यह कहीं दूसरी जगह भी जा सकते हैं।"

अचिन बाबू ठिठककर खड़े हो गये थे।

मैंने कहा, "नहीं, मुझे कहीं नहीं जाना।"

ठीक इसी समय सबको हैरत मे डालते हुए शुभेन्दु आगे बढ़ आया। गुरुजी कहाँ पाऊँ उसे

दी ने पुकारा, "शुभेन्दु !"

शुभेन्दु ने जैसे सुना ही नहीं। वह मण्डप से नीचे उतर आया। सुवर्णा' दी ने चकित होकर झिनि की ओर देखा। राधा और लिलि भी एक-दूसरे को ताक रही थी। झिनि भी पुकार उठी, "शुभेन्दु !"

शुभेन्दु के पाँव रुक गये। उसने पीछे मुड़कर देखा। उसकी मुख-मुद्रा गम्भीर थी। तनिक विरक्त भी लगा। बड़ी अनिच्छा से बोला—

"कहो !"

"तुम कहाँ चले ?" झिनि ने पूछा।

"घर।"

"क्यों ?"

"कुछ अच्छा नहीं लग रहा !"

नीरेन'दा ने भी उद्वेग प्रकट किया, "क्या बात है ? तबीयत तो ठीक है ?"

"जी हाँ, जी कुछ ठीक नही लग रहा। मैं जा रहा हूँ।"

यह उसने बिना किसी की ओर देखे ही कहा और फिर झिनि की तरफ़ देखता हुआ मुड़ गया। थोड़ी देर के लिए सभी चकित से रहे आये। झिनि ने ही गम्भीर होकर कहा, "आश्चर्य है !"

"बड़ा मूडी लड़का है।" नीरेन'दा ने टिप्पणी की।

"लेकिन यहाँ इसकी क्या जरूरत ?" झिनि ने पूछा।

अचिन बाबू अपनी उँगलियो में जलती सिगार को देखते हुए अचानक बोल उठे, "मैं कुछ समझ नहीं पाया। लेकिन इतना कह सकता हूँ कि सारी दुनिया ही ऐसी है। वह केवल सुर मे ही नहीं बजती, बेसुरी भी हो जाती है।"

उनकी यह बात सुनकर सभी के चेहरे पर मुसकान और झिनि के चेहरे पर लाली दौड़ गयी। नीरेन'दा बोले, "आपने एकदम ठीक कहा।"

"ठीक और बेठीक क्या है, यह तो हम सभी जानते हैं नीरेन बाबू !" अचिन'दा ने बात को आगे बढाया, "और यह भी जानते हैं कि यह बेसुरी ही अधिक है। हाँ, शुभेन्दु बाबू की इस सनक के बारे में अगर कुछ बताने योग्य हो तो अवश्य बताया जाये।"

एक बार फिर सभी चुप हो गये। मैंने, पता नही क्यों, झिनि की ओर देख लिया। मेरे मन में यह सन्देह था कि शुभेन्दु के इस अयाचित व्यवहार का रहस्य वह सम्भवतः जानती होगी।

झिनि ने भी आँखें उठाकर मेरी ओर देखा और फिर आकाश की तरफ देखती हुई बोली, "बताने योग्य कोई बात जानती तो अवश्य बताती। लिलि, तुम एक बार जाओगी ?"

लिलि ने अचरज से पूछा, "कहाँ ? शुभेन्दु'दा को बुलाने ? भाई, यह

असम्भव कार्य मुझसे न होगा।"

"वह तो तेरा भैया भी लगता है," राधा ने कहा।

"जो भी हो। तुम्हारा बन्धु भी तो है!"

झिनि ने विरक्त होकर कहा, "इसमें इतनी बात बढ़ाने की क्या ज़रूरत है? हमलोग जिस तरह जा रहे थे, उसी तरह क्यों न चलें?"

नीरेन'दा भी बोले, "हाँ यही ठीक होगा। चलो, हम सब चलते हैं।" फिर कुछ रुककर बोले, "मैं अभी थोड़ी देर में आया। घर जाकर एक बार देख आऊँ। तुम सब यहीं कहीं रहना!"

नीरेन'दा चले गये। अचिन बाबू ने हाथ बढ़ाकर उनकी ओर इशारा करते हुए कहा, "आख़िरकार मास्टर साहब ही ठीक समझ पा रहे हैं।"

झिनि, राधा, लिलि और सुपर्णा'दी का दल आगे बढ़ आया। वे आपस मे शुभेन्दु के बारे में ही चर्चा कर रही थीं। मैं अचिन बाबू के साथ उनके पीछे-पीछे चल रहा था। कहना चाह रहा था कि चाह बड़ी है या राह। कौन-सी राह कहाँ मुड़ जाती है? टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियाँ कहाँ ले जाती हैं, कहाँ ले जायेंगी, किसे पता है! कहाँ प्रकाश है और कहाँ अन्धकार—आगे बढ़े बिना यह पता नहीं चलता। बस, इतनी ही चाह है कि बिना ठोकरें खाये आगे बढ़ता चला जाऊँ। किसी निर्मल जल मे नहाऊँ। कीचड़ में पाँव नहीं रखना! टेढ़ी-मेढ़ी, सँकरी और अन्धी राहों पर अपने पाँव नहीं बढ़ाऊँगा। मुझे प्रकाश की तरफ़ जाना है।

यह तो रहा मेरा संकल्प। लेकिन अन्तर पूछता है, तूने इस संसार में सीधी सरल राह देखी भी है? तुम्हारी चाह अलग है और राह अलग। यह गीली माटी पर खींची गयी रेखा नहीं। यह तो जीवन-पथ है, जिसपर आजीवन चलते जाना है।

मैं अगले मोड़ से मुड़ गया। अपना संग-साथ ही बदलना होगा। इतने लोग, इतनी बातें, इतनी हँसी और इतनी बतियाँ! मैं उस सीमा तक जाऊँगा। इस पथ पर दम घुट रहा है। बड़ी उमस है यहाँ। वह यूँ ही पड़ी रहे। मैं दूसरी तरफ़ निकलकर लोगों की भीड़ में, जन-समुद्र की तरंगों मे खो जाना चाहता था।

यह सोचता हुआ ही मैं रुक गया। अचिन बाबू भी मेरे साथ ही ठिठक गये। उन्होंने बड़े सहज स्वर में कहा, "कोई ग़लती मत करना। इस संसार में किसी तरह भी आगे चलते जाना है। और इसमें ऐसी कोई बात नहीं कि तुम राह नहीं जानते। चलो...आगे चलो!"

एक बार फिर बताना होगा, इनका नाम है अचिन बाबू। मैं अवाक् उनकी तरफ़ देख रहा था : ये कोई अन्तर्यामी हैं क्या ? अन्यथा मुझे रुकते देखकर ही मेरे मन की बातें कैसे ताड़ जाते ? मैं अब भी असमंजस में था, लेकिन वे धीरे-धीरे मुसकरा रहे थे। उनके गोरे चेहरे पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ किसी रहस्यपूर्ण जाल की तरह झिलमिला रही थीं। उन्होंने पूछा, "मैंने ठीक कहा न ? तुम छिटक जाना चाहते थे न ?"

मैंने दुविधा में पड़े-पड़े ही उत्तर दिया, "आप जो कहना...?"

"अब इसमें कहने-सुनने जैसी कोई बात नहीं। दरअसल भागते जाना ही हमारा अभ्यास रहा है। और तुम्हें देखकर तो मैं पहले ही समझ गया था कि तुम नम्बर एक भगोड़े हो।"

"नही, नही, मेरा मतलब..." मैं उन्हें समझाना चाहता था।

"फिर वही जिरह ? इस छोकरे से तो कुछ कहना ही मुश्किल है !"—अचिन बाबू ने मुझे बड़े प्यार से झिड़क दिया और मुसकराते हुए बोले, "तुम्हारी साहित्यिक भाषा मे क्या कहा जायेगा, यह तो मैं नही जानता लेकिन तुम्हारे दिल का चोर कह रहा है, कौन इस पचड़े में पड़े ? यहाँ से फूट पडो। है न ?"

इस निर्मल सत्य को अस्वीकार कर सकूँ, मेरी जीभ पर इतनी पॉलिश नहीं। इसी सत्य को मैं अपनी भाषा मे, साहित्य में प्रकट करता हूँ। वस्तुतः इसीलिए मै दूसरी ही तरगों मे डूब जाना चाह रहा था। और इस कारण मुझे 'भगोड़ा' कहा जाना चाहिए या नही, नही जानता। मैंने तर्क दिया, "दरअसल मैं उनकी आपसी बातचीत में टाँग अड़ाकर अन्यथा ही उन्हे परेशान करता।"

"शाबाश...।" अचिन बाबू मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोले, "इसे ही कहते हैं कथाकार ! ऐसा न होता तो यह युक्ति भिड़ाते क्योकर ? लेकिन बातें तो मैं भी बना सकता हूँ। और जब तुमने मुँह खुलवा ही दिया तो यह भी कह दूँ कि तुम इनकी बातचीत से परे नही।"

मैं कुछ कहने जा ही रहा था कि मेरे कन्धे पर हाथ रखे हो मुझे रोकते हुए फिर बोल उठे, "अगर तुमने ध्यान दिया हो तो पाया होगा कि अचानक शुभेन्दु की तबीयत खराब क्यो हो गयी ? उसने वापस घर जाने की जल्दी क्यों की ? यह केवल इतने से ही नही हो जाता कि कोई लड़की पसन्द आ गयी या उसे प्यार कर लिया, उसका हृदय टटोलने की भी उतनी ही जरूरत है। अगर ऐसा नही कर सकते तो फिर खूँटा तुड़ाकर भाग गये बछड़े की तरह बिदकते रहो। चाहे जहाँ चले जाओ। यदि किसी का दिल नही जीत पाये तो मुक्के मारकर कटहल भी नहीं पका सकोगे !"

अचानक उनका स्वर बहुत धीमा पड़ गया। सिर झुकाकर बोले, "आशा है, तुम यह भी समझ गये होगे कि शुभेन्दु जिसे मुक्के मारकर पकाना चाहता है,

वह कोई दूसरी नहीं, अलका है !"

अस्वीकृति के लिए कोई अवकाश नहीं था लेकिन मैं स्वीकृति में भी अपना सिर हिला न पाया। शुभेन्दु के विदा होने की वह छोटी-सी घटना ही सबकुछ बता गयी थी। अचिन बाबू को भी मेरे उत्तर की प्रत्याशा नहीं। वह उसी प्रकार कहते रहे, "और अगर कटहल पक ही जाये, तो क्या कहना ? मुझे मारने पर तो वह छिटककर दूर जा गिरेगा। है कि नहीं बन्धु ?"

उनका यह प्रश्न मुझे फिर चौंका गया। उत्तर न दे पाया। स्तब्ध था। ऐसे किसी प्रसंग से मैं जुड़ना भी नहीं चाहता था। संकोचवश या अकारण किसी अनजान का हाथ पकड़ लेने में मेरी रुचि नहीं।

मेरे मन मे चाहे जो तूफान उठ रहा हो, अचिन बाबू को उससे क्या लेना-देना ? वह कहते रहे, "तुम देख ही रहे हो, शुभेन्दु के लिए ऐसी कोई बात भी नही। सबकुछ अपनी जगह पर है। अब तो सारा कुछ तुम पर निर्भर है। तुम्हारा उत्तर चाहिए। जिस लड़की को तुम दोपहर भर रुलाते रहे, वह थोड़ा-बहुत हँसना भी चाहेगी या नही ?"

मैंने अपनी स्तब्ध दृष्टि से उनकी आँखों में झाँका जहाँ उदासी भरी मुसकान खेल रही थी। वह भी मेरी ओर देखते हुए अपनी आँखों से ही सारा रहस्य उजागर कर रहे थे। इन्हें इन सारी बातों की खबर कैसे मिल गयी ? इस बारे में बिना किसी के बताये कुछ जान पाने की गुंजाइश भी न थी।

मैं उनकी ओर से अपनी निगाह हटाना चाह ही रहा था कि उन्होंने फिर जोड़ा, "अब तो तुम समझ ही गये होगे कि तुम भी इन सबसे जुड़े हो, अलग नही। बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि इस काण्ड के मूल मे तुम्हीं हो !"

"मैं ?"

"नही तो क्या यह बूढ़ा अचिन मजुमदार ?"

यह कहकर उन्होंने अपनी भौंहें ऊँची की और कनखी से मुझे तकने लगे। उनके गालों पर कोई शरारतभरी मुसकान बिछल रही थी। मैंने किसी तरह अपनी हँसी को रोकते हुए विस्मयभरे शब्दों में उत्तर दिया, "लेकिन...मैं तो ऐसा कुछ चाहता ही नहीं।"

"सबकुछ तुम्हारे चाहने से ही तो नही होता !"

"नही, वह तो...ऐसा..."

मेरी बातों को काटते हुए वे बोले, "तुम्हारे भागते रहने से ही सब ठीक हो जायेगा ?"

निरुत्तर था मैं। क्या जवाब देता ? अचिन बाबू रुके नहीं, "सभी अपने-अपने स्वभावानुसार चलते हैं। किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। तुम क्यों भाग रहे हो ? तुम भी अपनी चाल चलो। बिना कहीं से भागे, सहज भाव से।

यही उपयुक्त होगा । चेहरे के एक ओर का अन्धकार देखा है, दूसरी ओर का प्रकाश नहीं देखोगे ?"

मैं उनका संकेत तो समझ पा रहा था, लेकिन सहज होने की बात वह जितनी सहजता से कह गये— वह उतनी सहज नही। भागना पराजय है, कायरता है, इतनी-सी बात तो मैं समझता हूँ । लेकिन यह जी ? अजीब द्वन्द्व में डाल देता है यह । सहज-पथ पर असहज का चक्रवात उद्विग्न नही करेगा ? मैं नही भागूँगा । लेकिन हे सहज ! तुम अपनी अनदेखी जटिलताओं मे फाँस न लेना ! अपने फंदे में मत घसीट लेना ! पथ पार करते हुए इस अन्धकारपूर्ण विडम्बना को चीरना भी बड़ा कठिन है ।

झिनि का दल हमारे आगे-आगे चल रहा था । आस-पास अनेक सजी दुकानें, लोगों की भीड, रेल-पेल और कोलाहल । लिलि और राधा कभी-कभी मुझे मुड़कर देख ले रही थी । उनकी बातें और हँसी यह बता रही थी कि अब वहाँ शुभेन्दु का कोई प्रसंग न था । तीनों सखियों की बातचीत कभी-कभी चूड़ियों की तरह खनक जाती । वैसे झिनि ने एक बार भी मुडकर नही देखा, लेकिन राधा और लिलि का मुड़-मुड़कर देखना और तीखी हँसी की झिलमिलाहट झिनि के चेहरे पर भी झलक जाती । केवल सुपर्णा'दी ही दुकानों पर सजी सामग्रियाँ देखती जा रही थी । अपनी उम्र और पसन्द के कारण, वह उन तीन सखियों से भी कुछ अलग ही खोयी थी ।

अचिन बाबू सामने देख रहे थे, पर उनकी दृष्टि कही ठहरती न थी । शायद वह स्वयं में ही खोये थे । सामने की ओर देखते हुए एकाएक बोले, "लड़की बहुत ही अच्छी है, सरल-मधुर । जो इतनी सीधी-सादी है, उसे गलत समझने की इतनी कोशिश हो रही है ! उसका पहनावा और उसकी डिग्री के बारे में जानकर तो कोई सोच भी नहीं पायेगा कि वह इतनी सरल है...वरना..."

कहते-कहते अचानक वह रुक गये । और फिर मेरी तरफ़ त्योरी चढ़ाकर बोले, "अरे, रे...रे छी छी...मैं तो एकदम भूल ही गया । तुम्हारे साथ तो मेरी बोलचाल ही नही । मैं तो तुमसे बुरी तरह नाराज़ हूँ !"

मुझे पिछला प्रसंग तत्काल याद आ गया । बाउल की चौकड़ी में उन्होंने मुझे धिक्कारा था । क्यों? यह अबतक नही मालूम ! मैंने अपने को असहाय-सा महसूस करते हुए स्वीकारा, "जी हाँ, आपने तब भी बताया था, लेकिन मैंने किया क्या—यह तो आपने बताया ही नही ?"

अचिन बाबू का तेवर ही बदल गया जैसे । उनके चेहरे पर फैली शिकन की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ तन गयी । पर उनका यह बनावटी क्रोध स्नेह से भी मिश्रित था । रूखे स्वर में बोले, "तुमने क्या नही किया है, पहले यह बताओ ? तुम्हारे बारे में मेरे मन में कैसी अच्छी धारणा बन गयी थी, लेकिन तुम ऐसे निकलोगे...

अह...छी ..छी...छी !"

उन्होंने असली बात सुनायी ही नहीं । दूसरी ही बातों में उलझाकर आँखें नचाते हुए तीनों सखियों को एकसाथ निहारते हुए बोले, "अब समझ में आया, वे बार-बार मुड़-मुड़कर क्यों देख रही हैं ?"

मैं अब भी उनके बुझौवल की गुत्थी नहीं समझ सका । मेरा अपराध क्या है, प्रसंग क्या है और किधर है उसका ओर-छोर ? तो भी मैंने पूछ लिया, "क्यों देख रही हैं, बताइये तो ? वे सब क्या खुसर-पुसर कर रही हैं ?"

"वे चाहे जो भी कह-सुन रही हों, मैं क़सम खा चुका हूँ कि तुमसे बात नहीं करूँगा । न्न...तुमसे कोई बात ही नहीं होगी ।"

मैंने चाहा कि एक बार उनका पाँव ही पकड़ लूँ, पर इस बेबसी को दबाते हुए मैंने फिर पूछा, "लेकिन मेरा अपराध क्या है, यह तो बताइयेगा ?"

"तुम्हारा अपराध यह है कि तुम बड़े अहंकारी हो ।" उन्होंने अपनी आँखें नचायी ।

अहंकारी ? यह फतवा तो मेरे दुश्मन भी मुझे नहीं देते ! मैंने आश्चर्य से पूछा, "अहंकारी ? मैं ?"

"यही नहीं, झूठे भी हो ।"

"झूठा ?"

"हाँ...हाँ । यह मेरा सौभाग्य है कि मैं यह जान सका । अब न तो मैं तुम्हारा पता पूछूँगा और न तुम्हें कभी पत्र लिखूँगा ।"

अब आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं । बात कहाँ से कहाँ आ पहुँची। अब जाकर मैं समझ पाया कि अचिन बाबू चिट्ठी वाला प्रसंग क्यों उठाना चाह रहे थे ? मेरे मन में अब भी यही सवाल उठ रहा था कि अचिन बाबू के साथ झिनि की बातें कब हुईं ? इन कुछेक घण्टों में ही मेरा अपना, अपना न रहा, दूसरे दल के संग हो गया । ऐसा तो नहीं कि उन्होंने झिनि को कहीं रोते-धोते देख लिया होगा । और इसीलिए घड़ीभर पहले सुन पाया था कि ऐसी मधुर और सरल लड़की उन्होंने कभी देखी ही नहीं ।

इस थोड़ी-सी देर में ही, मैं जितना कुछ समझ पाया था, उससे यही लगा कि अचिन बाबू का सारा इन्द्रजाल उनकी अबूझ लीला में है । सहज ही सहज साता है । सहज ही सहज को पकड़ पाता है । झिनि उसी सहजता से जुड़ी है । तभी दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख से जुड़े दीख रहे हैं । मैंने संकोच के साथ तुरन्त उत्तर दिया, "दरअसल बात यह...है..."

"अब अपनी असल-नकल अपने पास ही रखो ! तुम आदमी पहचानते ही नहीं...।"

उनकी यह बात शिरोधार्य है । ऐसा अहंकार कभी न करूँ । जो स्वयं को

नहीं पहचान सका, वह दूसरों को कैसे पहचानेगा भला ? जो अपना पता-ठिकाना और अपने रैन-बसेरे का ठौर तक नही जानता, वह दूसरे लोगों को कैसे बूझ सकता है ?

इसलिए मैंने हामी भरते हुए कहा, "यह तो आपने ठीक कहा ।"

लेकिन अचिन बाबू इतने से ही शान्त नही हुए । रूखे स्वर मे बोले, "हजार बार ठीक है ! तुमने केवल उसका असम्मान ही नहीं किया, उसे झूठा भी बनाया । उसका आत्म-सम्मान नष्ट किया !"

अचिन बाबू के चेहरे पर जो गाम्भीर्य था, अब वहाँ किसी दुराव का लेश न था । यह भी ठीक है कि पत्रोत्तर न देकर किसी को असम्मानित करने की मंशा भी नही रही । किसका कैसा स्वाभिमान तोड़ा है मैंने, यह भी नही जानता । पूछना पड़ा—

"उन्होने आपको ऐसा बताया है क्या ?"

"वह क्यों बताने लगीं ! उनकी बातों से ही पता चल गया ।"

"लेकिन मैं उनके स्वाभिमान की बातें नही समझ पाया ?"

"क्यों, इतने लोगों को देखा-सुना है, इतना भी नही समझ पाये ? किसी युवती मे उसका नारीत्व ही उसका गौरव होता है । उसने अपने मित्रों से तुम्हारे बन्धुत्व के बारे में बताया है । तुम्हारे लिए अपने माँ-बाप से भी झूठ कहती रही ।"

इस अपराध को तो मैंने मन-ही-मन पहले ही स्वीकार कर लिया था, इसलिए इतना ही कह पाया, "जानता हूँ ।"

अचिन बाबू ने मेरी ओर एक बार देखा और फिर मुँह घुमाकर बोले, "और इससे भी बुरी बात है कि तुमने उसे बहुत दुखी किया ।"

यह मुझे स्वीकार्य तो न था लेकिन मैं चुप ही रहा । अचिन बाबू ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर मेरी ओर देखा । उनकी आँखों में प्रीतिपूर्ण स्नेह की लाली झाँक रही थी । मुसकराते हुए बोले, "किसी अच्छी लड़की का दिल दुखाने से जी दुखता है मेरा । इसीलिए इतना कुछ कह गया । उसका दिल बहुत ही साफ़ है । तुमसे पहली बार मिलकर मुझे जैसा लगा था, ठीक वैसा ही मुझे उससे बातें कर लगा । उसने मुझे सबकुछ बता दिया और उस सबसे मुझे लगा कि वह विद्या-बुद्धि मे ही बड़ी नही, उसके पास निर्मल हृदय भी है जिसमे कोई छल-छद्म नही, मैल नहीं ।"

मैंने देखा, उनकी आँखों में एक अस्पष्ट जिज्ञासा और उसमें मिश्रित रहस्यमयी मुसकान झिलमिला रही थी ।

मैंने स्वीकारा, "सचमुच बड़ा अन्याय हो गया ।"

अचिन बाबू बोले, "अब चाहे जो कहो, तुम उसे पहचान न पाये ।"

मैं उनकी तरफ़ हैरत से देख रहा था। किसे पहचानने की बात कर रहे थे यह प्रौढ़ रसिक ? मैं अपने को पाने के लिए ही तो राहों पर भटक रहा था। यहाँ तो उसे पहचान पाना दूर, उसे खोजते हुए मैं स्वयं को ही भूला जा रहा था।

अचानक अचिन बाबू चिल्ला उठे, "आगे मत बढ़ो, रुको।" युवतियाँ खड़ी हो गयी। सामने ही चाय-घर था। भीड़ नहीं थी। भीतर घुसकर भी वे बैठी नहीं। अचिन बाबू की ओर तकती रहीं। हमारे आगे आते ही, झिनि ने कहा, "बैठिए अचिन' दा।"

अच्छा, तो इतनी ही देर मे अचिन बाबू इनके 'दा' भी हो गये ! उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, "बैठता हूँ। तुम बैठो ! सुपर्णा'दी, बैठिए !" और इसके साथ ही अपनी मुख-मुद्रा को गम्भीर बनाते हुए बोले, "तुम लोग यह समझते हो कि मैं पीठ-पीछे इससे बातें कर रहा था ? एकदम नही ! मैं तो इसे बुरी तरह झाड़ रहा था।"

उनकी बातें सुनकर लिलि और राधा मुसकराने लगी। झिनि के चेहरे पर भी गुलाबी रंगत दौड़ गयी थी। मेरी ओर जल्दी से एकबार देखकर उसने अपनी आँखें झुका ली और बोली, "अचिन'दा, मैंने तो आपको केवल दक्षिण की यात्रा का किस्सा सुनाया था। कोई नालिश नहीं की।"

"तुम नालिश क्यों करने लगी ? मुझे जो कुछ कहना था, कह दिया। अब बैठ जाओ !"

"बैठो !" उन्होने मुझे भी आदेश दिया।

मैं बैठ तो गया, लेकिन चुप न रह पाया। बिना किसी ओर देखे मैंने कहा, "हाँ, अब अपराध तो मुझसे हो ही गया।"

"स्वीकार है न ?" अचिन'दा उछल पड़े।

मैंने अपनी गर्दन हिलाकर स्वीकृति भर दी।

इस बार सुपर्णा'दी भी बोल उठी, "हमारी लड़की को कष्ट देकर आप भी इस कष्ट से बरी नही हुए !"

झिनि ने मेरी रक्षा की, "नही। इसमें कष्ट की कोई बात नही। अब इस बात को जाने भी दीजिए !"

मैं समझ गया, झिनि अपनी झेंप मिटाने के लिए विषयान्तर करना चाह रही है। मैं भी मन-ही-मन यह प्रार्थना दोहरा रहा था, लेकिन राधा ने अपनी आँखें मटकाते हुए कहा, "अब चाहे जो भी हो, उस पुरानी चिट्ठी का उत्तर तो देना ही पड़ेगा।"

"अवश्य दूँगा," मैंने हामी भरी।

उन सबकी हँसी के फूटते ही अचिन'दा ने पूछा, "क्या हुआ ?"

उत्तर दिया झिनि ने, "अब देखिये न, इनकी बातों को सुनकर तनिक भी अविश्वास नही होता।"

अचिन'दा ने जोड़ दिया, "चीता है यह, जिसके चलने या लपकने के समय की आहट सुनायी नही पड़ती। इसीलिए तो गोपीदास ने इसे काला चीता नाम दिया है।"

"और आपने काली बिल्ली," लिलि ने चुटकी ली।

उन सबकी खिलखिलाहट से चाय-घर गुंजान हो उठा। सबके सामने प्यालियां आ गयी थीं। मैं भी खिलखिलाहट और खनखनाहट के बीच चुस्कियाँ ले रहा था। अचानक एक संथाली उस चाय-घर के सामने खड़ा होकर चिल्लाने लगा, "अरे अचिन, तू है वहाँ ?"

अचिन'दा ने क्षणभर के लिए उसकी ओर देखा। उलझे हुए खिचड़ी बाल, देह पर एक भारी कम्बल। अन्ततः अचिन'दा ने उसे पहचान लिया :

"अरे तू बरहम है न ?"

"अरे हाँ रे। तूने पहचान लिया मुझे ? हमारी तरफ़ नही जायेगा ?"

"ज़रूर—जाऊंगा। तू आ न यहाँ !"

"नहीं। अन्दर नहीं आऊंगा। तू क्यों नही आता ?"

अचिन'दा उठ खड़े हुए—व्याकुल, विह्वल। उनके चेहरे पर खिल आयी मुसकान से ही पता चला कि कितने दिनों के बाद पुराने मित्र से मुलाक़ात हुई है। हमने बड़ी हैरानी से देखा, दुकान से बाहर निकलकर उन्होने उस संथाली को गले लगा लिया था।

•

इसीलिए बार-बार बताना पड़ता है, इनका नाम है, अचिन बाबू। वरना ऐसा दृश्य छातिमतला के मेले में नही देख पाता। एक गोरा आदमी किसी काले संथाली को चिपकाये हुए है। कीमती ऊनी कुरते और कुचैले कम्बल का मिलाप। गोरे अचिन बाबू जो अपनी विलायती गाड़ी उड़ाकर सीधे लखनऊ से यहाँ आये हैं, उनकी माहवार आय है सिर्फ़ बत्तीस सौ रुपये। और वह जिसे लिपटाकर खड़े हैं, उसे देखकर यही लगता है कि वह अपना सारा दिन खेत में ही गुजारता होगा, तथा शाम को घाट पर ही हाथ-पाँव धोकर घर लौटता होगा।

इधर हम सब अचरज में ही नहीं डूबे थे, हमारे हृदय में भी कोई ज्वार-सा उठा था जैसे। मैंने अपने संगियों की ओर भी मुड़कर देखा। सबसे पहले झिनि से ही आँखें चार हो गयीं। मैं नहीं जानता, वह मेरी ओर क्यों टकटकी

मैं उनकी तरफ़ हैरत से देख रहा था। किसे पहचानने की बात कर रहे थे यह प्रौढ़ रसिक ? मैं अपने को पाने के लिए ही तो राहों पर भटक रहा था। यहाँ तो उसे पहचान पाना दूर, उसे खोजते हुए मैं स्वयं को ही भूला जा रहा था।

अचानक अचिन बाबू चिल्ला उठे, "आगे मत बढ़ो, रुको।"

युवतियाँ खड़ी हो गयी। सामने ही चाय-घर था। भीड़ नही थी। भीतर घुसकर भी वे बैठी नही। अचिन बाबू की ओर तकती रही। हमारे आगे आते ही, झिनि ने कहा, "बैठिए अचिन' दा।"

अच्छा, तो इतनी ही देर में अचिन बाबू इनके 'दा' भी हो गये !

उन्होने कुछ सोचते हुए कहा, "बैठता हूँ। तुम बैठो ! सुपर्णा'दी, बैठिए !" और इसके साथ ही अपनी मुख-मुद्रा को गम्भीर बनाते हुए बोले, "तुम लोग यह समझते हो कि मैं पीठ-पीछे इससे बातें कर रहा था ? एकदम नही ! मैं तो इसे बुरी तरह झाड़ रहा था।"

उनकी बातें सुनकर लिलि और राधा मुसकराने लगी। झिनि के चेहरे पर भी गुलाबी रंगत दौड़ गयी थी। मेरी ओर जल्दी से एकबार देखकर उसने अपनी आँखें झुका ली और बोली, "अचिन'दा, मैंने तो आपको केवल दक्षिण की यात्रा का किस्सा सुनाया था। कोई नालिश नही की।"

"तुम नालिश क्यों करने लगी ? मुझे जो कुछ कहना था, कह दिया। अब बैठ जाओ !"

"बैठो !" उन्होंने मुझे भी आदेश दिया।

मैं बैठ तो गया, लेकिन चुप न रह पाया। बिना किसी ओर देखे मैंने कहा, "हाँ, अब अपराध तो मुझसे हो ही गया।"

"स्वीकार है न ?" अचिन'दा उछल पड़े।

मैंने अपनी गर्दन हिलाकर स्वीकृति भर दी।

इस बार सुपर्णा'दी भी बोल उठी, "हमारी लड़की को कष्ट देकर आप भी इस कष्ट से बरी नही हुए !"

झिनि ने मेरी रक्षा की, "नही। इसमें कष्ट की कोई बात नही। अब इस बात को जाने भी दीजिए !"

मैं समझ गया, झिनि अपनी झेंप मिटाने के लिए विषयान्तर करना चाह रही है। मैं भी मन-ही-मन यह प्रार्थना दोहरा रहा था, लेकिन राधा ने अपनी आँखें मटकाते हुए कहा, "अब चाहे जो भी हो, उस पुरानी चिट्ठी का उत्तर तो देना ही पड़ेगा।"

"अवश्य दूँगा," मैंने हामी भरी।

उन सबकी हँसी के फूटते ही अचिन'दा ने पूछा, "क्या हुआ ?"

उत्तर दिया झिनि ने, "अब देखिये न, इनकी बातों को सुनकर तनिक भी अविश्वास नहीं होता।"

अचिन'दा ने जोड़ दिया, "चीता है यह, जिसके चलने या लपकने के समय की आहट सुनायी नहीं पड़ती। इसीलिए तो गोपीदास ने इसे काला चीता नाम दिया है।"

"और आपने काली बिल्ली," लिलि ने चुटकी ली।

उन सबकी खिलखिलाहट से चाय-घर गुंजान हो उठा। सबके सामने प्यालियाँ आ गयी थीं। मैं भी खिलखिलाहट और खनखनाहट के बीच चुस्कियाँ ले रहा था। अचानक एक संथाली उस चाय-घर के सामने खड़ा होकर चिल्लाने लगा, "अरे अचिन, तू है वहाँ?"

अचिन'दा ने क्षणभर के लिए उसकी ओर देखा। उलझे हुए खिचड़ी बाल, देह पर एक भारी कम्बल। अन्ततः अचिन'दा ने उसे पहचान लिया :

"अरे तू बरहम है न?"

"अरे हाँ रे। तूने पहचान लिया मुझे? हमारी तरफ़ नहीं जायेगा?"

"जरूर—जाऊँगा। तू आ न यहाँ!"

"नहीं। अन्दर नहीं आऊँगा। तू क्यों नहीं आता?"

अचिन'दा उठ खड़े हुए—व्याकुल, विह्वल। उनके चेहरे पर खिल आयी मुसकान से ही पता चला कि कितने दिनों के बाद पुराने मित्र से मुलाक़ात हुई है। हमने बड़ी हैरानी से देखा, दुकान से बाहर निकलकर उन्होंने उस संथाली को गले लगा लिया था।

..

इसीलिए बार-बार बताना पड़ता है, इनका नाम है, अचिन बाबू। वरना ऐसा दृश्य छातिमतला के मेले में नहीं देख पाता। एक गोरा आदमी किसी काले संथाली को चिपकाये हुए है। कीमती ऊनी कुरते और कुचैले कम्बल का मिलाप। गोरे अचिन बाबू जो अपनी विलायती गाड़ी उड़ाकर सीधे लखनऊ से यहाँ आये हैं, उनकी माहवार आय है सिर्फ़ बत्तीस सौ रुपये। और वह जिसे लिपटाकर खड़े हैं, उसे देखकर यही लगता है कि वह अपना सारा दिन खेत में ही गुजारता होगा, तथा शाम को घाट पर ही हाथ-पाँव धोकर घर लौटता होगा।

इधर हम सब अचरज में ही नहीं डूबे थे, हमारे हृदय में भी कोई ज्वार-सा उठा था जैसे। मैंने अपने संगियों की ओर भी मुड़कर देखा। सबसे पहले झिनि से ही आँखें चार हो गयीं। मैं नहीं जानता, वह मेरी ओर क्यों टकटकी

लगाये देख रही थी। अपनी झिझक को मिटाने के लिए बोल उठी, "अद्भुत!"
"कौन, अचिन'दा ही न?" राधा ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की।
लिलि ने भी टिप्पणी की, "उनका सम्मान करने वाले लोग ही दूसरे हैं।"

मैंने देखा, संथाली बरहम अकेला न था। उसके साथ एक संथालिन औरत भी खड़ी थी, जो हँस-हँसकर अचिन'दा से कुछ कह रही थी। और वह भी हँस-हँसकर उत्तर दे रहे थे। इसके बाद उन्होंने अपनी जेब से पता नहीं क्या निकाला और बरहम के हाथों में ठूँस देना चाहा। अपना हाथ पीछे करते हुए वह बोला, "अरे नहीं। तू चलता क्यों नहीं? यह सब नहीं चाहिए मुझे!"

अचिन'दा ने कहा, "तू चल न! पहले सब ले-देकर बैठ। मैं अभी आया।"

राधा ने पूछा, "क्या दे रहे है?"
"शायद रुपये दे रहे है।" लिलि ने मानो स्पष्ट करना चाहा।
झिनि की आँखों मे कौतूहल था। वह कुछ कहना या पूछना चाहकर भी आँखें झुकाकर चुपचाप बैठी रही।
"कुछ कहा आपने?"
झिनि ने आँखें उठायी, 'मैं देख रही हूँ, आप कैसे खो गये है?"
"मैं भी आप लोगों को ही देख रहा हूँ।"
"आपमे और हममे बहुत अन्तर है।"
"जैसे!" मैंने आश्चर्य से पूछा।
झिनि बोली, "मैं कुछ बता नही पा सकूँगी। कुछ ऐसा ही लगता है कि आप जैसे आत्महारा हैं।"
मैं किसी अबूझ की तरह उसका आशय समझने की चेष्टा करता रहा।
झिनि ने फिर कहा, "किसी बच्चे की तरह। शायद आप भी उस आदमी को इसी तरह लिपटा लेते!"
दार्शनिक कल्पना करते हैं या नही, यह तो मैं नही जानता। दार्शनिकाएँ अवश्य करती हैं। झिनि इसका प्रमाण है। मैं अचिन'दा और उनके मित्र के मिलन को देखकर अवश्य ही अभिभूत हुआ था, लेकिन मैं उस संथाली बरहम को लिपटाने क्यों लगा भला?
हम दोनों जब बातें कर रहे थे तो बाकी सारे लोग अचिन'दा की ओर देख रहे थे। झिनि ने फिर कहा, "आपको गाजी की याद है?"
मुझे इतना पूछने का अवकाश नहीं मिला कि उन दोनों के मिलाप से उसे गाजी की याद क्यों आ गयी। अचानक अचिन'दा ने धमकाते हुए कहा, "तो

कहाँ पाऊँ उसे

तू नहीं लेगा ?"

उनसे थोड़ी ही दूर पर खड़ा था बरहम : चपटी नाक, काला भुच्च चेहरा और शरारत भरी हँसी। उसने कुछ कहे बिना अपना सिर हिलाकर बता दिया कि नहीं लेगा, और बोला—"तू आ, हम वहां बैठे रहेंगे।"

"रहेगा तो ?" अचिन'दा ने फिर पूछ लिया।

"हाँ रे हाँ। झूठ क्यों बोलूंगा।"

"तो फिर जल्दी जा। मैं थोड़ी देर में आया।"

बरहम ने अपनी गर्दन टेढ़ी की और संथालिन को संग ले चलता बना। अचिन'दा वापस लौटे तो उनके होंठों पर मुसकान खेल रही थी। राधा ने तपाक-से पूछ लिया, "वह कौन था अचिन'दा ?"

सुपर्णा'दी ने टोका, 'अरे उन्हें बैठकर कॉफ़ी तो पीने दे। ठण्डी हो गयी।"

एक ही घूंट में कॉफ़ी की प्याली खाली कर उन्होंने अपनी आँखों की पुतलियाँ नचायीं और कहा, "तुमने देख लिया न, मेरे कैसे-कैसे बन्धु हैं! अब सोच-विचारकर कहो कि मेरा साथ चलेगा या नहीं? यह मेरे बचपन का मित्र है।"

उनकी बातें सुन सभी हँसने लगे। उन्होंने अपना सिगार सुलगा लिया।

लिलि ने पूछा, "आपके बचपन का मित्र? आपका बचपन इन लोगों के साथ बीता है ?"

"हाँ, एक तरह से कह सकती हो। साथ न भी हो, लेकिन हम आस-पास तो थे ही। हम आश्रम में थे और वे कोपाई नदी के किनारे। गाय चराते। अब हममें भी सभी उन संथालियों से मित्रता थोड़े न गाँठते। हम जैसे दो-एक छात्रों को ही इसका रोग था, कुछ ऐसा कि अब भी जी चाहता है, बच्चा बन जाऊँ।"

"आप लोगों ने बड़े मज़े उड़ाये होंगे!" राधा ने पूछा।

"हाँ, कह सकती हो कि हमने खूब मज़े उड़ाये हैं।" अचिन ने कहा, "लेकिन तब और अब के शान्तिनिकेतन में बड़ा अन्तर है। तुमने जिसे मज़ा कहा, वह हमारी असली पहचान थी, 'ओरिजिनल'। पर, समय का भी अपना तर्क होता है। वह अपना प्रभाव तो डालता ही है। हाँ, उसपर किसी का बस नहीं। किन्तु यह भी सच है कि अन्तर्धान हुए रूप में ही चिरन्तन भासता है। अलक्ष्य में ही उस परम का आगमन होता है। खो जाने के बाद भी, वह कहीं जाग रहा होता है। आँखें मूँदकर उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। बीच-बीच में बरहम की तरह कोई पुराना स्वर मूर्त हो उठता है।"

सारा चायघर स्तब्ध था। सभी विस्मित थे, जैसे कोई रहस्य कथा सुन रहे हों। अचानक इस सन्नाटे को तोड़ते हुए अचिन'दा ने फिर कहना आरम्भ किया, "अच्छा तो अब विदा चाहूँगा। फिर कल..."

उनकी बात ख़त्म होने के पहले ही झिनि की उद्विग्नता फूट पड़ी—"इतनी जल्दी ?"

"क्या अब भी जल्दी हो गयी ?" अचिन'दा ने अपनी आँखें नचायी। कोई संकेत था उनकी आँखो में। सभी हँसने लगे। झिनि की बड़ी-बड़ी आँखें शरमा गयी। राधा अपने कन्धे पर फैले बालों को झटककर बोली, "हाँ, जल्दी ही तो हुई। आपके इतनी जल्दी जाने की बात तो नही थी ?"

"आपने बाउल-गान साथ ही सुनने का वादा जो किया था", लिलि का आग्रह था।

अचिन'दा ने कहा, "अरे सभी तो नही जा रहे। तुम सब तो हो ही। इसे भी छोड़े जा रहा हूं।" उनका इशारा मेरी तरफ़ था। मैं सोच रहा था, वह कहाँ जा रहे है ? किस पथ पर ?कौन-सा बाग़ खिलाना है उन्हे... किन फ़ूलों से ?

राधा ने अपनी सुराहीदार गर्दन को लचकाकर बड़ी मासूमियत से पूछा, "थोडी देर रुकिये न !"

उसके साथ झिनि ने भी कहा, "वरना हम भी आपके साथ चलेंगे।"

"अरे, यह क्या कह रही हो ?" अचिन'दा हैरान थे, "यह लड़की तो एक-दम वैसी ही है, 'जोगन बन जाऊँगी रे कृष्णा तोरे कारन'।"

"यही नही, हम सभी आपके पीछे पड़ जायेंगे।" लिलि ने निर्णय सुनाया। और इसके साथ ही सभी हँस पड़े।

अचिन'दा भी खिलखिला पड़े—"अरे सर्वनाश ! आप किनको लिये चली हैं सुपर्णा'दी ? सब-की-सब बावली वैरागन। समय और समाज और स्थान की परवा ही नही ? कहती है, साथ जायेंगी।"

सुपर्णा'दी ने मुसकराकर उत्तर दिया, "मैं इन्हे साथ नही लायी। ये मुझे ले आयी है।"

"लेकिन मैं जहाँ जा रहा हूँ वहाँ इस समय इन्हें साथ नही ले जा सकता। इससे तो अच्छा है कॉफी का ही एक-एक प्याला और हो जाये।"

इच्छा तो नही थी, लेकिन हारकर पीनी ही पड़ी।

"आखिर जा कहाँ रहे हैं आप ?" झिनि ने पूछा।

"वरहम के अड्डे पर।"

"कोपाई नदी के किनारे न ?"

उत्तर पाकर राधा उल्लसित हो उठी जैसे, "ओह हो, कितनी अच्छी जगह है ! हमे भी ले चलिए न !"

अचिन'दा अपनी परिचित मुसकान के साथ बोले, "ओफ़्फ़ोह, मै तो इन कलकतिया पगलियों के जाल मे फँस गया। अरे, मैंने वरहम के घर-ठिकाने की कोई बात तो नही की ? मैंने तो उसके अड्डे के बारे मे बताया। वही

कहाँ पाऊँ उसे

जाना है। अँधेरा हो चुका है, अभी मैं तुमलोगों को वहाँ नहीं ले जा पाऊँगा।"

सब-की-सब निराश हो गयीं। गोष्ठी बिखरनेवाली थी, इसलिए गरम-गरम कॉफी की चुस्की रंग ला रही थी।

"आख़िर रहेंगे तो मेले में ही?" झिनि ने पूछा।

"नहीं। ऐसा होता तो तुम सब को साथ ले जाने में क्या बाधा थी? मैं उत्तर की तरफ़ जाऊँगा, नहर पारकर।"

इतना कहकर वह चुप हो गये और कॉफी की चुस्की लेकर फिर बोले, "एक समय ऐसा भी था कि बरहम जैसे कई संथाली इस पौष मेले में बड़े धूम-धाम से भाग लेते थे। यह मेला जैसे उन्हीं लोगों का था।"

अब मेरे कहने की बारी थी, "हाँ, मैंने भी सुना है कि वे अब भी दल बाँधे आते हैं और नाचते-गाते हैं।"

अचिन'दा मेरी बातों का समर्थन करते हुए अपनी गर्दन नचाते रहे। फिर पीछे मुड़कर बोले, "लेकिन तुम उन्हें इस मेले में नहीं देख पाओगे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी वसीयत में उन्हें इस उत्सव में सम्मिलित होने का आमन्त्रण भी दिया था, लेकिन वे नहीं आये। और शायद कभी आयेंगे भी नहीं।"

क्यों? यह पूछने की ज़रूरत नहीं पड़ी। अचिन'दा स्वयं कहते चले गये, "आठ-दस साल पहले एक बार आये थे शायद। उत्तरायण के सामने जो नया डाकघर है, उसके पासवाले मैदान में वे अपने नाच-गान में खोये रहते। दर्शक भी खो जाते। लेकिन वही चिरन्तन ट्रेजेडी! शहर के लोग अपनी आँखों पर पड़ा पर्दा नहीं उठा पाये।"

हम सबने उनकी तरफ़ प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा। अचिन'दा ने झिनि की ओर देखते हुए कहा, "अच्छा, तुम लोग तो दर्शनशास्त्र पढ़ती-पढ़ाती हो। यह भी जानती होगी कि हम जिन्हे आदिवासी कहते हैं, उनके अपने आदिम विश्वास हैं। इनमें युवक-युवतियों का निर्द्वन्द्व मिलन भी शामिल है, जिसके लिए हम शहर के सभ्य नागरिक आन्दोलन छेड़ते हैं, समानाधिकार की बातें करते हैं। यह सब तो उनकी चर्या और सामाजिकता का अंग है। अपने उत्सव-अनुष्ठान में स्त्री-पुरुष एक साथ नाचते-गाते हैं, मद्यपान करते हैं। हम जैसे सभ्य शहरी लोगों को यह ग्राह्य नहीं, क्योंकि हम पैसे फेंककर नाच देखने के आदी हो चुके हैं। सुनने में बुरा तो लगेगा, लेकिन बाईजी के मुजरों में यही कुछ तो होता है। खुले आकाश के नीचे, प्रकृति की गोद में जिन्होंने कभी मत्त युवक-युवतियों का नृत्य नहीं देखा, वे मेला देखने आते। उनकी आँखों पर चढ़ा हुआ गन्दा चश्मा उनके मन में लोभ जगाता—केवल लोभ। सहज प्राप्य जानकर उन्होंने संथाल लड़कियों की जवान देह को लपकना चाहा। और इसका परिणाम वही हुआ—परस्पर प्रतिवाद और संघर्ष। तबसे उन्होंने इस मेले से विदा ले ली है।"

अपनी बात समाप्त कर अचिन'दा कॉफ़ी के प्याले पर झुक गये। हमारे चेहरे पर कोई आहत भाव था। उस समय, मेरी आँखों के सामने मलूटी ग्राम और मौलिक्षा का प्रांगण तिर उठा था। काली प्रतिमा-विसर्जन के अवसर पर मैंने उसी आदिम विश्वास की अपरूप-लीला देखी थी। शायद यहाँ, वहाँ की तरह निरावृत पुरुष एवं प्रकृति का समवेत संयोग नही हुआ होगा। तो भी सैकड़ों स्त्री-पुरुष के गीत-नृत्य से सारा मैदान मेरी आँखों के सामने मुखरित हो उठा।

झिनि ने इसी समय अंग्रेज़ी मे कुछ कहा। अचिन'दा ने सिर हिलाया, "ठीक कहा तुमने। हम सबने पितृसत्तात्मक नगर-सभ्यता को ही अपनी आँखों से देखा है।"

राधा भी विक्षुब्ध हो उठी थी, "उन थोड़े-से कमीनों की वजह से हम उस आनन्द से वंचित हो गये। उन संथालियों ने अपने तीर-कमान से मार नही डाला उन्हे ?

"अरे ऐसा होता तो हमी यहाँ रोते-धोते नजर आते। उन मृतकों में हमारे ही तो पति-पुत्र, भाई-बन्धु होते !"

राधा रमणी ने गर्दन तक कटे बालों को झटककर कहा, "भाड़ में जायें ऐसे पति-पुत्र, भाई-बन्धु !"

उसकी रूपसज्जा देखकर ऐसा नही लगता था कि वह ऐसा कुछ कहेगी। अचिन'दा ने मुझे टोका, "बात क्या है ? तुम तो अचानक उदास दीख रहे हो... असमय ही ?"

"नहीं, उदास नही। आपकी बात सुनकर मेरी स्मृति में कोई दृश्य उभर आया," मैंने कहा।

"किसी संथाली नृत्य का ? कहाँ ?"

"मलूटी गाँव का। रामपुर हाट से जाना पड़ता है।"

इसके बाद मैंने उसी विसर्जन-सन्ध्या के बारे मे बताया। नृत्यगीत के उप-रान्त उक्त अनुष्ठान के अन्तिम मुहूर्त की बातें सुनकर, अचिन'दा के अलावा सभी विस्मित हो गये। सभी की आँखें खुली रह गयी। मुझे स्वयं झिनि की आँखों मे झांकते हुए संकोच का अनुभव हो रहा था।

"सचमुच ?" राधा ने पूछा।

विस्मय की तीव्रता और आँखों में छुपी उसकी जिज्ञासा ने मुझे और भी लज्जित कर दिया। लिलि ने मेरी रक्षा की, "सच नही तो क्या ये झूठ कह रहे हैं ?"

राधा अचानक सहम उठी, "नही। यह दृश्य मैं शायद देख नही पाती।" सभी हँसने लगे। झिनि भी लाज से आँखें नही उठा पा रही थी। इतना ही बोली, "आश्चर्य है !"

"और इसे ही कहते हैं तक्षक।" अचिन'दा ने चुटकी लेते हुए जोड़ा, "इधर तो चूं-चां तक नहीं और उधर तक्षक महोदय सारा तमाशा देख-सुनकर बैठे हैं !"

सभी खिलखिलाकर हँस पड़े। अचिन'दा ने नीचे झुककर हौले-से पूछा, "अच्छा, यह सब देखकर भी तुम्हारे मन में कोई खिचड़ी नहीं पकी ?"

उनके प्रश्न करने का ढंग ही कुछ ऐसा था कि सभी ज़ोर से हँस पड़े। मैंने कहा, "नहीं। लेकिन मैं जीवन में इतना चमत्कृत कभी नहीं हुआ। लगा, जैसे हज़ारों वर्ष पहले का भारत दृष्टि के सामने है। ऐसा सौभाग्य कितने लोगों को मिल पाता है !"

अचिन'दा ने मेरी पीठ पर हाथ रखकर कहा, "एकदम ठीक कहा इसने।"

अचानक सुपर्णा'दी पूछ बैठी, "अच्छा, आपके मन में कोई विकार नहीं आया था तब ?"

"नहीं सुपर्णा'दी। मेरे मन में कोई प्रश्न जगा था। और उसका उत्तर भी मुझे मिला। मैंने सुना है कि कोणार्क के मन्दिरों की मूर्तियाँ देखकर भी कई रुचिसम्पन्न लोगों को आघात लगता है, लेकिन मुझे नहीं लगा। मैंने देखा था, सृष्टि का चिरन्तन रथ, स्वास्थ्य और परम आयु की आकांक्षा की रचना-प्रक्रिया मे स्वभावतः ही लीला-निमग्न है। मलूटी के संथालों के उस गण-मिलन की जीती-जागती मूर्तियाँ मुझे मन्दिर की दीवारों पर उत्कीर्णित मूर्तियों-जैसी ही प्रतीत हुईं।"

"अपूर्व !" अचिन'दा मेरी पीठ ठोंकते हुए बोले, "मैं तुम्हारी बातों के लिए नहीं, तुम्हारी दृष्टि के लिए कह रहा था। अलका, तुम समझ गयी न ! इसे ही कहते हैं, तीसरी आँख से देखना। अब तुम अपनी फ़िलॉसफ़ी के अनुसार इससे सहमत हो ना ?"

"फ़िलॉसफ़ी की बातें तो नहीं जानती, लेकिन सहमत हूं।" क्षिनि ने उत्तर दिया।

अचिन'दा उसी क्षण बोल उठे, "अच्छा तो अब बस। कहाँ हो भाई ? पैसे ले जाओ !" उन्होंने अपनी जेब में हाथ डाला। मैं भी पैसे निकालने लगा। और हमारे साथ ही उन तीनों की पर्स भी खुल गयी। अचिन'दा ने भौंह मटकाकर पूछा, "क्या हुआ ? क्या सभी एक ही ओर मुँह ताक रहे थे ? ज़रा देखिए तो सुपर्णा'दी ! इनकी इस शरारत से देह में आग नहीं लगेगी ?"

इसके बाद किसी को हाथ उठाने का साहस नहीं हुआ। सुपर्णा'दी की तरल हँसी फूट पड़ी—"अभी बच्चे हैं।"

और वह पैसे देकर उठ खड़े हुए। उनके साथ मैं भी। अचिन'दा ने मुझे टोका, 'तुम्हें क्या हुआ ?"

मैंने संकोच के साथ पूछा, "मेरे साथ चलने से आपको कोई असुविधा तो न होगी ?"

अचिन बाबू ने अपने नकली गुस्से के साथ अपनी गुलाबी आँखों से एक बार सबको देखा और बोले, "तुम चलोगे, और इन्हे..."

उनकी बातें खत्म नहीं हुईं। अचानक क्षिनि उठ खड़ी हुई। मैंने देखा, सहसा वायु के झोंके से कहीं बदली-सी थम गयी है। गर्जन-तर्जन के साथ ही घोर झंझावात की आशका है। वह तेजी से बोल उठी, "जी नहीं, वे खामख्वाह असुविधा मे पड़े रहेंगे। हमें उनकी कोई जरूरत नहीं।"

मैं संकोचवश मानो जमीन में गड़ गया। अचिन'दा क्या कहें, यह वह समझ न पाये और क्षिनि को निहारते रहे। अभी-अभी तो इतनी बातें हुईं, साथ हँसते रहे। अभी थोड़ी देर पहले ही तो क्षिनि सहमति व्यक्त कर रही थी। तब भी, पता नहीं, वह कौन-सा वायु-वेग था, जो उसे झकोर गया ? मेरे कुछ कहने के पहले ही क्षिनि का स्वर सुन पड़ा, "आप तो समझ ही गये होंगे अचिन'दा। उन्हे हमारा संग पसन्द नही। नीरेन'दा भी अबतक वापस नही लौटे। शुभेन्दु के लिए भी मुझे चिन्ता हो रही है। मैं भी अब अधिक देर रुक नही पाऊँगी। चलती हूँ, फिर दर्शन होंगे।"

उसने आगे पाँव बढ़ा दिया और पीछे मुड़कर बोली, "आइए सुपर्णा'दी ! राधा, लिलि ! चलो।"

उसकी पुकार सुनते ही, सभी हड़बड़ाकर उठ गये। बलिहारी ! राधा और लिलि ही नही, सुपर्णा'दी भी बेबसी में मुसकरा रही थी।

"आज तो सब उल्टा ही चल रहा है !" सुपर्णा'दी बोली।

अचिन'दा ने भी भरे स्वर में कहा, "शायद यही सीधा हो जाये।"

सुपर्णा'दी मुसकराती हुई चली गयी। इसके साथ ही, अचिन'दा ने दुर्गा-प्रतिमा के महिषासुर की तरह आँखें तरेरकर मुझे देखा। उन्होंने चाहे जो भी कहा हो, मेरे कानो मे इतना ही पड़ा, "कैसा बेवकूफ़ छोकरा..."

मैं कुछ कहना चाहता ही था कि उन्होंने डपट दिया, "चुप रहो ! चलो—आओ तो सही तुम्हें बताता हूँ।"

अचिन'दा ने मुझे जिस तरह डपट दिया था, उससे लगा कि वह कहीं एकाध हाथ जमा ही न दें। लेकिन जमाया नहीं। हाथ बढ़ाकर पीछा करने का संकेत देकर वह तेजी से आगे बढ़ चले। उन्होंने जिस तरह अपना रोब ग़ालिब किया था, उसका क्या परिणाम होगा, कौन जाने ? उनके पीछे दौड़ते हुए मैं

उनके आदेश का पालन कर रहा था।

बार-बार झिनि का चेहरा आँखों के सामने तिर आता। कानों में उसके शब्द गूँज उठते। अचिन बाबू के संग जाने की इच्छा जग उठी थी, इसीलिए मैंने ऐसा कहा था। बरहम जैसे सन्यासी लोगों की कोई छाप मेरे मन मे थी। उसी कौतूहल ने उनके अड्डे पर जाने का आग्रह उत्पन्न किया था। इसके अलावा और कुछ नही सोचा था मैंने। लेकिन मेरी एक ही बात से झिनि के चेहरे पर उदासी के बादल मँडराने लगे। क्यों और कैसे, जान न पाया। पहले से ऐसा कुछ तय न था कि वह अचिन'दा को छोड़कर दूसरे दल में शामिल हो जायेगी। और इधर अपने पिछले अपराध को दूर करने के चक्कर में मैं नये अपराध का कलंक ले बैठा। अब उपाय भी क्या था?

कौन देगा इसका उत्तर? मैं अपराधी बन झिनि की दृष्टि में क्यों गिर जाता हूँ? राह चलते हुए पंछियों के कलरव, रगभरे हँसे और हास-परिहास-पूर्ण आनन्द-वार्त्ता के बीच अचानक अन्धकार कैसे गहरा उठता है, होठों की हँसी चुराकर? दुख में विराग क्यों जागता है, मन मे ऐसी दाह क्यो उठती है? ऐसा मैंने कब सोचा कि मुझे झिनि की जरूरत है! क्या इन बातों को रोष-पूर्वक प्रकट करना आवश्यक है कि मुझे उसकी जरूरत नही? मैंने तो यह कभी भी नहीं सोचा कि उसका साथ मुझे अच्छा नहीं लगता। या कि शुभेन्दु के लिए भी उसके भावोद्वेग में कोई बाधा दी है? झिनि अब नही रुक पायेगी—यह वह कुछ इस तरह जता गयी, जैसे मैं उसकी राहें रोककर खड़ा था!

छातिमतला के इस मेले में इस जन-अरण्य से गुजरते हुए, मैं मन-ही-मन हँस पड़ा—कोई आहत-सी हँसी। यह संकल्प मैं कैसे भूल गया कि मुझे केवल अमृतपान करना है। मेरे इर्द-गिर्द केवल अमृत है और तिक्त रस के सारे खारे स्रोत मेरी छाया से दूर बहते हैं। अपने को भूलकर, मैं उस अलख की ओर अपना खाली पात्र उठा देता हूँ। अमृत मिले या ना मिले। यदि कोई ज्वाला धधकती है तो धधका करे। जो दिवा-निशि जलते हैं, वही प्रकाश देख पाते हैं। पथ चलते हुए मानापमान की बात नही सोचूँगा। झिनि पर मेरा अधिकार ही क्या है कि मैं उसपर रोष करूँ? उसको लेकर मेरे मन में राग-विराग की बात ही बेमानी है। इसलिए जो हुआ, ठीक हुआ।

ऐसा नही कि मैं झिनि को समझ न पाया। उसे विदुषी कहते हुए अब भी हैरान हूँ। यह संसार मेरे मन की अनुरूप भावनाओं मे नहीं बुना गया। 'जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है।' इसलिए इस संसार के स्वभाव मे वही निःशब्द विराज रहा है। जो असम्भव है सम्भवतः वही जगत् में सम्भव है। उस असम्भाव्य को ही मैं अपने अन्तःसमर्पण द्वारा ही जानने का प्रयास करता आ रहा हूँ।

ऊँची-नीची, चट्टानी पहाड़ियों-सी लाल और गेरुए रंग की टेकरियाँ। कहीं-कहीं रह-रहकर पानी की कोई धारा चिक्-चिक् कर उठती। मैंने सुना था कि बरसात में कोपाई भयंकरी हो उठती है। क्यों न हो? यही तो उसका यौवन वेग होता होगा। उसका कछार कितना लम्बा-चौड़ा है, नहीं मालूम। रिक्शा जिस तरह हड़मड़ाता आगे बढ़ रहा था, उसी से पता चल गया कि सँकरी-सी राह खोआई का कलेजा चीरती हुई निकल गयी है। शायद दायें-बायें, सामने—यानी चारों ओर शून्य ही शून्य था, अंधकारपूर्ण। ऊपर कुहासा-हीन आसमान, तारों भरा, साथ-साथ चल रहा था।

थोड़ी देर तक, इसी तरह उछलते रहने के बाद अचिन'दा एकाएक बोले—"बड़ी भारी ग़लती हो गयी। टॉर्च लाना चाहिए था।"

"जायेंगे कहाँ?" नरोत्तम ने पूछा।

"बाँसझाड़।"

इतनी देर तक उठा-पटक झेलने के बाद भले आदमी के मुँह से फूटा बाँस-झाड़। पता नहीं, यह जगह इस अन्धे इलाके में कहाँ है? मैंने पूछना चाहा था कि यह वेणु-वन कहाँ है और हम वहाँ क्यों जा रहे हैं? लेकिन मेरे पहले ही नरोत्तम ने बताया, "बस, यहीं तो रहा।"

"हाँ...हाँ...वह रहा।" लेकिन इस अँधेरे में तो बड़ी दिक़्क़त होगी। तू ऐसा कर नरोत्तम! यहीं रुक। यहाँ से पैदल ही जाना होगा।"

नरोत्तम ने रिक्शा रोकते हुए कहा, "एक काम करता हूँ, बाबू। मैं अपनी गाड़ी की बत्ती निकालकर आपको वहाँ तक छोड़ आता हूँ, वरना आप नहीं जा पायेंगे।"

"हाँ निकाल अपनी बत्ती। और सुन! तुझे हमें वापस भी ले जाना है। अपनी गाड़ी तू रखेगा कहाँ?"

यहीं रास्ते के किनारे बाबू, थोड़े नीचे। वरना बैलगाड़ी चढ़ जायेगी।" यह कह उसने रिक्शा एक तरफ़ लुढ़का दिया। अचिन बाबू अपने हाथ में बत्ती लिये आगे बढ़ चले। उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा। वहाँ अब किसी असुर की-सी मुखमुद्रा न थी। चेहरा गम्भीर था और आँखों में कोई रहस्य झिलमिला रहा था। एक बार पुकार लिया उन्होंने, "चले आओ। हाँ, सावधानी से। गिर मत जाना। ढलुआ ज़मीन है।"

नरोत्तम ने रिक्शा लगाने के बाद, अचिन'दा के हाथ से बत्ती ले ली थी। वह आगे-आगे बढ़ चला था। मैं अचिन'दा के साथ था। राह या पगडण्डी जैसी बात न थी वहाँ। बस, ऊँची-नीची, ऊबड़-खाबड़ पथरीली ज़मीन। कहीं-कहीं जंगली घास-फूस उग आया था। इसके बीच से ही गुजरना था।

मैंने अचिन'दा के चेहरे की ओर दो-एक बार देखा। कुछ दीखा नहीं। लगा

कि जैसे मैं नही, कोई दूसरा ही पूछ बैठा—

"हम बाँसझाड ही जा रहे हैं न?"

"हाँ।" छोटा-सा उत्तर।

"अभी, इस समय?" मैं चुप न रह पाया।

"डर लग रहा है?"

"नही। इतना गहरा अँधेरा...कोई नजर नही आता।"

"वहाँ पहुँचने पर देख पाओगे कि क्या है और क्या नहीं।"

उनसे अब आगे कुछ पूछना बेकार था। बढ़ते चले जाना था केवल। उनके हाथ में वही झोली थी और देह पर भारी ऊनी चादर, फिर भी, वह सहज ही बढ़ते चले जा रहे थे—ठण्डी हवा के झोंकों से बेफ़िक्र। अचानक मद्धम स्वर में गुनगुनाने लगे, "रामनाम की चादर पहने, चोर चले चोरी को।"

रामनाम की चादर को प्रेमावली और कभी-कभी नामावली भी कहा जाता है। मैं उनकी पंक्ति का एक-एक शब्द गुन रहा था। अचानक फिर एक बार रुककर बोले—

"इन्हें क्या कहते हैं जानते हो? हाँ...कहते है—शठ, प्रवंचक।"

"जी...जी हाँ।"

"क्या जी हाँ?"

"आपने ठीक कहा!"

"ठीक...का माने क्या?" मुझे डपटते हुए बोले, "तुम भी तो वैसे ही हो।"

"मैं?"

"और क्या?" इस ठोस अँधेरे को चीरती हुई उनकी निगाह मुझ पर ठहरी रही। कहने लगे, "प्रेम न जाने, प्रेम के हाट में सौदेबाजी! तुम कैसे लेखक हो भला?"

कुछ याद नही कर पा रहा था कि यह पद कहाँ सुना है मैंने। [illegible] में पड़ा था। छातिमतला की इस सीमा में, मैं किसी लेखक की हैसियत से नहीं आया और स्वयं को इस बात से कभी आश्वस्त भी नहीं कर पाया।

अचिन बाबू रुके नही, कहते ही रहे, "मैंने तुम्हें इतना समझाया। फिर भी तुमने जान-बूझकर उस बेचारी को इतना कष्ट दिया।"

"कष्ट?"

"और नही तो क्या बड़ा आनन्द प्रदान किया! [illegible]। तुम मेरे संग न भी आते तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता?"

"दरअसल बात यह..." मैं उद्विग्न हो उठा।

"धत् तुम्हारी इस दरअसल बात की! [illegible] तुम उनके साथ भी तो रह सकते थे।"

"मैंने ऐसा कुछ सोचा नहीं था..."

"वाह—वा ! इतना कुछ देख-सुनकर भी नहीं सोच पाये ?"

सचमुच, बेबस था मैं। अचिन बाबू का चेहरा दीख नहीं रहा। मेरे मन में कई बातें उमग रही थीं, लेकिन मैं कुछ कह न पाया।

"यही तुम्हारे भीतर का विवेक है, जो कुछ नहीं पाता ?" उन्होंने टोका।

मैंने सोचा, अगर ऐसा है भी तो इसमें मेरा अपराध क्या है ? पथ चलने की रीति नीति क्या है, इसे परे रखकर यह भी तो देखना पड़ता है कि संसार की अपनी मर्यादा है। उसे किस प्रकार उलँघ जाऊँ।

अचिन बाबू ने अपने प्रश्न का उत्तर भी स्वयं दिया, "और अगर ऐसा है तो यह भी कह दो कि उसे मान-मर्यादा की कोई परवाह नहीं।"

सचमुच, मैं अजीब-सी दुविधा मे फँसा था। झिनि जिस परिवार और परिवेश में पली-ढली थी, वहाँ इसमें कोई कमी या त्रुटि होगी, ऐसी बात नहीं। झिनि की अपनी भी कोई पहचान है, व्यक्तित्व है।

"अब मैं क्या कहूँ ?" लाचार था मैं।

"नहीं। यह मैं नहीं मान सकता," अचिन'दा उखड़नेवाले नहीं। लेकिन अब उनका स्वर पिघल गया था, निराश हो चले थे जैसे। उन्होंने मुझसे पूछा, "आखिर हृदय-जैसी कोई चीज है या नहीं ?"

"अवश्य ही है," मैंने कहने के बाद मन-ही-मन दोहराया, "अन्तर में ही चिरन्तन है।" लेकिन अचिन'दा ! वह मेरी बात कब मानने लगे थे भला ? कहते चले गये, "तुम सब कहते क्या हो, सोचते क्या हो, शायद मैं नहीं जानता। लेकिन नीति या मर्यादा से ब्रज की वंशी को कभी रोका नहीं जा सका। जिसका हृदय चुराकर जमुना के जल में ज्वार उमड़ पड़ता है, उसे कभी थामा नहीं जा सकता। नीति-दुर्नीति, पुण्य-पाप सबकुछ वहाँ तुच्छ हैं।"

मैंने जैसे निरुपाय होकर पूछा, "और यह समाज, संसार ?"

अचिन'दा ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "इनसे होता हुआ ही यह काल प्रवहमान है। संसार और समाज को किसने उठा रखना चाहा ? संसार और समाज है या रहेंगे, इसका अर्थ यह तो नहीं कि और किसी दूसरी सत्ता का अस्तित्व ही नहीं। यमुना कहाँ है ? आकाश में या धरती पर ? और तुमने यह कैसे सोच लिया कि झिनि-जैसी कोई लड़की समाज या संसार को अनदेखा कर देगी ? उसकी अपनी कोई पसन्द नहीं ? कोई विवेक या बुद्धि नहीं ?"

आखिर अचिन'दा इस तरह क्यों कह रहे हैं ? जिन्होंने जीवन के इतने उतार-चढ़ाव देखे हैं, जिनके चेहरे पर आड़ी-तिरछी खिंची रेखाएँ इस निष्ठुर संसार की विषम झंझाएँ झेल चुकी हैं, अब उनकी आँखों की झिलमिलाती हँसी

को पीछे धकेलकर कोई कातर-भाव उभर आया था।

मैंने निवेदन करना चाहा, "लेकिन अचिन'दा..."

अचिन'दा ने मेरी बात को पूरा नही होने दिया, "डर लगता है। है न ? हाथ-पाँव बँधे है, है कि नही ?"

मैं कोई उत्तर न दे पाया। जीवन के नाना उतार-चढ़ाव और अँधेरे-उजाले में ही डूबा था। अचिन'दा ने आगे कहा, "शायद यह भी तुम्हारा दोष है। तुम उसे पहचान न पाये, इसीलिए यह भय है। उस लड़की मे कही कोई अनजानी-सी पीडा है, पहेली की तरह। चाँद मे पड़े दाग की तरह। फिर भी, मैं तो यही जानता हूँ कि किसी का जी जुगाकर उसे अपमानित करना शोभा नही देता।"

कहते हुए उन्होंने मुझे बाहो में कसकर भर लिया। बोले, "उसे अगर तनिक भी अपने समीप आने दो तो मेरा ख़याल है, घाटे मे नही रहोगे।"

मैं मूक की नाईं उनके मुँह की ओर देख रहा था। अचिन'दा कान के पास फुसफुसाकर मुझे समझाने लगे, "याद रखो, नर हो या नारी, मन तो सबके एक ही होता है। रूपाकार भले ही अलग-अलग हों। इसीलिए उसे इतना छोटा कर न देखो। कभी तुम पाओगे कि अन्का भी तुम्हे कोई मन्त्र प्रदान कर गयी। तुम तो यह सबकुछ जानते ही हो। उसे अन्यथा कष्ट मत दो।"

अचिन'दा चुप हो गये। मैं भी मानो आविष्ट हो उठा था। उनकी बातें, केवल बातें ही नही, उनमें इस ससार की सीमा मे ही बैठा कोई असीम मे झूला झूल रहा था।

अचिन'दा मुझसे दूर चल रहे थे। गुनगुना रहे थे: 'ओ रे बनजारे मन, तू अपने मन का सौदा कर। नगद हिसाब बाद मे करना, पहले ध्यान में धर...रे मन !"

मैं किसकी खोज में भटक रहा, नही जानता! लेकिन अन्धकार की सीमा में नही जाना चाहता, यह मुझे ज्ञात है।

ठीक इसी समय, बाँसझाड के किसी झुरमुट से रोशनी सी छनकर आती दिखायी पड़ी। साथ ही, लोगों का अस्फुट स्वर। सामने एक ऊँची टेकरी-सी खड़ी थी।

नरोत्तम हाथ में बत्ती उठाये, उसी टेकरी पर चढ़ आया। अन्धकार छँटता जा रहा था अब। स्वर भी स्पष्ट होता गया। अचिन'दा मेरा हाथ पकड़-कर खींच रहे थे। मैंने सिर उठाकर देखा, जय हो मन मुरशेद की! सामने साफ़-सुथरा और चिकना-सा चौबारा था। लाल माटी का लिपा-पुता प्रांगण।

झाड़ी में घुसी हुई पत्ते की एक झोंपड़ी। उसके सामने दो-चार मटके और मिट्टी के कुछ और बर्तन। एक तरफ़ एक लालटेन टिमटिमा रही थी और एक ओर दीया। बीच में अलाव जल रहा था। उसकी आँच और उसकी रोशनी मे जिनकी परछाइयाँ काँप रही थीं, उन सबके आगे मिट्टी की हँडिया थी और कुल्हड़। अगर जी मिचला न उठे तो यही कहना होगा कि रस-भरा समावेश जमा हुआ था। अंग्रेज़ी में इसे 'पब' कहना चाहिए। बाँसझाड़ की मधुशाला! अचिन'दा कहाँ लिये चले आये? यहाँ के इस मदिर झुटपुटे से सकुशल लौट भी पाऊँगा?

हमारे वहाँ उपस्थित होते-न-होते, हमारे स्वागत में उल्लासभरी हर्षध्वनि गूँज उठी। बरहम किसी दैत्य की तरह उठ खड़ा हुआ और बोला, "तू आ गया?"

"तूने क्या सोचा था, नहीं आऊँगा?" अचिन'दा झुँझला उठे थे।

"हा हा...हा, अरे तू झूठ क्यों बोलेगा? लेकिन तूने पुकारा क्यों नहीं? मैं बत्ती लिये आता।"

अचिन'दा वहाँ इकट्ठे बैठे लोगों को देखते हुए बोले, "चल यहाँ ताड़ी पीकर सब धुत्त पड़े हैं और मैं उतनी दूर से गला फाड़कर चिल्लाता। सुनता कौन? और तू कौन है रे? शरत...है?"

एक अधेड़ सथाली दाँत निपोरे उठ खड़ा हुआ, "अच्छा, तो तू चीन्ह गया?"

"तूने चीन्हा मुझे? कि नहीं?"

अचिन'दा के इस सवाल पर सभी हँसने लगे। शरत के पास बैठी एक साँवली-सी औरत की ओर इशारा करते हुए अचिन'दा ने पूछा, "यह कौन है?"

उस औरत की उम्र का अनुमान लगाना कठिन था। ठण्ड की कोई परवा नहीं। हृष्ट-पुष्ट काया, मोटी साड़ी और सूती कुरती। हाथ मे रस का कुल्हड़। चमकती हुई आंखो में लाजभरी मुसकान लिये वह अचिन'दा की ओर देख रही थी।

"तेरी बहू है न?" अचिन'दा ने फिर पूछ लिया।

किसी ने उत्तर नहीं दिया। सभी हँसते रहे। अचिन'दा ने ठीक ही कहा होगा। इन लोगो के हाल-चाल और भाव-भंगिमा को समझ पाना, और ऐसी स्थिति मे भाँप पाना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य था। इसीलिए बरहम ने मेले में दीख पड़ी बहू की तरफ़ इशारा करते हुए पूछा, "अच्छा तो फिर यह बता कि यह कौन है?"

"तेरा सिर," अचिन'दा झल्ला उठे थे।

सभी लोग हँसते रहे। केवल यही दो जोड़े ही नहीं थे, जोड़ेविहीन भी चार-छः लोग बैठे थे। बूढ़ा कलाल भी था, इस मधुशाला का स्वामी। उसके पास और भी दो जन बैठे थे। कौन थे, पता नहीं! पास ही वही सथाली युवती— काले पत्थर-जैसी, जिस पर कोई आग-सी दहक रही हो। आग-जैसे लाल फूल उसकी लाल कुरती पर कौंध उठे थे। मन्दिर की प्रतिमा की तरह अपना उन्नत वक्ष उठाये वह मोहक अदा के साथ बैठी थी। अपने एक हाथ से हँड़िया की गर्दन पकड़कर उसने अपनी बायीं जाँघ पर रख लिया था। दाहिना पाँव आगे फैला था। हालाँकि उसके बाल बँधे हुए थे, लेकिन एक लट गाल के पास बिखर आयी थी। उसकी तरल आँखों में अग्निशिखा लहक रही थी। अपना दाहिना हाथ उठाकर वह भाँड़ को अपने होंठों से लगाती और... फिक्क से हँस पड़ती। मैंने इसके पहले ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था।

मैं यही सोच रहा था कि अचिन्त्य मजुमदार-जैसे लोग इस तरह के अड्डे पर कैसे आते हैं! स्थान, काल और पात्र इनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता! अचानक बूढ़ा कलाल पुकार उठा, "यहाँ आओ अचिन बाबू! उजाले के पास आकर बैठो!"

अचिन'दा कलाल की ओर बढ़ते हुए बोले, "आ तो रहा हूँ लेकिन मेरा माल रखा है न?"

बूढ़ा पोपली हँसी के साथ बोला, "कैसे नहीं रखूँगा भला! बरहम ने बताया कि तुम आ रहे हो। बस मटका भरकर रख दिया।"

सर्वनाश! तो क्या अचिन'दा भी इस मधुशाला में रसभरा मटका लिये बैठ जायेंगे? और मैं? मैं कहाँ जाऊँ? ऐसा मालूम होता तो मैं इस छेद वाली नाव में बैठता ही क्यों? मुझे मेरे मन ने झिंझोड़ते हुए पूछा, "क्यों, पहले तो इसी बरहम के अड्डे पर आने की उतावली दिखा रहे थे? अब इतनी जल्दी दम फूल गया? नौ-दो ग्यारह होना चाहते हो?"

"अच्छी चीज है न?" अचिन'दा ने बूढ़े कलाल से पूछा।

"आज तक कोई टुच्ची चीज दी है? तुम खुद चखकर देखो!"

लो सुनो! अब अगर मैं यह सोचने लगूँ कि विलायती कार में घूमनेवाला और तीन हजार रुपये मासिक कमानेवाला कौन है जिसे यह बूढ़ा कलाल पुराना प्रेमी कह रहा है? कितना पुराना परिचय है यह? क्या बचपन से ही? खैर! अचिन'दा उसके पास ही बैठ गये। उनके साथ ही, बरहम और सरकार भी। दूसरे लोगों के साथ, औरतें भी उन्हें घेरकर बैठ गयीं। कलाल ने अचिन'दा की ओर एक मटका बढ़ा दिया। मैं एक कटे हुए बछड़े की तरह आँखें फाड़े खड़ा था। कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? समझ नहीं पा रहा था।

बरहम ने तगादा किया, "जल्द निकाल, हमारा हिस्सा दे।"

कहाँ पाऊँ इसे

"अरे ठहर, दे रहा हूँ," अचिन'दा ने उसे डपटते हुए मेरी ओर दृष्टि दौड़ायी 'कहाँ हो बन्धु ! अरे तुम किसी अजनबी की तरह दूर क्यों खड़े हो?"

इतने में बरहम भी मेरी तरफ़ अपना मुँह घुमाकर बोला, "हा...हा... हाँ, अरे यहाँ आव छोकरा बाबू ! छोरियों की तरह दूर जाकर क्यों खड़े हो?"

जिस तरह कोई डरी हुई मुर्गी अपने पाँव बढ़ाती है, उसी तरह मैं भी फूंक फूंककर कदम बढ़ता जा रहा था। लगा, किसी कसाई की छुरी हवा में चमक रही हो।

"कौन है यह ?" बरहम ने पूछा।

"बन्धु।"

"इस बार यह छोकरा पकड़ लाये ?" शरत ने चुटकी ली।

"हाँ, इसे बर्बाद करूँगा, इसीलिए।"

अचिन'दा की बात सुनकर मैं सतर्क हो गया। सभी हँस रहे थे। बरहम ने नहले पर दहला फेंका—"अरे मर्द छोकरे को तू क्या नष्ट करेगा। इसको तो लड़कियाँ तबाह करेंगी।"

अचिन'दा ने जोर से डपट दिया, "चुप रहो ! सिर्फ़ नष्ट करना ही तो सीखा है तुमने ? कहाँ हो भई ! आओ, मेरे साथ बैठो !"

बरहम ने मेरे लिए थोड़ी-सी जगह बनायी और बोला, "हें...हें...हाँ... बैठो...बैठो।"

मैंने झिझकते हुए कहा, "यहाँ...माने..."

"तो क्या अँधेरे मैदान में जाकर बैठोगे ?" अचिन'दा ने मुझे बुरी तरह डपट दिया। उनका तेवर ही दूसरा हो चला था अब। "तुम्हीं को तो बरहम के अड्डे पर आने की ज़िद थी। तो फिर आओ। बैठो। अब तो समझ गये होगे कि मैं लड़कियों को साथ क्यों नहीं लिवा लाया। बातें तो समझती नहीं। बस, जाऊँगी...जाऊँगी..."

लड़कियों की बातें तो दूर, यहाँ तो मुझ-जैसे जीते-जागते लड़के का दम अटक गया था। यह तो अच्छा हुआ कि लड़कियों को साथ ले आने का भूत उनके सिर पर सवार न हुआ। मैंने अचिन'दा की ओर देखा। उन्होंने हल्का-सा इशारा किया और बैठने को कहते हुए हौले-से मुसकराये। इस मधुशाला की लाल धूल की चिन्ता व्यर्थ थी। जहाँ तक सम्भव हुआ, मैं अचिन'दा से सटकर बैठ गया। कम-से-कम एक दिन का परिचय तो था ही। दूसरे लोग तो घड़ीभर के परिचित थे। अचिन'दा पर ही भरोसा था। डुबायें या बचायें। इस पार-यात्री के हाथ में कुछ नहीं, प्राण-नौका के माझी अब अचिन'दा ही थे।

"बहुत ही कम लोग दीख रहे हैं। बाकी सारे कहाँ गये ?" उन्होंने पूछा। अलग-थलग पड़े वे चार-पाँच जन भी पास आ बैठे थे, तबतक।

बरहम ने बताया, "तू आ रहा है, यह किसी को नहीं मालूम था। आस-पास और भी दो-चार लोग हैं।"

"तो फिर उन्हें भी बुला ला न! वे सब भी क्यों रह जायें? और यह कौन है मैंने पहचाना नहीं?" उन्होने बूढ़े कलाल के पास बैठी उसी काली लेलिहान लड़की की ओर इशारा करते हुए पूछा। प्रश्न के साथ ही सभी हँस पड़े। अकारण हो या सकारण। हँसी, हँसी थी और कैसे न हो भला, जब रक्त में कारण देवी विराज रही हों। देवी वारुणी। अचिन'दा की बातें सुनकर वह काली युवती भी हँस पड़ी। उसकी काया ने अँगड़ाई-सी ली, लेकिन कुछ बोली नहीं। नशीली आँखें झपक गयी, मुसकराने के कारण।

बरहम की पत्नी ने जवाब दिया, "तूने चीन्हा नही! यह माँगरी है रे। मेरी बिटिया।"

"अच्छा. अब समझा। जमाई कहाँ है तेरा? शादी हो गयी न?"

बरहम ने हाथ उठाकर उत्तर दिया, "वह कही बाहर जाय बैठा है। गुस्सा है।"

क्या खूब? पति गुस्से से बाहर जा बैठा है और पत्नी यहाँ रस की गगरी गोद में लिये, नशे में आकण्ठ डूबी है। रह-रहकर होंठों से कुल्हड़ लगाती है। स्वामी की प्रीति और स्वामिनी की रंग-रीति की यह दुनिया ही निराली है! उसने अपना पात्र आगे बढ़ाकर कहा, "बाबू, थोड़ी-सी मुझे भी देना!"

"हाँ हाँ...क्यों नहीं!" अचिन'दा ने उदारतापूर्वक कहा, "लेकिन इसके बाद कोई दंगा-फसाद मत करना, समझी कि नही?" कहकर उन्होने अपनी झोली में हाथ डालकर लेबल-बन्द बोतल निकाली। इसी समय किसी की जीभ से राल टपक पड़ी। जिसे निगलते हुए वह फूट पड़ा, "विलायती है रे...!"

अब जाकर यह रहस्य खुला। इस उत्सव का महाकारण! एक नहीं, दो-दो बोतलें? किसी सपेरे की पिटारी से दो-दो काली नागिनों की तरह फन उठाये। मैं अवाक् था।

"क्यों बन्धु, बड़ा ही बुरा लग रहा होगा?" वह पूछ बैठे।

अच्छा या बुरा, इसे जानने का अवकाश ही कहाँ था? मन और आँखें, दोनों बुझौवल ही बूझती रही। राह चलने की उत्कट आतुरता में ऐसा कही नहीं देख पाया था। मैंने उत्तर दिया, "जी, बड़ी हैरानी ही रही है।"

"यह सबकुछ देखकर?"

"जी नहीं। आपको देखकर।"

"किसी नीति-शास्त्री की तरह यह तो नही सोच रहे कि अचिन'दा जैसे लोग इन लोगों को दूसरी चीजें न देकर इतने रुपयों की शराब क्यों पिला रहे हैं?"

नहीं। मैंने यह सब कुछ नहीं सोचा। और, इस सारे आयोजन में किसी नीतिवादी की गुंजाइश ही कहाँ ? हाँ, उन्होंने पहले जो कुछ पूछा था, उसी के बारे में सोच रहा था। मेरे कुछ कहने के पहले वे बोल उठे, "मेरे दो-चार मित्र मुझको इस बारे में पहले भी कई बार टोक चुके हैं। इसीलिए तुमसे पूछ रहा था।"

मुझे कोई जवाब नहीं सूझ पड़ा। चुप ही रहा। उन्होंने मुसकराकर कहा, "और यदि तुम्हें भी ऐसा ही कुछ जान पड़े तो तुम्हें दोष न दूँगा। बस, माफ़ी माँग लूँगा।"

"नहीं, नहीं। यह आप क्या कह रहे हैं ?" मैं सचमुच आश्चर्यचकित था।

"अपने इसी स्वभाव के चलते अब इससे और अधिक मैं कुछ हो नहीं पाया, हो भी नहीं सकता। संसार में अब भी अन्याय है, शोषण है। जिन्हें क्षमा करना है या जिनसे घृणा करनी है; करते रहो। लेकिन मैं तो सालभर में एक दिन के लिए यहाँ आता हूँ। थोड़ी देर इनके संग बिताता हूँ। तब मिठाई और पकवान की बातें याद नहीं आतीं। ये सब भी मुझसे ऐसा कुछ नहीं चाहते। कभी इसी बाँसझाड़ में इनसे जी जुड़ गया था और तब से अबतक इस एक दिन के लिए ही सही, मैं इनके बीच आता हूँ।"

वह अपनी ही स्मृतियों में डूब गये थे। मैं भी चुप। क्या कहता और क्या पूछता ?

बातें बन्द कर अचिन'दा ने बोतल खोली और सबको थोड़ी-थोड़ी ढालकर देने लगे। वे सब-के-सब अपना-अपना कुल्हड़ उठाये पास आ गये। बूढ़ा कलाल और बरहम की बेटी मागरी भी। अचिन'दा ने अचानक मेरी तरफ़ मुड़कर कहा, "लो भई, एकाध घूँट ले लो !"

"मैं ?" मैंने अचरज से पूछा।

"क्यों नहीं ? इस यात्रा का अलग ही पुण्य होगा।"

उनकी बात खत्म करने के पहले ही बरहम चिल्ला उठा, "हूँ...य...हूँ... आज तो पीनी ही पड़ेगी। यह तो कोई और ही माल है।"

तभी मागरी ने बिना कुछ सोचे-समझे ही मिट्टी का एक कुल्हड़ मेरी गोद में फेंक दिया। बड़ी विपदा में फँसा था मैं। एक अनजाने, अनचीन्हे गाँव के अड्डे पर, इस भुतहे बाँसझाड़ की रात में, मेरी इस दुर्गति को कौन देख रहा था ? मुझे ऐसे किसी अतिरिक्त पुण्य की आकांक्षा न थी, जिसके लिए मुझे यहाँ मदोन्मत्त होकर पड़े रहना होता, किसी बेताल की तरह नशे में धुत्त। मैंने बड़े कातर-भाव से अचिन'दा की ओर देखा।

अचिन'दा ने स्नेहपूरित हँसी के साथ मुझे आश्वस्त किया, "क्यों, डर लगता है ? तो फिर जाने दो। अरे ओ नरोत्तम ! तू कहाँ गया रे ?"

अचानक पीछे की ओर से किसी के उद्वेगभरे व्याकुल गले का स्वर सुन पड़ा, "नही, बाबू नही। मैं नही पीऊँगा, मैं यह सब नहीं पीऊँगा।"

मैंने मुड़कर देखा। जैसे किसी जीते-जागते जवान छोकरे ने काले नाग को देख लिया हो। यह तो मुझसे भी बुजदिल निकला। कायर की नाईं हाथ हिला रहा था बेचारा। जब इस तरह डर रहा है या इसमे उसकी कोई रुचि नहीं तो रहने भी देना चाहिए। क्या फायदा उसे और आतंकित करने से?

बूढ़े कलाल ने आँखें मटकायीं, "क्यों? अरे तू तो एक ही बार में दो-दो मटके सूँत जाता है?"

नरोत्तम ने कन्धा झटककर जवाब दिया, "हाँ, लेकिन मैं वह बिलाती माल नही चढ़ा सकता। मैं हिल जाता हूँ।"

अब समझा, डर कहाँ है? मैंने तो यही सोचा था अभी इसकी उमर ही क्या हुई? अभी इसकी लत-वत नही होगी।

अचिन'दा ने टोका—"अरे तूने तो देसी चख रखी है और इसमें तेरी जान निकलती है। चल उठा ले एक भाँड़।"

लेकिन वह हाथ जोड़कर खड़ा रहा और कातर स्वर में बोला, "माँ-कसम बाबू, यह नही चलेगी।" सचमुच, उसकी आँखें किसी आतंक से छलछला उठी थी। कही ऐसा न हो कि वह इस महफिल से ही भाग जाये? अचिन'दा को भी इसका अनुमान था शायद! फिर तो पैदल ही लम्बी दूरी तय करनी पड़ेगी। अचिन'दा ने इतना कहकर ही बख्श दिया—"बेटे, तुझसे कुछ नहीं होगा। जा, ताड़ी पीकर ही मर...।"

नरोत्तम की जान-मे-जान आयी जैसे। वह मुसकराने लगा और उसके साथ अचिन'दा भी।

"तुमने तो पी ही नहीं?" बूढ़े कलाल ने पूछा।

"हाँ...हाँ पीऊँगा। मेरा द्रव्य तो तुम्हारे ही पास है। पहले तुम सब पीओ।"

सभी अपने-अपने गले मे वह तीखा पेय उतारने लगे। बरहम ने भरे गले से कहा, 'वा आ आह!' शरत की बहू ने घूंट पीते ही अपने मुँह मे आँचल ठूँस लिया। शायद यह विलायती सबको बड़ी तीखी लगी थी।

बूढा कलाल भी बोल उठा, "वह वा...क्या मजेदार चीज है!"

उधर मागरी घूंट पर घूंट भरे जा रही थी। उसकी भंगिमा नशे की तरंगों में डूब चली थी जैसे। अबकी बार अचिन'दा ने भी बोतल को अपने गले में उलट दिया और गटागट सारी पी गये। मैं आँखें फाड़े उनकी तरफ़ देख रहा था। आश्चर्य है! कहाँ आये और कहाँ बैठे, यह सब क्या लीला कर रहे हैं! इतनी उतावली किसलिए?

"बन्धु! नाराज तो नही...?" उन्होंने मेरी तरफ़ मुड़कर पूछा। लेकिन

मेरे उत्तर के पहले ही स्वयं बोले, "मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा था, अचिन, तू साल में एक बार आता है तो बाल-बच्चों के साथ इन्हें भरपेट मांस-भात ही क्यों नही खिला देता ? यह सब किसलिए ?"

सचमुच, उनकी यह बात बड़ी प्यारी लगी। लेकिन इसका उत्तर मैं भला क्या देता ? शायद यही कहना चाहते थे—"कुछ अच्छा तो कर नही सकता, हाँ बुरा अवश्य कर सकता हूँ। अब बताओ मैं क्या करूँ ? यही तो मेरा दोष है। अब पूरे साल के बाद, एक पहर रात की इस छोटी-सी घड़ी में मैं इनका क्या बुरा कर सकता हूँ ? पूजा-पाठ या शादी-ब्याह का मौक़ा तो है नही कि बैठाकर खिला दूँ और चलता करूँ। पुराने मित्रों के साथ चौकड़ी जमाने का अलग ही सुख है। इनके साथ ब्रिज खेलकर या कॉफ़ी पीकर अड्डा नहीं जमाया जा सकता। जिसमे जिसको रस मिलता है, उसे भी तो ध्यान मे रखना पड़ेगा। जैसा कि एक बार रामकृष्ण ठाकुर ने बङ्किमचन्द्र बनर्जी को विरक्त होकर कहा था, 'अरे बाबा, जो खा रहे हो, उसी की ही तो डकार आयेगी।' याने जैसी भावना, वैसे भगवान। मैं अपने मित्रों को वही रामकृष्णवाली बात ही कहता हूँ, 'मैं जो हूँ, वही हूँ। अपने को हजम कहाँ कर पाया ?' सचमुच, अपने बारे में सोच-सोचकर ही तो जीवन कट गया। दूसरे के बारे मे सोच तक न पाया।"

इसी समय बरहम ने हाथ बढ़ा दिया, "चल ढाल रे बाबू !"

"हाँ ले।" और उन्होंने सबके पात्रों को भर दिया। मैं उनके शिकनभरे चेहरे पर कोई स्वप्न पढ़ रहा था। अजीब-सा सम्मोहन था वहाँ। सबको पिलाने के बाद उन्होंने अपने गले मे ढाल ली और पूछने लगे, "विभूति बाँड़ुज्जे का 'आरण्यक' पढ़ा है ?"

"हाँ पढ़ा है," मैंने उत्तर दिया।

"उसमे लेखक ने एक स्थान पर यह आपत्ति की है कि घने जगल को काट-कर कुछ बीघों में फसलें उगायी गयी। दरअसल वे यह कहना चाहते हैं कि अरण्यों को नष्ट कर मनुष्य जाति ने अपना कोई विशेष लाभ नही किया। मुझे यह पढ़कर लगा, यह उक्ति कितनी अवैज्ञानिक है, 'अनसाइण्टिफिक'। लेकिन सोचता हूँ, प्रेम से क्या नही होता ? वस्तुत. जिन्हें अरण्य से प्रेम है, वह तो ऐसा ही कहेंगे। मुझे भी ऐसा ही कुछ हो गया है। मुझे ऐसी मण्डली में बैठना बहुत ही अच्छा लगता है।"

कहते-कहते वह रुक गये और खाली कुल्हड़ भरने लगे। सारे पियक्कड़ अपनी ही दुनिया में खोये और हँसी में डूबे थे। अब उनके खून में ज्वार आया था। अचिन'दा ने मुझसे कहना चाहा था लेकिन बरहम ने बीच मे ही टोक दिया, "अरे, तूने पी नही ?"

अचिन'दा ने भी थोड़ी-सी ढाली और कहने लगे, "उन दिनों हम विद्या-भवन के छात्र थे, एम०ए०के। दूर से ही बाँसझाड़ को देखा करते। बरहम वगैरह को देखते और पहचानते। उस दिन हमारी आखिरी परीक्षा थी। परीक्षा समाप्त होते ही, उसी दिन शाम को मैं बाँसझाड़ जा पहुँचा। पीने-खाने नही। उसके लिए यहाँ आने की क्या जरूरत थी भला? उस दिन जैसे नीद मे चल रहा था, कुछ पता नही। सारी अनुभूतियाँ मर गयी थी। आश्रम से चलता हुआ, कब कोपाई के किनारे चला आया, मुझे याद नही। सर्दी शुरू हो गयी थी। खोआई के इर्द-गिर्द कास झूम रहा था। कोपाई मे काफ़ी गहरा पानी था। मै नगे पाँव चला जा रहा था। नंगे पाँव चलना हमारा अभ्यास रहा आया। अब मैं तुम्हें अच्छी तरह समझा पा रहा हूँ या नही, नही जानता। मुझे जैसे साँप ने काट खाया हो, कुछ वैसा ही। मैं दश से मूच्छित..."

वह मुसकाये और रुककर बोले, "साँप ने मुझे कभी काटा नही, इसलिए वैसा कुछ बता नही सकता। केवल उपमा के लिए कह रहा था। हालांकि दंश कुछ वैसा ही था।"

इतना सकेत देने के बाद वह फिर ढालने लगे। दूसरी बोतल कब खुल गयी, मैं जान न पाया। बरहम और दूसरे लोगों की बेचैनी बढ़ गयी थी। इस बीच भाँड़ और हाड़ी समेत अँधेरे की गोद मे दो जोड़े और आ जमे थे। सब-के-सब नशे के झूले मे झूल रहे थे। आवाजें ऊँची पेंगें लगा रही थी। किसी युवती के गुनगुनाने की आवाज भी सुनायी पड़ रही थी।

अचिन'दा थोड़ी-सी चढ़ाते हुए वोले, "वहाँ से चलते हुए मैं न जाने कब बाँसझाड़ आ पहुँचा। उस समय यही बरहम अपनी पत्नी के साथ यहाँ बैठा था। उसने मुझे हाथ पकड़कर बिठाया। उनके संग पीने लगा। कितनी, यह भी सुध न रही। बताया न, मैं उस दंश से सज्ञाहीन था। जीवन में जिस बारे में कभी सोचा भी न था, वही कर बैठा। उस रात बाँसझाड़ से वापस नही लौट पाया। दरअसल विष की पुड़िया तो सीने में ही थी। मेरा मतलब, सीने के ऊपरवाली जेब में।"

उन्होंने मेरी कुतूहली आँखों की ओर देखा और मुसकाने लगे। मैं उनसे आँखें नही मिला सका। कही खो गयी थी वे। अपना मुँह आगे बढ़ाते हुए कहने लगे, "मैं तुम्हें कोई अटपटी-सी कहानी सुनाऊँगा। सुनोगे?"

"हाँ," मैंने स्वप्न-विमोहित-सा सिर हिला दिया, "सुनूँगा।"

मुझे यह पता भी नहीं चला कि बरहम और उसके अन्य साथी कब १।

हो गये। थोड़ी देर में एक ओर मर्द और दूसरी ओर औरतें, आमने-सामने खड़ी थी। सभी खड़े-खड़े झूम रहे थे, कतार बाँधे। मेरी आँखों के सामने एक बार फिर मलूटी-मोलीशा का मैदान तिर गया। बाँसझाड़ जैसे उसका ही एक दूसरा रूप था। यहाँ पहले से कोई आयोजन था नहीं, यों ही लोग जमा हो गये थे।

तभी महिलाओं ने गान आरम्भ कर दिया। उनके प्राण ध्वनित हो उठे। पाँव थिरक उठे। उत्सव का कोई विशेष कारण तो था नहीं, फिर भी उमंग में कोई कमी न थी। जिनके यहाँ उपस्थित रहने से यह चौकड़ी जम सकती थी, उनमें से प्रायः सभी छातिमतला के मेले में उपस्थित थे। बूढ़ा कलाल इस छोटे-से मण्डप के बीच मे सुलग रहे अलाव को कुरेद रहा था। टिमटिमाती लालटेन और बत्ती के लाल उजाले में लोग थिरक रहे थे, उनके साथ उनकी परछाइयाँ भी नाच रही थीं। बाँसझाड़ के उस झुटपुटे मे, धुंधुआती आग की ललछौंही उजास मे, सब-के-सब कहीं दूर खोये थे।

मैं उनके गान की भाषा नहीं समझ पा रहा था। स्वर के उतार-चढ़ाव में एक ही पंक्ति बार-बार सुनायी पड़ रही थी। मैं एक ही शब्द पकड़ पा रहा था, 'अचिन बाबू', जो गान के साथ उच्चरित हो रहा था। अचिन'दा अपनी गर्दन हिला-हिलाकर हँस रहे थे। फिर हाथ उठाकर बोले, "अच्छा, बाबा अच्छा।"

उन्होंने इस गान का मर्म बताते हुए मुझसे कहा, "वे सब कह रहे हैं, उन्होंने मेरे-जैसा आदमी अबतक नहीं पाया। मैं कोई मिट्टी का बर्तन नहीं कि टूट जाऊँगा। मैं खाँटी पीतल का बना हुआ हूँ।"

और वह अपनी नशीली मुसकान बिखेरने लगे। किसी स्वप्निल रहस्य-लोक मे विचरते हुए जैसे मुझे बुला रहे हों। इस बीच बूढ़े कलाल ने अचिन'दा के सामने एक और लबालब मटका रख दिया।

नृत्य-गीत साथ-ही-साथ चल रहा था। बरहम की पत्नी अब पहले से अधिक युवा लग रही थी। अपनी बेटी से ज़रा भी कम नहीं। स्वर के आरोह-अवरोह के साथ वे सब फनियर नागिन की तरह लहराती, डोलती। नरोत्तम थोड़ी दूर पर बैठा था, अँधेरे में। आखिर अचिन'दा का लिहाज भी तो था। हँड़िया-भाँड़ लिये उनके सामने बैठे भी तो कैसे? दूर से ही तमाशे का आनन्द ले रहा था।

"तू नहीं नाचेगा?" बरहम ने अचिन'दा से पूछा।

"ना बाबा, अब मेरी कमर में इतना ज़ोर नहीं।"

मैंने देखा, उनकी आँखें शून्य में डूब गयी, कहीं दूर। मेला-प्राङ्गण में जो चेहरा था, मुख-मुद्रा थी, यहाँ वह नहीं। रक्ताभ चेहरे पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ

अग्नि-शिखाओं की तरह तरल हो उठी थीं।

"अब तुम्हें यह खोलकर बताने की जरूरत नहीं कि मेरी [illegible] जेब में जो जहर बुझी पुड़िया थी, वह और कुछ नहीं, दरअसल एक चिट्ठी थी।" इतना बताने के बाद, उन्होंने मेरी ओर देखा। मुझे उनकी आँखें नहीं दिखीं। बस दो चमकदार पुतलियाँ नाच रही थीं। उनकी जेब में रखी वह [illegible] कोई चिट्ठी होगी, यह मेरी समझ से बाहर की चीज़ थी। मेरे मन में स्वभावतः ही कौतूहल जाग उठा था। चमत्कृत हो उठा था मैं और मेरा मन।

अचिन'दा कहने लगे, "वह चिट्ठी उसी दिन कलकत्ता से आयी थी। उसमें लिखा था, "तुम्हारा प्रस्ताव अस्वीकार हो गया। तुम्हारा [illegible] कोई खास ऊँचा नहीं। और अभिभावकों को यह भी विश्वास नहीं कि तुम [illegible] पास कर आर्थिक दृष्टि से भी किसी लायक हो सकोगे। [illegible] जैसा बड़ा अपराध तुम-जैसे बुरे लोग ही कर सकते हैं। हमारे परिवार में शिक्षा-दीक्षा और आधुनिकता का चाहे जो भी [illegible], इस बात को कोई नहीं अनदेखा करेगा कि तुमने [illegible] है। [illegible] वही विषबेल लगायी है। तुम बहुत बुरे हो, बहुत ही बुरे। [illegible] आत्मीयों पर भरोसा नहीं रहा। [illegible] मुझे कलकत्ता ले आना पड़ा। तुम्हारे [illegible]। तुम एकदम बुरे हो, इतने कि बताया नहीं जा सकता। [illegible] लगाकर उन अधिकारियों को [illegible]। [illegible] यह बात और भी लोगों के कानों में पड़ेगी। [illegible], इसलिए मुझे यहाँ से चुपचाप हटाया जा रहा है। [illegible] कर नहीं देख सकते। इस [illegible]। इसलिए मेरा विवाह तय हो चुका है। [illegible] से पढ़ाई पूरी की है और [illegible]। मैं समझती हूँ, यह [illegible]।"

अचिन'दा रुके [illegible]। उधर गान का स्वर और [illegible]। [illegible] हो चला था। मेरी आँखों के सामने एक [illegible] हुई। नहीं, नहीं [illegible]! उसके जूड़े में फूल नहीं, [illegible], लेकिन [illegible] तरल नहीं थी। [illegible] के बावजूद वह [illegible]।

अचिन'दा [illegible]! [illegible] "चिट्ठी में और भी कई बातें लिखी थीं, [illegible] दल के अलावा और [illegible]

प्रतिष्ठा और इन सबके बीच मैं अबला, एकाकिनी। जब यह विष चखा ही था तो मौत क्यों नही आयी ? अब जिस आग में जल रही हूँ उससे मौत की बात ही सोची जा सकती है। पुरुष का बाहुबल ! सभ्यता, आधुनिकता, संस्कार—वह इन सबसे ऊपर कहाँ उठ सके ? दूसरी ओर सभ्यता एक ऐसी छलना है जो बाहुबल को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखती है। अब क्या किया जा सकता है ? अग्रहायण के पहले सप्ताह का वह दिन सामने है। बीच मे केवल कातिक माह है। यह भी नही भूल पाती कि इन्हीं दिनों तुम्हारी परीक्षा भी है। इसीलिए मैं एक ही जप और तप के साथ तुम्हें दुतकार रही हूँ कि तुम बहुत ही बुरे हो, वर्ज्य हो, विषतुल्य हो। जिस विष से मौत नही आती, वह विष देते ही क्यो हो ? अब तुम-जैसा उचित समझो, करो। लेकिन अपनी कोई क्षति मत करना। बस इतना ही।"

अचिन'दा चुप हो रहे। मैंने पूछा, "इति ?"

वह अब भी चुप थे। थोड़ी देर के बाद मुसकराकर बोले, "अच्छा तो नाम जानना चाहते हो ? वह भी हमारे ही जैसा नाम है, नीरजा।"

बूढ़े कलाल ने भाँड़ आगे बढ़ा दिया। अचिन'दा ने हाथ हिलाकर लेने से इनकार कर दिया। अब इस चेतन ब्रह्म को वाह्य रस की कोई आवश्यकता नही। वह प्राण-रस से भाव-विह्वल थे। छलकते स्मृति-कलश ने उन्हें उन्मत्त कर दिया था।

गीत-नृत्य जारी था। बरहम और उनके साथी झूम रहे थे। उनकी शिराओं मे कोई दूसरा ही नाच रहा था। अचिन'दा ने अपना सिगार सुलगाया और कहने लगे, "इसीलिए कहा था न मैंने कि तुम्हें एक वाहियात-सी कहानी सुनाऊँगा।"

"क्यों, वाहियात-सी क्यों ?" मैंने आपत्ति की।

"वही पुरानी प्रेम-कहानी है। ऐसी कितनी ही कहानियाँ तुमने सुनी है। तुम ठहरे साहित्यिक, पता नही कितनी और कैसी विचित्र प्रेम-कहानियाँ लिख चुके हो। हमारे युग की कहानियाँ तो बस बकवास होंगी।"

दूसरों ने इस बारे में क्या कुछ कहा, यह मुझे नही मालूम। समालोचक होना मेरे भाग्य मे नहीं बदा। चिट्ठी की बातो से नही, विष की पुड़िया के बारे में जो कुछ जान पाया, उससे इस युग या उस युग का न कोई तालमेल है और न कोई विरोध, न ही नये पुराने का संकट। बस उन दो चिरप्रेमियों की गाथा का स्मरण हो आया, जो कभी बासी नही पड़ती। मैं बिना कहे रह न सका "बस रूप का ही अन्तर है।"

"वही, कुछ कम है क्या ?" अचिन'दा सिगार का कश खीचते हुए बोले, "वरना रूप के लिए आँखें तरसती क्यो हैं ? 'जनम अवधि हम रूप निहारलूं,

कहाँ पाऊँ उसे

नयन ना तिरपित भेल' क्यों लिखा गया ? स्वयं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ भी इस पंचशर के सन्धान हेतु शिलांग की पहाड़ी तक चले गये थे। मेरी कहानी में आदि से अन्त तक वैसी कोई चमक-दमक नहीं।"

अचिन'दा अपने तीर से अपने को ही बींध रहे थे। विष बुझा तीर उन्हें कितना बींध पाता? जहाँ गहरा घाव लगा हो, वहाँ आत्म-विद्रूपता का भाव भी नहीं रहता। वस्तुतः अचिन और नीरजा अपने सहज प्रेम-सम्बन्ध मे बहुत अधिक गहरायी तक डूब चुके थे। बाहर के अरण्य-रोदन की अपेक्षा, घर के भीतर का क्रन्दन अधिक हाहाकारपूर्ण होता है। वहाँ किसी प्रकार का आडम्बर नहीं होता। यहाँ वह जीवनलीला भी चलती रहती है। यदि अचिन'दा की कहानी में कोई चमत्कार नहीं तो इससे उनकी गाथा को कोई क्षति नहीं पहुँचती। बल्कि वह अधिक गम्भीर जान पड़ती है। पत्र में जो वक्तव्य था, उसे सुनकर ही पता चल गया कि अन्तर्मन पर रखा कोई पत्थर लुढ़क गया है और सारी पीड़ा का स्रोत फूट पड़ा है। अलाव की आँच में अचिन'दा का पिघला कण्ठ-स्वर सुनकर मैं अपनी कल्पना मे उनकी कहानी बुनने लगा था।

लेकिन उससे कोई राह न मिली। मैंने आग्रह किया, "क्या कुछ घटित हुआ, यह मैं कैसे जान पाऊँगा ? कहानी तो आपने पूरी ही नहीं की ?"

अचिन'दा ने मेरे कन्धे पर प्यारभरी-चपत लगायी और बोले, "अरे हाँ ! दरअसल वह चिट्ठी मेरे जीवन के एक अध्याय की परिणति थी। उस चिट्ठी के मिलने के पहले मेरे मन में कई तरह की गुनगुनाहट थी। मधुमक्खियाँ जिस तरह अधिकाधिक मधु की आशा मे उड-उड़कर अपना छत्ता तैयार करती है, उसी तरह। वे उस दिन की आशा में रहती हैं जिस दिन उनका रस-वृत्त पूरा होगा, वे मधु पी-पीकर अपना जीवन धन्य कर लेंगी। इसके पहले भी मुझे नीरजा की कुछ चिट्ठियाँ मिल चुकी थी, उनसे कभी भी ऐसा नही लगा कि मेरा प्रेम-अनुरोध व्यर्थ जायेगा, उसके लिए कोई पात्र और यहाँ तक कि विवाह का दिन भी निश्चित हो जायेगा। मैं तो इसी प्रत्याशा मे था कि परीक्षा की समाप्ति के उपरान्त अपने पाँव पर खड़ रहने की योग्यता भी मैं अर्जित कर लूँगा। तब मेरी पात्रता को कौन झुठला सकेगा ?"

इतना कहकर उन्होने अपनी परिचित मुसकान के साथ होंठों को उलटा दिया और आगे बढ़े, "बात यह थी कि तब मस्तिष्क में कई स्वप्न थे। साथ ही, आदर्श भरी बातें ठूँस-ठूँसकर भरी थीं। न मन में कोई जटिल ग्रंथि थी, न कोई भय। भय जैसी किसी चिड़िया से परिचय ही नहीं था तो आत्म-रक्षा की आवश्यकता भी नहीं थी। इसीलिए मैं मधुमक्खी की बात कर रहा था जिसे पहले से पता नहीं होता कि शुक्ल पक्ष के बीतते-न-बीतते रसभरे छत्ते की ओर हाथ मे जलती मशाल लिये कोई चला आयेगा। इसलिए उस चिट्ठी ने मुझे

किसी तीर की तरह बींध डाला। मैं विक्षिप्त की तरह झोपाई के किनारे घूमता हुआ कब बाँसझाड़ आ पहुँचा, मुझे स्वयं पता नहीं। तब बरहम एक सजीला जवान था। उसकी पत्नी, मागरी से भी अधिक सुन्दर थी। उनके संग पहले से भी मेरी पहचान थी, लेकिन उस दिन घण्टों बातें होती रहीं। वे सब पी रहे थे। उन्होंने मुझे भी बिठाकर पिलायी और मैं पीने लगा।''

वह रुक गये। मैंने एक बार बरहम की ओर ताका। उसने अपनी पत्नी के दोनों कन्धे पर दोनों हाथ रख दिये थे। दोनों झूम रहे थे। पाँव डगमगा रहे थे। मैं उनके पुराने मित्र की बातें सुन रहा था। उन्हें सम्भवतः इस बात का पता न हो कि उनका यह मित्र उस दिन शाम को भटकता हुआ, यहाँ क्यों आ पहुँचा था। बरहम अब भी अपनी पत्नी को साथ लिये नाचता है। अचिन'दा आज भी, बाँसझाड़ के उसी आदमी की तरह हैं। और मैं राढ़ की उस कड़ाके की ठण्ड में सहमी हुई रात के झरोखे से, इस संसार की अपरूप लीला देख रहा हूँ जिसकी कुंजी किसके हाथ में है, किसे पता है? इसे कौन रचता है, कौन दिखाता है, नहीं जानता। तब उस अदृश्य के प्रति नतमस्तक हो जाना पड़ता है। मेरे हाथ, अनायास ही मेरे हृदय तक उठ आते हैं और मेरे अन्तर्मन में कोई पुकार उठता है, नमस्कार है, नमस्कार है। हे जीवन! नमस्कार है तुम्हें!

सम्भवतः अचिन'दा बरहम दम्पती को ही देख रहे थे। या फिर अपनी ही बात पर विचार कर रहे थे। मैंने उनकी ओर निहारा तो एकदम सहज भाव से बोले, ''मैं दूसरे ही दिन कलकत्ता पहुँच गया। क्यों? यह ठीक-ठीक नहीं बता सकता। चुप बैठा नहीं रह सकता था, शायद इसीलिए। उस समय दिमाग़ में एक ही बात घूम रही थी, 'बाहुबल'। आखिर नीरजा क्या कहना चाहती थी? शायद यह कि मैं उसके घर से उसे मुक्त करूँ? या उसे हर ले आऊँ? दिमाग़ से परीक्षा का भूत भी उतर चुका था।

''कलकत्ता में मेरे रिश्तेदारों का घर था। माता-पिता तो अपने पैतृक घर में ही थे। मुझे देखकर मेरे रिश्तेदारों को हैरानी भी हुई। मैंने उन्हें बताया कि अचानक ऐसा कोई काम आ पड़ा है; कुछ दिन यहीं रहूँगा। लेकिन वहाँ जाकर भी क्या हो गया? नीरजा के घर तो किसी दिन जा ही नहीं पाया। उसका पता मेरे पास था। घर भी पहचान गया। लेकिन उसके बाद? अपने को इतना बेबस पा रहा था कि कुछ कहने-जैसी बात ही नहीं बन रही थी। घर के भीतर कैसे घुसूँ, सबसे बड़ी यही चिन्ता थी। अपना बाहुबल किस तरह प्रदर्शित करना है, समझ में ही नहीं आ रहा था।''

अचिन'दा हँसने लगे। मैं भी जमा हुआ था, लेकिन मेरा सीना तेजी से धड़क रहा था। जब उनकी हँसी रुक गयी तो उन्होंने अपने दोनों हाथों से अपना मुँह पोंछा और कहने लगे, "दरअसल अपमानित होने की सम्भावना थी। भय उसी का था। नीरजा के पिताजी से शान्तिनिकेतन का ही परिचय था। लेकिन यह भी जानता था कि उनके सामने जाकर अपनी अर्जी पेश की नहीं कि जबर्दस्त हंगामा मच जायेगा। और इसकी धमक शान्तिनिकेतन तक पहुँच सकती है। इसलिए दो दिनों तक उसके घर के आसपास ही चक्कर काटता रहा ताकि नीरजा से किसी तरह एक बार मुलाकात तो हो जाये। कभी तो बाहर निकलेगी। क्या वह छत पर भी नहीं जाती?"

"पता नहीं, कैसे यह सबकुछ सोच पा रहा था? एक दिन पागल की तरह निकला और फिर दो दिनों तक उसके घर के दरवाजे के पास खड़ा रहा। सोच रहा था कि किसी नाटक के नायक की तरह घर के भीतर घुस जाऊँ और चिल्लाकर कहने लगूँ—'नीरजा, ले मैं आ गया।' इतने में उसके पिताजी प्रकट हों और भीषण गर्जन-तर्जन संवाद-प्रतिसवाद के बाद नीरजा को बुलाया जाय। वह जैसी है, वैसी ही बाहर निकल आये। लेकिन जहाँ तक याद है, मुझे इस तरह के नाटक में कोई रुचि न थी।

"अन्त मे, मैंने यह तय किया कि उसके घर जाऊँगा और शान्त चित्त होकर उसके पिताजी से मिलकर सारी बातें करूँगा। तभी याद आया, उसके घर मे टेलिफ़ोन भी तो है। उस समय ऑटोमेटिक लाइनें न थी। ऑपरेटर को नम्बर बताकर फ़ोन करना पड़ता। खैर गाइड देखकर उनका नम्बर भी घोट गया। नम्बर माँगते हुए मेरा गला सूख चला था। तालु चिपक गयी थी। पसीने-पसीने हो गया था मैं। "हेलो" कहते हुए जिन्होंने रिसीवर उठाया वह और कोई नहीं, नीरजा के बाबा थे। उन्होंने तीन-तीन बार मेरा नाम पूछा था, तब कही जाकर मैं अपना नाम बता पाया था, इस अनुरोध के साथ कि कृपया नीरजा को बुला दीजिए।

"मैं अपना रिसीवर ज़ोर से थामे हुए था कि उधर से कोई दहाड़-सी सुन पड़ेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ दोस्त! यह संसार बहुत ही विचित्र है और यहाँ के लोग उससे भी विचित्र। वह एक क्षण को चुप हो रहे। फिर थोड़ा-सा आश्चर्य प्रकट कर बड़े ही मुलायम स्वर में कहने लगे, 'अरे, हमारे शान्तिनिकेतन के अचिन्त्य हो तुम'?

"मैंने बेवक़ूफ़ की तरह उत्तर दिया, 'जी हाँ।'

"उन्होने बड़ी शान्ति और शालीनता से पूछा, 'तुम कलकत्ता में ही हो? कब आये भला!'

"मैंने उन्हें सारा विवरण दिया।

"वह बहुत ही चिन्तित होकर बताने लगे, 'परीक्षा सिर पर सवार है और तुम कलकत्ता मे हो ? क्या बात है, कोई विपदा तो नही ?'

"नही, ऐसी कोई बात नही। मैं नीरजा के साथ बातें करना चाहता था।

"पता नहीं, इतनी-सी देर मे इतना साहस कहाँ से जुट गया था। उन्होंने कहा, 'अच्छा, मैं देखता हूँ, पुकुनी यही कही होगी, तुम रिसीवर थामे रहना।'

'पुकुनी, नीरजा का घर का नाम। घर-परिवार के अलावा केवल मुझे ही यह अधिकार दिया गया था कि मैं उसे इस नाम से पुकार सकूँ। इतने दिनों के बाद, इस नाम को सुनकर मेरा जी आनन्द-विह्वल हो उठा। उसके पिता के व्यवहार से विस्मित भी हो गया। जलते रेगिस्तान पर बरखा की बूँदों की तरह। उग्र आंधी के बदले शान्त और सौम्य प्रकृति। नीरजा के पत्र से उनके कण्ठ-स्वर का कोई तालमेल नहीं। इधर समय बीतता चला गया। कितना, याद नहीं। मैं यही सोच रहा था, कहीं किसी ने छोड़ तो नही दिया ? या कि तार ही नहीं काट दिया हो ? जब पूरी तरह हताश हो चुका तो उस छोर पर अचानक 'खुट-सी' कोई आवाज आयी 'हेलो'...और मेरे मन-प्राण एवं शरीर में कोई झंकार-सी हुई 'हेलो...'

"मैं पहचान गया, नीरू, नीरजा है। लेकिन उसका स्वर बहुत ही धीमा था, भीगा हुआ। लगता था, अबतक रो रही थी। मैंने कहा, मैं अचिन...यहाँ आया हूँ...।

अचिन'दा ठठाकर हँसने लगे, कहते-कहते। जैसे कोई चुटकुला सुना रहे हों। हँसते-हँसते उन्हें खांसी भी आ गयी। कहने लगे, "मैं जिस तरह कह रहा था, उसकी याद कर-करके मैं बाद मे भी कई बार हँसता रहा था। मैं असल में यह भूल ही गया था कि टेलिफ़ोन के इर्द-गिर्द जो शान्ति थी, वह कोई चुप्पी न थी। नीरू जहाँ से बातें कर रही थी, वहाँ उसके माता-पिता और भाई भी जमे थे। मुझे कुछ भी कहने की जो स्वतन्त्रता थी, उसे नहीं।

"क्यों, क्यों," उसने प्रायः विस्मित होकर पूछा था।

"मेरा हाथ कांप गया। गला भी। एक ही क्षण में अन्धकार-सा छा गया। यह कौन-सी नीरजा थी, जो मुझसे बातें करने आयी थी ?

"मैंने फिर कहा, मैं, मैं अचिन कह रहा हूँ। मैं तुम्हारे लिए कलकत्ता आ गया हूँ।"

"......" कोई उत्तर नही।

"नीरू, तुमने बाहु-बल के बारे मे लिखा है न ! मैं इसीलिए आ गया।"

"ओ...।" थोड़ी देर के बाद इतना ही सुन पड़ा। मानो नीरजा बहुत ही थकी-चुकी, क्लान्त और अस्वस्थ हो। फिर उसने अचानक ही कहा, 'तुम एक

कहाँ पाऊँ उसे

बार हमारे घर आओ।" और लाइन कट गयी।

"मैं काफ़ी देर तक रिसीवर थामे चुपचाप खड़ा रहा। कौन-सी बात, कहाँ से हुई, कुछ समझ नहीं पाया। नीरजा अपरिचित-सी जान पड़ रही थी। थोड़ी देर बाद ख्याल आया, उसने मुझे अपने घर बुलाया है। रिसीवर रखकर मैं रास्ते पर निकल आया। अब मैं हताश नहीं, थोड़ी-बहुत आशा बँध चली थी। ऐसा न होता तो नीरू अपने घर बुलाती ही क्यों ?

"मैंने देर न की। तत्काल उसके घर जा पहुँचा। मेरी आँखों के सामने अभी भी उसका घर दीख रहा है। दो गैरजों के बीच घर का फाटक। फाटक खुला था। उसे भीतर की तरफ़ ठेलकर मैं अन्दर घुसा। एक तला कोठी, सामने लम्बा-चौड़ा बरामदा। दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द। बरामदे के दोनों ओर दो कमरे। वे भी अन्दर से बन्द। मैंने सामनेवाले दरवाज़े पर दस्तक दी। मेरे कानों में अब भी गूँज रहा था, 'तुम एक बार हमारे घर आओ।' जब नीरू ने बुलाया है तो मुझे किसी बात का डर नहीं, किसी का भय नहीं। मैं यही सोच रहा था, दरवाज़ा खुलते ही नीरजा मुझसे कहेगी, 'मुझे यहाँ से ले चलो अचिन !' और मैंने एक बार भी नहीं सोचा था कि उसे ले कहाँ जाऊँगा।

"दरवाज़ा नहीं खुला तो मैंने फिर दस्तक दी। दरवाज़ा भड़ाम से खुल गया। नीरजा नहीं, सामने उसके पिताजी खड़े थे। मुझे देखते ही, बड़े प्यार से भीतर लिवा गये। मुझे जानते तो थे ही। फिर ब्रिटिशराज के सरकारी पदाधिकारी। रोब-दाब और शान-शौकत का क्या कहना ? पायजामे के ऊपर गाउन डाले, बड़े इतमीनान के साथ सुबह बिता रहे थे।

"अरे आओ, आओ अचिन...बैठो !" बड़े प्यार से भीतर बुलाया था उन्होंने। सबसे पहले भरपूर नाश्ता कराया। अब क्या बताऊँ भाई, मैं ठहरा कोरा बंगाली। उनके घर की आन-बान और तामझाम देखकर मैं तो जैसे भीतर-ही-भीतर बुझ गया। मेरे साथ वह भी सोफ़ा में धँस गये और बोले, "चाय मँगवाऊँ तुम्हारे लिए, क्यों ?"

"जी नहीं," मैंने झेंपकर कहा। मेरी दृष्टि कमरे के भीतरी दरवाज़े पर लगी थी। लेकिन वहाँ मोटा-सा पर्दा झूल रहा था। कुछ भी नहीं दीख पड़ा। अन्दर की खिड़कियों पर भी मोटे पर्दे झूल रहे थे। सारा कुछ शान्त और सन्नाटा। जैसे इस घर के भीतर कोई रहता ही न हो।

"अरे नहीं, चाय तो पीनी ही पड़ेगी," नीरजा के पिताजी ने नौकर को बुलाया। वह पर्दा उठाकर अन्दर दाखिल हुआ और हुकुम बजाने फिर वापिस चला गया। बैठक के एक ओर पियानो पड़ा था और उस पर एक टाइम पीस, जिसकी टिक्-टिक् के अलावा कहीं कोई शब्द नहीं। मैंने कुछ नहीं कहा। थोड़ी देर के बाद वह पूछने लगे, कलकत्ता में कहाँ टिके हो, पढ़ाई-लिखाई कैसी चल रही है ?

परीक्षा पास करने के बाद क्या करने का इरादा है। इसी तरह औपचारिकता भरी पूछताछ। बस, जैसे समय काटना हो। असली मुद्दे पर कोई बात ही नहीं। इस बीच चाय भी आ गयी। उसके साथ भी थोड़ा-बहुत नमकीन और मिठाई। किसी तरह यह चरण भी पूरा हुआ। साथ ही, मैंने देखा कि उस भले आदमी के चेहरे का रंग बदलता चला गया। तेवर बदलकर बोले, 'मैंने तुम्हारी सारी बातें सुनी हैं और खुकुनी से इस बारे में बातचीत भी हुई है। अब तुम कोई जाहिल नहीं, बुद्धिमान, शिक्षित और समझदार हो। हमारा मनोभाव जानने-समझने में तुम्हें कोई परेशानी हो, यह मैं नही चाहता। तुम्हारे लिए मेरे मन में सहानुभूति है, समवेदना है। क्योंकि खुकुनी ने भी इस मामले में थोड़ी-सी ग़लती की है। उसने तुम्हे ग़लत समझने को मौका भी दिया। दरअसल यह सारा-का-सारा सिलसिला ही ग़लत था, एकदम नामुमकिन'।

'नामुमकिन !' उन्होने इस शब्द पर कुछ इस तरह ज़ोर दिया कि इसके बाद कुछ कहना ही मुमकिन नही था। मुझे पसीना आ रहा था। कुछ कह न पाया। अपमान और प्रतारणा का घूँट पीकर रह गया। इस विद्रूप एवं विडम्बनापूर्ण चेहरे के बारे में मुझे पता न था। अगर मुझे सामने पाकर चीखते-चिल्लाते या मारते, भगाते तो चाहे जो भी हो, मैं भी उनसे कुछ कह पाता। मेरी चुप्पी का फ़ायदा उठाते हुए उन्होने मुझे समझाना शुरू किया, 'इन सारी बातों को भूलकर अच्छी तरह लिखो-पढ़ो। अपना कैरियर बनाओ। फिर न जाने कितनी अच्छी लड़कियाँ जीवन मे आयेंगी। तब अपनी इस बेवकूफ़ी को याद कर तुम ख़ुद शर्मिंदा होओगे, हँसोगे।' वग़ैरह...वग़ैरह।

अचिन'दा सचमुच हँस रहे थे। इसी बीच किसी ने अलाव की आग को कुरेद दिया। आग की एक ऊँची-सी लपट उठी और पछिया हवा के झोंके से थर-थर काँपने लगी। नाच थम गया था। लगा कि सभी चले गये हैं या कि बाँसझाड़ के अँधेरे मे नाचते-गाते विला गये हैं। आग की लौ अचिन'दा के चेहरे पर भी काँप रही थी। वह मन-ही-मन मुसकरा रहे थे। उन्हे अब किसी श्रोता की उपस्थिति का भान नही था। अपने आपसे ही बातें कर रहे थे, "ठीक ही कहा था। हँसता हूँ...अब हँसी आती है और ख़ूब आती है, लेकिन शर्मिन्दा होता हूँ या नही, यह नही पता।"

वह थोड़ी देर के लिए रुके और फिर बोले, "नही, शर्मिन्दा नही होता। क्या कुछ मिलता है—यह तो नही जानता, लेकिन हँसता अवश्य हूँ। हाँ तो, इसके बाद जब उन्होने अपनी बातों का सारा सिरा यह बताकर समेट लिया कि 'यह सब असम्भव है...समझ ही गये होगे,' तो मैंने उनसे पूछा था, "क्यों?" तब उन्होंने अपने कठोर चेहरे पर त्योरियाँ चढ़ाकर मेरी ओर देख भर लिया था। क्रोधित नहीं हुए। मुसकराकर कहने लगे, 'ऐसा है तो फिर मैं इतनी देर तक

तुम्हें क्या कह रहा था ? जिन कारणों से यह सम्भव नहीं, वही सब तो बता रहा था।'

"मेरे पास दूसरा ही तर्क था। इसलिए मैंने कहा, 'लेकिन इसमें नीरजा को तो कोई आपत्ति नहीं।'

"उनका चेहरा गम्भीर हो गया और मुख-मुद्रा कठोर। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कमरे की खिडकियों और दरवाज़े पर झूल रहे पर्दों के पीछे कोई खड़ा है। याने हमारी बातचीत को सुननेवाले श्रोता भी थे। नीरजा के पिता का स्वर उग्र होता गया—'मैं इस लज्जापूर्ण स्थिति को भी जानता हूँ। यह सब कैसे हो गया, नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, इस घर में लड़के-लड़की की मर्जी और नामर्जी जैसी कोई चीज़ नहीं। उनके अभिभावक की बात चलती है। और फिर, खुकुनी की शादी की बात बहुत पहले ही दूसरी जगह तय हो गयी थी। इसलिए ये सारी बातें बेमानी हैं। और...।' वह रुक गये। अपने कठोर चेहरे के साथ, बार-बार अपनी मुट्ठियाँ भींचते रहे। दरअसल वह अपना क्रोध दबा रहे थे। फिर चबा-चबाकर बोले, 'इसके बाद भी, अगर तुम किसी तरह की गुस्ताख़ी करो तो इससे तुम्हारा कोई फ़ायदा न होगा। हमारे खानदान की भी थोड़ी बहुत बदनामी होगी, लोग कई तरह की बातें उछालेंगे। और तब मैं भी इन सारी चीज़ों को अनदेखा नहीं कर पाऊँगा। तुम समझ ही रहे हो कि यह केवल 'फैमिली स्कैण्डल' जैसी बात नहीं। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि खुकुनी के साथ तुम्हारा विवाह असम्भव है। और इसे ध्यान मे रखते हुए यही अच्छा होगा कि तुम इस बारे में किसी तरह का गोलमाल न करो।' इतना कहकर वह उठ खड़े हुए और बता गये, 'तुम बैठो, मैं खुकुनी को बुला देता हूँ'।"

"इतना कुछ होने के बाद भी, मैं नीरजा को देख पाऊँगा, इसकी उम्मीद न थी। अब तो चाहे लड़ाई ठने या पाँव पीछे पड़े, लेकिन जब वह स्वयं खुकुनी को बुलाना चाह रहे थे तो मेरा उद्वेग भी संयत हो रहा। वह मुझे जैसे डपट देकर चले गये। और मैं...मैं एक झलक पाने की आशा में दरवाज़े की ओर टकटकी लगाये बैठा रहा। मेरा कलेजा धड़-धड़ काँप रहा था। एक-एक क्षण भारी हो रहा था। इतने में लगा कि पर्दे के उस पार कुछ आकृतियाँ आ-जा रही हैं।"

"न जाने कितना समय बीत गया ! तभी मैंने देखा, पर्दा उठा और नीरजा अन्दर आयी। आते ही दरवाज़े के पास खड़ी हो गयी। उसने एक बार अपनी भारी पलकों को उठाया और फिर झुका लिया। उसकी आँखें लाल थी, सूजी हुई। नथुने भी लाल—सारा चेहरा भारी। लगता था, अभी-अभी आँखें पोंछकर आ रही है। पीठ पर ढीली-सी वेणी, अस्त-व्यस्त कपड़े। शायद सो रही थी या अनमनी-सी चुपचाप बैठी थी। ऐसी हालत में मैंने उसे एक बार ही

देखा था, जिस दिन उसे शान्तिनिकेतन से वापस बुलाया गया था, उसके एक दिन पहले।

"मुझे इस बात की सुध न रही कि खिड़की और दरवाज़े के पार कई श्रोता और साक्षी आँख-कान चिपकाये पड़े हैं। मैं उसके पास जाने को व्यग्र हो उठा था। मैं उठ खड़ा हुआ और उसे किसी तरह पुकार सका। इसके जवाब में उसने मेरी तरफ़ देखे बिना पीछे दरवाज़े, खिड़कियों की ओर चकित दृष्टि से देख लिया। तब मुझे आभास हुआ कि वहाँ सभी चौकसी लगाये बैठे हैं। नीरजा एक-एक कदम बढ़ाती हुई पास आयी और बोली, 'बैठो।'

"उसने बैठने को तो कहा, लेकिन उसकी आवाज़ काँप रही थी। आँखें भी धुँधली थीं। मैं यन्त्रचालित-सा बैठ गया। वह मुझसे थोड़ी दूर पर चुपचाप बैठ गयी। मैं यह बताये बिना रह न पाया—'तुमने मुझे बाहु-बल के बारे में लिखा था, मैं आ गया'।

"उसने अपना सिर-भर हिला दिया और मुँह नीचे किये रही—'हाँ, लिखा था, लेकिन यह सम्भव नहीं।' इतना कह उसने अपनी आँखें उठायीं। वहाँ आँसू थे। तभी दोनों हाथों से उसने अपना मुँह छिपा लिया और फफक-फफककर रोने लगी।"

अचिन'दा रुक गये थे। उनकी मुसकान गायब थी। वह किस तरफ़ देख रहे थे, कहा नहीं जा सकता। भौंहों से ढँकी उनकी आँखें और चेहरा निर्विकार। उन्होंने अपनी सिगार का कश तीन चार बार खींचा और चुप हो गये। नाच-गान का आयोजन आस-पास के अँधेरे में खो चुका था। जीवन सचमुच कितना विचित्र है, यह मैं अचिन'दा की उस समय की मानसिकता से समझ पा रहा था, जब वह सामने बैठी नीरजा का आँसू बहाना देख रहे होंगे। तभी बाँसझाड़ के अँधेरे कोने में किसी रंगिणी की खिलखिलाहट गूँज उठी। बूढ़ा कलाल नींद और नशे में झूम रहा था। माँगरी कहाँ थी, नरोत्तम कहाँ गायब हो चुका था, कुछ जान न पाया। फिर भी, ऐसा लग रहा था कि सभी यहीं कहीं आस-पास बिखरे हैं।

अचिन'दा ने बुझती सिगार को बुझाने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने फिर कहना शुरू किया, "एक बार मेरी इच्छा हुई कि नीरू के पास जाऊँ, लेकिन ऐसा कर नहीं पाया। पता नहीं, कितनी जुड़वा आँखें हमें घूर रही थीं। मैंने भी किसी के सामने अबतक उसका हाथ नहीं पकड़ा था। और मेरे साहित्यिक बन्धु को तो पता है ही कि लड़के कभी रोया नहीं करते। तो भी, नीरू का सिर हिलाना और रो उठना यह बताने के लिए काफ़ी था कि प्रबल झंझा में उसके घर के दरवाज़े उखड़ गये हैं और अन्तर में अन्धकार उतर आया है।

फिर भी मैंने पुकार लिया, 'नीरू!'

मेरी ओर देखती हुई बोली, 'जा रहे हो?'

"मैं तबतक उठ खड़ा हुआ था, 'हाँ, दोपहर की गाड़ी से ही वापस जाना है।' दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए भी मुझे ऐसा लग रहा था कि मैं जो कहना चाहता था, कह न पाया। पुरुष का हृदय है न, कुछ ऐसा है जो उसके मन में ही रह जाता है। इसीलिए मैंने एक बार मुड़कर देखा और कहा, 'नीरू, तुमने अपनी चिट्ठी में लिखा था, तुम बहुत ही खराब हो...पित्त की तरह। अब भी मैं वैसा ही हूँ न...।'

"मेरी बात सुनकर नीरू सहज नहीं रह पायी। उसने अपनी हथेलियों से अपना मुँह छिपा लिया और फफक उठी। फिर दबे हुए स्वर में कई बार बोलती रही 'हाँ...हाँ, वैसे ही हो...।'

"मैं दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आया था। सबकुछ धुँधला-धुँधला-सा जान पड़ा। मेरा अन्तर जैसे भर उठा था। किसी प्रसन्नता से नहीं। पर, वह भी किसी-न-किसी प्रकार का सुख ही था, भरा-पूरा। कानों में गूँजता ही रहा—'हाँ...हाँ...वैसे ही हो ...।'

"मैं उसी दिन दोपहर शान्तिनिकेतन आ गया...। बन्धु, इस समय रात के दो पहर बीत चुके हैं, अब मेरी यह सड़ी-गली कहानी नहीं जम पायेगी। अब तो नरोत्तम को बुलाना पड़ेगा।"

अचिन'दा ने अपनी बात पूरी करते हुए तोली मुसकायी—बुझी हुई सिगार को ज़िन्दा करने के लिए। अपने दोनो गालों को फुलाकर उन्होंने ज़ोर-ज़ोर से कश खींचना शुरू किया।

मैं दिग्भ्रान्त-सा, अचिन'दा का हाथ पकड़े अजाने अन्धकार की ओर बढ़ता चला जा रहा था। अचानक मेरा हाथ छूट गया। नीचे कोई गड्ढा था। कुछ भी समझ न पाया कि किस छोर पर खड़ा हूँ मैं। केवल अचिन'दा की ओर देखता रहा।

रात कितनी बीत गयी, किसे पता! अचिन और नीरजा का प्रेम-संवाद जहाँ जाकर बिखर गया, वहीं पर मैं दिशाहारा खड़ा था। इस प्रसंग के आदि-अन्त का कोई भान ही नहीं रहा जैसे। केवल अन्तरा भर गाकर गायक चुप हो रहा। अस्थायी और अयोग के बारे में, चाहे तो श्रोता अपने अनुमान भिड़ा ले। अब स्थान-काल का कोई हिसाब गायक के पास नहीं।

अचिन'दा के चेहरे पर वही पिछले अचिन'दा उपस्थित थे, मीठी मुसकान लिये। उन्होंने कलाई-घड़ी दिखाते हुए कहा, "नहीं। चलो, अब लौट चलें।"

"लेकिन पूर्वापर का कुछ पता न चला !" मैंने आग्रह किया।

अचिन'दा हँसे और मेरे और भी समीप आ गये। लगा, वह और भी अधिक पहचाने जा रहे हैं, अतरंग हो उठे हैं। ओ रे समय, तू परे हट जा ! यहाँ उम्र का भी कोई हिसाब नही। मैंने पाया, मेरे सामने मेरा पूर्व परिचित मित्र खड़ा है और कह रहा है, "इन कथाकारो को लेकर यही मुश्किल है। उन्हें बीच से कुछ नहीं समझाया जा सकता। पूरी बात बतानी होगी। अरे भाई, मैं कोई किस्से-कहानी तो लिखता नहीं। और मैं स्वय इसका कोई अन्त नही जानता।"

'लेकिन जी नही मान रहा।" मैंने आग्रह किया।

अचिन'दा ने एक ऊँची हँसी के साथ मेरी पीठ पर हल्की-सी थपकी दी और मेरी बात का कोई उत्तर न देते हुए पुकार उठे, "अरे तुम सब कहाँ चले गये ...आँ?"

सबसे पहले बूढ़े कलाल ने उत्तर दिया, "यही तो हूँ।" उसकी नीद टूट गयी थी जैसे। उसने अलाव को कुरेद दिया। तभी नरोत्तम प्रकट हुआ और उसके पीछे मांगरी। अरे, यह दोनों अबतक कहाँ छुपे थे ! नरोत्तम की आँखें नशे मे डूबी हुई थी। हाँ, हाथ-पाँव ठीक जगह पड़ रहे थे। आखिर वही हमारा सारथी था।

मांगरी ने नरोत्तम से पूछा, "अरे तू नाच नहीं सीखेगा ?" और खिलखिला-कर हँस पड़ी। उसकी देह आग की लौ की तरह कँप उठी। नरोत्तम ने अपनी थरथराती आवाज में उत्तर दिया, "नही रे ! बाबू लोगों को वापस भी तो ले जाना है।"

अचिन'दा ने टोका, "अच्छा, तो इतनी ही देर में नाच भी सीख लिया गया ! वापस तो ले जा सकोगे ?"

"यह क्या कह रहे हैं बाबू ?" नरोत्तम झेंप गया था लेकिन उसने बताया, "ले क्यों नही जा पाऊँगा बाबू ?"

मांगरी बूढ़े कलाल के पास जा बैठी। दूसरी तरफ़ से बरहम ने आकर अचिन'दा से पूछा, "तो चलें ?"

अचिन'दा ने उठते हुए पूछा, "नही तो क्या सारी रात जगल में बैठे रहोगे ?"

बरहम ने कहा, "तू तो सिर्फ इसी छोकरे बाबू से बातें करता रहा। न गाना गाया, न नाचा।"

"फिर कभी," अचिन'दा बोले।

मैं भी उठ खड़ा हुआ। बरहम की गला भारी हो चुका था। फिर भी कहने लगा, "अरे फिर कब ? अब क्या तू आयेगा। मैंने सोचा था, तू इस छोकरे को बर्बाद करने ले आया है। कुछ भी नही किया तूने ? इसके तो होंठ भी सूखे ही

रहे।"

अचिन'दा मेरी तरफ़ देखकर हँसे, "अरे, इसे नष्ट करने के लिए बचा ही क्या है? यह छोकरा तो पूरी तौर से बर्बाद हो चुका है।"

अबकी बार मांगरी ने आवाज दी, "झूठ क्यों बोल रहे हो बाबू? बर्बाद हुए आदमी की शकल ऐसी नहीं दीखती!"

बूढ़े कलाल ने पत्ता फेंका, "मांगरी के हाथ पड़ जाता तो फिर देखते कैसे बरबाद होता है!" उसकी हँसी के साथ मांगरी भी खिलखिला उठी और फिर हो-हों-हँय करता उसका बाप और भी जोर से हँस उठा।

अचिन'दा ने बनावटी गुस्से के साथ मांगरी को देखा। मैं लाज से गड़ गया था। इस बात को सभी कितनी सहजता से कह-सुन रहे थे। यहाँ तक कि उसका बाप भी 'होय-होय' कर उठा। अचिन'दा ने बरहम से पूछा, "और दूसरे लोग कहाँ गये? शरत, तुम्हारी बहू और बाकी सब?"

बरहम नशे में बुरी तरह झूम रहा था। उसने हाथ पटककर बताया, "धत् तेरी की। अरे वही तो सब सो रहे हैं।"

"अच्छा तो फिर तू भी जाकर सो जा। मैं चलूँ। चलो बन्धु! चल नरोत्तम!"

अचिन'दा ने पाँव आगे बढ़ाया। लेकिन बरहम डगमगाता हुआ आगे बढ़ आया, "नहीं। तू अभी नहीं जायेगा। बैठ न! मैं तेरे साथ रस पीऊँगा, हाँ।"

अचिन'दा ने रुके बिना कहा, "बहुत पी चुका। अब और नहीं।"

लेकिन कौन किसकी बात माने! बरहम भी आगे हो लिया, बोला, "नहीं। अरे ओ रे अचिन बाबू! तू रुक जा न, रे। दो-दो बातें तक नहीं हुईं। न तू हँसा, न रोया। एक बार रो तो ले। हम भी रोयेंगे रे...तेरे साथ, हर साल की तरह।"

मैंने अचिन'दा की तरफ़ आश्चर्य से देखा। अचिन'दा कहने लगे, "यह सब बेकार की बातें हैं, पागल का प्रलाप। इन पर ध्यान न देना।"

लेकिन मेरा मन डूब चला था। यह प्रलाप तो था, लेकिन इसमें भी किसी रहस्यपूर्ण घटना का संकेत था। बरहम ने इसके प्रतिवाद में अपना शरीर ही लुढ़का दिया, "तू इसे बेकार की बात बोल रहा है। तू नहीं रोता? हम नहीं रोते? बोल?"

लेकिन उसकी इस बात का उत्तर दिये बिना अचिन'दा कहने लगे, "चल, अब तू जा। नशे में धुत होने पर कुछ भी सम्भव है।"

बरहम उसी तरह कहता रहा, "तू कितनी बातें करता था, रोता था रे अचिन बाबू!" कहते हुए उसने अचिन'दा का हाथ पकड़कर खींच लिया। वे रुक गये। नरोत्तम ने आदेश मिलते ही अपनी बत्ती जला ली थी। वह हमारे

आगे चल रहा था। दोनों पुराने दोस्त खड़े थे। अचिन'दा की हँसी टालनेवाली हँसी न थी। वह कह रहे थे, "अरे, केवल रोने-पीटने से ही रोना होता है! मन-ही-मन रोना नहीं होता?"

वरहम थोड़ी देर तक कुछ सोचता रहा—"हूं...हूं...हूं...मन-ही-मन! हाँ, होता है। तो तू चला?"

"हाँ।" अचिन'दा ने एकबार वरहम का हाथ थाम लिया। उधर से बूढ़ा कलाल पुकार उठा, "फिर आना कभी, अचिन बाबू!"

"हाँ, आऊँगा।"

वरहम अचिन'दा का हाथ अलग कर, अपने सिर को झटकता हुआ बोला, "अच्छा, तो जा। एक साल बाद फिर आना। इस बाबू को भी साथ लिये आना।" कहकर उसने मेरी पीठ पर एक थपकी लगायी। मैंने पूछा, "तुम लोग घर नहीं जाओगे?"

"नहीं। कल सुबह चले जायेंगे।"

अचिन'दा आगे बढ़ आये। फिर पीछे मुड़कर बोले, "पियक्कड़ की सनक...।" मैं यह नहीं समझ पाया कि वह केवल वरहम को पियक्कड़ बता रहे है या स्वय को भी कह रहे है। हाँ, इतना तो समझ में आ गया कि अचिन'दा इनके सग बैठकर हँसते, बोलते, रोते-गाते है। ये सब भी उनके साथ हँसते, गाते, रोते, नाचते है। मैं मन-ही-मन इसी सोच में डूबा यह पूछ रहा था कि अचिन'दा किसलिए रोते है? क्या वजह हो सकती है? मेरी इच्छा थी कि मैं कैसे इस दृश्य को प्रत्यक्ष देख सकूं!

बाँसझाड़ को पीछे छोड़ते हुए हम उसी टेकरी से नीचे उतर आये। इसी बीच उत्तर-पश्चिम से बहनेवाली सर्द हवा के झोंकों ने हम पर बुरी तरह हमला कर दिया। वह गाल-ग्रीवा को चिकोटने लगी। फिर भी, अन्धकार को चीरते हम चले जा रहे थे। नरोत्तम की आँखें बत्ती के मुकाबिले अधिक सतर्क थी।

अचिन'दा ने कोई नया प्रसग नही छेड़ा। सहज स्वर में ही कहते रहे, "शुरू में भी ऐसा कुछ नही कि जिसे सुनकर तुम चमत्कृत हो उठोगे। हम जैसे पुराने लोग अब भी कहा करते हैं: 'प्रेम का जाल तो सारी दुनिया में बिछा है। कब, कौन, कहाँ फंस जायेगा, किसे पता? स्त्री-पुरुष इसे जान-बूझकर फैलाते हैं, इस पर भी विश्वास नही कर पाता। इसे प्रकृति-जन्य समझ लूं तो मानना पड़ेगा कि यह उसी का काम है जो जाल फैलाता है। जिनको फँसना है, वह फँसेंगे ही। फ़र्क इतना ही है कि जाल तरह-तरह के होते है। हमारे जाल का रग लाल था। यहाँ से वहाँ तक लाल। तब हेमन्त बीत चुका था। सर्दी का सुहाना मौसम था। शीतकाल शुरू होने के दिनो में जिन्होने शान्तिनिकेतन को देखा है, उसे सहृदय की तरह अन्तर में उतारा है, वे उसे कभी नही भूल सकते।"

"मैं किसी फूल-फल की बातें नहीं कर रहा। किन्तु सब मिलाकर भी इतना लाल किसी दूसरे समय नहीं दीखता। लाल माटी, लाल मोरम और लाल धूल—हर ओर लाल रंग। रास्ते, घाट और पगडण्डियों पर, पेड़-पौधों, डाल-पत्तों पर, घर-दरवाज़े और दीवारों पर, हर जगह लाल-ही-लाल। शाम ढलने के पहले जब खेल के मैदान के उस पार सूरज का लाल टूस गोला टकटक चमक उठता है, तब उसकी किरणों से सारा दिगन्त लाल हो उठता, सारी प्रकृति उसकी लाली में डूबकर और भी लाल हो उठती। इसीलिए मैंने कहा था, उस जाल का रंग लाल था। इस अप्रतिम रूप-सौन्दर्य के साथ शब्द की बात भी आती है, रूप से भी कहीं अधिक प्रभावी। तुम जैसे युवा लेखक क्या सोचेंगे, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन गुरुदेव ने एक बार यह कहा था कि दृष्टि और श्रवण, इन दोनों में से यदि किसी एक को खोना ही पड़े तो मैं दृष्टि खोने को तैयार हूँ, श्रवण को नहीं। समझ ही रहे होगे कि वाणी ही उनके काव्य-संसार में नित्य-अनित्य की लीला रचती रही। ऐसा कवि गान न रचे, उन्हें सुरों में न सजाये, गान न गाये? सम्भव है?

"ख़ैर, जाने दो इन बातों को। सामान्य-सी बात के लिए किसी असामान्य विवरण में जाने की ज़रूरत नहीं। यही दोष तो है मुझमें। मैं कह रहा था, उस लाल रंग के जाल में जो शब्द थे, उनमें से कोयल की कूक की स्मृति मेरे मन में बनी हुई है—अस्पष्ट-सी। शायद हृदय का आवेग ही पहले-पहल कण्ठ से फूटा हो। आखिर सबका अपना समय निर्धारित होता है। तब पंछी अपने-अपने घोंसलों की ओर लौट रहे थे। झुण्ड बनाकर शोर करने की वेला नहीं आयी थी। दो-चार पंछी ही कहीं चीं-चपड़ कर रहे थे, पेड़ों पर या फिर किसी झुरमुट में। ध्यान देने पर झींगुरों का स्वर भी सुना जा सकता था।

"घर वापस लौटने के पहले मैं रेल-लाइन की तरफ़ से चक्कर काटकर आ रहा था। सिगरेट पीने की नयी-नयी लत पड़ी थी। आश्रम के बाहर निकल पाने का या घूमने-फिरने का समय भी न था। जेब में पड़ी एक सिगरेट बार-बार कोंच रही थी। मैंने सोचा, इसे भी फूंक ही डालूं। मैं दक्खिनी फाटक के पास बड़तला के निकट रुककर होंठों में सिगरेट दबाये तीली जलाने जा ही रहा था कि पीछे किसी के पांव की आहट जगी। मैंने जल्दी से सिगरेट छुपा ली। पीछे मुड़कर देखा, एक लड़की थी, चारखानेवाली सूती साड़ी में। सांझ को बंधा जूड़ा, लम्बा चेहरा और बड़ी-बड़ी आँखें, जिनमें कौतूहल भरी चमक थी। वह अपने होंठों पर हाथ रखकर अपनी मुसकान दबा रही थी। मेरी-मुख-मुद्रा अब भी आश्चर्य में डूबी थी। वह लड़की भी उसी तरह मेरी ओर देखती रही और फिर मेरे सामने से निकल गयी। सामने से गुज़रते हुए भी उसने मेरी तरफ़ देखा और अपनी दबी हँसी रोक न पायी, खिलखिलाकर

हँस पड़ी। उसकी इकहरी देह जैसे लचक गयी। कुछेक कदम आगे बढ़कर उसने फिर मेरी ओर देखा, हँसी, और गायब हो गयी। जब सारी बात समझ में आयी तो मैं अपने आप पर ही हँसता रहा। उस समय पंछियों का कलरव तेज हो चला था। मेरी आँखों में बस वही एक चेहरा मुसकराता रहा।

"तुम लोगों की भाषा में, इस तरह किसी कहानी की शुरुआत हो तो, उसे बकवास ही कहेंगे। क्योंकि प्रेम कहते ही उसके तमाम व्यापार, स्थितियाँ, घटनाएँ और विचित्र घात-सघात और गतिविधियाँ मुखरित हो उठती हैं, यहाँ वैसा तो कुछ भी नहीं। उस जाल में पड़ते ही केवल इतना ही दीख पड़ा, आँखें मिली और हँसी खिली। बस।"

"नीरजा तब नवमी की छात्रा रही होगी, तुम्हारी कहानियों में किसी नायिका की हैसियत पाने के सर्वथा अयोग्य। मैं भी मैट्रिक पास कर कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर रहा था। आँखें मिलने और मुलाकात होने पर केवल मुसकरा भर देती। उसके चेहरे पर लाली सी फैल जाती या फिर संकोचवश सिमटकर रह जाती, बस। मैं भी केवल उसका नाम ही जानता था। मेरे चेहरे का रंग कितना बदल जाता था, मैं नहीं जानता। कान सनसना उठते, कनपटी दिप जाती और हृदय में रक्त एकबारगी उफनाने लगता।

"अब यह सब कैसे घटित हो गया, मैं कुछ नहीं कह सकता। आँखों का मिलना, मुसकराना और खो जाना। यह सब पढ़ते-लिखते या चलते-फिरते जितना सम्भव हो पाता, उतने से ही सन्तोष कर लिया करता। बाद में, ऐसा लगने लगा कि इतने से ही दोनों के मन-प्राण तृप्त नहीं। हम दोनों की इच्छा और प्रयास के उपरान्त भी हम एक-दूसरे के बहुत निकट नहीं आ सके। दूर-दूर से ही, आँखों में आँखें डाले रहते। यौवन के अरण्य में मन भटकता रहता। कहते हैं न, 'अगों मे पुलक जगे, नयनों में घोर। अन्तर को बाँध गयी रेशम की डोर।' अब इस तरह के प्रेमोपाख्यान को तो तुम लोग एक ही झटके में उखाड़ फेंकोगे। मुँह बिचका दोगे। मैं भी अब वैसा ही करूँगा। लेकिन तब की बात ही कुछ और थी, हृदय में कोई सुर बजा करता, उसे शब्दों में व्यक्त करना बहुत ही कठिन है।

"इस प्रेम-प्रसंग का तीसरा चरण तो तुम जैसे आधुनिक लेखकों के लिए सबसे हास्यास्पद जान पड़ेगा। लेकिन हमारे युग में उतना ही बहुत था। पत्रालाप शुरू हुआ। इस पत्राचार की गतिविधि को जानकर आजकल के गुप्तचर भी हार मान जायेंगे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मैंने कई लोमहर्षक घटनाओं में देखा था कि कब्रिस्तानों की दीवारों पर पोस्टर टँगे हैं। किसी छोटे-से पार्क की रेलिंगवाली सुराख में फ़िल्मों की रीलें रख दी गयी हैं। साथ ही, लाखों डालर, मार्क, पाउण्ड और रूबल। लेकिन इसके बहुत पहले ही, छातिम-

तला के इर्द-गिर्द फैले उसके खोड़रों में, अमुक स्थान पर खड़े शालवृक्ष की दरार मे, अमुक जगह पर झुके हुए आम गाछ के बीचोंबीच या फिर किसी सुनसान-सी जगह पर किसी झुग्गी या झुरमुट के माध्यम से हमने अपना प्रेम-पत्राचार जारी रखा। इन सारे स्थानों की जानकारी भी हमें अपनी आँखों की प्यास और काव्य-प्रेम के कारण मिल पाती। पिछली चिट्ठी से ही यह तय हो जाता कि हमारा परवर्ती डाकघर कौन-सा होगा। कौन-सी झुग्गी, कौन-सा झुरमुट और कौन-सा पेड़ ? लगता है, युद्ध और प्रेम दोनों की रीतियाँ किसी आचार संहिता के अधीन नहीं। अब अगर मैं उन पत्रों के संवाद की चर्चा करूँ तो तुम आधी रात गये इस अन्धी खोयाई मे पागल की तरह हँसने लगोगे। उनमें पहले तो कविता की ही पंक्तियाँ होती। अपनी बातें होती ही कितनी थी-केवल उद्धतियाँ। अपनी बाते कह पाने का सकोच, बन्दी-की-सी छटपटाहट और निकट आने और पाने की आकुलता। पहला साल इसी में बीता। दूसरा साल भी बीत ही जाता, लेकिन ..''

अचानक अचिन'दा रुक गये। एक क्षण के बाद जब उन्होंने कहना शुरू किया तो उनके गले की आवाज़ रुँध-सी गयी थी। बाँसझाड़ में जो स्वर अबतक सुन न पाया था, वही स्वर। धीमे-धीमे, सहमे हुए से कहने लगे, ''उस बात को बताते हुए आज भी संयत नहीं रह पाता। जुबान लड़खड़ा जाती है। कहीं ऐसा न हो कि उस बरहम की बात ही ठीक हो जाये और मैं दहाड़ मारकर रोने लगूँ। उस समय तुम सचमुच ही इस बुड्ढे के चलते भारी मुसीबत मे फँस जाओगे दोस्त !''

वह सचमुच रो तो नहीं रहे थे लेकिन उनकी वह अजीब फँसी हुई-सी हँसी भी मुझे बींध गयी थी। मैं उनकी ओर देख रहा था। उनका चेहरा दिखा नहीं। वह जहाँ आकर खड़े हो गये थे, उसके उस पार के अँधेरे मे सबकुछ डूब गया था। मेरी व्यग्र दृष्टि वहाँ से टकराकर लौटी और जैसे मुझे ही टटोलने लगी। मेरे मुँह से इतना ही निकला, ''फिर भी...?''

''फिर भी...हूँ !'' अचिन'दा मुझे डपटते हुए बोले, ''अच्छा, तो बड़ा मजा आ रहा है...है न? अब मैं चाहे जितना रोऊँ-पीटूँ, सुनाना ही पड़ेगा क्यों ? तुम कितने कपटी और निष्ठुर हो, इसे अलका ही नहीं, मैं भी समझ गया। तुम्हें तो अपनी दृष्टि से मतलब है। वह पूरी हुई कि खिसके। और लेखक जब स्वयं पाठक हो उठता है तो बड़ी मुसीबत हो जाती है...जी भरकर रस निचोड़े बिना उसे शान्ति नहीं मिलती।''

मैंने उन्हें रोकना चाहा, ''नहीं, नहीं अचिन'दा, मैं...।''

''तुम चुप भी रहो...तुमने ऐसा कुछ नया क्या कहा ?''

''जी, ठीक कहा आपने।''

"सचमुच ?" और हंसते हुए उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहना शुरू किया—"बताऊँगा। सब बताऊँगा तुम्हें। तभी तो यह मुँह खोला है। और इस मुँह खोलने का एक सुख भी है हाँ, अगर थोड़ा रो पाऊँ। और अगर रो भी पड़ा तो दहाड़ मारकर धूल मे नही लोटूंगा। सच तो यह है कि पत्राचार जैसे बँधे-बँधाये नियम को तोडकर हम जिस दिन पहली बार मुक्त हुए, उस दिन की स्मृतियाँ मुझे एकदम विह्वल कर देती है। और कोई भी स्मृति मुझे इतना उद्विग्न नही कर पाती। मै इसका कारण नही समझ पाता बन्धु !"

"मैं उस प्रसग का प्रथमांक उसी दिन के वृत्तांत से समाप्त करूंगा, बाकी तुम अपनी ओर से पूरा कर लेना। दूसरा वर्ष—वसन्तोत्सव आ गया था। नया गीत, नया सगीत, नया स्वर और नयी प्रीत। अगर तुम यहाँ पहली बार आये हो तो यह नही जान पाओगे कि वसन्तोत्सव का क्या आनन्द है ! शान्तिनिकेतन के अधिकाश उत्सव और अनुष्ठान प्रकृति के रंग मे ढले हैं। सभी ऋतु-रग है। तब आम्रकुञ्ज मे सबका आगमन होता है, सभी गाते है, नाचते है, गले मिलकर रग-गुलाल उड़ाते है। अल्पना सजायी जाती है। शाम बीतते ही दीप-सज्जा से अँधेरा भी हँस उठता है। उस दिन हम सभी अपने-अपने कामो मे व्यस्त थे। नीरजा दूसरी लड़कियो के साथ अल्पना कर रही थी, बाल बिखेरे वासन्ती रग की साडी मे। उसी शाम, सबके बीच, उसे थोडा-सा गुलाल लगाते हुए मेरा कैदी मन जैसे मुक्त हो चला। इसके बाद की सारी घटना जैसे किसी लोरी की तरह है। नीरू जहाँ बैठी थी, वहाँ से केवल मै ही उसे दीख रहा था। लेकिन लाज, सकोच या मुसकान के मुक़ाबिले ऐसा कुछ था, जो हमारे मन मे कुलाँचे भर रहा था।

"यह उस जाल का कितना बड़ा चमत्कार था, शायद तुम उसकी कल्पना नही कर पाओ। उस रात वह चांद पहली ड्योढ़ी के ऊपर के पूरबी मुंडेर को चूमता हुआ निकला था। मैं उसकी शोभा का बखान नही कर पाऊँगा। लगा था कि आम्रकुञ्ज से लेकर आम्ल की वीथी तक, दोनों ओर कोयल कूक रहे हों। गान शुरू होने के पहले ही मैंने देखा, नीरू लड़कियो के बीच से उठ गयी। मैं उसे अपलक निहारता रहा। हृदय मे रक्त का ज्वार हहरा रहा था। वह धीरे-धीरे दक्खिन की ओर बढ़ गयी, पेड़ो के दूधिया झुटपुटे मे। उसके मन में कोई चोर था। अगर नीरजा इतना साहस जुटा पा सकती है तो फिर मैं क्यो नही ? मैं भी तो किसी वसन्तोत्सव मे ही सम्मिलित था। अपने मित्रो की आँखो से बचता हुआ, पेड़ों की छाया के नीचे चलता हुआ उस निर्जन तक आ पहुंचा। सबसे दूर निभृत एक पेड़ की छाया में वह बैठी मिली। उसके पास जाकर भी मैं बहुत देर तक खड़ा रहा। उधर गान शुरू हो चुका था। मैंने उसे एक बार पुकारना चाहा, पर पुकार न पाया। देह और मन, दोनों ही विकल—उद्विग्न।

मैंने पूछा, "समाप्त...?"

अचिन'दा ने गर्दन हिलायी, "तू कुण्डली मारकर बैठ गया है क्या? आभोग सुने बिना मानोगे नही ! जिसका कोई अन्त नही, उसे कौन बताये बन्धु ?" गहरी उसाँस के साथ उन्होंने जो कुछ कहा, वह दुःख था या विराग, कौन जाने ? मैंने अचरज से उन्हें देखा था, लेकिन उनके चेहरे के भाव पढे नही जा सके। उनका 'तू' कहकर पुकारना मेरे मन को छू गया। उनकी तरल हँसी भी जैसे ज्वार लिये आयी थी और मैं मन-ही-मन उनकी बातें दोहरा रहा था। लेकिन वे किधर बहती चली जा रही थीं, उनका आशय क्या था ?

इसी प्रवाह से अचानक वह तिर आये और कहने लगे, "तब तो एक किस्सा और सुनाना पड़ेगा। और इसे तुम्हारी साहित्यिक शब्दावली में शायद 'ऐन्टी-क्लाइमैक्स' ही कहते हैं। आजकल के युग मे ऐसा कुछ सम्भव है या नही, यह तो नही जानता। लेकिन हमारे युग में तो बन्धु, बात-बात में 'क्लाइ-मैक्स' और 'ऐन्टी-क्लाइमैक्स' की आपस में ठनी रहती थी। तुम्हें अच्छा लगेगा ?"

"हाँ, लगेगा।" मैंने हामी भरी।

"लगेगा क्यों नहीं, शराबी को शराब चढ़ाने के बाद जैसे शराब और अच्छी लगने लगती है !"

इसके बाद मुझमें अपने कथाकार होने का और गौरव पाने की इच्छा शेष न रही। सारा गौरव मैंने अचिन'दा को दे दिया। वे बोले, "तो फिर सुनो यह शराबी की शराब ही है। यह तो तुम समझ ही गये होगे कि मेरी नौकरी ऊँची गर्दनवाली है। यदि कोई आँखों में चढ़ जाये तो यमपाश में उसके बँधकर मर जाने का डर है। लेकिन मैं तो ठहरा वही अचिन्त्य मजुमदार। मुझे यह सब झेलना पड़ता है। यही कोई तेरह साल पहले की बात है। मैं कलकत्ता में पोस्टेड था। ऊँचा पदाधिकारी होने के कारण छोटे, बड़े और मझोले ऑफ़िसरों का मैं ही भाग्य विधाता। वैसे मैं यह मानता था, साधारण किरानी, कर्मचारी या छुटभैयों के साथ किसी तरह चलाया जा सकता है लेकिन 'ऑफ़िसर' का यह पद बराबर अभिशप्त जान पड़ता रहा। इनके साथ ठीक से निर्वाह कर पाना, जिसे कहते हैं, 'टैकल्' करना, बड़ा ही कठिन काम है। किसके पान से कब चूना चूने लगेगा, यह समझ पाना भी मुश्किल। खैर। कई कारणों से एक बार दूसरी श्रेणी के एक अधिकारी कुछ दिनों के लिए मेरे अधीनस्थ थे। वह मुझसे दो-चार वर्ष बड़े रहे होंगे—"

वह थोड़ी देर को चुप हो गये। नहर के किनारे की रोशनी धीरे-धीरे स्पष्ट हो गयी। नरोत्तम चालक-सीट से उतरकर रिक्शा ठेलता जा रहा था। अचानक अचिन'दा शुरू हो गये, "हाँ, तो उस भले आदमी का रंग-रूप और

...त्व आकर्षक था। बातचीत से उनकी सम्पन्न रुचि का पता चलता था। वैसे बराबर गम्भीर बने रहते। ऑफिस के मामले में तनिक असन्तुष्ट से दीखे। मैंने उन्हें कहा था कि सब ठीक हो जायेगा। नाम था, मृण्मय चौधुरी। ऑफिस से काम के बाद बाहर निकलते हुए मैंने एकाध बार काले रंग की गाड़ी पर अपने घर चले जाते हुए भी देखा। उन दिनों मैं कुछ ही महीनों के लिए कलकत्ता आया था। ज्यादा कुछ पता नहीं चला। न इसकी कोशिश ही की थी।

"एक दिन ऑफिस से बाहर निकला ही था कि बाहर मि० चौधुरी खड़े मिले। उनकी गाड़ी मरम्मत के लिए गैराज गयी हुई थी। मैंने उनसे इस बारे में पूछा तो उन्होंने बताया भीड़ छँटते ही वह टैक्सी लेकर चले जायेंगे। मुझे भी तब घर लौटने की वैसी कोई जल्दी न थी। घर लौटते प्रायः देर हो ही जाती थी। मैं होटल से खा-पीकर नाच-गान देखने चला जाता। कभी क्लब, कभी पार्टी। कभी किसी दोस्त के यहाँ ही अड्डा जमा देता। मैंने चौधुरी से कहा कि यदि वह चाहें तो मैं उन्हें घर छोड़ सकता हूँ। यह सुनकर वह जितने प्रसन्न हुए उतने झेंप भी गये—'अब आपको क्या कष्ट देना, सर!'

"मैंने कहा, 'आप कहेंगे तभी कष्ट होगा, ऐसी कोई बात नहीं। यह तो मेरा ही प्रस्ताव है। यदि आपको कोई असुविधा न हो तो...!'

"मि० चौधुरी और भी सकोच में पड़ गये, 'जी नहीं सर! ऐसी कोई बात नहीं। मैं तो आपकी असुविधा के बारे में सोच रहा था।'

"हम जब गाड़ी पर जा बैठे तो उन्होंने ड्राइवर को अपने घर का पता देते हुए कहा था, 'अलीपुर।' तब का अलीपुर आज का अलीपुर न था, साहबों का इलाका था वह। रास्ते में ऑफ़िस के बारे में ही बातें होती रहीं। उन्होंने अपनी यह धारणा भी व्यक्त की थी कि वह एक अच्छे आदमी के रूप में भी मुझे पर्याप्त सम्मान देते हैं। शायद यह मेरे पद को ध्यान में रखकर ही उन्होंने कहा हो। मैंने भी सिर हिलाकर बड़ी नम्रता से उनको अपनी असहमति दिखायी थी। इतने में गाड़ी उनके घर के अन्दर दाखिल हुई। फुलवारी के बीच छोटा-सा घर। साफ़-सुथरा, खुला और सजा-सजाया। एकान्त...उनींदा-सा।

"चौधुरी ने मुझे छोड़ा नहीं। उसने आग्रह किया कि मैं दो-चार मिनट के लिए उनके यहाँ बैठकर उन्हें कृतार्थ करूँ। मुझे भी कोई आपत्ति नहीं हुई। मैं उनके साथ ही उनके 'ड्राइंग रूम' तक आया। वहाँ पहुँचते ही, मैंने देखा कोई महिला सोफा पर बैठी ऊन बुन रही है। बिना कुछ बताये भीतर घुसते ही वह महिला मुझे देखकर ठिठक गयी। चौधुरी ने बड़ी शालीनता से कहा, "आइये सर, ये मेरी पत्नी, मिसेज चौधुरी...। और ये मि० मजुमदार, हमारे नये डिरेक्टर। अभी-अभी आये हैं।

"मैंने हाथ उठाकर नमस्कार किया। महिला भी जल्दी से उठ खड़ी हुई।

उनके भी हाथ जुड गये। मेरे आने पर चौधुरी को अचानक व्यस्त हो जाना पड़ा था और वह मन-ही-मन उत्तेजित भी हो उठे थे, यह मैं जानता था। वह किस ओर ध्यान दें, समझ नही पा रहे थे। अपनी पत्नी से बोले, 'नीरजा, इनसे एक मिनट बातें करो। मैं अन्दर से तुरत आया।' फिर मुझसे कहा, 'मैं अभी आया सर! अन्यथा मत्त लीजियेगा...बैठिए न आप!' कहते-कहते वह भीतरी पर्दा उठाकर बाहर निकल गये। मैं अपने जुड़े हुए हाथ को मोड़ना भूल गया था। अपलक देखता रहा। वह मेरी ओर टकटकी लगाये देखे जा रही थी।"

अचिन'दा चुप हो गये। मैंने तुरत पूछा, "इसके बाद ?

वह अब भी चुप थे। मुझे लगा, सामने की तरफ़ देखते हुए वह उसी दृश्य के ध्यान में डूब गये हैं। नहर के उस पार का अस्पष्ट प्रकाश अब भी उनके चेहरे पर पड़ रहा था। उनके होठों पर धीरे-धीरे मीठी-सी मुसकान खेल गयी—"नाम तो मैं पहले ही चौधुरी के मुँह से सुन चुका था। मैं निर्निमेष देखता रहा...एक लम्बा गोरा चेहरा। वय चालीस के आसपास। उस समय मैं पैंतालीस का था, इसीलिए यह हिसाब लगाना पड़ा। लेकिन मेरे सामने जो चेहरा मुसकरा रहा था, उसे देखकर लग रहा था कि उम्र का प्रवाह वहाँ जाकर रुक गया था। हालाँकि उसे तरुणी कहना भी युक्तिसगत न होगा। ठीक-ठीक कुछ बताना भी सम्भव नही। बस, इतना ही कह सकता हूँ कि उसके चेहरे पर किसी बालिका की मुसकान खेल रही थी। आँखों मे हल्का-सा काजल। होंठों पर पान का रंग। लिपस्टिक से इस तरह की लाली नही खिलती। आकर्षक, मधुर और सौम्य व्यक्तित्व। लम्बी आँखो से उसकी बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता था। उसे अपनी आँखों से देखकर ही कह रहा हूँ भाई, उसके चेहरे पर जैसे कोई रहस्यमयी आकर्षण था। औसत कद और भरी-पूरी देह। बड़ा-सा जूड़ा और वही से मुड़ा हुआ आँचल। अपरिचय की अस्पष्ट-सी छाया क्रमशः स्पष्ट होती गयी। उसका नाम पहले ही मेरे हृदय को बोंध चुका था। अन्तर मे कोई ज्वार-सा उमड़ रहा था। इतने जोरो से तरंगें उठ रही थीं कि हृदय काँप उठा था।

"थोड़ी ही देर में धीमा-सा स्वर सुन पड़ा—'तुम...याने आप?'

'और मैं यह सोच रहा था कि यह मजिस्ट्रेट कलकत्ता में ही है, और वह भी मेरे विभाग से सम्बद्ध? तभी तो सुन पाया था, वह किसी मजिस्ट्रेट की पत्नी होने जा रही है। यह ठीक है कि सरकारी नौकरी मे आये दिन कई तरह की फेर-बदल होती ही रहती है, लेकिन मैं यह नही सोच पाया था कि वह कलकत्ता मे ही कही होगी। मैं बराबर यही सोचा करता, किसी क़स्बे में मजिस्ट्रेट का कोई बंगला होगा। वहाँ कोई अभिमानिनी-सी पत्नी अपनी गृहस्थी मे डूबी होगी। सन्तानों की देखभाल और साज-सँभार में व्यस्त प्रसन्नचित्त।

अलीपुर के किसी विलायती कॉटेज की बात दिमाग में कभी आयी ही नहीं। तुम और आपकी भ्रान्ति मिटाने के लिए मुझे कहना ही पड़ा, 'अचिन्त्यकुमार मजुमदार। मैं तो हैरत में डूब गया हूँ...इस तरह कभी...?'

"किसी को भी आँखें हटाने का अवकाश न था। उत्तर मिला, 'मैं भी कुछ सोच नहीं पा रही। अब भी जैसे...।' न तो उसकी कोई बात पूरी हो पायी, न मेरी। इसके बीच ही मि० चौधुरी प्रकट हो गये। उन्हें लगा कि यहाँ का परिवेश कुछ दूसरा ही हो चला है; यहाँ कोई दूसरी ही खिचड़ी पक रही है, जिसकी गन्ध उनकी नाक तक जा पहुँची थी। बोले, 'बात क्या है? लगता है, आप दोनों परिचित हैं!'

"उस जमे हुए समय और बोझिल वातावरण को एक क्षण में अपनी हँसी से तरल बनाते हुए नीरजा ने बताया, 'क्यों नहीं! ये तो शान्तिनिकेतन में थे। हमारा वर्षों पुराना परिचय है। ये तो हमारे अचिन'दा हैं।'

"मुझे थोड़ी-सी घबराहट-सी हो चली थी। नीरजा और अचिन'दा का पूर्व परिचय, उसके पति को अच्छा लगेगा भी या नहीं! लेकिन दूसरे ही क्षण ऐसा प्रतीत हुआ कि इस अचिन'दा के बारे में मि० चौधुरी को कुछ भी नहीं पता। वह इस नयी सूचना की प्रसन्नता से जैसे उत्तेजित हो उठे, 'ऐसा है, यह तो अपूर्व संयोग है। मैं तो अब मि० मजुमदार को एक नये रूप में पा रहा हूँ।'

"नीरज ने अपनी आँखों को फैलाकर रहस्यभरी मुसकान के साथ कहा, 'बैठो अचिन'दा! अब जबकि इस तरह भेंट हो गयी है तो अचरज में डूबे कब तक खड़े रहोगे?'

"उसकी बातों से चौधुरी हँस पड़े, मैं यही सोच रहा था—नहीं, यह पहलेवाली नीरजा नहीं। अब वह कितने धीरे-धीरे बातें करती है। उसकी आँखों में कैसे-कैसे भाव थे, रहस्यपूर्ण! उनमें परस्पर मेल नहीं था। स्वर भी कुछ अजीब-सा बदला-बदला लग रहा था, मीठी-रहस्यपूर्ण मुसकान के बावजूद। मैं तनिक प्रगल्भ हो गया हूँ बन्धु, लेकिन कोई चारा नहीं। कोहनियों तक चढ़ी लम्बी कुरती और ढाका की साड़ी का आँचल वह जिस तरह उलटाकर पहने हुए थी, उसमें मैं अपनी कल्पना की उस मजिस्ट्रेट-पत्नी को, बेटी-बेटियों से घिरी माँ को ढूँढ़कर भी नहीं पा सका। मैंने कहा, 'हाँ, बैठूँगा क्यों नहीं!' लेकिन मैं इस आश्चर्यपूर्ण संयोग को झेल भी तो नहीं पा रहा।' और मैं बैठ गया। चौधुरी अपनी प्रसन्नता और उत्तेजना के साथ थोड़े अस्थिर भी हो उठे थे। उन्होंने अपनी पत्नी से पूछा, 'तुमने पहले तो कभी भी इनके बारे में कुछ नहीं बताया? शान्तिनिकेतन के इतने लोगों के बारे में बताती रही, लेकिन यह नाम तो कभी नहीं सुन पाया?'

"मैं अब भी नीरजा की ओर हैरत से देख रहा था। उसने हँसते हुए कहा,

कहाँ पाऊँ उसे

'कभी इनका प्रसंग आया ही नहीं, इसीलिए कुछ कह न पायी। अगर मैं जान पाती कि यही तुम्हारे विधाता मि. ए. के. मजुमदार है, तो अवश्य बताती।' उसने अपनी बात पूरी कर मेरी तरफ़ देखा और मुसकरायी। उसकी आँखें, उसकी हंसी अब वैसी नहीं रही जो आम्रकुञ्ज के वसन्तोत्सव और दीप-सज्जा मे दीख पड़ी थी। तो भी इस प्रौढ़ावस्था मे यह जान पड़ा कि किसी बरसाती नदी की तरह उसका पानी किनारे ढहाता चला गया है।

"नीरजा की बातो से ही लगा कि चौधुरी मेरे बारे मे कुछ नही जानते। बहुत ही प्रयत्नपूर्वक इस तथ्य को गोपनीय बनाकर रखा गया था। उचित भी यही था। अन्यथा नीरजा और मृण्मय चौधुरी का जीवन सम्भवतः सुखी नही रहता। एक दूसरे को गलत समझते रहते। चौधुरी कहने लगे, 'सर, जब आपका यह नया किन्तु बहुत पुराना परिचय प्राप्त हुआ है तो समय रहते मैं आपसे थोड़ी देर रुकने को अनुरोध करना चाहूँगा।'

"नीरजा अपनी भौंहे नचाकर साधिकार भाव से बोल उठी, 'अनुरोध की क्या बात? अब वह तुम्हारे वस में नही। और मैं कोई अनुरोध तो नही करूँगी, अधिकारपूर्वक कहूँगी। मैं जाने न दूंगी तो अचिन'दा जायेंगे कैसे?'

"चौधुरी अपनी प्रसन्नता में डूब चले थे। उसकी प्रसन्नता का कारण तो तुम समझ ही गये होगे? अच्छी तरह समझ पाते, अगर नौकरी कर रहे होते। लेकिन मैं यह सबकुछ नही सोच रहा था। मैं तो यह देख-सुनकर चकित था कि कितनी सहजता से नीरजा ने अपने अधिकार की घोषणा कर दी है। इतने बड़े एक डाइरेक्टर के सामने उसके अधीनस्थ अधिकारी को कहने लगी, 'और सुनो! अचिन'दा को दफ्तर जाकर यह सर...सर कहना। घर मे, मेरे सामने मत कहा करो!'

"उसके साथ-साथ मैं भी बोल उठा, 'एकदम ठीक।'

"चौधुरी प्रसन्नता और उद्वेग से दोहरे हो उठे। उसने अपनी पत्नी को गर्दन हिलाकर धन्यवाद ज्ञप्त किया। नीरजा अपनी बातों से ही नहीं, अपनी भाव-भंगिमा से कोई चचल किशोरी हो उठी। पुलकित स्वर में बोली, 'तुम्हे पता है अचिन'दा! चौधुरी के मुँह से मैने तुम्हारे बारे मे सुना था। वह तुम्हारे रूप-गुण की प्रशसा करते हुए बता रहे थे कि दिल्ली से एक मालिक आये है, बिल्कुल छोकरे-से। अब-तक उनकी शादी नही हुई। सचमुच अचिन'दा! अब तक तुम्हारी शादी नही हुई?'

"मैं नीरजा से आँखें मिला न पाया। जमीन पर आंखें गड़ाकर ही कहता रहा, 'नही, अबतक तो नहीं। लेकिन जिसके बाल खिचड़ी हो रहे हों, उसे छोकरा कहनेवाली बात मैं समझ न पाया।'

"चौधरी, संकोच से लाल हो उठे, 'आप हमसे अवश्य ही कम वय के होगे,

इसीलिए।'

" 'हां, दो-एक साल का फ़र्क हो सकता है।' मैंने उत्तर दिया।

"लेकिन मैं यह भी देख रहा था कि नीरजा मेरे एक-एक रोएँ-रेशे को अपनी तीखी आँखों की काली पुतलियों से टोह-टटोल रही थी और मैं उससे आंखे नही मिला पा रहा था। उसने फिर जोड़ा, 'लड़कों की शादी न हो तो वह छोकरा ही रह जाता है, है न! बाल भले ही सफ़ेद हो रहे हों, लेकिन विवाह की उम्र नही बीती!'

" 'अच्छा!' मैंने आश्चर्य से कहा, 'अब इस पैंतालिस बरस की दीमक-लगी ढेंकी को भी कूटने के काम मे लगाने की चिन्ता हो तो मुझे कुछ नही कहना! लेकिन उकठे काठ पर हरियाली नही खिलती।'

"नीरजा मेरी बात मान नही रही थी। हँसी-मज़ाक के बीच मेरी चुटकी लेते हुए उसने अपनी यह सदिच्छा प्रकट की थी कि बिना मेरी शादी कराये वह चैन से नही बैठेगी। मैंने प्रसग बदलते हुए यह पूछा था, 'घर बड़ा खाली-खाली-सा लग रहा है। तुम्हारे बाल-गोपाल कहाँ है?'

"मैंने स्वाभाविक तौर पर ही यह प्रश्न पूछा था लेकिन नीरजा ने तेजी से कहा, 'वह किनारा अब भी दूर है। तुम दोनो गप-शप करो, मैं चाय लेकर अभी आयी।' और वह अन्दर चली गयी। मैंने देखा, चौधुरी के चेहरे पर कोई आहत-सी मुसकान ठहर गयी थी। वह तनिक उद्विग्न होकर बोले, 'हमारे कोई सन्तान नहीं हुई।'

"सारा माहौल एक बार फिर भारी हो उठा। मैं इस बारे मे कुछ सोच नहीं पाया था लेकिन नीरजा की वह बात, 'वह किनारा अब भी दूर है,' मेरे कानों मे बार-बार प्रतिध्वनित होती रही। उसकी बातों मे कोई रहस्य था। सन्तान होगी, अभी नही हुई। शायद उसकी यह पीडा ही इस मज़ाक मे ढल गयी थी। पता नही, उसके स्वर मे कोई व्यग्य था भी या नही!"

नहर के एक सिरे पर आकर अचिन'दा रुक गये। प्रकाश मे उनका चेहरा साफ़ दीख रहा था। लेकिन किसी अबोध शिशु की तरह उनके चेहरे के भाव अबूझ और चचल हो उठे थे। उन्होने मुसकराकर पूछा, 'क्यों, मैं उसी बक-वास को सजा रहा हूँ न! कैसी जम रही है?"

मैं इस प्रश्न का उत्तर मुँह खोलकर नही देना चाहता था। मन-ही-मन यही गुन रहा था कि मैं ख़ाक कहानी लिखता हूँ। इस ससार के असली साहित्य-कार कहाँ-कहाँ किस रूप में भटकते रहे है, यह देख नही पाया। अचिन'दा के पास अपनी कलम-दवात रखकर मैं आजीवन इसी प्रकार सुनता रह सकता हूँ। लेकिन तेरह साल पहले अलीपुर के किसी घर की बैठक मे मजुमदार और चौधुरी के बीच इस तरह की चुप्पी को नही झेल सकता।

के मन का रहस्य क्या है ? मैं कुछ नही जानता । बस इतना ही बता सकता हूँ कि मैं चौधुरी के साथ मिलता हूँ, उठता-बैठता, पीता-पिलाता हूँ । हम अब भी साथ गाते-गुनगुनाते है और हमारे बीच बैठी नीरजा ताल दिया करती है।"

"अब भी ? मैं कुछ समझा नही," मैं हैरान होकर पूछ बैठा।

"हाँ, अब भी का मतलब अभी भी !" अचिन'दा बताते रहे, 'चौधुरी की बदली इलाहाबाद हो गयी है और मैं लखनऊ मे हूँ । उनकी यह बदली भी उनकी मर्जी से ही हुई है और मैंने ही उन्हे वहाँ भेजा है । छुट्टी-वुट्टी मिलने पर कभी मैं वहाँ जाता हूँ या वे लखनऊ आ जाते है । यहाँ तक कि इलाहाबाद और लखनऊ दोनो के घर-संसार को नीरजा ही चलाती है । शायद यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हम तीनो का एक ही ससार है ।"

वह अचानक रुक गये और फिर बोले, "नरोत्तम दाहिने चल, बाबू को छोड़ आऊँ ज़रा ।" इसके बाद अपने होंठों को सिकोड़कर मुझसे पूछा, "क्यो बन्धु, अन्त मिला ?"

मैं कोई उत्तर दे न पाया । शीतकाल की उस कड़ाके की रात मे, झींगुर की पुकार के बीच वह रिक्शा मेरे मित्र के घर के सामने जा लगा । मैं चुप-चाप उतर आया । अचिन'दा की ओर आँखें उठी तो मैं स्तब्ध रह गया । उनके चेहरे पर की रेखाएँ काँप रही थी । वह रुँधे हुए स्वर मे बोले, "अब झेल नहीं पाता बन्धु...सचमुच !"

और इसके साथ ही भर्राये स्वर मे आदेश देते हुए कहा, "चल रे नरोत्तम !"

नरोत्तम ने रिक्शा मोड़ लिया था ।

"अच्छा बन्धु ! कल फिर भेंट होगी ।"

मैं अन्धकार मे ही खड़ा रहा । छातिमतला के एक किनारे, झींगुरो की पुकार के बीच । पता नही, वह कैसी सुरभि थी, जो दिक्दिगन्त तक व्याप्त थी । अनामिका । दूर लगा मेला शान्त था । मेरे कानो में वही अन्तिम वाक्य गूँज रहा था—'अब झेल नही पाता बन्धु...सचमुच !'

यह अचिन'दा का आर्त्तनाद नही था, लेकिन उनके आर्त्त स्वर की व्यञ्जना मेरे मन:प्राण मे बार-बार प्रतिध्वनित होती रही । मैं एक बार भी यह नही समझ पाया कि सुबह से ही जिनके संग इतनी बातें हो रही हैं, वह शरविद्ध पंछी का आहत स्वर है । वह पंछी, जिसके सीने मे जैसे तीर खुबता जाता है, रक्त बहता चला जाता है, वह उतना ही स्वर भरता चला जाता है । उसका यही

स्वर गान मे ढल जाता है। यह अन्तिम कथाचरण और बोझिल हो उठेगा, यह मैंने नही सोचा था।

मेरी आँखों के सामने रहस्यभरी वह नारी-मूर्ति प्रकट होने लगी—पान से रंगे होंठ, आँखों से झाँकता रहस्य, ढाका की साडी का आँचल उड़ाती। पता नही, कौन-सा मौसम छू गया है उसे। उसके दोनो ओर दो पुरुष — उसकी आँखों की दोनों पुतलियों से बँधे। इन पुतलियों में कौन-सा मर्म है, यह नहीं जाना जा सका। उसका रहस्य जानने के लिए दोनो सन्नद्ध है। दोनों कान खोले चले जा रहे हैं। उनके चेहरे पर रेखाएँ क्रमश. घनी होती जा रही है, बाल सन की तरह सफ़ेद हो चले हैं। तो भी चले जा रहे हैं उद्ग्रीव और उत्कर्ण। क्या है वह रहस्य ? वह कथा !

आम्रकुञ्ज का वसन्तोत्सव ! जिसकी जय-यात्रा अबाध रूप से चलती जा रही है, वही हाथ आड़े कर अतीत में लौटा ले जाती है। मैं सोच रहा था, वह कौन-सी नियति थी जो ए. के. मजुमदार को कलकत्ता ले गयी थी ! न दिख पाने, न पा सकने और न पकड मे आ सकने की गतिविधि के बीच कौन घसीट ले गयी ? अब कही जाकर उस अशेष-गाथा की परिणति झेल पाना सम्भव नही। उसे समाप्त भी नही किया जा सकता। उसको झटके मे समाप्त करते हुए जो ताप और तनाव पैदा होगा, उसे कौन सहन करेगा ? कौन झेलेगा उसे ?

मनुष्य की इस नियति को कौन-सा नाम दिया जाये ? मेरा अन्तर सिहर उठा। आडी-तिरछी रेखाओ से पटे, उस कँपते चेहरे को देखने की इच्छा जगी। मैंने मुडकर देखा। लेकिन अब वहाँ कोई नही। छातिमतला के आस-पास फैले सभी पेड-पौधे इस निशीथ मे शान्त खड़े हैं। इस अँधेरे मे सारे पथ खो गये हैं। फिर भी, मैं उसे दूर देख पा रहा हूँ जो आम्रकुञ्ज की ओर जा रहा है। दृष्टि और संज्ञाशून्य। उस अबोध शिशु की तरह, जो मुँह बाये चारों ओर देख रहा है, लेकिन कुछ समझ नही पाता।

मेरा अन्तर विह्वल हो उठा था, हँसी का कोई ज्वार-सा फूट पड़ा था। मैं भटक-भटककर किसे खोज रहा था ? किसकी तलाश थी मुझे ? मुझे जिसकी सीमा का पता नही। लेकिन इस निर्जन अँधेरे में खडा होने पर एक बार फिर यह प्रतीत हुआ कि कोई अरूप रतन मेरे रूप-सागर में तैर रहा है। वह ढूँढने से मिलनेवाली चीज नही। वह तो बिना खोजे ही मिल जाती है। जो मिली नही, उसका नाम भी नही जानता। और जो मिलती है, उसे श्रेष्ठ धन मानकर रख लेता हूँ।

अचानक इस अरण्य-अन्धकार को चीरकर कोई मेरे सामने आ खड़ा हुआ। मैं उसे देख न पाया लेकिन मैंने ऐसा अनुभव किया कि वह मेरी धुंधली आँखों के आगे खड़ा है। मैंने अपने हाथ जोड़ दिये। अपनी गाथा को ही मैं मान दिये

सुनता रहा। इसी मनुष्य में, जो 'मानुष' छिपा है, उसे नमस्कार!

मेरी नीद टूट गयी। पछियों का एक झुण्ड पुकार रहा था। इसके बाद, केवल आंखों की ही नही, मस्तिष्क की भी नीद टूट गयी। तब समझ मे आया, यह पछियों का नही, बच्चो का शोर-शराबा है। ऐसी खून जमानेवाली ठंड मे और इतनी सुबह, केवल गरम चाय ही नही, गरम जल के बिना भी कोई बात ही नही बनती! और ऐसे मे किसी नौकर-चाकर का मुंह जोहकर ही बैठा नही रहा जा सकता। हर कोई अपने-अपने हाथ लगाओ भाई!

गरम बिछावन पर सोये-सोये, मुझे हाथ बढ़ाने की यही आवाज सुन पड़ी। मित्रवर और उनकी पत्नी की आवाज सुनकर ही समझ गया कि सभी व्यस्त हैं, सबको जल्दी है।

मुझे पिछली रात की बात याद आ गयी। बाहरी फाटक पर हाथ देते ही घर की रोशनी जल उठी थी। मित्र प्रकट हुए थे और उनके चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थी। लेकिन अचिन'दा का नाम सुनते ही उनकी उद्विग्नता शान्त हुई। उनके मनुहार के बाद भी आहार ग्रहण करने की इच्छा नही हुई थी। देह, मन और आंखो पर केवल नीद का भूत सवार था।

मैं लेटा नही रह पाया। मित्र की पुकार सुन पड़ी, "जल्दी तैयार हो जाओ, देर नही करनी है भाई!" हर कमरे मे लोग नहा-धोकर कपड़े-लत्ते पहनने और साज-सिंगार में व्यस्त थे। जिसकी तैयारी पूरी हो जाये, वही घर के बाहर छूट पड़ता, गोली की तरह। कोई किसी के आसरे बैठा नही, किसी के लिए रुका नही।

तब उपासना मन्दिर का घण्टा बज रहा था। लेट-लतीफ़ की हमेशा ही दुर्गत बनती है। तैयार होकर मैं जब मन्दिर के अहाते मे प्रविष्ट हुआ, उस समय स्तोत्र-पाठ की समाप्ति के साथ ही, समवेत गान प्रारम्भ हो चुका था। दिन पूरी तरह निकल आया था। पूर्व पल्ली के पेड़-पौधो को लांघती हुई धूप सारे प्रांगण मे फैल चुकी थी।

इसके बाद, आम्रकुञ्ज का दीक्षान्त समारोह सम्पन्न होनेवाला था। चारो ओर आश्रम-गान गूंज रहा था—'आमादेर शान्तिनिकेतन...आमादेर शान्तिनिकेतन...।' यह शान्तिनिकेतन भारत के महामानवों का सागर-तीर है, जहां केवल पंजाब, सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, द्रविड़ उत्कल और बंगाल के ही लोग नही, गोरे और काले भी परस्पर मिलते हैं, हँसते-गाते है। यह विश्व भारती का प्रांगण है। आज पौष माह की आठवी तिथि है। विश्व भारती के नवीन एवं प्राक्तन आश्रमिको का मिलन समावेश। आज कृती विद्वानो का आह्वान है, कृतित्व का अभिषेक। यहां के आचार्य स्नातकों को सप्तपर्णी का पल्लव प्रदान कर, उनकी संवर्द्धना करते है। यह विश्व भारती का प्रांगण विद्या,

शिक्षा और मानव-धर्म का केन्द्र है। यहाँ की बातें देख-सुनकर लगता है, अन्यत्र किसी स्थान पर ऐसी लीला नहीं।

उत्सव के समापन के साथ ही अविरल जनसमुद्र चारों ओर उमड़ा और इसका एक बड़ा हिस्सा मेला की ओर बढ़ चला। मैं भी उस प्रवाह में बह चला। उद्देश्य था, बाउल-मण्डप तक जल्दी पहुँच जाऊँ।

आश्रम की सीमा पार कर मैं मुख्य सड़क पर आ गया। इसके उस पार ही तो मेला लगा था। उस तरफ़ जाने के लिए पाँव बढ़ाया ही था कि किसी ने बहुत करीब से पुकारा, 'सुनिए!"

मुड़कर देखा, झिनि थी। नीली रेशमी साड़ी और ऊनी ब्लाउज़। दक्षिण पल्ली में भी कड़ाके की ठण्ड पड़ रही है, इसका प्रमाण स्वयं झिनि थी। सिर पर लाल रेशमी स्कार्फ लिपटा हुआ, जिसका एक छोर गले में बँधा था। रूखे बालों का एक गुच्छा बाहर झाँक रहा था। न होंठों पर लाली और न आँखों में काजल। माथे पर हल्की-सी बिन्दी। जैसे वैराग्य के साथ-साथ अनुराग भी जग उठा हो, जैसे सिर पर लाल पल्लू लिये कोई वधू खड़ी हो। लेकिन होंठों पर मुस्कान नहीं खेल रही। सकोच में गड़ी हुई। अधरों पर कोई बात रुकी हुई।

मैंने अनुमान से ही आस-पास देख लिया। राधा, लिलि, सुपर्णा'दी, शुभेन्दु या नीरेन'दा कोई नहीं। मैं अचरज में पड़ा-पड़ा कल की बात सोचने लगा। झिनि की तरफ़ देखते हुए भी मैं कुछ पूछ नहीं पाया। लगा कि कोई पीड़ा उसकी मुख-मुद्रा से झाँक रही है, वहाँ स्त्री-सुलभ लज्जा नहीं थी।

"आप अकेली हैं?" मैंने पूछ लिया, 'आपके दूसरे साथी कहाँ है?"

"नहीं जानती।" उसने अपनी गर्दन झुका ली। फिर मेरी आँखों में देखती हुई बोली, "आपको ही ढूँढ रही थी।"

"अच्छा!"

उसका सिर फिर झुक गया। चेहरे का रंग भी कुछ और हो गया। एक क्षण बाद उसने फिर मुँह खोला, "जी! आप बहुत व्यस्त हैं?"

"नहीं! व्यस्त क्यों होने लगा। बस, मेला जा रहा था।"

"कोपाई नदी की तरफ चलेंगे?"

मेला छोड़कर कोपाई के किनारे? झिनि की आँखों में एक साथ प्रश्न, कौतूहल और संशय था। मुझे अचिन'दा की बातें याद आ गयीं। मैंने पूछा, "आप उन्हें बताये बिना जायेंगी, वे खोजेंगे नहीं?"

"नहीं।"

क्यों, यह मैं पूछ नहीं पाया। उसकी आँखों को देखकर यही लगा कि वह असमय असहाय होकर उद्विग्न हो उठी है। मैं ही उसे कितना जान पाया था और

जितना कुछ समझ पाया था, अपर्याप्त था। दक्षिण की इस यात्रा के प्रवाह मे, राढ़ की इस धूलभरी राह में जैसे कोई काँटा उसके पाँव में चुभ गया हो। अचानक मुझे उसके माता-पिता की स्मृति हो आयी। उनके स्नेह के कारण ही यह लडकी इस तरह खड़ी है।

मैंने हामी भरी, "चलिये, चलते हैं।"

झिनि के चेहरे का रंग एक बार फिर बदल गया। उसने तुरत अपना चेहरा उत्तर की ओर मोड़ लिया। भीडभरे मेले में रिक्शे की कोई कमी नहीं। हम दोनों एक ही रिक्शे पर बैठ गये। अपना गन्तव्य बताते ही तिपहिया गाड़ी हॉर्न बजाती हुई आगे बढ गयी। नहर पार कर हम जब खोआई की लालपगडण्डियों तक आ पहुँचे तो मुझे लगा, झिनि की आँखें बराबर मुझे देख रही हैं। मैंने भी उसकी तरफ मुड़कर तकते हुए दाहिनी ओर, खोआई के बीचोंबीच बाँसझाड़ गाँव दिखाकर कहा, "कल रात मैं अचिन'दा के साथ उसी बाँसझाड़ मे था।"

झिनि ने अचरज से मेरी ओर देखकर इतना ही कहा, "अच्छा।" और फिर अपने में डूब गयी। रास्ते पर गाँव के लोग आ-जा रहे थे। पूछने पर रिक्शावाले ने बताया : सामने जो गाँव है, उसका नाम है ग्वालपाड़ा। राढ के गाँव के कच्चे-पक्के घर। मिट्टी की दीवारें और फूस के छप्पर। चाय-पकौड़े की दुकानें। गिलासों में भरी जा रही चाय और उसमें चच-खच नाचते चम्मच। परचून की दुकानों पर खरीद-फरोख्त। गृहस्थों के दरवाजों पर शिशुओं को गोद लिये बहनें और...भूसा चबाती गायें। खुले दरवाज से साफ़ दीख रहा है कि भीतर आँगन मे धान की टोरियाँ पड़ी हैं। कहीं-कहीं, अब भी दौनी का काम चल रहा था।

इन सारे दृश्यों को आँखों ने देख लिया। किसी ने कुछ नहीं कहा। कुछ कहते-कहते भी मैं कुछ न कह पाया। कल की रात अचिन'दा के साथ क्यों जाना चाह रहा था, यह बताने की इच्छा जगी थी, लेकिन एक-के-बाद दूसरा दृश्यान्तर होता गया। आँखें अन्यत्र भटक जाती। असमंजस में पड़ा था मैं और मेरी तरह शायद झिनि भी।

थोडी देर बाद, गाँव को पीछे छोड़ते हुए खोआई की उपत्यका उभर आयी। धचके शुरू हो गये। रास्ता बायीं ओर से मुड़ता हुआ नीचे चला गया था। अचानक पच्छिम की ओर मुड़ते हुए हवा का तेज झोंका-सा आया और झिनि की लाल रेशमी स्कार्फ का एक छोर मेरे मुँह पर छा गया। मेरी आँखें ढँक गयीं। उसे हटाते हुए मैंने सुना, "वह रही कोपाई।"

रिक्शावाला बता रहा था। झिनि ने मेरी ओर देखा।

"शुभेन्दु बाबू कैसे हैं?" मेरे मुँह से यही निकल गया।

झिनि की भवों पर बल पड़ गये। कोपाई के किनारे पहुंचकर ऐसी बात सुन पड़ेगी, इसे वैसी आशा न थी। दरअसल मेरे मन में यह बात झिनि के उद्वेग के लिए आयी थी, जिस कारण वह कल शाम असहज-सी दिखायी दी थी। झिनि ने उसी प्रश्न को मेरे पास उछाल दिया, "क्यों, उसे क्या हुआ ?"

मैंने कहा, "कल उस तरह चले गये। आप भी कुछ उद्विग्न-सी थीं। नीरेन'दा भी चले गये थे।"

झिनि कुछ देर तक मुझे देखती रही और फिर मुंह मोडकर बोली, "अच्छा ही है।"

रिक्शा अबतक नदी के एकदम पास आ लगा था। रिक्शावाले ने बताया, "यह रही कोपाई। नंगे पाँव पार हो जाइये। यहाँ पानी नाही।" फिर बायीं तरफ बाँसझाड गाँव को दिखाकर बोला, "वहाँ पिकनिक के लिए लोग-बाग आत-जात रहत हैं।"

मैंने अपने जूते वही उतार दिये। झिनि ने भी अपनी चप्पलें उतार दीं। कही-कहीं नदी के घुटने-भर पानी मे सन्थाली बच्चे नहा रहे थे। कोई गाय को नहा रहा था। एक बालक पानी पीट रहा था। नदी पर एक पक्की-सी सड़क थी। "यह कहाँ जाती है ?" मैंने पूछा।

"वो ..वो...कसबा, पानरुई, उपाग्राम मे होती हुई एकदम सिउड़ी तक चली गयी है।" रिक्शाचालक ने बताया।

झिनि सिर झुकाये खडी रही। कोपाई तक आकर भी कोपाई के लिए कोई चाव नहीं। उसने अपनी आँखें उठायी और फिर चेहरा घुमा लिया।

मैंने पूछा, "किधर चलेंगी ?"

"आप जिधर ले चलिये !"

ऐसा कुछ तय तो नही था। वह खुद कोपाई आना चाहती थी। फिर अचानक स्वय ही बोली, "चलिए, उधर चलें।"

उसने अपनी आँखों से जिधर जाने का संकेत दिया था, उधर कोपाई पूरब की ओर मुड़ती हुई ओझल हो गयी थी। हम उसके किनारे-किनारे जितनी दूर बढते गये, उसकी धारा क्रमश. ढलान की ओर उतरती चली गयी और किनारे ऊँचे होते चले गये। यही तो खोआई का सौन्दर्य था। आगे बढ़ती हुई नदी क्रमश: गहरी और तेज होती चली गयी थी। तेज धारा के चारो ओर जंगली बेंतों की झाड़ियाँ थीं। इन्हें कही-कही मुरली और कही किशोरीबाँस कहते हैं। इकहरी, पतली और सुकुमार-सी इसकी झाड़ियों पर बुलबुलें चहक रही थी। आसपास और भी कई पेड़-पौधे थे – शाल, सेमल, आम, जामुन और बेल के। शाल और सेमल पर पत्ते नदारद थे। पाँव-तले उनका मर्मर हो रहा था। अचानक किसी पेड़ पर कोई उल्लू बोल उठा। हम एक ऐसे निर्जन वन से गुजर रहे थे,

मानो वहाँ कभी किसी के पाँव ही न पड़े हों। पेड़ों की घनी-छाया में ठण्ड भी बढ़ गयी थी। कोपाई यहाँ तक आकर और भी साँवली पड़ गयी थी, उसका कल-कल स्वर अब भी निनादित था।

अचानक झिनि मेरे आगे खड़ी हो गयी। मैं भी। मैं कुछ पूछने जा ही रहा था कि उसने मुड़कर मेरी ओर देखा। उसका रेशमी स्कार्फ़ खुलकर गर्दन पर लहरा रहा था। सिर झुका। बायीं आँखों के ऊपर बालों की एक लट झूल रही थी। सिर नीचा किये हुए ही उसने कहा, "आप मुझे क्षमा नहीं करेंगे ?"

क्षमा ? क्यों...किस अपराध के लिए ? मेरे पूछने के पहले ही वह रुंधे हुए स्वर से बोली, "कल मुझसे बड़ी भारी ग़लती हो गयी। मैं ग्लानिवश रातभर सो नहीं पायी। अपने को रोक नहीं पाती, इसीलिए..."

उसकी बात ख़त्म होने के पहले ही डूब गयी। होंठ काँपने लगे थे। आँखों में आँसू छलछला उठे थे। मैंने तुरत उत्तर दिया, "अरे...आप ऐसा क्यों कह रही हैं, *अन्याय तो मुझसे हुआ है। मैं कुछ समझ नहीं पाया।"*

मेरी बात भी समाप्त नहीं हो पायी, इसके पहले ही उसकी गर्दन ऊपर उठी। लेकिन उसकी आवाज जैसे कोपाई के सीने से उठ रही थी, आँसुओं से तर और रुँधी हुई, "नहीं-नहीं, मैं जानती हूँ कि मैंने बहुत ही अप्रिय व्यवहार किया है। पता नहीं, मैं ऐसा क्यों कर बैठी ?"

उसकी आवाज़ फिर डूब गयी। उसने पीछे मुड़कर अपनी हथेलियों में चेहरा छुपा लिया। मैं अब भी कुछ समझ न पाया कि अपनी बात कैसे शुरू करूँ ? केवल इतना ही कह सका, "झिनि...सुनिए..."

वहाँ सुननेवाला था कौन ? निद्राविहीन रात्रि की वे सारी बातें, जो कहीं दमित पड़ी थीं, ऊपर तैरने लगीं। पक्षी दूर कलरव में व्यस्त थे .... कोपाई कल-कल प्रवाहित हो रही थी और झिनि के गले से बँधा लाल रेशमी स्कार्फ़ हवा मे लहरा रहा था।

मैंने बताना चाहा, "यदि मैं यह समझ पाता कि आप लोगों के संग मेरा जाना अच्छा लगेगा तो मैं कभी भी साथ नहीं छोड़ता। दरअसल..."

झिनि ने संकोच के साथ कहा, "आपको तो अचिन'दा के साथ जाना ही अच्छा लगा होगा।"

"नहीं, उस समय अच्छा-बुरा कुछ नहीं सोच पाया।"

"जो भी हो, मुझे इस तरह नहीं कहना चाहिए था। ख़ामख़ाह भुनभुनाती रही।"

"तो क्या हुआ ? आदमी को गुस्सा तो आता ही है !"

"मैं आपको यह जताने क्यों लगी भला ?"

इसका उत्तर मेरे बस का नहीं। जिसको क्रोध आया हो, जो भी तो उसीका

है। वह गुस्सा क्यों प्रकट करना चाहती थी, वही जाने। मुझे यह जानते हुए भी भय हो रहा था। मैं अजीब संकट में फँसा था। रास्ते के बीचोंबीच यह कौन-सा अभिनय-प्रसग था, मैं समझ नही पाया। मैंने इतना ही कहा, "गुस्सा आ गया था, इसीलिए बता भी दिया। यही न !"

वह अपनी आँखें अच्छी तरह नहीं पोछ सकी थी। अपनी गर्दन मोडकर सुर्ख आँखों से ही उसने मेरी ओर देखा। उसके होठो पर रक्तिम मुस्कान खेल गयी। सम्भवतः रेशमी स्कार्फ की आभा थी वहाँ। बोली, "आपकी बातों से मैं आपको कभी समझ नही पायी।"

मैं इतना दुर्बोध्य हूँ, मुझे भी इसका पता न था। मैंने उसकी बात को ही दोहरा दिया, "शायद झूठा हूँ।"

"इससे भी कही ज्यादा।"

"क्या ?"

"जिसे कहते है—छलियों का छलिया।" झिनि का स्वर अचानक कौतुक और परिहासपूर्ण हो उठा। ज्वार का प्रवाह किधर वह रहा था और किन ढलानों में उतर रहा था, मैं अनुमान नही लगा पाया। मेरे पाँव मे राहो की धूल थी और उसे लिये ही भटकना था। झिनि मोड पर रुकी नही।

मैंने फिर पूछा, "वह कैसे ?"

झिनि ने पीछे मुड़कर मेरा प्रश्न लौटा दिया, "आपने इस समय शुभेन्दु के बारे मे क्यों पूछा ?"

"कल उसका इस तरह चला जाना भूल नही पाया, इसलिए।"

"क्यों चला गया, यह तो आपने एक बार भी नहीं पूछा !"

"हमारी पहचान हो कितनी है ?"

"आप समझ पाये थे ?"

मैं किसी सूझ-समझ के चक्कर मे नही पड़ना चाहता था। झिनि यह बात क्यों पूछ रही थी ? इसका कोई उत्तर न देकर मैं कोपाई की ओझल धार को देखता रहा जो बायी ओर मुड़ गयी थी। झिनि ने भी कोई उत्तर नही दिया और थोड़ी देर बाद पूछ बैठी, "आपको यहाँ ले आयी, इसलिए गुस्सा तो नही आप ?"

मै गुस्सा क्यों होने लगा ? और न मैं राह चलते हुए अपने या पराये के दुखों का कोई दायित्व लेना चाहता था। हालांकि इसमे भी कुछ कहने-जैसी कोई बात न थी। इसीलिए मैंने कहा, "नही।"

"लेकिन आपने क्षमा कर दिया या नही, यह नही जान पायी।"

"इसके लिए तो मुझे भी पूछना चाहिए, और क्या ?" मैंने सुझाया।

झिनि ने मुडकर देखा। उसकी आँखों मे लाजभरी मुसकराहट खेल रही

थी। होंठो पर भी कुछ ऐसा ही झिलमिला रहा था। कुछ ही क्षण बाद वह पास की एक जगह की तरफ़ संकेत करके बोली, "वहाँ चलकर थोड़ी देर बैठेंगे ?" वहाँ घास उगी हुई थी। वह कदम बढ़ाती हुई वहाँ तक गयी और पाँव मोड़कर बैठ गयी। मैं भी उसकी तरफ देखता हुआ उसके पास जाकर बैठ गया।

नीचे सांवली कोपाई बह रही थी। उसका कल-कल करता स्वर पंछियों के कलरव मे घुल-मिल गया था।

दूर पक्की सड़क के उस पार से हवा आ रही थी। झिनि के बाल उसके झोंको के साथ लहरा उठे। उसकी गर्दन के इर्द-गिर्द लाली भरी आभा रह-रह-कर झिलमिला उठती। और उसकी चम्पई देह पर, पेड़ोंसे छन-छनकर आती हुई धूप की झालर खिल उठी थी।

झिनि अपनी साज मे ही आधुनिक नही, प्रसाधन में भी सुरुचिसम्पन्न थी। लम्बी उँगलियाँ, लम्बे नाखून—खूब करीने से कटे, हल्के गुलाबी रंग से रँगे। वह नाखून से एक-एक कर घास टूंग रही थी। गर्दन झुकी हुई। मुझे उसके चेहरे का एक हिस्सा दीख रहा था। दबे हुए होंठों पर कोई ज्वार था। पता नही, क्या सोच रही थी और क्या कहना चाह रही थी। उसने फिर एकबार मेरी तरफ सिर उठाकर देखा और फिर लाजभरी अँखियों को झुका लिया। नदी के उस पार वाली सड़क पर किसी गाडी के गुजरने की आवाज देर तक सुनायी पड़ती रही।

मुझे इस समय कोई बातचीत शुरू करनी चाहिए थी। यह हँसी, यह लाज-सकोच। कुछ कहने-सुनने की उद्विग्नता, कोई जिज्ञासा जिससे यह चुप्पी तो टूटे, यह सन्नाटा दूर हो। यह उचित भी था, लेकिन जब कभी उचित प्रसंग भी अनुचित स्वर मे ढल जाता है, इसलिए कुछ कह न पाया। इससे यदि उसकी बात पूरी न भी हो तो क्या ? अच्छा ही होगा। इस संसार में कुछ बातें अव्यक्त ही रहें तो बेहतर है। कहने और तदनुसार चलने में पाँव लड़खड़ा जाते हैं, या उन्हें काटें-छलनी कर देते हैं। मैं झिनि की उस छवि से भी थोड़ा-बहुत परिचित था, जो मेरे अवचेतन मे तिर रही थी। लेकिन इस बात से भी तनिक विस्मित था कि झिनि-जैसी युवती कब किन रूपों में खिलती है और कब कौन-से स्वर में बोलती है। अब उसके चेहरे पर न विषादभरी छाया थी और न आँखों में छलकते आँसू। उसने सिर झुकाये ही पूछा, "क्या सोच रहे हैं ?"

"किस बारे में ?"

"यही सब देखकर।"

मैं समझ गया, झिनि एक बार फिर उन्ही स्थितियों को यहाँ दोहराना चाहती थी। लेकिन मैं जानकर भी अबूझ बना रहा। मुझे किसी समझ बमझ के चक्कर में नही पड़ना। तब बेबात की बात के फन्दे मे अपना सिर ही देना होगा। मैंने फिर पूछा, "क्या सब...देखकर?"

झिनि ने एक मुहूर्त के लिए मेरी ओर देखा और बोली, "यही कि जब से आपसे मुलाकात हुई है, आपको परेशान ही करती रही हूँ।"

"अरे आप परेशान क्यों करने लगी?"

'सचमुच?" उसकी आँखें विस्मय से और भी बडी हो गयी और उसने अपनी गर्दन हिला दी। लगा, जैसे मेरी चुप्पी और मेरी भावशून्यता को वह तोड़े बिना मानेगी नहीं। वह ज्वार मे उमड़नेवाली तरगों की तरह स्वतः-प्रवाहिनी थी। मैं उससे भले ही निःस्पृह और अप्रभावित होना चाहूँ, मेरा तन-मन भी उन ज्वार तरगो के साथ हिल्लोलित हो उठा था। उसने शायद इसी-लिए कहा, "लेकिन मुझसे भय तो लग ही रहा होगा?..."

उसकी बात ख़त्म होने के पहले मैंने और भी अधिक आश्चर्य से पूछा, "भय? किस बात का भय?"

उसकी आँखों से जिज्ञासा झांक रही थी। मुझे इसका ख्याल न रहा कि उसकी आँखों में काजल नही था कि होंठोंपर लाली नही। उसके होंठों पर उसके अन्तर की लाली थी। उसकी निःशब्द हँसी तो मुखर न थी लेकिन उसकी रेशमी साड़ी फड़फड़ा उठी। अपनी धवल दन्तपंक्ति की छटा बिखेरती हुई बोली, "मैं कभी तो समझ पाती हूँ और कभी नहीं।"

मैंने उसकी ओर से अपनी आँखें फेर ली। उसने फिर जोड़ा, "मैं कुछ देख नही पाती शायद!"

"क्या?" मैंने पूछा।

अब उसके घुटने पर उसकी कोहनियां थी और कोहनी पर गाल रखकर वह मेरी ओर तक रही थी। बालो का एक गुच्छा गालपर डोल रहा था। मुझसे आँखें मिलाते हुए बोली, "आपकी हालत...आपकी आँखें...आपके चेहरे का भाव!"

मैं झेप गया। झिनि दूसरी ओर देखते हुए कहने लगी, "मुझे लग रहा है कि आप मन-ही-मन हैरान है, गुस्से मे हैं, परेशान है और थोडा-बहुत भयभीत भी हैं।"

इतना कहकर ही वह चुप नही रही, उसने फिर यह प्रश्न किया, "अच्छा, मैं क्या सचमुच बहुत अस्वाभाविक-सी लगती हूँ?"

इसे एकबारगी नकारने का कोई उपाय न था। संसार-प्रवाह के अनुसार

कहना शुरू किया, "दरअसल मुझे अपने व्यवहार के साथ उन सबके आचरण की बात भी याद आ गयी। लेकिन पता नहीं क्यों, मुझे तनिक भी संकोच नहीं हुआ। रात को उन बातों को सोचते हुए राधा और लिलि की हँसी-मजाक भरी बातें भी याद आयीं। यहाँ तक कि अचिन'दा ने भी आड़े हाथों लिया था, लेकिन मैं शर्मिन्दा नहीं हुई। मैं झूठ नहीं कह सकती, किसी से छल नहीं कर सकती, इसलिए संकोच भी नहीं करती। इसके अलावा, मेरे सभी संगी मुझे पसन्द करते हैं। यहाँ तक कि अचिन'दा भी।"

वह हौले-हौले मुसकरा रही थी लेकिन उसने मेरी तरफ़ देखा नहीं। घास पर उँगलियाँ नचा-नचाकर आड़ी-तिरछी रेखाएँ काट-पीटती रही। एक क्षण बाद उसने गाल पर लटके बालों को झटका देते हुए मुझसे कहा, "आप तो उन जैसे नहीं...याने जो कुछ है, वह आपको लेकर ही। इसीलिए बार-बार आपकी बातें याद आती रहीं और मैं छटपटाती रही।"

वह कुछ और भी कहना चाहती थी लेकिन चुप हो रही। अचानक उसने मेरी ओर देखा और पूछा, "एक बात कहूँ?"

झिनि की आँखें अब उतनी गम्भीर न थीं, वहाँ एक तरह की उद्विग्नता खेल रही थी। मैंने सिर हिलाकर कहा, "कहिए।"

झिनि की गर्दन मुड़ गयी थी और चेहरा कहीं और टँगा था। नीली रेशमी साड़ी का आँचल और गहरा गया था। उसने फिर यह प्रश्न किया, "जीवन में सारा कुछ क्या किसी युक्ति से ही निर्धारित होता है?"

"हो तो बहुत अच्छा...बल्कि होना चाहिए।"

झिनि पहले तो आँखें फाड़े देखती रही फिर सहज भाव से बोली, "लेखक लोग तो शायद ऐसा ही करते होंगे।"

"मैं लेखकों के बारे में बता नहीं सकता," मैंने कहा, "लेकिन दुनियादारी का तो यही तकाजा है।"

"क्या सारा कुछ यह दुनिया ही है? मन का कोई अधिकार नहीं?"

अब मैं क्या बताता? इन दोनों में तालमेल नहीं इसीलिए तो दोनों में हाथा-पाई हो रही है। घोर द्वन्द्व है। ऐसा आदमी कहाँ मिलेगा, जिसके मन में संसार के विरुद्ध कोई युद्ध न हो। हो सकता है ऐसे भी हों, लेकिन कितने? इसीलिए तो रूप-अरूप का विवाद है, ज्वार-भाटा की तरह दोनों चढ़ते-उतरते हैं। फिर भी, मैंने कहा, "मेरे पास सभी प्रश्नों का उत्तर है, यह मैं कैसे कह सकता हूँ। जहाँ तक हो, दोनों को मिलाकर चलना ही बेहतर है।"

"मिलाकर?" झिनि की चंचल आँखें कहीं और दूर टिकी थीं। मैं उन आँखों की तरफ़ देखकर 'हाँ' नहीं कह पाया। मैंने अपनी आँखें फिरा लीं।

"मैं तो कभी भी दोनों को मिलाकर नहीं चल पायी"—झिनि की आँखें

कायाई पार वेणुवन की तरफ़ देख रही थी। मैं भी चुप बैठा रहा। उसके आहत स्वर से ऐसा जान पड़ा कि उसके अन्तर्मन की चिर आतुर अतृप्त-सी भावना मुखर हो उठी हो। मैं भी विपण्ण हो उठा। अजीब-सी पीड़ा जग उठी। मैं क्यों चारों ओर भटकता रहा हूँ...प्रान्त-प्रान्त और अब राढ़ प्रदेश के मेले में? इन्हें मिला पाया हूँ इसलिए, या कि मिला नहीं पाया, इसलिए? यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन्हें मिलाने के लिए ही। और सबसे अच्छा होगा कि यह प्रसंग अभी यहीं छोड़ रखा जाये।

जंगली बाँस की बौनी झाड़ियों और पेड़-पौधों के झुटपुटे में पक्षी चहचहा रहे थे। अचानक वेणुवन के पार से झिनि का स्वर लौट आया, "लोग कहते हैं, इसे जानो, उसे जानो, सबकुछ जान लो। लेकिन अपने को पहचानो—इस बात पर कोई ज़ोर नहीं देता। कितनी युक्तियाँ और तर्क जुटा-जुटाकर मैंने सोचा है, कई बार सोचा है कि गोसावा से आते-जाते किसी आदमी से हुई मुलाकात ही कितनी लम्बी थी या कि परिचय ही कितना था? फिर भी, जैसे देह पर लगा कोई दाग जीवनपर्यन्त नहीं मिटता, सम्भवतः मन भी कुछ वैसा ही भुगतता रहता है। यह कौन-सी चीज़ है, घाव है या दाग है, जिसको हटाया नहीं जा सकता, मिलाया या मिटाया नहीं जा सकता? बुद्धि की सीमा से परे या फिर किसी युक्ति से मुक्त। यहाँ तक कि..."

झिनि ने अपनी अधूरी बात के साथ मुझे देखा। मैं भी आँखें न हटा पाया। उसकी ओर देखता हुआ विस्मय में पड़ गया। उसके चेहरे पर कोई अवसाद नहीं, मानो वहाँ कोई रहस्य झिलमिला रहा हो। इस बार उसकी आँखों में आँसू छलक उठे थे। उसने धीमे किन्तु स्पष्ट स्वर में कहा, "किसे पता था कि यहाँ आकर मिलना सम्भव हो पायेगा। लेकिन पता नहीं क्यों मैं आश्वस्त थी कि मुलाकात होगी। रोज़ यही सोचती, कहीं-न-कहीं तो मुलाकात होकर रहेगी। और ठीक वैसा ही हुआ। पत्र का उत्तर न पाकर कई-कई दिन, एकान्त में मैंने अपने आँसू पोंछे हैं। सम्भवतः वे सच्चे आँसू न थे। इसीलिए कल आपको देख-कर मैं अपने को सँभाल न पायी।" अपना वाक्यांश पूरा कर झिनि धीरे-से मुसकरायी। उसकी आँखों में अब भी दो बड़े-बड़े मोती झिलमिला रहे थे। उसने उसे बिना पोंछे ही पूछा, "अब तो मैं सारा लाज-संकोच ही घोलकर पी गयी हूँ ...है न?" उसने हँसना चाहा ही था कि दोनों मोती गालों तक लुढ़क गये। उसकी यह अवस्था देखकर सचमुच बहुत दुखी था मैं। मेरी आँखों के सामने, मेरे हाथों की सीमा में इस दुर्वह संसार की छाया घनीभूत हो पड़ी थी और मैं विवश था। न कुछ कहने की स्थिति में और न कुछ करने को स्वतन्त्र।

झिनि ने बड़ी सहजता से अपने गालों पर घिर आये रूखे बालों को हटा लिया। फिर गले में बँधे रेशमी स्कार्फ़ से अपनी आँखें भी पोंछ लीं। फिर मेरी

ओर देखकर बोली, "ऐसा क्यों होता है ? आप बता सकेंगे ?"

अब मैं तो केवल इतना ही बता सकता था कि इस 'क्यों' का कारण मैं नही समझ पाता। मैंने अपना सिर हिला दिया।

"जो लिखते हैं, वह भी नही बता सकते ?" झिनि ने पूछा, "वे तो मनुष्य के भीतर को जान लेते हैं, उसके मन को पहचान लेते है।"

"यहाँ मनुष्य के मन को पहचानने की कोई बात नहीं। अपने को पहचान पाना ही जान पाना है। जो अपने को तनिक भी पहचान पाता है, वही दूसरे को भी कुछ अंशों में जान-पहचान सकता है। वस्तुत: मैं जो कुछ देखता हूँ वह अपनी ही आंखो से; अपने ही मन में विचार करके। अपने को देखकर ही दूसरे को पहचाना जाता है।"

झिनि एकबारगी लहरा उठी। उसकी गर्दन लचक गयी। उसका चेहरा मेरे और निकट आ गया। वह अपना सिर नीचे किये पता नही, अपने आवेग को संयमित करती हुई धीमे स्वर में बोली, "स्वय को देखकर क्या मेरे बारे मे कुछ भी नही कहा जा सकता ?"

उसकी ओर देखते हुए हालांकि मैं अपने को बडा असहाय-सा महसूस कर रहा था फिर भी, मैंने उत्तर दिया, "स्वयं को उस रूप में पहचान ही कब पाया ?"

"तो फिर एक बात पूछूं ?" झिनि रुँधे स्वर में बोली।

मैंने सिर हिलाकर स्वीकृति दे दी। उसने और भी निकट आकर पूछ लिया, "इससे क्या कोई अपराध हो जायेगा ?"

मैं तत्काल कोई उत्तर दे न पाया। केवल उसके चेहरे की तरफ़ ही अपलक अवाक् देखता रहा। उसका कण्ठ-स्वर और भी धीमा हो आया, जैसे बहुत दूर से कोई हवा का झोंका तिर आया हो, "जिसके लिए कोई युक्ति नही जानती या जुटा पाती, उसके लिए किसी तरह का अन्याय क्या अपराध हो जायेगा ?"

मैं आंखें हटा न पाया—"मैं यह नही जानता।"

"मैं भी तो नहीं जानती।" उसका स्वर आर्त्त हो उठा, जैसे डूब ही गया। एक ही क्षण में, मेरे पाँव मे किसी का कोई स्पर्श जगा। मैं चौंक पड़ा। आँखें नीची करने के पहले ही मैं समझ गया कि झिनि ने अपने एक हाथ से मेरा एक पाँव पकड़ रखा है। उसका चेहरा झुका हुआ। मैंने अपने पाँव पर रखे उसके हाथ पर अपना हाथ रख दिया और कह उठा, "सुनिए।"

मुझे नहीं लगा कि वह मेरी बात सुन पायी। वह धीरे-धीरे अपना सिर हिलाती रही। कुछ बोली नही। मैंने फिर एक बार कहा, "सुनिएगा !"

"क्या ?" उसने बहुत ही धीरे-से पूछा और फिर अपना सिर उठाया। लाज से छिपा चेहरा अब तरल नही, उसका रंग जैसे धूप में नहाये अड़हुल के

फूल की तरह खिल उठा था। उसने उसी तरह धीमे और अस्फुट स्वर में पूछा, "गुस्सा आ रहा है ?"

"नही।"

"भय ?"

"उँ...हूँ।"

"तो फिर थोडी देर इसी तरह बैठी रहूँ !"

मैं ठीक-ठीक समझ नही पाया कि यह वही अलका चक्रवर्ती है, दर्शन-शास्त्र की विदुषी, सम्भ्रान्त नागरिक ! या फिर यह कोई दूसरी ही युवती थी, जिसका परिचय मुझे प्राप्त नही और जिसकी आँखों की अतल गहरायी से कोई सरल और लाजभरी मुस्कान, सुख-दुख के साथ आँखमिचौली खेल रही है !

न तो मैंने क्रोध ही किया था और ना ही भयभीत था। बस, संकोच से गड़ा जा रहा था। इतनी दूर तक किसी स्थिति को सहन कर पाना सम्भव न था, इसलिए पुकारना पड़ा। मुझे लगा, मेरा इस तरह पुकारना उसे रास नहीं आ रहा। इसीलिए तनिक विह्वल भाव से पुकारना पड़ा—"झिनि देवी !"

"ओह !" वह अचानक इस तरह सीधी होकर बैठ गयी, मानो कही कोई कांटा चुभ गया हो। इसके बाद आँखों में झिलमिला आये आँसुओं को बिना पोछे ही वह मुसकराकर बोली, "आपकी शब्दावली भी सचमुच बड़ी विचित्र है, 'झिनि देवी !' झिनि भी कही कोई देवी होती है ? इसे ही कहते हैं गुरु-चण्डाली भाषा दोष।"

मैंने जल्दी से सुधार लिया, "तो फिर अलका...!"

"जी नही, देवी की कोई गुंजाइश नही, न तो झिनि मे और न अलका मे ही।" और उसने गले मे बँधे स्कार्फ से अपनी आँखो और गालों को पोंछ लिया। फिर किसी छोटी सी लडकी की तरह रूखे बालों को झटका देकर कहने लगी, "और आपके लिए अलका नाम लेने की भी मनाही है। मैंने इसीलिए चिट्ठी मे झिनि लिख भेजा था। यही नही, अगर आपने झिनि के साथ 'तुम' नही लगाया तो फिर आगे कुछ कहने की जरूरत भी नही।"

साथ ही, उसने अपनी गर्दन को कुछ इस तरह से झटक दिया कि इन दो दिनों मे जो भी बातें हुई थी या जो रोना-धोना, रूठना-मनाना हुआ था, वह सब ध्वस्त हो गया। उस दक्षिणी नदी से लेकर इस राढ़ प्रदेश तक परिचित इस कन्या को पहचान न पाने की विडम्बना ! अब इसे विदुषी कहा जाये, नागरिका कहा जाये या आधुनिका ? इन सारी श्रेणियों को पारकर अब वह

एकमात्र युवा कन्या थी...चिर कन्या ! चाहे जिस भी रूप में वह प्रकट हो, वह अद्वितीय-रूपा ही कहलायेगी, जिसके रूप की कोई परिणति नहीं, कोई सीमा नही। मैं किसी ब्राह्मण पण्डित की तरह किसी नायिका के रूप का वर्णन नहीं करना चाहता, मैं तो उसके विविध रूपों में से एक की बात कर रहा हूँ, जिसको देखकर भी 'नैन न तिरपित भेल।' इन अतृप्त नयनों के सामने उसी रूप को देखकर मैं स्तब्ध था। मेरी वाणी रुद्ध हो गयी थी। मैं बड़े कौतूहल से उसके होठो पर खेल रही मुसकान को देख रहा था, कोई अपरिचित-सी मुद्रा को, जिसे मैं पहले नही देख सका। यह वही प्रकृति थी, जिससे विमोहित होकर पञ्चशर पुष्पधन्वा उद्धत हो जाता है।

उसने फिर आंखों-आँखों में ही पूछा, "स्वीकार है ?"

"हाँ," मैंने हामी भरी।

"डर-डर कर ?"

नही, निडर होकर।"

"आवाज तो अब भी दबी हुई है।"

"कैसी ?"

"भर्राई-सी।"

"यह मेरे गले का ही दोप है।"

झिनि मुसकरायी, फिर हँसने लगी। हँसते-हँसते अचानक खिलखिला पड़ी, जैसे किसी की कलाई की चूड़ियां एकबारगी झनझना उठी हों। एक ओर उसकी नुकीली, तीखी मुसकान और फिर फड़फड़ाते नथुने। उसकी मुसकान खिल उठी—"स्वभाव में तो कोई दोप नहीं ?"

मैंने भी मुसकराकर उत्तर दिया, "हो सकता है।"

"आश्चर्य तो इस बात का है कि मैं इस तरह की बातें नही सीख पायी।"

"किस तरह की ?"

"लेखकों-जैसी।"

"क्यों ?"

"सबकुछ लेखनी की तरह, एकदम रेडीमेड।"

"क्यों, मैं तो ऐसा कुछ..."

मैं अपनी बात खत्म भी नही कर पाया था कि वह फिर हँसकर बोली, "कुछ भी समझ नही पाती। सबकुछ सच-सा ही जान पड़ता है। कोई भी सुन ले तो यह नही समझ पायेगा कि यह सब केवल बेबात की ही बात है।"

"क्यों, बेबात की बात क्यों ?" मैंने आपत्ति की।

"तो क्या सोलहों आने सच है ?"

मैं अपनी हँसी रोक नहीं पा रहा था और यह भी जताना चाहता था

कि यह सब झूठ क्यों होने लगा ? लेकिन इसके पहले ही झिनि बोल उठी, "इस तरह फँस जाने पर तो दिनभर में पता नहीं, कितनी झूठी बातें बनानी पड़ती होंगी ।"

मैंने फिर प्रतिवाद किया, "अरे नहीं, ऐसा क्यों होने लगा ?"

झिनि चुप हो रही । लेकिन वह अब भी मेरी आँखों में कुछ टटोल रही थी । मैं हँसना चाहकर भी हँस पाने का साहस नहीं जुटा पाया । उसने जैसे चुटकी ली, "सचमुच, आपको सफ़ेद झूठा कहने को जी करता है ।"

"ठीक है । जो जी मे आये, कहो ।"

झिनि ने आँखें झुका लीं । उसकी मुद्रा गम्भीर हो गयी । उसने धीरे-से अपनी गर्दन हिलायी और कहा, "नहीं । फिर तो थोड़ी-सी भी आशा नहीं जुटा पाऊँगी ।"

मैं भी, इसके बाद, कोई उत्तर दे न पाया । झिनि गहरी उसाँसें भरने लगी थी । हवा के झोके झुग्गी, झोंपड़े, झाड़ियों और घास के साथ-साथ पेड़ों की पत्तियो से खेल रहे थे । सूखे पत्ते टूट-टूटकर बिखर रहे थे । लगा, जैसे कोई बहुत ही गहरी उसांस भर रहा है । कहीं दूर से अस्फुट-सी आवाजें आ रही थीं—अस्पष्ट, टूटी-फूटी, अधूरी-सी । मैंने झिनि की ओर देखा और फिर दूर कोपाई की ओर देखता रहा । झिनि भी उसी स्रोतस्विनी की तरह अपनी ही प्रवहमानता मे बहती-मचलती धारा-सी लगी जिसे चाहकर भी लौटाना मुश्किल था । लेकिन अब तो लौट चलने के बारे में कहना ही था । थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद मैंने कहा, "तो फिर लौट चले ।"

झिनि ने मुड़कर देखा और फिर मुँह मोड़ लिया और चुप बैठी रही । जो जैसा है, वैसा ही रहे । उसने उसी तरह पूछ लिया, "मुझे देखकर कैसा लगा ?"

कुछ बताना न चाहकर भी मैंने बताया, "अच्छा ।"

झिनि के होठों पर अविश्वास और विषण्णताभरी मुसकान थी । आँखों की चमक भी गायब थी । उसने फिर छेड़ते हुए कहा, "आप इतने उदासीन क्यों हैं ? मेरे बारे में कुछ बताने को जी नहीं करता आपका ?"

मै उसकी बात सुनकर सचमुच अचरज से भर उठा । जी मे तो यही आया कि यह लड़की कैसी निर्लज्ज है, नागरिका नहीं, नागरी । शायद यही कहकर मैं अपनी बात पूरी कर पाता । अपनी इस धारणा को व्यक्त करना चाहकर भी अचानक लगा कि उसके चेहरे पर विषाद की कोई गम्भीर-सी छाया है । और अब उसे नागरी कहते हुए जीभ गल जायेगी । वहाँ कोई स्वच्छन्द निर्विकार या कि उच्छृंखल भाव न था । यद्यपि झिनि कोई झलक नहीं दिखाना चाह रही थी, तथापि मेरा मन कहीं से विह्वल हो उठा था । जो मुझसे किनारा कर लेना चाह रही थी, अचानक स्वय खड़ी हो गयी थी । मैंने उससे अबतक जितना

कुछ सुना था, उससे कहीं अधिक सुनने को शेष रह गया था। और इसी अनकहे ने इतना कुछ ढाया था।

मैंने जल्दी से पूछ लिया, "तुम जानना चाहती हो!"

उसकी आँखों में फिर कोई चमक कौंध गयी। होंठों पर कोई मुसकान-सी खिल गयी। कुछ क्षणों के लिए वह कहने और न कहने के असमंजस में पडी रही। फिर बोली, "आपकी बातों से सच-झूठ का पता तो चलता नहीं। लेकिन मुझे कुछ कहने की इच्छा हो रही है।"

इसके साथ ही उसने अपनी गर्दन झुका ली और घास नोचते हुए कहने लगी, "आपको पता है, मैं विधवा हूँ?"

यह कोई बहुत बडी बात न थी। लेकिन मुझ-जैसे अनजाने के लिए सारा कुछ एकबारगी अनूठा और रहस्यपूर्ण हो उठा। उस दक्खिनी नदी की धार से लेकर इस कोपाई के किनारे तक, कभी भी इस तरह की बात नहीं आयी। इसलिए मैं केवल चमत्कृत ही नहीं, आहत भी हो उठा था। कौन था यह और कहाँ से बींध रहा था, मैं जान न पाया। यह कोई ऐसी-वैसी युवती नहीं, जो इस तरह का मजाक कर बैठे। न तो मैं उसकी बात पर विश्वास कर पाया और न कुछ कह पाया। बस, चुपचाप उसकी ओर देखता रहा।

झिनि ने भी तत्काल कुछ नहीं कहा। न आँखों में आँसू, न प्लावन, न क्रन्दन। उसने अपनी बात तो शुरू की थी लेकिन अब रुक गयी थी। कहनी-अनकहनी के द्वन्द्व में पडी घास दुलराती रही।

मैं उसकी ओर नयी दृष्टि से देख रहा था। चौबीस-पच्चीस साल की युवती ...मैं देखना चाह रहा था कि उसके शरीर पर वैधव्य की कोई पहचान बनी है या नहीं। मैंने दक्खिन की नदी में जिस युवती को देखा था, उससे तो भिन्न यह लडकी नहीं। स्वास्थ्य भी यथावत् था और उन्मत्त यौवन की अपेक्षा उसकी देह-दीप्ति कहीं अधिक कमनीय थी। अंग-प्रत्यंगों में वही ज्वार, रंगभरा उमंग। बस, आज की सुबह ही, वह तनिक उखडी-उखडी-सी लगी थी। फिर भी, उसके अन्दर से मैंने किसी दूसरे को उभरते हुए देखा था, जिसकी चकित दृष्टि में कोई पञ्चशर विराज रहा था और जिसकी लक्ष्य-भेद सीमा के निकट मैं सिर झुकाये खडा रहा था। इस बीच मैं उसके वैधव्य का कोई भी लक्षण रेखांकित नहीं कर पाया।

अचानक मुझे उसके माता-पिता की याद आ गयी। उसके पितामह की बातें, हेनरी का कारावास। ब्रह्मनारायण चक्रवर्ती के पारिवारिक जीवन में व्याप्त विषादपूर्ण अन्धकार, जिसमें यह सबसे अधिक प्राणविदारक घटना थी। ...असह्य।

इतनी देर के बाद झिनि ने आँख उठाकर देखा।

मैंने पूछा, "सचमुच ?"

उसके होंठों पर फिर एक हल्की-सी मुसकान खेल गयी, "इस बात को लेकर कोई लड़की झूठ बोल सकती है ?"

मैंने जल्दी से कहा, "नहीं...कुछेक महीने पहले जब हमारी मुलाकात हुई थी, तब तो ऐसा कुछ सुना न था।"

"बताता कौन ?" झिनि ने अपनी आँखें उठायीं और उसी सहजता से बताती रही, "बाबा-माँ को भी इस बारे मे कुछ पता नहीं।"

मैं स्तब्ध रह गया। मेरी मति विभ्रान्त हो गयी। इस संसार में इतना विस्मय है, इतनी अविश्वासपूर्ण घटनाएँ...एक साथ ! किसी ने सुनी भी न होंगी। मैंने कहा, "मैं कुछ समझ नहीं पाया !"

झिनि ने आगे जोड़ा, "वे मेरे विवाह के बारे में भी नहीं जानते थे, इसलिए इस घटना को भी नहीं जानते।"

मैं आश्चर्यचकित हो अपलक दृष्टि से झिनि की ओर देखता रहा। उसकी बातों पर कौन-सा आवरण पड़ा था ? झिनि की दृष्टि पर भी कोई धुन्धभरी धूप फैली थी। वह सकोच के साथ बोली, "मैं माँ-बाबा को वह बात बता न पायी।"

यह रहस्य उसके अन्तर के नितान्त एकान्त मे ही पलता रहा था जो अब तक किसी निष्कलुष वनफूल की पखुरियों से ढँका पड़ा था। धीरे-धीरे वह कोहरा छँटता गया...और मैं सुनता रहा कि...

उससे दो साल बड़ा एक लड़का उसका सहपाठी था। वह उसे कैसे भा गया, मैं यह प्रश्न पूछ न पाया। सहपाठी होने के उपरान्त भी वह झिनि की तरह लिखने-पढ़नेवाला न था। कलकत्ता की किसी पुरानी और बड़ी-सी हवेली में उसका निवास था। उसके कोई आत्मीय न थे। वहाँ किशोरी झिनि की पीठ पर वह किसी राजपुत्र की तरह, किसी वाहन पर सवार होकर नहीं आया था और ना ही मनोहर रूप धारे उसे लुभाने। वह किसी शक्तिशाली, दुर्दान्त और निरकुश राजवंश की ठण्डी रक्तधारा से निसंग दुर्बल पुत्र की तरह था—अवशिष्ट या क्षेपक। उसके चतुर्दिक् जब स्वार्थान्ध, कुटिल और प्रपञ्ची लोग जुड़े थे, तब उसके यौवनकाल में, एकमात्र झिनि ही ऐसी थी, जो सारे अंधकार को चीरकर किसी नक्षत्र की तरह झिलमिला उठी थी। झिनि के शब्दों में, "उसकी बुझी, डूबी और अविश्वासपूर्ण मुखमुद्रा को देखकर कोई उससे बातें नहीं करना चाहता। सभी यही समझते, वह हँसना नहीं जानता, किसी से घुलमिल नहीं सकता।"

लेकिन ससार में ऐसे भी लोग हैं, जो कहीं दूर...किसी जलाशय की तरह छिपे रहते हैं। जबतक कोई दूसरा वेगवान प्रवाह आकर उसे समो नहीं लेता,

वह नहीं मिल पाता। उसकी हँसी कुछ अलग-सी थी। अपने को विशिष्ट बनाये रखने के अभिमान ने उसे सबसे काट फेंका था। उसकी हँसी की कुंजी लोगों के सामने ही पड़ी थी, लेकिन अवमानना से लिपटी। उसपर किसी की दृष्टि न थी। अकेला होने के कारण, वह दूसरों को भी अपनी ही तरह का समझता था। दूसरे भी यह नहीं समझना चाहते थे कि उसके भीतर भी कोई सामान्य लड़का छुपा हुआ है।

और वह एक सरल-सा लड़का ही तो था। उम्र कोई अधिक नहीं। पढ़ने-लिखने में जितनी रुचि थी, उतनी ही पढ़ाई-लिखाई कर पाता। दूसरे विषयों में भी वह कुछ सनकी-सा ही था। ज़िद्दी। लेकिन जो उसे चाहता हो, ऐसा कोई नहीं। सब उसे वसूलना ही चाहते। इसलिए उसे जब ऐसा ही कोई मिला, जिसे वह सचमुच ही ढूँढ़ रहा था तो उससे भी उसने सबकुछ वसूल लेना चाहा।

झिनि मुसकरा रही थी। उसकी दृष्टि कोपाई के उस पार खोयी हुई थी—किसी दूसरी ही दुनिया में। फिर बताती रही, "वह जो चाहता, उसे तत्काल पाना चाहता। उसकी इस ज़िद से मैं घबरा उठती और इस सनक के आगे कभी-कभी असहाय-सी हो उठती। ऐसा न था कि वह कोई हुकुम चलाता बल्कि बच्चों की तरह हँसकर, खीजकर और हाथ-पाँव पटककर अपनी बात मनवा लेता। और मेरे पास उसकी बात मानने के अलावा कोई चारा न था। हालाँकि मैं कभी-कभी उद्विग्न और विरक्त हो उठती। उस समय मेरे तन-मन में आग-सी लग जाती। और इसी तरह उसने एक दिन विवाह का प्रस्ताव रखा था। इसमें मेरे माँ-बाबा की सहमति तो बहुत दूर की बात थी, हम दोनों के इस प्रेम-परिचय के बारे में भी जो मित्र जानते थे, उन्होंने भी अपनी अनिच्छा व्यक्त की थी। उनके लिए यह बड़ा ही नाशुक्रा, असहज और दुर्बल-मना था। शायद इसलिए कि उसे इनमें से कोई समझ न पाया था। माँ-बाबा के लिए भी वह कुछ वैसा ही था अस्वाभाविक, अस्वस्थ। हमारे समाज में जाति और वर्ण-भेद की बात भी तो कोई नहीं भूल पाता। इस दृष्टि से भी हम एक न थे। इसीलिए किसी से भी कुछ कहने का साहस नहीं जुटा पायी।

"तो भी विवाह सम्पन्न हो गया। शहनाई बजाकर या मण्डप सजाकर नहीं। ऐसा सम्भव भी न था। इसलिए कानून की शरण में जाना पड़ा, कागज-कलम और गवाही के बीच। जिन तीन जनों ने गवाही दी थी, वे आज छातिमतला के मेले में भी संगी हैं, राधा, लिलि और शुभेन्दु।"

उस समय झिनि यही सोचती रही थी कि एक दिन वह अपने माँ-बाबा और भैया को इस बारे में बतायेगी। लेकिन इसके बाद ही, भैया की उस प्राण-घाती दुर्घटना के फलस्वरूप किसी को वह कुछ बता न पायी। और इसके साथ

ही, वह भी चल बसा। इन दोनों मौत के बीच केवल नौ महीने का अन्तराल। भैया की मृत्यु के बाद, कुछ कहने का या होंठों पर बुदबुदाने का भी साहस न रहा। झिनि अब भी उसी कष्ट और संकट में फँसी है और उस दिन की प्रतीक्षा मे है, जब कुछ कह पायेगी।...

झिनि का सिर झुका हुआ था। वह घास को देखकर जैसे मुसकरा उठी और कहने लगी, "अब तो आप समझ ही गये होंगे कि शुभेन्दु मुझसे क्या चाह रहा है ?"

मैं कुछ न कह पाया। उसकी अतीत की घटनाओं में मैं अब भी कहीं फँसा था। जितना कुछ सुन पाया था, उसे न तो ठीक-ठीक समझ ही पाया और न ही उससे उबर पाया। मैंने इतना ही कहा—"हाँ।"

"इसके लिए मैं सारा दोष शुभेन्दु को ही नहीं देती। हो सकता है, उसने अपनी समझ से ठीक ही सोचा है। लेकिन मैं ऐसा नहीं सोच पाती। क्यों, यह भी नहीं जानती। यदि वैसा कर पाती तो अच्छा ही होता। मैं कुछ इस तरह छिटककर दूर जा पड़ी हूँ कि अपने को उन सबके साथ जोड़ नहीं पाती। कट-कर रह गयी हूँ।"

झिनि चुप थी। मैं एक ऐसी विचित्र-सी विधवा देख रहा था, वैधव्य ने जिसका स्पर्श नहीं किया। उसके चतुर्दिक् यमुना की कोई ऐसी धारा बह रही थी, जिसकी तरफ़ वह किसी अभिसारिका की नाईं, बग़ल मे गगरी दबाये चिर-अभिसार-पथ पर चली जा रही हो। उसकी बातों और मुसकान में, उसी इकतारे की प्रेमभरी झनकार थी, जो कभी उसके यौवनकाल में बजी थी।

मैंने देखा फिर कोई कलमुँही, कुलकलंकिनी राधा रानी प्रेम-यमुना में कृष्णाभिसार के लिए निकल पड़ी है। लेकिन उसकी यातना और प्रताड़ना को कौन समझ पायेगा। इतने दिनों की यात्रा...और गागर का बोझ लिये वह कब तक धूल फाँकती रहेगी ! उस घाट का किसे पता है ?

मैं इस विवाह-वैधव्य का संवाद सुनकर भी कहीं खोया हुआ था। इसका रहस्य समझ न पाया। किसी समाचार के भीतर जो घटनाएँ रहती हैं, वही सबकुछ नहीं होती। नदी केवल तरंगों में ही नहीं, उसके अन्तर में प्रवाहित जलधार को कौन खींच रहा है—किसे पता है !

"इसके बाद ?" मैंने पूछा था।

झिनि ने मुड़कर देखा और मुझसे ही पूछ लिया, "किसके बाद ?"

मैं उसके प्रतिप्रश्न का तत्काल कोई उत्तर नहीं दे पाया। केवल उसकी

आँखों की ओर देखता रहा और वह भी आँखें झुकाकर जाने क्या सोचती रही ! फिर बोली, "नहीं जानती । बस, इतना ही कह सकती हूँ कि मुझे उसकी याद आती रहती है । जबकि मैं इतना भी नहीं समझ पाती कि 'तब की मैं' कौन थी, इतनी बेबस क्यों हो गयी थी ? ऐसा क्यों होता कि केवल उसी के आसपास पड़े रहने की इच्छा होती—यह समझ ही न पायी। प्रेम ही था शायद ?"

यह उसने अपने अन्तर से ही पूछा था । थोड़ी देर चुप रहने के बाद कहने लगी, "नहीं जानती। कुछ नहीं जानती । सारी घटनाओं को मन में अच्छी तरह सँजो भी नहीं पाती। सबकुछ धुँधला और अस्पष्ट-सा है । पता नहीं, क्याकुछ हुआ और घटित होता चला गया...न जिसका ओर है न छोर..."

उसकी बेबसी और असहायता ने मुझे बींध रखा था । किसी अमूर्त पीड़ा से ग्रस्त हो, मैं कोपाई के उस पार देख रहा था । मन-ही-मन यही दोहरा रहा था : अभागिनी की तो यही सही यात्रा है । वह चली है ख़ाली गगरी भरने । उसकी यही जिद है...रट है कि वह इसे 'भरने चली है ।' 'इसके बाद क्या हुआ,' वह क्या बताये, कैसे बताये ?

"मैं बुरी हूँ ना...?" उसने चौंकानेवाला प्रश्न किया ।

उसका यह प्रश्न सुनकर मैंने उसकी ओर तककर कहा—"नहीं तो।"

झिनि के चेहरे पर कोई रंगभरी मुसकान खेल गयी । मैं यह पूछना चाहता था कि आखिर शुभेन्दु का अपराध क्या है ? जो जिसे चाहे, बाजी उसी के हाथ लगती है । इसमें कौन अपराधी है, कौन नहीं—इसका विचार कौन करे ? मैं झिनि की ओर देखकर यह समझ पा रहा था कि वह एक अबूझ पहेली है । उस समय मुझे फिर एक बार ऐसा लगा कि मैं जिसकी खोज में भटक रहा हूँ, आखिर वह कौन है ? मैं जिसका नामधाम नहीं जानता । और मैं मनुष्य को पहचानता ही कितना हूँ ? उसे कितना देख-समझ पाया हूँ ? इस बन्द दरवाज़े की चाबी भी मेरे पास नहीं । हालांकि, मैंने कोई हलफ़नामा नहीं उठाया कि मैं आदमी देखने या पहचानने ही निकला हूँ । फिर भी, सभी के आस्वाद में सम्मिलित हूँ । मैं जैसे स्वयं ही हाला होकर नशे में तिर रहा हूँ । ऐसा लगता है, यही परम काम्य है ।

झिनि ने ऐसा क्यों कहा कि यह उसका अपना संसार है । या कि मैं अपने पंख समेटकर फिर कहीं उड़ जाऊँगा ।

उसने अचानक अपना सिर उठाया और पूछा, "क्या कहा ?"

"यही कि चलना चाहिए अब" मैंने प्रस्ताव रखा ।

"आपको जल्दी है ?"

मुझे नहीं, बीच आकाश में चमकते सूरज को जल्दी थी । या फिर कलाई में बँधी घड़ी उतावली रही । लेकिन झिनि को यह बताना बेकार था । वह

उठना नही चाहती शायद। उसने एक बार घड़ी के काँटो की ओर देखा और बोली, "वह सब तो हमेशा देखते ही रहना है। लेकिन मेरी बातें सुनकर आपको कैसा लगा—यह तो आपने बताया नही।"

"हाँ, ऐसी बातें मैंने कभी नही सुनी।"

"बकवास है, बुरी है...हैं न ?"

"इसमे अच्छा बुरा क्या है, मैं नही जानता।"

"फिर ?"

न चाहते हुए भी बताना पड़ा—"कष्ट होता है।"

झिनि ने अपना मुँह मोडने के पहले मेरी ओर देखा और थोड़ी देर चुप बैठी रही। फिर चेहरा घुमाकर बोली, "चलिए...।"

मैंने देखा, उसकी आँखें सजल हो आयी थीं। वहाँ कोई अवसाद तो न था लेकिन हल्की-सी लाली तिर रही थी। कोपाई के उस पार देखते हुए उसने पूछा, "वहाँ धुआँ क्यो उठ रहा है ?"

वहाँ, ऐसा घना जगल न था कि मैं उसे दावानल बताता। बाँसझाड़ गाँव के उस पार से धुआँ उठ रहा था इसलिए मैंने कहा, "किसी ने आग जलायी होगी।"

"चलेंगे देखने...?"

"लेकिन यहाँ तो काफी गहरा पानी है, उस पार जाना सम्भव नही।"

धुएँ की ओर देखती-देखती झिनि मेरे आगे-आगे चलने लगी, वही जिधर से हम आये थे। फिर बोली, "जहाँ से सभी पार होते हैं, हम वही से पार होंगे।" और वह किसी नन्ही-सी लड़की की तरह हँस पड़ी। उसकी सजल आँखों मे कौतूहल और अनुराग की विचित्र छटा थी। उसने अपना लाल रूमाल कलाई में लपेट लिया था। खुले बाल पीठ पर लहरा रहे थे। गाल फुलाकर कहने लगी, "मैं वहाँ जाऊँगी...।"

वह अपनी इस भगिमा से यह बताना चाहती थी कि मैं बाद मे आपत्ति न कर सकूँ। मैं वापस किसे लिये चलता ? अबूझ को कैसे समझाया जाये ? बिना पतवार की नाव मोड़ी नही जा सकती। लेकिन लोक-समाज की प्रवाहित गंगा मे झिनि ने जाने-अनजाने मुझे सहयात्री बना लेना चाहा है, यह मैं उसे किस तरह समझाता ? उसे किस तरह लौटाता ?

बलुवाही ढलान पर पाँव रखते ही, हँसी मे डूबी कोई रसीली आवाज सुनाई पडी —"अरी ओ दीदी मणि ! कहाँ चली ?"

झिनि के पाँव थम गये। मेरे भी। कोपाई के उस पार जहाँ कँकरीली जमीन की सीढ़ियाँ उतरा आयी थी, सँकरे घाट पर गोकुल की प्रकृति, बिन्दु बाउल काँसे के बर्तन माँज रही थी। उसके पास ही, सुजन बाउल मिट्टी की

हाँड़ी पर लाल माटी का लेप चढ़ा रहा था। उसकी काली और सुडौल देह पर एक गेरुआ चादर था और नीचे एक गेरुआ टुकड़ा। सिर पर जूड़ा।

बिन्दु भी लाल किनारीवाली गेरुआ साड़ी में थी। गर्दन पर बँधे बाल। दोनों बड़ी उत्सुकता से इधर देख रहे थे। खिलखिलाने पर उनके दाँत चमक उठते। झिनि ने भी हैरत से पूछा, "तुम दोनों यहाँ क्या कर रहे हो?"

"वनभोज की तैयारी, दीदी मणि। तुम लोग भी आ जाओ," बिन्दु ने आग्रह किया और फिर सुजन की ओर देखकर हँसने लगी। सुजन ने तब मेरी ओर देखा और सिर झटककर बोला, "आइए बाबाजी! बाबा-माँ भी यहीं हैं।"

अर्थात् गोपीदास और वृद्धा राधा। झिनि के चेहरे पर कोई उत्तेजना-सी दौड़ गयी। उसका अंग-प्रत्यंग नाच उठा जैसे, "चलिए...।"

उन लहरों को सँभाल पाना सचमुच कठिन हो गया। और अब तो और भी मुश्किल। धुआँ, फन्दा बन गया। बाँसझाड़ की ओट में बाउलों के वनभोज की तैयारी? लेकिन ये सब तो छातिमतला मेले के आमन्त्रित अतिथि हैं। वहाँ से यहाँ...जंगल में क्यों?

"आइए दीदी मणि," बिन्दु ने फिर पुकारा।

दीदी मणि पागल हरिणी की तरह चौकड़ी भरने लगी। वह ढलान पार कर कोपाई की धार में उतर आयी। उस पार से सुजान चिल्ला उठा—"ओह, हो, यह क्या कर रही हो दीदी मणि...वहाँ से नहीं आ पाओगी...वहाँ भर डूब पानी है।"

बिन्दु भी अपनी साँवली काया के साथ लहराकर बोली, "क्या डूब जाना चाहती हो...?"

'हाँ, अगर गोताखोरी आती हो तो और बात है।"

बिन्दु ने हँसकर कहा, "अरे जिसे डूबना है, उसे गोताखोरी से क्या लेना-देना? आपको पता हो तो ओ दीदीमणि...वहाँ...उधर से घूमकर आइए...।"

उसकी बातों में कोई रहस्यभरा अँधेरा-उजाला था। बिन्दु ने मेरी ओर देखते हुए अपने होंठों को भींच लिया और बोली, "अरे बाबाजी, आप दीदीमणि को साथ लेकर घाटवाले रास्ते से इधर आ जाइए।"

वही, आम रास्ता, जहाँ एड़ीभर जल था। वहीं से मनुष्य, जानवर और सवारी-गाड़ियाँ पार होती थीं। और वहीं तो हमारा किला खड़ा था।

झिनि की साड़ी फड़फड़ा रही थी। बाल उड़ रहे थे। उसने मेरी तरफ मुड़कर पुकारा—"चलिये...!"

हम नीचे उतरते हुए घाट तक आ गये। मुझे डर था, कहीं इस कोपाई की राह में कोई दुर्घटना न घटित हो जाये। लेकिन उसकी गति को रोकना भी मुश्किल था और इधर अपने पाँव पीछे हटाना भी मुश्किल। बिल्कुल [illegible]

...ए, ऐसी यात्रा थी मेरी। झिनि एड़ीभर पानी में खड़ी थी। उसने पीछे मुड़कर पुकारा—"आइए न !"

हम दोनों साथ-ही-साथ नदी पार करने लगे। रिक्शा वहीं पड़ा था। रिक्शेवाले का पता नहीं। कोपाई की धार की तरह कहीं खो गया था। नदी पारकर हम दाहिनी ओर आये। सुजन और बिन्दु अपना काम निपटाकर खड़े थे। सुजन के हाथ मे माटी की लेप-चढ़ी हांडी और बिन्दु के हाथ में कांसे की चमचमाती थाली और कटोरियाँ। बिन्दु ने तिरछी मुसकान के साथ पूछा, "घूमने आये हैं शायद ?" उसका प्रश्न झिनि से था। चलते-चलते एक बार लचक गयी जैसे।

"हाँ," झिनि ने बताया और मेरी तरफ़ देखने लगी।

"आप लोग छुट्टी में आ गये, ठीक ही किया।" बिन्दु की बातों का आशय बहुत अस्पष्ट न था। झिनि का चेहरा दिप गया। फिर भी उसने कहा, "कोपाई देखने आयी थी।"

बिन्दु की आँखें आश्चर्य से फैल गयी, "लेकिन आपने कोपाई देखी कहाँ ?"

"क्यों ? यही तो रही वह नदी।" झिनि ने हैरत से कहा।

बिन्दु तत्काल बोल उठी, "ओ माँ... यह कोपाई है ! यह तो जमुना है दीदीमणि। कहिए, जमुना की धार पे आई हैं।" कहती हुई उसने कनखियों से मेरी ओर देखा और खिलखिला उठी। अचानक सुजन भी जमुना की महिमा का बखान गुनगुनाने लगा। मैं एक ही क्षण में कोपाई-जमुना का आशय समझ गया। बिन्दु केवल बाउल प्रकृति ही नहीं, मायाविनी है। उससे आँखें मिलते ही मेरे चेहरे का रंग भी बदल गया।

झिनि अब भी बुझौवल में फँसी थी। कुछ समझी नहीं। उसने आँखें उठाकर मेरी ओर देखा और फिर कुछ समझकर बुरी तरह झेंप गयी। उसका सजीला चेहरा और चकित नैन—उन पर बड़ी-बड़ी पलकें झुक आयी। कुछ कह न पायी। और मैं चाहकर भी मुसकरा न पाया। सभी किसी ओर बढ़ते चले जा रहे थे, कहाँ ? कुछ पता नहीं। मैं अचानक रुका ..कहाँ जा रहा हूँ ? इस यात्रा का गन्तव्य कहाँ है ? मेरी मुसकराहट को इस अँधेरे ने ग्रस लिया था। इन्हें यह बात कैसे बताऊँ ? अचिन'दा तक को नहीं समझा पाया। अचानक बिन्दु ने पीछे मुड़कर देखा और गुनगुना उठी, 'सखी... राधारानी डूब गयी... जमुना जल में।'

झिनि सिर झुकाकर चली जा रही थी, लड़खड़ाती हुई-सी। अचानक ठोकर खाकर वह गिरने को ही थी कि बिन्दु ने उसका आँचल थाम लिया और बोली, "ज़रा देखकर दीदीमणि।"

तभी झिनि ने बिन्दु का हाथ थाम लिया और जैसे शिकायत के स्वर में बोली, "दीदीमणि नहीं, झिनि दीदी।"

"अच्छा तो फिर दीदी ही सही...मेरी झिनि दीदी।" और उसने अपनी गर्दन मोड़कर, मेरी तरफ़ देखकर अपनी बात पूरी की, "गोसाईं के ऐसे चेहरे पर हँसी न खिले तो कुछ अच्छा नहीं लगता, दिदिया।" उसका संकेत मेरी ओर ही तो था। मैं हँस पड़ा।

तभी सुजन बोल उठा, "बिन्दु, अगर ऐसा है तो फिर जान रखो, जो खाँटी गोसाईं होते हैं, वे मन-ही-मन हँसते है।"

उसकी बात सुनकर बिन्दु ने मेरी ओर देख लिया। अचानक सुजन जोर से पुकार उठा, "बाबा...देखो, मैं किन्हें लेकर आया!"

बाँसझाड़ का एक जंगली कोना था वहाँ—थोडा खुला-सा एकान्त। उत्तर-पश्चिम की ओर ऊँची-सी टेकरी, हवा के तेज झोंकों को रोकनेवाली। दक्खिन की तरफ़ वेणुवन और बीच में थोड़ी-सी जमीन, जहाँ घास उगी हुई थी। पूर्व की ओर दो-चार ऊँचे पेड़ और बावले, थेथर की झाड़ियाँ और झुरमुट। वन-भोज की जगह पर धूप खिली थी। वहीं सूखे पत्ते बिखरे पड़े थे।

यहीं, एक तरफ़, चूल्हा जलाकर वृद्धा राधा मिट्टी की कड़ाही में खाना पका रही थी। दूसरी तरफ़ एक मैली-फटी सतरंजी बिछी थी। उस पर झोले, थैले, बायाँ-डुपकी, एकतारा-दोतारा, सभी पड़े थे। बूढ़े गोपीदास कथरी-जैसी हल्की कोई चीज ओढ़े बैठे थे। पास ही गोकुल सोया पड़ा था। हमारे आने की बात सुन हड़बड़ाकर उठ बैठा। साथ ही, सभी एक साथ 'जय गुरु जय गुरु' करते हुए हमारे सत्कार को उठ खड़े हुए—'आइए—आइए...।'

गोपीदास अपनी खिचड़ी मूँछ-दाढ़ी में मुसकराते दीखे। बड़ी-बड़ी आँखें और इस उम्र में भी सतेज दृष्टि। उन आँखों में कौतुकभरी मुसकान। उन्होंने तिरछी नजर से मुझे देखा और पहले 'हँ...हँ...हँ...' करते हँस पड़े। हँसते-हँसते खाँसी आ गयी। फिर अपनी कमर से बँधे कपड़े की फेंट को कसते हुए उठ खड़े हुए। आगे बढ़कर मेरा हाथ थाम लिया और मुझे देखने के बाद, झिनि की ओर देखा। फिर गद्गद स्वर में बोल उठे, "अरे आओ, आओ मेरे गोसाईं, मेरे चीता...बाघ! अरी ओ बिन्दु...ओ राधे, गोसाईं...दीदी को आसन दो।" और वह खाँ...खाँ हँसने लगे।

वृद्धा राधा मिट्टी की कड़ायी उतार दौड़ी आयी। उधर बिन्दु ने उसी फटी सतरंजी का एक सिरा हाथ से झाड़ते हुए कहा, "बैठिए, झिनि दीदी।"

गोपीदास ने एक बार झिनि की ओर देखा और हँसकर बोले, "कितना सुन्दर नाम है—झिनि दीदी, जैसे झांझर की झिन-झिन हो...हँ हँ... हँ"

प्रसन्नता की कोई लहर दौड़ गयी। कोपाई का यह निर्जन वन-प्रान्तर किसी उत्सव के आनन्द से झूम उठा। मैं यह समझ नहीं पाया कि उन्होंने झिनि को गोसाईं दीदी क्यों कहा। गोपीदास की हँसी और दृष्टि का आशय समझ

पाना सहज नहीं ।

झिनि के चेहरे पर अब लाजभरी लाली जम गयी थी—स्थायी रूप से। उसकी लम्बी-कजराई आँखो से प्रसन्नता और लज्जा एक साथ झाँक रही थी। वह एक बार मेरी ओर, फिर सतरजी की ओर देखकर आगे बढ़ गयी।

"बैठिए ..बैठिए न !" गोकुल ने आग्रह किया।

गोपीदास ने पीछे मुड़कर सुजन से पूछा, "तुम्हें मेले के यात्री कहाँ मिल गये सुजन ?"

"ये दोनों घूमने आये थे इधर।" सुजन ने कोपाई-जमुना का सारा वृत्तान्त सुना दिया।

गोपीदास ज़ोर से पुकार उठे, "जय गुरु...तू धन्य है। बिन्दु बेटा...धन्य है।" उनके अट्टहास से आकाश हिल उठा। सुजन और बिन्दु एक-दूसरे को देख-कर मुसकरा रहे थे। गोपीदास ने मेरा हाथ पकड़कर बिठाया।

मैं इस समय कोई दूसरी बात कर न पाया। इतना साहस भी न था। आनन्द के इस गहरे रंग में बाधा नहीं देना चाहता था। राधा हँसती हुई भोजन बनाने चली गयी और गोपीदास गुनगुनाने लगे। गान की पंक्ति मैं अच्छी तरह समझ नहीं पाया, लेकिन उसमें किसी मन-चीते के शिकार का प्रसंग था। जो चीता— अकस्मात् हमला कर देता है। खूँखार आँखें, टेढ़ी चाल, मोहिनी गर्जना, लम्बी पूँछवाला वह चीता दिखायी नहीं पड़ता। वह अमावस्या और पूर्णिमा में, बिना किसी आहट के अपने शिकार पर टूट पड़ता है। हाँ, अब समझ में आ गया था कि गोपीदास क्या गा-गुनगुना रहे थे। गाते-गाते उठ खड़े हुए। मुझे पता ही नहीं चला, सुजन और गोकुल कब ताली बजाकर ताल देने लगे और बिन्दु झांझर बजाने लगी थी।

गोपीदास ने पद-गान के बाद अपनी कमर नचायी और फिर धप्प-से मेरे सामने बैठ गये। उन्होंने झिनि से पूछा, "कैसा लगा गोसाईं दीदी ?"

"बहुत ही अच्छा," झिनि का कण्ठ-स्वर लाज से भीग उठा था।

बिन्दु भी खिलखिला उठी थी। गोपीदास ने हामी भरी, "लगेगा ही... कैसे नहीं लगेगा ? जैसा चीता, वैसा गीत। जय हो चीता बाबाजी की !"

सभी हँसने लगे थे। गोपीदास ने अपनी नाचती हुई पुतलियाँ मुझ पर टिका दी। मैं उनका आशय समझ गया। मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। केवल होकर झिनि की तरफ़ देखता रहा।

इतनी देर के बाद गोपीदास ने अपनी बातों को दूसरी तरफ़ मोड़ा, "अरी ओ बिन्दु, राधा तो सिर्फ़ तरकारी ही पकाये जा रही है। जा, चावल-दाल की हाँड़ी चढ़ा। बाबाजी और दीदी के संग ही खाऊँगा।"

मैंने कहा, "नहीं-नहीं, यह कैसे होगा ?"

झिनि ने भी समर्थन किया, "हाँ, रहने भी दीजिए। बहुत देर हो जायेगी।"

गोपीदास ने भौंह उठाकर पहले मेरी ओर और फिर झिनि की ओर देखा। इसके बाद राधा की ओर ताकते हुए बोले, "अरे, ये दोनों तो जैसे एक ही है।"

"एक ही सुर में बजते है," गोकुल ने चुटकी ली।

सभी एक बार फिर हँस पड़े। गोपीदास की घरघराती हुई हँसी भी कानों मे पड़ी। कहने लगे, "साथ बैठकर भोग लगाते तो बड़ा आनन्द आता!"

गोकुल के कुछ कहने के पहले ही झिनि बोल उठी, "किसी को बताकर भी नही आयी।"

गोकुल को एक बार फिर चुटकी लेने का मौका मिल गया, "इसके लिए कोई किसी को बताकर भी आता है?"

इस समावेश मे आरम्भ से जो हँसी का ज्वार लगा था, वह निरन्तर चढ़ता चला गया। झिनि ने अपना सिर झुका लिया। इसी बीच मैंने गोपीदास से पूछ लिया, "मेला-प्रांगण छोड़कर आप सब यहाँ?"

गोपीदास अपनी उँगलियो से सिर पर पडी मोटी फतोइयों को सुलझाते हुए बोले, "आज वहाँ बड़ी चहल-पहल है। दिल्ली-विल्ली से कोई मंतरी-संतरी आये है। इसलिए हमने यही सोचा, नदी-किनारे इस जंगल के किसी कोने में आज का दिन बिताया जाय। और यही दाल-चावल उबाल खा-पी लें।"

उनकी सीधी-सरल उक्ति, जिसमें कोई सात-पाँच नही। उनकी अधमुँदी-सी आँखें फिर मुझ पर पड़ी, "घाट-बाट पर ही अपनी जिन्दगी कटी है बाबाजी! किसी पिंजरे मे नही रह सकता। अच्छा तो बाबाजी, इस मेले के बाद कहाँ जाना होगा?"

"नानुर। अभी तो यही इच्छा है," मैंने बताया।

"जयगुरु...जयगुरु!" गोपीदास जैसे अचरज में डूब गये। उन्होने एक बार सबकी तरफ़ देखा और बोल उठे, "आपने तो मेरे मन की बात कह दी! हम भी तो नानुर होते हुए ही वापस लौटेंगे।"

"अच्छा।"

"हाँ, बाबाजी!"

बिन्दु ने पूछा, "झिनि दीदी नहीं जायेंगी?"

झिनि के चेहरे पर उदासी-सी छा गयी थी, "नही जानती। मेरे साथ और भी लोग हैं। कुछ नही कह सकती।" अपनी बात खत्म करते हुए उसने मेरी ओर देखा और मैंने गोपीदास की तरफ़।

"क्यों बाबाजी?" गोपीदास ने प्रस्ताव रखा, "आप दीदी को लेकर क्यो नही आते? गुरु का थान है, बिना देखे जाना कुछ अच्छा लगेगा?"

मैंने हँसकर टालना चाहा, "उसके साथ और भी लोग हैं!"

विन्दु ने कहा, "सभी जायेंगे...इसमें क्या है ?"

झिनि ने इतना ही कहा, "देखा जायेगा।" और वह उठ खड़ी हुई। मैं भी।

'तो फिर उस घड़ी मुलाक़ात होगी।" गोपीदास बोले।

वृद्धा राधा को छोड़कर सभी हमें छोड़ने आये। हमें लक्ष्य कर गोपीदास पीछे मुड़ते हुए इतना ही बोले, "जुगल जोड़ी...हेरी हेरी...मरि मरि।"

झिनि के चेहरे की लाली और भी गहरा उठी, लेकिन आँखें अचानक छल-छला उठी थी।

मैं कुछ नहीं कह पाया।

पीछे से इतना ही सुन पड़ा : "जयगुरु...गुरु !"

घाट पर खड़े रिक्शे की गद्दी पर रिक्शावाला सुस्ता रहा था। हम दोनों को देखते ही वह उछल पड़ा, "लीजिए...और मैं यही सोचता रहा कि बाबू लोगन चले गये का ? कहाँ गये थे ?"

"उस पार," मैं नदी पार कर किनारे आ लगा था।

"और मैं आप सबन को न देख पाया तो इसको उसको पूछत रहा। कोई नहीं बता पाया। सब यही कहत रहे, अरे चले गये होंगे। अब ऐसा कहीं होय सकत है ? बाबू और दीदीमणि की चटिया तो हमार गाड़ी में ही है। चले कैसे जाय सकत हैं !..."

उसके चेहरे पर दुश्चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट थीं। संशय-असंशय से मुक्त होकर वह बकता चला जा रहा था। हम दोनों रिक्शा पर बैठ गये। वह खींचने लगा। चढ़ाई पर रिक्शा खींचने में बड़ा कष्ट हो रहा था उसे। वहाँ की बलुआही और कँकरीली ज़मीन बड़ी निर्मम थी। हमारा नीचे उतरकर चलना भी उसे स्वीकार नहीं। ऐसा नहीं कि वह बड़ा बहादुर था। उसे अपने काम से काम है। सवारी की सहानुभूति से उसे कुछ लेना-देना नहीं।

झिनि चुपचाप थी। थोड़ी देर पहले छलछला आयी आँखें अब सूख चली थीं—हवा के झोंके से या धूप से या कि अन्तर के किसी रहस्य से, पता नहीं। अब वह धूप की किचियों को झेलती हुई, इधर-उधर भौंहें नचा रही थी। होंठों पर हल्की-सी मुसकान और चेहरे पर लज्जा का भाव। उसने अपना लाल रेशमी स्कार्फ़ गले के गिर्द लपेटकर रखा था और उसका एक छोर सीने के ऊपर खोंस लिया था। आने के समय आसपास बैठते हुए भी, वह तनिक संकोच में भरी थी। कहना चाहिए, थोड़ी सावधान थी। लेकिन अब, उस ओर से तनिक बेफ़िक्र

कहाँ पाऊँ उसे.

थी । उसकी इस सहजता से भी, मैं तनिक सतर्क हो उठा था ।

मैं भी चुप था । आँखो के सामने थे—आम के मंजरित पेड, कटहल के पेड़ों पर कच्चे कटहल, कानों में गोपीदास का गान और उनकी स्नेहपूरित मुख-मुद्रा, उनकी चर्या, जीवन शैली...

हम काफ़ी आगे बढ़ आये थे । अचानक लगा कि झिनि मेरी तरफ़ बहुत देर से देख रही है । उसकी ओर मेरे देखते ही उसने अपना चेहरा घुमा लिया । उसका चेहरा आरक्त हो उठा था और होठों के किनारे पर हल्की-सी मुस्कान खेल गयी थी । मैं बिना कुछ कहे अपनी आँखें फिराना चाहता ही था कि झिनि ने पूछ लिया, "क्या सोच रहे है ?"

'वही...गोपीदास की बातें ।" मैंने उत्तर दिया ।

"जैसे...?"

"उनके आचार-व्यवहार, जीवन-निर्वाह के बारे मे । लेकिन कुछ समझ नही पाता – वह क्या चाहते है, क्या करते हैं और किसकी खोज है ? कैसा है यह नशा ? किस नशे मे हैं..."

अचानक झिनि भावुक हो उठी, "वे साधक हैं । साधना मे ही जीते हैं ।"

मैंने आश्चर्य से झिनि की ओर देखा । यह कोई दूसरी ही झिनि थी । विदुषी या नागरिका नहीं । यह उसके आरक्त रूप, बड़ी-बड़ी आँखो की चितवन या नारी-मन की ही लीला न थी, यह तो किसी बाउलानी की उक्ति थी ।

"क्या साधते है वे ? किसकी साधना है ?" मैंने पूछा ।

झिनि की आँखों ने एक बार मेरी ओर टकटकी लगायी । बोली, "यह तो साधक ही जानते हैं ।"

"कैसी है वह साधना ? जगह-जगह, घाट-बाट गान गाते फिरना...जैसे कोई उन्माद हो ! जीवन के लिए कोई आग्रह नही ?"

"किसका आग्रह ?"

मैं उसका प्रतिप्रश्न सुनकर तत्काल कुछ कह न सका । क्या वह मेरी बात नही सुन-समझ पायी ? मैंने कहा, "कहाँ, मैं तो इस तरह जीवन नही काट सकता ! इतना साहस नहीं !"

झिनि का उत्तर था, "और अगर यही उनकी साधना हो, इसी तरह घूमना, फिरना और गाते रहना ! जिनके जीवन में यह सबकुछ साधना ही हो तो। चिन्ता किस बात की ? अब इसमे साहस जुटाने-जैसी क्या बात है ?"

मैंने हैरत के साथ फिर पूछा, "ऐसी उखड़ी स्थिति में, फक्कड़ों की तरह...?"

"यह सब भी अगर साधना ही हो तो असुविधाओं के लिए क्या रोना ? वे सब तो गौण हो जाती हैं । असल चीज ठीक, तो सबकुछ ठीक ।"

"क्या है वह असल चीज ?"

'मैं नहीं जानती, लेकिन वे कहते है—'मन का मानुष'।"

मैं यह भूल गया था कि मैं किससे बातें कर रहा हूँ। मैंने फिर पूछा, "यह मन का मानुष क्या है ?"

झिनि चुप हो रही। बिना कोई उत्तर दिये मेरी ओर देखती रही। मैंने उसकी आँखों में एक विह्वल आवेश देखा। मेरी आँखों से अपनी आँखें हटाये बिना ही उसने उत्तर दिया, "मैं नहीं जानती। बस ऐसी कुछ इच्छा होती है कि उनकी तरह उसी 'मन के मानुष' की साधना करूँ।"

छोटी किन्तु एक गहरी उसाँस के साथ उसका कण्ठस्वर गा उठा था। मैं उस युवती में एक दूसरा ही स्वरूप देखकर चमत्कृत था। झिनि के स्वर में, उसके रूप में, कोई दूसरा विलक्षण सौन्दर्य भास्वर हो उठा। लगा, जैसे यहाँ कोई कुसुमकानन हो, कुंजगली हो। अनफूले फूल खिल उठे हों—जिसकी मोहक सुरभि से भौंरे गुंजरित हो उठे हों। कोपाई और खोआई का यह रास्ता शाश्वत वंशी स्वर से, धेनु चारन से, पुलकित कदम्ब की डालियों तथा फूलों से झूम उठा हो, रोमांचित हो उठा हो। जमुना की ओर जाती हुई किसी पनिहारिन की लालसा कलियों की भाँति चटक उठी हो।

लेकिन उसकी इस राह की तरफ़ मेरे पाँव नहीं बढ़ते। मेरे पाँवों में बेड़ियाँ हैं। साधना का पथ मेरा पथ नहीं। लेकिन, झिनि का अपना स्वभाव है। अपने रस में मग्न, अपनी सुरभि में लीन।

मैं इस बार उसकी तरफ़ देखने का साहस नहीं जुटा पाया। आँखें कहीं दूर जा टिकी थीं। मुझे अपनी तलाश है, अपनी राह पर चलना है मुझे।

हवा अब भी सर्द थी और धूप भी तीखी हो चली थी। सूरज पश्चिम की तरफ ढल रहा था। रिक्शावाला रह-रहकर तेजी से साँस लेने लगता और फिर महज होकर कुछ-न-कुछ गुनगुना उठता—'नया कबूतर और नये-नये पर...'

पता नहीं, यह कौन-सा गीत था। मेरी आँखों के सामने कोई नदी का किनारा तिर गया। झिनि ने भी अपनी दृष्टि हटा ली और बोली, "आपका वह गाज़ी जिसकी साधना करता है, ये भी उसी को साधते हैं—मैं ऐसा मानती हूँ।"

मैं अचरज में भर उठा। झिनि को अब भी उस गाज़ी की याद है ! मैं तो यह सोच भी नहीं सकता था।

"लेकिन उसकी तो घर-गिरस्ती है।" मैंने आपत्ति की।

"हो सकता है। इनमें भी वैसा ही कुछ होगा।" झिनि का तर्क था, "लेकिन भावभंगिमा, बातचीत सबकुछ तो एक-जैसा ही है। तभी एक ही

पथ के साधक हैं।"

मैं गाजी के बारे में सोच रहा था। उसकी पिछली बातें याद हैं। वह भी अपने झोले में कोई अनमोल रतन लिये बैठा था। किसी दूसरी ओर दृष्टि नहीं, अपने ही भाव में निमग्न।

"आप क्यों इस तरह बाहर घूमते-फिरते हैं?" अकस्मात् झिनि के इस प्रश्न ने मुझे चौकस कर दिया।

"यह दूसरी बात है।"

"किस तरह?"

"मैं कोई बाउल या दरवेश नहीं।"

"यह तो मैं भी जानती हूँ, फिर भी...?"

"बस, रहा नहीं जाता, इसलिए" और मैं क्या कहता।

"भला क्यों?" उसने अपनी आँखें मुझपर गड़ा दी थीं।

"नहीं जानता।" मैंने आँखें नीची कर लीं।

झिनि को जैसे किसी रहस्य का पता चल गया हो—"इसका मतलब है आप जानते हुए भी..."

"क्या जानते हुए?" झिनि ने मुझे सचमुच हैरत में डाल दिया।

उसकी आँखों में किसी गहरे रहस्य की झलक थी। वह बोली, "क्या पता! और यह बात मैं आपके होंठों से कहला भी पाऊँगी भला?"

मैं तत्काल कुछ न कह सका। झिनि ने जाल फेंक दिया था—मछली पकड़ने के लिए। वह जब-तब सहज भाव से कुछ कहती रही, मैं उसकी बातें समझता रहा। अब उसके हाथों में कोई दूसरा ही वाद्य-यन्त्र था। उसकी उँगलियाँ दूसरे ही तारों को छेड़ रही थीं। उस समय उसको समझ पाने के लिए मैं अपर्याप्त था। स्वयं को ही समझ पाना कठिन जान पड़ा। मैंने कहा, "वैसा ही कुछ होगा...लेकिन मैं नहीं जानता।"

"मैं जानती हूँ।"

"क्या!" मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

झिनि की भंगिमा और उसकी पुतलियों में ठहरा रहस्य और भी घना हो उठा। वह बोली, "कितना कुछ पाया जा सका...यही।"

"क्या है वह?"

"जिसे लेने के लिए घूमते-फिरते हैं आप।"

"क्या लेने?"

"कहा नहीं जा सकता। इतना ही जान पड़ता है कि सबकी आँखों की ओट से क्या कुछ लेकर चले जाते हैं।" थोड़ी देर रुककर वह बोल उठी, "जैसे चुरा-कर..."

मैं कुछ कह नही पाया, बस मुसकराकर रह गया। मेरी ओर देखती हुई झिनि ने आगे जोड़ा, "लेकिन कुछ देना नही चाहते। आप केवल लेना जानते हैं, देना नही सीखा।"

मैंने देखा, उसके चेहरे पर छायी उदासी अब विषाद की सीमा का स्पर्श कर रही थी। मैंने इतना ही पूछा, "क्या नही देना चाहता?"

"आपको इतना भी नही पता? आपकी बातो से तो कुछ भी समझा नहीं जा सकता। तो भी, इतना ही कह सकती हूँ कि आप बड़े झूठे हैं।"

यह लांछन मै अबतक स्वीकार नही कर पाया। शायद कर भी नही पाऊँगा। और दूसरे ही क्षण मुझे लगा, यह तो वही युवती है, पहलेवाली! अब न कोई रहस्य है, न बात। केवल वही युवती लौट आयी है, अपने रूप, रस और गन्ध के साथ, जिसकी आँखो के कोर भीगे हुए हैं और दृष्टि धुँधली हो गयी है।

अचानक किसी की कर्कश आवाज़ सुनकर मैं चौंक गया "अई...रिक्शा... रुक!"

रिक्शावाले ने रिक्शा रोक दिया और हमारी तरफ़ मुड़कर देखने लगा। मैंने देखा, रास्ते के किनारे विलायती कार खड़ी है। चालक की जगह पर अचिन'दा डटे हैं और पिछली सीट पर राधा और लिलि।

मैं हँसना चाहकर भी रुक गया। अचिन'दा ने अपनी घनी भौंहें समेट अपनी कलाई-घड़ी की ओर देखा। और फिर उसी तेवर के साथ मेरी ओर देखते हुए बोले, "रिक्शा भाड़ा चुकाओ और नीचे उतरो।"

अचिन'दा जैसे चोर पकड़नेवाले कोतवाल की भूमिका मे थे। उन्होंने झिनि की ओर तर्जनी उठाकर कहा, "तुम उतर आओ।" और इसके साथ ही उन्होंने पीछे बैठी राधा और लिलि की ओर देख लिया। वे गम्भीर किन्तु होठो को भींचे हुए थीं जैसे। झिनि ने एक बार मेरी ओर देखा, फिर आज्ञाकारी बालिका की तरह सिर झुकाकर तेजी से नीचे उतर आयी और कार का दरवाजा खोल-कर राधा, लिलि के पास जा बैठी।

मैंने जेब मे हाथ डालकर पैसे निकाले और भाड़ा चुकाकर नीचे उतर आया। हाय रे मेरी फूटी किस्मत! रिक्शाचालक भी मेरी ओर सन्देहभरी नज़र से देख रहा था, जैसे कोई चोर रँगे हाथ पकड़ा गया हो।

अचिन'दा ने मेरे लिए कार का अगला दरवाजा खोल रखा था। मेरे भीतर घुसते ही दरवाजा बन्द हुआ और गाड़ी घूम गयी। वह बड़े कुशल चालक थे, यह मैं एक ही झटके मे समझ गया। बिना कुछ कहे-सुने कार भगाये लिये जा रहे थे, दक्खिन की ओर। थोड़ी देर बाद बायी तरफ़ मुड़े और मेला पीछे छोड़ते हुए आगे निकल गये। मैं बेबस हो चला था। पीछे तीनों सखियाँ क्या

गुल खिला रही हैं, मुड़कर इतना भी न देख पाया। अचिन'दा ने भी पीछे नहीं देखा। आगे मुडते ही वह एक छायादार लाल सड़क पर आ गये। तभी एका-एक उनकी भारी आवाज सुन पडी, "कुछ पता है, कितने बजे ?"

मैंने जल्दी से अपना बायाँ हाथ उठाया और कहा, "पौने दो।"

अचिन'दा ने अपने होंठों को सिकोडकर कहा, "जी...यह आप न भी बताते तो मुझे पता था। और अगर सुबह से इतनी देर तक गायब रहना ही था तो बताकर जाने से क्या बिगड़ जाता ? इधर ललिता और विशाखा तो अपनी सखि के बिना बेहाल हो गयी थी।"

इसी समय पीछे से झिनि का महीन स्वर भी सुन पडा, "अचिन'दा, उन्हें मैं ही बुलाकर ले गयी थी।"

अचिन'दा ने होंठ बिचकाते हुए कहा, "मैं यह भी जानता हूँ। तुम बुला-कर नहीं ले जाओगी तो...क्या यह मौनीबाबा बुलाकर ले जायेंगे ?"

और इसके साथ ही, कब से रुकी पडी हँसी की दो-चार बौछारें मेरे कानों में पडी। राधा और लिलि ही होंगी। मेरे भाग्य में ही सारे दोष और लांछन हैं। और-तो और, मैं मौनीबाबा हूँ। अचिन'दा उसी तेवर के साथ कहते गये, "वह किसी को क्या बुलायेगा। बुलाने पर जुकाम नहीं हो जायेगा ?"

पीछे, अब भी टूटी हुई हँसी के टुकडे। लेकिन यह भी झूठा आरोप था। दरअसल, अचिन'दा इस घटना को जो रूप-रंग देना चाह रहे थे, उससे मुझे विरक्ति हो चली थी। पर अभी उन्हें बताये कौन ?

अचिन'दा ने एक बार पीछे की तरफ़ अपनी गर्दन मोड़ी और बोले, "क्यों री दूतिऊ'ओ, मैंने बताया था न, दोनों गायब हैं। कहीं एक साथ खिचडी पका रहे हैं!"

उनकी इस टिप्पणी को भी सुनना पड़ा और कटकर रह गया। पीछे हँसी के फव्वारे छूट रहे थे। इस बीच, बाड़े से घिरी हुई एक छोटी-सी बगिया के दरवाजे पर गाड़ी जा रुकी। एक-मंजिली कोठी के सामनेवाले बरामदे की धूप में नीरेन'दा और सुपर्णा'दी बैठे थे। गाड़ी देखते ही नीरेन'दा हडबड़ाकर आगे आये और बोले, "मिल गये ?"

गाडी से उतरते हुए अचिन'दा ने कहा, "अरे जायेंगे कहाँ ?"

अच्छा तो हम लोग कहीं खो गये थे या भाग गये थे। अब नीरेन'दा हँस रहे थे और उनके साथ सुपर्णा'दी भी। इन तीन सखियों के साथ मैं भी बाहर निकला।

नीरेन'दा ने मेरी ओर देखकर कहा, "आइए...बैठिए !" और अचिन'दा से पूछने लगे, "कहाँ मिले ?"

"बीच रास्ते।"

उत्तर सुनकर नीरेन'दा ठठाकर हँस पड़े। सुवर्ण'दी ने मुँह में आंचल दबा लिया था। झिनि ने कहा, "कोपाई देखने गये थे हम लोग।"

"वहाँ गोपीदास वगैरह भी मिल गये। वहीं खा-पका रहे थे।" मैंने भी जोड़ दिया।

अचिन बाबू ने अपनी भौहों को चढ़ाकर कहा, "अच्छा तो सारे गांजाखोर वहीं गये हैं। तभी पूरा-का-पूरा दल सुबह से गायब है।"

गांजाखोर! लेकिन अचिन'दा ने यह सम्मान बड़े स्नेह से दिया था। दरअसल उनके बाउल बन्धु तो प्रेम के गांजे में ही धुत रहते हैं। अचानक लिलि से मेरी आँखें मिल गयी और राधा ने पूछ लिया, "आइये...बैठिये न।"

"बड़ी दुश्चिन्ता में पड़ी थीं...है न?" मैंने पूछा, "बड़ी परेशानी हुई होगी?" मेरे स्वर में क्षमा-याचना थी। राधा और लिलि एक-दूसरे की आँखों-में-आँखें डाले मुसकराती रहीं।

"जी नहीं, चिन्ता तो तनिक भी न थी," लिलि ने मुझे आश्वस्त किया, "और हम लोगों ने कोई खोज-खबर भी नहीं ली। हम तो समझ ही गये थे कि झिनि और आप कहीं निकल गये हैं। दरअसल अचिन'दा ने ही हमें यह सुझाव दिया। कहने लगे, 'चलो, उन दोनों को पकड़कर गिरफ़्तार कर लायें'।"

अचिन'दा नीरेन'दा के साथ बरामदे की तरफ़ बढ़ गये। हम सब एक स्वर्ण-चम्पा की घनी छाया-तले बैठ गये। राधा ने आँखें मटकायीं, "लेकिन यह भी मत सोचियेगा कि हम एकदम निश्चिन्त थे। आख़िर हमारी वान्धवी युवती है।"

लिलि ने झिनि की ओर देखा और जोड़ दिया, "और रूपसी भी!"

"और विदुषी भी।" राधा कहाँ चूकनेवाली थी।

झिनि झेंप गयी। अपना चेहरा नीचे छुपाते हुए उसने डपट दिया, "क्या कह रही हो...!"

उसकी बात को अनसुना करती हुई राधा मुझसे बोली, "और हाँ, आप भी..."

लिलि बोल उठी, "मौनीबाबा हैं—अचिन'दा ने कहा न!"

"और युवक भी।" राधा ने जोड़ दिया।

"इनको ही तो भय अधिक है," लिलि मुसकरायी।

राधा हँस पड़ी, "इसलिए थोड़ी-बहुत चिन्ता तो होगी ही।"

जहाँ बातों-बातों में ही मुझे उधेड़ा जा रहा हो, वहाँ मैं मुँह खोलने का साहस कहाँ से जुटा पाता भला!

झिनि ने झूठा रोष प्रकट करते हुए कहा, 'क्या री...यह सब क्या शुरू किया तुम दोनों ने!" और मुसकराने लगी।

इसके पहले ही स्वर्णचम्पा की घनी छाया सखियों की हँसी और चुहल से

"अवश्य ।"

झिनि की तरल आँखें अब भी नहीं मानती दिखीं । गाड़ी आगे बढ़ गयी। अचिन'दा गहरी उसाँस के साथ बोल उठे, "जीवन-मरण परस रतन कंचिर समान भेल" और मुसकराने लगे । थोड़ी देर के बाद फिर बोले "मैं अच्छा-बुरा नही जानता । नदी का बहना ही स्वाभाविक है और वही अच्छा भी लगता है।"

मैं समझ गया, ऐसा उन्होंने क्यों कहा । लेकिन मैं यह नही कह पाया कि वह नदी अगर यात्री का पथ ही डुबो दे...फिर तो बड़ी विडम्बना होगी । अचिन'दा की गाड़ी मेरे मित्र के घर के दरवाज़े पर आ लगी।

धीरज धारो मेरे मन, धीरज से पाओगे धन।

मैंने स्वयं को समझाया, अपनी साक्षी दी । लेकिन धन की प्रत्याशा...यह कैसी ! मेरे अन्तर में कोई कह उठा, मैं कोई महमूद गाज़ी नहीं और न गोपी-दास, सुजन या गोकुल ही । मेरे पास गूदड़ की झोली नही और न ही उसमें कोई रत्न । मेरे चलते रहने का उद्देश्य कोई रतन पाना नही । मैंने अपने मन का झोला खुला रखा है । अन्दर के ठोस गाढ़े अँधेरे में किसी तरह से थोड़ी-सी उजास भर जाये, बस इतनी ही आकांक्षा है । लेकिन यह अन्तस् भरता कहाँ है ! भरते-भरते ख़ाली ही रह जाता है और फिर ढोल उठता है । बीच में ही बाधाएँ उठ खड़ी होती हैं और बस, ठोकरें खाता रहता हूँ । किसी को कुछ समझा भी नहीं पाता ।

दस पौष की सुबह को मैं नानुर—चण्डीदास के नानुर—के लिए चल पड़ा । चण्डीदास और उनकी रजकिनी अर्थात् धोबिन के घाट की तरफ़, रामा हो या रामी...उसकी प्रेम-पत्तन की ओर । यह उस बाशुली देवी का थान है जहाँ रसिक कवि राधाकृष्ण के प्रेम-विरह के गीत गाया करते, गीत जिनके रस-प्लावन में तत्त्व प्रवाहित होता है और वह रसिका रजकिनी ही उस रस का मर्म समझती है ।

यह कैसा रहस्य है कि वहाँ का जो द्विज परमा शक्ति देवी बाशुली को भजता है । वही, शिल्पी रूप में गाता है गान, रसिक रूप में धरता है ध्यान—राधारानी और रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण का नाम ले-लेकर । उसकी बातें सुन-सुनकर रजकी बेबस हो उठती है, कैसा रहस्य है ? अगर उस प्रेम-रस का रस न पगे तो अरसिक होने की लांछना झेलनी पड़ेगी । शायद मैं वैसा ही अरसिक या मूढ़ हूँ । मेरे मन में द्वन्द्व है इसीलिए चण्डी-तीर्थ नानुर की ओर—रजकिनी पत्तन की ओर—चल पड़ा ।

लेकिन उस पथ पर जाते हुए भी, कई बार असमंजस में फँसा रहा। सोचा था; अकेला नहीं, गोकुल बिन्दु आदि के साथ जाऊँगा। लेकिन बिल्ली के गले की घण्टी बन गयी हमारी योजना। अचिन'दा जैसे सज्जन ने सारा मामला बड़ा लम्बा कर दिया। अपने संग खिलाये बिना माने नहीं। इस मामले में पूरे मुग़लिया। नानुर की यात्रा में, उन्होंने मुझे अपना संगी बनाया। वह अपनी गाडी खुद चलाकर ले चले। उनका वेतनभोगी ड्राइवर छालिमतला में ही पड़ा रहा। ऐक्सिलेटर पर हाथ रखकर उन्होंने कहा था, "पन्द्रह-बीस मील मैं खुद चलाकर ले जाऊँगा — इसमें ऐसी क्या मुसीबत है ?"

भला झिनि, लिलि और राधा को संग कैसे न ले जाते ! आखिर गोपीदास वगैरह भी बस से क्यों जाते ? वे सब कुल पाँच ही तो थे। लोग भले हों तो इमली के पत्ते पर भी नौ आदमियों का गुजारा हो जाता है। बड़े काम का मुहावरा है यह। उनकी इकलौती गाड़ी पर हम नौ जन ठसाठस सवार हो गये। वैसे बहुत असुविधा नहीं हुई। उनकी विलायती गाडी का पेट काफी बडा जो था।

अचिन'दा चाहते थे कि सामने की सीट पर गोपीदास बैठें। वह उनके हाथ जोडने पर भी सम्भव न हुआ। इसलिए उनके साथ तीनों सखियाँ बैठ गयीं। पीछे मैं बाउल वंश के साथ चिपका पडा था। सुजन की गोद में गोपीदास और राधा की गोद में बिन्दु। गोकुल मेरी बगल में था— सिकुड़ा हुआ। मेरी सुविधा का ख्याल रखते हुए वे एक-दूसरे में धँस गये थे। हालाँकि इसकी कोई जरूरत न थी। काफ़ी बडी गाडी थी...फिर भी। मेरे आग्रह पर उन्होंने कहा, "हमारा तो इस तरह का अभ्यास रहा है बाबाजी, चिन्ता न करो।"

अचिन'दा अपने मुँह में एक बडा-सा सिगार ठूँसे, हॉर्न बजाते हुए गाडी चलाये जा रहे थे। शहर को पीछे छोडते हुए हम पता नहीं, कब गाँव की सड़क पर आ गये ! उत्तर की तरफ़ मुड़ते हुए हमें पूरब की ओर जाना था। अगली सीट पर बैठी चारों सवारियों पर सुनहली धूप झिलमिला उठी थी। कटे हुए धान के खेतों पर धूप बरस रही थी। एक-के-बाद दूसरे गाँव की सीमा को पार करते हुए हम शीघ्र ही चण्डीदास पहुँच गये।

मन जैसे जाना चाहता था उस तरह नहीं जा पाया। इच्छा थी, अपने पंख पसारकर उड़ जाऊँगा। उस समय मन के डैने फड़फड़ा उठे थे। अजीब-सी उद्विग्नता थी। मैं रह-रहकर झिनि को देख लेता। उसे क्या दोष दूँ ? सारा दोष मेरे भाग्य का था। झिनि अपने भाग्य से जा रही थी। अगर मेरे डैने में कोई उड़ान लिखी है तो यह मेरा भाग्य। मेरी बात सुनकर अचिन'दा नाच उठे थे। उन्हें कुछ समझाना भी मुश्किल था। इसलिए तय हुआ था कि वह भी चलेंगे।

मुझे तो यात्रा पर आगे बढ़ना ही था, लौटना नहीं। अचिन'दा को तो वापस

होना था, इसलिए अपने को समझा-बुझाकर मैंने इसके लिए तैयार कर लिया था। धीरज का फल मीठा होता है। मैं नही जानता, मुझे किसकी खोज है? बिना जाने जिस धन की प्रत्याशा मे चलता जा रहा था, वह बिना धैर्य के मिल भी नही सकता। सोचते-सोचते मुझे लगा, यह यात्रा क्या बुरी है? और मन नाच उठा। इस तरह सबका साथ पाना भी तो सौभाग्य ही है। राह पर चलते जाने का यह एक अलग ही आनन्द होता है।

कल मैं अचिन'दा के सामने इस बारे में कुछ बता नहीं पाया था। कुछ बताने के पहले ही, उन्होंने मेरी योजना को लपक लिया था, "हाँ हाँ—मुझे पता है तुम कल नानुर जा रहे हो। याद रखो, तुम अकेले नहीं, हम लोग भी साथ जा रहे हैं।"

'हमलोग' सुनकर मैं चौंक उठा था। मेरे कुछ कहने के पहले ही, अचिन'दा बोले थे, "मेरे साथ झिनि, राधा और लिलि भी जा रही हैं। और तुम भी...।" आगे कुछ कहने-सुनने को रह ही क्या गया? जाओ और अपना बोरिया-बिस्तर बाँधो। लेकिन उन्होंने यह सब कब तय किया?

मैंने पूछा था, "उनके दल के दूसरे बाकी सदस्य?"

उनका उत्तर एकदम निर्मल था, "शुभेन्दु तो वैसे ही वक्रगामी है। उसे झुण्ड के साथ चलना नही भाता। नीरेन'दा और सुपर्णा'दी ने पहले ही ना कर दी थी।"

मेरा मन अब भी ठगा-ठगा था क्योंकि मेरा जाना गोपीदास के साथ लगभग तय हो चुका था। इसलिए जब मैंने बताया कि हम भोर होते ही बोल-पुर से बस द्वारा रवाना होंगे तो अचिन'दा ने छूटते ही कहा था, "उन्हे भी साथ ले लिया जायेगा।" मैं सिर पीटकर रह गया।

जात्रा-पण्डाल मे झिनि ने भी एक बार पूछा था, "नानुर जा रही हूँ, कोई आपत्ति तो नही?"

"आपत्ति की क्या बात है?" मैंने विस्मय से कहा था।

"एक संग जाना है न—इसीलिए।"

"तो क्या हुआ?"

झिनि ने बिना कुछ कहे मेरी ओर देख लिया था। मेरी आँखें दूसरी तरफ़ खो जायें, इसके पहले ही वह बोल उठी थी,..."कुछ नही।"

मैं भी तब कुछ कह नही पाया। झिनि को नये सिरे से कुछ समझाने की कोई बात भी तो नही। झिनि ने ही बताया था, "नानुर तक ही तो...? आगे नही। वहाँ से हम साथ ही वापस लौटेंगे। और आप..."

वह अपनी बात पूरी नही कर पायी थी और अपना चेहरा मोड लिया था। उस समय जात्रा-मंच पर बेगम लुत्फुल्ला का विलाप जारी था।

यह आशा है। यहाँ आकर अब दूसरी भावना नहीं आती। इस अखिल आनन्द धारा में मन की सारी विकलता, दीनता और मलिनता को धो देना है। मेरा मन चण्डीदास चला गया था—इस कवितीर्थ को छोड़ प्रेम-तीर्थ को।

कल का अनुष्ठान—छातिमतला का एक और नया परिचय। गतकाल था, हविष्यान्न-ग्रहण का दिन। शान्तिनिकेतन के ज्ञानी, गुनी, कर्मचारी और सेवकों की स्मृति में, हविष्यान्न— बलि पिण्ड। हर कहीं देखने को नहीं मिलता यह सब! लगा कि यही तो है भारत और भारत की रीत। जो आत्मीय विदा हो जाते हैं, उनकी स्मृति में यह हविष्यान्न। सारी दुनिया में एकमात्र यही ऐसा देश है, जहाँ यह स्मृति-तर्पण अनुष्ठित होता है, और ऐसे ही आचार-अनुष्ठानों में उसका आत्म परिचय प्राप्त होता है।

मृत व्यक्ति के लिए, दिन, तिथि और क्षण कोई महत्त्व नहीं रखते। इसलिए पौष की नवीं को उनका स्मृति-चारण होता है। उस दिन शान्तिनिकेतन के घरों में हविष्यान्न का प्रबन्ध न हो तो आश्रम की पाकशाला में चले आओ, लेकिन यह अनुष्ठान बहिरागतों के लिए नहीं, वह तो आश्रम की सीमा में ही सम्पन्न होता है। मैं अपने आश्रयदाता बन्धु के संग गया था। उस अनुष्ठान में सम्मिलित होते ही, पौष की सप्तमी को ही दीक्षा-दिवस स्मृति में तिर उठा। हम जिस संसार के कठोर यथार्थ में रहते हैं, वहाँ मेरी आँखों के सामने किसी ध्यानी का सौम्य और प्रसन्न मुख था, जो अपनी स्निग्ध तरल आँखों से जीवितों को देख रहे हैं। मुझे लगा, आम और सप्तपर्णी के पत्तों से, उस अनुष्ठान को हज़ारों-हज़ार आँखें देख रही हैं। धूप में नहाये आँवले के पेड़, और उनकी पत्तियाँ मानो मुसकरा रही हैं, पत्तों की सनसनाहट में ऋषि श्वास ले रहे हैं।

उन श्रद्धेय महान् आत्माओं को याद करते हुए आँखों में आँसू नहीं उमड़े। अन्तस् में आत्मानुसन्धान की बात उठी थी। एक ऐसे पथिक से भी भेंट हुई, जो भारत के विभिन्न प्रान्तों में घूमते रहे थे। कहने लगे, 'अरे तमसाच्छन्न हृदय को आलोकित करो।' उन्होंने इसे भाषान्तरित करते हुए कहा, "अ जाँ न शूद, के बेरा आमदम, कुजा बूदम, दर्दोदरेल्, के गो फिल् जे कारे खे शतनम।... प्रकाश नहीं मिला...कहाँ था, यहाँ क्यों आया, दु:ख-ताप और अनुताप के कारण अपना कर्तव्य ही भूल गया।" उनकी आँखें छलक उठी थीं और हृदय का हाहाकार कातर स्वर में फूट पड़ा था—"कितने दिन और कितने दिन... मैं उस दिन की प्रतीक्षा करता रहूँगा जिस दिन मैं तुम्हारे सम्मुखीन होकर स्वयं को परिपूर्ण कर पाऊँगा, आनन्दमय हो पाऊँगा।"

वे, जो भारत के कोने-कोने में, वन-पर्वतों, नदी-निर्झरों, गुहा-मन्दिरों में पूर्ण आनन्द की खोज में भटकते रहे, अब 'छातिमतला' में विराज रहे थे— अपने मन-मन्दिर में रमे हुए। ज्ञान, बुद्धि, युक्ति और तर्क ने केवल मारकाट ही मचायी है, ख़ून बहाया है। उसी निर्मम रक्तपात से एक फूल खिला था, जिसका नाम था प्रेम। 'जिन प्रेम रस चाखा नाँही, अमृतरस पिया तो क्या हुआ ..मतलूब हासिल न हुआ, रो रो मुआ तो क्या हुआ...।' छातिमतला पहुँचकर वही पुकार पूरी हुई थी—

"या रब, आँ शमे शर-अफरोज जो काशाना-ए-कीस्त ?
जाने-मा सोखत् बे पुर्सीद् कि जनाना-ए-कीस्त।"

—वह शमा जो रात को दिन बना देती है, किसके घर जल रही है? मेरी तो जान गयी, मैं यह पूछता रहा कि वह किसी के काम आयी या नहीं। इसके उपरान्त। राढ की उस लाल माटी की घनी हरीतिमा में पंछियों के कल-रव के साथ यह स्वर गूँज उठा था : 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।"

गत काल उसी हविष्यान्न के सम्मुख मुझे उस अपरूप-सन्धानी की बातें याद आयी थीं। मुझे महर्षि का अलक्ष्य और अस्पर्श्य अपरूप—लक्ष्य और स्पर्श्य प्रतीत हुआ। मन की गति भी कितनी विचित्र है! महर्षि देवेन्द्रनाथ के साथ उनके सर्वथा सुयोग्य पुत्र रवीन्द्रनाथ का ही स्मृति-तर्पण नहीं, समस्त आत्मीयजनों का स्मृति-चारण था। उनकी स्मृतियों और उपस्थिति के उस हविष्यान्न ने, प्रसाद ने हमें अमृत का स्वाद प्रदान किया था। उस घड़ी स्थान और काल की सीमा से परे उन सकल हुतात्माओं के प्रति श्रद्धा निवेदित करते हुए मैंने हविष्यान्न ग्रहण किया था, 'महामानव' के 'सागर तीर' पर बैठकर उस भारत-प्राण को उपलब्ध करते हुए।

कल मैंने जिस अन्तिम अनुष्ठान में भाग लिया था, वह थी जात्रा—'बंगाल की गद्दी।' 'छातिमतला' आते हुए मेरे सहयात्री, लोकोशेड-क्लीनर अतुलदास के अभिनय का रसास्वादन।

शाम को ही बाउल-पण्डाल से विदा होते हुए भिनि की जुड़वाँ आँखें मुझसे पूछ बैठीं, "रात को क्या कर रहे हैं?"

मैं जात्रा की बात नहीं बताना चाहता था। कहीं मेरी गत न बन जाये। अचिन'दा के सामने कुछ कहने का साहस भी जुटा न पाया। कहीं एक ही बार मे सारा हौसला पस्त न कर दें। वहाँ कोई कानून या विधि-निषेध तो था नहीं। चाहता तो मैं भी अचिन'दा को न्यस्त कर सकता था, लेकिन वे जो कुछ भी कहते, वह स्नेहपूरित होता था। उन्हें जान-बूझकर कष्ट पहुचाऊँ, ऐसी धृष्टता मुझमें न थी। मैंने इतना ही कहा था, "कल एकदम भोर होते ही

निकल जाना है न, इसलिए सोच रहा हूँ, अब कहीं नहीं निकलूंगा।"

अचिन'दा ने डपट दिया था, "सुबह-ही-सुबह कहाँ ?"

उन्होंने जान-बूझकर ही यह सवाल उछाला था, यह उनकी दूसरी ही बात से मैं समझ गया। क्योंकि उन्होंने अपनी योजना की घोषणा करते हुए कहा था, "कल सुबह निकलना है, इसका मतलब यह तो नहीं कि शाम से ही कमरे में घुस जायें। चलो, हम सभी अभी दक्खिन पल्ली चलते हैं।" इसके साथ ही उनकी घनी भौंहें ऊपर टँग गयी थीं और उन्होंने झिनि की ओर देख लिया था।

"हाँ ठीक है।" लिलि जैसे पहले से ही तैयार बैठी थी।

लेकिन यह मेरे लिए ठीक न था। मैं जल्दी से खा-पीकर जात्रा-पण्डाल में जम जाना चाहता था। वहाँ मंच के पास ही तो बैठना था। इसलिए मैंने कहा, "दरअसल...बात..."

अचिन'दा ने फिर धर दबोचा, "खूब असल-नकल फेंटते रहे, अब एक बार गला साफ़कर तो कहो। रात को कहीं कोपाई-खोपाई के किनारे तो नहीं जाना ?"

मुझे इधर कुछ सूझ नहीं रहा था और उधर झिनि की आँखों की पुतलियाँ चमक उठीं।

"जी नहीं...वहाँ...नहीं..." मैंने सहमते-सहमते ही बताना चाहा।

"तो फिर कहाँ ?" दरोगा साहब की जैसे तोप छूट पड़ी थी।

"आज की रात, थोड़ी देर के लिए जात्रा देखना चाह रहा था," मैंने चोर की तरह अपना अनकिया अपराध स्वीकार लिया।

अचानक लिलि ने छोटी-सी बच्ची की तरह ताली बजा दी, "ओह कितना मजा आयेगा...हम भी जायेंगे।" राधा भी पुलकित थी। लेकिन झिनि की आँखें विस्मित थीं। वह कौतूहल और जिज्ञासा से मेरी ओर देखने लगी।

अचिन'दा ने अपना सिर धुन लिया। मेरी तरफ़ उँगली दिखाकर बोले, "यह एकदम सिरफिरा है। शान्तिनिकेतन आने के बाद भी जात्रा देखना चाहता है। अरे किसी अच्छी मण्डली की जात्रा होती तो और बात थी।"

"यह बात नहीं, एक..."

अचिन'दा ने फिर मेरी बात को लपक लिया, "किसी नये जायके के लिए ...है न ? माने जहाँ से जितना भी रस मिल सकता है, निचोड़ लो...सबकुछ चूसकर ही जाओगे !"

झिनि की नुकीली आँखों में और होंठों पर कोई मुसकराहट सुगबुगा रही थी। अचिन'दा ने पूछा, "यह जात्रा अच्छी लगेगी तुम्हें ? मैंने सुना है, बोलपुर-वाले ही जात्रा कर रहे हैं।"

"इसीलिए नहीं । दरअसल आज की जात्रा में जिसे सिराज की भूमिका निबाहनी है, उससे मैंने वादा किया है ।"

अचिन'दा एकाएक कुछ बोल न पाये । मेरी ओर अपनी तीखी निगाहों से थोड़ी देर तक तकते रहे और फिर उन तीनों सखियों की ओर मुड़कर बोले, "सुना ? जनाब सिराज से वादा भी कर आये हैं । अब इनसे कोई पूछे कि सिराज कौन है ? कहाँ मिले ? कहाँ यह परिचय हुआ—हमें तो कुछ पता ही न चला । और इस बीच सारा मुहरत तय हो गया !"

तीनों सखियाँ हँस पड़ी । अब इस तरह परेशान किया जाये तो कोई क्या करे । अचिन'दा ने मेरी ओर मुड़कर पूछा था, "तुम कोई टोना-टोटका तो नहीं जानते ?"

"नहीं । यहाँ आते हुए ट्रेन पर परिचय हुआ था । वह अण्डाल में, रेलवे में नौकरी करता है । चूँकि एक साथ ही यहाँ आया थे...इसलिए ।"

अचिन'दा ने सखियों को छेड़ते हुए कहा, "लो, अब समझो !"

क्षिति अचानक तेजी से मेरी तरफ मुड़ी और अचिन'दा से बोली, 'लेकिन जात्रा की बात तो हम सबसे भी छुपायी गयी थी ।"

अचिन'दा उसी घड़ी फट पड़े, "सो तो होगा ही भाई । मज़े लूटना हो तो ये अकेला ही लूटा करेंगे, हम कौन होते हैं भला ?"

"यह बात नहीं । आप सबको वह भायेगा भी या नहीं, यह तो मुझे पता नहीं...इसीलिए...।" मैंने बताना चाहा ।

"अरे आप एक बार तो बताकर देखते महाशय ! एकदम दबा ही गये !" राधा ने भी चुटकी ली ।

ठीक ही कहा था उन सबने । मैं मन-ही-मन बोल उठा : 'बुरे फँसे ।'

अचिन'दा ने निर्णय सुनाया, "अब जब कि ख़ुद नवाब सिराजुद्दौला का न्योता है तब तो जाना ही पड़ेगा । हम सब भी उसके पीछे-पीछे जाकर चुपचाप बैठ जायेंगे । अच्छा तो फिर सब तैयार होकर आ जायें ।"

जात्राभिनय को लेकर मेरा मन तो हमेशा से भय और संशयग्रस्त रहा है । इस उम्र में भी । भय यह था कि उपयुक्त जगह पर बैठ पाऊँगा या नहीं । इसीलिए किसी तरह खा-पीकर जल्द ही आ पहुँचा था । बाउल पण्डाल के पास ही जात्रा-मंच था । लेकिन वहाँ जाकर मैंने देखा, मेरा सहयात्री अतुलदास, 'बंगाल की गद्दी' का सिराज, पण्डाल में स्वयं दरियाँ बिछा रहा था । उसके साथ और भी कई लोग थे ।

उसके उलझे-पुलझे बालों को देखकर ऐसा लगा कि उसे सोड़े से धोया गया है । भारी सिर के मुकाबिले उसका मुँह बहुत छोटा लग रहा था । आँखें धँसी हुईं । वह लुंगी और सूती चादर में था । थोड़ी ही देर में उसे 'बंगाल की गद्दी'

का नवाब बनना था ।

मन-ही-मन मुसकराता हुआ भी मैं जैसे आहत था। इन दो दिनों में उस कलाकार को बडी मेहनत करनी पड़ी होगी। उसके घर में दाना-पानी का हाल कैसा है, किसे पता? मैं उसके चेहरे को दोष नहीं दे पाया। उस कलाकार को सामने पाकर मेरा मन किसी अवसाद में डूब गया। मैं चुपचाप खडा रहा।

भीड इकट्ठी होने लगी थी। आस-पास के गाँव के लोग। स्त्रियों की गोद में बच्चे और सिर पर घूँघट। पुरुषों के हाथों में सुलगती बीड़ियाँ। बीड़ी सुलगाने के बाद वे हाथ की लालटेन बुझा देते।

तभी आँखो के सामने एक बीमार-सी स्त्री दिखी। देह पर सूती चादर थी, जिस पर रंगीन धागे से बने हुए फूल खिले थे। गोद में एक शिशु था। दूसरा एक बालक उसकी कमर से लिपटा पाँव पटक-पटककर चिल्ला रहा था—'बाबा...ओ बाबा?'

उसका बाबा कहाँ है, मैं नहीं जान पाया। किसी ने कहीं से कोई उत्तर भी नहीं दिया। थोडी देर बाद, अचानक सिराज ने उसे धमकाते हुए कहा, "अबे चुप भी होगा! तेरे बाप की यहाँ खटिया डली है! कह रहा हूँ...खड़ा रह। दरियाँ-वरियाँ बिछ जायें तो बैठ जाना...सो तो नहीं...बस रट लगाये जा रहा है।"

अच्छा तो यह सिराज का परिवार था? उसकी पत्नी ने अपने बेटे का हाथ पकड़कर आँखें दिखायीं। बीमार चेहरे पर थोड़ी बहुत क्रीम-पाउडर की भी छाप थी। माथे पर बिन्दी, होंठों पर पान की लाली।

मैं इस दम्पती के बारे में सोचने लगा था। कभी कहीं किसी घर के कोने में ...जब यह दम्पती पुराने दिनों की यादों में खोये होंगे, तब इस रात की स्मृति-गाथा भी सँजोयी होगी। पुरुष कहेगा, "तुम्हें याद है...एक बार पौष मेला की जात्रा में मैं सिराजुद्दौला बना था।"

"अरे बड़े भाई...!" मोटी भर्रायी, लेकिन धीमी आवाज़ में कोई मेरे पास पुकार उठा। मैं किसी दूसरी ही चिन्ता में खोया था। पता नहीं, इस अतुलदास ने मुझे कब और कैसे देख-पहचान लिया? मेरे लिए यह नया सम्बोधन था, इसी-लिए मैं चौंक पड़ा। आजतक किसी का 'बड़ा भाई' बनने का सौभाग्य नहीं मिला था, तभी अतुलदास के सम्बोधन से अचकचाकर रह गया। उत्तर देने में क्षणभर की देर हो गयी।

"हाँ..." मैंने कहा था।

उसने तत्काल मेरा हाथ पकड़ लिया, "आपको याद रहा आया ? आइए, बैठिए। देखिए न, किसी का पता नहीं और इधर समय हो चला।" वह मेरा हाथ पकड़ते हुए आगे बढ़ चला। मंच के सामने ही बिछी हुई दरी को दिखाते हुए उसने कहा था, "यहाँ बैठिए।"

इसके साथ ही, अपने बेटे को धमकाते हुए वह बोला, "समझ गया न, कहाँ बैठना है ! लो बैठो...यहाँ। तुम भी आओ...यहाँ बैठ जाओ।"

मुझसे दो-तीन हाथ पीछे...उसने अपने आश्रितों को उसी दरी पर बैठने का निर्देश दिया था। उसकी पत्नी वहाँ बैठ गयी। उसने गोदवाले बच्चे को सीने से चिपका रखा था। बड़े बच्चे को वह जगह बहुत पसन्द नहीं आयी थी, वह रोष मे भरा था। अतुलदास की दृष्टि उधर नहीं, वह होंठ भींचे खड़ा था। उसके चेहरे पर जो गम्भीरता छायी थी, उससे स्पष्ट था कि यह उसका परिवार है। मैंने उसकी पत्नी की ओर देख लिया। पराये पुरुष के इस तरह देखते ही उसने अपना आँचल खींच लिया था।

मैंने आसपास का नजारा देखते हुए झिझक के साथ बताया, "मेरे संग और भी तीन-चार लोग हैं। यहाँ बैठने में उन्हें कोई असुविधा तो नहीं होगी ?"

"एकदम नहीं। आप बैठिए तो सही। मैं कह रहा हूँ न, जो भी आयेंगे यहीं बैठेंगे। बाँसुरी, पखावज, तबला-डुग्गी, क्लारनेट और वायलिन बजानेवाले ही तो हैं। सब बैठ जायेंगे। कुल पाँच ही तो लोग हैं।"

सिराज की उदारता से मैं वहाँ उपस्थित दूसरे लोगों की आँखों का काँटा बन रहा था, इसमें सन्देह नहीं। जात्रा में, ऐसी शानदार जगह पर किस्मतवाले ही बैठ पाते हैं।

उधर अतुलदास को बैठने की फुरसत कहाँ ? ग्रीन रूम से किसी की हाँक पड़ी और अतुलदास किड़किड़ाकर यह कहता हुआ चला गया कि अब पाला तो भगवान भरोसे ही है, जैसा भी हो स्वीकार करेंगे।

मेरे सिर हिलाने पर उसने अपना हाथ माथे तक उठाया मानो कोर्निश कर रहा हो। कमर को उसने कुछ इस तरह झटक दिया मानो यह भी कोई नाटकीय प्रस्थान हो। सीढ़ियों से उतरकर वह ग्रीन रूम मे चला गया और टाट की आड़ में खो गया। इधर, वादकगण पधार चुके थे। तभी अचिन'दा भी अपनी फ़ौज लिये हाजिर हो गये। नीरेन'दा और सुपर्णा'दी के साथ वही तीनों सखियाँ। महफ़िल जमने में अब कोई देर नहीं। अपनी-अपनी जगह लेते समय मैंने पाया, ऋिनि मेरे पास ही बैठी है। उसके बाद उसकी दोनों सखियाँ।

पहली बार जैसे ही वाद्यों का स्वर गूँजा, मेरे बाल्यकाल की समस्त उत्तेजना मेरी शिराओं में झंकृत हो उठी। एक-एक कर तीसरी घण्टी के साथ ही, मंच पर नर्तकी का आगमन हुआ। यह धिन—ता—ता धिन के ताल पर

कूल्हे मटका-मटकाकर नाचने लगी। लगा कि नाचने के साथ वह जो गाना गा रही थी, वह कोई फिल्मी गाना था या फिर उसी की तर्ज पर बना था। इसके बाद ही नवाब सिराजुद्दौला तसरीफ़ ले आये—मेरे पूर्वपरिचित अतुलदास : लाल चेहरा, लाल होंठ और तीखी कजरायी आँखें, टेढी माँग, घुंघराले बाल और घने गलमुच्छे। उलझे-पुलझे बाल अब कौवे के घोसले जैसे नहीं। घनी मूँछें उसके नवाबी ठाट-बाट का पूरा रोब जमा रही थी। साथ ही, नेप्थेलिन बॉल की बू भी उसकी पोशाक से आ रही थी। नवाबी पोशाक, उसकी सजधज, चमक-दमक को देखकर हम चमत्कृत थे।

सिराज़ ने मंच-प्रवेश के साथ ही मेरी ओर देखा। मैंने सोचा था, वह दूसरे ही क्षण अपनी आँखें फिरा लेगा। लेकिन नही, वह मेरी तरफ़ टकटकी लगाकर देखता रहा और अपने संवाद बोलता रहा —"अम्मीजान ने मुझे यह इत्तिला दी है। खुदा जाने, बात क्या है ! नवाब अलीवर्दी अवतक इसी शशोपंज में फंसे हैं कि अगर मुझे गद्दीनशीन किया गया तो मैं उसकी हिफ़ाजत कर पाऊँगा भी कि नही।...या कि इसके भीतर और कोई दूसरी ही चाल है ! इस इमारत के एक-एक कमरे मे, पता नहीं क्या साजिश चल रही है ! और...और इसका मक़सद सिर्फ़ इस गद्दी को हासिल करना है—बगाल, बिहार और उड़ीसा की गद्दी को।"

लेकिन मैं यह देखकर बहुत ही परेशान था कि वह मेरी तरफ़ ही क्यों देखे जा रहा है ? आँखें उठाता तो उसी पर निगाह पड़ती। नवाब की स्वगतोक्ति का निशाना क्या कोई दूसरा नहीं हो सकता ? अजीब सकोच मे फँसा था मैं। झिनि और लिलि भी मेरी तरफ़ देख लेती थी। दूसरे दर्शक भी। मैं किसकी तरफ़ देखता ? इस अन्यमनस्कता से बचने का उपाय यही था कि मैं यहाँ की महफ़िल से उठ जाऊँ। इसी बीच जनाब अलीवर्दी मंच पर तशरीफ़ लाये। मेरी जान छूटी। तभी अचिन'दा का धीमा-सा मन्तव्य सुन पड़ा—"लेखक की ओर देखकर सिराज प्रेरणा जुगा रहा है शायद।"

राधा खिलखिला उठी। ऐसे गम्भीर परिवेश को गुड़-गोबर करने की सारी प्रक्रिया पूरी हो गयी थी जैसे। इधर मैं बुरी तरह झेंप गया था। लेकिन मंचाभिनय जमते देर नही हुई। और इसके लिए सौ बार भी क़सम खानी पड़े तो यही कहूँगा कि तब अतुलदास सचमुच अतुलनीय हो उठा। उसका पलड़ा सबसे भारी रहा। लोगों की सारी करतल-ध्वनि उसके ही हिस्से में गयी। भारी-भरकम मीरजाफ़र हो या गोरा क्लाइव या कि बड़ी-बड़ी कटीली आंखोंवाली लुत्फ़ुल्ला, किसी से अतुलदास की बराबरी नही। संवाद-क्रम में जो थोड़ी-बहुत भूल-भ्रान्ति हो गयी थी—'सो सुधार बुधजन सब लेहिं' वाली बात थी। सोकोरोड के क्लीनर ने अपनी तरफ़ से कोर-कसर उठा न रखी थी। अचिन'दा

जैसे लोग भी बार-बार ताली बजा देते। और जब सिराज अपनी हार के बाद, लुत्फुल्ला को साथ लेकर चला गया तो मैंने पीछे मुड़कर अतुलदास की पत्नी को देखा था। वह अपने सिर पर आँचल खींचना भूलकर कहीं खो गयी थी। सूती चादर भी अस्त-व्यस्त हो गयी थी, जिसके भीतर से उसका जर्जर शरीर दीख रहा था। गोद में ही दोनों बच्चे सोये पडे थे और माँ उसे अपने हाथों से दुलार रही थी। उसकी आँखों से आँसुओं की धार ढलक रही थी। पता नहीं, नवाब की तकलीफों से या पति के कष्ट से। यह कोई दूसरी लुत्फुल्ला थी। सिराज की हत्या का दृश्य तो और भी मर्मान्तिक हो उठा था। अतुल की पत्नी आँचल में चेहरा ढाँपे बैठी थी, इतना हृदयविदारक दृश्य वह कैसे देख सकती थी?

जात्रा देखने की प्रसन्नता किसी अवसाद मे ढल गयी थी। क्यों, यह मैं नहीं जानता! सिराज की मौत के समय अतुल क्लीनर का वह आर्तनाद 'नही...मत मारो...अब और नही...खुदा का वास्ता है मुहम्मद बेग...नहीं, इस तरह मत मारो मुझे।' उस समय मुझे लगा, मैं सचमुच नवाब सिराज को मरते देख रहा हूँ। अतुलदास सचमुच, सच्चा कलाकार है।

अभिनय समाप्त होने पर मैं उससे मिले बिना न लौट पाया। यदि उसे कोई मेडल दे पाता तो बड़ी खुशी होती। लेकिन मैं अपनी सीमाओं में निरुपाय था। उसे एक तरफ़ बुलाकर बड़े ही संकोच से मैंने दस रुपये का एक नोट बढ़ाया। उसने हाथ खींच लिया, "यह क्या? आपको अच्छा लगा—यही मेरे लिए बहुत है। हाँ, अगर सचमुच ही कोई मैडल मिलता तो उसे घर में रखता। जब भी निगाह पडती तो वड़े भाई की याद आ जाती। मैंने फिर आग्रह किया, "अब इसकी तो गुंजाइश नही। खैर, आपका मुँह मीठा करने के लिए ही...आप ले लेते तो वडी खुशी होती।"

मेरे बहुत कहने पर उसने वह नोट ले लिया और उसे तहों में करने के बाद जेब मे रख लिया। फिर गद्गद स्वर में बोला, "केवल मुँह ही मीठा नहीं करूँगा। दाल-भात तरकारी सबकुछ खाऊँगा।"

उसका चेहरा प्रसन्नता से भर उठा था।

मैं चलता जा रहा हूँ...पथ पर। किसी नाम-तत्त्व से परिचय नहीं। यदि कहीं कुछ मिल गया तो वह कभी प्रसन्नता से भरा तो कभी विस्मय से; कभी आँसुओं से तर तो कभी अवसाद मे डूबा। कभी सबकुछ मिला-जुला। अतुलदास भी इसका अपवाद नहीं। मैं उसे भी अपनी झोली में रख लेता हूँ। मुझे अतुलदास की अन्तिम बात बार-बार याद आती रही—'बड़ा सौभाग्य था...आपसे मिल

पाया। पता नहीं, कभी कहीं आपसे मुलाकात होगी...होगी भी कि नहीं!"

मेरा भी तो यही आशय है। पता नहीं, इस आदमी के साथ फिर कभी मुलाक़ात होगी या नहीं। मुझे तो यह सब उस गीत पंक्ति की तरह प्रतीत होता है, 'यही वह मानुष है। इसी मानुष में वह गोसाईं विराजमान है।'

अचानक किसी की हँसी से मैं ठिठक गया। मेरी हर तरफ़ हँसी-ही-हँसी थी और सबसे अधिक मुखर था गोपीदास का अट्टहास। मेरे मुड़कर देखते ही उन्होंने टोका, "अरे चीता बाबाजी, आप तो सचमुच किसी के ध्यान में डूब गये हैं?"

सामने बैठी तीनों सखियों ने भी पीछे मुड़कर देख लिया। मैंने विस्मय में भरकर पूछा, "किसका ध्यान?"

"यह जानता होता तो फिर क्या परेशानी थी?" गोपीदास ने सफ़ाई दी, "मैं देख रहा था कि चीता बाबाजी कुछ बोल नहीं रहे—एकदम चुपचाप।"

"हाँ, कुछ सोच रहा था।" मैंने स्वीकारा।

अचिन'दा ने गाड़ी चलाते हुए कहा, "क्या—यह कोई पूछ न बैठना!"

उनकी इस बात पर सभी हँस पड़े। गोकुलदास अपनी डुपकी पर एक ही उँगली से ताल देता रहा। सुजन और बिन्दु एक दूसरी की आँखों में ही कहीं खोये हुए थे। उनकी मुसकान में भी कोई दूसरा ही खेल रहा था। इनमें सम्मिलित होते हुए भी गोकुलदास कुछ निस्पृह-सा जान पड़ा। बिन्दु और गोकुल पति-पत्नी न भी हों, पुरुष-प्रकृति तो हैं। उसके उदास और बिन्दास मन की गहराई में कौन उतरे?

गोपीदास ने मुझे सराहते हुए कहा, "जहाँ तक नानुर जैसे गुरु-तीर्थ की बात है, उनका ध्यान तो उधर जायेगा ही। चीता बाबाजी ठहरे लिखने-पढ़ने-वाले।"

मैं उस ध्यान में तो था नहीं, लेकिन कुछ कहना बेकार होता। राधा वृद्धा ने गुहार की—"जयगुरु।"

गोपीदास गुनगुनाने लगे, "बाउल के गुरु चण्डीदास...मैं हूँ उनका दासानुदास।"

"जयगुरु!" बहुत देर के बाद गोकुल का स्वर सुन पड़ा।

मैंने आश्चर्य से पूछा, "चण्डीदास बाउलों के गुरु हैं?"

"ऐसे-वैसे गुरु नहीं, परम गुरु"—गोपीदास की दाढ़ी की एक-एक तह में रहस्यभरी मुसकान फैल गयी। आँखें नचाकर बोले, "सहज के पाँच रसिक हैं। हर कोई रसिक नहीं हो सकता। बाउल कहते हैं, इस भाव के पाँच ही रसिक हैं—बिल्वमंगल, जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति और शेखर राय।" एक-एक

रसिक का नाम लेते हुए वह अपने हाथ को सिर से छुवाते। उनके साथ राधा वृद्धा, गोकुल, बिन्दु और सुजन भी उनका अनुकरण करते हुए हर नाम के बाद 'जयगुरु' 'जयगुरु' कहने लगते।

भक्ति किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता। लेकिन इनकी मुद्राओं से मुझे लगा, वहाँ भाव का मेला लगा हुआ था। वहाँ दिक्, स्थान और काल—सभी खो गये थे। यहाँ तक कि यह भी भूल चुके थे कि वे सभी एक विलायती गाड़ी में बैठे हैं। बाउल और वैष्णवों में कितना अन्तर है, यह भी मैं नहीं जानता। लेकिन बाउल गोपीदास ने परम गुरु रसिक कहकर जिन-जिनका नाम लिया, वे सभी कृष्ण-भक्त और राधाकृष्ण लीला के गायक कवि रहे हैं। बाउल सम्प्रदाय से उनका कितना सम्बन्ध रहा है, यह मुझे नहीं मालूम। गोपीदास के शेखरराय भी सम्भवतः वैणव पद रचयिता रायशेखर ही हैं। सबके सब तो एक दूसरे से अन्तर्भुक्त हैं। बाउल जिस तरह रहस्यभरी बातें करते हैं, 'मन के मानुष' को पुकारते फिरते है, उनके पदों से ऐसा कुछ नहीं जान पड़ता। और ना ही जान पड़े तो क्या ? सुनता जाऊँ, यही बहुत है।

गोपीदास मेरी ओर देख-देखकर उसी 'रसिक' की महिमा गाते रहे और उनके साथ, अचिन'दा और तीनों सखियाँ भी ताल देती रहीं। गोपीदास की पंक्ति को आगे बढ़ाते हुए अचिन'दा गा उठे—

"राधा बिन कृष्ण नहीं, कृष्ण बिना राधा
जुगल जोड़ी मिली रहे, फिर न कोई बाधा"

गोपीदास अपनी हँसी और खाँसी की मिली-जुली संगत में गाते रहे—

"बिल्वमंगल के रस मे डूबी चिन्तामणि
चण्डीदास के मन मे बसी रामी रजकिनी"

अचिन'दा के साथ बाउल भी 'जयगुरु' 'जयगुरु' कहते हुए गाने लगे—

"जयदेव हैं रस के सागर, प्रकृति पद्मावती
लछिमा देवी प्रेम की धारा, जाने विद्यापति..."

अचिन'दा ने अचानक ऊँची आवाज़ मे कहा—

"राधा देवी प्रेम की धारा, जाने गोपीदास..."

सुनते ही गोपीदास पुकार उठे—"बलिहारी है, बलिहारी..." और उनकी बूढ़ी देह किसी पुलक में भरकर काँपने लगी। वह सुजन की गोद से उठकर एकबारगी वृद्धा राधा के पैरों में झुक गये और चरण-रज लेकर पहले माथे से और फिर जीभ से लगा ली। उनका चेहरा दिप गया था, आँखें छलछला उठी थीं।

वृद्धा राधा की भी लगभग यही दशा थी। आँखें छलछल, वाणी रुद्ध। उसके होंठ काँप रहे थे। वह आहिस्ता-आहिस्ता उठी, नीचे मुड़कर गोपी-

दास के पाँवों की धूल लेकर माथे से लगायी और फिर जीभ पर रख ली।

दूसरे ही क्षण, मैंने देखा कि गोकुल ने बिन्दु के पाँव छू लिये। सुजन ने भी हाथ बढ़ाकर बिन्दु के पाँव छुए। दोनों एक-दूसरे को देर तक चुपचाप देखते रहे। फिर बिन्दु ने जल्दी-जल्दी उनके हाथों को अपने माथे से छुआते हुए अपने पाँव की धूल उनके हाथों से लेकर मुँह में रख ली। तब उसकी आँखें मुँद गयी थीं और पलकें भीग उठी थीं।

गोपीदास धीमे स्वर में गुनगुनाते रहे—"कृपा करो हे गुरु, तुम्ही माँ, तुम्हीं पति, तुम्ही पत्नी, तुम्ही पुरुष, तुम्ही परकिति।" अपने दोनों हाथ सीनेपर रखे वह जैसे कोई मन्त्र बुदबुदाते जा रहे थे। दूसरे सभी चपचाप। अचिन'दा भी सामने की ओर देखते हुए गाडी चलाते रहे। मैं उनके चेहरे के भाव पढ़ न पाया। मुझे यह भी सन्देह हुआ कि झिनि की बड़ी-बड़ी आँखें भी कही डूब चुकी हैं। राधा और लिलि भी कौतूहल और जिज्ञासा से सबकी ओर टुकुर-टुकुर तक रही थी।

मैं इस नये स्वर को पकड़ न पाया। एक अनजाना-सा स्वर। जैसे कोई झुटपुटा-सा घिर आया था सामने। न ही इस उलटबाँसी को समझ पाया। परस्पर पाँव की धूल का यह विनिमय और वे छलछलाती आँखें! इस चुप्पी में मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी दूसरी ही दुनिया मे आ गया हूँ। इनकी पूजा-अर्चा, साधना-चर्या कुछ अलग-सी ही थी। सम्भवतः ये केवल किसी विश्वास को ही लेकर नही चल रहे, इनका अन्तर किन्हीं दूसरी ही तरंगों में तिर रहा था। एक दूसरे का चरण-स्पर्श, फिर उसका प्रसाद-ग्रहण और इसके वाद अश्रुपात! मैं अब भी कुछ नही समझ पाया। इस सत्य का स्वरूप क्या था—कौन जाने?

अचानक गोपीदास ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर पूछ लिया, "चीता बाबाजी, आप कुछ समझ पाये?"

"नही," मैंने अस्वीकृति में सिर हिला दिया।

बूढ़े ने घरघराहट भरी हँसी के साथ कहा, "समझ पायेंगे कैसे भला? कोई गुरु साधा है?"

"गुरु?" मैंने विस्मय से पूछा।

"हाँ...गुरु! अरे बाबाजी, गुरु भी कई तरह के होते हैं—लक्कड़ गुरु, फक्कड गुरु। लेकिन प्राण-गुरु कोई दूसरा ही होता है। और इस असली गुरु पाने के लिए तो सामनेवाले को ही गुरु बनाना पड़ता है।"

मैंने उनकी आँखों में फिर रहस्यमरी झलक देखी। वह भौंहें मटकाकर अपनी बात कह रहे थे और मैं अबूझ बना टकटकी लगाये देख रहा था। गोपीदास उसी रहस्यलोक से बताते रहे, "बाबाजी, पद्मावती के चरण का महातम यही है कि उस पर जयदेव के श्रीचरणों की छाप है। रजकिनि के पाट का भी

यही रहस्य है। इसीलिए तो चण्डीदास भजते रहे—'तुम रजकिनि मेरी रमणी, तुम ही तात माता। त्रिकाल सन्ध्या तेरा भजन, तुम्हीं गायत्री तुम्हीं वेदमाता।' कुछ समझे बाबाजी, गुरु कैसे होते हैं ? आपने कालाचाँद की उक्ति नहीं सुनी ? 'राधे तुम्ही मेरी गति, तुम्हारे लिए तुम्हारे प्रेम तत्त्व के लिए गोकुल मेरी स्थिति' मैं उसी गुरु की बात कह रहा था, समझे बाबाजी !"

यह कहते हुए उन्होंने अपनी भौंहे उठाकर झिनि की ओर देखा। झिनि के चेहरे पर लाजभरी लाली दौड़ गयी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें गोपीदास पर टिक गयीं।

गोपीदास की बातें सुनकर मैं जो कुछ समझ पाया, वह भी न समझ पाने जैसा ही था। इतना ही जान सका कि चण्डीदास रामी की पूजा करते थे। राधा ही कृष्ण की गति है। मुझ-जैसे भगोड़े के लिए, राह चलते-चलते इस गुरु तत्त्व को पकड़ पाना मुश्किल ही था। गोपीदास झिनि की ओर देखते रहे। झिनि के चेहरे पर ही नहीं, उसकी आँखों में भी कोई रहस्य खेल रहा था। वह गोपीदास की तरफ़ देखती हुई कुछ पाना चाह रही थी। राधा और लिलि होंठ भीचे मुसकरा रही थी। गोपीदास ने मेरे कन्धे को धीरे-धीरे थपथपाकर फिर पूछा, "हाँ तो बाबाजी, कुछ समझे ?"

न समझ पाने मे भी क्या नुकसान था भला। इस संसार मे बहुतों को बहुत कुछ का पता नहीं। तो फिर यह तत्त्व भी अनजाना ही रहे। मैंने इसी-लिए सिर हिला दिया। गोपीदास ने अपनी घर्र-चर्र करती आवाज मे बताया, "एक गुरु बाप है, उसकी अलग शिक्षा है। एक गुरु माँ है, उसकी दूसरी शिक्षा, है कि नहीं बाबाजी ? फिर स्कूल के मास्टर बाबू कोई दूसरी ही शिक्षा देते हैं। अब रहा कि प्रेम रस की शिक्षा कौन देगा ? बताइये तो कौन देगा ?"

मेरी जिज्ञासा आँखों मे ही टँगी रह गयी, कुछ कह न पाया। बिन्दु ने मेरी ओर तकते हुए अपने लाल आँचल से अपने रूखे बालों का एक गुच्छा, जो उसके गालों पर झूल रहा था, ढँक लिया। फिर अपनी गर्दन हिलाकर ये पंक्तियाँ दोहराने लगी—

"मैं गुरु करूँगी सैकड़ों, मन्त्र धरूँगी सार।
जिस संग मेरा अन्तर धाये, दूँगी उसको भार।"

इतना कहकर उसने गोकुलदास की ओर देखा और गोकुलदास ने भी सिर हिला दिया। बिन्दु ने सिर घुमाकर फिर सुजन की ओर तक लिया। सुजन पहले से ही बिन्दु के चेहरे की अपूर्व झिलमिलाहट कुछ इस तरह पढ़ रहा था, मानो

अपनी पुतलियों मे किसी देवी की आरती उतार रहा हो। बिन्दु की आंखें भी प्रेमाविष्ट हो चुकी थी।

"हां, बिन्दु तुमने एकदम ठीक कहा। यहां गुरु, वहां गुरु, गुरु है ढेर-सारे। लेकिन हृदय मे जो गुरु बैठा है, वही इस गिनती में छूट गया। इनमें जो रस-गुरु है, वही प्रेम-गुरु है। *प्रीत जिसका नाम है, वह न हो तो जीव मूरख है, मूढ़ है, बुजरक हैं।* ढाई आखर का प्रेम ही सारे ससार में छाया हुआ है।"

अचिन'दा फिर बोल उठे, "इसके साथ ही इसे उस गान की पंक्ति भी सुना दो जिसमे कहा गया है: जो जन प्रेम का भाव न जाने, उसके सग क्या लेना-देना..."

"इसीलिए तो बाबाजी को गुरु खोजने के लिए कह रहा हूँ," गोपीदास ने समझाना चाहा —"वरना प्रेम रस चाखेंगे कैसे?"

अचिन'दा फिर लपक उठे, "चीता यह सब नही करता। उल्टे वह गुरू का ही शिकार कर बैठता है।"

सभी उनकी बातों पर हँस पड़े। मैं अजीब से संकोच मे फँसा पड़ा था। आँखें उठाकर देख नहीं पाया। जानता था, झिनि की आँखें मुझपर लगी हुई हैं। मेरे मन में कोई दूसरा ही प्रश्न था। गोपीदास की बातो ने और भी उलझा दिया था मुझे। इनकी साधना का रहस्य, इनका साधन तत्त्व, मेरी समझ के बाहर था। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव पदकर्त्ता इनके गुरु है,। ऐसा क्यों है, मैं नही जान सका। कृष्ण को भी ये ईश्वर नहीं कहते। केवल 'गुरु गुरु' कहते हैं। या केवल प्रेम की दुहाई देते हैं। पद्मावती, रानी रजकिनी और रानी लखिया के सन्धान-हेतु ही सारा आत्मदान है। समस्त घटना-चक्र और घर-संसार की चर्चा और चर्चा में प्रेम-ही-प्रेम। इस प्रेम-साधना के लिए गुरु का आसन भी नारी के प्रति समर्पित है। इस प्रेम तत्त्व को न जानते-समझते हुए भी, मेरे अन्तर का आवेग तरंग-विह्वल हो उठा। कोई स्रोत-सा उमड़ पड़ा। आनन्द की जगह कही कोई हाहाकार था, जो मुझे छील रहा था। हृदय के ओर-छोर के बीच न जाने यह कैसी रिक्तता थी। इस अनुभव की व्यथा को अभिव्यक्त कर पाना सचमुच कठिन था। ठीक इसी समय गोपीदास महीन स्वर में गा उठे —

"सखी काहे मोरा हिया कांपे नैन बहे झर झर
थर थर कांपे प्रान बाजे वंसी मधुर स्वर।"

गोकुल का यह स्वर कीर्त्तन की तरह आर्द्र हो उठा। वह सामने की तरफ़ ताकते हुए गा रहा था! किसी की ओर उसकी दृष्टि नहीं। अपनी ही धुन में खोया। स्वर में विभोर। उसके भीगे स्वर में कोई विलाप था, विषाद था। पूरी गाड़ी का परिवेश ही कुछ अनूठा हो उठा था। झिनि अपनी दोनों सखियों

समेत मुड़कर देख रही थी। गोपीदास बोल उठे, "तभी तो पिरीत परकिति के फन्दे मे पड जाती है।"

उसी घड़ी गाड़ी बायीं तरफ़ मुड़ी और अचिन'दा ने घोषणा की, "नानुर आ गया।"

नानुर या कि नान्नुर। एक ही बात है। उसे ही चण्डीदास कहते हैं। मैं न कोई इतिहास लिखता हूँ और न इतिहास के बारे में जानता ही हूँ। न मैं किसी तर्क में पड़ना चाहता हूँ। मेरे लिए सारे कवितीर्थ समान हैं।

उसी नानुर में हमारा आगमन हुआ था। अचिन'दा ने एक परिचित यात्री की तरह अपनी गाडी खड़ी की। मैंने आँखें मलते हुए देखा, सामने वीरभूम का एक गाँव था, मिट्टी के घर और फूस के छप्पर। पक्का मार्ग वहीं समाप्त हो गया था। कच्चे रास्ते के दोनों किनारे चाय और परचून की दुकानें। आस-पास हल्की-सी भीड। और भीड के ऊपर धुआँ छाया हुआ, जलती बीड़ियों का। पास ही छोटी-मोटी और दुकानें थी—मूढ़ी और लाई की। हमे देखकर सभी या तो भौंचक थे या चौकन्ने। स्वाभाविक ही था। मोटरगाडीवाले शहरी बाबू के साथ इकतारा या दोतारा लिये अँगरखा पहने बाउल फकीरों का दल कैसे आ गया? शायद इतनी-सी ही जिज्ञासा थी। नानुर मे ऐसे कितने ही बहुरूपिये आ जुटते हैं। उनकी तरफ मुँह बाये खड़े रहे तो घर-गृहस्थी का दिवाला ही निकल जाये!

अचिन'दा हमे गाँव के भीतर ले चले। बाउलों के दल ने पाँव आगे बढ़ाने के पहले इस रसिक शिरोमणि की लीलाभूमि की धूल को अपने माथे पर रख लिया। 'जयगुरु जयगुरु' कहते हुए वे सब भी आगे बढ़ चले। मेरा हृदय भी जैसे धड़क उठा था आगे बढ़ते हुए। मैंने देखा, सामने ही एक बड़ा-सा जलाशय था, जिसके किनारे पर ही धोबी-पाट था। पर कोई भी वहाँ कपड़े नही धो रहा था। उस पार, पेड़ की छाया-तले माथे पर आँचल खींचे और बगल में कलसी लिये कोई चली जा रही थी।

क्या यही उस धोबिन का पाट है? और कौन-सी है वह जगह जहाँ बाशुली का पुजारी ब्राह्मण पानी मे बंसी डुबाये मछली मारा करता था? कहाँ है तीन कोस दूर पर वह तेहाई गाँव, जहाँ से रजकनन्दिनी नानुर के बाशुली जलाशय में कपड़े धोने आती थी?

दाहिनी ओर ऊँचा किनारा था, जिसकी दूसरी तरफ एक और तालाब था। आस-पास उजाड़-सी जमीन, इर्दगिर्द ताल वृक्ष और बावले की झाडियाँ। यह गाँव का ही एक हिस्सा था। कटे हुए धान के खेत। लगा, जैसे चारों ओर किसी वैरागी का गेरुआ अँगरखा ही लहरा रहा हो। बैलगाड़ियाँ आ-जा रही थीं। इधर-उधर फैले पलाश के अनफूले पेड़ खड़े थे, और सेमल की नंगी

डालियाँ पगली हवा के झोंकों के साथ झूम रही थी।

मैं एक रसिया के स्थल से किसी दूसरे मरमी की लीला-भूमि पर आया था। इन्हीं राहों, खेतों, पगडण्डियों पर वे चलते रहे होंगे, जिनके गीतों में बचपन की धूलभरी आँख-मिचौली से लेकर यौवन का उन्मत्त प्रेमावेग मचलता रहा। मैं सिहर उठा। पुलक से भर उठा मेरा जी। यहाँ की धूल पर जिनके चरणचिह्न हैं, इन हवाओं में जिनकी उसाँसें हैं, कहाँ, किस एकान्त में बैठे रहते होंगे वे कवि, भाव-छन्दों को गुनते हुए!

अचानक शरीर में किसी का स्पर्श जगा, "ओ महाशय, चलिए," लिलि मेरा कुरता पकड़कर कह रही थी, "सभी जा रहे हैं।"

अचिन'दा आगे बढ़ते जा रहे थे। उनके पीछे-पीछे गोपीदास और दूसरे लोग जलाशय की बायीं ओर से गाँव के भीतर जा रहे थे। तीनों सखियों ने एक बार मेरी ओर देखा और खड़ी हो गयीं। मेरी आँखें झिनि से जा टकरायीं। वह घाट के एक किनारे पर खड़ी थी। उसके पास ही राधा खड़ी थी।

अचिन'दा कह रहे थे, "अरे उसे बुला लाओ। कहो कि उधर कुछ भी नहीं, सबकुछ इधर है।"

और इसके साथ ही गोपीदास ने ठेका लगाया, "हाँ...कहीं चीता बाबाजी दिशाभ्रम में ही न पड़े रहें।"

झिनि को बगल करती हुई राधा ने मुझसे कहा, "आप तो एकदम डूब ही गये हैं ? चलिए, पहले मन्दिर तो देख आयें।"

पोखर पार करते ही, कच्चे घरों की कतार थी, और बीच में सँकरी-सी गली। इसके बाद एक ऊँची-सी टेकरी, जिसपर मन्दिर का शिखर दीख रहा था। हम सब मन्दिर के प्रांगण में उपस्थित हुए। वहाँ हमारे अलावा और कोई न था। चारों ओर चुप्पी-सी थी। रह-रहकर उल्लू की चीख और झींगुर का स्वर सुन पड़ते। एक ओर बाशुलीदेवी का मन्दिर था, उसके सामने एक और मन्दिर था। हमने बाशुलीजी का दर्शन किया। काले पत्थर की मूर्ति। इस विग्रह को लेकर भी कई कहानियाँ हैं। कोई इसे बाशुली कहते हैं, कोई वासली तो कोई विशालाक्षी। कोई बौद्ध देवी कहता। 'नित्य-सहचरी' की संज्ञा तो चण्डीदास ने अपने पदों में भी दी है, 'डाकिनी बाशुली, नित्य सहचरी'...मैंने देखा यह किसी चतुर्भुजी वागीश्वरी की मूर्ति है—वीणा पुस्तकधारिणी, जपमाला लिये, विद्यादेवी 'व्रजेश्वरी'।

यही बाशुली देवी रुधिरकामिनी चामुण्डा देवी भी है। चाहे जो भी हो, मैं तो चण्डीदास के अनुसार इसे 'प्रेम प्रचारक गुरु' मानता हूँ। अनन्य प्रेम के उपरान्त भी, जब लोकापवाद, अत्याचार और पीड़न से चण्डीदास ने त्रस्त होकर अपनी रजकिनी प्रेमिका को छोड़ना चाहा होगा तो रामी ने विरह कातर स्वर

में विलाप किया था—'स्वामी मैं रजकबाला हूँ। हे गुणमणि ! इस प्रेम की रीत को जान-बूझकर न छोड़ो। बाशुली के वचन को न त्यागो। हे रसिक शिरोमणि, मेरा प्रेमनिवेदन न ठुकराओ !'

चण्डीदास बाशुली का आदेश कैसे न मानते ? रामी का परित्याग नहीं कर पाये। प्रेम ही जिस साधक की पूजा हो, शिल्पी की साधना हो, वह इसे कैसे झुठला सकता है ?

पता नहीं, वह प्रेम कैसा था ? प्रेमसृष्टि कैसी थी ? जिस प्रेम-पदावली में उन्मुक्त और विह्वल प्रेम का छन्द फूटा था, उसके मूल में इन्हीं देवी की प्रेरणा थी। उस देवी को नमस्कार ! करोड़ों बार नमस्कार ! मैं यह भी सोच रहा था कि जहाँ बौद्ध, हिन्दू और वैष्णव मान्यताएँ जुड़ी हों, वहाँ राधाकृष्ण के प्रेमगीत कहाँ से आ जुड़े ? आँखें मुड़ीं तो देखा अचिन'दा पास ही खड़े हैं। मन्दिर के खुले दरवाज़े से टिकी झिनि भी दिखी। गोपीदास का दल दर्शन के उपरान्त नीचे उतरकर जा चुका था। दूर कहीं इकतारा बज रहा था। राधा और लिलि गुम थीं कहीं। दायीं ओर जो पुराना दालान था, शायद वहीं गयी हों। या फिर मन्दिर के प्रांगण की प्रदक्षिणा कर रही हों।

वैसे यह मन्दिर ही सबकुछ नहीं। किताबों में पढ़ा है कि पाँच सौ वर्ष पुराना वह आदि मन्दिर कब का ढह चुका। यह मन्दिर तो बहुत बाद का है। शायद उसी पुराने मन्दिर में काला चाँद और राय किशोरी थे। परवर्ती पदावली के नायक-नायिका भी तो वही दोनों थे।

अचिन'दा भी अपने ही ध्यान में डूबे थे। क्या सोच रहे हैं वे इस प्रेम गुरु देवी के समक्ष ? वसन्तोत्सव की रात, आम्रकुञ्ज वाली नीरजा तो याद नहीं आ रही ? आखिर कहाँ मग्न हैं ?

उनसे पूछने का मैंने साहस नहीं किया। मेरी आँखें झिनि से जा टकरायीं जो दरवाज़े से टिकी मेरी ओर तक रही थी। यहाँ आते हुए वह जितनी चंचल दीख रही थी, अब उतनी ही गम्भीर हो चली थी। आँखों में कोई रहस्य झिलमिला रहा था। होंठों की हँसी हिरा गयी थी। शीतकाल की ठण्डी सुबह के कारण कोई रूप-प्रसाधन नहीं था। रूखे बालों का ढीला-सा जूड़ा और लाल किनारी की बासन्ती साड़ी। कांधे पर बेल-बूटेवाला एक रेशमी शाल। किसी बैरागिन की तरह दीख रही थी। उसका चेहरा भी उदास-सा लगा। उसकी आँखों में अस्पष्ट उद्वेग और अपरिचित-सी जिज्ञासा थी। मैं देवी बाशुली की ड्योढ़ी से नीचे उतरकर दूसरे मन्दिर चला आया। आस-पास कहीं भी, राधाकृष्ण का कोई विग्रह नहीं। इसी बीच कोई गा उठा था...

"प्रीत अनल है प्रीव गरल

सुन री कुल-वधु

मेरा बचन परख देख
चख ले प्रेम-मधु
प्रीत की आग में जल न जाये तेरा अक्षय सुख
प्रेम है—दुख है दुख..."

गोकुलदास का स्वर है शायद। मन्दिर के प्रांगण से उतरकर उनका दल किसी गृहस्थ के बरामदे पर चौकड़ी जमाये बैठा था। मैं कुछ खोया-खोया-सा दूसरे मन्दिर की ड्योढ़ी पर आ खड़ा था, जहाँ कोई दूसरा न था। मन्दिर की खामोश चारदीवारी के अलावा कहीं कुछ नहीं। उस पार बाशुली देवी के मन्दिर का शिखर और प्रेमपद की पंक्तियाँ।

कहाँ गये सब-के-सब? मैं धीरे-धीरे नीचे उतर आया। चारदीवारी के दरवाजे के पास ही गोपीदास खड़े मिले। मुझे देखते ही बोले, "तभी मैं सोच रहा था, चीता बाबाजी गये कहाँ?"

इसके साथ ही, किसी के पाँव की आहट ड्योढ़ी के पास जाग उठी। झिनि खड़ी थी वहाँ। कहाँ थी वह इतनी देर? कब आयी? क्या कहना चाहती थी वह? क्यों देख रही थी इस तरह? उसने कुछ कहा नहीं, बस मेरी ओर देखती रही। मैंने गोपीदास से पूछा, "गोपीदास, कहाँ गये सब?"

"जहाँ जी में आया होगा, आप दोनों की तरह ही।" गोपीदास ने हँसकर उत्तर दिया।

आप दोनों! शायद गोपीदास अब भी वही कुछ सोच रहे थे। मैंने उनसे दूसरा ही प्रश्न पूछा, "आप पहले भी यहाँ आ चुके हैं?"

गोपीदास की आँखें घूम गयीं, "पहली बार ही क्यों? हर वर्ष। आये बिना रह ही नहीं सकता। हर वर्ष यहाँ और फिर एक बार कीर्णाहार जाता हूँ। वहीं तो उन दोनों की समाधि है।"

मुझे इस बात का पता न था। "वे दोनों कौन? चण्डीदास और रामी?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"और क्या? सबको पता है। वहाँ एक पुराना लाल मन्दिर था, जहाँ बैठकर दोनों प्रेम-गीत गाते थे। वही मन्दिर उन पर गिर पड़ा था।"

मुझे एक दूसरी कहानी याद आ गयी। एक बार गौड़ राजा ने चण्डीदास से पदावली सुनाने का आग्रह किया था। अपनी संगिनी रजकिनी के साथ वह गीत सुनाने पहुँचे। गौड़ की रानी चण्डीदास का गीत सुनकर और उन्हें सामने पाकर मुग्ध हो उठी। हवेली में रहकर भी वह कवि से मिलने को आतुर हो उठी। राजा को आदेश देना पड़ा—'हाथी से बँधी जंजीर के नीचे कवि को मार डालो।' इसे सुनते ही रानी मूर्च्छित हो गयी और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। उधर चण्डीदास के साथ ही रजकिनी ने भी प्राण त्याग दिये।

कितने ही आख्यान। क्या सच है और क्या झूठ—इस पचड़े में कौन पड़े ? आशय यही है कि दोनों साथ जिये और साथ मरे।

मैंने गोपीदास से पूछा, "लेकिन यहाँ राधा-कृष्ण का कोई विग्रह था...?"

"अब तुम्हें कैसे समझाया जाये चीता बाबाजी," गोपीदास अपनी दाढ़ी लहराते हुए हँस पड़े—"यहाँ राधा और कृष्ण क्यों रहने लगे ? कहीं तुम पदावली की बात तो नहीं कर रहे ?"

गोपीदास ने मुझे पहली बार 'तुम' कहा था। इतनी देर के बाद सहजता का बोध हुआ और दूरी कम हुई। मैंने कहा, "हाँ।"

गोपीदास ने अपनी दाढ़ी को मुट्ठी में भर लिया और मेरे पास आकर धीरे-धीरे कोई रहस्य भरी बात कहने लगे, "राधा-कृष्ण की लीला कहाँ है ? उसी बहाने अपनी बातें है। समझे ? धोबी की बेटी और चण्डी ठाकुर के बारे में सोचो ज़रा। इन दोनो की जो लीला है, वही मिल-जुलकर राधा-कृष्ण हैं। जिस दुःख से राधा रोती है, रामी भी उसी कष्ट से विलाप करती है। है कि नहीं ? अँ...ठीक...! अब देखो उसी रसतत्त्व के कारण कृष्ण राधा के पाँव पकड़ते हैं। और चण्डीदास रामी के चरणों पर लोटते हैं। ऐसा है बाबाजी, तुमने रसिकों की पदावली तो सुनी है, उनकी चर्चा नहीं देखी।"

उनकी बातों के बीच ही बिन्दु और सुजन आ गये। वे भी उनकी बातें सुनने लगे। पूछने लगे, "किसके बारे मे कह रहे हो बाबा ?"

गोपीदास ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें गोल की और सिर हिलाते हुए बोले, "उसी एक तत्त्व की। राधा और कृष्ण जो कुछ साधते हैं, पुरुष और प्रकृति भी वही साधते हैं।"

और गोपीदास ने चण्डीदास का पद गान प्रारम्भ कर दिया। उनके साथ, बिन्दु भी गुनगुनाने लगी। इस पद में गोपन प्रेम की महिमा का बखान था। गोपीदास आँखें बन्द कर कभी गान गाते, कभी कातर हो उठते और कभी जोर से चिल्ला उठते—'जयगुरु ! जयगुरु !!'

मैं अपने मन के अन्धेरे में ही सिर पीटता रहा। उधर गोपीदास ने बिन्दु के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "जीती रहो माँ...गुरु तुझ पर दया करेंगे बेटी, तू उनकी कृपा पायेगी।"

चण्डीदास की पदावली मे बाउलों की-सी उलटबांसी मैंने पहले नहीं सुनी थी। मैं उनके पद का अर्थ और आशय अबतक नहीं समझ पाया था। आँखें फाड़कर देखता-सुनता रहा। सुजन भला कैसे रुकता ? उसकी देह साँप की तरह झूम रही थी। वह दोतारा बजाकर बिन्दु की तरफ़ देख लेता। गोपीदास ने मेरी ओर देखते हुए कहा, "जिसे राधा और गोपी मिलकर साधते हैं, वही रामी और चण्डीदास मिलकर साधते हैं...समझे बाबाजी !"

"नहीं।" मैंने अपना सिर भर हिला दिया।

"क्यों, तुमने सुना नहीं," गोपीदास ने रहस्यभरी हँसी हँसते हुए कहा, "या फिर रसराज शृंगार का मरम नही समझे? 'शृंगार का मरम जो बूझे, उसे ही धरम सूझे।' तुमने नहीं सुना यह?"

मैं अस्वीकृति मे सिर हिलाता रहा। सुन-सुनकर अचरज से भरता जा रहा था केवल। गोपीदास मुसकराते हुए रामी और चण्डीदास की उद्धतियों से प्रेम-गुरु और शृंगार रस कल्पतरु की पुष्टि करते रहे। उनकी आंखें छलछला उठी। पता नही, किस लोक में खो गये। बिन्दु जो अबतक किसी सम्मोहन मे पड़ी थी, फिर गुनगुना उठी—

"मेरा परान पुतुल लेकर नागर करते पूजा
उनका परान पुतुल लेकर मैं करती हूँ पूजा
और न कोई दूजा..."

गोपीदास की आँखें आंसुओं मे डूब गयी। उन्होने बिन्दु के सिर पर हाथ रखकर फिर कहा, "वाह बेटी, वाह! जीती रह।' और मेरी तरफ़ मुड़कर बोले, "समझे बाबाजी, चर्या से तो चण्डीदास बाउल हैं, लेकिन भाव से रसिक।"

"कुछ बूझे?" उन्होने मेरी ठोढी को उठाकर पूछा।

"बूझना चाहता हूं," मैंने कहा।

गोपीदास की घरघराहटवाली हंसी गहरा गयी। बिन्दु की आँखें मुंदी-मुंदी-सी थी। वह कभी-कभार मुझे देखकर मुसकरा भर देती। सुजन इसी तरह दोतारा बजाता रहा। गोपीदास ने मेरे सिर पर हाथ रखा और हौले-से मुसकराये, "मोटी बात यह है बाबाजी कि पुरुष और परकिति का मिलन हो। और जब मिलन है तो विच्छेद भी। जिन्दा शरीर मे जो मुर्दा पड़ा रहता है, जगजाने पर उसी में ज्वार-सा उठता है। बहुत मुश्किल है यह सब। प्रीत में साधन और साधन में प्रीत। चण्डीदास ऐसे ही साधक थे।"

मैं अब भी कुछ नही समझ पाया। हां, गोपीदास का स्वर मेरे अन्तर में गूंज उठा था। देहतत्त्व का सहज शृंगार और प्रेम-साधन और इनके बीच कोई रहस्यभरी चर्या। मैं नहीं समझ पाया, इसका धर्म और मर्म क्या है? इतना ही जान पाया, जो प्रेम भजता है वही सच्चा साधक है। फिर यह प्रेम भी, केवल दुख उठाने के लिए है। जब सच्चे सुख का आगमन होता है, तब आदमी सारे दुख-ताप से परे हो जाता है। वह एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच जाता है, रूप को छोड़कर अरूप में। वहां आंसुओं के बीच भी मुसकान के फूल झरते हैं। पता नही, वह अनुभूति कैसी होगी! अभी तो ऐसा लग रहा था, जैसे मेरे अन्तर में धुआं रुँधा पड़ा हो। बातें खत्म हो गयी लेकिन मैं जो पाना चाह रहा था, वह मिला नहीं। हृदय की शून्यता मे कोई झंझा हहराती रही।

"चलो बिन्दु, देवी बाशुली के पास ही जाकर थोड़ी देर बैठेंगे," गोपीदास ने पुकारा। वह उठ पड़े और चलते-चलते गुनगुना उठे, "रसिया कोई चाहिए तो रस की खोज में जा।"

जिसका नाम-ठिकाना और रूप नहीं मालूम, उसे ढूँढूँ कहाँ? उसे उसकी लीला भूमि में, उसकी एक-एक राह में ही खोज रहा हूँ। वहाँ की धूल सिर पर धार रहा हूँ।

मैंने यह भी सुना था कि यहीं पर कहीं रामी की झुग्गी भी है। वही देख आऊँ तबतक। लेकिन पीछे मन्दिर की ड्योढ़ी पर ही झिनि खड़ी मिली। उसे अनदेखा करके कैसे जाता? क्षणभर बाद मैंने फिर मुड़कर देखा तो ड्योढ़ी सूनी थी। ठीक ही हुआ। मैं मन्दिर की चारदीवारी को पार करता हुआ गाँव की तरफ़ निकल गया। किसे पता है, पाँच सौ साल पहले भी यही रास्ता था या नहीं। गृहस्थों की झोपड़ी, आँखान और खलिहान थे या नहीं। दरवाज़े पर गायें बँधी रही होंगी या नहीं। शायद सबकुछ ऐसा ही रहा होगा। बाशुली मन्दिर की परिचालिका रजक नन्दिनी रामी ही तो थी। धोना-बुहारना उसी के जिम्मे था। और पूजा का दायित्व चण्डीदास पर। शायद इन्हीं पेड़ों के नीचे खड़े होकर गाँववालों ने उनपर कलंक मढ़ा होगा। उधर बाशुली का आदेश पालित होता रहा और इधर 'घोबन के पाँव' आँसुओं से पखारे जाते रहे। प्रेम की ही साधना में नहीं, रामिनी के पदों मे भी कविता के फूल खिल उठे। पीड़ा के फूलों का नाम ही कविता है। प्रेम की माटी पर विरह के विरवे ही कविता को जन्म देते हैं।

मैं उसी पथ पर आगे बढ़ता जा रहा था। मुझे याद ही नहीं रहा कि मैं किस युग का प्राणी हूँ। कालातीत हो उठा जैसे। लगा, जैसे मैं युगल-स्वर में कोई लीला पद सुन रहा हूँ और साथ-ही-साथ मृदंग और झाँझर की ध्वनि।

सचमुच, कुछ पता न चला, मैं कहाँ आ गया! निर्जन जंगल और बाँस की झाड़ियों की ओर जहाँ सामने ही खाली खेत पड़े थे। अचानक किसी के पुकारने की आवाज़ आयी। मैं रुक गया। मुड़कर देखा मैंने, झिनि मेरे सामने खड़ी थी और पूछ रही थी, "आप गाँव के बाहर कहाँ जा रहे हैं?"

"अच्छा! और तुम कहाँ से चली आ रही हो?"

"आपके पीछे-पीछे।"

मुझे अब होश आया। मैंने देखा, झिनि की आँखों मे कोई उद्विग्नता और निराशा की छाया थी। मैंने पूछा, "वे सब कहाँ हैं?"

"मन्दिर के आस-पास ही।"

"तो फिर वहीं चलें।" मैंने प्रस्ताव रखा और वापस जाने लगा। लेकिन झिनि वहीं जमी रही, मुझपर आँखें टिकाये। मैं उसे पुकारना ही चाह रहा था कि उसने पूछ लिया, "यहाँ से कहाँ जायेंगे?"

"वक्रेश्वर जाने की इच्छा है।"

"यहीं से ?"

"हां, गोपीदास से तो कुछ ऐसा ही तय हुआ है।"

"अभी दिन के भोजन आदि की क्या व्यवस्था होगी ?"

आखिर क्या पूछना चाह रही थी झिनि ? मैंने हँसकर कहा, "ऐसा तो कुछ सोचा नहीं अबतक। जैसी व्यवस्था दूसरों की होगी, मेरी भी वही होगी।"

झिनि कुछ क्षणों के लिए चुप रही फिर बोली, "वक्रेश्वर से आगे कहाँ ?"

'जहाँ से शान्तिनिकेतन आया था। संथाल परगना के उसी स्थान पर।"

"फिर ?"

"केंदुलि जाना चाहता हूँ, मकर संक्रान्ति के मेले पर।"

"उसके बाद ?"

"उसके बाद अभी कुछ नहीं सोचा।"

"घर कबतक लौटना होगा, इसकी कोई तिथि या चिन्ता नहीं ?"

मैं कुछ नहीं बता पाया। दिन और महीने का किसे पता ? यात्रा ही पूरी नहीं हुई अभी। घर लौटने के लिए ही तो पाँव आगे बढ़ाया है मैंने।

"जवाब देते हुए डर तो नहीं लग रहा ?" झिनि ने टोका।

"डर क्यों भला ?'

"उस पते पर फिर पत्र न लिख भेजूं !"

"नहीं," मैंने तुरन्त कहा—"चिट्ठी क्यों लिखेगा कोई भला ?"

उत्तर की प्रत्याशा किये बिना, उसका स्वर जैसे मचल उठा।

"क्यों ?" मैंने पूछा।

झिनि फिर कुछ देर चुप खड़ी रही और गम्भीर होकर पूछ बैठी—

"फिर कभी भेंट होगी ?"

"क्यों नहीं ?" मैंने सहज ही बताया।

"सुनकर तो ऐसा लगता है, सच ही होगा। जो भी हो, चिन्ता नहीं और न यह जानना चाहूँगी कि कब और कहाँ ? भेंट होगी—यही बहुत है।" उसकी आँखों का रंग बदल गया था। पलकें भीग गयी थीं। अपने दाँतों से उसने होंठों को दबा रखा था। अचानक उसने अपना हाथ मेरे पाँव की ओर बढ़ाया। मेरे लिए यह बहुत ही कष्टकर था। मन की भावना को ठेस-सी लगी। मैंने पीछे हटते हुए कहा, "यह क्या...? रहने भी दो।"

मैंने तो कह दिया लेकिन मानना तो झिनि का काम था। वह मानी नहीं। मैंने फिर कहा, "अब ये सब रूढ़ियाँ शोभा नहीं देतीं।"

झिनि तबतक उठ खड़ी हुई। उसकी आवाज रुँधी हुई थी—"न भी दें। मैं अब और तब नहीं मानती। यह सब तुम्हें ही मुबारक हो। ऊँची शिक्षा, महा-

नगर और आधुनिकता इन सबकी चिन्ता भी तुम्हीं करते रहो। मुझे इसकी परवा नहीं। मुझे जो भाता है, मैं वही करती हूँ।"

क्षिति काफ़ी कुछ कह गयी। यही नहीं, बड़ी सहजता से उसका सम्बोधन भी बदल गया। मेरे हृदय में एक साथ कई बातें कौंध गयीं। गला सूख चला और साँस भी रुँध गयी। मैं उसे क्या कहूँ, नहीं जान पाया। मन में कोई अवसाद लिये मैं मूर्तिवत् खड़ा रहा।

क्षिति ने आँखें पोंछ लीं। मुझे कहते हुए उसकी आँखें झुक गयी थीं। उसके चेहरे पर फिर कोई रंग खेल गया—"इन कुछ दिनों में बड़ी यातना उठानी पड़ी। अब बड़े आराम से घूम-फिर सकोगे।"

"नहीं नहीं, कोई यातना नहीं।" मैंने कुछ आगे भी कहना चाहा, लेकिन कह न पाया। वह बीच में ही बोल उठी, "किस कदर झूठ कह पाते हो, शायद यही तुम्हारी शक्ति है। और सरासर झूठ कहते हुए भी तुम्हारे चेहरे पर कोई शिकन नहीं!"

मैं उसकी बातों का उत्तर ढूँढ़ रहा था। लेकिन कुछ कहने के पहले ही वह कह बैठी, "और मैंने कहा था न, तुम्हारे चेहरे पर सच और झूठ एक ही साथ लिखे-पढ़े जाते हैं।"

मैंने पीछे मुड़कर देखा, अचिन'दा राधा और लिलि के साथ खड़े थे। उन्होंने क्षिति को अपनी कलाई-घड़ी दिखाते हुए कहा, "हमें अब वापस भी जाना है, भाई।"

"चलिए" क्षिति तैयार थी जैसे, "मैं इस भले आदमी से यही पूछताछ करने आ गयी थी कि कहाँ से कहाँ जायेंगे।"

अचिन'दा ने झुँझलाकर ही कहा था—"उसकी बातें जाने दो। वह अपनी ही धुनकी में मस्त है। हमारे साथ उसकी दाल नहीं गलेगी। अब वह बाउल बाबाजी के दल के साथ नत्थी हो गया है। चलो, चलो, हमें लौटना भी है।"

इस बीच दोनों सखियाँ भी क्षिति के पास आकर खड़ी हो गयीं। गोपीदास वगैरह मन्दिर के चबूतरे पर ही रह गये थे। मैंने गाड़ी से अपना झोला निकाल लिया। बाकी सभी गाड़ी पर सवार हो गये। राधा और लिलि ने कलकत्ता आने का निमन्त्रण दिया। अचिन'दा ने चुटकी ली—"बिल्ली के भाग्य से छींका टूटा। निमन्त्रण...ये और निमन्त्रण! तुम लोग देख रही हो न, मैं इससे बातें भी नहीं कर रहा और ना ही करूँगा। न कोई चिट्ठी दूँगा और न इसे देने को कहूँगा।"

मैंने हँसते हुए कहा, "अचिन'दा, मैं लखनऊ आऊँगा कभी।"

"देखा, मुझसे भी झूठ कह रहा है। लेकिन तू मुझे लुभा न पायेगा।" और इसके साथ ही गाड़ी के इंजिन की आवाज तेज हो गयी। मैं अचिन'दा की बातों

पर हँसना चाहता था, लेकिन हँस न पाया। उनके पास ही झिनि बैठी थी। पीछे की सीट पर दोनों सखियाँ। झिनि अपलक मुझे ही निहारे जा रही थी।

अचानक इंजिन की आवाज़ एकदम धीमी हो गयी। अचिन'दा ने मेरी ओर देखते हुए स्नेह मे भरकर कहा, "सबकुछ झुठला मत देना। जब भी मौका मिले, एक बार आ जाना।" इसके बाद उन्होने झिनि के कन्धे पर हाथ रखकर पूछा, "तो फिर चलें अब ?"

झिनि ने कन्धा उचकाकर अपनी स्वीकृति जतायी। इंजिन की आवाज़ के साथ ही, गाड़ी चल पड़ी। झिनि का चेहरा छुप गया। मुझे आश्चर्य हुआ जब मेरी आँखों ने राधा की आँखों में आँसू देखे। लिलि ने हाथ उठा दिया था। वे दोनों अपनी सखी की तरफ़ से मुझे विदा कर रही थी शायद। इसके साथ ही, धूल-भरे बगूले मे, मैं ओझल हो गया और कुछ देर तक आँखें बन्द किये खड़ा रहा।

मेरे सामने खुली सड़क थी। कहीं कोई बाधा नही। उड़ती धूल बैठ चुकी थी। मुझे याद आया कि अचिन'दा की दोनों आँखें लाल हो आयी थीं और चेहरा भर आया था। विदा के प्रथम चरण मे जो रिक्तता थी वह क्षणभर में ही अमृत से भर उठी, स्नेहपूरित धारा-सी फूट पड़ी। 'तुम और तू' तो कइयों से सुन चुका हूँ लेकिन मनःप्राण को झंकृत कर दे, वह स्नेह-स्वर तो कोई बिरला ही प्रदान कर सकता है। मैं उनकी यादों के साथ एक और चेहरे को भुला न पाया। मेरी कल्पना में वह चेहरा उनकी नीरजा का था।...मनुष्य कितना विचित्र होता है। मैं उसकी उसी विचित्रता के सम्मुख नतमस्तक हूँ। इस धरती पर खड़ा होकर कहना चाहता हूँ—"मनुष्य से बढ़कर कोई भी चीज़ विचित्र नही।" और...झिनि का होंठो में ही कुछ बुदबुदाना मानो कह रही थी—'अब चलूँ...फिर आऊँगी...'

"क्या देख रहे है गोसाईं ?"

मैंने मुड़कर देखा, बाउल-प्रकृति बिन्दु खड़ी थी।

"वे सब चले गये।" मैंने बताया।

बिन्दु गहरी उसांस भरकर किसी सुर-लहरी में बोली, "इस संसार की गति कैसी रे बाबा ! सामने रहने पर नज़र तक नही उठती और दूर चले जाने पर जिया दुखाता है।" वह अपनी समझ से ठीक ही कह रही थी। मैंने कुछ कहा नही।

उसने फिर जोड़ा, "जाते हुए मुलाकात नही हुई ? न भी हो, फिर तो होगी

ही ! क्यों, है न बाबाजी ?" उसकी बड़ी-बड़ी आँखें मुसकरा उठीं। गेरुए रंग की लाल किनारीवाली साड़ी का पीछे मुड़ा आँचल और रूखे बालों का जूड़ा। बाउल-प्रकृति रंगिनी हो उठी थी। उसका भरा-पूरा यौवन देखकर यह समझ पाना कठिन था कि वह जोगन वेश में कौन-सी साधना साध रही थी।

"चलिए बाबाजी, यह किनारा तो छूटा। उस पार चलिए। सभी सात रानी के तालाब किनारे खड़े हैं।"

भला कहाँ है सात रानी का तालाब ? मैं कुछ पूछना ही चाह रहा था कि तबतक प्रकृति ने मेरा हाथ पकड़कर खीच लिया। दो-एक ग्रामवासी इस ओर तिरछी नजर से देख भी रहे थे, लेकिन बिन्दु को इस बात का न तो ख्याल था, न ही परवा। लाज-संकोच का सारा सिलसिला मेरे ही साथ था।

"कहाँ है वह तालाब ?" मैंने पूछ लिया।

"पच्छिम की तरफ़, जहाँ नल राजा का राज था। राजा-रानियों ने मिलकर ही तालाब खोदा था, इसीलिए इसका नाम सात रानी का तालाब पड़ा।"

"सात रानी क्यों ?"

"सात राजा की सात रानियाँ, और क्या ? तब सात राजे एकसाथ राज कर रहे थे। आपने नल राजाओं का नाम नहीं सुना ?"

वह तो महाभारत और पुराणों में वर्णित नल राजा थे जिनकी रानी का नाम दमयन्ती था। उस उपाख्यान के साथ नानुर का क्या लेना-देना,? इसीलिए मैंने कहा, "हाँ, महाभारत के नल राजा का किस्सा पढ़ा था कभी।"

बिन्दु ने सिर हिलाकर कहा, "क्या पता बाबाजी, यह नल राजा भी वही राजा थे या नहीं ! आपने नलहाटी का नाम तो सुना होगा ?"

"हाँ, सुना है।"

"तो यहीं उन नल राजाओं का राज था। नानुर पर भी उनका राज था। गोसाईं बाबा सब जानते हैं, वह बता देंगे। इन गांवों में भी राजाओं के छोटे-मोटे अनेक गढ़ थे—नल गढ़, तेल गढ़, फूल गढ़...घी गढ़। गढ़ और गढ़हियों के नाम से मशहूर था यह।"

मैं बिन्दु के मुँह से नानुर का यह आख्यान सुनकर हैरान था। गेरुआ धारी बाउल-प्रकृति इतिहास से मुझे परिचित करा रही थी। ऐसा नहीं कि उसे देश काल की जानकारी न थी। तो भी मुझे बिन्दु कुछ अन्यमनस्क-सी लगी। राह चलते हुए वह गृहस्थों के घरों को भी उझक-उझककर देख लेती। जैसे कुछ सुनना-जानना-देखना चाह रही हो। जब कभी मेरी तरफ देखकर हँस देती।

"आप ऐसी क्यों हँसती हैं ?" मैंने एक बार पूछ लिया।

इस बार वह बुरी तरह खिलखिलाकर हँस पड़ी। हँसते-हँसते देह लचक

गयी। आखिर मैंने क्या कुछ पूछ लिया कि इतनी हँसी! किसी तरह संयत होकर कहने लगी, "लगता है, बाबाजी को देह की सुध-बुध नहीं। 'आप' मुझे 'आप' कह रहे हैं...? अब इस पर भी हँसी न आये भला!"

मैं कहता भी क्या? एकबारगी उसे तुम कहते हुए झिझक-सी लग रही थी। घर-परिवेश की भी कोई मर्यादा होती है। बिन्दु ने फिर छेड़ते हुए कहा, "ऐसे भोले बाबाजी को देखकर हँसूँ भी नहीं?"

मुझे देखने में ऐसा क्या रखा था? बिन्दु मेरी जिज्ञासा भरी आँखों को तकती रही। फिर धीमे स्वर में कहा, "देखना है बाबाजी पत्थर है या अष्टावक्र पत्थर।"

यह उसने क्या कहा? पत्थर या कि अष्टावक्र पत्थर! इन लोगों की हर बात में उलटवांसी होती है। मैंने कहा, "मैं आपकी बात समझा नहीं।"

"मैं तो बाबाजी के मन की ही बातें कह रही थी। अमावस में ही पूनम छिपा होता है। आपको मालूम है न? पत्थर भी गल उठता है बाबाजी! झिनि जैसी के लिए आपका दिल ज़रा भी नहीं पसीजता?"

"इसमें पसीजने-जैसी क्या बात है?" मैं झिनि की तरफ़ लौट चला था।

"नहीं। फिर तो एक ही जान जल रही थी। तो क्या ऐसा कुछ नहीं था, जो मैं देख पायी।"

मैंने गम्भीर होकर कहा, "संसार में रहना है तो इसके ही नियम-कायदे पर चलना पड़ता है।"

बिन्दु की मुसकान में भी अब थोड़ी गम्भीरता घुल गयी थी, "यह संसार क्या मन से अलग है बाबाजी? और मन क्या संसार से हटकर है? और जिस संसार में झिनि-जैसी मानुष नहीं, वह भी कैसा संसार है भला?" उसकी उसांस में कोई चीज खौल रही थी। उसने अपने हाथ को अपने कपाल पर रखा और पूछने लगी, "आप मेरी एक बात मानेंगे बाबाजी?"

"कौन-सी बात?" मैं हैरान था।

"अगर फिर कभी झिनि दीदी के साथ आपकी मुलाकात हो तो उसे रुलाइयेगा नहीं।"

जिसे मैंने न कभी रुलाना चाहा था न ही जी दुखाना चाहा उसके बारे में मैं क्या कहता? फिर भी बात को वहीं खत्म करने के लिए मैंने कहा, "ऐसा ही होगा।"

बिन्दु कहती रही, "संसार में कितने ही तरह के पाप होते हैं। आप अपने ऊपर कोई पाप क्यों लेते हैं? अपना धरम पालना चाहिए और वचन निभाना चाहिए।"

बिन्दु से तर्क करने को कुछ भी न था। वह किस लोक की रहस्यभरी बातें

कह रही है, मैं कुछ समझ न पाया। उसके पाप और पुण्य और धर्म की धारणाओं से मैं सर्वथा दूर था। अपने चतुर्दिक् घिरे पाप-पुण्य की सीमा को पार कर किसी पुण्य क्षेत्र में प्रवेश करना भी मेरे लिए बाधक था। अँधेरे के भय से मैं अपने पाँव समेटे चल रहा था। यह जानते हुए कि मुझे दूसरे ही पथ पर बढ़ते जाना है।

बिन्दु ने मेरा हाथ छोड़ दिया था अब। बहुत देर तक इधर-उधर अनमनी-सी तकती रही और फिर बोली, "मैं अपने गोसाईं का गान कहीं भी सुन नहीं पा रही।"

वह गोकुल के बारे में ही कह रही थी शायद। तभी तो कान खड़ा किये इधर-उधर देख रही थी। उसने फिर मुझसे पूछ लिया, "आपने कहीं देखा है?"

"नहीं तो!"

बिन्दु के सिर हिलाने या कन्धा उचकाने से ही बात ख़त्म नहीं हो गयी। आँखों की किरकिरी की तरह कोई चीज़ उसके जी में गड़ रही थी। तो क्या वह गोकुल को खोजने निकली थी? कहाँ गया वह? मैं बिन्दु की आँखों से अपनी दृष्टि हटा न पाया। इतनी देर के बाद उसे अपने गोसाईं की बात याद आयी? क्या केवल मैं ही पत्थर हूँ? प्रकृति और स्वामिनी पाषाणी नहीं? मेरे लिए कुछ कहना मुश्किल था और उसकी मन्द-मन्द मुसकान से कुछ समझ पाना और भी कठिन।

"गोसाईं कहीं खो तो नहीं गये?" मैंने कहा।

"नहीं, खोयेगा कहाँ! लेकिन मेरा गोसाईं पगला भी है न। जी में आया नहीं कि दोतारा उठाकर चल दिया कहीं।"

"तो अब...?"

"खोज निकालूँगी, जायेगा कहाँ? आख़िर मेरा गोसाईं है।"

मानिनी का सिर ऊँचा हो गया था। उसने भौंहें उठाकर मेरी तरफ़ देखा। मैंने फिर टोका, "लेकिन बिना बताये गया क्यों?"

बिन्दु होंठ दबाकर हँसी और बोली, "मन माने की बात है। वही ले जाता है, फिर लिवा जाता है।"

हम दोनों बातें करते हुए गाँव की दक्खिन-पश्चिम सीमा तक आ पहुँचे थे। उस तालाब के किनारे नहीं, एक पुराने खण्डहर के पास, जहाँ एक पेड़ की छाँव में गोपीदास राधा वृद्धा के साथ बैठे हुए थे। मुझे देखते ही पुकार उठे, "आओ बाबाजी। अचिन और दीदियाँ सब चले गये?"

"हाँ बाबा।" उत्तर दिया बिन्दु ने, "चीता बाबाजी पत्थर के सामने चुप-चाप खड़े थे।...उसे ही निहार रहे थे।"

"ओ हो—जय गुरु ! जय गुरु !! कहीं भी जी नहीं बहलता !"

मैं उस समय ध्वस्त खण्डहर की तरफ देख रहा था। कुछ भी तो न था वहां। काल के कोड़ों के निशान। चारों ओर टूटी और बदरंग ईंटें बिखरी पड़ी थी। राजभवन की दीवारें ढह गयी थी। टूटे-फूटे स्तूप को घास ने ढँक दिया था। यह नल राजा का प्रासाद था। गोपीदास बता रहे थे नल राजाओं ने वीरभूम पर कितने दिनों तक राज किया था। ठीक-ठीक समय तो नही बता पाये लेकिन नलहाटी और सग्धिगढा आदि स्थानों पर उनके पुराने राजचिह्न भी मिलते हैं।

पता नही, कौन सा राजवंश था; कहाँ से आया था वह राज-परिवार ! हिन्दू ही रहा होगा। मैं उसके ऐश्वर्य में खो गया था—विशाल राजप्रासाद, लाव लस्कर...हस्तिशाला और घुड़साल...किले की दीवारों पर प्रहरी। सुबह-शाम बजते वाद्ययन्त्र, दुन्दुभि का स्वर। पहर बीतने की सूचना देते घण्टे। साथ ही पूजा, उत्सव-अनुष्ठान, दीप-सज्जा और नृत्य-गीत का आयोजन। अन्तःपुर में राजसुन्दरियों की बड़ी-बड़ी लजीली आंखों मे रहस्यभरी मुसकान और क्वणन रणन बजती किकनियाँ। सात राजा और सात रानियाँ अपनी धरोहर छोड़कर चले गये। दूसरी ओर बाशुली के मन्दिर में किसी दूसरे ही उत्सव का घण्टा बज चुका है। कवि गा रहे हैं और रजकिनी झाँझर बजा रही है और फिर दोनों ढाई आखर प्रेम का गीत गाने लगते हैं।

राजधरोहर खण्डहर में परिणत हो चुकी है अब। नानुर के गाँव में झींगुर का शोर है, जो यह कह रहे हैं कि हमी तो यहाँ के यात्री हैं अब। मैं उनका स्वर सुन रहा हूँ...अर्थ या आशय नही समझ पा रहा।

"कही नही दिखा ?" गोपीदास पूछ रहे थे। उनके पास ही सुजन अकेला बैठा था। उसने सिर हिला दिया। गोपीदास ने राधा की तरफ देखा था और मुसकराये। और फिर बिन्दु से पूछा, "अब क्या करूँ बेटी ?"

बिन्दु ने अपने गेरुए रंग के झोले को झाड़ते हुए कहा, "तुम सब जो कहो, वही करूँगी। लेकिन मुझे लगता है, वह चला गया है।"

"कहाँ ?"

"आश्रम।" बिन्दु ने किसी तरफ़ देखे बिना ही बताया। गोपीदास ने राधा की ओर और बिन्दु ने भी सुजन की ओर देखा और मुसकरा दी। फिर बोली, "अब झोला-झपटा उठाओ और निकल चलो।"

सुजन तनिक उद्विग्न था। फिर भी उसने मुसकराकर निवेदन किया, "मैं कह रहा था कि अब मैं भी लौट चलूँ...!"

"कहाँ ?" गोपीदास ने पूछा।

"बोलपुर से घूमता-फिरता फिर आपके पास आ जाऊँगा।"

बिन्दु ने अपनी गर्दन घुमायी और आँख उठाकर बोली, "इस्स ! तुम्हें जाने ही कौन दे रहा है ? तुम हमारे आश्रम पर चलोगे, समझे । मेरे साथ !"

सुजन अब भी असमंजस में ही था। वह बिन्दु की ओर देखता रहा और बिन्दु उसी तरह मुसकराती रही, जिस तरह पहले मुसकरा रही थी। फिर कहने लगी, "गोसाई ने ही तो तुम्हें आमन्त्रित किया था, तुम भी तो हमारे अतिथि हो।"

सुजन ने गले से झूलते दोतारे का तार छेड़ते हुए कहा, "यह तो ठीक है... लेकिन गोसाईं खुद कहाँ चला गया !"

"चाहे जहाँ जाये," बिन्दु तैयार थी जैसे, "मुझे तो रख छोड़ा है उसने। मेरे साथ चलोगे !"

गोपीदास क्या कहना चाह रहे थे, कौन जाने ? उन्होने सुजन की ओर देखते हुए हामी भरी, "हाँ...बिन्दु जो कहती है, वही करो बाबा !" और फिर मेरी तरफ़ इशारा करते हुए अचानक बिन्दु बोल उठी, "तो फिर चीता बाबाजी से क्या कह रहे थे.. कह दो न बाबा !"

गोपीदास को इतनी देर के बाद मेरी सुध आयी थी, "लो, मैं तो भूल ही गया था। हाँ तो बाबाजी, यही पर दाल-चावल उबाल लें या कि दूसरी चीजें खाओगे ? काफ़ी देर हो गयी है।"

मुझे किसी मे भी आपत्ति नही थी। मैं केवल इतना ही जानना चाहता था कि कहाँ से कहाँ जाना है। चूँकि हमें जाना तो था वक्रेश्वर इसलिए सवारी आदि की क्या व्यवस्था होगी, मैंने यही जानने के लिए गोपीदास से कहा, "जिस तरह भी सुविधा हो। वहाँ पहुँचना कब है और गाड़ी कब-कब जाती है, यह भी तो नही जानता। फिर आपको भी तो वहाँ पहुँचना है !"

"हाँ, समय भी बहुत कम रह गया। यहाँ से पहले लाभपुर वहाँ से कटुआ, कटुआ से अहमदपुर। वहाँ से रेलगाड़ी पकड़कर आदमपुर, और फिर बड़ी लाइन से साँइथिया। अब तुम तो चीता बाबाजी, सब जानते ही हो। कितने घाटों का पानी पी चुके हो।" लेकिन अभी भी यात्रा खत्म कहाँ हुई थी। गोपीदास अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले, "साँइथिया से गाड़ी बदलकर फिर सिउड़ी आना पड़ेगा और इसके बाद मोटर पर चढ़कर वक्रेश्वर। अब जल्द ही चलना चाहिए। आज की रात सिउड़ी तक पहुँच जायेंगे।"

"वक्रेश्वर कब पहुँचेंगे ?" मैंने व्यग्रता से पूछा।

"कल सुबह तक पहुँचा जा सकता है।"

"रात कहाँ रहूँगा ?" पता नहीं, मैंने ऐसा क्या पूछ लिया कि सभी हँस पड़े। बिन्दु की हँसी इनमे सबसे ऊँची थी। गोपीदास ने कहा, "अरे चीता बाबाजी ! हम क्या तुम्हें पहचानते नही ! रहने की जगह की कैसी चिन्ता ? फिर

तुम तो कितनी ही जगह घूम-फिर आये हो !"

"लेकिन इस जगह तो मैं गया नही।"

इस बीच बिन्दु उठ खडी हुई थी। उसने अपना झोला कन्धे पर डाल लिया था। मेरे पास आकर बोली, "जाने के बाद ही तो पहचान में आयेगी। कुछ न भी हो, गोकुल और बिन्दु का आश्रम तो है वहाँ। चीता बाबाजी आज हमारे आश्रम मे आमन्त्रित हैं।" और इतना कहते हुए उसने मेरा हाथ खींच लिया, "चलिए, जल्दी कीजिए।"

गोपीदास भी उठ खड़े हुए, "हाँ, निकल चलो। चलो राधा !"

राधा ने साथ चलते-चलते कहा, "तो फिर हेरुक कब जाओगे।"

"जाऊँगा, जरूर जाऊँगा। पहले बाबाजी के साथ वक्रेश्वर तो घूम आऊँ। उसके बाद ही।"

हेरुक नाम तो बौद्ध धर्म-चिन्तन से जुड़ा हुआ लगा। हेरुक वज्र की बातें भी बौद्ध धर्म की किसी शाखा मे मिलती हैं। इसके साथ भी किसी गाँव-कस्बे का कोई सम्बन्ध-सूत्र है ?

"हेरुक कहाँ है ?" मैंने पूछा।

"वहाँ हमारा आश्रम है बाबाजी ! गदाधरपुर उतरकर जाना पड़ता है। साँइथिया से भी जाया जा सकता है। सिउड़ी से मोटर पकड़कर चला जाऊँगा। तुमने द्वारका नदी का नाम सुना है ?"

"नही तो !" सुना भी हो-तो अब याद न था।

"जरूर जानते होंगे। बड़ी नदी है। बाँकुड़ा तक चली गयी है। द्वारका के किनारे ही हेरुक है।"

मैं चुप था, लेकिन मेरे कानों में अतीत अपनी गाथा दोहरा रहा था। द्वारका के किनारे हेरुक। सोच रहा था, मैं इस बंगाल को ही कितना जान पाया हूँ ! आधे बंगाल के उस पार तो वैसे ही दीवारें खिंच गयी हैं। जितना भी है, उसकी परिधि में, उसके जल-थल में कितनी विविधता है, कितना वैचित्र्य है ! कितने ही मनुष्य हैं ! राह चलते हुए उनमें से कितने मिल पाते हैं भला ? इस पागल की राह पर न जाने ऐसे कितने ही पारसमणि हैं, मैं उन्हें जान भी न पाऊँगा। पता नही, द्वारका-जैसी नदियों पर ऐसे कितने ही हेरुक होंगे ! न जाने, किस वनस्थली के तरल जलाशय में, कालचिह्न लिये वे अपना प्रतिबिम्ब देख रहे होंगे !

लेकिन मनुष्य नहीं रुकता, वह निरन्तर चलता जाता है नये पथों पर, नये जनपदों में। इसी मनुष्य में ही तो देश-काल का परिचय मिलता है।

बिन्दु अब भी मेरे साथ चल रही थी। उसके पीछे-पीछे सुजन था। वह जब-तभी अपने दोतारे को छेड़ देता—'टङ्...टङ्...।'

"आप हेरुक जायेंगे बाबाजी ?" बिन्दु ने पूछा।

मैंने कहा, "इच्छा तो है, लेकिन इस बार सम्भव न होगा।"

गाँव के बाहर, सड़क के मोड़ पर ही चिउड़े खील वगैरह की एक दुकान थी। गोपीदास वहाँ लपके। मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लिया, "यह क्या ? कितना कुछ खरीदना है, आप बताइए, मैं ले लेता हूँ।"

"सुना तुम लोगों ने, चीता बाबाजी क्या कह रहे हैं। अब जो जी में आये ले लो। लेकिन यह सारा खर्चा तुम क्यों उठाओगे ?"

"आपने कहा था न," मैंने याद दिलाया, "कि तत्त्व ज्ञान समझायेंगे। न हो, थोड़ी गुरु-सेवा ही कर लूं।"

पता नही, उन्होंने मजाक किया या क्या किया। अचानक अपने अँगरखे के साथ मुझे भी बाँहों में समेट लिया—"जयगुरु...जयगुरु ! ऐसा न कहो बाबाजी, मैं रो-रोकर जान दे दूंगा...।"

उनकी आँखें सजल हो उठी थी। मैं असमंजस-वश तत्काल और कुछ न कह पाया। मैं गोपीदास के आलिंगन मे चुपचाप पड़ा था। धर्माधर्म का आवेग तो नही जान सका लेकिन कोई स्नेहपूरित धारा मुझे बहाकर ले गयी। सुख-दुख की मिश्रित भावधारा में चुपचाप तिरता रहा। मैं अपने को समझा रहा था, 'कहीं मुझसे कोई अपराध तो नही हो गया मजाक ही मजाक में...?'

गोपीदास ने थोड़ी देर बाद अपने को सँभाला और फिर कहा, "ले लो बाबाजी। चिउड़ा, मूढ़ी और खील के साथ बतासे टूंग-टूंगकर हम आगे बढ़ते जायेंगे।"

उन्होंने दुकानदारिन को बता दिया कि कौन-कौन-सी चीज कितनी देनी है। नाप-तौल पूरी होते-न-होते बस भी आ गयी। हाथ उठाकर और चिल्लाकर मशीनी घोड़े को रोकना पड़ा। बैठने की जगह मिली नही। काफ़ी देर तक हम खड़े ही रहे। बिन्दु और सुजन साथ ही थे। जगह मिलने पर दोनों साथ ही बैठ गये। आँखें मिलने पर बिन्दु हौले-से मुसकरा भी देती लेकिन उसकी आँखों में कोई बदली-सी छायी थी कही। साथ ही होंठों के कोने पर भी कोई विषादभरी रेखा कौंध जाती।

लाभपुर पहुँचने के बाद भी, हमारे पास अधिक समय नही था। भाग-दौड़कर टिकट कटाना पड़ा। शाम ढल चुकी थी। बत्तियाँ जल उठी थीं। धुआँ उड़ाती छोटी लाइन की रेलगाड़ी जब आ खड़ी हुई तो कुछ राहत-सी मिली। गाड़ी थोड़ी खाली थी, लेकिन हम जिस डब्बे में चढ़े, उसमें कोई बत्ती न थी। जगह की कमी न थी। फिर भी, बिन्दु मेरे पास ही बैठ गयी। थकान से उसका शरीर अलसा गया था। वह अपना मुँह घुमाकर खिड़की के बाहर पता नही क्या देख रही थी। उसके सिर पर आँचल न था। रूखे बालों का जूड़ा ढीला पड़ा हुआ

था। चेहरे के एक तरफ टिमटिमाती रोशनी का हिस्सा पड़ रहा था। मैं अस्पष्ट चेहरे का कोई भाव पढ़ न पाया। फिर भी लगा जैसे बाहरी अँधेरे में अपने को डुबा देना चाहती है।

मैं चुप न रह सका। गाड़ी की तेज आवाज़ का सहारा लेकर मैंने आहिस्ता-से उससे पूछ लिया, "गोसाईं के लिए जी घबरा रहा है न ?"

उसने चौंककर देखा और फिर अपना आंचल ठीक करते हुए बोली, "मनुष्य ही तो ठहरे बाबाजी !" उसका स्वर गाड़ी की आवाज़ मे डूब गया।

मैं उसकी बात अच्छी तरह न समझ पाया। इसीलिए उसकी तरफ़ देखता रहा। वह कहने लगी, "मन को तो बनाना ही पड़ता है, वरना साधना क्योंकर होगी ! मनुष्य के पास ही सबकुछ रह जाता है। मेरा जी बड़ा अधीर हो उठा है आज।"

अब भी मैं उस गेरुआधारिणी बाउल प्रकृति को पहचान न पाया ! वह फिर अपनी गर्दन घुमाकर खिड़की के बाहर देख रही थी, प्रियविरह मे बेबस राधिका-सी, जी में जलन लिये। कुल मिलाकर वह एक साथ गृहस्थन थी, प्रेमिका थी और वधू थी। उसकी गहरी उसाँसें और भी भारी होती गयीं।

अहमदपुर से सांइथिया उतरकर हमने सिउड़ी के लिए गाडी बदली। और जब हम सिउड़ी पहुँचे तो सारा शहर गाढी नींद मे सोया पड़ा था।

जाडे की रात। चार-छ: यात्री। फिर भी तिपहिया रिक्शेवाले अपनी-अपनी सवारी के लिए लपके। तभी गोपीदास ने हमें पुकार लिया और हम शहर की उल्टी तरफ रेल लाइन पार कर आगे बढ चले। रिक्शे की ज़रूरत नहीं पड़ी। आगे-आगे बिन्दु चल रही थी। उसे यह विश्वास था, गोकुलदास आश्रम वापस आ चुका होगा। मेरे मन में भी यही उत्कण्ठा थी।

थोड़ी दूर चलकर ही, कुछेक पेड़ों के नीचे दो-चार झोंपड़ियाँ थीं—गुम-सुम। कहीं कोई शब्द नहीं। न ही रोशनी। बरामदे पर भी अन्धकार था। मिट्टी की दीवारों की सीमा के पार जो दरवाज़ा था, वह खुला हुआ था।

बिन्दु आगे बढ़ी। उसने भीतर आँगन में जाकर पुकारा—"निताई कहाँ हो ?"

थोड़ी देर के बाद ही खुट-सी आवाज हुई और एक बाती आगे बढ़ती दिखायी पड़ी। मैंने देखा, वह बाती तो स्वयं गोकुलदास ही लिये आ रहा था। वह एक क्षण बिन्दु को घूरता रहा। फिर बाती को एक ओर रखकर उसके पाँवों के पास झुककर बैठ गया।

"जय गुरु, जय गुरु !" गोपीदास जैसे गा उठे।

गोकुलदास बिन्दु के पाँव पकड़कर बैठा रहा। बिन्दु भी क्षणभर झुकी रही। दोनों की ही आँखों मे आँसू थे। मुझे देखते ही, वह उठा और न जाने किसे

खोजने लगा। फिर, तेजी से सुजन की ओर बढ़ा और बिन्दु की तरह ही उसने उसके पाँव भी छू लिये। सुजन ने गोकुल के दोनों हाथों को अपने सीने से लगा लिया।

गोपीदास भरे हुए स्वर में पुकार उठे, "जय गुरु, जय गुरु!"

मैं देख-सुनकर भी कुछ समझ नहीं पा रहा था। मेरा जी धड़कता रहा और मैं अपने हृदय पर हाथ रखकर चुपचाप खड़ा रहा।

बाउल हो या वैष्णव—सबमें मानव-मानवी की ही लीला है। इस अँधेरे उजाले में तिरती परछाइयों में मैं भी खो गया। स्तब्ध और अवाक् होते हुए भी, मेरे अन्तर में कोई हँसी और रुदन का झूला झूल रहा था। चरम विलय के उन क्षणों में, परस्पर भूल-संशोधन एव अपराध-भंजन की इस मानवी लीला में भी, मैं किसी अरूप सागर में डूब गया। मुझे उस घड़ी की याद हो आयी जब मैंने सुजन और बिन्दु की रंग-रहस्यभरी आँखों का परस्पर मिलना और देर तक मुसकराना देखा था। गोकुल और बिन्दु चाहे जो हों – पति-पत्नी तो हैं ही। पुरुष और प्रकृति भी हैं। तो फिर गोकुल के मन:प्राण में कोई अँधेरा नही गहराता? मन मे कही कोई पीड़ा नही जगती। केवल बिन्दु ही जानती थी कि वह आश्रम चला आया होगा।

उधर गोकुल के प्राण का आवेग भी सहज ही बह निकला। अपनी क्षमा-याचना के साथ उसने अपने मन की सारी कालिमा को प्रकृति के चरणद्वय पर विसर्जित कर दिया। अब वह सुजन को गले लगाये चुपचाप खड़ा था। गहरी-गहरी उसाँसों के बीच। मैंने सुना, वह कातर-करुण स्वर में कह रहा है "मेरे अन्तस् के अन्धकार को दूर करो! क्षमा करो! मैं बहुत दीन हूँ। अपने पाँव तले रखो! मेरी दीनता को दूर करो..."

लेकिन इस अन्धकार और दीनता के वृत्त में गोकुल ही अकेला न था, बिन्दु और सुजन भी सम्मिलित थे। पीड़ा से ही पीड़ा गल गयी। वे दोनों भी कहने लगे, "क्षमा करो...क्षमा करो।"

मैं भी इस भूल-भ्रांति निराकरण का साक्षी था, अपराध-भंजन प्रकरण के एक सिरे पर खड़ा। गोकुल की एक बाँह से बिन्दु और दूसरी से सुजन लिपटा था। गोपीदास के स्वर में प्रसन्नता गुनगुना रही थी—"जय गुरु...जय गुरु...!"

मैंने कहा, "जय मानुष...जय मानुष।" मेरा अन्तर विह्वल हो उठा था। मैं तीर्थ-अतीर्थ कुछ नहीं जानता। तन्त्र-मन्त्र, साधन-पूजन, संन्यास-वैराग्य, कुछ भी तो नही। किसकी खोज में भटक रहा हूँ, यह भी नहीं। बस, अपरूप

मानवी लीला देखता जा रहा हूँ।

आँगन के अँधेरे से दो और मूर्तियाँ प्रकट हुईं। उनमें से एक काला एवं हृष्ट-पुष्ट युवक था, जिसकी देह पर था गूदड का कुरता, रूखी-सूखी दाढ़ी। दूसरी, तेरह-चौदह साल की साँवली-सी बालिका थी—साड़ी पहने। बडी-बडी उनींदी आँखें लिये। उसकी माँग में सिन्दूर था या नहीं, मैं अच्छी तरह नहीं देख पाया। इस काटती ठण्ड में वह काँप रही थी। उसने साड़ी का आँचल गले के गिर्द लपेट रखा था और चेहरा भी ढँक लिया था। केवल दो आँखें ही चमक रही थीं।

अचानक गोपीदास की सुध लौटी, "अरे बाबाजी कहाँ गये ? अरे बाबाजी, देखा तुमने ! केवल तत्त्व से ही साधना नहीं होती।" इतना कह उन्होंने मुझे अपने पास खींच लिया। गोपीदास लम्बाई मे मुझसे ऊँचे थे, आजानु बाहु। इसके बाद वह सिर हिला-हिलाकर गाने लगे—

"अनुराग ना हो तो साधनं साधा जायेगा कैसे ?
अनुराग से प्रेम शिथिल हो तो फिर पायेगा कैसे ?"

और वह गाते-गाते समझाने लगे—"दुःख से ही अनुराग बढ़ता है और अनुराग से प्रेम। तभी सारा गीत-भजन सहज हो पाता है, बाबाजी।"

मनुष्य का परिचय भी उसके मनुष्यत्व में है, लेकिन उसे ढूँढ पाने के पहले ही कितना कुछ और भी उद्‌घाटित करना पड़ता है और उसे देखकर सचमुच कितना आश्चर्य होता है। मैं उस क्षण तत्त्व का मूल आधार देख रहा था।

काफ़ी देर बाद बिन्दु का स्वर सुन पड़ा, "सुना गोसाईं ! चीता बाबाजी भी आज हमारे अथिति है। हम इन्हें यहाँ लिवा लाये हैं।" कहते-कहते वह गोकुल के स्नेहपाश से मुक्त हो, मेरे पास आ गयी।

गोकुल भी छूटता हुआ मेरे पास दौड़ा चला आया और कहने लगा, "अच्छा, हमारे चीता बाबाजी आये हैं ! अरे यह तो हमारा परम सौभाग्य है। है न बिन्दु ?"

मैं जो नगरों में पला और बढ़ा हुआ था, मेरे जी में हुआ कि मैं गोकुल को अपनी छाती से लगा लूँ। संकोचवश ऐसा कर न पाया। इन लोगों के लिए भावावेग की धारा इतनी सहज और आत्मीयतापूर्ण है, मैं कभी कल्पना भी नहीं सकता था। मैं मन-ही-मन यह सोच रहा था कि इतनी रात-गये मेरे घर मे अगर कोई बाउल मेरा अतिथि बनकर आ जाता तो मैं क्या उसे इतना आदर दे पाता ? स्वयं को इतना सौभाग्यशाली समझ पाता ?

"बाबाजी को बड़ी चिन्ता थी," बिन्दु ने यों ही चुटकी ली, "कहने लगे, रात कहाँ और कैसे कटेगी ?"

उसकी बात से एक बार फिर सभी हँस पड़े। गोकुल भी अब चुपचाप

रहने वाला न था। बोला, "आखिर हमारे बाबाजी चीता हैं, उन्हें हमारे जंगल का कुशल-मगल तो जानना ही था।"

उसने मुझे ही नहीं, सबको अपने पास बुलाया। बिन्दु उस किशोरी के पास खडी-खडी उसे दुलरा रही थी। उसने वस्त्र सरकाकर उसके शरीर का ज्वर देखा और बोली, "कुसमी, तू इस खुली जगह में आ खड़ी है। बुखार तो नही?"

गोकुल ने बताया, "नही, बुखार नही है। मैंने आते ही देखा था। लेकिन अब तू अन्दर जा।"

कुसमी सचमुच कुसुम थी। गोपीदास ने ठोढ़ी पकड़कर उसका फूल-सा चेहरा उठाया, "मेरी नातिन कही नाराज तो नही?"

"साथ तो ले नही गये", सुकुमारी ने अपना चेहरा छुड़ा लिया, "और अब पूछ रहे हो?" उसकी तीखी आँखों से गुस्सा झांक रहा था। उसके इस तेवर को देखकर गोपीदास की आँखें भी गोल हो गयी। लाड़-भरे स्वर में बोले, "अरे बाब्बा रे, अबतक गुस्सा नही गया?"

बिन्दु ने कहा, "तू गुस्सा क्यों करती है कुसमी? बुखार खतम होते ही तुझे देस-विदेस घुमाने ले जाऊँगी। वहाँ ले जाने पर तेरी बीमारी बढ़ जाती तो क्या होता पगली? तू ही बता?"

कुसुम की मुख-मुद्रा तनिक सहज हुई। सबकी ओर देखती हुई उसकी दृष्टि धोती-कुरते मे खड़े इस अपरिचित पर भी आ पड़ी। आंखें मिलते ही लाज से सिमट गयी, चेहरा झुक गया।

बिन्दु ने यह तमाशा देख लिया था। मेरी तरफ़ हल्का-सा इशारा करते हुए वह बोली, "अच्छा ले... इसके बदले मे कितना सुन्दर चीता बाबाजी पकड़कर ले आयी हूँ। तू देख तो सही इक बार।"

अब जबकि उसने कहा तो देखना ही पड़ा। उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी तरफ देखा। बिन्दु ने फिर पूछा, 'अच्छा नही है?"

बेचारी! उसने तत्क्षण अपना चेहरा झुका लिया। सभी खिलखिला उठे। मैं भी।

बेचारी नही। वह बोल उठी, "इसमें हँसने की क्या बात हुई? वह सचमुच ही कित्ते अच्छे हैं!"

"अरे बाबा..." बिन्दु ने अपनी आँखें नचाते हुए कहा, "अच्छा तो बाबा को गुरु बनाकर तुम दोनों को दीक्षा दी जायेगी। तू राजी है न?"

मैंने सोचा था, कुसुम लाज से भर उठेगी। वह आशा व्यर्थ गयी जब उसने गाल फुलाकर कहा, "बस, झूठी बातें केवल!" और वह मुँह फिराकर चली गयी। बिन्दु ने पीछे से आवाज दी, "अच्छा, झूठ है या सच, बाद में देखती रहना। अभी बाबाजी के खाने-पीने की चिन्ता कर।"

मैं देख रहा था, तेरह-चौदह से भी कम की रही होगी। कुसुमी को कली का रूप ही तो मिला है। अभी तो लजाना तक नहीं जानती। बच्ची है। उसके शरीर पर ढाई-तीन हाथ वाली साड़ी ही तो थी। इसीलिए थोड़ा चकरा गया था। मैंने पूछा, "वह कौन है ?"

"मेरी ननद।" बिन्दु ने बताया।

"और मेरी सौतन..."गोपीदास हँसने लगे, "है तो गोकुल की बहन, लेकिन मैं इसे नातिन कहकर पुकारता हूँ।"

उनकी बातें सुनकर मुझे लगा, क्या ऐसा ही आश्रम हुआ करता है ! यह तो किसी गृहस्थ का घर है, जहाँ ननद-भौजाई और नाना-नातिन संवाद चल रहा है। यहाँ गेरुआ अँगरखे, इकतारे और संसार से वैराग्य की बातें ही बेमानी हैं। बिन्दु ने छूटते ही कहा, "निताई, अब देर न कर। तू चूल्हा जला। मैं दाल-चावल निकालती हूँ।"

मैं जिधर भी जाता, गोकुल मेरा हाथ पकड़कर ले जाता। निताई लालटेन जला लाया। भूसे की छप्परवाली झोंपड़ी थी। सामने चबूतरा था। चारदीवारी भी छप्पर से छायी थी। मुझे सिर झुकाकर भीतर जाना पड़ा। कमरे का दरवाजा खुला था। इस बीच कुसुम ने भी दूसरा लालटेन जला रखा था। दीवार से सटी एक ऊँची-सी चौकी थी, जिसपर चटाई और कथरियाँ पड़ी थी। गोपीदास को उधर ही बढते देख मैं लौट आना चाहता ही था कि गोकुल ने कहा, "भीतर चलिए, बाबाजी। बाहर ठण्ड है। आओ बाबा...आओ सोजन !"

दरवाजे के पास बिन्दु खड़ी थी, मुसकराती हुई। मानो हमारा अभिवादन कर रही हो। बाहर सचमुच बहुत ठण्ड थी। कमरा गरम था। वहाँ विशेष कुछ था नहीं। एक तरफ़ कुछेक बर्तन रखे थे—काँसे, पीतल, अल्यूमिनियम और मिट्टी के। कच्ची दीवारों से डोरी बँधी थी, जिस पर गेरुए कपड़े झूल रहे थे। अधिकतर लाल किनारी की साड़ियाँ ही दीख पड़ी। उस पर मुड़ी हुई कथरी भी थी। एक कोने मे लकड़ी का बक्सा। कमरे मे काफ़ी दूर-दूर तक चटाई और सतरजी फैला दी गयी थी और उन पर गेरुए रंग की चादर बिछी थी। पास ही, मोटी-मोटी कथरियाँ भी तह कर रखी थी। दो-चार तकिये भी पड़े थे। कही भी गन्दगी या बिखराव नही। सबकुछ सजा-सँवरा, साफ़-सुथरा।

हम सब चौकी पर जाकर बैठ गये। सुजन ने सबको बड़े आदर से बिठाया। केवल राधा वृद्धा ही नहीं बैठी। उसने अपनी झोली उसी लकड़ी के बक्से पर रख दी। बिन्दु भी तेजी से आयी और उसने मेरे कन्धे से झोली को उतार, दीवार पर लगी एक कील के सहारे टाँग दी। साथ ही, एक मोटी-सी कथरी खोलकर मेरे हाथ-पैर पर डाल दी। मैंने झिझक के साथ कहा, "यह क्या...मैं ले लूँगा।"

चीता बाबाजी, आग के पास ही चलकर बैठना अच्छा होगा। नातिन ने ठीक ही कहा है।"

घर के पीछे ही, उत्तर-पश्चिम की ओर मिट्टी की दीवार थी। वहाँ कोई दरवाजा न था। सिर पर दोछत्ती थी, छप्पर की। एक कोने मे दो चूल्हे थे। एक में लकड़ी दहक रही थी और ऊपर हांड़ी चढ़ी थी।

लकड़ी की आंच और लालटेन की लौ थरथरा रही थीं। आसपास विशेप जगह न थी और ना ही चटाई बिछाने की जरूरत। निताई ने फूस की आँटियाँ खोलकर बिछा दी। अब जिसका जी चाहे, बैठो। हुआ भी ऐसा ही। सभी एक-दूसरे से सटकर बैठ गये। गोपीदास, जो चूल्हे मे सटे बैठे थे, बोले, "क्यो रे सोजन, हुआ ?"

सुजन फूस से अलग चिलम सजाने मे तल्लीन था। गोकुल उस चूल्हे से लगा बैठा था, जिसमें आग नही थी। उसने उत्तर दिया, "अभी मान का कारण जुटा है बाबा, इसके बाद ही रूप का दर्शन होगा।"

'जयगुरु...जयगुरु !' गोपीदास आँखें बन्द कर पुकार उठे।

गोकुल की आँखों मे कोई नशा-सा छाया था। केवल वही नही, सबकी आँखों में वही नशा था। मैं गोपीदास के पास बैठा था। इस चौकड़ी को क्या नाम दूं ? चूल्हे की आग लाल नागिनो की तरह फुतकार भर रही थी। उसके ताप से हम सबों की देह गरमा गयी थी।

मैंने घड़ी देखी तो पता चला कि रात के साढ़े बारह बज चुके है। उधर हांड़ी का अदहन टग्-बग कर रहा था। निताई लकड़ी झोके जा रहा था।

"लो बाबा...तैयार है।" सुजन ने अपना हाथ बढ़ाया। गोपीदास के सामने चिलम तैयार थी।

"हाँ...हाँ लाओ जरा।" गोपीदास ने हाथ बढ़ाकर उसे ले लिया। राधा अब भी बुदबुदा रही थी। चावल से कंकर निकालते हुए गोपीदास से उसकी हल्की-सी झड़प भी हो चुकी थी। गोपीदास ने चिलम की आग को अपनी उँगली से उकसा दिया और गुनगुना उठे—"पागल के मन लगी है आग, आग का कारण है अनुराग...प्रेमी पागल जाग रे जाग।" इसके साथ ही, उन्होंने मेरी तरफ़ चिलम बढ़ा दी, "थोड़ी-सी चलेगी, बाबाजी ?"

मैं तो विस्मित हो उठा, "नहीं, मुझे नही चाहिए।" और मैंने अपनी सिग-रेट निकाल ली।

"अच्छा...अच्छा तुम्हारे पास तो है ही। लेकिन इसकी ओर भी तो आँख

उठाकर देखो जरा। कैसी मौज है इसमें ! फिर कोई दूसरी चीज अच्छी नहीं लगेगी।"

बिन्दु खिलखिला उठी। और जिस निताई के साथ मेरी अबतक कोई बात नहीं हुई थी वह भी बोल उठा, "लीजिए न बाबाजी, एक बार परखकर तो देखिए।"

"तुम चुप भी करो निताई दा ! भैया की तरह ही होते जा रहे हो।" कुसुमी ने उसे डपट दिया, "ये बाबाजी तुम्हारी तरह गांजा पीते है जो इन्हें पीने कह रहे हो ?"

उसकी डाँट सुनकर सभी विस्मित थे। बिन्दु ने हैरत से अपनी आँखें फाड़-कर कहा, "बाप...रे ! ये बाबाजी तो अब हमारे 'मानुष' हैं। क्यों नहीं पीयेंगे ?"

कुसुम ने अपना सिर हिलाकर कहा, "नही, नहीं पीयेंगे।" उसकी गुंथी हुई दोनों चोटियां भी एक साथ हिल पड़ी। इतना ही नही, उसने मुझसे कहा, "कभी मत पीजियेगा। नशा चढ़ गया तो जमीन पर ही बैठे रहियेगा...हाँ।" उसने अपनी गर्दन हिलाकर भय भी दिखाया।

मैं इस मन-पूत किशोरी के बारे में सोचने लगा। जो हृदय में है वही मुँह पर। मैं उसकी उद्विग्नता समझ रहा था। बिन्दु मेरी तरफ़ देखती हुई मुसकरा रही थी।

"अरी नातिन," गोपीदास ने समझाना चाहा, "थोड़ी-सी चखने पर नशा थोड़े न आयेगा ! लो चीता बाबाजी...थामो !"

गोकुल और सुजन ने भी ताल मिलायी, "हाँ-हाँ...हो जाये। इसमें डरना कैसा ?"

इसमें किसी जिद की बात न थी। मन का आग्रह था इसलिए जोर-जबर-दस्ती का कोई प्रश्न न था, जी का डर ही था। इसे मैं हमेशा डर-डरकर ही देखता रहा था, या सस्कारवश नीति-दुर्नीति की बातें सोचता रहा था। एक ही झटके मे उसके स्वाद या नशे की बात सोचकर कुछ तय न कर पाया। मन मे पाप-पुण्य का भी कोई विचार न था। पाप-पुण्य अगर ऐसी ही कोई नाजुक चीज है और इन सबका इतना आग्रह है तो वह टूट ही जाये। इस जीवन में बहुत कुछ घटता रहा है। इन लोगों का साथ और ऐसा सत्संग अबतक नहीं मिला। इस रात की स्मृति को जुगाये रखने के लिए ही सही, यह साध भी मिटा ही लूं।

"पहले आप..." मैंने गोपीदास से निवेदन किया।

गोकुलदास ने तुरत मेरे प्रस्ताव का समर्थन किया, "एकदम ठीक। पहले तुम ग्रहण करो। इससे बाबाजी को थोड़ी सुविधा हो जायेगी। पहली-पहली बार

है न...।"

गोपीदास ने 'जयगुरु' कहते हुए चिलम को अपनी दाढ़ी के ऊपर रखा। कुसुम मेरी तरफ़ देखकर जैसे यह पूछ रही थी—'जिसकी ख़ातिर चोरी की थी, वही बताये चोर।' अपनी आशा को मिटते देखकर भी वह किसी गर्वीली की नाईं मेरी ओर तक रही थी, अविश्वास और पैनी दृष्टि से। मैं अपराधभाव से ग्रस्त, ससंकोच मुसकरा रहा था। कुसुम ने पहले अपना मुंह फिरा लिया फिर दूसरे ही क्षण आँखें तरेरकर बोली, "पीयो...पीयो न! बाद में पता चलेगा, जब माथा घूमेगा।" कहते हुए उसने टिकिया बिन्दु की तरफ़ बढ़ा दी और बोली, "लो...डाल दो।"

गोपीदास ने लम्बा-सा दम लगाया और अपनी आँखें मुझपर टिका दीं। दाढ़ी पर हँसी खिल रही थी। आँखें सुर्ख़। उन्होंने कुछ कहा नहीं, बस मेरी तरफ़ चिलम बढ़ा दी।

मैं चिलम को अच्छी तरह थाम भी न पाया। संकोचवश मुसकराता रहा। अजीब सी उत्तेजना थी। डरते-डरते मैंने एक बार दम लगाया। थोड़ा-सा धुआँ उठा। बस, इतना ही। मैंने गोकुल को चिलम बढ़ा दी। सभी एक साथ पुकार उठे—'जयगुरु!'

गोकुल बोल उठा, "यह क्या बाबाजी? कुछ भी तो नहीं हुआ। जरा जोर से दम लगाइए।"

"नहीं, अब और नहीं।" मैंने अपनी गर्दन हिलायी।

गोकुल ने चिलम ले ली। लेकिन मैं कहीं कुछ बदलाव महसूस नहीं कर पा रहा था। गन्ध कुछ अच्छी नहीं लगी, इतना ही। अपनी सिगरेट से जितना कुछ महसूस करता हूं उतना भी नहीं, धुत पड़े रहना या सिर चकराना तो दूर की बात थी।

चिलम गोकुल और सुजन की उँगलियों पर नाचती हुई निताई तक पहुँच चुकी थी। कुसुम की आँखें अब भी मुझे तक रही थीं। बड़ी-बड़ी आँखें...अपलक। मैं मुसकराया तो पूछ बैठी, "माथा घूम रहा है?"

"नहीं।"

"नशा नहीं चढ़ा?"

"कुछ समझ नहीं पा रहा।" उसने पहले तो अविश्वासभरी नजरों से मुझे देखा। फिर जब उसे विश्वास आ गया तो अपनी भौंह चढा-चढ़ाकर कहने लगी, "मुझे नशा और भाँग-जैसी चीजें फूटी आंखों नहीं सुहातीं। नाना को ही देखो न जरा, धुत्त होकर भूत-से पड़े हैं।"

गोपीदास आँखें मूँदकर काफ़ी देर से चुपचाप पड़े थे। अबकी कहने लगे, "धुत्त क्यों होने लगा नातिन। ले देख, कैसी बातें कर रहा हूं!"

"आँखें तो खोलो ज़रा !"

गोपीदास ने भौंह चढ़ाकर तक लिया। सुलगती हुई आंखों से वह पूछ रहे थे, "ले देख। आँखें भला क्यों नहीं खोल सकता ? बस मौज में डूबा हुआ था।"

वही नहीं, सभी आनन्द में डूबे हुए थे। बिन्दु रह-रहकर काठ के करछुल को हाँडी में हिलाती और हँस देती। हाँड़ी का ढक्कन हटाते ही, दाल-भात की मिली-जुली सोंधी-सी खुशबू फैल जाती। वह भी कह उठी, "चाहे जो कह ले, काशी की तरह तो कोई भी गाँजा नहीं पी सकता।"

गोपीदास ने छूटते ही चुटकी-सी ली, "यह क्यों कह रही हो मां ! मैं तो नातिन के गुस्से का कारण अबतक नहीं समझ पाया था।"

कुसुम ने चकित होकर एक बार बिन्दु की ओर देखा और बिन्दु ने अपना चेहरा हाँड़ी की तरफ मोड़ लिया। ठीक इसी समय निताई भी अपनी देह को समेटते हुए खिलखिला पड़ा। कुसुम ने उसे ज़ोर से झिड़क दिया, "निताई दा, क्यों हँस रहे हैं आप, आपकी हँसी से मेरी देह में आग-सी लग जाती है।"

निताई ज़रा गम्भीर हो गया, "मैं कहाँ कुछ कह रहा हूँ ? ज़रा-सा हँसूँ भी नहीं ?"

"नहीं। इसमें हँसने की कौन-सी बात हो गयी ? मैं भी सुनूँ।"

उसकी इस डपट को सुनकर तो यही लगा कि कोई पूर्णवयस्का नायिका उपालम्भ दे रही है। लेकिन सामने जो चेहरा था, उसकी लुनाई पान के पत्ते की तरह चिक-चिक कर रही थी। या फिर असीम प्रकृति की गोद से उतरती हुई कोई पतली-सी नदी की धारा, जिसके अंग-अंग में तरंगें मचल रही हों, किसी आतुर प्रतीक्षा के साथ कहीं रुकी पड़ी है। उधर निताई भी कम दुष्ट नहीं। उसने फिर छेड़ा, "काशीनाथ की बात आयी तभी तो मैंने कुछ कहा। पन्द्रह-सोलह साल का हुआ तो क्या हुआ ? गाँजा सूँतने में तो किसी से पीछे नहीं। बाप रे बाप...!"

मेरी दृष्टि कुसुम से जा टकरायी। आसन्न संग्राम की चुनौती को झेलने के लिए उसकी आँखें कटार-सी चमक उठी थीं। काशीनाथ नाम के रहस्य से कुसुम जुड़ी हुई थी, सम्भवतः इसीलिए वह झल्लाकर बोली, "वह मुँहजला, चाहे जितना गाँजा पिये, मेरी बला से ?"

निताई ने अपना हथियार डालते हुए कहा, "अरे मैंने तो तुझे कुछ कहा भी नहीं।"

लेकिन किशोरी के मन की आग अबतक नहीं बुझी थी। वह खीज उठी, "बकते रहो। मेरा क्या ?"

"फिर तो ठीक है।" बिन्दु ने बीच-बचाव किया। लेकिन कुसुम अब रुकने-

वाली न थी, "वह गांजा पी-पीकर मरे या चाहे जो करे। वह इस आश्रम पर आकर क्यों पड़ा रहता है? मैं उसका मुँह झुलस दूँगी।"

उसकी फुफकार देखकर मैं हैरान रह गया। किसी शहर में होती तो फ्रॉक पहनकर उछलती-कूदती स्कूल जाती, लेकिन यह तो किसी दूसरी ही दुनिया की लड़की थी! सबसे अलग!

"छी...छी री कुसमी, तू यह क्या कह रही है री! ऐसा नही कहते।" बिन्दु ने बड़े प्यार से मीठे शब्दों में समझाना चाहा। बिन्दु की सान्त्वना पाकर कुसुम ने बुदबुदाते हुए इतना ही कहा, "अच्छा तो नही कहूँगी।" उसका चेहरा झुका हुआ था। मैंने सोचा मामला शान्त हुआ। लेकिन नही, बिन्दु की तरफ़ देखते हुए वह फिर बोल उठी, "तुम्ही तो उसके बारे में कह रही थी। उसकी बात कौन सुनना चाहता था भला?"

"ठीक है...ठीक है, अब नहीं कहूँगी।" बिन्दु ने आश्वस्त किया और सबकी तरफ मुसकराकर देखती रही।

एक क्षण शान्ति-सी छा गयी। लेकिन जिसकी बात पर निताई हँस उठा था उसी की बात को कुरेदते हुए इस बार गोपीदास ने अपना सिर उठाया, "अँय, यह तो कोई अच्छी बात नहीं! काशी का इतना नशा करना तो सचमुच बड़ा खराब है। उसे तो धमकाना पड़ेगा।" गोपीदास की मुख-मुद्रा एकदम गम्भीर हो उठी थी।

कुसुम ने सन्देहभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैंने सिर झुका लिया। गोपीदास फिर गुनगुनाने लगे थे। मैंने भी सहज होते हुए पूछा, "यह काशीनाथ कौन है?"

"और होगा भी कौन?" गोपीदास ने निरुत्साहित भाव से ही बताया, "पास ही रहता है। गृहस्थ का बच्चा है। मेरी नातिन पर जान देता है। यूँ ही गाँजे की लत पड़ गयी है। इस आश्रम पर आता-जाता रहता है।"

बिन्दु मेरी ओर देखते हुए बोली, "काशी घर-द्वार छोड़कर बाउल होना चाहता है। कुसुमी के भैया को गुरु बनाना चाह रहा है।"

सारी स्थितियाँ स्पष्ट हो गयी। काशीनाथ का गृहस्थ धर्म, बाउल धर्म या फिर जितने भी धर्म हैं, उन सबका सार है कुसुम धर्म। इसीलिए यहाँ की परिक्रमा जारी है। गोकुल को गुरु बनाना चाहता है। मैं मन-ही-मन पुकार उठा, "जय गुरु...जय गुरु।" महानगरों की दुनिया में ऐसी किसी लड़की के सामने इस तरह की कोई बात सचमुच नही कर पाता, लेकिन यहाँ तो दूसरी ही धारा बह रही थी, सहज स्रोत की धारा। सहज मन का स्वभाव मुझे भी सहज कर गया। मैंने कहा, "यह तो अच्छी बात है।"

"और मुट्ठी भर-भर गाँजा जो सूँतता है?" कुसुम फिर फनक उठी।

मैं पूछ सकता था, इसमें उसका क्या आता-जाता है, लेकिन साहस नहीं जुटा सका। मैंने भी गम्भीर मुखमुद्रा बना ली, "यह कोई अच्छी बात नहीं। छोटी-सी उम्र में इतना गांजा चढ़ाना तो बहुत ही बुरा है।"

किसी स्वामिनी की तरह कुसुम ने कहा, "उसे बताये कौन?"

यह इस बारे में उससे कुछ कह भी तो नहीं सकती थी। बस इतना कहकर चुप हो गयी, "थोड़ी-सी भी शरम नहीं उस बेशर्म को।"

भीतर ज्वार-सा उमग पड़ा। इस नन्ही-सी लड़की को इस संसार की बातों ने कहाँ-से-कहाँ लाकर खड़ा कर दिया है। शहरों में तो इस उम्र की लड़कियाँ लिखती-पढ़ती और हँसती-खेलती रहती हैं। और यहाँ, यह लड़की सारे दायित्व मानो अपने नन्हें-से कन्धे पर रख लेना चाहती है! यहाँ के परिवेश ने यही समझाया है उसे!

इस बीच निताई कहीं उठकर चला गया। गोपीदास अबतक गुनगुना रहे थे। बिन्दु बोल उठी, "अरी ओ कुसमी, कड़ाही और तेल निकाल ला। उसमें मिर्च तलकर उड़ेल दूंगी। निताई को अब जाकर याद आया है। हल्दी और अदरक अबतक नहीं बटी।"

"अब तलने-पकाने की क्या जरूरत है?" गोपीदास ने टोका, "कच्चा ही रहे तो क्या हो जायेगा?"

"नहीं।" बिन्दु ने जिद की, "चीता बाबाजी भी तो हैं। अब इसी तरह नहीं उतार सकती।" उसने मेरी ओर मुसकान फेंकी।

"रहने भी दो!" मैंने भी रोकना चाहा।

लेकिन कुसुम चुप न रह पायी। उठते-उठते बोली, "ओहो, ऐसी भी क्या बात है? मैं जा रही हूँ। चीता बाबाजी, आप जरा बाती उठाये लेते आना।"

"सुनो...सुनो!" गोकुल ने छूटते ही कहा, "जरा इस लड़की की बातें तो सुनो! वह भला बाती क्यों उठाने लगे? मैं लिये आ रहा हूँ।"

मेरी रीढ़ सनसना उठी थी। कुसुम जब इतनी सहजता से अनायास ही मुझे पुकार सकती है तो मैं ही संकोच में पड़ा क्यों बैठा रहता? मैंने जल्दी से लालटेन उठाते हुए कहा, "चलो...चलो!"

गोकुल ने झिझकते हुए कहा, "मेरी बहन ऐसी ही है, बाबाजी। जो जी में आये, कह देती है।"

"ठीक ही तो है।" कुसुम का अनुसरण करते मैंने समाधान कर दिया।

छप्पर पार होते ही बिन्दु ने मुझसे संकेत से कुछ कहा। मैं कुछ समझ नहीं पाया। आँगन पारकर मैं फिर उसी कमरे में दाखिल हुआ। कहीं से सिल पर लोढ़ा पीटने की आवाज आ रही थी—खटड़्...खटड़्। कुसुम ने छींके पर से तेल का छोटा-सा मर्तबान उतारा। फिर बर्तनों के ढेर में से एक कड़ाही निकालते-

निकालते पूछ बैठी, "तुम्हें कहाँ से लिवा लाये ये लोग ? नाना के साथ पहले से ही जान-पहचान रही होगी ?"

"नहीं, जान-पहचान तो न थी। शान्तिनिकेतन में भेंट हुई तो साथ चला आया।"

"अच्छा।" कुसुम ने कड़ाही को शायद जान-बूझकर ही नहीं खींचा। उसे कोई जल्दी न थी। उसने मेरी तरफ देखते हुए प्रश्न किया, "आप क्या सचमुच दीक्षा लेंगे ?"

मैं आश्चर्य से कुसुम का भोला-सा चेहरा देखता रहा। आखिर क्या कहना चाहती है वह ? अचानक मुझे बिन्दु की बातें याद आ गयीं। उसने कहा था, कुसुम के साथ ही मुझे दीक्षित किया जायेगा। शायद इसीलिए लेकिन कुसुम को इस क्षण उस बात की स्मृति क्यों आ गयी ? मैं उसकी अपलक और उत्सुक आँखों की तरफ़ देखता रहा—आखिर क्या सोचकर उसने मुझसे यह प्रश्न पूछा था ? क्या उसे बिन्दु की बातों पर विश्वास हो चला था ? उसकी निश्छल सरलता के कारण यह भी सम्भव था। मैंने एक क्षण रुककर उत्तर दिया, "ऐसा तो कुछ तय नहीं किया है। बात क्या है भला ?"

कुसुम की गर्दन हौले-से लचक गयी, "आप-जैसे लोग तो दीक्षा नहीं लेते न ! इसीलिए पूछ रही थी।" यह कह उसने एक हाथ में मिट्टी का मर्तबान और दूसरे हाथ मे कड़ाही उठा ली। लेकिन अब भी कमरे से बाहर नहीं निकली। कहने लगी, "गुस्सा होने पर तो आदमी अनाप-शनाप बक ही जाता है। है न ?"

इस प्रश्न का सिर-पैर भी मेरी समझ में नहीं आया। इसलिए उसकी काली आँखें पढ़ता रहा। इस बार उसने अपना आशय स्पष्ट करते हुए कहा, "गृहस्थ का बेटा इतना गाँजा पीता ही क्यों है ? तभी तो मैंने कहा था कि उसका मुँह झुलस दूँगी। क्या ऐसा कहने से कोई पाप लगता है ?"

मेरे सामने का अब तक का सारा अन्धकार एक ही क्षण मे दूर हो गया और प्रकाश झिलमिला उठा। इसी प्रकाश मे गहरी उदासी और उद्विग्नता में डूबी किसी किशोरी की जिज्ञासु आँखें भी चमक उठीं। मेरी दीक्षा ? मेरे आगमन का ऐसा कोई भी उद्देश्य न था। शायद मुझे बुलाने का आशय भी यही पूछना रहा हो ! मैं उसके चेहरे को देखता रहा। कच्ची उम्र और पक्की समझ। प्रकाश और छाया मे डूबा यह चेहरा। उसकी उत्कण्ठा देखकर मेरे मन मे कोई पीड़ा उमग गयी। मैंने मन-ही-मन कहा—तुम भले ही उसका चेहरा झुलस दो ! एक बार नहीं, हजार बार। लेकिन उस गृहस्थ के बेटे काशीनाथ के मुँह पर वही आग हजार साल तक परमायु बनकर अमृत बरसाती रहेगी। मैंने उससे कहा, "कभी नहीं। तुम कहती हो तो पाप नहीं होगा।"

उसने मेरी ओर देखा और हौले-से मुसकरा दिया, "कल उसे देख पायेंगे।

आइए।"

मैं थाली लेकर उसके साथ चला तो आया। लेकिन मेरे मन में कोई छोटी-सी नैया बहती रही।

खिचड़ी का भोग लगाते हुए यही जान पड़ा कि ऐसी सुस्वादु खिचड़ी पहले नही मिली थी कभी। उसमें कई प्रकार की दालें डली थी, उसे मसालों से बघारा गया था। यही तो है प्रकृति का स्वभाव। वह जिसे छू देती है, वह रसमय हो उठता है। बिन्दु के हाथ मे भी जादू था। वहाँ कोई माल-मसाला तो था नही, बस प्रकृति का चमत्कार था। और फिर आलू-बैंगन की भुजिया भी तो थी, और अन्त में, खजूर के रस की बनी चटनी। अब इससे बढकर मजेदार बात क्या होती ?

सोने की जगह भी मुझे बता दी। कमरे के बाहर ड्योढी के कोनेवाली जगह। वहाँ ठण्ड की दाल नही गल पाती। उसके चारों ओर कच्ची दीवारें और ऊपर छप्पर जो था। दूसरी तरफ़ रसोईघर था। चूल्हे में जल रही लकड़ी की आग की आँच अब भी गर्मी जुगाये हुई थी।

चौकी के पास अब भी गांजे की बू फैल रही थी। कमरे में बिन्दु, राधा और कुसुम सोने चली गयी। गोकुल और निताई एक और दूसरे कमरे मे जिसे मैंने बाहर से ही देखा था, भीतर नही गया।

कुसुम ने मेरी देह पर एक मोटी-सी कथरी फेंकते हुए कहा—"लीजिए इसे ओढ लेंगे।" तभी बिन्दु ने हँसकर बताया, "यह कुसुम की कथरी है। खूब आराम से सोये रहना।" लेकिन जितनी देर तक गांजे का दौर चलता रहा, कुसुम वहाँ से हिली नही। क्या पता, चीता बाबाजी की नीयत डोल जाये ! पर नही, मैंने उधर देखा भी नही। अपनी सिगरेट से ही काम चल गया।

मेरा मन किन्ही दूसरे ही पखों पर सवार था। मैं उन पखों के रंगों को नहीं पहचान पा रहा था और न ही उसकी उड़ान को पकड़ पा रहा था। कोई ओर-छोर ही न था। जो बाहर से सहज प्रतीत होता है, वह वस्तुतः उतना सहज नही होता। मेरे सामने कोई काशीनाथ था। उस वृन्त का वृत्त मुझे भी घेरे हुए था। किसी लड़की का चपल-चंचल आवेग जहाँ जाकर मिलता है, उस सीमा तक पहुँच पाना बहुत मुश्किल है। कुसुम के इस नन्हें-से हृदय मे कौन लीला रचा रहा है, मैं नही जानता। उसे अनायास ही कैसे यह प्रेम-माधुर्य प्राप्त हो गया, इस रहस्य का भी पता नही चल पाया।

सबके चले जाने के बाद मैं और गोपीदास एक ही तखत पर पड़े थे। बहुत

बड़ी न थी वह, न ही छोटी। दिनभर की भाग-दौड़ और भारी थकान के उप-रान्त भी नींद नहीं आ रही थी। ऐसा भी न था कि इस कारण कोई परेशानी थी या कि कोई कष्ट था। इस नये परिवेश में नये लोगों के बीच एक नया आग्रह जगा था। उनींदी आँखें सो जाना चाहती लेकिन मन उन्हें जगा देता था। मैं कोहनी टिकाये करवट लिये पड़ा था। गोपीदास भी दीवार से टिके अनमने-से लेटे थे। अनुमान से ही कह रहा हूँ क्योंकि मैं अँधेरे में कुछ देख नहीं पा रहा था। राढ़ प्रदेश का प्राण झींगुर के स्वर से निनादित था। फूस की छप्पर, माटी की दीवार, कथरी और चटाई, आस-पास के पेड़-पौधे—सभी मिलाकर मेरे लिए एक विचित्र जगत् की सृष्टि कर रहे थे।

"सो गये, बाबाजी ?" अचानक गोपीदास का स्वर सुन पड़ा।

"ना तो !"

गोपीदास ने करवट ली तो तखत चरमरा उठा। फिर घरघराहट भरी आवाज में कहने लगे, "नानुर में चिउड़ा और मूढ़ी खरीदने हुए तुमने कहा था न कि गुरु-सेवा करोगे। मैं कई दिन से देख रहा हूँ तुम्हारा मन, तुम्हारी दृष्टि। इसीलिए दो शब्द कहना चाहता था। इतनी उमर हो गयी। पता नहीं, कितने लोगों से मिला। लेकिन तुम्हें देखकर ऐसा लगा कि नदी की तरह बहते जाओ। जितना जी में आये तिरते जाओ, जो भी मिले, समो लो अपने में। तुम ऐसा कर भी रहे हो—यह बड़ी अच्छी बात है। इसीलिए यह बात कहना चाहता था कि गुरु की चिन्ता मत करो बाबाजी, अन्यथा ठगे जाओगे। सिर्फ़ तुम्ही नहीं, मैं भी। समझे !"

उन्होंने गहरी उसाँस भरी। मैं उनके मुँह से अपने मन की बात सुनकर सचमुच बहुत हैरान था। नदी-प्रवाह की तरह मैं डूबता-उतराता या सबकुछ समाहित करता चलता चला जा सकूँ, इतने दुर्निवार मनःप्राण मेरे कहाँ ? लेकिन इतनी रात-गये, गोपीदास की इस अचरज-भरी बात से मेरा मन आविष्ट हो उठा। कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

"बाबाजी..."

"कहिए।"

"नींद आ रही है ?"

"नहीं।"

थोड़ी देर तक चुप्पी रही। दूर किसी घाटी में जैसे हवा के झोकों के चलने का स्वर सुनायी पड़ता है, उसी तरह उनका स्वर भी गूँजता रहा, "मैं बता रहा था बाबाजी, कि मैं बाउल नहीं। हममें से कोई भी बाउल नहीं। हाँ, गोकुल और बिन्दु एक हद तक बाउल हैं। वे दोनों अब भी ध्यान में हैं। ऐसा न होता तो यह आश्रम लड़के-लड़कियों से अब तक भर गया होता। यही तो पतन का कारण

है। हम सब पतित हैं। अब करें भी क्या? अपनी मूँछ-दाढ़ी, गेरुआ झबला, जटा-जूड़ा वगैरह कुछ भी छोड़ न पाये। डुपकी और इकतारा तो केवल हाथ की शोभा ही रह गये हैं। लेकिन बाउल कोई नहीं। बाउलों के कभी बेटे-बेटियाँ नहीं होतीं—यह जान रखो। हम सब तो बड़ी-बड़ी बातें बनाना ही जानते हैं, कामकाजी नहीं हो पाये।" गोपीदास का स्वर डूब गया था।

मैं घने अन्धकार से आच्छन्न किसी गहरी गुफा में डूब चला था। मुझे दक्खिनी नदी के किनारे गाज़ी की कही गयी बातें याद आ गयीं। मैंने उसके मुँह से भी पुरुष-प्रकृति के बारे में सुन रखा था। इसके मूल में कौन-सा सारतत्त्व है, तब भी नहीं जानता था, अब भी नहीं जानता। उसके मुँह से भी मैंने फकीर-दरवेश, प्रकृति-पुरुष मिलन के बारे में सुना था। जन्म जैसी कोई वस्तु नहीं। बाद में जान पाया था कि उसके भूखे बाल-बच्चे उसकी राह तक रहे हैं। उसी क्षण यह भी जान गया था कि वह न तो गाज़ी था, और न ही कोई दरवेश फकीर। बस मुरशेद का नाम लेनेवाला एक दरिद्र बंगाली था, जिसके अन्तर में एक स्वामी, एक पिता बसता था। गोपीदास की बातों में भी मुझे उसकी ही प्रतिध्वनि सुन पड़ी, थोड़ी-बहुत हेर-फेर के साथ।

गोपीदास कहते रहे, "अब तुम्हें सारा अनाज दिया गया, माल-मसाला दिया गया, बर्त्तन दिये गये। चूल्हे में आग लपलपा रही है। तुम यह भी जानते हो कि किसमें क्या डालना है। लेकिन पकाते हुए तुमने सब खाक कर दिया। तुम्हारी देह झुलस गयी। तुम झुलसे अंग लेकर भटकते रहे दवा की खोज में। हमारा वही गोत्र है। हममें कोई बाउल नहीं बाबाजी! सारा देश छानने पर दो-चार बाउल मिल जायें तो मिल जायें। बाकी सारा कुछ तो मूँछ-दाढ़ी और झबले का ही खेल है। तुमने तो काफ़ी कुछ पढ़ रखा होगा बाबाजी! चण्डीदास, जयदेव या विद्यापति के कोई लड़का-बच्चा था? सुना है कभी?"

सचमुच, ऐसा तो कभी सुना-सोचा न था। मैंने अचरज में भरकर कहा, "नहीं तो...!"

"तो क्या था कि उनकी पिरिति थी। रानी पद्मावती लक्ष्मी। इसी कारण वे प्रेम-रस के रसिक थे। 'जो कोई अनुरागी होय, रागदेस में जाय। रागदेस का ताला खोल, रूप का दरसन पाय।' यह लालन फकीर की उक्ति है बाबाजी, वे सब ताला खोलना जानते थे। हम नहीं। शायद, गोकुल और बिन्दु इसे खोल पायें। वे आठ साल से इसी की साधना कर रहे हैं। ये सफल होंगे। हम नहीं हो पाये।"

गोपीदास की बातें खत्म नहीं हुईं। इसके पहले ही मेरे मन में उठनेवाली जिज्ञासा गहरी उसाँस में ढल गयी। ड्योढ़ी पर फैले अंधकार ने इस हाहाकार को ग्रस लेना चाहा। मेरे अन्तर्मन की जिज्ञासा इन शब्दों में व्यक्त हुई, "यह

कैसा साधन-भजन है?"

"मैं बताऊँगा, सब बताऊँगा।"

मैं पूछता ही रहा, "चण्डीदास-रामी, जयदेव-पद्मावती आदि के साथ इस साधना का क्या रहस्य है?"

"वह भी बताऊँगा बाबाजी, पहले भी कहा है और आगे भी कहूँगा। सब तोड़-तोड़कर बताऊँगा तभी तुम समझोगे। क्यों? क्योंकि तुममें एक साथ ही बाबाजी, साधु और चोर बैठा है। तुम वादी, प्रतिवादी, रागी-विरागी सबकुछ हो। विश्वास न हो तो अपने माँ-बाप से जाकर पूछो। तुम्हारे जन्म में भी ऐसा ही कोई रहस्य है। इसीलिए तुम्हारे कर्म में कोई तालमेल नहीं...। तुम खुद सोचकर देखो!"

मैं गोपीदास की बातों पर सहसा विश्वास नहीं कर पाया। क्या इन्हें ज्योतिष विद्या भी आती है? आती हो, मैं इसकी परवाह नहीं करता। लेकिन जन्म में कोई रहस्य है—इसका क्या मतलब?

अन्धकार के मध्य गोपीदास का हाथ आगे बढ़ा। मेरा सिर स्पर्श करते हुए कहने लगे, "कुछ बुरा नहीं बाबाजी, बस यही समझ लो कि कोई भादों की जन्माष्टमी को पैदा होता है, और कोई वसन्त की पूर्णमासी में। इसी तरह किसी का जनम उस घाट पर होता है, जहाँ उसकी माँ बर्तन धोती है या फिर रास्ते के किनारे खड़े पेड़ की छाया में। तुम्हारे साथ भी ऐसा ही कोई रहस्य है। है न?"

उनकी बात मेरे जन्म वृत्तान्त से मिल रही थी, इसलिए मैं झेंप गया। अचानक माँ का कण्ठ-स्वर सुन पड़ा। गोपीदास ने सचमुच ठीक ही बताया था। मैंने आश्चर्य से पूछा, "आपको कैसे पता चला?"

गोपीदास ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "मैं कोई तन्त्र-मन्त्र नहीं जानता, बाबाजी। बाउलों का कोई तन्त्र-मन्त्र, [illegible] नहीं होता। तुम्हें देखकर ही ऐसा लगा, तभी कह रहा हूँ। तुम अपने [illegible] के बारे में ही सोचो। इधर जाते हो उधर का [illegible], उधर जाते हो तो इधर की [illegible] नदी की तरह सिर टकराता रहता है। किसी बन्धन में बँधनेवाले नहीं हो तुम, तभी तुमसे कह रहा हूँ। तुम [illegible]। मन में कोई [illegible] होगा।"

बहा दिया—किसी दूसरी ओर।

गोपीदास ने अपना हाथ मेरे सिर से उठा लिया और फिर किसी शाश्वत स्वर की भाँति कहते चले गये, "तुमने बाउलों के उस सूत्र वाक्य को तो सुना ही होगा—जो भाण्ड में नहीं, वह ब्रह्माण्ड में नहीं। जो हमारे शरीर मे नहीं, वह इस सृष्टि में नहीं। चाहे जो भी पूजा-अर्चा साधना करो, वह इसी काया मे है, इसी देह में—पुरुष की देह में, नारी की देह मे। जब इन दोनों का मिलन होता है तब सब मिलते हैं।"

मैं अब भी उसी कालातीत प्रवाह मे बह रहा था। मैंने फिर पूछा, "मिलन?"

"हाँ बाबाजी, मिलन। लेकिन यह ब्याह या निकाह के बादवाला कारोबार नहीं। यह चीते की शिकार की तरह है। चीता जैसे अँधेरी रात में यहाँ से वहाँ घूमता-फिरता है, इस जगल से उस जंगल और अपना शिकार पकड़ ही लाता है, ठीक वैसे ही। शिकार ही उसका नशा है, उसका साधन। तुम्हें अर्जुन के लक्ष्यभेद के बारे मे तो पता होगा, बाबाजी। द्रौपदी को पाने के पहले उसने मीन लक्ष्यभेद किया था।"

"जी, पानी में उसकी छाया देखकर..." मैंने जोड़ा।

"बस, यही...यही है," मेरी बात पूरी होने के पहले ही गोपीदास ने उसे लपक लिया। साथ-साथ तखत भी चरमरा उठा। अपने हाथ-पाँवों को सीधा करते हुए कहने लगे, "नीचे जल में मीन की छाया देखकर ऊपर तीर छोड़ने को ही लक्ष्यभेद कहा गया है। जयगुरु...जयगुरु! इसी का नाम है पुरुप-प्रकृति मिलन। यह मिलन क्या है रति और रस की लीला। जल की छाया मे तो खेल है, असली मिलन तो ऊपर है। वहाँ जनम नहीं, मृत्यु नहीं। हस जिस तरह जल से दूध पी लेता है, वह मिलन भी वैसा ही है ..समझे, बाबाजी।"

चतुर्दिक् व्याप्त अन्धकार का द्वार चीरकर अचानक कोई रहस्य सामने आ खड़ा हुआ। बाउलों की पुरुष-प्रकृति का मिलन-रहस्य, किसी अनुगूँज की तरह, मेरी अबोध अनुभूति मे झंकृत हो उठा।

गोपीदास इस बाउल साधना के बारे मे बताते रहे, "दोनों ओर दो नदियाँ बह रही हैं—एक है काम, दूसरी है रति। दोनों एक ही ओर बढ़ती चली जाती है। इनके बीच है, अमृत नदी। काम रति के मिलन से उस नदी में ज्वार उठता है और उसी में निमग्न होने पर ही महासुख प्राप्त होता है। इसीलिए काम ही प्रेम है और प्रेम में ही उसकी परिणति है। वहाँ जन्म-जन्मान्तर या यह आवागमन नहीं। वहाँ से गिरने-गिराने का प्रश्न ही नहीं, जहाँ निरन्तर महाभाव की अनुभूति है। वही बाउल साधना है।"

"लेकिन उस ज्वार मे, उस प्रवाह में कितने लोग बह पाते हैं? जो उस

ऊर्ध्व-साधना को साध नहीं पाते, वे इसी प्रवाह में डूब जाते हैं। विषय उन्हें जलाकर भस्म कर देता है। इसलिए इसे कैसे साधा जाता है—यह भी जानना होगा। कैसे भला? योग-साधन के द्वारा। इस साँस के घर मे प्राण द्वारा। इसीलिए कहा गया है—ब्रह्माण्ड का आधार है मूलाधार के मूल मे। उस मन-मानुष के मूल में दिवा-रात्रि नहीं, उस पद्म-पटल तक चन्द्र और सूर्य की प्रकाश किरणें भी नहीं पहुँच पाती। इसीकी साधना के लिए योगी ऋषि, रेचक, कुम्भक, पूरक आदि को साधा करते हैं।

"आरम्भ में, पुरुष-प्रकृति को अपनी देह-द्रव्य का ही विविध रूप उपादान चाहिए। वही उनके लिए गंगा-यमुना का जल हो उठता है, अमृत की तरह स्वादिष्ट। वे एक दूसरे का पान करते हैं, इसीलिए सुन्दर हो उठते हैं। इसके लिए चाहिए रूपवती, गुणवती युवती – प्रकृति, जिसका चित्त साधिका की तरह एकाग्र हो। वह अपनी अंतरंग साधना मे सती, शक्तिधारिणी होती है। बहिरंग जीवन मे भले ही वह कुछ हो—ब्राह्मणी, शूद्रा, रजकिनी, यवनी, कपाली, वेश्या या नर्तकी। वह मिथ्या वचन नही बोलती। एक-मन और एक-देह से प्रेम की साधना करती है।

"इसे ही कहते है, परकीया साधना। इसका मतलब परस्त्री का संग नहीं। यह लोगों की गलत धारणा है। उनके अनुसार राधा-कृष्ण की लीला ही परकीया-साधना है। नहीं, ऐसा नहीं है। प्रकृति मे प्रीत ही परकीया साधना है। राधा-कृष्ण तो प्रकृत रस के रसिक हैं। बाउल साधना में वे राधा-कृष्ण का ही अनुभव करते है। क्योंकि निरंतर शृंगार और लीला रूप मे ही प्रेम प्रदीप्त होता है। रजकिनी रामी किसी दूसरे की बेटी है, स्त्री नहीं। पद्मावती भी वैसी ही। साधक के लिए साधिका का आविर्भाव भी कुछ वैसा ही है। दोनों मे बराबर प्रेम न हो तो साधना नही होती। जितना ही आकर्पण होगा, उतना ही विकर्पण होगा। अन्त मे जो कुछ बचता है, वह कोई दूसरी ही अनुभूति होती है। तब आकर्पण का प्रश्न ही नही उठता। तब उभय शक्ति के स्तम्भन साम्य से एक प्रकार के शाश्वत मिलन का आनन्द प्राप्त होता है। उसी आनन्द में 'मन के मानुष' का अनुभव होता है, 'भाव के मानुष' का साक्षात् होता है। इसी अनुभूति का दूसरा नाम है 'सहज मानुष'।

"और उस 'सहज' या अधर मानुष का आविर्भाव कहाँ होता है? प्रकृति के रज में। तभी तो बाउल कहा करते है—मीन का आविर्भाव हुआ है, अब इस जल को बाँधो। जिन तीन रस-प्रवाहों मे वह दीख पड़ती है, उसका नाम है त्रिवेणी। अब उस त्रिवेणी मे कूद पड़ो। 'मीन' रूपी उस 'अधर' को पकड़ो। लेकिन सावधान! इस त्रिवेणी में डूबकर भी साधिका का अंग न डूबे। उसकी वेणी जैसी है, वैसी ही रहे। गीली या शिथिल न हो। साधक भी गोता लगाकर

मीन पकड़ लाये, लेकिन उसकी देह पर एक बूंद जल न हो। कहते हैं न, 'खाओगी, पकाओगी, सुख से रहोगी, लेकिन स्वामी का घर न बसाओगी'— इसका मतलब क्या है ? मतलब है कि वह स्वामी को नहीं भजती, वह उसी 'सहज मानुष' को भजती है। वहाँ कोई पति-पत्नी नहीं। उसी 'सहज मानुष' को पकड़कर स्वामी-स्त्री, साधक-साधिका उल्टी दिशा में आगे बढ़ते चले जाते हैं। वह अनुभूतिगम्य और निविड़ साधना है, निश्चल मिथुनानन्द स्वरूप। बाउल के परमात्मा शृंगार रस में ही लीलामय हो उठते हैं। अटल। यदि टल जाये तो जीवाचार है, प्रेमाचार नहीं।"

गोपीदास कहते चले गये और मैं सुनता रहा। मेरे मन के गहरे घने अन्धकार में उनकी बातें किसी दीपशिखा की तरह जलती रहीं। मेरी कल्पना की आँखों के सामने कई दृश्य थे, कई छवियाँ और विचित्र अनुभूति का संसार।

मेरे मन में फिर एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ, "इस साधना का लक्ष्य क्या है ? किस ईश्वर की आराधना है यह ?"

"लक्ष्य तो वही है—अचंचल मिथुनानन्द के मध्य उस 'मन मानुष' का अनुभव। 'सहज मानुष' को ही अनुभूतिगम्य बनाना। यही बाउलों का ईश्वर है। अनुभव ही ईश्वर है। इसीलिए उनका गान है, 'टल जाये तो जीव, अटल रहे तो ईश्वर। इसके बीच जो लीला करे वही रसिक शेखर।' यही वह ईश्वर है—रूप मे अरूप, आकार में निराकार।"

मैं उसी महासुखवाद की गाथा सुन रहा था। बौद्ध, सहजिया, हिन्दू साधना तथा अन्य-अन्य तन्त्र-साधनाओं से इसमें क्या अन्तर है, मैं यह समझ न पाया। इनमे परस्पर क्या सम्बन्ध या तालमेल है, यह भी नहीं जान सका। लेकिन कुल मिलाकर, मेरे अन्तर में भारत का एक विराट रूप जाग उठा, जो अब तक रहस्य के कोहरे से ढँका था। मैं उसका एक ही रूप देख पा रहा था, वह जो चिरन्तन काल से चला आ रहा है, जिसके निर्माण और ध्वस की विचित्र गाथाएँ हैं, जिन्हें सुनकर कभी मैं भयभीत हुआ तो कभी मुग्ध...और कभी आनन्दविह्वल होते हुए आहत भी और आहत होने के उपरान्त प्रसन्न भी।

गोपीदास जैसे ग्रामीण बगाली भी मेरे सामने थे, जिनके मुँह से मैं अलौकिक जगत् का रहस्य सुन रहा था, वह हमारा ही तो एक साक्ष्य था, एक अनन्य परिचय। एक ऐसा परिचय, जो हमारे समाज या परिवेश में कहीं भी लिखित रूप मे नहीं, फिर भी जो हमारे चारों ओर बिखरा पड़ा है।

हालांकि इस परिचय मे भारत के उस अध्यात्मवाद का चिह्न न था। यहाँ देहवाद के मध्य ही वस्तुवाद की लीला थी। ईश्वर नहीं है, यह वेद-ब्राह्मण-विरोधियों का प्रबल तर्क रहा। वेद-बहिर्भूत ससार का यह संवाद भी भारत का ही एक तर्क था। पहले भी इस तर्क का कोई आधार रहा होगा, मैं नहीं जानता।

आज भी यह कहीं-कहीं सुन पड़ता है। शायद भविष्य में न रहे।

गोपीदास ने फिर कहा, "इसलिए बाउलों की कोई जात-पात नहीं, मनुष्य मात्र की कोई जात नहीं—रसिक चण्डीदास ने ऐसा ही कहा था। जप-तप, तन्त्र-मन्त्र, टोना-टोटका भी बाउलों के लिए नहीं। तुमने देखा नहीं बाबाजी, ब्राह्मण जब तर्पण कर रहे होते हैं तो कहते हैं—स्वर्ग के पितरों को जल दे रहे हैं। ऐसा भी कहीं होता है? बाउलो का गान है—

"बाभन बोले, तरपन का जल सीधे स्वर्ग में जाय
सूखे खेत की माटी पे रोये किसान, हाय रे हाय
तो फिर क्यों
ओ रे ठाकुर, तेरे तरपन का जल
सूखे खेत तलक न जाय?"

इसके साथ ही, गोपीदास की घरघराहट भरी हँसी भी मेरे कानों में पड़ी—"इतनी-सी बात है, बाबाजी। अब यह संसार तो ससार ही ठहरा। इसी में मनुष्य अपनी लीला करता है। कोई 'सहज मानुष' की साधना करता है तो कोई 'जीव प्रेम' में पड़ा रहता है।"

वे चुप हो गये। अचानक ठण्डी हवा का झोंका-सा लगा और कोई अनजाना-सा पछी पुकार उठा। यह रात्रि के अन्तिम प्रहर का सकेत था।

अचानक कानों में कोई नारी-कण्ठ सुन पड़ा और इसी के साथ मेरी नींद टूट गयी। पता नहीं, मैं किस स्वप्नलोक में था। आँखें खुली तो सामने की दीवार पर धूप खेल रही थी। मेरी देह पर काली कामरी पड़ी थी। तत्क्षण पता चल गया कि मैं कहाँ था। कामरी हटाकर मैं तुरत उठ बैठा। बगल में गोपीदास न थे। आस-पास भी कोई न दीखा। लेकिन कानों में आवाज़ आ रही थी। मैं तुरत समझ गया कि जिसकी ऊँची आवाज से मेरी नींद में बाधा पड़ी है, वह और कोई नहीं, कुसुम ही थी। बिन्दु उसे झिड़क रही थी, "छी...छी कुसमी, तेरी अकल चरने चली गयी है क्या? तुझे अभी-अभी बाबा ने बताया न कि चीता बाबाजी सारी रात जगे रहे है और थोड़ी देर हुई उनकी आँखें लगी है। और तू है कि चिल्ला रही है?"

थोड़ी देर चुप्पी रही। फिर कुसुम के गले का दबा हुआ स्वर सुन पड़ा, "अब मुँहअँधेरे यहाँ आकर उसे किसने कहा था कि यह सब बातें सुनाये। वह क्यों कहेगा यह सब?"

उत्तर बिन्दु ने दिया, "क्यों? काशी ने कुछ बुरा तो नहीं कहा। कह रहा

था, उसे पता होता तो रात मे ही आता। सबके साथ खाता-पीता और बैठता।"

बोल हरि ! फिर वही काशीनाथ ! इसीलिए कुसुम इतनी चुप थी। इसी काशीनाथ की अमंगल भावना से कुसुम पिछली रात उद्विग्न थी। मुझे अब भी उसकी मूर्ति याद है। इसमें आश्चर्य क्या रे पगले मन ! इस ससार में कुछ भी सम्भव है—यह सत्य भी विचित्रतापूर्ण है। लेकिन जो प्रस्तुत था, उससे मुझे क्या लेना-देना ?

कुसुम का स्वर फिर सुन पडा, "ऐसा वह क्यों बोल रहा था, क्या मैं नही समझती ? कल रात यहाँ आने पर गाँजा चढ़ाने को जो मिलता। यह क्यों कहने लगा वह ? यह क्या गाँजा सूँतने का अड्डा है ?"

बिन्दु ने हठात् कुछ नही कहा। दबा-दबा-सा स्वर सुन पड़ा—"उसने क्या कहा ?"

"कहा नहीं ?" कुसुम फिर तेज हो गयी थी, "वही तो दाँत निपोरे खड़ा है बेशरम। तुम पूछती क्यों नहीं ?"

ठीक इसी समय किसी किशोर की लापरवाह-सी आवाज कानों में पड़ी—"जो भी कहा है, ठीक ही कहा। निताई ने बताया कि कल रात यहाँ खूब जमी थी। मैं रहता तो मैं भी चढ़ाता। इसमे क्या हुआ ?"

कुसुम एक बार फिर चीता बाबाजी की नीद की बात भूल गयी और झुंझला उठी, "इस्स ..गाँजा चढाता। मैं मुराठी से तेरा मुँह न झुलस देती !"

फिर वही झुलसने-झुलसानेवाली बात। क्या कुसुम का मन-प्राण जरा भी नही कँपता, उसका हृदय नही धड़कता ?

तभी वह लडका भी चिल्ला उठा, "अरे बाप रे, कहाँ की माँ गोसाईंन आयी है मुँह झुलसानेवाली ! मैं तेरा मुँह नही झुलस दूँगा ?"

इसके बाद क्या कुछ घटित हुआ, मैं ड्योढ़ी के एक कोने में पड़ा-पड़ा कुछ भी न देख पाया। केवल बिन्दु की ही झुंझलाहट सुन पड़ी, "तुम दोनों को लेकर चलना तो मेरे बस में नही। काशी, तू जा भाई, तू जा अभी। वरना यह चिल्लपों नही थमेगी।"

काशीनाथ ने पाँव पटककर कहा होगा, "हाँ...हाँ...जा रहा हूँ। उसका मुँह देखने के लिए नहीं पड़ा रहूँगा।"

वह कुसुम का मुँह देखना नहीं चाहता, इसलिए जा रहा है। मैं सोच रहा था, कुसुम भी ऐसा ही चाहती होगी। उसका हृदय जुड़ा गया होगा शायद। गुस्से का मामला था और गुस्सा चाण्डाल होता है। लेकिन रात के आखिरी पहर में किसी अनजाने पंछी की पुकार की तरह ही कुसुम का स्वर भी जैसे ढल गया। वह किसी अनजाने स्वर में बोल उठी, "जायेगा क्यों ? मैं कह रही थी न, कि

चीता बाबाजी उससे मिलना चाहते थे ।"

अच्छा...तो काशीनाथ को मैं देखना चाहता था !

काशीनाथ ने व्यग्यभरे स्वर में झिड़क दिया, "इतने से ही जी नही भरा। तू अपने चीता बाबाजी के लिए पडी रह । मुझे कुछ नही चाहिए ।"

पाँव पटकते हुए चले जाने की आवाज तो नहीं आयी लेकिन बिन्दु के स्वर से लगा कि वह चला गया, "फिर आना काशी, मेरे अच्छे भाई ।"

कोई उत्तर नही मिला । आँगन मे निस्तब्धता थी। क्या वे दोनो भी काशी के पीछे पीछे चली गयी ? ना तो । कुछ ही देर बाद, बिन्दु का स्वर फिर सुन पड़ा, "अब उल्लू की तरह मुँह लटकाये खडी रह । कह रहा था तो कहने देती। तू इस तरह पीछे ही क्यो पड़ गयी भला ?"

"और उसने कौन-सी आरती उतारी ?"

"वह तो बाद मे उतारेगा ही । तू बाद मे ही यह बात कह लेती तो क्या बिगड़ जाता तेरा ?"

"और उसने यह क्यों कहा ? गाँजा का नाम सुनते ही कण्ठ की नली फुफकार उठती है ।"

"यह दूसरी बात है। समय देखकर ही कुछ कहना चाहिए। अब चेहरा मत लटकाये रख । जा बछड़े को बाहर जाके बाँध दे ।"

फिर थोड़ी देर खामोशी छायी रही।

"तू खड़ी क्यों है ?" बिन्दु ने फिर पूछा ।

कुसुम ने तनिक उत्तेजित होकर कहा, "लेकिन उसने यह क्यों कहा कि तू अपने चीता बाबाजी के साथ पड़ी रह ।"

"उसने गुस्से में ऐसा कहा होगा," बिन्दु ने मनाया ।

"चीता बाबाजी के साथ भेंट नही होगी ?" कुसुम ने फिर पूछा ।

"कुसमी, तू मुझसे ज्यादा मत बका कर," बिन्दु तनिक विरक्त हो उठी थी। फिर भी उसने मुसकराकर कहा, "मैं उतर आयी हूँ । अबतक गुरुप्रणाम नही हो पाया । इसके बाद दूध भी औटना है...मैं चली ।"

बिन्दु की मुसकान मेरे चेहरे पर झलक उठी । नाबालिग-नाबालिगा के पचड़े मे कौन पड़े ? लेकिन कुसुम के लिए मेरे मन के कोने मे एक तड़प सी जग उठी । काशीनाथ का गाँजा चढाना या कठोर वचन कहना भी उस बेचारी को सहज स्वीकार्य था, यदि किसी तरह मेरी और काशीनाथ की मुलाकात भर हो जाती। वह अपने मन की इच्छा को मेरे बहाने प्रकाशित कर रही थी ताकि मैं उसके काशीनाथ को देख तो लूं । लेकिन काशीनाथ ने तो अपना विरोध पहले ही प्रकट कर दिया—"भला चीता बाबाजी से उसे क्या लेना-देना ?"

कुसुम के सीने मे उसका यही रोष टीस रहा था। झगड़ा, विवाद या मुँह

झुलस देनेवाली उक्ति के बाद जो आत्म-ग्लानि बची रह जाती है, उस रहस्य को कोई कैसे समझ सकता है भला ?

फूस की छप्पर से अपना सिर बचाते हुए बिन्दु ड्योढ़ी में दाखिल हुई। मुझे बैठा देखकर वह विस्मय में पड गयी, "यह क्या, बाबाजी उठ भी गये ?"

"हाँ।"

"सबकुछ सुना तो ?"

मेरे चेहरे पर मुसकान की रेखाएँ फैल गयीं। मेरी तरफ़ देखते हुए उसकी आँखों मे ही नहीं, तन-मन मे भी कोई आनन्द-लहरी खेल गयी। फिर मुसकराकर कहने लगी, "तभी तो नींद टूटी होगी। अब क्या कहूँ बताओ? इन्ही पागलो को लेकर रहना पड़ता है! जितना झगडा है, उतना ही प्रेम भी। साथ रह भी नही सकते और छोड़ भी नही पाते। अभी उमर ही क्या हुई है ?"

जिस दिन यह उम्र उपयुक्त हो जायेगी, उस दिन यह दूरी भी कम हो जायेगी। फिर उसमें एक दिन वह स्वर भर जायेगा, जिसे कोई तीसरा न सुन पायेगा। फिर वह स्वर बाह्य मे नही, अन्तर में बजेगा। अभी तो खाली बर्तन की झनझनाहट है।

मेरी आँखों में बिन्दु का पूरा रूप लहरा रहा था। मै सहसा अपनी आँखें न फिरा पाया। उसकी देह पर कुरती नही थी। उसकी काया गेरुए रंग की लाल किनारीवाली साड़ी मे लिपटी हुई थी। सामने की ओर छोटा-सा घूँघट। दाहिना कन्धा खुला था। अभी-अभी निचोड़कर सँवारे गये गीले बालों का गुच्छा उसके उन्नत वक्ष पर पडा था। लाल सिन्दूर की बिन्दी उसके माथे पर झलक रही थी। माँग में सिन्दूर की हल्की-सी रेखा। कलाइयों में लोहे की बाली के अलावा शंख की मोटी-मोटी दो चूड़ियाँ। बडी-बड़ी आँखों में काजल नही डला था, फिर भी आँखें कजराई-सी लग रही थी। काली भवों के नीचे नुकीली नाक। सब मिलाकर यह किसी बाउल प्रकृति का वेश है या नहीं, मुझे नहीं मालूम। मैंने पाया वह एक चिर सधवा नारी का रूप था। वह चाहे जितनी लहराये, झूमे, झलके, आँखों की पुतलियाँ नचाये—उसके चेहरे पर एक ऐसी गम्भीरता विराजती है जिसके नम्र-कठोर, कोमल-कठिन रूप और स्वभाव मे भी वह अमरत्व निहित रहता है।

अमृत रूपा बिन्दु भी धीरे-धीरे मेरे पास आ खड़ी हुई और फिर गर्दन टेढ़ी कर बोली, "क्या देख रहे हो, बाबाजी ?"

मैं झेंप गया। मुसकराकर बोला, "तुम्हे।...स्नान कर चुकी ?"

"हाँ।" बिन्दु चौकी के पास आ खड़ी हुई। इसके बाद उसने अपनी भौंहों को उठाकर मुझसे पूछा, "ऐसा क्या देखा मुझमे ?"

यह बिन्दु की वही उन्मुक्त प्रकृति का निदर्शन था।

"तुम कितनी सुन्दर हो—यही देख रहा था," मैंने कहा।

"झिनि दीदी से भी...?"

यह कैसा प्रश्न था? झिनि का प्रसंग कहाँ से आ टपका? मैंने उत्तर दिया, "तुम एक हो, वह एक है।"

बिन्दु के होंठों पर मुसकान-सी खेल गयी, "फिर तो हम दोनो ही एक हैं।"

मैं उसकी इस बात का कोई उत्तर न दे पाया। बिन्दु ने फिर मुसकराते हुए कहा, "जब झिनि दीदी को अपने सग नही ले जा पाये तो मैं ही बाबाजी को रख लूंगी। कुछ दिन मेरे पास रह जाओ न...?"

बिन्दु को पहचानना अब भी बहुत शेष था। तो भी जितना कुछ पहचान पाया उससे इतना ही कहा जा सकता है कि उसमे प्रकृति की जो लीला सहज भाव से खेलती है, उसका मूल आशय समझने में तनिक देर नही लगती। आश्रम मे रहते हुए उसकी बातचीत का ढंग कुछ ऐसा ही था।

मैंने तखत से उतरते हुए कहा, "अब देर नही करनी चाहिए। मुझे। तुरत बाहर निकलना होगा। तुम्हारे गोसाईं बाबा कहाँ गये?"

बिन्दु अचानक ठिठक गयी। आँखों मे विस्मय भरकर बोली, "अरे बाबा... यह क्या? बात नहीं, विचार नही, एकदम कूद ही पड़े! कहाँ चले?"

"वक्रेश्वर।"

"ठीक है। लेकिन हाथ-मुँह नही धोना! थोड़ी-बहुत तैयारी करनी पड़ेगी कि नहीं?"

मैंने उतनी ही व्यस्तता दिखाते हुए कहा, "हाँ...हाँ। अब बताओ कि पानी-वानी कहाँ मिलेगा? काफी देर हो चुकी है।"

भिनि की आँखें मुझपर ही टिकी रहीं। कुछ कहा नही उसने। धीरे-धीरे उसकी आंखों में कौतुक गहराता ही गया और वह खिलखिलाकर बोली, "बाब्बा ...रे, सचमुच तुम चीता ही हो। सारा खेल जानते हो। मै तो यही सोचकर डर गयी कि रहने को कहा नही कि फसाद हो गया। अभी तो वर्षा भी नहीं हुई। बादल गरजा नही कि किसान कन्धे पर हल लेकर दौड़ पड़ा।"

मैं उसकी बातें सुनकर हंसता रहा।

"आओ," बिन्दु मुझे पुकारकर बाहर ले आयी।

सुबह के आठ बज रहे थे। घड़ी मेरी कलाई में ही बँधी थी। चारों ओर धूप बरस रही थी। आँगन के सामने और एक कमरा था, जिस पर कुण्डी पड़ी थी। उत्तर की ओर कच्ची दीवार थी, घर के आहाते तक। आस-पास आम, कटहल, शाल और सागवान के पेड़ थे।

मैं बिन्दु के साथ उसी रसोईघर की तरफ़ चल पड़ा। सामने ही दो बाल्टियों में पानी रखा था। वहाँ पर पक्का चबूतरा-सा बना था। उसके पास ही, केले

के पेड़ उगे थे, जिसके चारों ओर कच्चू के पौधों का बेड़ा था और उस पार ऊँची-नीची जमीन। कहीं कहीं थोड़ी-बहुत घास और बाबला की झाड़ियाँ, जिनके उस पार धान के खेत फैले थे—दूर दिगन्त तक।

बिन्दु, बगान के उस पार, कच्चू के पौधों तक गयी और बेड़े के उस तरफ़ ऊसर जमीन की ओर तकती रही। फिर मुड़कर बोली, "गाय बाँधकर पता नहीं, कुसुम कहाँ चली गयी?"

कच्चू के पौधों के पास ही कमचियों की बनी एक अर्गला थी। उसे खोलते हुए बिन्दु ने मुझसे कहा, "चाहो तो मैदान हो आओ। पानी यहाँ रखा है। फिर हाथ-मुँह धो लेना। मैं तुम्हारा अँगोछा लिये आती हूँ।"

मैं मैदान चले जाने का आशय समझ गया। मैंने कहा, "मेरी झोली में तौलिया है।"

"हाँ, अभी लायी," और बिन्दु हँसकर चली गयी।

मैदान से वापस आते हुए मैं जब ऊँची जमीन पर चढ़ रहा था तभी बाबले की झाड़ियों के सिरे पर कुसुम खड़ी दिखी। मेरी तरफ़ उसकी दृष्टि न थी। पता नहीं, उस तरफ़ मुँह उठाये क्या देख रही थी? मैं उसे पुकारना चाहकर भी चुप हो रहा। अचानक वह जमीन पर बैठ गयी और फिर मिट्टी पर उँगली से क्या कुछ काटती रही।

शायद उसने दूर से ही काशीनाथ को देखा होगा। या काशीनाथ के आने की प्रतीक्षा में बैठी हो। मैं चुपचाप बगान के पिछवाड़े आ गया। वहाँ एक छोटी-सी पीढ़ी पर मेरा तौलिया रखा था। बाल्टी के पास चमचमाता लोटा और मंजन की शीशी।

मेरे मुँह-हाथ धोने के तुरत बाद बिन्दु प्रकट हुई। उसने पूछा, "बाबाजी, नहाओगे नहीं?"

"नहीं, वक्रेश्वर जाकर ही नहाऊँगा।" मैंने उत्तर दिया।

"अरे बाबा, यह तो एकदम धनुष तोड़नेवाली प्रतिज्ञा है। क्यों?"

अब मैं हाथ-मुँह पोंछकर तैयार था। मुड़कर बोला, "आज वहाँ के गरम कुण्ड में स्नान करूँगा।"

वापस कमरे में लौटा तो देखा—गोपीदास, गोकुल और सुजन सभी बैठे हैं। बिन्दु ने पूछा, "थोड़ा-सा दूध ले आऊँ, बाबाजी?"

दूध? उसकी बात सुनकर जी में कोई मीठा स्वाद जग उठा। यह कैसा आयोजन? यहाँ तो रात बीतते-न-बीतते चाय के लिए हाय-हाय मची रहती है। अब तो दूध का स्वाद भी याद न रहा। और वह भी इस ठण्डी सुबह में! मैंने बताया, "थोड़ी-सी चाय मिल जाती तो...?"

"वह भी दूँगी। पहले थोड़ा-सा गरम दूध तो पी लो...अँ..."

गोपीदास ने जोड़ा, "मेरी बिन्दु माँ की श्यामा गाय का दूध बड़ा ही मीठा है बाबाजी। थोड़ा-सा पी लो। थोड़ी-सी मूढ़ी दूध में डालकर पी लो और फिर थोड़ी-सी लबात।"

इसके बाद बिन्दु के अनुमोदन की अपेक्षा न रही। उसके चले जाने के बाद गोकुलदास ने रुकने का आग्रह किया। गोपीदास ने भी सहमति जतायी। मैंने वक्रेश्वर के लिए अपना आग्रह प्रकट किया और कहा, "पहले वहाँ चलूँ, फिर देखा जायेगा।"

खाने-पीने के बाद, जब विदा की वेला आयी तो सबके प्रसन्न चेहरे पर कोई उदासी-सी घिर आयी थी। मेरे साथ केवल गोपीदास ही जा रहे थे। उन्हें वक्रेश्वर से फिर यहीं वापस आना था।

लेकिन पाँव आगे बढ़ाते हुए भी मैं चल न पाया। कुसुम कहाँ गयी? क्या काशीनाथ के साथ मेरी मुलाकात न हो पायेगी? इसी समय निताई सामने के दरवाज़े से बाहर निकला। थोड़ी देर बाद जब वह लौटा तो उसके साथ एक सत्रह-अठारह वर्ष का लड़का था। चिकना-सा चेहरा, किसी किशोरी की तरह ही भोली-सी मुख-मुद्रा। सिर पर रूखे, घुँघराले बाल। दुबला-पतला और लम्बा। उसकी बड़ी-बड़ी अबोध-सी आँखों को देखकर यह विश्वास करना बहुत ही मुश्किल था कि यह बालक गाँजा भी चढ़ाता है, या कि इस तरह झगड़ा कर सकता है। उसकी देह खुली हुई थी। घुटने तक एक छोटी-सी धोती चढ़ी थी। मेरे सामने आते ही उसने अपना सिर झुका लिया।

"कुसुम कहाँ गयी?" मैंने उससे ही पूछा।

"पता नहीं।"

वह भला जानेगा भी कैसे? मैं जानता हूँ वह इसे साथ लेकर आनेवाली थी। और इसी की प्रतीक्षा में जंगल में बैठी है। लेकिन मैंने यह सब नहीं बताया। मैंने मन-ही-मन कहा, काशीनाथ के साथ चीता बाबाजी की इस मुलाकात से कुसुम की साध पूरी तो हुई।

मैंने काशीनाथ के कन्धे पर हाथ रखा और आगे बढ़ आया। फिर बिन्दु से बोला, "कुसुम को बता देना।"

बिन्दु ने गर्दन हिलाकर मुसकाने की असफल चेष्टा की। उसकी दोनों आँखें अचानक तरल हो उठी थीं।

थोड़ा-सा मुड़ते ही, लोगों की बस्ती खत्म हो गयी। इसके बाद केवल खेत या फिर मैदान थे। बंजर धरती के किनारे रेल लाइन और लाइन के उस पार

सिउड़ी शहर। कुसुम से फिर मुलाकात न हो पायी। क्या वह अब भी वहीं बैठी है? या वहीं से वह हमलोगों को देख पा रही है?

"हाँ तो गोसाईं, गाँजा थोड़ा-बहुत कम नहीं कर सकते?" मैंने काशीनाथ से कहा।

उस लड़के के चेहरे पर स्त्री-सुलभ लाजभरी लाली दौड़ गयी। आंखों में विस्मयभरी चमक खेल गयी। उसने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "थोड़ा-सा तो चढ़ाया है। रोज नहीं पीता। आप इनसे ही पूछकर देखिए।"

"कुसुम तो बता रही थी कि गाँजा देखा नहीं कि तुम्हारी नीयत मचल उठती है।"

"झूठ कहती है वह।"

"तो काशीनाथ सच कह रहा है? मैंने गोकुल की ओर मुड़कर देखा।

"इसने ठीक ही कहा। कुसमी जितना कहती है, उतना नहीं।" गोकुल ने बताया।

काशीनाथ ने सफ़ाई दी, "कुसमी तो बस मुझे ही गाँजा चढ़ाते देखती है। साल-छह माह में कभी किसी दिन देख लिया कि तीसों दिन उलाहना देती रहेगी। उसकी इस उस्तादी से देह में आग लग जाती है।"

सत्रह-अठारह साल के इस लड़के ने कुसुम के बड़े भाई के सामने ही उसकी शिकायत की थी। गोकुल मुसकरा रहा था।

मैंने उसकी ही बातों को तनिक नया मोड़ दिया, "जब साल-छह माह में ही एकाध बार पीते हो तो फिर छोड़ ही क्यों नहीं देते?"

काशीनाथ लजा गया। उसके रूखे बालोंवाला सिर एकदम नीचे झुक गया। उसने कोई जवाब नहीं दिया। उसकी ओर देखकर यही कहा जा सकता था कि यह उसके स्कूल या कॉलेज जाने की उम्र थी। उसकी बातचीत से ऐसा नहीं लगता था कि उसकी पढ़ाई-लिखाई हुई होगी कभी। और प्रसंग तो गाँजे का था। वह किसी बँधे बँधाये सरगम का प्राणी न था। रूप में उसकी सीमा नहीं, असीम था वह।

"दिनभर क्या करते हो?" मैंने पूछा।

"काम करता हूँ।"

"कौन-सा काम?"

"अपनी खेती-बारी। खेत में गायें बँधी है, जिन्हें मैं ही देखता हूँ।"

अच्छा तो काशीनाथ दूसरे ही स्कूल का प्राणी है। काशीनाथ किसान है, चरवाहा है। और यह कि गृहस्थ के घर का बालक होता हुआ भी गोकुल से बाउल होने की दीक्षा लेना चाहता है।

हम रेल लाइन पार कर शहर की सीमा में प्रवेश कर चुके थे। यहाँ का

सारा परिवेश ही दूसरा था। तिपहिये रिक्शे और मोटरगाड़ियों के हॉर्न और भोंपू एक ही समान बज रहे थे। हमे भी एक रिक्शा लेना पड़ा। कचहरी से वक्रेश्वर के लिए बस जो पकड़नी थी।

गोपीदास ने अपना इकतारा अपनी गोद में टिका लिया। काशीनाथ का साथ छोड़कर मैं भी रिक्शा पर जा बैठा। गोकुल और सुजन ने एक बार 'जय-गुरु' की हांक लगायी। गोकुल ने कहा, "दिन और तिथि तो नही कह सकता। तो भी उत्तरायण के दिनों मे केंदुलि आ पायें तो वहाँ भेंट हो सकेगी।"

मेरे लिए भी ऐसी ही समस्या थी। मैंने उत्तर दिया, "आशा तो है।"

काशीनाथ मेरी ओर ही टकटकी लगाये देख रहा था। बड़े सकोच मे भर-कर बोला, "फिर आइयेगा न!"

मैंने उसकी इस बात का उत्तर न देकर अपनी ही बात कही, "मेरी सलाह पर ध्यान देकर देखना।"

बेचारा काशीनाथ झेंप गया। पता नही, इसकी चोट कुसुम पर जाकर पड़ेगी भी या नहीं! रिक्शा आगे बढ़ने के पहले गोकुल को पता नही, काशी ने क्या कुछ कहा। गोकुल बोल उठा, "तो फिर जाता क्यों नही?"

गोपीदास ने पूछा, "क्या हुआ?"

"काशी कह रहा है कि वह भी वक्रेश्वर जाना चाहता है।"

मैंने कहा, "तो आ जाओ!"

काशीनाथ संकोच के साथ बोला, "कोई चारा नही अभी। खेत मे आलू बोया है।"

कृषक का कार्य और गायों की रखवाली छोड़कर जाये भी कैसे? देखेगा कौन? हमारा रिक्शा आगे बढ़ गया। कस्बेनुमा शहर की राहो को चीरते हुए रिक्शा कचहरी के सामने आ खड़ा हुआ, जहाँ कई बसें खड़ी थी। सिउड़ी कभी राजनगरी रही है। यही से दुबराजपुर जानेवाली बस से वक्रेश्वर जाया जा सकता है। मैंने पहले से ही सोच रखा था कि टैक्सी करूँगा। गोपीदास को इसमे आपत्ति थी। इतना खर्च उठाने की क्या जरूरत थी भला? पहले के दिनों मे तो पैदल ही आते-जाते रहे। फिर घोड़ागाडी पर जाने लगे। कल पूरे दिन भी हम नानुर से धक्के खाते आये थे। इसलिए मैंने किराये की टैक्सी ले ली।

गोपीदास गाडी में हाथ-पैर फैलाकर बैठ गये। ड्राइवर के साथ एक-दो बातें करने के बाद बोले, "बड़ा आराम है।"

मैंने पाया, उनकी आँखें खिडकी के बाहर कही खोयी हुई थी। मूँछ-दाढी की एक-एक गच में उनकी मुसकान खेल रही थी, पर कोई अजनबी-सी पीड़ा लिये।

पिछली रात की बातें मैं भूल नही पाया था। धूल और माटी से अटे अँग-

रते में, इकतारा लिये गली-गली भटकनेवाला यह आदमी भी तात्विक चर्चा कर सकता है, यह उसे बिना सुने कैसे जाना जा सकता ? यह अपने में एक दूसरा ही आदमी लिये चल रहा है, इस बात पर सहसा विश्वास नहीं होता। भारतवर्ष में, सजे-सजाय ड्राइंगरूम तत्त्व-चर्चा के स्थल नहीं रहे। तत्त्व ही नहीं, शिल्प-संगीत आदि सबकुछ तो जंगलों, पथों, पर्वत-कन्दराओं और वृक्षों की छाया में ही फला-फूला है।

इसलिए ऐसे किसी व्यक्ति को थोड़ा-बहुत आराम पहुँचाकर जी को तोष हुआ। मैंने पूछा, "अच्छा लग रहा है?"

गोपीदास इसी तरह बाहर देखते हुए बोले, "हाँ बाबाजी। जीवन में आज पहली बार इतने आराम से वक्रेश्वर जा रहा हूँ। तुम अन्यथा न लो तो एक बात कहूँ! आराम किसी को बताने जैसी चीज नहीं। है न?...और इसमें दोष भी क्या है? अगर धरम सध सकता तो क्या बुरा था? पर न तो धरम सध पाया और न ही उसे छोड़ पाया। बस यों ही जी रहा हूँ!"

गोपीदास जैसे अपने पर ही दया करते हुए हँस पड़े। उनकी आँखें फिर सजल हो उठीं। पिछली रात का आक्षेप और विलाप एक बार फिर मुखर हो उठा। मन की गहन गुफा में न जाने कौन-सी भाव-सरिता प्रवाहित हो रही थी। वे कातर हो उठे, "बड़ा सुख मिला, इसी से यह बात मन में आयी। सुख के कारण ही तो पतित हुआ, बाबाजी। दुख की कीमत चुकाये बिना सुख का संसार बसाने से यही हाल होता है।"

मैंने सुख से पतित होनेवाली ऐसी कोई बात पिछली रात नहीं सुनी थी। मैंने पूछा, "दुख की क्या कीमत है?"

"शिक्षा। तुम लोग जिस प्रकार अपनी पढ़ाई-लिखाई पूरी कर परीक्षा देते हो, ठीक उसी प्रकार की यह शिक्षा भी है। पढ़ाई पूरी किये बिना परीक्षा देने पर जो पतन होता है वैसी ही एक परीक्षा में मैं फेल हो गया, बाबाजी।"

"क्यों, परीक्षा तो फिर से दी जा सकती है?"

"नहीं, बाबाजी। इसमें यही तो अन्तर है। परीक्षा एक ही बार होती है। सारा जीवन गुरु के पास बैठकर शिक्षा ग्रहण करो। उसके बाद परीक्षा में बैठो। फेल हुए तो गये। मैंने कल बताया था न—जीवाचार बार-बार, प्रेमाचार एक बार। इसीलिए काया को तनिक सुख मिला नहीं कि अपने पतन की बात याद आ जाती है। अब इस जीवन में कुछ होने को नहीं, सब चुक गया।" गोपीदास चुप हो गये।

उनकी आँखो से बहती नदिया उनकी दाढ़ी भिगोती नीचे बह गयी थी। मैं मन-ही-मन आतुर हो उठा। इच्छा होते हुए भी उनका हाथ नहीं पकड पाया। उनके जीवन की व्यर्थता उनकी भावधारा और भाषा मे इस तरह घनीभूत हो

उठी थी कि मैं कुछ कह नहीं पाया।

लेकिन गोपीदास किसी दूसरी ही दुनिया में खोये थे। बताते रहे कि कैसे सबकुछ शेष हो जाता है। बुढ़ापा आकर सारे पथ-द्वार बन्द कर देता है। यौवन में तो साधना की नहीं, अब वृद्धावस्था में कोई उपाय नहीं। जिसका काम नष्ट हुआ उसका प्रेम भी गया। विश्व प्रकृति को ही देख लो, ऋतुएँ बदलती हैं तो धरित्री युवती रहती है। प्रकृति में जरा का प्रवेश हो गया तो सब ठप्प हो जायेगा। काम और रति के परस्पर-संयोग में ही गन्धहीन प्रेम की साधना होती है। शव-साधना श्मशान में बैठकर होती है। पर प्रेम-साधना का स्थल तो काम-कुंज ही है। तभी तो वह साधना है। आँखें ही नहीं तो देखोगे कैसे? पाँव नहीं तो चलोगे कैसे?

"यहाँ इस तरह का प्रश्न करना कि ऐसी साधना सम्भव है, गलत होगा। जिसने गोता लगाना सीखा है, वह तैरकर बाहर आ जायेगा। मूल बात तो उस लक्ष्यभेद की है, जहाँ नीचे तकते हुए ऊपर की ओर तीर छोड़ा जाता है। बस अपने आपको उसके योग्य बनाना है। पुरुष और प्रकृति की देह में नीर-क्षीर दोनों हैं। सबका आस्वाद ग्रहण करना है। काया में कुछ भी वर्ज्य नहीं। इसीलिए बाउल की साधना में लज्जा, घृणा और भय—इन तीनों के लिए कोई स्थान नहीं। तभी तो द्रव्यगुण की बातें आती हैं। अब केवल पान का पत्ता चबाओ या सिर्फ़ कत्था चाटो तो होंठ लाल नहीं होंगे। पत्ता, कत्था, चूना, सुपारी सब मिलाकर चबाना होता है। इसी तरह इसी काया में गंगा-जमुना बहती है। काम-रति का नीर-क्षीर प्रवाहित है। इसको ही कहते हैं—'बिना जल के चरणामृत, जो पीये वह अजरामृत।' बिना इसके साधक तैयार नहीं होता। इसी का नाम है आत्म-रक्षा। आत्म-रक्षा की शक्ति। इसमें केवल स्त्री-पुरुष का रमण करना नहीं; जिसकी आत्मा, आत्मा से रमण करती है उसे ही रसिक कहते हैं।

"अगर गुरु के निर्देशानुसार सबकुछ ठीक से सम्पन्न किया जाये तो यह साधना सम्भव है। इसमें अविश्वास करने-जैसा कुछ नहीं, बाबाजी। मैं तो च्युत हूँ, मुझे देखकर ही इसपर अविश्वास न करो। जो तन-मन साध सकते हैं, उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं।"

पता नहीं, कब गाँवों की सीमा पार कर गाड़ी सघन वन की अचल छाया में आ पहुँची थी, शाल वन के बीच सीधी सड़क के किनारे। कहीं-कहीं धूप झिलमिला रही थी। सभी ओर सूखे पत्ते बिखरे पड़े थे। लकड़ी बीननेवाली दो-एक औरतें भी दिखीं वहाँ।

गोपीदास की बातें सुनकर मैं सम्भव या असम्भव-जैसे विचारों में नहीं खोया था। इतना ही सोच रहा था कि तत्त्व-साधना के इस विचित्र, विस्मयकर, गुण-भेद-अभेद आदि विषयों पर प्राचीन लोगों ने किस तरह विचार किया था।

आधुनिक परिभाषा में जिसे हम रसायन कहते है, उस काल के विचारकों ने उसे किस तरह हस्तगत किया होगा ! वे कौन थे ? इसी तरह कन्धे पर झोला टाँगे, अँगरखा पहने, ऐसे ही बाउल या कापालिक ! कहाँ था उनका विद्यालय ?

तभी किसी का मुझे स्पर्श हुआ। मैंने मुड़कर देखा, गोपीदास की आँखों में वही एक रहस्य था। सुख में पड़कर पतित बाउल अब रहस्यभरी घनी मुसकान बिखेर रहा था। मुझे तो एक बार भी नहीं लगा कि यह आदमी पतित है, या केवल जीवाचार में डूबा रहा है। यह प्रेमाचार में भी निमग्न रहा होगा। ऐसा न होता तो इस तरह भूला क्यों रोता-पीटता ?

"क्या सोच रहे हो, बाबाजी ?" गोपीदास ने पूछा।

"आपकी ही बातें।"

"कैसी लगीं ?"

"आश्चर्य होता है।"

गोपीदास एक मुहूर्त के लिए अपलक मेरी ओर देखते रहे। फिर एकाएक पूछ बैठे, "साधोगे बाबाजी ?"

"क्या ?"

"यही बाउल-साधना।"

मेरी देह में जैसे सिहरन-सी हुई। हृदय आन्दोलित हो उठा। मैंने जल्दी से सिर हिला दिया, "जी नहीं, वह साधना मेरे लिए नहीं।"

"क्यों बाबाजी ?" गोपीदास पूछ बैठे।

"मैं बाउल नहीं।"

"यहाँ बाउल कौन है, बाबाजी ? जो साधे, वही बाउल है।"

मैंने गोपीदास की ओर देखकर मुसकराते हुए कहा, "संसार में सबकुछ सबके लिए नहीं।"

"बाबाजी, तुम नदी की तरह बहते चलो बस, सबकुछ पा जाओगे।"

"नहीं ! ऐसा मत कहिए। मैं तो सुख में पड़कर आपसे भी अधिक पतित हूँ।"

"जयगुरु।" अचानक गोपीदास अन्तःक्रन्दन करते हुए कातर हो उठे। और फिर, मेरे पाँवों की ओर झुक गये। मेरी देह रोमांचित हो उठी। मैंने जल्दी से उनके दोनों हाथ कसकर पकड़ लिये। गोपीदास सिर हिलाते हुए टूटे स्वरों में कहते रहे, "तुम पतित नहीं हो...मैं जानता हूँ...जानता हूँ।"

मैं उनकी इस बात का उत्तर न दे पाया, मेरा हृदय भी भाव-विह्वल हो उठा था। होंठों को दबाये तो बैठा था, पर दृष्टि धुँधली हो उठी थी। आँखें भीग गयी थीं। पता नहीं, कहाँ कुछ कल-कल छल-छल बहता रहा। केवल इतना ही सुन पड़ा—पतित...पतित...पतित...

फिर भी, जिसे जानता, समझता, मानता या जिस पर विश्वास नहीं करना चाहता, गोपीदास उसी की तरफ़ बार-बार खींचकर ले आते, और तब मैं विह्वल हो उठता। तब मेरे मन में केवल इतना ही गूँजता रहता— नहीं, गोपीदास पतित नहीं—कभी नहीं।

ऊँची-नीची ज़मीन शुरू हो गयी थी। ढलान और चढ़ाई पार करने के बाद गाड़ी वक्रेश्वर नदी के किनारे आ लगी। इधर-उधर बड़े-बड़े पत्थर पड़े थे। माटी कंकरीली और बलुआही थी। नदी में जल नहीं था। हमें उस पार जाना था। उस पार ही था—पापहरा नाम का उष्ण कुण्ड और शिव क्षेत्र। उस पार की पथरीली ज़मीन पर मन्दिर-ही-मन्दिर दीख रहे थे। सब-के-सब शिवमन्दिर। एक मन्दिर का शिखर सबसे ऊँचा था।

गोपीदास के अनुसार हमें दूसरे रास्ते से वापस आना था, इसलिए टैक्सीवाले को विदा कर दिया। "हम पानी में तो नहीं घिरे हैं कि जिधर से आये हैं, उधर से ही वापस लौटना होगा? मोटर से दुबराजपुर पहुँचकर रेलगाड़ी से वापस आया जा सकता है। और कुछ नहीं तो वर्दमान की बड़ी रेल-लाइन से भी रास्ता खुला हुआ है। क्या परेशानी है भला?"

हम जैसे ही उस पार पहुँचे तो सचमुच आश्चर्य हुआ। आखिर इतने शिव-मन्दिरों को बनवाया किसने? गोपीदास ने बताया कि इस शिवक्षेत्र में रहनेवाले ही किसी पुरानी आस्थावश समय-समय पर इन्हें बनाते आये हैं। इनकी संख्या इस समय तीन-सौ से अधिक है।

मैं मुग्ध हो उठा। इसी का नाम है भारतवर्ष। उसी का एक प्रदेश है यह बंगाल। जहाँ भी चले जाओ, विचित्रता से भरा-पूरा। यहाँ भी मन्दिरों का राज्य रहा आया। इनमें शिल्प का वैसा चमत्कार न था। ईंटों को गूँथ-गूँथकर दोमंजिले, तिनमंजिले और चारमंजिले मन्दिर बनवाये गये थे। कोई विशेष कला-विधान नहीं। यहाँ-वहाँ हर जगह मन्दिर-ही-मन्दिर। छोटे-मोटे शिवभक्तों की भी कमी नहीं। यथा श्रद्धा निवेदन और यथानुरूप मन्दिर-प्रतिष्ठा। आस-पास जंगल उग आया था। थेथर-बावना की झाड़ियाँ तो दूर-दूर तक फैली थीं। नये-पुराने एवं कहीं-कहीं ध्वस्त मन्दिरों के बीच से गुज़रते हुए यही लग रहा था कि यहीं पड़ा रहूँ। अब यहाँ से कहाँ जाना?

तभी गोपीदास मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोल उठे, 'चलो बाबाजी! यहाँ खड़े रहकर क्या होगा? कुण्ड की ओर चलो। वहाँ और भी अच्छा लगेगा। फिर असली वक्रेश्वर बाबा का दर्शन करना।"

उनके साथ कुछ दूर आगे बढ़ते ही, पता नहीं कहाँ से एक आदमी सामने आ खड़ा हुआ। प्रौढ़, लम्बा-दुबला। सिर पर खिचड़ी बाल और कमर में धोती। चोटी में एक फूल भी गुँथा हुआ था। धोती के छोर से ढँकी देह से मोटी जनेऊ

झाँक रही थी। आँखों के नीचे भाईं-सी पड़ी थी लेकिन दृष्टि बड़ी ही तीखी जान पड़ी। मेरी ओर देखकर उसने पूछा, 'कहाँ से आ रहे हैं, क्या नाम है ?"

मैं ठिठक गया। मैंने पहले उसकी ओर आश्चर्य से देखा और फिर गोपीदास की तरफ़। गोपीदास ने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और उसकी तरफ़ मुड़कर बोले, "ये बाबाजी कोई पूजा-टूजा नहीं देंगे ठाकुर। इन्हें पण्डे की ज़रूरत नहीं। बस बाबा का दर्शन करेंगे और घूमते-फिरते निकल जायेंगे।"

उनकी बात ख़त्म होते-न-होते, वैसे ही किसी दूसरे पण्डे का आविर्भाव हुआ। चेहरे-मोहरे से पहले जैसा ही। उम्र कुछ कम थी। कहने लगा, "तुम अपनी ओर से ऐसा क्यों कह रहे हो ? उन्होने तो ऐसा कुछ नहीं कहा कि पूजा-पाठ नहीं करेंगे ?"

"मैंने पूजा आदि के बारे में कुछ नहीं सोचा। बस घूमने-फिरने आया हूँ।" मुझे अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी।

पहले पण्डे की आँखें क्रोध से लाल हो उठीं। वह रुद्रनेत्र सिर झटककर बोला, "कहने से क्या होगा महाशय! तीर्थक्षेत्र में आये हैं। हिन्दू के बेटे हैं। यह जाग्रत स्थल है। कहाँ से आ रहे हैं ?"

"कलकत्ता से" गोपीदास ने बताया।

"क्या नाम है ?"

मैंने अपना नाम बताया। पण्डा महोदय ने पता नहीं क्या सोचकर कहा, "ठीक ही तो है। चलिए, मेरे घर चलिए। कुण्ड में नहा-धोकर, पूजा पाठ करके, वहीं थोड़ा प्रसाद पाइयेगा।"

मैंने गर्दन हिलाकर बड़ी विनम्रता से कहा, "इसकी कोई ज़रूरत नहीं है।"

मेरी बात उसे अच्छी नहीं लगी होगी, यह मैं समझ गया। ठाकुर महाशय ने झुंझलाकर दूसरे से कहा, "यह आपकी इच्छा। कलकत्ता से इतनी दूर आकर भी पूजा-पाठ न किया, यह कोई अच्छी बात नहीं।"

अबतक गोपीदास भी तनिक क्षुब्ध हो उठे थे, "अब इतनी लम्बी-चौड़ी बात क्यों बनाते हो ठाकुर! बाबाजी के जी में आयेगा तो पूजा-पाठ करते रहेंगे। कहीं भाग तो नहीं रहे।" और मेरा हाथ पकड़कर खींच ले चले। लेकिन ठाकुर महाशय द्वय भी पीछा छोड़नेवाले न थे। कोरे पण्डे न थे वे। छूटते ही बोले, "पहले श्वेत गंगा देख आइये। फिर स्नान कर लीजिए। गमछा वगैरह है न ?"

"हाँ है।"

"फिर क्या बात है! स्नान करके मन्दिर में ध्यान कीजिए। बाबा के मन्दिर का द्वार अब भी खुला है, जाके दर्शन कर लीजिए।" और फिर गोपीदास से पूछने लगा, "हाँ तो बाबाजी, बाबू के खाने की क्या व्यवस्था है ?"

कहाँ पाऊँ उसे

गोपीदास ने टालते हुए उत्तर दिया, "देखा जायेगा।"

मुझे भी उसका आदेश-निर्देश बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ा। उसका 'बाबू' शब्द सुनकर मैं चौंका। बाबू कौन है? मैं या कि गोपीदास? मैं तो उसका पथिक बन्धु था।

गोपीदास ने उत्तर दिया, "दिखाऊँगा ठाकुर...सब दिखाऊँगा। वरना यहाँ लिवाकर लाता ही क्यों?"

रास्ते मे ही, दो-चार पण्डे और मिल गये। वे भी सब जिज्ञासाभरी दृष्टि से देख रहे थे। मैं गोपीदास के आगे बढ़ आया।

एक स्थान पर इकट्ठा होकर वे सब, पता नहीं, क्या बातें करते रहे।

शीतकाल के दिनारम्भ में गोपीदास मुझे ठण्डी हवा के झोंको के बीच एक उष्ण परिवेश में ले आये। वहाँ गर्म जल के कई कुण्ड थे। इन जलाशयों के निकट खड़े होते हुए शरीर में आँच-सी लगती थी। मेरी एक-एक शिरा में दौड़नेवाला ख़ून उस आँच में खौलने लगा था। पक्की ईंटों से बने इन कुण्डों के अलग-अलग नाम थे। जलकुण्ड के भीतर तक सीढ़ियाँ जाती थीं। वहाँ खड़े होने से लगा कि जैसे किसी तेजाब-की सी बू आ रही हो।

सीढ़ियों से उतरकर मैं एक छोटे-से जलाशय की ओर बढा और हाथ बढ़ाना चाहता ही था कि किसी ने हाँक लगायी, "इस कुण्ड का जल बहुत ही गरम है बाबू, हाथ मत दीजियेगा!"

किसका स्वर था यह? मैं घूमकर उसे देखने लगा। गोपीदास भी गर्दन नीची कर दाहिनी ओर फैले उस जंगली झुरमुट की तरफ़ देखने लगे, जिधर से यह आवाज़ आयी थी। उन्होंने पूछा, "अरे यह तो एला बाबाजी हैं। तुम अब-तक यहीं हो?"

तभी सीढियों के बीच, झाड़ियों की ओट में, मुझे भी एक चेहरा दीख पड़ा। सिर पर उलझे बेतरतीब फैले बाल। घनी मूँछ और दाढ़ी। देह पर मैली-सी गूदड-जैसी ही कोई चीज। मेरे संग उसकी आँखें मिलीं तो दाढ़ी-मूँछ के बीच कोई मुसकान-सी खेल गयी। उसने गोपीदास की तरफ़ मुड़कर उत्तर दिया, "यहाँ नहीं रहूँगा तो जाऊँगा कहाँ? जिसकी चीज़ है जबतक वह लौटा न ले तबतक तो रहना ही है।"

"आह...मैं यह नहीं पूछ रहा," गोपीदास ने कहा, "मैं कह रहा था, अब भी वक्रेश्वर में ही हो?"

"अब जाऊँगा भी कहाँ? यही तो आख़िरी पड़ाव है...ही...ही...ही...।"

उस झाड़ीवाले आदमी के इस कहकहे पर मैं अपना सिर धुनता रहा।

"कैसे हो, एला बाबाजी ?" गोपीदास ने फिर पूछा।

मैंने न तो ऐसा नाम ही सुना था और न इस तरह के आदमी को देखा था, जो ऐसी किसी जगह पर गूदड़ ओढ़े बैठा हो। उसने बताया—"बस यूँ ही बैठा हूँ। पेट में गड़बड़ है। वरना..."

उसने अपनी बात पूरी न की और कुछ देर तक खी...खी हँसता रहा। निस्सन्देह उसकी वह उखड़ी हुई हँसी सीधे उसकी नाभि से फूट रही थी। पर, पेट की गड़बड़ के साथ उसके कहकहे का क्या सम्बन्ध था, यह मैं नहीं समझ पाया। मैंने देखा कि गोपीदास भी किसी संशय में पड़े हुए थे।

एला बाबाजी की हँसी रुकी तो उसने फिर कहा, "वह न हो तो फिर एकदम चकाचक है। इतना साज-सरंजाम एक साथ और कहाँ मिलेगा ? मिट्टी गरम, पानी गरम। जाड़े में बस, आराम-ही-आराम है।"

"पेट में क्या हुआ ?" गोपीदास ने हैरानी से पूछा।

"ज्वाला !" कहते हुए उसने आँखें बन्द कर लीं और मेरी ओर कुछ इशारा करते हुए बोला, "महामांस खाना तो सीखा नहीं। पेट को क्या झोंकूँ ? भूख की ज्वाला है...समझे ?"

"जयगुरु !" गोपीदास पुकार उठे।

यह महामांस क्या बला है ? उधर गोपीदास ने पूछा, "महामांस खाने पर पेट भरेगा भला ?"

"खा लेने पर भर जाता। महामांस का अभाव तो नहीं..." उसने हाथ उठाकर मुझे बुलाया और कहा, "आप जरा इधर आना बाबू, एक बात बताऊँ।"

मैं सीढ़ियों से ऊपर आ गया। इतना तो मैं जानता था कि मनुष्य के मांस को ही महामांस कहते हैं। तो क्या यह एला बाबाजी इसी से अपनी क्षुधा तृप्त करना चाहता था ?

पास आकर मैंने देखा, वह घुटना मोड़कर अपनी एड़ियों के सहारे उठंग बैठा है। मेरे पहुँचते ही वह हँसकर कहने लगा, "कुछ दिन पहले इसी कुण्ड में एक बाबाजी का देहपात हुआ था। खौलता हुआ पानी है न, इसीलिए। इसमें मत उतरियेगा। दूर से ही देखिए।"

"कौन था वह ?" गोपीदास ने तुरत जानना चाहा।

"तुम नहीं पहचान पाओगे। श्मशान के उस पार रहता था। चेला-चामुण्डा जुटाते देर न लगी। अघोरी तान्त्रिक था। शराब-गाँजे की लत पड़ी थी उसे। कुछ दिन पहले खूब जमकर 'कारण वारि' पी और फिर गाँजा चढ़ाकर इसी कुण्ड की सीढ़ियों पर लेटा हुआ था। पता नहीं, कब लुढ़ककर कुण्ड में जा गिरा।

रात-बिरात खोज-खबर भी कौन लेनेवाला था ? जब निकाला गया तो पूरी तरह उबल चुका था। अब दाल-चावल भले सिद्ध न हो, आदमी तो भुरता हो ही जायेगा।" वह खिलखिला उठा। गोपीदास भी 'जयगुरु' पुकार उठे।

किन्तु मेरे मन:प्राण मे सिहरन-सी जग उठी। यह तो कोई रहस्यकथा है, जिसमे जिन्दा आदमी को खौलते पानी मे डाल दिया जाता है। या फिर नरक का वर्णन, जहाँ जीव को खौलते तेल मे तला जाता है। मैंने कुण्ड की तरफ़ देखा, जहाँ न कोई बुलबुला फूट रहा था और न ही जल के उबलने की टग-बग आवाज़ आ रही थी। हाँ, किसी मरीचिका की भाँति जल की उत्तप्त सतह अवश्य काँप रही थी। एला बाबाजी की बातो मे कितनी सचाई थी—यह तो नही जानता, पर कोई आदमी पड़ जाये तो निस्सन्देह उबल जायेगा।

मैंने कहा, "उसे यहाँ सोने की जरूरत ही क्या थी ?"

"बाबू की बात सुनकर बड़ी हंसी आती है।" उसने कहा, "अपनी जरूरत से वह क्यो सोने आया होगा, बाबू ? जिसे जरूरत थी, वह उसे यहाँ पुकारकर लिवा लाया।"

"वह कौन है भला ?"

"मौत...और कौन ? ही...ही...ही...। उसने कहा, आ...यहाँ आकर सो जा। बस, वह चला आया और सदा के लिए सो गया। ही...ही... खी..."

मृत्यु हो या नियति, चाहे जो भी कह लीजिए, इस तात्विक रहस्य के साथ, उसकी हँसी मुझे बार-बार दहला दे रही थी। मै गोपीदास की ओर मुडकर देखने लगा। तभी मैंने उसका स्वर सुना, "आपको पता है बाबू, मैंने किस कारण से आपको यहाँ बुलाया ? इस एलाकटे बाबाजी को कुछ दे जाइए।"

"हाँ, तो फिर यह क्यों नही कहते ?" गोपीदास ने सिर हिलाते हुए कहा, "कि मरण-कुण्ड का इजारा लेने के लिए बैठा हूँ...चुगी चुकानी पड़ेगी।"

एला बाबा ने अपनी जीभ काट ली। गर्दन हिलाकर बोला, "मरण-कुण्ड का इजारा लेने मैं बैठा हूँ ? छी छी...छी ! यह कहो कि मेरा इजारा लेने के लिए कौन बैठा है ? है...जानते हो ? दीजिए बाबू, इस एलाकटे बाबा को कुछ देते जाइए।"

मैंने असमजस में पड़े-पड़े पूछा, "इस 'एलाकटे' का मतलब क्या है ? मैं कुछ समझा नहीं ?"

मेरे कानों में फिर उसकी तीखी हँसी गूँज गयी। उसने अपनी कलाइयों पर ज़ोर देकर अपना पाँव आगे बढ़ा दिया। मैंने देखा, उसका एक पाँव तो सही-सलामत है, दूसरा घुटने के पास से कटा है। वह हँसते-हँसते कहने लगा, "इसीलिए। रेल से यह पाँव कट गया था। रेल से बन गया एल और उससे एला कटा।"

और उसके साथ बाबा या बाबाजी जुड़ गया। ठीक ही तो है। मैंने यथा-

शक्ति उसकी तरफ़ कुछ पैसे बढ़ा दिये। उसने हाथ बढ़ाकर उन्हें ले लिया और चिल्ला उठा, "जय बाबा वक्रेश्वर, जय बाबा अघोर।"

मै उसके नाम की महिमा पर विचार कर ही रहा था कि वह हाथ को सिर से लगाते हुए बोला, "वैसे मेरा असली नाम माणिक लाल है। मैं बाबा के थान पर बैठा हूँ जरूर, लेकिन मैं शैव नही, शाक्त हूँ बाबू। अगर आप चढ़ावा चढायें तो मुझे भी थोड़ा-सा प्रसाद दे जाइएगा।"

इसी समय गोपीदास ने मुझसे कहा, "आओ बाबाजी, चलें। अच्छा तो एला बाबा, हमारे पगले अवधूत का क्या समाचार है ? यहीं है ?"

"हो सकता है," एला बाबा ने अपने होठों को बिचकाकर उत्तर दिया, "उसकी खबर मुझसे क्यो पूछ रहे हो, बाबा।"

"क्यों तुम तो अवधूत के ही चेला ठहरे !" गोपीदास हैरान थे।

"मैं स्साला...किसी स्साले का चेला-चटिया नहीं।" एला बाबा ने विद्रूप स्वर में कहा, "यह सबकुछ मुझसे न पूछो।"

"अच्छा तो फिर भैरवी ठकुरानी के बारे में जानते हो ?"

"नही।" उसने एक ही शब्द में सारी जिज्ञासा को न्यस्त कर दिया। उसके चेहरे पर विरक्ति और स्वर में विक्षोभ का भाव था। गोपीदास कुछ ढीले पड़ गये। बोले, "तुम यहाँ हो, इसीलिए पूछ रहा था।"

"हाँ, तो यहीं कहीं होगा। खोजकर देख लो।"

गोपीदास सहज भाव से मुसकराये और आँखो से आगे बढ़ने का इशारा किया। मैंने चलते-चलते एला बाबा की बुदबुदाहट सुनी, "जाकर देख ले अपने अवधूत की करनी-धरनी...स्साला साधना करने आया है..."

जो बात-बात में खिलखिलाकर हँसने लगता, वह इस एक अवधूत के नाम लेने मात्र से इतना क्रोधित क्यों हो उठा ? मानो आग में घी पड़ गया हो ! गोपीदास मेरी आँखों की तरफ देखते हुए बोले, "बताऊँगा बाबाजी, बाद मे बताऊँगा।"

मैं आश्वस्त हो चला कि बाद में इस बारे में सुन पाऊँगा।

हम पापहरा जलाशय की ओर बढ चले। चलने से पूर्व मैंने कुण्ड की ओर एक बार और देखा। पहली बार ध्यान नही दे पाया था। अब देखा कि काँच की तरह स्वच्छ जल में दाल-चावल के साबुत दाने पड़े हैं। उबलते उष्ण जल को देखकर बहुतों ने इस आशा से कि इसमें दाल-चावल भी सीझ जायेंगे, इन्हें फेंका होगा।

"अब क्या देख रहे हो बाबाजी ?" गोपीदास ने पूछा।

"दाल-चावल।"

गोपीदास की दृष्टि भी उसी ओर अटक गयी। हँसकर बोले, "मुझे अपने

गुरु की बात याद आ गयी, बाबाजी ! जयगुरु...जयगुरु !!" उन्होंने हाथ से मस्तक को छूकर गुरु का स्मरण किया। फिर बताने लगे, "मेरे गुरु का नाम था नयनखेपा। उनके साथ ही मैं पहली बार इस तीर्थ पर आया था। इस कुण्ड को देखकर मेरे मन मे भी यही ख्याल आया था, जो अभी-अभी तुम्हारे मन मे उठा है, बाबाजी। मैंने झोली से एक मुट्ठी चावल निकालकर इस कुण्ड मे फेंके थे। इसे देखकर खेपा गुरु ठठाकर हँस पड़े थे। कहने लगे थे, "अरे पगले, यह जल वह जल नहीं, यह पक्का जल है। हालाँकि यह भी जल ही है, गरम भी है, उबल भी रहा है। तू इसमें दाग-चावल देगा तो थोड़ा सीझेगा भी, लेकिन तू उसे ग्रास नही बना पायेगा। तू इसी से साधना का तत्त्व समझ ले—जल मे रहेगा, ताप में रहेगा, उबलेगा भी, लेकिन पूरी तरह सीझेगा नही।"

अपनी बात को समाप्त करने के बाद, गोपीदास ने गहरी उसाँस भरी। वह वक्रेश्वर मे दूर दिगन्त तक फैले शिवमन्दिरों के शिखरों को देखने लगे। मैंने उनके गुरु नयनखेपा को नहीं देखा। शायद वह भी अँगरखा धारे लम्बी मूँछ-दाढ़ीवाले ही कोई साधक रहे होंगे। मैं सोच रहा था, बात भी उसी एक परम तत्त्व की करते हैं, लेकिन उनके प्रतीक कितने विचित्र होते हैं! कुण्ड के उष्ण जल द्वारा भी उनका तत्त्व-चिन्तन प्रतीकित हो उठता है!

उनके साथ चलता हुआ मैं एक बहुत बड़े जलाशय के निकट आ पहुँचा। चारों ओर पक्का घाट था। यहाँ-वहाँ कई स्त्री-पुरुष स्नान कर रहे थे। घाट की सीढ़ियों पर दो-एक अँगरखे भी सूख रहे थे। गोपीदास ने बताया, यही पापहरा है। जल का रंग इतना गहरा मैंने अबतक नही देखा। पौष मास के नीले आकाश का रंग भी उसमें घुल गया था। निर्मल दर्पण की तरह उसका श्याम जल ठहरा हुआ था। लगा कि उसमें झाँकते ही, पाताल राज्य का सारा वैभव दीख पड़ेगा। झिलमिलाता उसका जल पूरब से पश्चिम तक फैला हुआ था।

जलाशय के उस पार दृष्टि गयी तो मैं विस्मित हो उठा। अबतक यह ख्याल ही नही आया था। देखते ही ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई विशालकाय सर्प अपना फन उठाये खड़ा हो। वहाँ केवड़े की झाड़ी थी। उसके पास ही लेलिहान अग्नि-शिखा देखकर मैं चौंक पड़ा। आग की लपलपाती जीभ नीचे से उठती हुई आकाश को लील जाना चाहती थी। दहकती आग के पास ही, एक हृष्टपुष्ट और काला-सा आदमी दीख पड़ा। देह पर पतली-सी धोती और सिर पर गमछा पहने। एक मोटा बाँस लिये खड़ा था वह। उसे देखते ही, मैं सारा वृत्तान्त समझ तो गया फिर भी, मैंने पूछा, "वहाँ क्या है?"

"श्मशान बाबाजी," गोपीदास ने बताया, "दरअसल वक्रेश्वर महाश्मशान है...श्मशान, जिसकी आग कभी नही बुझती। वक्रेश्वर की चिता की आग कभी ठण्डी नही होती, बाबाजी।"

महाश्मशान। इस चिरमंस्कारी मन में श्मशान नाम सुनते ही, भय का उद्रेक-सा होता है। मृत देह के सान्निध्य में मन कभी भी सहज नहीं रह सकता। फिर भी, इस परिवेश में गोपीदास की बात सुनकर अन्तर में कोई अन्धकार नहीं व्यापा। हृदय जुड़ा गया और विस्मय के मध्य कोई अनजानी-सी गम्भीरता और अपरिचित-सी दूरी मुझे पुकारकर साथ ले चली।

मैंने इतने मन्दिरों, देवी-देवताओं को देखा, लेकिन नमस्कार करने की सुध न रही। पापहरा के घाट पर खड़े होकर यही लगा कि इस चिता की अग्नि को नमस्कार करूँ। ऐसा क्यों लगा? यद्यपि मैं अपने चतुर्दिक् फैले परिवेश से कटा न था, फिर भी, मैंने उस अग्नि को मन-ही-मन नमस्कार किया, भले ही मेरे हाथ न उठे हों। नहीं जानता, मैंने नमस्कार क्यों किया? किसकी चिता रही होगी, यह भी पता नहीं। तो भी मुझे यही जान पड़ा कि आग के विशाल तल्प में, उसके उत्तप्त और विह्वल आलिंगन में कोई पड़ा है—महाशान्ति की नींद में अचेतन! यह सब क्यों देख पाया? बार-बार ये प्राण किसे नमस्कार ज्ञापित कर रहे हैं?

अचानक किसी की गम्भीर स्वर-लहरी कानों में पड़ी। देखा, एक लम्बा-चौड़ा काला आदमी सीढ़ियों से नीचे उतर रहा है। खुली देह, उलझे घुँघराले बाल और कानों में कुण्डल। आँखें सुर्ख़ और होंठों पर बीड़ी। देह थोड़ी झूम रही थी। हाथ मटकाकर वह कहने लगा, "तू जा तो सही, मैं अभी आया।"

इसके जवाब में उस पार की सीढ़ी से किसी नारी का कण्ठ-स्वर सुन पड़ा, "नहीं। तुम आओ। तुम्हारी बातें कितनी सच हैं, मैं वह सुनना चाहती हूँ। मैं कह रही हूँ...आओ भी।"

उसकी बातों से लगा वह कोई स्त्री नहीं, विषकन्या है। किसी कबूतरी की तरह अपना सीना ऊँचा किये, कमर में हाथ डाले वह किसी कमान की तरह खिंची थी। अगर तीर छूटे तो वह कभी व्यर्थ न जायेगा, निशाने पर लगेगा। सिर पर आँचल न था, ढीला-ढाला जूड़ा था। एक मैली-सी साड़ी उसकी देह से लिपटी थी, लेकिन वह उसे पूरी तरह ढँक नहीं पा रही थी। उसकी आँखें भी कोयल की तरह ही लाल थीं। उसकी बातें सुनकर किसमें इतना साहस था कि उसका सामना करे!

पुरुष हँसकर कह रहा था, "मैं कह रहा हूँ, तू जा। मैं डुबकी लगाकर आ रहा हूँ।" इतना कह वह घाट के पत्थर पर बैठ गया, पानी में पाँव डुबाकर। उसने बीड़ी का जोर-जोर से कश खींचा। उस पार से उसी स्वर में फिर सुन पड़ा, "क्यों, एक बार घूमकर नहीं आ सकते?"

"हाँ—हाँ आऊँगा, तू जा!"

थोड़ी देर तक चुप्पी रही। स्त्री की आँखों में आग की चिंगारियाँ नाच

उठी। लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। अपनी गर्दन झटककर वह पीछे की ओर मुड़ चली। वह जिधर गयी, उधर कुछेक घर बने थे। वहाँ स्नान करते हुए एक युवक ने पूछा, 'क्या हुआ रे मदन ?"

मदन ने उत्तर दिया, "होगा क्या, सिल और लोढ़े में अबतक जो होता आया है। वही। घटङ्...टङ् घसड़...लसड़। ले बाबा...जा।"

इसके बाद कोई बातचीत नहीं हुई। मदन अपने दोनों हाथों पर शरीर का भार रख आकाश की ओर अपना मुँह उठाते हुए गाने लगा—"खोयी निधि पाकर मैंने जी से लगा लिया...।"

फिर कोई बोल उठा – "अरे बाबा..." और हँसी का हल्का-सा ज्वार उमड़ चला। मैंने भी गोपीदास की तरफ़ देखकर मुसकरा दिया।

"श्मशान का डोम है।" गोपीदास ने बताया।

और जो चली गयी वह निश्चय ही डोमनी थी। चर्यापद की डोम्बिनी की नायिका भांति ही।

गोपीदास ने टटोला, "नहाओगे नहीं बाबाजी ? इसमें नहाकर बड़ा सुख मिलेगा। निकलने को जी न करेगा। इसके बाद बाबा के दर्शन भी कर लेना।"

देव-दर्शन करने की चाह मुझमें कभी नहीं रही। मन्दिर के बाहर से ही जो देखता रहा था, उसी मे मेरा जी खो जाता—उसी के सम्मोहन में डूबा रहता। झोला खोलकर मैंने नहाने के लिए कपड़े निकाल लिये। गोपीदास भी तैयार हो गये।

जल में उतरते हुए एक बार फिर मैं ठिठक गया। जलाशय के उस पार, सामने की तरफ ही एक खुली हुई कुटिया दिखायी दी। सामने साफ़-सुथरा एक आँगन भी। उसके एक कोने में बरगद का पेड़ था जिसकी जड़ में नर-मुण्डों के कंकाल का ढेर था। मेरे आगे अचानक फिर कोई रहस्य-लोक तिर उठा। मैंने गोपीदास से पूछा, "वहाँ क्या है ?"

"वही तो अघोरी बाबा का थान है। बहुत बड़े तान्त्रिक थे वे। बहुत पहले ही गुजर गये।"

"कितने पहले ?"

"यह तो नहीं कह सकता, लेकिन मैंने उन्हे अन्तिम बार चालीस या पैंतालीस साल पहले देखा था। उन्हें देखकर मेरा हृदय न जाने क्यों दहल उठता था !"

"क्यों ?"

उनकी भयंकर मूर्ति के कारण। उनका वह दिगम्वर रूप ! कराल आँखें ! बाप...रे...बाप ! उन्हें देखकर यही प्रतीत होता था कि अन्दर-बाहर कुछ बचा ही नहीं। अँगरखा पहने या चादर ओढ़े रहकर भी अपने को ढँक पाना बड़ा

कठिन था। वह दृष्टि सबकुछ भेद लेती। उनकी नजर से बचने का कोई उपाय न था। कोई उनके पास जाता तो बाँस लेकर मारने दौड़ते। और, रे...बे... अरे.. तो उनके मुँह की शोभा थी।"

मैं उनकी कुटिया को चकित-सा देख रहा था। सूनी कुटिया। उसी के पिछवाड़े उनकी समाधि बनी थी शायद। पीछे एक पक्की दोमंजिली इमारत भी थी जिसकी खिड़कियाँ दरवाज़े सब बन्द थे। मुझे लगा, बरगद की जड़ में पड़ी उन खोपड़ियों की आँखों से ही वह टकटकी लगाये देख रहे हैं।

मैं स्नान करने की बात भूल गया। गोपीदास से पूछ बैठा, "आपने कभी देखा है उन्हें?"

"देखा कैसे नहीं, बाबाजी? वह तो गुरु के भी गुरु ठहरे! नाम और काम में उन्नीस बीस का ही तो फ़र्क था। और बाबाजी, बाउलों की साधना के साथ उनकी साधना में विशेष अन्तर भी नहीं। ये श्मशान में तो वे आश्रम में। जैसी जिसकी जरूरत। यहाँ आकर कोई उनका दर्शन न करे, यह सम्भव है भला?"

मेरी आँखों के आगे किसी नंग-धड़ंग कापालिक की भयावह मूर्ति तिर उठी। यह केवल उन्माद का ही प्रतिरूप न था, भावना और चिन्तन की लौकिकता के बीच भी मन कभी-कभी एक अलौकिक भाव-जगत् में डूब जाता है। उस मूर्ति में भी वही अलौकिकता थी। शायद यह भी कोई कल्पना ही थी। मैंने गोपीदास से पूछा:

"आपको क्या कहते थे?"

गोपीदास एक गमछा लपेटे सीढ़ी पर बैठे थे, खुली देह। कहने लगे, "मैं अपने गुरु के साथ पहली बार ही यहाँ आया था, तभी उनसे भेंट हुई थी। उन्होंने मेरे गुरु नयनखेपा को कुछ भी गलत नहीं कहा। कुटिया में पाँव रखते ही मेरे गुरु से बोले, 'क्यों बे साले...इतने दिनों बाद तुझे फ़ुरसत हुई!' गुरु भी कम नहीं। कहने लगे, 'तुमने जब बुलाया ही नहीं, तो कैसे चला आता?' क्या बताऊँ, बाबाजी? दोनों आँखों में आँखें डाले काफ़ी देर तक मुसकराते रहे। लगा, न जाने कितने युगों की आत्मीयता है! बाद में मेरे गुरु ने बताया कि यह उन दोनों की पहली ही मुलाकात थी। मैं अपने गुरु के पास ही बैठा था कि वे अचानक अपना घूँसा तान, मुझे दिखाते हुए नयनखेपा से बोले, 'दे...स्साले को दो घूंसा...दे। इस कमीने के मन में मैं पेशाब करता हूँ।' यह कह उन्होंने अपना शिश्न दिखाकर कहा, 'मेरे वाला देखकर क्या करोगे स्साले...अपना ठीक से रख'।"

गोपीदास भी यह वृत्तान्त सुनाते-सुनाते खो गये। उनकी दृष्टि तब भी उसी कुटिया की तरफ़ लगी थी।

मैं इन धर्म-साधनाओं के बारे में कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं समझता। बस, चुपचाप सुनता रहा वह रहस्यमयी गाथा, जिसके चक्रवात में मेरा चित्त कहीं और खो गया।

गोपीदास उसी ओर निर्निमेष तकते रहे। फिर सिर हिलाकर बोले, "इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं, बाबाजी। उस समय मेरी उम्र भी अधिक नहीं थी। अघोरी बाबा टाँग-पर-टाँग चढ़ाये बैठे थे और मैं मन-ही-मन उनके पुरुषेन्द्रिय के बारे में सोच रहा था। इसी भावना के अनुरूप उनकी फटकार भी सुननी पड़ी थी। मेरे हृदय पर कोई बिजली-सी गिर पड़ी। मैं नयनगुरु के पैर पकड़कर धरती पर लोट गया था। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए गुरु ने सान्त्वना दी थी, "मैं सब ठीक कर लूँगा...मैं देखूँगा।" अघोरी बाबा ने उनकी बातों का उत्तर नहीं दिया। बस, इतना ही बोले, "इस स्साले की उद्विग्नता देखकर जी जल उठता है। इसे अच्छी तरह धुलाना-पोंछना, वरना दाग नहीं जायेगा।"

गोपीदास गहरी उसाँस भरते हुए बार-बार केवल यही कहते रहे, "वरना दाग नहीं जायेगा ..वरना दाग..."

उनका यह वृत्तान्त स्वप्न की तरह ही विस्मयकर और विचित्र था लेकिन अस्पष्ट और धुँधला भी। मुझे लगा, मैं वक्रेश्वर के महाश्मशान के किसी अन्धकार भरे कोने में बैठा हूँ—सर्वथा अलक्ष्य ससार मे। जितना कुछ भी सुन पा रहा हूँ, उसकी व्याख्या नहीं कर सकता, उसका मर्म नहीं छू सकता। भाषा भी दुर्बोध्य हो उठती है। और जो देख पा रहा हूँ, वह भी अनदेखा-सा रह जाता है।

मैं भी उसी पार देखता रहा—उस रहस्य लोक को, जो एक बार फिर नया-सा जान पड़ा।

•

घाट के उस पार देखते हुए भी मैं यही सोच रहा था—आँखों से देख लेना सबकुछ नहीं। इससे ही सारी बातें स्पष्ट नहीं हो जातीं। अगर ऐसा ही रहा होता तो अघोरी बाबा ने गोपीदास को इस तरह से क्यों फटकारा? और यह कैसे सम्भव हुआ? मैं इस विराट ससार की व्यापक चेतना और प्रवहमानता के सम्मुख अवाक् नतमस्तक खड़ा था। कितना दीन-हीन...क्षुद्र और छोटा हूँ मैं! स्वय को बहुत असहाय सा महसूस करता रहा।

"अब स्नान कर लो बाबाजी," गोपीदास ने मुझे छूकर कहा।

मेरी तन्द्रा भग हुई। मैंने पूछा, "एक बार उस पार नहीं चलेंगे?"

गोपीदास मुसकरा उठे, "जरूर चलूँगा, बाबाजी। पहले इधर का काम निपटा लूँ। फिर श्मशान की तरफ़ भी ले जाऊँगा।"

जल में उतरने के पहले मैंने एक बार फिर पूछा, "अघोरी बाबा की कोई प्रकृति थी ?"

गोपीदास ने अपनी भौहे उठायी और आँखें फैलाकर बोले, "जरूर थी, बाबाजी। बिना पिकति के साधना नही होती। लेकिन इस अघोरी के मामले में कोई दूसरी ही बात थी, क्योंकि उनकी पिकति का नाम था भैरवी।"

"कौन थी वह ?"

"नही कह सकता। वह इस शिवक्षेत्र के महाभैरव थे। यहाँ न जाने कितनी भैरवी आती-जाती। उनकी आँखों के सामने से किन्ही की बुजरकी या हेठी के निकल जाने का प्रश्न ही न था। बाबाजी, तुम भी इस संसार में ही हो। तुम्हारी दृष्टि मे भले ही विकार न हो, लेकिन नायिका का नाम लेकर, रति का नाम लेकर हजारों-हजार युवतियाँ शरीर-सुख के लिए इधर-उधर चक्कर काटती रहती है...देखते ही होगे। पर कोई युवती कन्या गेरुआ पहने, जूड़ा को जटा बनाये, हाथ में त्रिशूल लिये भैरवी बन जाये और केवल शरीर-संजोग के लिए मुस्तण्डा साधु ढूँढती रहे—ऐसा यहाँ कभी सम्भव नही हुआ। इस तरह की कई भैरवियों को अघोरी बाबा ने चिता की जलती लकड़ी से पीटते हुए खदेड़ दिया था। मैंने एक बार अपने कानों से सुना है बाबाजी, एक बार किसी कन्या को बुरी तरह गालियाँ दे रहे थे। सुना नही जाता था। वह सब समझते थे। हाँ, अगर कोई योग्य भैरवी हुई तो उसे आदरपूर्वक बिठाते और उसे साधते। लेकिन इसका मतलब यह नही कि जब चाहा तब साध लिया। नही। जब तक महायोग की वेला नही हुई, तब तक कुछ भी नही। उस घड़ी की प्रतीक्षा के साथ भैरवी का ध्यान करते ही मैंने देखा है। इसीलिए मैं कह रहा था, मैं उनकी किसी भैरवी का नाम नही जानता। अघोरीनाथ स्वयं उसका नाम-धाम नही जानते। लौकिक नामों के पीछे कौन पड़ा रहे ?"

मैं गोपीदास की बातें सुन-सुनकर हैरान था। अन्यथा यह जान पाना कठिन ही था कि प्रकृति और भैरवी में भी कोई-कोई ही अनुकूल होती है। मुझे पहली बार पता चला कि छद्म साधिका वेश मे स्त्रियाँ भी घूमती-फिरती है, और वह भी वक्रेश्वर जैसे महाश्मशान में। जिन नगरों, जनपदों या समाजो मे मुझ-जैसे लोग बसते है, वे वहाँ बैठे-बैठे इस तरह की गृह-त्यागिनियो के बारे में सोच भी सकते हैं कि ये स्त्रियाँ केवल शरीर-सुख के लिए ऐसा रूप धारती हैं ? कौन है ये स्त्रियाँ ? उनका रूप...उनका मन ? यह सबकुछ विचित्र-सा लगा। अपने घर-आँगन के बाहर ही न जाने नर-नारियों की कितनी लीलाएँ सम्पादित होती हैं। उनमें से कितना कुछ जान पाता हूँ ? जितना जान पाता हूँ...उससे ही चमत्कृत रह जाना पड़ता है।

गोपीदास उठ खड़े हुए। उस पार देखते हुए उन्होंने अपनी बात पूरी की,

"उसी घड़ी में जब दोनों का महामिलन होता है तभी साधना होती है। जो विधि जानते हैं, वही साध पाते हैं।"

यह कह उन्होंने गहरी साँस ली और सिर झुकाकर बोले, "आओ बाबाजी, अब नहा लें।"

मैं उनके पीछे-पीछे पानी में उतर गया। जाड़े के मौसम में गुनगुने जल का स्पर्श बहुत ही अच्छा लगा। मधु की तरह मधुर ! मीठा मधु जैसे पूरे मुँह में उष्णता बिखेर देता है, वैसा ही कुछ। तेल-साबुन का तो प्रश्न ही नहीं था।

पता नहीं, श्मशानवासी मदन कब डुबकी लगाकर चला गया !

और भी दो-चार जन वहाँ स्नान कर रहे थे लेकिन उनमें से किसी ने कुछ पूछताछ नहीं की, आपस में ही बतियाते रहे। शायद एक मौनी बाबा भी था उनमें —एकदम गुमसुम।

गोपीदास ने बताया, "इस जल में नहाने पर गठिया का रोग दूर हो जाता है। चर्मरोग भी नष्ट हो जाते हैं। बाबा वक्रेश्वर का पुण्य जो मिलता है। डुबकी लगाओ, बाबाजी।"

डुबकी लगायी मैंने। आरोग्य की कामना नहीं थी। तब भी इस जल के स्पर्श से एक नयी अनुभूति जग उठी। जल में किसी धातु की बू भी थी, पर उसका स्वाद बुरा न था। कुण्ड के स्वच्छ जल में अपना शरीर भी दीख पड़ा। धूप की झिलमिलाहट भी जल में गोता लगाये भीतर पैठी थी।

स्नान कर बाहर निकला तो ठण्डी हवा के झोंकों ने एकबारगी हमला कर दिया। पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। देह के भीतर जल की उष्णता संचित थी। देह पोंछते हुए अचानक हरिधुन सुन पड़ी। कुछ लोगों का दल श्मशान की ओर जा रहा था...महाश्मशान की ओर जहाँ चिता की आग कभी नहीं बुझती। यहाँ पहुँचकर ऐसा लग रहा था कि मैं पृथ्वीस्थित किसी ऐसे प्रदेश के सीमान्त पर खड़ा हूँ, जहाँ से और कहीं नहीं जाना है। आखिर ऐसा क्यों लगा ? हाँ, महाश्मशान भी तो एक सत्य ही है, शेष गन्तव्य का अन्तिम पड़ाव।

कुण्ड का चक्कर काटकर तथा छोटे-मोटे मन्दिरों के बाद हम वक्रेश्वर की सीमा में जा पहुँचे। मन्दिर की चारदीवारी पत्थरों से बनी थी। सामने चबूतरे की बायीं तरफ ही एक ओर एक छोटा-सा कुण्ड था, श्वेत-गंगा। पूछने पर गोपीदास फिर एक बार किंवदन्ती की दुनिया में चले गये। किसी का, किंचित् उष्ण जल की गंगा का अवतरण-संकल्प इस कुण्ड के द्वारा पूर्ण हुआ था। यहाँ नहाने पर गंगा-स्नान का पुण्य मिलता है। मुझे इसकी जरूरत न थी।

कुण्ड के चारों ओर पक्की सीढ़ियाँ थीं। दायीं ओर वक्रेश्वर मन्दिर था। चारदीवारी के उस पार चारों ओर पेड़-पौधों की घनी छाया थी। जहाँ-कहीं दीवारें टूट गयी थीं, कहीं-कहीं उन पर काई जम गयी थी, घास-फूस भी

उग आया था।

चारों ओर निस्तब्धता थी। जब-कभी किसी पंछी का स्वर इस चुप्पी को चीर जाता। झींगुर भी झंकार भर रहे थे। मेरे अलावा कुछ और भी दर्शनार्थी वहाँ उपस्थित थे। चप्पल उतारकर मैं दाहिनी ओर मुड़ा और भीतर घुस गया। वहाँ कोई भीड़ न थी। एक स्त्री खड़ी दिखायी दी—अपनी गोद में शिशु लिये। दोनों का चेहरा एक-सा ही था। उसकी माँग में सिन्दूर था और आँचल की ओट से उसके केश झांक रहे थे। मेरी आँखों के सामने अजन्ता का एक प्रसिद्ध चित्र भास्वर हो उठा। दरवाज़े के पास ही वही पण्डा महाशय खड़े मिले—"आइए...आइए, बाबा का दर्शन कीजिए...जय हो।"

तभी मेरी दृष्टि पीछे मुड़ गयी। गोपीदास कहाँ रह गये? मैंने चारों ओर देखा। अगले ही क्षण, ऊँची चारदीवारी के नीचे वह दीख पड़े, अपनी गीली दाढ़ी फटकारते हुए। उनकी जटाएँ कन्धे पर फैली थीं। मुझसे नजर मिलाते ही बोले, "जाओ, बाबा के दर्शन कर आओ। मैं यहीं खड़ा हूँ।"

यह सोचकर कि क्या गोपीदास दर्शन नहीं करेंगे, कुछ देर यूँ ही खड़ा रहा। मैंने देखा, गोपीदास मुसकरा रहे हैं। पण्डे ने तभी आवाज़ लगायी, "अरे महाशय, उन्हें ईश्वर से क्या लेना-देना? भाड़ में जायँ। आइए, आप आइए!"

तभी मुझे याद आ गया कि बाउलों के कोई देवी-देवता नहीं होते। केवल गुरु हैं, और कोई नहीं। दरवाज़े के पास आकर मैंने देखा, घुप्प अंधेरा है। इसी अँधेरे में से नीचे सीढ़ियाँ चली गयी हैं। एक दीप जल रहा था वहाँ, जिसकी रक्ताभ शिखा ज़ोरों से थरथरा रही थी। यहाँ भी कई भक्तजन खड़े थे। उनकी अस्पष्ट छाया दूर से ही दीख पड़ी। अस्पष्ट स्वर भी, जिसे कोलाहल ही कहना उपयुक्त होगा। मैं क्या करूँ, यह तय करने के पहले ही पण्डा महाशय ने मेरा हाथ कसकर पकड़ लिया। नीचे सीढ़ियों की ओर मुझे लगभग खींचते हुए वह आगे बढ़ चला, "आइए हाँ...आइए!"

वह मुझे बलपूर्वक ले जायेगा क्या? वहाँ अन्धकार में क्या है, कौन है, मुझे कुछ भी नहीं मालूम! शायद अन्धकार ही मेरे मन में भय और संशय घोल रहा था। लेकिन कौतूहल भी तो था, जो आगे खींचे लिये जा रहा था। इसमें ज़ोर-जबर्दस्ती जैसी कोई बात न थी। बिना देखे मैं भी वापस जानेवाला नहीं। पण्डा के साथ-साथ मैं नीचे उतर आया।

पाँवों के तलवों में मुझे ठण्डे पत्थरों की सीलन का अनुभव हुआ। दीप के प्रकाश में ही मैं देख पाया कि गोलाकार पत्थर के ऊपर शिवलिंग विराजमान है। तो यही है वक्रेश्वर का विग्रह! वहाँ दो पण्डे और पुरोहित पहले से उपस्थित थे। दो-एक भक्तों को बिठाये, सम्भवतः पूजा सम्पन्न करा रहे थे।

मेरे पण्डा महोदय ने वक्रेश्वर की वक्रता का भी दर्शन कराया। और फिर

बिना बताये ही मेरे हाथ में कुछ डाल देना चाहा।

मैंने भी हाथ बढ़ा दिया। फूल, बेल-पत्र देखकर मैंने कहा, "इसका क्या करूँगा?"

"बैठिए पहले!"

बैठ जाऊँ? लेकिन इतना सोचने के पहले ही उसने मेरा हाथ पकड़कर बिठा दिया और बोला, "हाँ, अब कहिए।" साथ ही, देववाणी का अन्धाधुन्ध पाठ शुरू कर दिया। मैने उसे दोहराया कि नही, यह सुनने की फुरसत भी कहाँ थी उसे? वह पढ़ता चला गया। मैं कोरा बैठा रहा। दूसरे भी कुछ लोग वहाँ मन्त्रोच्चार कर रहे थे, जिसकी प्रतिध्वनि गूंज रही थी। मैं उनकी ओर देख रहा था। मेरी घ्राणेन्द्रिय में धूप, दीप, बेल-पत्र और नैवेद्य की सुगन्ध रच-बस रही थी। कच्चे दूध की गन्ध भी। यह सुगन्ध मुझे दूसरे ही लोक मे ले चली। कहाँ?...

मैं इस तरह यहाँ क्यों बैठ गया? इस तरह हाथों में फूल-बेलपत्र लिये! क्या इनमें मेरी आस्था है?

नहीं, नही तो!

तो फिर इस तरह बैठा क्यों हूँ? क्या मन्त्रोच्चार कर रहा हूँ?

नहीं, नही कर रहा!

तो फिर यह सब फेंक-फांककर चला क्यों नही जाता?

यह मैं नही जानता!

क्या यह किसी विश्वास का नामान्तर नही?

नहीं, मैं इन सबमे विश्वास नही करता।

तो फिर उठकर चला क्यों नही जाता?

नही जानता!

नही जानता!!

दो धाराओ के बीच, यह एक कष्टकर स्थिति थी। यह प्रवाह और वह प्रवाह। समझ मे नही आता कि मैं किस प्रवाह के साथ हूँ! पण्डा मन्त्र उच्चार रहा है और मैं मन मे भी उसे नही दोहराता। उसके संकेत पर बस फूल, बेल-पत्र उठाता हूँ और फेंकता जाता हूँ। लगता, जैसे मैं यहाँ नही...वर्तमान मे भी नही। जैसे मैं हजारों साल से अनेकानेक पदचिह्नों पर चलता आ रहा हूँ— अतीत से गुजरता और अपनी ही छाया का अनुसरण करता हुआ। इस यात्रा मे मैं अकेला नहीं, लाखो-करोड़ों सहयात्री है।

देश-काल-पात्र-गोष्ठी के अन्धकार और प्रकाश से गुजरता हुआ चला आ रहा हूँ मैं, अतीत की विच्छिन्नता को जोड़ता-सँजोता। अपने वर्तमान को सम्पूर्ण रूप से पा लेने की जिज्ञासा से, कौतूहल और औत्सुक्य से।

"हाँ...अब प्रणाम कीजिए!"

मैंने प्रणाम किया, "हे वर्तमान ! युग-युगान्त का दर्शन कराते हुए तुम मुझे रूप-अरूप के बीच से लिवा लाये हो। अब जो रूप तुम दिखा रहे हो और जिस अरूप-प्रवाह की तरफ़ बहाये लिये जा रहे हो, मैं उसी के साथ चलूँ !"

मन्दिर से निकलकर मैं जब बाहर आया तो धूप तनिक ढल चुकी थी। कुछ देर पहले उसकी चमक; काँसे की तरह झलक रही थी और इतनी-सी देर में उसकी रंगत सोने की तरह पीली हो गयी।

मेरा पण्डा अब भी मेरे पीछे पड़ा था, "आइए !" उसने मन्दिर की परिक्रमा कराते हुए मुझे एक दूसरे ही विग्रह के सामने खड़ा करा दिया। यहाँ कोई गुहा-गह्वर नहीं था। खुले द्वार के सामने ही चौकोर प्रस्तर से जड़ी एक प्रतिमा थी वह। यही वक्रेश्वर की शक्ति हैं ! जो कुछ चढ़ाना हो, यहीं चढाना पड़ता है !

देवता होगा तो देवी भी होगी। वक्रेश्वर महाराज भला शक्तिविहीन होकर कैसे विराजेंगे ! स्त्री के बिना कोई स्वामी होगा भी कैसे ? वह अकेला रहेगा कैसे ? है न ! कहा ही है—जो पिण्ड में नहीं, वह ब्रह्माण्ड में भी नहीं। ठीक इसी तरह, जो घर में नहीं वह मन्दिर में भी नहीं। शक्ति के दर्शन हुए। यहाँ भी अलग से निछावर देनी पड़ी। यहाँ भी, पहले से ही मन्दिर का पुरोहित चादर ओढ़े डटा था। उसने मेरे हाथ में एक फूल रख दिया जिसे मैंने झोले में डाल लिया। वक्रेश्वर के गुहा-मन्दिर से प्राप्त सारा कुछ मैंने वहीं डाल रखा था। अन्त में, पण्डा महाशय को कहना ही था, "काफ़ी देर हो गयी। आपकी पूजा भी हो गयी, अब मैं घर चलूँ ?"

जाने के पहले दक्षिणा मिले तो वह टले। यह कोई कहने की बात थी ? उसकी नज़र में मैं इतना अहमक नहीं कि वह साफ़-साफ़ बताये। लेकिन कितना दूँ कि वह खुशी-खुशी विदा हो। पूछते भय भी लगा। मेरी मनोकामना पूरी होगी कि नहीं ! जो भी हो, डरते-डरते ही सही, मुझसे जो बन पड़ा, मैंने दे दिया।

जय बाबा वक्रेश्वर ! धन्य हो। मैं उसकी मुसकान देखकर आश्वस्त हुआ। "जीते रहो...बाबा, जीते रहो," कहते हुए उसने अपनी टेंट से एक चीकट-सी बही निकाली और डेढ़ इंच लम्बी, पेन्सिल। मेरा नाम-ठिकाना पूछते हुए उसने कहा—"लिख लेता हूँ। दूसरी बार जब भी आइए, मेरा नाम पूछियेगा। कोई भी मेरा घर बता देगा। आप अब न भी आयें तो आपके पिता, भाई, बन्धु-बान्धव चाहे जो आयें, आपका नाम लेते ही जान जायेंगे कि आप मेरे जजमान हैं।"

पिताजी तो स्वर्ग सिधार गये। मैं या मेरे भाई-बन्धु यहाँ कभी आयेंगे, नहीं जानता। फिर भी, बताने में क्या आपत्ति होती भला ! मैंने सबका नाम लिखवा

दिया। इसके बाद भी वह टला नहीं। इतनी देर तो पहले ही हो चुकी। जाना नहीं है उसे ?

चले जायेंगे। आखिर कर्त्तव्य पालन-जैसी भी तो कोई चीज है। इसी का स्मरण कराते हुए उसने कहा, "अच्छा तो बाबा, अब मुझे जाने भी दो। मैं तो पहले से ही कह रहा था, मेरे घर चलकर वहीं थोड़ा भात का प्रसाद ग्रहण करो। हमारा घर-गाँव भी देख लेते। अब तो वैसे दिन रहे नहीं बाबा, नाती-पोते भी अब पढ़-लिख गये हैं। गाँव में लाइब्रेरी-टाइब्रेरी भी आ गयी है। हर जगह की हवा बदल चुकी है। अच्छा तो बाबा, अब विदा करो मुझे...। नमस्कार कर लो।"

जय हे वक्रेश्वर ! यह कैसी भूल मेरी ? पूजा-पाठ करा चुके, प्रसाद भी ले लिया, लेकिन जजमान के पाँव छूकर प्रणाम न कर लेने तक वह विदा कैसे ग्रहण करे ? इस मामले में कुण्ड के जल की तरह निर्मल। किसी बात को छुपा रखना या कि जजमान के साथ कोई घपलेबाजी करना—यह सब नहीं हो सकता है, जजमान को इन नियमों के बारे में कुछ पता न हो, लेकिन वह कैसे भूल जाये जिसका यह काम ही है।

इसमें मुझे भी कहीं कोई दुविधा नहीं थी। मैंने झुककर उनकी पदधूलि ले ली।

"जयस्तु...जयस्तु बाबा, अब मैं चलूँ।"

पण्डा महाशय सचमुच विदा हुए। मैं उन्हें जाते देखता रहा। मेरे होंठों पर मुसकान थी और मन में हैरानी। पर, विद्रूपता उत्पन्न करनेवाली कोई स्थिति न थी। इसमें यदि कहीं कोई कातरता थी, तो कहीं मन की प्रसन्नता भी सम्मिलित थी। यह मनुष्य मेरे लिए यकायक कितना आत्मीय, कितना सहृदय हो उठा ! मनुष्य भी कैसा विचित्र प्राणी है !

इधर गोपीदास पता नहीं, कहाँ चले गये थे। मैं एक बार फिर सारे चबूतरे की परिक्रमा कर आया। वह पासवाले जलाशय की सीढ़ियों पर बैठे कुछ गुन-गुना रहे थे। मुझे देखते ही उठ खड़े हुए। पूछने लगे, "पूजा हो चुकी, बाबाजी ?"

"हाँ, पुरोहित ने जो जो कहा, वैसा ही कर आया।"

"और दान-दक्षिणा ?" गोपीदास मुसकरा रहे थे।

"वह भी। आदमी था बहुत अच्छा।"

अच्छा न होता तो बाबाजी के चेहरे पर ऐसी रौनक नहीं होती। तुम सच-मुच चीता बाघ हो बाबाजी ! तुम्हें पहचानना सचमुच बड़ा मुश्किल है।"

"कैसे ?" मैंने जानना चाहा।

गोपीदास ने घर्-घर् आवाज में जो कुछ कहा उसे सुनकर मैं हँसे बिना नहीं

दरवाजा खुल गया। मैंने वही से देखा, गेरुआ रंग की अधमैली लाल किनारी की साड़ी पहने कोई महिला आ रही है। आते ही बोली, "ओ माँ...तुम हो? मैं सोच रही थी पता नही कौन है? आओ अन्दर आओ।"

"भैरव कहां है?" गोपीदास भीतर जाते हुए बोले।

"अरे भैया बहुत-सी बातें हैं कहने को। वह बाद में होती रहेंगी। पहले अन्दर चलकर बैठो तो सही। राधा दीदी को भी साथ लाये हो?"

"नहीं, राधा नही आयी। एक दूसरा ही आदमी साथ है।'

"ओ माँ, उसे भी तो बुलाना था! कहाँ है वह? कौन है?"

गोपीदास ड्योढ़ी से दो कदम आगे आये और पुकार उठे—"आओ बाबाजी!"

मुझे जितना कुतूहल था, उससे कही अधिक संकोच। कौन जाने, कहाँ लिवा लाये! अवधूत के संग किसी बाउल का क्या सम्पर्क हो सकता है? धर्म और साधना भी समान नही। हो भी तो मुझे इस बारे मे कुछ पता नही। इतना तो स्पष्ट था कि यह कोई अपरिचित जगह नहीं है। गोपीदास के साथ पुराना परिचय न होता तो भीतर ले जाकर बिठाता ही कौन?

दूसरे ही क्षण, गोपीदास की ठकुरानी सामने ड्योढ़ी पर आ खड़ी हुई। पल भर के लिए मैंने आँख उठाकर देखा। उसकी गेरुआ साड़ी देखकर बिन्दु का स्मरण हो आया था। और हाँ, मेरी धारणा के विपरीत, ठकुरानी का रंग गोरा था। राढ के लकड़ी के खिलौने की तरह ही नाटे कद की हृष्ट-पुष्ट थी वह। देह की गठन से लगता था, अबतक अविवाहिता ही हो शायद। गोल चेहरे पर प्रौढ़ता की मोहर लग चुकी थी। आँखो के नीचे की कालिमा के कारण शायद ऐसा लगा हो! चेहरे पर हल्के-हल्के दाग भी थे, खसरे के या जिसके भी हों। शरीर से षोडशी और चेहरे से तीस की। नाक-नक्श से तीखी। सिर पर आँचल न था। बाल भी खुले हुए। देह पर कोई कुरती न थी, कंचुकी अवश्य थी। आँखें थोड़ी लाल, उनींदी-सीं। शायद सो रही थीं। इसलिए झाई पड़ने के बावजूद आँखें तिर रही थी। उसने एक बार मेरी ओर अपनी पैनी दृष्टि से देखा और फिर गोपीदास से आँखों-आँखो में ही कुछ पूछ लिया।

"हमारे चीता बाबाजी है," गोपीदास ने उतर दिया।

"कहाँ से पकड़ लाये?" ठकुरानी ने मुसकरा दिया।

मैं अबतक ऊपर ड्योढ़ी तक चढ़ आया था।

"पकड़ नही लाया ठकुरानी, खुद ही बहता चला आया।"

"अच्छा!"

"हाँ, बोलपुर के पौष मेले में परिचय हुआ। तब से साथ है।"

"लेकिन चीता बाबाजी कैसे हो गया?"

रह सका। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोले, "ठीक है बाबाजी, ऐसा ही तो चाहिए। गुरु तुम पर कृपा करें।"

अब इसी मन्दिर के बीच से, झाड़ी झुरमुट चीरते गोपीदास मुझे कहाँ ले चले, मैं समझ नहीं सका। मैंने जानना चाहा, "हम कहाँ जा रहे हैं?"

"तो क्या वहीं सुबह का चबेना खाकर पड़े रहोगे। चलो देखता हूँ कहीं कोई व्यवस्था होती है या नहीं।"

सैंकड़ों खण्डहरों, जंगल की पथरीली-कंकरीली राहों और वक्रेश्वर की खोआई के बीच वह कौन-सी व्यवस्था की खोज में निकले हैं! पण्डे-पुरोहितों की बस्ती भी इस तरफ़ न थी। दो-एक कमचियों के बेड़े पार करते ही कुछ कच्चे घर दीख पड़े। दरवाज़े बन्द थे उनके। मैंने अपनी पिछली आशंका दोहराते हुए फिर पूछा, "आपकी जान-पहचान का तो कोई रहता होगा इधर?"

गोपीदास मुसकराये, "जान-पहचान का न मिला तो किसी अनजाने के पास ही सही। कहीं तो अनाज उबालने की थोड़ी-सी व्यवस्था हो सके! थोड़ी देर तो हो ही जायेगी। बाबाजी को कष्ट तो होगा ..क्यों बाबाजी?"

मैं क्षुधा से क्षुब्ध तो न था। फिर इस भागदौड़ के बदले कोई भोजनालय ही ढूँढ़ते तो क्या बुरा होता? पता नहीं, बाद में कोई व्यवस्था हो पायेगी या नहीं। इससे अच्छा तो यही होता कि थोड़ा-सा समय निकालकर यहीं ऐसी कोई जगह मिल जाती तो कितना ठीक रहता! मैंने उत्तर दिया, "इसमें कष्ट की क्या बात है? मिल जाये तो ठीक ही है।"

"जयगुरु! तो फिर चलो, देखते हैं। चाहोगे तो भात सिझाने के पहले दो-चार मुट्ठी चिउड़ा-मूढ़ी का भी इन्तजाम हो जायेगा।"

बातें करते-करते हम बेंसबेड़ी से घिरी एक कुटिया के सामने आ खड़े हुए। ऊपर फूस का पुराना छप्पर था। दीवारें, ड्योढ़ी और सीढ़ियाँ साफ़-सुथरी, लिपी-पुती थीं। बायीं ओर का बेड़ा आगे की ओर निकल आया था। जैसे ही उधर दृष्टि गयी, मैं चौंक पड़ा। साफ़-साफ़ अक्षरों में लिखा था वहाँ—'ब्रह्मानन्द अवधूत, वक्रेश्वर'। यही इस कुटीरवासी का परिचय था।

गोपीदास ने पुकारा, "कोई है? घर मे कोई आदमी नहीं है क्या?"

सामने का दरवाज़ा बन्द था। कहीं कोई आवाज़ नहीं हुई। कुटिया उसी तरह शान्त पड़ी रही। गोपीदास ने अवधूत बाबा का नाम लेकर पुकारा। फिर वही चुप्पी! मेरी ओर देखते हुए उन्होंने इस बार ऊँचे स्वर में कहा—"कहीं कोई आवाज़ नहीं, सब कहाँ चले गये? लगता है, ठकुराइन भी नहीं है।" उन्होंने थोड़ा नीचे झुककर दरवाज़े के ऊपर ध्यान से देखा। बोले, "ना तो! बाहर से कुण्डी भी नहीं लगी! लगता है, दरवाज़ा भीतर से बन्द है।"

ऊपर ड्योढ़ी तक चढ़ आये थे वे, एक बार और पुकारना चाहते ही थे कि

दरवाज़ा खुल गया। मैंने वही से देखा, गेरुआ रंग की अधमैली लाल किनारी की साड़ी पहने कोई महिला आ रही है। आते ही बोली, "ओ माँ...तुम हो? मैं सोच रही थी पता नही कौन है? आओ अन्दर आओ।"

"भैरव कहाँ है?" गोपीदास भीतर जाते हुए बोले।

"अरे भैया बहुत-सी बातें हैं कहने को। वह बाद में होती रहेगी। पहले अन्दर चलकर बैठो तो सही। राधा दीदी को भी साथ लाये हो?"

"नही, राधा नही आयी। एक दूसरा ही आदमी साथ है।"

"ओ माँ, उसे भी तो बुलाना था! कहाँ है वह? कौन है?"

गोपीदास ड्योढी से दो कदम आगे आये और पुकार उठे—"आओ बावाजी!"

मुझे जितना कुतूहल था, उससे कही अधिक सकोच। कौन जाने, कहाँ लिवा लाये! अवधूत के सग किसी बाउल का क्या सम्पर्क हो सकता है? धर्म और साधना भी समान नही। हो भी तो मुझे इस बारे मे कुछ पता नही। इतना तो स्पष्ट था कि यह कोई अपरिचित जगह नही है। गोपीदास के साथ पुराना परिचय न होता तो भीतर ले जाकर बिठाता ही कौन?

दूसरे ही क्षण, गोपीदास की ठकुरानी सामने ड्योढी पर आ खड़ी हुई। पल भर के लिए मैंने आँख उठाकर देखा। उसकी गेरुआ साड़ी देखकर बिन्दु का स्मरण हो आया था। और हाँ, मेरी धारणा के विपरीत, ठकुरानी का रग गोरा था। राढ के लकड़ी के खिलौने की तरह ही नाटे कद की हृष्ट-पुष्ट थी वह। देह की गठन से लगता था, अबतक अविवाहिता ही हो शायद। गोल चेहरे पर प्रौढ़ता की मोहर लग चुकी थी। आँखो के नीचे की कालिमा के कारण शायद ऐसा लगा हो! चेहरे पर हल्के-हल्के दाग भी थे, खसरे के या जिसके भी हों। शरीर से षोडशी और चेहरे से तीस की। नाक-नक्श से तीखी। सिर पर आँचल न था। बाल भी खुले हुए। देह पर कोई कुरती न थी, कचुकी अवश्य थी। आँखें थोड़ी लाल, उनींदी-सी। शायद सो रही थी। इसलिए झाईं पड़ने के बावजूद आँखें तिर रही थी। उसने एक बार मेरी ओर अपनी पैनी दृष्टि से देखा और फिर गोपीदास से आँखो-आँखों में ही कुछ पूछ लिया।

"हमारे चीता बावाजी हैं," गोपीदास ने उत्तर दिया।

"कहाँ से पकड़ लाये?" ठकुरानी ने मुसकरा दिया।

मैं अबतक ऊपर ड्योढ़ी तक चढ आया था।

"पकड़ नही लाया ठकुरानी, खुद ही बहता चला आया।"

"अच्छा!"

"हाँ, बोलपुर के पौष मेले में परिचय हुआ। तब से साथ है।"

"लेकिन चीता बावाजी कैसे हो गया?"

"यह भी तुम्हें बताना पड़ेगा ? जरा तककर देखो इसकी आँख !"

यह देखने के लिए होंठों से आँचल का दबाना जरूरी था शायद ! ओह, यह कैसी परीक्षा की घड़ी थी। मैंने भी देखा, ठकुरानी की सुडौल काया में कोई तरंग खेल गयी। हामी भरते हुए बोली, "ठीक ही कह रहे हो।"

फिर एक गहरी उसाँस भरकर बोली, "रक्त पीने की इच्छा नहीं मरती।" और फिर मुझ पर नजरें गड़ाती हुई बोल उठी, "आओ बाबाजी, अन्दर चलकर बैठो !"

मुझे लगा, ठकुरानी तनिक अन्यमनस्क-सी हो उठी है। यह गहरी उसाँस ...तो अच्छी नहीं ! मैं गोपीदास के पीछे-पीछे अन्दर दाखिल हुआ।

कमरे में अँधेरे के सिवा कुछ न दिखा। हमारे पीछे-पीछे ठकुरानी भी अन्दर आयी। आते ही उसने दूसरी ओर का दरवाजा खोल दिया तो कमरा प्रकाशित हो उठा। बाहर के जीर्णशीर्ण मन्दिर भी दीखने लगे।

"बैठो, बाबाजी भाई।"

उसने एक टूटी चटाई बिछा दी थी। कोई आवश्यकता न थी इसकी। इससे अच्छी तो मिट्टी की जमीन थी।

"हाँ...हाँ, बैठो बाबाजी।" गोपीदास ने भी आग्रह किया।

अतिथि का सम्मान तो करना ही पड़ता है। हारकर मैंने कन्धे से झोली उतारी और चटाई पर बैठ गया। अब जब ध्यान गया तो पता चला, कमरा चौकोर न था, एक तरफ काफ़ी बड़ा था। कमरे के बाहर तक उसके अगले हिस्से की दीवार निकल आयी थी, जिस पर अलकतरे से आश्रमवासी का नाम लिखा था। उसी के बराबर जमीन पर ही, सिन्दूर-लगा त्रिशूल गड़ा था, जिस पर अड़हुल के फूल की माला पड़ी थी। उसके पीछे ही ताक पर लकड़ी की एक बतिवेदी रस्सी से टँगी थी। उस पर एक नर-कपाल रखा था, सिन्दूर से पुता। ताक के दोनों ओर गोला सिन्दूर से स्वस्ति-चिह्न बना था।

मैं जब इन सब चीजों को एक-एक कर देख रहा था, उसी समय ठकुरानी का स्वर फिर सुन पड़ा, "गोपीदास खड़े क्यों हो ? बैठो न !"

"हाँ...बैठूंगा," गोपीदास विषय प्रवर्तन करते हुए बोले, "लेकिन बात क्या है ! अवधूत बाबा कहाँ गये ? तुम घर में अकेली पड़ी हो ?"

ठकुरानी हँस पड़ी। हँसने से आँचल सरक गया था जिसे उसने सहेज लिया। तभी उसके गले में मुझे रुद्राक्ष की माला दीख पड़ी। आँखें नचाकर बोली, "कोई भय नहीं। अवधूत ने अब भी मुझे त्यागा नहीं। एलाकाटा के जाने

कहाँ पाऊँ उसे

के बाद ही, तुम उसे देख पाओगे।"

गोपीदास ने विस्मय से पूछा, "एलाकाटा? वह तो कुण्ड के पास ही जंगल में बैठा हुआ है।"

"उसने कुछ कहा नहीं?"

"हाँ...तुम दोनों के बारे में कुछ पूछते ही, भुनकर बोला, "मैं उनके बारे में कुछ नहीं जानता। मुझसे कुछ न पूछो।"

ठकुरानी ने हँसकर कहा, "वह बेचारा भला गुस्सा कैसे न हूँ गा? अब अगर तुम उसका घर दखल कर बैठ जाओ या घर से बाहर निकाल फेंको...तो वह खिसियायेगा ही।"

"एला बाबा को उसके ही घर से खदेड़ दिया?"

"हाँ...और क्या?"

"क्यों? बात क्या है?"

"एलाकाटा के घर में कोई भैरवी जो आ गयी," ठकुरानी ने हँसते हुए बताया, "और उसको लेकर तुम्हारे अवधूत बाबाजी साधन-भजन जो करने लगे। समझे तो? अब वह मुआ तो यह सब समझता नहीं, इसीलिए उसे बाहर भगा दिया।"

गोपीदास की आँखें ठकुरानी पर ही ठहरी हुई थी। उनमे जिज्ञासा और अनुसंधित्सा थी। मैं भी चकित था। सारा मामला ही कुछ विचित्र जान पड़ा। अवधूती इसे जितना सहज समझ रही थी, बात उतनी सहज न थी। कही कोई ग्रन्थि थी अवश्य। एलाकाटा के घर मे अवधूत किसी भैरवी के साथ साधना करे और बेचारा एलाकाटा के घर से बाहर ढकेल दिया जाय! इधर ठकुरानी अकेली पड़ी अवधूताश्रम अगोर रही है। मुझे इसमें स्वभावतः ही कोई रहस्य-सा जान पडा।

"कब से?" गोपीदास ने जानना चाहा।

"दो दिन से," ठकुरानी ने बताया।

"तभी...।"

"एलाकाटा के घर में ही भैरवी को शरण मिली है।...तुम बैठते क्यों नहीं?"

"बैठूंगा...लेकिन..." गोपीदास कहते-कहते रुक गये।

"लेकिन क्या? मैं जो हूँ। हूँ कि नहीं?"

"सो तो हो। मैं यह कह रहा था, चीता बाबाजी को साथ लिये तुम लोगों के यहाँ आया था कि यहाँ खाने-पीने का कोई इन्तजाम हो जायेगा। और अगर तुम लोगो का खाना हो भी चुका होगा तो हमारे लिए दोबारा यह कष्ट उठाना पड़ेगा। बस, किसी तरह जल गरम हो जाये...।"

"इसमें कष्ट उठाने की क्या बात है ?" ठकुरानी ने छूटते ही कहा, "तुम भी बड़े अजीब आदमी हो, गोपीदादा। मैं अभी चूल्हा जलाकर हंड़ी चढ़ाती हूँ। इसमे चिन्ता की क्या बात है ?"

"तुमने खा लिया ?" गोपीदास ने पूछा।

"नही। मेरी तबीयत कुछ ठीक नही," ठकुरानी ने होंठ भीचकर बताया, "आज चूल्हा-टूल्हा भी नही जला पायी। बस, यूँ ही सोयी पडी थी। तुमने पुकारा तो उठ आयी।"

तन शिथिल है या मन बोझिल, समझ मे नही आता। पहले तो ऐसा लगा कि गरम उसाँस की हवा बहुत दाहक है। अवधूनी की आँखो के नीचे यूँ ही झाईं नही पडी। अकारण ही चेहरा बुझा-बुझा नही। उपवास और आत्म-धिक्कार से आहत है वह। अपना आश्रम छोड़कर साधक अन्यत्र चला जाये और दूसरी भैरवी को साधन भजन सिखाये, ऐसी स्थिति मे कोई चीज गले से कैसे उतरे? इससे अच्छा तो यही है कि दरवाजा बन्द कर निढाल पड़ी रहे। जी का संताप तो कम होगा।

और ऐसी दु:स्थिति मे दो अनाहूत अतिथियों का आगमन! मैंने अपने को बड़ा लज्जित महसूस किया। कहना पड़ा, "अब खाने-वाने की तैयारी रहने भी दीजिए। हम दोनों कही और..."

ठकुरानी घर के पिछवाड़े जा रही थी कि सुनते ही दरवाजे के पास खड़ी हो गयी और बोली, "क्यों बाबाजी, क्या यहाँ खाना-पकाना नही होता ?"

"क्यों नही ?" मैंने सफ़ाई देते हुए कहा, "लेकिन आपकी तबीयत कुछ ठीक नही।"

"ओ माँ...!" ठकुरानी की गर्दन एक बारगी लचकी। गले में पडी रुद्राक्ष-माला बाहर झूल गयी। "मर तो नही गयी। और दो मुट्ठी चावल उबालते हुए कोई मर तो नही जाऊँगी।...जब कानो मे बात पड गयी तो ऐसे ही कैसे चले जाओगे, बाबाजी। लेकिन..."

अचानक गोपीदास की ओर तकते हुए वह रुक गयी। फिर होंठ दबाकर मुसकराने लगी, "अब तुमसे क्या छिपाना! तुम लोगों के अवधूत के घर में अभी चावल भी नहीं। गाँव जाकर लाना पड़ेगा।"

"जयगुरु!" गोपीदास ने इस जयकार के साथ कहा, "यह भी कोई बात हुई भला! क्या कुछ लाना है, बताओ, मैं अभी लाया।"

"ज्यादा कुछ नही। चावल और छटाँक भर सरसो का तेल। बस इतने से ही हो जायेगा। बाकी सबकुछ है।" कहती हुई पिछवाड़े की तरफ गयी और बेड़ी से टँगी, रस्सी में झूलती कोई शीशी ले आयी। गेरुए रंग का एक पुराना-सा कपड़ा भी—चावल बाँध लाने को।

मैं भी जल्दी से उठ बैठा।

"तुम कहाँ चले बाबाजी ?" ठकुरानी ने भवें सिकोड़कर पूछा।

"मैं भी इनके साथ चलूँ !"

"भला क्यों ?" ठकुरानी की आँखों की पुतलियाँ नाच उठी, "मेरा पास अकेला पड़े रहने में क्या डर लगता है ? डर है कि कहीं टोना-टोटका न कर दूँ, वशीकरण मन्त्र न फूंक दूँ ?" ठकुरानी इसी तरह हसती-कँपती रही।

"जी नहीं।"

"जाने की जरूरत नहीं बाबाजी, तुम यहीं बैठो। जो कुछ देना हो, मुझे दे दो। यही बहुत होगा।" गोपीदास ने मुसकराते हुए कहा।

आखिर मैं उनके साथ ही वक्रेश्वर आया था, इसीलिए उनके साथ जाने का आग्रह था। इसे वह भी अच्छी तरह समझते थे। मुझसे पैसे लेते हुए वे बड़े सहज भाव से ठकुरानी से बोले, "यहाँ के पण्डा-पुरोहित तो बाबाजी को अपने यहाँ ही प्रसाद वगैरह देना-दिलाना चाहते थे। मैंने ही नहीं जाने दिया।"

"ठीक ही किया," ठकुरानी ने अपनी मोहर लगायी, "अकेले बैठे-बैठे एकदम ऊब चली थी। कोई तो मिला बातें करनेवाला।"

"लेकिन..." गोपीदास ने गहरी साँस भरते हुए कहा, "एलाकाटा के घर में कोई भैरवी पड़ी है, यह तो तुमने नयी खबर सुनायी जोगा दीदी !"

इतनी देर के बाद ठकुरानी का नाम सुन पड़ा। लेकिन मैं यह नहीं समझ पाया कि इस जोगा के बाद माया है या बाला। इस आश्रम का जैसा परिवेश था, उससे तो माया ही उपयुक्त जान पड़ा। सिन्दूर में नहाये त्रिशूल, नरमुण्डों का कंकाल और भैरवी शक्ति के साथ माया का ही अधिक सम्बन्ध रहा है। बाला भी हो सकती है। मैंने सुना है कि जौतमार्गी दशनामी संन्यासियों के विशेष साधना-अनुष्ठान में बाला नाम की सुन्दरी का आविर्भाव होता है। चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की नवरात्रि को उसका व्रतोद्यापन किया जाता है। इस साधना का रहस्य किसी पर प्रकट नहीं किया जाता। मद्य, मांस और मुद्रा (रमणी) इस व्रत के आवश्यक उपादान है। यह एक ऊर्ध्व साधन प्रक्रिया है जहाँ साधनच्युत साधक मारा जाता है।

"अरे वह उस एलाकाटा के घर थोड़े न आयी थी। वक्रेश्वर आयी थी, तीरथ करने, पूजा-पाठ करने। एलाकाटा उसे अपने घर ले गया फुसलाकर।" जोगा ने बताया।

"अच्छा...तो यह बात है !" गोपीदास ने आश्वस्त होते हुए कहा, "एलाकाटा तुम्हारा तो परम भक्त था, तुम्हारी शरण में पड़े रहने के अलावा और कुछ न चाहिए था उसे।"

"मरे मुआ !" जोगा ने अपना कन्धा झटककर कहा, "अब और देर न

करो। हमारी बात और है। तुम्हारे चीता बाबाजी भला कबतक भूखे-प्यासे बैठे रहेंगे ?"

"हाँ...हाँ चलूँ। लेकिन बाबाजी भी कोई साधारण पात्र नहीं। ऐसा होता तो हमारे संग न होते।" यह बताते हुए गोपीदास दरवाजे तक आगे बढ़े और और मुड़कर फिर पूछ बैठे, "अच्छा दीदी, अवधूत की सप्तमी तो घर में है न?"

"हाँ है। तुम वापस तो आओ फिर दम लगाना।"

"जयगुरु" कहते हुए गोपीदास बाहर चले गये। लेकिन यह सप्तमी ? यह क्या बला है ? और इसके साथ दम लगाने-जैसी क्या बात है ? कहीं सुना भी था...शायद। इसीलिए मैं जोगा की तरफ़ कुछ देर तक जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देखता रहा। जोगा भी मेरे इस भाव को ताड़ गयी थी शायद।

"कुछ कहा तुमने," उसने पूछा।

"यह सप्तमी क्या है," मैंने पूछ लिया, "सुना-सुना सा लगता है।"

जोगा ने अपनी गर्दन मोड़ ली। उसके तेवर से मैं थोड़ा सहम भी गया। विन्दु में जो सखी भाव का तारल्य था, वह यहाँ नहीं। यहाँ सबकुछ तीखा था। लाल आँखें—सुलगती हुईं, नाचती-सी। तनिक उद्धत होकर बोली, "सुना-सुना लग रहा है ? क्यों...क्या कभी साधु-संन्यासियों के साथ भटकते रहे हो?"

"ना तो..." मैंने विस्मय के साथ उत्तर दिया।

"तो ? यह तो सबको पता है कि सप्तमी किसे कहते हैं। सप्तमी तिथि को कहते है...कहते हैं न ? तुम इस बारे मे और भी कुछ जानते हो ?" यह पूछते हुए वह अपनी आँखें मुझपर गडाये रही। होंठों पर मुसकान खेल रही थी उसके और बालों की एक लट गाल पर आ पड़ी थी। रुद्राक्ष की माला गले से नीचे उतर-कर उसके सीने पर लोट रही थी, नागिन की तरह। मैं यह जानता था कि अभी-अभी जो कुछ कहा गया, उससे तिथि का कुछ लेना-देना नहीं। फिर क्या था यह कि मुझे अपनी याददाश्त पर बड़ा तरस आया।

"और कुछ नही सुना कभी ?" जोगा ने फिर पूछा।

"कुछ याद नही आ रहा।" मैं बेबस हो उठा था जैसे।

"तो...फिर इस बारे मे सुना है ?" यह पूछते हुए उसने हाथ उठाकर चिलम पकड़ने की मुद्रा बनायी और दोनों होंठों को सिकोड़कर ऊपर उठा दिया। मुझे तुरत याद आ गया कि यह तो गाँजा की बात है। साधुओं, विशेषकर कुलाचारियों के लिए गाँजे का छद्मनाम सप्तमी है, जो साधारण लोगों की समझ मे नही आता। मैंने प्रयाग के कुम्भ मेले मे साधुओं के निकट यह शब्द सुना था। मैं तभी बोल उठा, "हाँ, मैंने यह शब्द किसी साधु से सुना था।"

अचानक जोगा घुटने मोड़कर ठीक मेरे सामने बैठगयी और बोली, "काम-काज शुरू करने के पहले, मैं तुम्हारे बारे में कुछ जान तो लूं। साधु-संग किया है तुमने, देखकर तो ऐसा पता नही चलता।"

"नहीं.. नहीं," मैंने छूटते ही कहा, "उन सबके बीच कभी नही रहा। बस यूं ही चलते-फिरते थोड़ा-बहुत या जितना कुछ जान पाया...उतना ही।"

"तभी तो, तुम्हारे जैसे लोग दिल्ली-विल्ली घूमते-फिरते हैं। इस मसान में कौन आता है भला! ऐसे कितने हैं, जो गोपीदास के साथ घूमते-फिरते हैं?"

मैंने कहा, "बस, पिछले दो-तीन दिनों से उनका साथ बहुत ही अच्छा लग रहा है, इसीलिए।"

जोगा ने काफ़ी देर तक कुछ कहा नही। केवल मेरी आँखों की तरफ़ तकती रही। उसकी दहकती आँखों की ओर देखते रहना मुझे भी बड़ा उद्विग्नतापूर्ण लगा। पता नहीं, वह कोई जादू-टोना करके या सम्मोहन द्वारा भेड़ तो नहीं बना देगी।

जोगा अब मेरे एकदम सामने बैठी थी। दरवाजे से आती रोशनी उसके पूरे शरीर पर पड़ रही थी। मैंने देखा, उसकी मांग में सिन्दूर की हल्की-सी लाली है, माथे पर भी फीकी-सी बिन्दी। उसने पूछा, "चीता बाबाजी... ऐसा तो कोई नाम नही हुआ। असली नाम क्या है तुम्हारा?"

उसने अपने भारी गले से जिरह करते हुए यह सवाल पूछा था जैसे। चुप रहना भी बडा कठिन था, इसलिए एक-एक कर नाम-धाम काम, घर-परिवार सबके बारे में बताना पड़ा। वह भी हां-हूं करती रही और आश्वस्त होकर बोली, "गोपीदादा ने ठीक ही पकड़ा है..तुम सचमुच चीता हो।"

चूंकि प्रसंग मेरा था और उसे आगे बढ़ाने की मेरी कोई मंशा न थी तो भी मैंने पूछा, "कैसे?"

"चीता की तरह एक नज़र है। शिकार पर ही टिकी आँखें...ज़रा भी इधर-उधर नही।"

"कैसे भला?"

"जिधर मन है, ध्यान भी उधर ही है। कोई हीला-हवाला नहीं।"

मैं कुछ समझ न पाया, इसलिए चुप बैठा रहा। जोगा एक बार हिली। शायद अँगड़ाई लेना चाहती थी। लेकिन जरा-सा ही मुड़ पायी और बोली, "समझे कि नही? मैं कह रही थी, अपने को खूब मांजो और मांजकर छोड़ो।"

यह कैसी उलटवांसी थी? मैंने पूछा, "क्या मांजूं?"

"मन...और क्या?" जोगा ने रुद्राक्ष माला को आंचल की ओट से निकाला और उससे खेलते हुए बोली, "मन केवल युवतियों के पास ही नही होता, युवकों के पास भी होता है और वही तुम्हारे चेहरे और आंख से झांक रहा है। तुम्हारे

लिए कोई भी थान या ठौर बेकार नहीं...वह चाहे यहां हो या वहाँ हो। लेकिन..."

उसका स्वर उसकी मुसकान में खो गया और दोनों आँखें चमक उठीं। उसे इस प्रकार अचानक रुकते हुए देखकर मैं कुछ कहना चाह रहा था कि उसने पूछ लिया, "अच्छा यह तो बताओ क्या खोजते फिरते हो?"

मैं फिर विस्मय में पड़ गया। असमंजस में भी, जबकि इसकी आवश्यकता न थी। जोगा की जिज्ञासा उसकी दृष्टि की तरह ही मुझे कहीं बींध रही थी। मैंने कहा, "मैं नहीं जानता।"

"फिर?"

"बस इसी तरह घूमता फिरता हूं।"

जोगा का शरीर कांप उठा जैसे। वह हँसती रही। आँखें लाल हो उठीं उसकी। फिर खड़ी होते हुए बोल उठी, "घूमो, इसी तरह और भी घूमते रहना होगा। बड़ी लम्बी यात्रा है..."

इसके साथ ही, उसकी मुख-मुद्रा विद्रूप हो उठी। मैं उसकी आँखों का वह रहस्य पढ़ न पाया। वह दूसरी तरफ़ अपनी दृष्टि फिराये कहती रही, "ऐसा हो तो होता है। न जाने कितनी मार खानी पड़ती है, कितना मारना होता है फिर भी जिसे मरना या मारना कहते हैं, वह नहीं हो पाता। घाट-घाट का पानी पीकर भटकते रहना पड़ता है। जहर के प्याले को भी होठों से लगाना होता है।...इसके बाद फिर वही यात्रा।" इतना कहने के बाद, उसने गर्दन झटकते हुए चेहरे से बालों का गुच्छा हटाया। फिर पिछवाड़े की ओर देखते हुए बोली, "तुम बैठो, मैं देखूं जरा, पानी-वानी है या नहीं।"

जोगा बाहर चली गयी। लेकिन मेरा अन्तर्मन निःशब्द पड़ा रहा। हृदय की धड़कन भी जम गयी थी जैसे। जोगा की बातें इस निस्तब्धता में रह-रहकर फड़फड़ा उठतीं। मैं उसकी इस रहस्यपूर्ण उक्ति को पूरी तरह समझ पाया होऊं, ऐसा भी नहीं। इस अज्ञात स्थिति के बीच फँसा रहकर भी मैं किसी ऐसी जगह खड़ा था, जहां मेरी सारी सत्ता हठात् कहीं थम गयी थी। उस दिगन्त पर मेरी सारी अस्मिता और चेतना स्तब्ध पड़ गयी थी।

इसी समय मेरी दृष्टि सिन्दूर और घी से चुपड़े त्रिशूल की ओर जाकर ठहर गयी। किसी प्रतिमा की तरह प्रतीत हुआ मुझे यह त्रिशूल। रुद्र की तरह उसका मुख, नुकीली भौंह और सिन्दूर-लगे फल के ऊपर त्रिनेत्र। इसके पास ही, ऊपर रखा नरमुण्ड। उसके भयावह खुले जबड़े और आँख की जगह पर काली सुराखें जैसे मुझे ही तक रही थीं। मैं जोगा की बातों से पहले से ही स्तब्ध था कि इस गिद्ध दृष्टि ने तो मुझे और भी कुण्ठित, और भी भयभीत कर छोड़ दिया।

कुछ कह नहीं सकता, कैसी विवशता थी। सम्भवतः मेरी कल्पना ने ही यह

रूप ग्रहण कर लिया हो। उस अव्यक्त यन्त्रणा से मैं फिर वापस लौटा, इसी कुटिया में। कानों में वही प्रतिध्वनि गूंज रही थी, 'और भी घूमते रहना है... बड़ी लम्बी यात्रा है...।'

पता नहीं कबतक क्या कुछ सोचता रहा मैं। मैं विस्मित था कि यह बात और कोई नहीं, वक्रेश्वर की एक कुटीरवासिनी भैरवी कह रही है। जिसकी शिक्षा-दीक्षा या अनुभव-उपलब्धि पर मैं कभी आस्था नहीं रख सकता। सम्भव भी नहीं था। क्योंकि मैं जिस समाज या परिवेश का प्रतिनिधि था, वहाँ इस तरह की आस्था के लिए कोई गुंजाइश न थी।

लेकिन मेरे विस्मय को ऐसा कोई तर्क भी तो नहीं काट फेंक पाया। मैं उस दैव वाणी को सुनकर अब भी चकित था, 'बड़ी लम्बी यात्रा है...' और वह भी किसी नारी के मुँह से। विस्मय का कारण भी यही था। यही धीरे-धीरे मेरी प्रसन्नता का भी कारण बन गया। मेरे सामने इसका एक दूसरा पहलू भी प्रत्यक्ष हो उठा। वही इस अनुभव के साथ कि मैं अपने घर के पास-पड़ोसी को भी कहाँ *जान पाया? उन्हें देखकर भी पहचान न पाया। शायद यही मेरी प्रसन्नता का* कारण था कि मैं उन सबको देख सकूँ, पहचान पाऊँ?

जोगा को खोजते हुए मेरी दृष्टि अचानक घर के कोने में रखे पिंजरे पर पड़ी। वह यकायक हिल उठा था। पिंजरा था कि पिटारा ! पेड़ की टहनियों को गूँथकर बनाया गया था वह। ऊपर ढक्कन भी था। मैंने सरसरी तौर पर इसे पहले भी देखा था। तब यही लगा था कि अवधूत के आश्रम की कोई सामग्री होगी, लेकिन इसके अचानक हिलते ही मैं चौंक उठा। ढक्कन के ऊपर दो मटके भी रखे थे। अँधेरे के कारण बहुत स्पष्ट नहीं दीखे। क्या पता, बाहर के बेड़े से टकराने के कारण वह हिल उठा हो?

नहीं, दूसरे ही क्षण मैं काँप गया। पिटारे के अन्दर से साँप की फटी हुई जीभ बाहर लपलपा उठी। पिटारा एक बार फिर हिल उठा, साथ ही, ऊपर रखे दोनों मटके भी।

मैं हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। मेरी सारी कल्पना, भाव-चेतना मृत्यु-भय से एक ही क्षण में रोमांचित हो उठी। साँप ! पिटारे में साँप !! क्या वह बाहर से आकर इसमें घुस गया था? लगा, उस चक्षुश्रवा की आँखें मुझे तक रही हैं, उसका शरीर पिटारे में बल खा रहा है। रह-रहकर उसकी जीभ बाहर लपलपा उठती, मानो हवा चूस रही हो।

त्रिशूल...नरमुण्ड...साँप और बाहर खण्डहर में परिवर्तित शिवमन्दिर...। वक्रेश्वर की ऊँची-नीची ज़मीन, खोआई और जंगलों में खोयी स्तब्ध प्रकृति। मुझे किसी का कोई संकेत नहीं मिला। मैं यहाँ से किधर बाहर निकल भागूँ, यही तय कर रहा था कि बाहर के दरवाज़े से किसी पुरुष का आगमन हुआ। घुटने

तक मैले-चीकट गेरुए कपड़े लपेटे। मूंछ-दाढ़ी तो साफ़ थी लेकिन सिर पर जटाजूट-सा था। गले और बाँहों में रुद्राक्ष माला। आँखें सुर्ख़ और चमचमाते कमण्डलु का रंग भी ताँबई। उसका शरीर झूम रहा था। अन्दर घुसते ही उसने नीचे झुककर, मेरी ओर देखा। उसका भारी भरकम शरीर तथा लोहार की निहाई-जैसा कठोर वक्ष देखकर मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह मुझे वक्ष से दबा-कर ही न मार डाले। उसके वक्ष और कपाल पर रक्त का टीका था और ललाट पर सिन्दूर का लेप।

वह अन्दर तो बड़ी तेजी से घुसा था, लेकिन मुझे देखकर अचानक रुक गया। दूसरे ही क्षण गरजकर पूछा उसने, "कौन है तू?"

"मैं?" मैं इस प्रतिप्रश्न के सिवा कुछ कह नहीं पाया। पता नहीं, गोपीदास किस ग्रह-दुश्चक्र में फँसा गये? त्रिशूल...कंकाल...साँप...भैरवी, और अब यह भयंकर पुरुष! उसके मुँह से शराब की बू आ रही थी।

उसकी सुर्ख़ आँखें रुद्र के त्रिनेत्र की तरह मुझे तरेर रही थी। उसने हुंकार भरे स्वर में फिर पूछा, "अबे कौन है तू...बोलता-बताता क्यों नहीं...अँय...?"

"क्यों...किसलिए?"

जोगा ने अचानक तीखे स्वर में उत्तर दिया। मैंने पीछे मुड़कर देखा, वह पिछवाड़े की ओर से आ चुकी थी। उसकी दर्पभरी आँखों में कोई आग-सी दहक रही थी, नथुने फड़क रहे थे मानो कोई उद्धत नागिन हो, फन उठाये डँसने को तैयार।

मैं सोचने लगा, कहीं यह वही ब्रह्मानन्द अवधूत तो नहीं!

जटाधारी अवधूत अपने आरक्त नेत्रों से जोगा की तरफ़ तकता रहा। वह तक ही नहीं रहा था, अग्नि-शलाका से बींध भी रहा था। नशे में धुत्त रहने के कारण एक बार उसका शरीर डगमगाया और उसका चौड़ा-चकला वक्ष मेरी ओर बढ़ता चला आया।

"क्यों, पूछना क्यों नहीं चाहिए?" वह भुनभुना उठा।

जोगा की जलती दृष्टि भी एकदम सामने थी। उसके मुँह से कोई जलता हुआ तीर छूटा—"नहीं।"

"ठीक है।" जटाधारी ने आँखें तरेरीं। उसकी त्रिपुण्ड रेखा झिलमिला उठी। आँखें धीरे-धीरे मुँद आयीं और पास की रेखाएँ सिकुड़ गयीं। चेहरा कठोर हो गया। शब्दों को चबा-चबाकर बोला, "क्यों री! किसी नये भैरव का जुगाड़ कर लिया है क्या?"

जय वक्रेश्वर महाराज ! यह कैसा सम्बोधन ? कैसा प्रश्न ? लेकिन अगले ही क्षण राढ की वह प्रस्तर-प्रतिमा अचानक सजीव हो उठी और लचक गयी। होंठ कमान की तरह टेढा हो गया। फिर गर्दन मोडकर बड़े मीठे स्वर मे उसने उत्तर दिया—"अच्छा...तो बाबा ब्रह्मानन्द अवधूत को इस बात का पता नही ?"

इस उत्तर के साथ ही, जोगा मेरी तरफ बढती चली आयी। उसकी आँखें अब भी अवधूत पर टिकी थी। उसने कहना जारी रखा—"यह मेरा भैरव नही है रे अवधूत ! तुम्हारी तरह जयमाला लेकर यह कोई जप-तप या जन्तर-मन्तर का ढोंग नही करता। इसने कोई साधन-भजन भी नही सीखा। मुझे उन सब दिखावे से घृणा हो उठी है। यह मेरा नागर है रे...नागर। देखते नही, कैसा सलोना चेहरा और सजधज है ! अब मैं उसकी नागरी हूँ।"

"खबरदार !" जैसे कोई बाघ गरज उठा। कुटिया काँप उठी। पिटारे में डोल रहे नाग ने भी अपनी लपलपाती जीभ को समेट लिया। और मुझे ! काटो तो खून नही। कहाँ हो हे विपद्‌नाशक, हे श्री मधुसूदन ! हे गोपीदास बाउल ! अपने इस चीता बाबाजी की रक्षा करो। इस भैरव-भैरवी की आपसी खीचा-तानी से तो इसी वक्रेश्वर मे ये प्राण अब जाने ही वाले है...

लेकिन बाघ चाहे जितना गरजे, इधर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। कमान और भी तन गयी। जोगा होंठ भीचे खड़ी थी—निष्ठुर-विद्रूप, विषबुझी व्यग्य-दृष्टि से तकती हुई। उसकी गर्दन और भी टेढी हो गयी थी, आँचल ढल गया था। दिपते वक्षस्थल पर रुद्राक्ष की माला डोल रही थी। भैरवी फिर बोल उठी, "आप इस तरह खीज क्यों रहे हो ओ अवधूत ? आप तो ठहरे साधक पुरुष—योगी महात्मा। मुझे खबरदार क्यों कर रहे हो, ब्रह्मानन्द ? मैं अब आपके योग्य कहाँ रही ? अब तो मैं नागरी हो गयी। देखो तो सही, कैसी कच्ची उमर का नागर मेरे हाथ लगा है। अब आप-जैसा बूढ़ा नागर नही चाहिए मुझे।"

"क्या कहा ? मैं नागर...ब्रह्मानन्द अवधूत तेरा नागर...? मेरे आश्रम में खड़ी होकर इतनी बड़ी बात ? ठहर री पापन, मैं आज तेरे वक्ष का रक्त पीकर रहूँगा।" कहते हुए वह घर के कोने की तरफ भागा गया, उधर ही, जिधर साँप का पिटारा था।

चीता बाबाजी की तो जान ही सूख गयी थी। इन दोनो साधक-साधिकाओं का परस्पर सम्बन्ध और सम्बोधन आश्चर्यपूर्ण ही नही, भयास्पद भी था। स्त्री-वक्ष का रक्तपात...इससे आगे अब क्या देखने को रहा ? भाड़ मे जाये ऐसी तीर्थ-यात्रा। ऐसी यात्रा की साध और मनुष्य को कई रूपो में देखने की आकांक्षा अब और नही। मैंने जी को किसी तरह कड़ा किया और दरवाजे की ओर दृष्टि घुमा ली। मैं इतनी आसानी से किसी का नागर बनकर अपने प्राण नहीं

गँवा सकता।

ब्रह्मानन्द अवधूत अन्धकार में डूबे कोने को टटोलते हुए एक त्रिशूल निकाल लाया। मेरा कलेजा धक्-से रह गया। त्रिशूल को जोगा की तरफ़ उठाकर वह चीत्कार कर उठा, "आज या तो तू रहेगी या मैं! आश्रम में खड़ी होकर छिनाल नागर-नागरी का तमाशा दिखा रही है।"

मदोन्मत्त पागल भैरव हाथ में त्रिशूल उठाये खड़ा था। भैरवी के सीने में वह अब खुबे कि तब। लेकिन जिसकी ओर यह क्रूर लक्ष्य था, वह जोगा सहज भाव से खड़ी थी—निरुद्विग्न, अटल। उसने इतना ही कहा, "इस्स! आप तो एकदम शिवजी महाराज से दीख रहे हो, दक्षयज्ञ करना है? मारोगे क्यों नहीं भला? तभी तो बड़े भारी साधक कहलाओगे। जो अन्धाधुन्ध शराब पी सकता है, गाँजा चढा सकता है, दर्जनों भैरवी लेकर साधन-भजन कर सकता है...वह तो शिवजी से भी बढ़कर है! खड़े क्यों हो...मार डालो, पी लो मेरा खून।"

सर्वनाश! जोगा तो उसी तरह सीना ताने खड़ी रही। उसका आँचल तक नहीं ढलका। उसके धनुप की तरह भिंचे होंठों और दहकती आँखों को देखकर मैं भयभीत हो उठा। दूसरे ही क्षण ब्रह्मानन्द ने अपना त्रिशूल ऊपर उठा लिया और दहाड़ उठा, "सावधान, मैं कह रहा हूँ...जुबान को लगाम दे। मेरी आँखों से दूर हो छिनाल...कुलटा...रण्डी कही की!"

"तुम कैसे अवधूत हो भला...हुँह? नागरी कहने से मना करते हो? और अब आश्रम मे खड़े होकर कुलटा-रण्डी भी उचार रहे हो? पाप नहीं लगेगा तुम्हें? बड़े धरमी बनते हो?" जोगा का स्वर क्रमश. धीमा लेकिन तीखा होता गया।

"रण्डी को रण्डी कहने से कोई पाप नही लगता! तू कुलटा है, छिनाल है...समझी?"

मैं इस गाली-गलौज को झेल नही पा रहा था। इससे तो अच्छा होता, मारकाट ही हो जाती। अन्यमनस्क होकर मैंने इतना ही कहा, "अच्छा, मैं चलता हूँ।"

लेकिन पाँव आगे बढ़ाया ही था कि जोगा ने मेरा हाथ पकड़ लिया। उसकी दृष्टि अब भी ब्रह्मानन्द पर टिकी थी। वह कोंचती हुई बोली, "और इसमें तुम्हारा सम्मान जानेवाली कौन-सी बात हो गयी अवधूत? तुमने ही तो कहा था कि रण्डी-छिनाल भैरवी के द्वारा ही अच्छी साधना होती है। फिर इतना गुस्सा क्यों?"

"चोप...हरामजादी! जा, दूर हो मेरी नजरों से! चल भाग इस आश्रम से..."

त्रिशूल अब भी हवा में लहरा रहा था। वक्ष विदीर्ण कर रक्तपान का

दृश्य भी नहीं घटित हुआ। जोगा ने शब्दों को चबाते-चबाते ही कहा, "क्यों? नयी भैरवी को बिठाओगे यहाँ?"

"हाँ...तू निकल तो पहले। चल भाग, कुतिया..."

"तू भी खड़ा रह मसानी कुत्ते...तेरी सारी गर्मी झाड़ती हूँ मैं...ठहर।" कहकर जोगा ने मेरा हाथ छोड़ दिया। मुझसे बोली, "बाबाजी! डरना नहीं। ज़रा मैं भी तो देखूँ, यह कितना बड़ा अवधूत है! इसकी मौत खींच लायी है इसे। मैं दिखाती हूँ इसे, इस पाखण्डी शिव को।"

वह दौड़कर गयी और कमरे के एक कोने से एक लम्बा भाला उठा लायी। उसके फल पर जंग तो थी लेकिन यदि वह किसी की देह मे घुस जाय तो फाड़कर रख दे। दूसरे ही क्षण उसने भाले की नोंक को एकदम अवधूत के सीने से टिका दिया।

इधर अवधूत का त्रिशूल नीचे उतर आया। सशंकित होते हुए भी वह रोष भरे स्वर मे चीख उठा, "मैं कह रहा हूँ, खबरदार! हथियार है...यह बच्चे का खेल नहीं।"

"हाँ, तुमने तो बच्चे का खेल ही समझा था," जोगा का स्वर तनिक धीमा तो पड़ा लेकिन मुख-मुद्रा अब भी भयंकर थी। दृष्टि मे खून उतर आया था। कैसी विपदा में फँसा था मैं? हत्या देखना बदा था।

जोगा ने झिंझोड़ते हुए कहा, "तू त्रिशूल उठाये मेरा खून पीना चाहता था न? और मैं हथियार लिये बच्चों का खेल खेल रही हूँ? मैं आज तुम्हारा खून पीऊँगी...पाखण्डी!"

अवधूत एक बार फिर चिल्ला उठा, "मैं कह रहा हूँ...सावधान! ज़रा-सा झटका दिया नहीं कि यह घुस जायेगा।"

"घुसाने के लिए ही तो लिये खड़ी हूँ। ठग...प्रवञ्चक...मूर्ख! तुम समझते हो कि मुझे पता नहीं कि तुम्हारी किस चमारन ने यह ख़बर तुम तक पहुँचायी है कि इस घर मे कौन आया है! तभी तुम घर अगोरने आये हो...है न?"

"अँ...देखो...सुनो...सुनो भैरवी," ब्रह्मानन्द का स्वर ढीला पड गया। वहाँ क्रोध भी न था, निवेदन था। सीने से लगे भाले के फल को उसने एक हाथ से पकड़ रखा था। नरम होकर बोला, "मौत से मत खेल री! चल, हटा ले इसे!"

"क्यों, हटाऊँगी क्यों? मैं तो ठहरी कुलटा...कुतिया और रण्डी। तूने मुझे मारने के लिए ही तो त्रिशूल उठाया था! एलाकाटा के घर में दो रातों से किसे साधन-भजन सिखा रहे थे? कहाँ गया तुम्हारा वह तेज? ज़रा मैं भी तो देखूँ!"

त्रिशूल तो पहले ही झुक गया था। अगर अवधूत में कोई तेज हो भी तो

वह गुप्त ही था। उसके प्रकट होने का कोई लक्षण नही दीख पड़ा मुझे। पगला बाबा अब एकदम भोलानाथ बने थे। वह देख रहा था, जोगा भैरवी को, जो हाथ में भाला उठाये खडी थी। गेरुए रंग की साड़ी का लाल आँचल एक ओर लहरा रहा था। पीछे खुले केश। वह क्रोध से फुफकार रही थी। आँखें आरक्त और दिपता हुआ चेहरा।

मुझे महिषासुर के सीने पर भाला गड़ाये दुर्गा-प्रतिमा का स्मरण हो आया। जोगा के चेहरे पर पड़े दाग ? हो सकता है, पाँच-सात साल पहले उसका चेहरा बहुत ही सुन्दर रहा हो। अभी वैसा नहीं। मेरा आशय नारी-सौन्दर्य और उसके रूप-लावण्य से है। लेकिन जोगा का रूप देखकर जान पड़ा कि सौन्दर्य केवल वही नहीं विराजता, वह अन्तर्मन में, शक्ति मे, भक्ति में, ज्ञान और तेज में भी विराजता है। जोगा की दर्प भरी मुख-मुद्रा में वही सौन्दर्य विद्यमान था।

चूँकि मैं अनावश्यक रूप से सम्बद्ध था, इसलिए समझ नही पा रहा था कि कुछ कहूँ कि न कहूँ। लेकिन अपनी आश्रयदात्री के हाथ में अस्त्र देखकर अब निर्भय और आश्वस्त भी हो चला था। तो मैंने सहमते हुए कहा, "भाला हटा लीजिये, मुझे बड़ा भय लग रहा है।"

ब्रह्मानन्द अब भी अपनी कुटिल, सन्दिग्ध और तीखी निगाहों से घूर रहा था मुझे।

जोगा ने मेरी बात का कोई उत्तर न दिया और अवधूत से बोली, "घर में कोई आदमी नहीं, जाना-अनजाना नही...तुम जिस-तिसके आगे मुझे अपमानित करोगे ? क्यों करोगे ? इस घर मे कोई आया है—यही सुनकर दौड़े चले आये ? कही मुट्ठी की चीज फिसलकर चली न जाये ! जिसके साथ गुलछर्रे उड़ा रहे थे वहीं क्यों नही पड़े रहे ? यहाँ क्यों मरने आये ? बडे भारी ब्रह्मानन्द ब्रह्मचारी बने फिरते हो ? कही डूब मरो...वर्ना मैं तुम्हार मुँह झुलस दूँगी।"

अवधूत ध्यान में डूबा था। आँखें जोगा की तरफ ठहर गयी थी। अब वहाँ आग न थी, राख थी। या फिर जोगा के चण्डरूप-दर्शन से वह ढेर हो गया था।

मैंने यह कभी नही सोचा था कि इस दृश्य-विधान की यह परिणति होगी। पता नहीं, कौन था वह जो मुझे इन रास्तों पर भटकाता रहा है और मेरी दिशा निर्धारित करता चल रहा है।

मेरे मन का भय दूर हो चला था। वहाँ कोई तरंग सी उठ रही थी अब। जोगा ने भाला खींच लिया। अवधूत अपने सीने पर हाथ रखे, सिर झुकाये खड़ा था। जहाँ भाले की नोक टिकी थी, वहाँ उसने दो-चार बार अपनी उँगलियों से सहलाया। उसका चेहरा कठोर हो आया। भाले की नोंक खुबी न भी हो, लेकिन थोड़ी-बहुत पीड़ा तो हुई ही होगी। जोगा ने भाले को सीने पर केवल टिकाया

ही नहीं था, उससे एकाध बार कोंचने में कोई कोर-कसर उठा न रखी थी।

अवधूत ने एक बार मेरी ओर देखा और फिर त्रिशूल को एक ओर फेंकते हुए बोला, "ठीक है। मैं चला। मैं तेरा मुँह नही देखना चाहता।"

जोगा ने भाले को जमीन पर टिका रखा था। आश्वस्त होती हुई बोली, "इससे बढ़कर खुशी की और क्या बात होगी भला? तुम्हारे-जैसे पापी अवधूत के साथ मैं रह भी नहीं सकती। मेरा क्या है? जिस तरह आयी थी, उसी तरह चली भी जाऊँगी। लेकिन मैं तेरे पापाचार और पाखण्डीपने पर थूकती हूँ मुए...थू..."

मैं जोगा के प्रतिवाद, उसकी कटूक्ति को देख-सुनकर विस्मित था। इसकी तुलना नही हो सकती। अवधूत ने खीजकर कहा, "लेकिन याद रख, आश्रम मे तूने कोई अनाचार किया तो तू महापातकी होगी, समझी? तेरे शरीर में कोड़े पड़ेंगे।"

वह दरवाज़े की ओर मुडा। जोगा भी छूटते बोली, "अरे जा...जा। मच्छर की फूंक से पहाड़ नही गिरा करते। अगर तू इधर-उधर से पाँच-दस भैरवी जुटाकर साधना-भजन का ढोंग रचा सकता है तो मैं क्यो नहीं? और मैं वैसा ही करूँगी, समझे?"

बहादुरी से पीछे हटते हुए अवधूत के गले से एक हुंकार-सी निकली। वह दरवाज़ की ओर तेजी से भागा। तभी 'जयगुरु...जयगुरु' का स्वर सुन पड़ा, "तुम आ गये ब्रह्मानन्द दादा! मैंने तो आते ही तुम्हारी खोज की थी।" गोपीदास बाहर खड़े थे।

"अरे तुम! तुम कब आये?" अवधूत का स्वर सुन पड़ा।

"अभी कुछ देर पहले। मेरे साथ एक बाबाजी भी हैं, बड़ा प्यारा लड़का है। वक्रेश्वर के दर्शन को आया है। तभी मैने सोचा कि तुम सबों के भी दर्शन करता चलूँ और वही थोड़ा चावल भी उबाल लूंगा। यहाँ पहुँचा तो तुम्हारा पता ही नही। आओ।...चले कहाँ?"

अवधूत ने फिर गरजकर कहा, "नही। अब यह वह आश्रम नही। अब वह मुझे भाले से मारने दौडती है!"

"कौन? कौन मारती है भला?"

"और कौन? वहाँ अब है कौन? वही पापिनी...राक्षसी...छिनाल..."

"आह छी-छी-छी, अवधूत दादा," गोपीदास का स्वर जैसे पिघल गया, "क्या कह रहे हो? जोगा दीदी को गाली दे रहे हो?"

मेरे साथ-साथ जोगा भी उनकी बातचीत को चुपचाप सुन रही थी। पता नहीं, क्या सुना कि फिर हाथ में भाला लिये ही कमरे से बाहर निकल आयी, "भाले से गोदकर मारना चाहती थी, बुरा क्या था इसमें? मार नही डाला, इसे

अपने इष्ट की कृपा समझो। अब भागोगे भी कि खड़े-खड़े मेरा मुंह ख़राब करवाते रहोगे ?"

"देखा तो !" अवधूत ने सफ़ाई दी, "मैं झूठ कह रहा था ? ज़रा इसकी बोली तो सुनो पहले !"

"हां हां, सुन ले," जोगा उद्यत थी, "और आगे भी सुनेगा। तू मुझे रण्डी-कुलटा तो बोल ? ज़रा फिर से तो बोल ! देख मैं तेरी क्या गत करती हूं !"

"जयगुरु...जयगुरु !" गोपीदास ने उसे रोकना चाहा, "ऐसी बातें भैरवी को शोभा नहीं देतीं। छी...छी...छी ! आओ। आओ अवधूत दादा ! अब गुस्सा-वुस्सा छोड़ो। अन्दर चलकर बैठो। थोड़ा बहुत खा-पीकर सुख-दुख की बातें करेंगे।"

अवधूत ने बिदककर हांक लगायी, "नहीं। अब कभी नहीं। उसके साथ तो कभी नहीं। मैं अगर बाबा की दया से अपने धरम का पालन ठीक-ठीक कर रहा हूं तो मेरा साधन-भजन इसके बिना रुकेगा नहीं !"

"हां...वह भला कैसे रुकेगा ?" जोगा ने फिर व्यंग्य बुझे स्वर में कहा, "ऐसे भोलानाथ के पांव पर मेरी तरह पता नहीं कितनी भैरवियां लोटती फिरेंगी ! मेरे बिना तुम्हारा साधन-भजन क्यों अटकेगा भला ?"

"चुप भी रहो जोगा दीदी," गोपीदास ने इस प्रसंग को यहीं रोकना चाहा, "आओ दादा, अन्दर चलो !"

लेकिन वहां तो वही ब्रह्मवाक्य था, "नहीं...नहीं जाऊंगा। हां तुम चाहो तो वहां चलकर मेरे साथ रह सकते हो। यहां नहीं। चलो मेरे साथ ! तुम्हारे साथ कौन है, उसको भी बुला लो।"

सर्वनाश ! मैं ब्रह्मानन्द अवधूत के आतिथ्य भाव पर मुग्ध हो उठा। तभी गोपीदास ने कहा, "तुम्हारे घर ही तो आया था। अब किसी दूसरे के घर जाते अच्छा नहीं लगेगा। तुम, जोगा दीदी, चीना बावाजी—सब मिल बैठेंगे तो बड़ा आनन्द आयेगा। देखो, मैं चावल लिये आया हूं। ठकुरानी अभी-अभी पका-येगी।..."

"नहीं। यहां नहीं," अवधूत अपनी जिद पर अड़ा था, "चावल वगैरह लेकर एलाकाटा के ही घर चलो। वहीं खाना पकेगा।"

"वहां पकानेवाली भी बैठी है," जोगा ने फिर मीठी चुटकी ली, "वहीं क्यों नहीं जाते गोपी दादा ? वहां अपने अवधूत दादा की नयी-नयी भैरवी के हाथों का बना प्रसाद ग्रहण करना। मेरे हाथों का जला-पका तो कई बार पा चुके। अबकी नये हाथों से..."

"अब नये का कोई चाव नहीं जोगा दीदी," गोपीदास मुसकराये, "जो कुछ पाना है, वह पुराने हाथों से रख जाऊं, यही चाह है। और मैं तो यही कह रहा

कहां पाऊं उसे

था अवधूत दादा, कि अगर वहाँ भी कोई हो तो उसे भी बुला लाओ। मैंने ठीक कहा न ठकुरानी?"

जोगा ने कहा, "यह तो मैं उसी दिन से कह रही हूँ कि इसी आश्रम में रहो ...उसे भी ले आओ। लेकिन यहाँ कैसे रहेगा भला? साधन-भजन जो होगा! आँखों में हया भी तो हो?"

"अच्छा तो मैं चला," अवधूत ने अपना निर्णय सुनाया, "लेकिन इस औरत को बता देना कि मेरे आश्रम में कोई पापाचार न हो...।"

जोगा का स्वर फिर तीखा हो गया, "अरे जा-जा, तेरे-जैसा ब्रह्मचारी मैं ढेर देख चुकी।"

"ठीक है। मैं तेरा विपदन्त..." अवधूत का स्वर डूब गया कहीं। जोगा ने पुकारा, "आओ गोपीदादा, अब और देर न करो," और कमरे के अन्दर चली गयी। मुझे देखकर एक बार मुसकरायी भी। लेकिन होठों पर इस मुसकान के बावजूद उसकी क्रोधाग्नि नहीं बुझी थी। आँखें अब भी दहक रही थीं। चेहरा कठोर, तमतमाया हुआ। मुझे कोई विषाद की छाया भी दीख पड़ी वहाँ। बरामदे से त्रिशूल-भाला उठाकर एक कोने में रखते हुए उसने पूछा, "क्यों चीता बाबाजी? सारी सुध-बुध हिरा गयी थी न? ऐसा तमाशा पहले कहीं देखने को मिला था?"

"नहीं।" मैंने उसकी आरक्त आँखों की ओर देखते हुए कहा। जोगा भैरवी अब तनिक शान्त थी। मेरा भय भी दूर हो चला था। मेरी बात सुनकर वह मुसकरायी और अपने सीने का आँचल सहेज लिया। दूसरे ही क्षण वह मसान की जोगन से गृहवधू हो उठी।

गोपीदास भी इस बीच घर आ चुके थे। जोगा ने उन्हें बताया, "लो, अपने चीता बाबाजी को सँभालो गोपी दादा! बेचारा न जाने कितनी देर से भूत-प्रेतनी की लड़ाई देख रहा था। एक बार तो भाग जाने के लिए भी बाहर लपका। मैंने ही पकड़ रखा।"

गोपीदास इस बारे में बहुत उत्साही न थे। वह नीचे झुककर चावल की पोटली और तेल की शीशी निकाल रहे थे। मेरे लिए यह नया प्रसंग था। हो सकता है, उनके लिए यह किसी पुरानी घटना की ही पुनरावृत्ति हो। उन्होंने घड़ी भर बाद कहा, "बाबाजी भागनेवाले प्राणी नहीं। कमरे से बाहर निकलकर बैठना चाहा होगा कहीं। मैं इसे अच्छी तरह जानता हूँ ठकुरानी। यह कहीं भी, कैसी भी स्थिति में टिका रह सकता है।"

गोपीदास ने मुझे फिर संकोच में डाल दिया। तभी जोगा ने टिप्पणी की, "अरे बाबा...चीता बाबाजी के लिए तो तुम्हारा मन विभोर हो उठा है!"

"क्यों नहीं? यही तो बता रहा था मैं, और हजार बार कहूँगा। देखो न,

इतनी बड़ी घटना घट गयी, न जाने क्या कुछ हो गया ! फिर भी, कैसी मोहनी सूरत है हमारे बाबाजी की !"

जोगा ने यह भी मुड़कर देख लिया। पानी-पानी हो गया मैं। कैसी घड़ी थी यह ! बात बदलते हुए मैंने पूछा, "वहाँ वह साँप क्यों है भला ?"

"अवधूत का वाहन है वह।" जोगा ने पिटारे की ओर देखते हुए बताया। वह उसके पास जाकर बैठ गयी। फिर अपना मुँह उसके ढक्कन के पास ले गयी। बालों का एक हिस्सा उस पर बिखर गया। बड़े स्नेह से चुमकारते हुई बोली, मानो किसी रूठे शिशु को मना रही हो, "ओ रे मेरे सोना रे...मानिक रे...बाबू को कई दिनों से कुछ खिला नहीं पायी...ओह रे। मैंने घर मे और बाड़ी मे दो-दो मुसकल रख छोड़ा है। अब क्या बताऊँ कि चूहे भी कितने चालाक हो गये हैं ! एक भी नहीं पकड़ा गया। ओह रे...!"

इस दृश्य को मैं अवाक् साश्चर्य देख रहा था। उस बहुत बड़े साँप का मुँह दो इंच के फाँक से निकल तो नहीं सकता था लेकिन उसकी लपलपाती महीन और लम्बी जीभ बाहर निकली और वह जोगा के गाल एवं बालों को चाटती रही। मुझे वह किसी साँप की आँख की तरह नहीं लगी, जो पिटारी के अन्दर से चमक रही थी बल्कि ऐसा लगा कि कोई स्नेहातुर शिशु अपनी अपलक दृष्टि से निहार रहा है। मेरा सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा था। जोगा ने एक बार मेरी ओर देखते हुए, दादा गोपीदास को हँसते हुए बताया, "शीतकाल है इसलिए भूख-प्यास नहीं सताती। गर्मी मे तो मेरे बच्चे की जान ही सूख जाती है। मदना डोम को भी कह रखा है कि बीच-बीच मे चूहा या चिड़िया जो भी मिले, पहुँचा दे। लेकिन तीन दिनों से उसका भी पता नहीं।"

"उसको तो आज ही घाट पर देखा था," गोपीदास ने बताया, "नहा रहा था। वैसे खूब पी रखी थी उसने। अपनी बहू के साथ भी, घाट पार पीता रहा होगा।"

जोगा बोल उठी, "इस मसान के साधक हों या डोम—सभी एक ही गोत्र के हैं। एक ही थैले के चट्टे-बट्टे। उनमें कोई अन्तर नहीं।" उसने एक बार फिर पिटारे की ओर हाथ बढ़ाया और सर्प फन को प्यार से दुलराते हुए कहा, "कुछ मिलते ही तुम्हें दूँगी, भई। अब जरा कुण्डली मारकर तो बैठ जाओ। मैं चलूँ ...हाँ।"

इसके साथ ही उसने चावल की पोटली और तेल की शीशी उठा ली। पिछवाड़े के दरवाजे से बाहर निकलते हुए उसने एक बार फिर मुझे देखा और ठिठक गयी।

"बड़ी घिन लग रही है बाबाजी ?...है न ?" उसने पूछा।

उसका यह प्रश्न सुनकर मैं चौंक गया। मेरे मन मे तो ऐसी कोई बात नहीं

आयी। मैं तो इन विस्मयकारी घटनाओं को देखकर ही चमत्कृत था। मैंने उत्तर दिया, "नहीं तो...क्यों ?"

"हो ही नहीं सकती है ?" जोगा खुद तर्क जुटाती रही, "अब सबको तो सब चीजें अच्छी नहीं लगती। वैसे मैं हाथ-मुँह धो लूँगी, चिन्ता न करना।"

वह बाहर चली गयी।

उसने झूठ तो नहीं कहा था। मेरी देह में जो सिहरन-सी जगी थी थोड़ी देर पहले, वह केवल भय के कारण ही नहीं। घृणा न भी हो लेकिन मन में पड़े संस्कार अवश्य ही कुलबुला उठते हैं। शायद खाना खाने के समय यह बात फिर सिर उठाती !

गोपीदास ने कहा, "आओ बैठो, बाबाजी। भात पकने में देर तो लगेगी, तबतक थोड़ा विश्राम कर लो।" फिर जोगा से पूछने लगे, "माँ...तू भूल तो नहीं गयी ? मेरी सप्तमी कहाँ गयी ?"

जोगा बाहर से अन्दर आयी तो उसके हाथ में गाँजे की छोटी-सी पुड़िया थी। गोपीदास ने फिर पूछा, "बाकी सारी चीजें हैं न ?"

"हाँ...हाँ सब है," जोगा ने बताया। इन कुछेक क्षणों में ही जोगा का रूप-रंग बदल चुका था। पर आँखें अब भी लाल थीं। शायद उनका रंग ही वैसा हो। चेहरे पर सहजता के साथ अन्यमनस्कता भी खेल रही थी। विषाद की हल्की-सी छाया भी विराज रही थी वहाँ। वह फिर घर के पिछवाड़ेवाले बरामदे की ओर चली गयी।

गोपीदास ने चिलम चढ़ाने का सारा माल-मसाला झोली से निकाला और झूम-झूमकर कोई पद-पंक्ति दोहराते रहे।

थोड़ी देर बाद मैंने पूछा, "मैं जरा बगान की ओर से घूम आऊँ ?"

"हाँ...हाँ...क्यों नहीं," गोपीदास ने हामी भरी, "जहाँ जी चाहे...कोई कुछ नहीं कहेगा।"

मैंने पिछले दरवाजे से बाहर बरामदे की तरफ कदम रखा। बायीं तरफ चूल्हे में लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े पिड़-पिड़ करते हुए धुधुआ रहे थे। आग भी सुलग रही थी। हाँडी चढ़ चुकी थी। चूल्हे के पास ही, जोगा पाँव फैलाये बैठी थी, सूप में चावल लिये। दिपते हुए वक्ष का आँचल ढल गया था। वह इस एकान्त अवकाश का उपभोग कर रही थी। लेकिन मुझे देखते ही, उसकी एकाग्रता भंग हो गयी। मैंने देखा, उसकी पलकों पर दो मोती चमक रहे थे। उसने तत्क्षण अपना चेहरा चूल्हे की तरफ़ घुमा लिया और लकड़ियाँ उकसाने लगी। मैं क्षणभर को ठिठका और फिर पिछवाड़े की ओर जाने लगा। मैं इस बात पर भी आश्चर्य कर रहा था—जिसमें इतना दर्प और ओज है, जो किसी दुर्गा की तरह भाला उठाये किसी पुरुष के सीने पर सवार हो जाती है, उसकी आँखों

की कोर पर मोती क्यों झिलमिला रहे हैं ? इस दुनिया से अलग, मशान का एकान्त छोर हो, या फिर चाहे गृहिणी हो या भैरवी, संसारी हो या संन्यासिनी—हर किसी के अन्तर में वही मनःप्राण विराजता है। हर जगह वही एक स्वर बजता है, भले वह कितना ही भिन्न क्यों न प्रतीत हो।

मैं नहीं जानता, जोगा की आँखें क्यों झिलमिला रही थीं। अब किसी रण-चण्डी का रूप नहीं था वहाँ। पीड़ा भी अब शान्ति बन चुकी थी और निःशब्द गूँज रही थी—सबकी मंगलकामना के साथ !

"चौता बाबाजी !" मुझे सुन पड़ा, "घूमने ही जा रहे हो न ! ठीक है। दो-चार सूखी लकड़ियाँ नहीं चुन लाओगे ?" जोगा मेरी ओर देखकर मुसकरायी। उसके चेहरे पर कोई तरल आभा विद्यमान थी।

"हाँ...ला दूँगा।"

"तो फिर ला दो। लेकिन गीली न हों, देखना। वरना मेरी आँखों को चुभेंगी।" और फिर मुसकराती रही।

मैं पिछवाड़े से बाहर निकलकर सूखी लकड़ी बीनने के लिए चक्कर काटता रहा। कहीं कोई तिनका तक न मिला। साफ़-सुथरी-सी जगह थी। मुझे चक्कर काटते देख जोगा ने दूर से ही आवाज दी—"अरे मैंने तुम्हें लकड़ी बीनने को तो नहीं कहा।" और फिर ततर की मचान की ओर उँगली दिखाते हुए बोली, "वहीं तो थाक कर रखी हैं, वहीं से उठा लाओ !"

लेकिन पहले तो उसने बीनने के लिए ही कहा था, कहीं से उठा लाने नहीं। ख़ैर। मैंने लकड़ियों के ढेर से कोई टुकड़ा खींचना चाहा ही था कि पता नहीं ऊपर मचान से कौन-सी चीज आ गिरी, मेरे हाथ के पास...छप्प से। फिर हाथ के ऊपर से उछलकर गायब-हो गयी। हाथ को झटकते हुए मैं पीछे हट आया लेकिन मेरी देह अबतक झनझना रही थी जैसे।

"क्या हुआ बाबाजी...क्या है ?" जोगा ने चिन्तित स्वर में पूछा।

"छिपकली।" मैंने बताया।

"छिपकल्ली ?" कहते हुए जोगा ने अपने आँचल का एक कोना मुँह से दबा लिया। इसी बीच गोपीदास का भी गम्भीर स्वर सुन पड़ा, "क्या हुआ बाबाजी ?"

"जरा बाहर आकर तो देखो, तुम्हारे बाबाजी किस दुरगत में पड़े हैं," जोगा ने आवाज दी। "तुम तो वहाँ दम लगाये जम गये हो। बाहर कैसे आओगे ? छिपकल्ली है, छिपकल्ली...। बाबाजी के हाथ पर गिरी है।"

"अच्छा," गोरीदास का स्वर आश्वस्त हो चला। मैं कुछ सुन न पाया कि आगे उन्होंने क्या-कुछ कहा। वह मोक्ष ही नहीं, प्रेम का सौदा खींचे बैठे होंगे। संन्यासियों की सम्पत्ति। मैंने हठात् अपने को संभालकर सूखी लकड़ियाँ उठा ली थीं।

"किस हाथ पर गिरी थी लकड़ी?" जोगा ने पूछा।

"दाहिने।" मैंने बता दिया।

"फिर तो ठीक है!"

"और अगर बायें हाथ पर गिरती तो?"

"वह लड़कियों के लिए अच्छा होता है।"

मैंने सूखी लकड़ियों का बण्डल जोगा के सामने रखते हुए पूछा, "क्या अच्छा होता है?"

"यह तो नहीं जानती। लेकिन बताते हैं कि अच्छा ही होता है। तभी तो कह रही थी।"

"क्यों? आप तो भैरवी हैं," मैंने पूछा, "आप नहीं जानतीं?"

जोगा ने अपनी गर्दन घुमाकर कुछ इस तरह देखा कि मैं सहम गया। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की तिरछी दृष्टि मुझे बींध गयी। मैं नहीं जानता, क्या कह रही थीं उसकी आँखें, क्या पूछ रही थीं? मैं इस अपराधभाव से पीड़ित था कि मैंने कहीं कोई प्रमाद तो नहीं किया? उसने दीवार के पास तह की हुई एक टाट की आसनी निकाली और पास में बिछाते हुए कहा, "बैठो!"

जोगा ने मूंग का चावल हाँड़ी में डाला और ढक्कन रखकर चूल्हे की आंच उकसाने लगी।

"क्या हुआ, बैठे नहीं अबतक?" अपने आँचल से मुंह पोंछते हुए उसने टोका।

मेरा मन अब भी उद्विग्न था। कहीं कुछ ऐसा था, जो बेसुरा-सा लग रहा था। मैं कुछ समझ न पाया। मैं जोगा के पास बैठ गया, सहमा-सहमा हो। जोगा कोई बिन्दु तो थी नहीं। और मुझसे जाने-अनजाने कोई अपराध हो गया हो तो हाथ जोड़कर माफी माँगने को भी तैयार था। इसीलिए मैंने साहस जुटाकर पूछ लिया, "आप मुझसे नाराज तो नहीं?"

"हाँ।" सीधी बात और सरल उत्तर। जोगा के चेहरे पर पहले-जैसा भाव न था, न सन्देह, न तीखापन। आँखों में एक साथ कई रंग खेल गये। उनमें से एक रंग इस प्रश्न में ढल गया, "भैरवी होने पर सब कुछ जानना होता है?"

अब समझ में आया कि किस बात पर नाराजगी थी। मैंने न तो कुछ गलत कहा था और न कोई मजाक ही किया था। श्मशानवासिनी भैरवी यह जानती

है कि छिपकली के दायें-बायें गिरने का क्या मतलब है ? जिसका संसार अलग है, साधन चर्या अलग है यह कितना कुछ जानती होगी, यही सोचते हुए मैंने जल्दी से बताना चाहा, "मैंने कुछ अन्यथा नहीं कहा, विश्वास कीजिए। मैंने तो यही कहा कि आप कोई साधारण स्त्री तो हैं नहीं, आप अवश्य जानती होंगी।"

जोगा के होठों पर हलकी-सी मुसकान खेल गयी। वैसे आँखों में अब भी कोई आग दहक रही थी। बोली, "क्या कह रहे हो भला ? कौन-सी असाधारण चीज मुझमें दीख गयी तुम्हें ?"

मैं उसके हृष्ट-पुष्ट देह-सौष्ठव को देख रहा था। रह-रहकर वह बल खा जाती। लाल किनारी की गेरुआ साड़ी के अन्दर भी उसका फड़कता अंग-प्रत्यंग अंगार की तरह लपक उठता ! दिपते वक्षोजों के बीच रुद्राक्ष की माला नागिन की तरह बार-बार हिल उठती, और मेरी दृष्टि भी वहाँ जाकर टिक जाती। मैंने कहा, "संसार में जिन्हें देखा-जाना है, उनसे आप सर्वथा अलग हैं, मेरा मन यही कहता है।"

"क्यों ?" आँचल के नीचे से रुद्राक्ष की माला को निकालते हुए वह बोली, "इसके लिए ?" उसने कुछ इस तरह दिखाया मानो इसी क्षण उसे निकालकर फेंक देगी।

मैंने कहा, "न तो इसके लिए ही और न वेश-भूषा के लिए। बल्कि सब-कुछ...!"

"इस मसान घाट पर रहती हूँ इसीलिए न ?"

केवल इसीलिए नहीं। वेश-भूषा, वास-स्थान, जीवनयापन की शैली, आचार-आचरण यह सबकुछ तो था ही, और इससे भी बढ़कर यह कि वह किसी अवधूत की भैरवी थी। वह दूसरी स्त्रियों की तरह हो भी कैसे सकती थी ? जिसके जीवन का सारा कुछ साधन-भजन ही है, जिस कारण वह सारे संसार से पिण्ड छुड़ाकर इस महाश्मशान की शरण में आयी है और जिसकी कुटिया की शोभा नर-मुण्ड और नरकंकाल हैं, धरती में गड़ा त्रिशूल और पिटारे में पड़ा अजगर है।

मैंने कहा, "आप भैरवी हैं, साधिका हैं।"

"जाने भी दो, ऐसा न कहो," उसने मेरी बात को पूरा नहीं होने दिया। अपने सिर पर आँचल का छोटा-सा घूँघट निकालकर पूछने लगी, "देखो तो सही ? क्या मैं तुम्हें वैसी लगती हूँ ?"

मैंने देखा, जोगा की सारी धार, सारा पैनापन और तेवर बुझ गया था, इन कुछ ही पलों में। भाद्रपद के तपते मध्याह्न में एकाएक कोई बदली-सी छा जाये, उसकी रक्ताभ आँखों में भी कुछ वैसी ही [illegible] कि रही थी। नीले आकाश से जैसे किसी झील का [illegible] जाता है [illegible] ोंठों पर हल्की-

सी-मुसकान के कारण उसकी विषाद-मुद्रा प्रसन्नता में बदली हुई लगी। उसने गम्भीर स्वर में कहा, "तुमने कौन-सा अन्तर पाया, बाबाजी? दुनिया में जैसी माँ, बहिन या बेटी होती हैं, उनसे क्या कुछ अलग देख लिया? बताओ। किसी की घरणी हूँ, अपना संसार चला रही हूँ, उसके अनुसार चल रही हूँ...बस। और तो कुछ नही जानती..."

कहते-कहते जोगा का रंग फिर बदल गया। लाल पखुरियों की तरह बड़ी-बडी आँखें जैसे हिमकणों से भीग उठी थीं। वह कहती रही, "वह जहाँ ले जायेगा, वही जाऊँगी। जिस तरह रखेगा उसी तरह रहूँगी। वह जिस दिन भैरवी बन जाने को कहेगा तो भैरवी बन जाऊँगी, योगिनी बनाकर रखना चाहेगा तो योगिनी बन जाऊँगी। इसके सिवा मैं कुछ नही जानती, बाबाजी।"

श्वेत हिमकण बड़े-बड़े मोतियों मे ढल चुके थे अब। मैं जो कुछ सुन पा रहा था वह इसी ससार की बातें थी। प्राचीनकाल से ही यह स्वर गूँजता रहा है—एक मन, एक देह, एक प्राण। इससे अधिक और कुछ नहीं। मैं इसके बाद कुछ न कह पाया। मेरे सीने में कोई लावा मचल रहा था, अन्तर मे कोई व्यथा घुमड़ रही थी। लेकिन कुछ पूछ न पाया, विस्मय और कौतूहल से जोगा की ओर तकता रहा, बस। संसार और श्मशान—दोनो जहाँ मिलते हैं, जोगा मुझे वहाँ ले आयी थी। वहाँ—जहाँ स्थान और काल की कोई सीमा नही।

जो संसार में है वही श्मशान मे भी। कैलाश हो या मसान—एक ही मन-प्राण की लीला है। जोगा ने फिर कहा, "तुमने तो देख ही लिया, संसार में जो मार-काट मची है, वही यहाँ जारी है। घर मे जो कुछ भी पड़ा रहता है, वही पकाती हूँ, खिलाती-पिलाती हूँ। बाकी कुछ नही जानती। जिस किसी दिन कोई साधन-भजन हुआ हो गया...बस।"

जोगा और कुछ नही जानती। यही उसकी गृहस्थी है, ससार है। रुलाने पर रोती है, हँसाने पर हँसती है। अपना सारा सुख-दुःख लिये उसी के पीछे-पीछे चल रही है। मरम दौड़े परम के पीछे। अब इसे तुम साधन-भजन कहना चाहो तो कहो।

प्रस्तर-शिला जैसे जल में तैरती है या लकड़ी की प्रीत करके लोहा भी जल में तैरने लगता है, ठीक उसी तरह समर्पण और निवेदन में ही प्रेम व्यक्त होता है। जोगा के वक्तव्य का यही सार है। यही उसका साधन है। यह बात इस संसार की रीत से अलग नहीं जान पड़ी। अन्तर और बाह्य जगत् की सीमान्त पर वही एक बात। लेकिन भैरवी के मुँह से यह बात सुन न पाता तो शायद इसका आशय भी न समझ पाता। इस रूप और उस रूप के बीच भ्रान्ति बनी रहती। अरूप की कोई सीमा नही होती, वह एक ही सुर में बज उठता है। इसे वही अन्तर्मन गुन सकता है, जो उस रस का सन्धानी हो।

जोगा को देख मेरा मन तब उद्विग्न हो उठा था, और अब भाव-विह्वल। जैसे कोई बदली सरक गयी हो और धूप खिल उठी हो। उसने इस नयी-नयी पहचानवाले को यों ही नहीं बताया, यों अकारण ही उसकी आँखें नहीं भीग उठी थीं। ब्रह्मानन्द अवधूत ने भैरवी का हृदय तोड़ा था और इस विश्वासघात के बाद एलाकाटा के घर पड़ा था।

यही तो संसार है। महा-श्मशान, घाट तीर्थ, नगर, बन्दर, ग्राम—हर जगह वही एक लीला। वृन्दावन और गोकुल में भी यही नायक-नायिका क्रीड़ामग्न हैं। जोगा भी उसी वेदना को झेल रही थी। उसकी बातों से ऐसा नहीं लगा कि वह कोई साधिका है, योगिनी है या कि भैरवी है, उसके स्वर में किसी अबला नारी की प्राण-पीड़ा व्यक्त हो रही थी।

उस कपटी भैरव ने भैरवी को कितना रुलाया है लेकिन इसे छिपाने की असफल चेष्टा करते हुए उसने पूछा, "क्या बात है बाबाजी? तुमने कुछ कहा नहीं?"

"आपकी ही बातें सुन-सोच रहा था।"

अचानक जोगा ने अपना हाथ ऊपर उठाया और धमकाती हुई बोली, "तुम मुझे आप-आप कहकर कुछ न कहो...हाँ। मुझे अच्छा नहीं लगता।"

कहीं फिर से, मुझसे कोई अपराध तो नहीं हो गया? मैंने कहा, "ठीक है। नया परिचय था, इसीलिए..."

जोगा की आँखें फिर दहक उठीं। मेरी बात पूरी भी न हो पायी कि टपक पड़ी, "मैं वह सब नहीं जानती। नयी पहचान की घड़ी में तो तुम लोगों के हाथ जुड़े रहते हैं लेकिन उसे पुरानी बनाने में कितनी देर लगती है भला?"

मैंने देखा, यह कहते हुए उसके होंठों पर कोई कुटिल व्यंग्य खेलकर चला गया। नायक पुरुषों का स्वभाव तो ऐसा रहा ही है। वृन्दावन-लीला सम्पन्न होते ही मथुरा-गमन। नवीन परिचय की वेला में मान-भजन और नौका-विहार होता है और प्रेम पुराना पड़ा भी नहीं कि विश्व-दरबार में उपस्थित।

मैंने सहमते हुए पूछा, "वह क्या अब सचमुच नहीं आयेंगे?"

"कौन?" जोगा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए मेरा प्रश्न मुझे ही लौटा दिया।

"मैं अवधूत महाशय के बारे में पूछ रहा हूँ।"

जोगा के अधरों पर बंकिम हँसी खेल गयी। आँखों में दर्प लिये बोली—"जायेगा कहाँ?"

"क्या?"

"जायेगा कहाँ, मैं भी यही पूछ रही हूँ।"

मैंने थूक निगलते हुए उत्तर दिया, "यह मैं कैसे जान सकता हूँ?"

"तुम्हारे मुआ ब्रह्मानन्द को भी यह पता न होगा...हुँह।" कहकर जोगा ने झटके के साथ, अपना मुँह घुमा लिया। फिर हाँडी का ढक्कन उठाकर खौलते जल में करछी डाली और चावल निकाला। भात होने में देर थी शायद। लोटे से थोड़ा सा पानी उसमें डालती हुई बोली, "ऐसा कितनी ही बार देख चुकी। भूत की दौड़ पीपल तक वाली बात सुनी है न तुमने ?"

"हाँ।"

"ठीक वही किस्सा है। पिनक जाने पर कभी-कभी इसी तरह का दौरा पड़ता है उसे। थोड़ा-सा समय बीता कि फिर ठीक। मैं अवधूत को अच्छी तरह पहचानती हूँ।"

यह उसका अनुमान ही था। अवधूत महाशय का सारा तेज तभी बिखर गया था। प्राण जाने का भय किसे नही होता ? कलेजे पर नाचता भाला कोई बच्चों का खेल नही। लेकिन बाद मे वह जिस तरह डाँट-डपटकर चला गया, उससे मुझे तो यही लगा था, अब इस तरफ़ तकेगा भी नही। हाँ, मुँह देखने आ सकता था कि उसके आश्रम मे कोई पापाचार तो नहीं हो रहा।

भैरवी ने आगे कहा, "इसी तरह वह न जाने कितनी बार कितनों को साधन-भजन सिखाने गया, लेकिन फिर जोगमती के पास ही मरने आ जाता है। फिर भी, उसकी आदत नही जाती। तुम्हें पता है, कलेजा जाम हो जाता है!"

"जाम...कलेजा... !" मैं अचानक इस विपयान्तर को समझ नही पाया।

"हाँ, सर्दी-खाँसी से छाती जकड़ नही जाती है भला ?" जोगा मुझे समझाती रही, "तब दौड़ा आयेगा मुआ—पुराने घी की मालिश करवाने। अब की आया तो मजा चखाऊँगी। पूरी जिन्दगी बीत गयी। मैं आज से नही, तब से देख रही हूँ।"

"आप दोनों का विवाह कब हुआ ?" मेरे मुँह से एकाएक निकल पड़ा।

"क्या कहा ? ब्याह ?"

"यही...शादी—ब्याह...माने..."

"ओ माँ !" कहते हुए उसने हाँडी मे करछी डुबा दी और फिर अन्दर चलाती हुई हाँड़ी के मुँह पर टक्-ठक्क् झाड़ती रही। फिर लोटे का पानी हाथ मे उड़काकर उसे आँचल से पोंछती हुई बोली, "तुमने ब्याह जैसा क्या देखा ?"

ठीक तो पूछा था उसने। साधन-भजन मे इस विवाह की कैसी आवश्यकता ? घर-ससार का जब चक्कर ही नही तो वर के साथ सात फेरे लगाने की क्या जरूरत ? फिर भी परस्पर परिचय का कोई प्रसग तो रहा ही होगा। लेकिन जोगामती की असुरसंहारिणी मुद्रा के कारण मैं कुछ पूछने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। मैंने जल्दी से कहा, "नहीं, दरअसल मैं कुछ जानता भी

तो नहीं।"

मेरी विवशता को भाँपकर ही जोगा का सन्देह तनिक कम हुआ। लेकिन आक्रोश अब भी बना हुआ था, "मुए ने ब्याह की बात मानी ही कहाँ? मैं ताँती की बहू और वह ठहरा बाभन!"

मैं आश्चर्य से जोगामती की तरफ़ देख रहा था। ताँतिन और बाभन का मिलाप! मेरी समझ से सर्वथा परे था यह। मेरे मुँह से इतना ही निकला, "ओ...!"

"और क्या? न तो मुझे ही घर बसाने दिया और अपनी भी भरी-पूरी गृहस्थी को लात मारकर चला आया मसान, साधना करने।"

"भरी-पूरी गृहस्थी! क्या कहा?" मैं हैरत में पड़ गया।

"इसमें कौन-सी बात छुपी है? घर में ब्राह्मणी है, बेटी-बेटे हैं। खेत-खलिहान, जमीन-जायदाद, पूजा-पाठ-जजमानी—सबकुछ तो वहीं पड़ा रहा। उन्हें छोड़-छाड़कर वह मुझे इस पाप में घसीट लाया।"

"लिये चला आया!"

"और नहीं तो क्या मैं उसे भगा लायी? पिनक चढ़ने पर यही कुछ होता है," कहती हुई जोगा हाँडी को चूल्हा से उतारने लगी। फिर बरामदे के ऊपर कोने में टँगी एक धुली हुई कड़ाही को अपने आँचल से पोंछकर चूल्हे पर चढ़ाया और उसमें ढेर सारा पानी डाल दिया। इसके बाद पता नहीं, क्या कुछ करती रही। मैं भी उसकी गाथा में कहीं दूर खोया था। जोगा ने अचानक पिछवाड़े की ओर देखते हुए कहा, "लेकिन इसमें केवल उसी मुए का कसूर न था, मेरी भी मति मारी गयी थी। वरना मैं साथ आती ही क्यों?"

जोगा ने अपनी कैफ़ियत जुटाते हुए आगे बताया, "उस समय मैं भी यही कोई चौदह-पन्द्रह साल की थी। लेकिन बाभन की नजर मुझ पर ऐसी गड़ी कि मैं खुद को न सँभाल पायी। उस समय अवधूत की मूर्ति ऐसी जली-भुनी न थी बाबाजी! गोरा रंग, भव्य मूर्ति और दिव्य चेहरे पर कन्दर्प-कान्ति खिली रहती। अब तो वह जली हुई लकड़ी बनकर रह गया है। बाँकुड़ा का नामी शाक्त वंश और अनाप-शनाप श्राद्ध का भोज और बलि-पिण्ड का भोग। घर में धूमावती की नित्य-पूजा, जो उसके घर की गोसाँइन है। पूजा-पाठ और यज्ञ की धूम-सी मची रहती। अब समझ ही सकते हो, घोषाल ठाकुर कैसा आदमी है। यही अपने ब्रह्मानन्द अवधूत। शिव भगवान के छोटे बेटे का क्या नाम है? अरे मोर जिसकी सवारी है...! अब मैं उसका नाम कैसे लूँ भला? तुम समझ गये न?"

"कार्तिक घोषाल?" मैंने यह जानते हुए भी पूछ लेना चाहा।

"हाँ...हाँ वही।"

अच्छा ! तो ब्रह्मानन्द अवधूत का नाम श्रीयुत कार्तिक घोषाल था। जोगा भैरवी का स्वर भी अब तीखा न था। उसने कड़ाही के जल मे डगरे की दाल को डाल दिया और उसे छन्नी से हिलाने लगी। इसके बाद मेरी तरफ़ मुँह किये बैठ गयी। कहने लगी, "क्या बताऊँ ? तब अपनी गली-मोहल्ले में उसकी छाया देखते ही मेरा हृदय धड़क उठता। वह दिन-रात जोगा-जोगा की रट लगाये रहता। अब कोई अपने को सँभाले भी तो कैसे ? लम्बी चमकती भुजाली की तरह वह मूर्ति, घुँघराले काले बाल, माथे पर सिन्दूर, गले मे रुद्राक्ष...कलाई और बाँह पर भी रुद्राक्ष की लड़ी। कण्ठस्वर भी वैसा ही मधुर। माँ का नाम लेकर जब वह पदगान करता तो लगता घोषाल ठाकुर सचमुच देवी माँ का बेटा है।"

कहते हुए जोगामती ने अपना सिर झुका लिया और अपने पाँवों की उँगलियों को आपस में रगड़ने लगी। लगा कि कई दिनों पहले पाँव मे लगे आलता का रंग भले ही धुँधला पड़ चुका है, लेकिन उसके कानों में अब भी वही स्वर गूँज रहा है। वंशी की ध्वनि बड़ी निष्ठुर होती है, वह लाज-संकोच का कोई बन्धन नही मानती। मैं जोगामती की दुविधा समझ रहा था। वह चुपचाप बैठी थी। आँखें कहीं और टिकी थी सुदूर अतीत में कहीं—बाँकुड़ा के किसी छोटे-से गाँव मे। उसका स्वर भी वहीं से आता सुन पड़ा—

"पता नहीं, ठाकुर ने मुझमें ऐसा क्या देखा ? जब देखो तब वह मेरे सामने खड़ा रहता, घर हो या घाट। एक दिन मुझसे कहने लगा, 'जोगा... मैं तेरी पूजा करूँगा रे !' उई माँ, मैं तो डर गयी। मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया भला ? यह भी कहीं कहने-सुननेवाली बात है ? बोला, 'क्यों नही करूँगा भला ! धूमावती का आदेश है यह...तू धूमावती का अंश जो ठहरी।' हाय ! मेरा तो रोम-रोम काँप उठा ! मैं कहीं बेहोश ही न हो जाती...यह क्या कह रहा है ! जब कभी घोषाल ठाकुर मेरे घर आता तो सभी उसके पाँव पर लोट जाया करते। वह माँ-माँ चिल्लाता रहता। उसके पागलपन पर किसी का ध्यान नहीं जाता। जब चाहे आ धमकता और गाता रहता। मेरी सास और ननद बैठे-बैठे सुना करतीं। मैं भी। वह सबके सामने ही चिल्ला उठता, 'इसमें देवी का अंश है, इसे सँभालकर रखना ओ ताँती दीदी !' मेरी सास को वह इसी नाम से पुकारता। इसके बाद एक दिन..."

जोगा क्षणभर के लिए रुक गयी। क्या हुआ था उस दिन ? मैं उसके रोमांच को स्वयं अनुभव कर रहा था। वह अस्फुट स्वर में बताने लगी, "हाँ...उस दिन गाँव में कोई मेला लगा था...उत्तर की तरफ़। सास-ननद वहीं चली गयी थी। मेरा पति कोई घर में रहनेवाला प्राणी तो था नहीं। मैंने सझाबाती कर ड्योढ़ी से घर के अन्दर कदम रखा ही था कि घोषाल ठाकुर गाता

हुआ उपस्थित...एकदम घर के भीतर आते ही धम्म-से मेरे पाँवों पर गिर पड़ा और रोने लगा, "जोगा! तू जोगमती है रे...तू ही जोगमाया है। महामाया है तू! मेरा उद्धार कर दे रे! तूने मेरी पूजा नहीं स्वीकारी तो सब व्यर्थ हो जायेगा। मुझे धूमावती ने आदेश दिया है, मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं।"

मुझे लगा, जोगा भी विलख रही है। आँखों में कोई भय समाया था जैसे। दृष्टि कहीं दूर टँगी थी। कुछ क्षणों के बाद बोली, "मैंने पहली बार ठाकुर से कुछ कहा था—'ऐसा न कीजिये...पाँव तो छोड़िये मेरे! मुझे पाप लगेगा। बड़ा भय लग रहा है मुझे.. छोड़ो न मेरे पाँव...ओफ्फ।' नहीं, उसने छोड़े नहीं। कहने लगा, 'नहीं माँ, मैं तेरे पाँव कभी नहीं छोड़ सकता। इसी तरह पड़ा रहूँगा।' मैं बुरी तरह सहम गयी। हाय राम...किसी ने देख लिया तो क्या होगा? मुझे घर में कौन रखेगा भला? ठाकुर ने कहा, 'इसकी कोई आवश्यकता नहीं। चल, हम दोनों कहीं चले जायें। वहाँ मैं तुम्हारी पूजा करूँगा।' मैंने किसी तरह अपने को सँभाला। पता नहीं, मेरी सुध-बुध कैसी हो चली थी? मैं उठ बैठी और फिर मैंने भी ठाकुर के पाँव पकड़ लिये। झूठ बोलूँ तो पाप लगे मुझे! मेरी सुध-बुध पर ठाकुर-ही-ठाकुर छाया था। खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते मैं ठाकुर को ही देखा करती। मेरा मन उसे साक्षात् शिव माने बैठा था, सचमुच उसके हाथ बिक चुकी थी मैं। पाँव पकड़कर अरज की थी, 'आप जो कहेंगे, वही होगा। लेकिन हम जायेंगे कहाँ? आपका इतना बड़ा घर-संसार है।' उसने मेरी बात पूरी न होने दी; 'कुछ नहीं चाहिए देवी माँ! मैं इस जीवन को तुम्हारी पूजा से ही सार्थक करूँगा।' और इसके बाद ही तो..."

जोगा थोड़ी देर के लिए फिर एक दम रुक गयी। शायद कुछ और ही बताना चाहा होगा उसने। गर्दन टेढ़ी कर बुदबुदाने लगी, जैसे स्वयं से ही कह रही हो, "हाँ...इसमें वह बात तो रह ही गयी। मेरा विवाह तो तभी हो गया था, जब मैं मात्र दस साल की थी। मेरा पति मानु नाम के एक छोकरे के साथ दिन-रात घूमता रहता। उसके साथ ही खाता-पीता, सोता और खेतों पर जाता। मानु था कि साड़ी पहने घूमता-फिरता। लड़कियों की तरह चोली-कुरती, बिन्दी आलता और न जाने क्या-क्या? जी में आता, उसके मुँह पर झाड़ू दे मारूँ, मुँह ही झुलस दूँ। पति होकर भी अगर मेरी कोई खोज-खबर न ले तो मैं क्या करूँ? इसलिए मैं भी मन-ही-मन ठाकुर-ठाकुर जपा करती। संझा-बाती वाली घटना के तीन दिन बाद, धूमावती का नाम लेकर मैंने घर छोड़ दिया और घूमते-फिरते हम दोनों वक्रेश्वर आ पहुँचे। यह कोई आज की बात नहीं, अठारह साल बीत गये।"

जोगा रुकी और फिर कड़ाही में करछी डालकर चूल्हे की आँच ठीक

करने लगी। मैं आविष्ट बैठा रहा। यह किसी साधक-पूजक की कहानी थी या लोकाचार पतित किसी प्रेमी युगल की आपबीती ? मुझे तो यही प्रतीत हुआ कि यह कोई परम प्रेम गाथा है : धूमावती का आदेश, कार्तिक घोषाल का निवेदन और देवी जोगामती की पूजा। ऐसा भी कहीं हुआ होगा ? ऐसे पात्र-चरित्र ! मैं जोगा की ही थोड़ी देर पहले कही गयी बात सोचता रहा, 'अब और तो कुछ नहीं जानती...'

हाँ, ब्रह्मानन्द के सिवा वह कुछ नहीं जानती। मुझे वह सर्वथा निष्पाप और निष्कलंक जान पड़ी। स्वेच्छाचारिणी या लोकविगर्हिता नहीं। वह ससार से विलग या साधन-भजन से च्युत भी न जान पड़ी। वह ब्रह्मानन्द को न पहचानती हो, यह कैसे सम्भव है ? विवाद, कलह और विरह में या अश्रु-तापित क्षणों में भी उसकी साधना चल रही है।

मैं विमुग्ध था। राह चलते हुए यही तो मेरा प्राप्य है। मैं नहीं जानता, मुझे किसकी खोज है। वक्रेश्वर...और ईश्वर कहाँ है...कौन जाने ?

इस पथ पर चलते हुए अपरिचय के मध्य जोगामती का परिचय पाकर मैं धन्य हुआ।

तुम्हें बार-बार नमस्कार है, हे जोगामती...!

हमें कुछ पता ही न चला कि गोपीदास कब से दरवाजे के पास खड़े थे। जोगा की आँखें तब चूल्हे पर ठहरी हुई थीं।

"मैंने भी सब सुन लिया ठकुरानी," गोपीदास बोले।

जोगा हिल गयी, "अब इसमें नयी बात ही क्या है दादा ? तुम्हें तो सब पता ही है।" आँचल से अपनी आँखें पोंछते हुए कहा, "तुम्हारे चीता बाबाजी ने पूछा था कि मेरा ब्याह कब हुआ। वही बता रही थी।"

गोपीदास की आँखें झूम रही थीं। उनकी दाढ़ी लहरा उठी, "मैं भी तो यही कह रहा था जोगा दीदी, इस ढाई आखर का जादू ही निराला है। वहाँ शादी-ब्याह या निकाह की दाल गलाकर क्या होगा ? ढाई आखर ही बाँधता है और ढाई आखर ही मुक्त करता है। ढाई आखर से ही कोई सती है, साध्वी है और ढाई आखर से ही वेश्या या कुलटा। इस प्रेम के चंगुल में जो फँस गया, उसके लिए घर-संसार, स्त्री सन्तान सब बेकार है...एकदम खोखला।" कहते-कहते वह कुछ गुनगुनाने लगे।

"ऐसे प्रेम के मुँह में तो मैं आग झोंक दूँगी।" जोगा बड़बड़ायी।

"हाँ हाँ...क्यों नहीं ?" गोपीदास ने चुटकी ली, "जितनी चाहे झोंकती

के लक्षण कुछ ठीक नहीं दादा !"

"क्या हुआ ?"

"अवधूत ने ठीक ही कहा है दादा, अगर यह आश्रम में रहा तो अनाचार हो ही सकता है ।"

"ना...ना" मैंने छूटते ही कहा, "यह क्या कह रही हैं आप ?"

गोपीदास और जोगा, दोनों एक साथ हँस पड़े। गोपीदास ने कहा, "इसमें अनाचार कैसा ठकुरानी ! यह तो रसिकों की चर्चा है।"

मैं हैरान था, संकोचवश उद्विग्न भी हो उठा था। जोगा हाथ उठाकर धमकाते हुए बोली, "जरा देखो न दादा, कैसा दीदा फाड़े देख रहा है । खाओ...चीता बाबा...खाना खाओ ।"

मजाक तो मजाक ही है। लेकिन जोगा की बातों से वह और भी लम्बा खिंच गया। उसका स्नेह, सौहार्द नये स्वर में बज उठा। इससे मेरी सारी आशंका नष्ट हो गयी।

हमारे खाने-पीने के बाद, जोगा ने सारा सामान यथास्थान सहेजकर रख दिया। वह अब तक चूल्हा और कच्चा बरामदा लीप चुकी थी। शायद वह नहा-धो, कपड़े-लत्ते बदलकर ही भोजन ग्रहण करती। हम हाथ-मुंह धोकर कमरे के अन्दर आ गये।

गोपीदास ने पूछा, "रात वक्रेश्वर में ही रुक जाओगे बाबाजी ?"

"रहूँगा कहाँ ?"

"क्यों ? यहीं...इसी घर में !"

मैं नही जानता, वक्रेश्वर मे रात गुजारने में क्या तुक था। ऐसा कुछ था नहीं, जिसे दुबारा देखने की जरूरत हो। लेकिन जी कुछ ऐसा अलसाया हुआ जान पड़ा कि एक रात गुजारने में कोई क्षति न थी। महाश्मशान, तप्त कुण्ड, सैकड़ों मन्दिर और वक्रेश्वर की प्रकृति—पेड़-पौधे, खोआई और धूसर हरीतिमा मन में एक प्रकार के वैराग्य की सृष्टि उत्पन्न कर रहे थे, घर से निकल पड़े इस मन को संकेत से अपनी ओर बुला रहे थे।

लेकिन यह अजायब घर ? ब्रह्मानन्द अवधूत का क्रोध, अजगर की लपलपाती जीभ नरमुण्ड...कंकाल, खोपड़ी—सबकुछ मन में जैसे भय, जुगुप्सा और असुरक्षा की भावना भरते हुए जान पड़ रहे थे। गोपीदास मेरी उद्विग्नता को ताड़ गये। बोले, "इधर-उधर क्या देख रहे हो ? मैं भी तो तुम्हारे साथ हूँ।"

उन्ही पर तो भरोसा था। लेकिन अनाचार की आशंका से अवधूत महाशय फिर आ टपके तो इसकी क्या गारण्टी है कि वह त्रिशूल घुसेड़कर दण्ड न दें ! मैंने पूछा, "और अवधूत...?"

गोपीदास मुसकराये और मेरी पीठ पर हाथ रखकर कहने लगे, "अच्छा,

तो उनसे भयभीत हो ? वह बहुत ही अच्छे आदमी हैं, बाबाजी। अगर आ गये तो उनकी बातें सुनकर तुम समझ पाओगे। और यह सब तो केवल कहने की बातें हैं। भैरवी के साथ विवाद बढ़ गया... इसीलिए..."

मैं बहुत आश्वस्त न हो पाया। आधी रात को हुंकार भरते हुए छाती पर सवार हो गये तो... ? वैसे रक्षाकत्री जोगामती-देवी तो हैं। किन्तु इससे सम्भावित विडम्बना को टाला जा सकेगा ?

गोपीदास ने आगे कहा, "अब अगर तुम्हारा मन गवाही न दे तो किसी दूसरी जगह भी रात कट जायेगी। गाँव में ही कहीं टिक जायेंगे। आजकल की रातें सर्द होती हैं, वरना कहीं भी पड़ जाते। ऐसा करो कि अभी तो थोड़ा आराम कर लो। फिर घूमने निकलेंगे और तय करेंगे कि क्या करना चाहिए।"

ठीक ही कहा था उन्होंने। मैं यह सोच रहा था कि शाम की बस पकड़कर दुबराजपुर चले जाने और वहीं स्टेशन पर आज की रात बिताने में क्या हर्ज है। लेकिन मेरे मन का सारा ऊहापोह चतुर्दिक् फैलती जा रही निस्तब्धता के साथ ही ठहर गया। गोपीदास के साथ ही, मेरा धूम्रपान समाप्त हुआ। हम काफ़ी देर गुम-सुम बैठे रहे। भैरवी का कुछ पता नहीं।

"वह गयीं कहाँ...?" मैंने पूछा।

"कौन, जोगा दीदी ? बाहर बैठी...खा रही होगी शायद !"

"लेकिन खाने की सारी सामग्री तो घर में ही पड़ी है।"

"अच्छा।" गोपीदास ने सिर ऊपर उठाया। आँखें ऊँघ रही थीं जैसे। "तो फिर गयी कहाँ ? नहाने-धोने में इतनी देर क्यों हो जायेगी भला !"

गोपीदास के साथ, मैंने भी दरवाजे के बाहर दृष्टि दौड़ायी। शिव मन्दिर के शिखरों पर, पेड़ों की फुनगियों पर पीली-सी धूप ठहरी हुई थी। छाया गहराती चली आ रही थी और कहीं धूप के टुकड़े लाल चकत्ते की तरह झिलमिला रहे थे।

"जोगा दीदी ?" गोपीदास पुकार उठे, "बाहर बैठी हो ?"

वह आस-पास कहीं होती तो इतनी देर में पता तो चल ही गया होता ! लेकिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मैंने बाहर ड्योढ़ी से उसकी आवाज सुनी—"हाँ !"

"स्नान-ध्यान हो चुका ?"

"वह सब तो सुबह ही निपटा चुकी।"

"खाना नहीं खाओगी ?"

उसका कोई उत्तर न मिला। इतना ही जान पाया था कि अतिथि भोजन के बाद ही वह आहार ग्रहण करेगी।

"क्यों, खाओगी नहीं ठकुरानी ?" गोपीदास ने फिर पूछा।

"बाद में खाऊँगी...।" उसका स्वर बड़ा उदास-सा लगा।

स्थिति बड़ी विचित्र थी। जोगामती के आहत स्वर से सारा परिवेश एकाएक बोझिल हो उठा। गोपीदास उठ बैठे। स्वभावतः ही मेरे मन में जिज्ञासा थी, इसलिए मैं भी गोपीदास के साथ-साथ बाहर चला आया। दरवाजे के बाहर, ड्योढ़ी पर जोगा बैठी थी...चुपचाप...घुटनों पर अपना सिर रखे। मेरी ओर तकती हुई वह सलज्ज भाव से मुसकरायी। गोपीदास ने पूछा, "क्या हुआ? अब बाद में कब खाना खाओगी भला?"

"रात में...!" जोगा का उत्तर था। साथ ही, वह सूखी हँसी हँसने लगी। इस बेसुरी हँसी से मैं हिल गया। उसकी आँखों के नीचे वे स्याह धब्बे और भी गहरा उठे थे। चेहरा बुझा-बुझा। भूख तो होगी ही। हमारे लिए इतनी जल्दी खाना पकाकर, खिलाने के बाद, सारा कुछ समेटकर अब उदास चेहरा लिये चुपचाप बैठी है। मुझे यह देखकर अच्छा न लगा। जी उखड़ गया।

गोपीदास ने साश्चर्य कहा, "रात में क्यों? बिना खाये-पीये ही तो यह सारा दिन बीत गया।"

जोगा चुपचाप बैठी रही...दूर तकती हुई।

शायद ये कुछेक दिन इसी तरह उपवास करते बीते हैं। मैंने बाहर आते ही कहा, "यह कुछ अच्छा नहीं लगता। आप खाना खा लीजिए।"

जोगा ने अपनी भौंहें सिकोड़ लीं, "फिर वह आप...आप...की रट?"

"ठीक है नहीं कहूँगा...लेकिन खाना तो ले लीजिए।" मैंने कहा।

जोगा बात बदलते हुए बोली, "देखा गोपी दादा, तुमने अपने चीते को! मेरी खातिर मरमिटने को तैयार है!"

"मर-मिटने को?" मेरे मुँह से अनायास ही निकल गया।

"ओ माँ...! अब सचमुच ही न मर जाना!" उसकी पुतलियाँ नाच उठीं। और तब गोपीदास ने भी आग्रह किया, "खाना तो खा ही लो जोगा दीदी!"

जोगा ने कंधा उचकाकर कुछ कहने को अपना मुँह उठाया लेकिन फिर सिर झुकाकर बैठी रही। थोड़ी देर के बाद ही जब उसकी ग्रीवा उठी तो वहाँ कोई दूसरा ही भाव था—"गोपी दादा! वहाँ, एलाकांटा के घर में जो कोई भी साधन-भजन सिखा-दिखा रहा है, वहाँ शराब-गाँजा तो खूब चल रहा होगा। लेकिन पेट में अनाज का कोई दाना पड़ा भी है या नहीं, जरा यह भी तो पूछ देखो।" इतना कहकर उसने झटके से चेहरा दूसरी तरफ़ घुमा लिया। इधर, अचानक मेरे हृदय में कोई कील-सी चुभी जैसे उसकी पीड़ा से मैं आहत ही नहीं, विस्मित भी हो गया। अतिथि भले ही देवता हों...पूज्य हों, लेकिन उससे भी बड़ा...महादेवता पति होता है। कोई सात फेरे वाला पति नहीं...उससे भी महत्तर था यह। ताँती की बहू के सतीत्व का, उसके नारीत्व के गौरव का प्रश्न नहीं; जिसके लिए वह सारा जाति-कुल-दर्प और मान-सम्मान छोड़ आया था,

जिसके लिए इतना बड़ा त्याग किया और अब श्मशान में वास कर रहा है, उसे छोड़कर जोगामती कैसे भोजन ग्रहण कर सकती है भला ? कभी नहीं।

मेरे साथ ही, गोपीदास भी चकित थे। कोई कुछ कह नहीं पा रहा था। जोगा न जाने मन-ही-मन क्या बुदबुदाती रही, "क्या बताऊँ भला ! वैसे ही चूल्हा ठण्डा पड़ा था। एकाध जून जो भी बन गया—वही खा लेती थी। अब उस भले आदमी को यहाँ किस बात की कमी थी ? ज़रा जाकर तो देखो कि वह क्या खा-पी रहा है ? शिव ठाकुर मसान में बैठा भीख माँग रहा होगा।"

जोगा थोड़ी देर चुप रही। फिर बोली, "अब रोज-रोज तो पकाकर खिला नहीं पाती। ऐसे मेरे भाग्य कहाँ ? लेकिन एक जून पकाकर रख भी दिया तो ऐसा कोई नहीं...जो खाये।...तुम कोई चिन्ता न करो गोपीदादा, ठण्ड का समय है। कुछ भी बर्बाद न होगा। मैंने चार लोगों के लिए पकाया था। एक का खाना हाँडी में पड़ा रहेगा भला ?"

"और दोनों का ही क्यों पड़ा रहेगा ?" गोपीदास ने मुझसे कहा, "चलना तो बाबाजी, अवधूत को पकड़ लायें।"

"भीतर बैठो ..खुद ही आयेगा," जोगा हौले-से मुसकरायी।

मेरे मन में संशय था। आँखों में जो रौद्र रूप बसा था, उससे मैं स्वयं को आश्वस्त नहीं कर पाया। तो भी जोगा की तरफ़ देखता हुआ, मैं गोपीदास के साथ बाहर निकल पड़ा।

कुछेक जीर्ण-शीर्ण प्राचीन मन्दिरों के आस-पास से गुजरते हुए हम खोआई की ओर बढ़ आये—पूरब की तरफ़। झाड़-जंगल को पार करते ही हम एक टूटी-फूटी झोंपड़ी के सामने खड़े थे। उसे झुग्गी ही कहना बेहतर होगा...जिस पर किसी छप्पर तक का पता न था। आस-पास जंगली झाड़ी और ताल-वृक्षों के पत्तों से बेड़ी खींच दी गयी थी। सामने का दरवाज़ा खुला था और भीतर गाढ़ा अँधेरा कुण्डली मारे बैठा था। चारों ओर चुप्पी-सी छायी थी।

गोपीदास पुकार उठे, "जयगुरु ! ब्रह्मानन्द दादा कहाँ हो ?"

कोई उत्तर नहीं मिला। थोड़ी देर में एक प्राणी दरवाजे के सामने आ खड़ा हुआ और हमें घूरता रहा, सन्देह और कौतूहल-भरी दृष्टि से। काला रंग, पीली आँखें। थोड़ी देर के बाद उसकी पूँछ हिली। गोपीदास के आगे बढ़ते ही मसान का सरमाया दरवाजे के बाहर निकल आया और थोड़ी दूर पर जाकर बैठ गया। गोपीदास ने अस्फुट स्वर में जैसे स्वयं से ही पूछा, "कोई है भी या नहीं...कहाँ चले गये ब्रह्मानन्द दादा..."

तभी भीतर से भारी-सी आवाज़ आयी, "कौन है ?"

यह ब्रह्मानन्द का ही स्वर था।

लेकिन यह काला-कलूटा कुत्ता ? क्या यह भी इस झोंपड़ी का वासी है ? या

फिर श्मशानवासी प्राणियों में ही कोई अन्तर नहीं होता ! गोपीदास और आगे न बढ़े। उन्होंने मेरी ओर देखा और उत्तर दिया, "मैं गोपीदास...बाहर तो आइए एक बार।"

"क्यों...क्या हुआ ?"

"तुम आओ तो सही...एक बार।"

"तुम्हीं क्यों नहीं आ जाते यहाँ ?"

ब्रह्मानन्द के आग्रह पर भी गोपीदास अन्दर जाने के लिए हिचक रहे थे। फिर भी गरज तो गोपीदास को ही थी, इसलिए इधर-उधर देखते हुए वह अन्दर घुसे, "अकेले ही हो...क्या ?"

"हाँ..." वही भारी स्वर तिरता आया, 'आया भी तो अकेला ही था, जाऊँगा भी अकेला।"

"जयगुरु !" गोपीदास ने उच्छ्वास भरते हुए कहा।

अवधूत के स्वर में वैराग्य की झलक थी। उस समय तो इतना ज्वार था लेकिन इस समय...भाटा !

यही तो प्रकृति का नियम है।

"आओ चीता बाबाजी, दादा के पास चलें," गोपीदास ने पीछे मुड़कर मुझसे कहा, आँखों से कुछ इशारा भी किया। उनके साथ ही मैं उस घुप्प अँधेरे में घुसा। उस गुफ़ा में पहले तो कुछ भी नज़र नहीं आया। तीखी बदबू से जी मिन्ना उठा। पर तभी, अँधेरे में अंगार-सी चमकती दो आँखें दीख पड़ीं। यही था वह ब्रह्मानन्द अवधूत...धूमावती का साधक...कार्तिक घोषाल। एक सन्देह-भरी जिज्ञासा से बोला, "यह कौन है ?"

गोपीदास ने बड़ी विनम्रता से मेरे बारे में बताया कि शान्तिनिकेतन से वक्रेश्वर आया है...देव-दर्शन और अवधूत दर्शन के लिए...मेरे साथ ही। अवधूत मेरे बारे में सुनते हुए मेरी ओर ही दृष्टि गड़ाये रहा। और मैं ? मैं जोगामती द्वारा प्रस्तुत अवधूत गाथा को गुन रहा था। सचमुच उसकी कन्दर्पकान्ति कभी जोगा को विचलित करती रही होगी। उन मदिर आँखों...सिर पर फैली जटा, आँखों के नीचे झाइँ और चेहरे पर उगी कुछेक दिनों की बेतरतीब मूँछ-दाढ़ी में अब भी वही मूर्ति झाँक रही थी।

गोपीदास ने अपने पास ही मुझे बैठने को कहा। फिर अवधूत से उन्होंने पूछा, "दूसरी भी तो कोई थी यहाँ...?"

ब्रह्मानन्द निराश आँखों से दरवाज़े की ओर तकने लगे, "हाँ, वह बड़ी बेहूदी औरत थी...मैंने खदेड़ दिया।"

मैंने मन-ही-मन कहा, जयगुरु...विपदा टली। आख़िर इन कुछ घण्टों में ही इतना भारी परिवर्तन कैसे हो गया ? उस समय की बातें सुनकर तो कुछ

अनुमान लगाना ही मुश्किल था। अवधूत ने भी फुसफुसाकर कहा, "अरे, ये सब राक्षसी... वराही हैं। साधना के नाम पर केवल कामाचार। शक्ति जैसी कोई चीज नहीं इनमें।"

गोपीदास अपना सिर हिलाते रहे। अवधूत ने बताया, "अब शक्ति किसे कहा जाये... किसमें है वह प्रकृत शक्ति? नाम और काम से वेश्या अगर मन से भी वेश्या हो गयी तो बाकी क्या रहा? बस, औरत का एक ढोंग। मारो झाड़ू इन सालियों को... झाड़ू मारो।... अब शास्त्रों में तो लिखा है कुलटा में भी शक्ति विराज सकती है, लेकिन मन से तो उसे राधिका होना पड़ेगा... तभी तो।"

अवसर पाकर गोपीदास भी कह उठे, "हाँ... अब हर कोई तो हम लोगों की जोगादीदी नहीं बन सकती!"

उसी क्षण प्रतिवाद का स्वर मुखर हो उठा, "क्या कहा... तुम लोगों की जोगादीदी? उसकी बातें मैं सुनना तक नहीं चाहता।" कहते हुए उसने अपनी देह को जैसे झटका दिया और करवट लेकर बैठ गया। उसकी आँखें दहक उठी थीं, "उसे बड़ा गुमान है अपने पे! किस बात का गुरूर है? हुँह! मुझसे अब देखो, तनी-ठनी रहती है। कभी मजाक करेगी तो कभी गालियाँ देगी। भला क्यों? कहीं धूर्त, लम्पट होता तो मुझे भी अपने बच्चों की लम्बी कतार के साथ भीख माँगनी पड़ती। मैं कमीना, कपटी होता तो उसकी देखभाल ही कौन करता?... साली! अपने को क्या समझती है? दुर्गा या काली? उसको देखने की इच्छा तक नहीं होती मुझे। और उसके बिना क्या मुझे कोई शक्ति नहीं मिलेगी?"

गोपीदास चुप थे। मुझे तो चुप ही रहना था। लेकिन अबतक जो कुछ हाथ आयी थी, वह अवधूत के शब्दों में ही राक्षसी, वराही थी अर्थात् सुअरी।

एक क्षण बाद, गोपीदास बहुत ही धीमी आवाज में बोले, "अब तुम्हारे जैसे साधक के लिए, शक्ति जुटाना कौन-सी मुसीबत है? और इसीलिए तो हमारी जोगादीदी भी मिजाज से थोड़ी कड़ी है..."

"थोड़ी... तुम थोड़ी कह रहे हो... हुँह! जो हाथ में आया, उठा लिया! जो मुँह में आया, बक दिया! मुझे मारने दौड़ेगी? वह भूल गयी है कि वह क्या है... और मैं कौन हूँ?... समझे!"

अवधूत के स्वर में उसी कार्तिक घोषाल की खनक थी, मानो वह सिर उठाकर जोगामती को कह रहा हो: तू तो ठहरी ताँती की बहू... लेकिन, अब कौन उस दिन का हिसाब लगाये? श्मशान, साधन, आश्रम... और ग्राम-गृह के सम्बन्धों पर कौन प्रकाश डाले? कौन पड़े इस प्रेम-विवाद में? प्रीत है तो कोई भी रीत निबाही जा सकती है। गोपीदास ने समझाया, "दादा, अब तुम जो कहो, जोगा दीदी के लिए तो बस एक तुम ही हो। वह तुम्हारे सिवा किसी दूसरे को

नहीं जानती। ऐसी साध्वी साधिका कोई नहीं हो सकती।" कहते हुए गोपीदास ने हाथ उठाकर सिर से लगा लिया।

ब्रह्मानन्द न चाहकर भी चुप रहा। वह गोपीदास की बातों का प्रतिवाद न कर पाया। कोई तर्क हाथ न लगा। मैं गोपीदास की ओर देख रहा था। उन बूढ़ी आँखों की चालबाजी और दाढ़ी में छिपी मुसकान का रहस्य मैं समझ रहा था। इस गारुड़ी को अच्छी तरह पता था कि किस सर्प का कौन-सा मन्त्र है। वह बार-बार अपनी तिरछी दृष्टि से मुझे देख रहे थे, मानो यह पूछ रहे हों, "सब समझ रहे हो न...बाबाजी।"

ब्रह्मानन्द एक बार फिर झुंझला पड़ा, "मैं कुचाल बर्दास्त नहीं कर सकता। कुचाल देखकर ही मैंने इस छिनाल को भी भगा दिया। गाँव से जनार्दन चक्रवर्ती ने भात-बैंगन का भुरता भिजवा दिया था। मदना हाँड़ी भरकर मदिरा रख गया था। वापस आने पर देखता हूँ सब साफ़। रसाली ने सब उड़ा लिया। ...यह क्या? तुम क्या यहाँ खाली भकोसने आयी हो? हँस-हँसकर बताने लगी, सब खा-पी लिया।...तो फिर भाग यहाँ से...हरामजादी। खाली यहीं सब करने आयी है...चल दूर हो...दूर हो मेरी नजरों से।...अब तुम चाहे जो होओ...मैं किसी की कुचाल नहीं सह सकता।"...

दूसरे ही क्षण गोपीदास ने गहरी उसाँस के साथ, नरम स्वर में कहा, "और जरा वहाँ चलकर तो देखो। जोगा दीदी खाना पकाकर आसरा लगाये बैठी है। हम दोनों को खिला पिलाकर सब समेट रखा है। पूछने पर कहने लगी, तुम्हारे अवधूत को खिलाये बिना कभी नहीं खाया। अब आज कैसे खा लूँ भला? छी...छी...छी...हमें इस बात का पता होता तो हम खाना खाते? दीदी का चेहरा देखकर बड़ी पीड़ा होती है।"

गोपीदास इतना कहकर चुप हो गये। अवधूत भी शान्त पड़ा रहा। थोड़ी देर बाद उसने करवट बदलकर कहा, "क्यों, खा लिया होता!"

उसके स्वर में पहले जैसी तिक्तता न थी। गोपीदास ने कहा, "अब ऐसा तो न कहो दादा! ऐसा भी होता है भला? तुम्हीं बताओ...किसी रोज हुआ है ऐसा?"

अवधूत चुप था। गोपीदास भी। मैं उनके अनुनय-विनय की शैली पर मुग्ध था। उधर उनके हाथ जुड़े हुए थे और इधर वे बार-बार तिरछी दृष्टि से देख लेते। तभी अवधूत की निगाह मुझ पर भी पड़ी।

"तुम्हारा नाम क्या है?" अवधूत ने मुझसे पूछा।

मैंने अपना नाम, धाम और काम सबकुछ बताया। इसी क्रम में गोपीदास ने फिर निवेदन किया, "दादा, अब देर किस बात की? तुम्हारे पेट में कुछ है नहीं और उधर भी कोई उपवास कर रहा है। चलो न...चलते हैं!"

थोड़ी देर की चुप्पी के बाद अवधूत ने कहा, "वहाँ जाने की इच्छा नहीं होती अब।"

"लेकिन जाना तो पड़ेगा ही।"

"ख़ैर, इस बार तो चले चलता हूँ लेकिन ऐसी-वैसी कोई बात हो गयी तो मैं फिर थूकूँगा भी नहीं।"

"वह मैं देख लूँगा...तुम चलो तो सही।" गोपीदास उठ खड़े हुए। मैं भी। अवधूत ने भी अपनी देह झाड़ी और उठ खड़े हुए। कारणवारि की मस्ती ढल चुकी थी अब। गुफा से बाहर निकलकर मैंने मन-ही-मन कहा—"ओम् शान्ति ...शान्ति...शान्ति..."

अवधूताश्रम के द्वार पर से ही गोपीदास ने हाँक लगायी, "जोगा, दीदी, खाना परोसो...दादा आये हैं।"

भीतर पहुँचते ही, जोगा जमीन पर से उठ बैठी। शायद सो गयी थी लेटी-लेटी। हमारे साथ ही ब्रह्मानन्द को देखकर उसने घूँघट खींच लिया और कमरे से बाहर चली गयी। संकोच और ग्लानि से झुका अवधूत का चेहरा देखने लायक था।

थोड़ी देर बाद जोगा अन्दर आयी। आसनी डालकर जल छिड़का और फिर खाना परोस दिया। अवधूत चुपचाप बैठ गया। हम भी इधर चुपचाप बैठे थे।

भात में हाथ लगाते हुए अवधूत ने जोगा की ओर देखा और अचानक पूछ लिया, "तुमने अपने लिए रख छोड़ा है न?"

जोगा की दृष्टि जमीन पर गड़ी थी और चेहरा निर्विकार। उसने भात की हाँड़ी और दाल की कड़ाही वग़ैरह को अवधूत की आँखों के सामने रख दिया। खुद देख लो...है कि नहीं। इससे अधिक कुछ कहना अनावश्यक था।

अवधूत ने 'जय धूमावती' की हुंकार के साथ मुँह में ग्रास रखा। उसके साथ ही, उसने कहना शुरू किया, "समझे गोपीदास! साधना करने के लिए..."

इसी समय जोगा ने गर्दन घुमाकर गोपीदास की ओर देखा। गोपीदास ने अवधूत को रोकते हुए कहा, "अच्छा वह सब बाद में...पहले खा लो।"

अवधूत ने एक बार चकित भाव से जोगा की ओर निहारा और फिर चुपचाप खाने लगा। उसे भोजन करते देखकर ही पता चला कि माँ धूमावती ने उसकी ऐसी भूख-प्यास को अबतक कहाँ दबा रखा था। मन में यह भी विचार आया कि जो आदमी आज यहाँ बैठा इस तरह खा रहा है...उस कार्तिक घोषाल के घर में अन्न का अभाव तक न था। संसार का सारा सुख त्यागकर अब वही जोगामती के साथ श्मशान में आश्रम बनाये पड़ा है! जैसा जुटा, वैसा ही खा-पी-पहन लिया!

मैं न तो साधन-भजन जानता हूँ, न ही समझता हूँ। लेकिन उस आदमी को—जो मेरे सामने बैठकर खा रहा है, जिसके चेहरे पर सन्तोष का भाव क्रमशः गाढ़ा होता जा रहा है, जो रह-रहकर जोगा की ओर तक लेता है—देखकर ऐसा तो नहीं लगता कि वह अपनी उच्छृंखल या आवारा जिन्दगी काटने के लिए ही इधर-उधर घूम रहा है। विकारग्रस्त आदमी के पास चाहे जो भी हो, दुख वहन करने की शक्ति नहीं रह जाती। मन के विकारों के साथ तो सांसारिक भोग ही उसके पक्ष में उचित है।

मैं ही भला क्या जानता हूं? मनुष्य का अन्त कहां है? उसका अन्तस्तल कहां है? अवधूत को भोजन करते हुए देखकर, उसके रुद्र और उन्मत्त रूप की भंगिमा अचानक बदली-सी लगी। संसार छोड़कर भी मसान में पड़ा प्राणी इस संसार के ही समस्त दुखों के ज्वार से आन्दोलित होता है, कई रूपों में जगता है। सम्भवतः किसी दिन उसे सुख की वह चौहद्दी छोटी जान पड़ी होगी और तब निर्जन श्मशान की असीमता ने उसे आकर्षित किया होगा।

अवधूत जब भोजन कर चुका तो जोगा ने उसी पत्तल में अपना खाना परोसा। हमारी ओर पीठ किये वह खाती रही। थोड़ी देर के बाद, अवधूत हाथ-मुंह धोकर अन्दर आया और आते ही गान शुरू कर दिया—

'रे पगले...
सारा कुछ उस माँ की लीला
उस माया में त्रिभुवन भूला
नारी के आप्तभाव की गूढ़ लीला
दुख में झूला, सुख मे झूला...रे पगले...'

जोगा की चितवन मे अब कोई तीखापन न था, वहाँ मुसकान-माधुरी थी। अवधूत भी भूखे शिशु की तरह पेट भरते ही झूम-गा रहा था। हमारे पास ही बैठा था वह। कहने लगा—

'सगुण अरु निरगुण का रगड़ा
इक ढेले से दूजा तोड़ा
विषय में राजी सारी नारी
काम घड़ी में करे बखेड़ा...'

जोगा ने फिर एक बार मुँह घुमाकर देख लिया। उसके मुख पर मुसकान खेल रही थी।

और मैं एक नये रूप-रंग में मानभंजन की लीला देख रहा था।

मैंने सिगरेट का पैकेट निकाला और आग्रह के साथ अवधूत की तरफ़ बढ़ा दिया, "लीजिए, सिगरेट पीजिए।"

"हाँ, लाओ," अवधूत ने कहा, "लेकिन इससे मुझे कुछ होता नहीं। तो भी...दो-चार कश खींचूंगा।"

ऐसा करते हुए वह गुनगुनाने लगा। गोपीदास भी पुकार उठे—'जय गुरु...।' जोगा की चमकती आँखों में लाजभरी मुसकान थी। अवधूत भी मान-भंजन में बड़ा पटु था। उसने स्वयं बता दिया कि एलाकादा के घर में जो शक्ति का रूप धारे आयी थी, वह कोई डाकिनी थी। उसके साथ अवधूत का सम्पर्क ही कैसा, जिसका उपलक्ष्य ही काली हो और लक्ष्य जोगामती। वही तो उसकी शक्तिस्वरूपिणी देवी है।

लेकिन गोपीदास के दूसरी बार 'जयगुरु' कहते ही ब्रह्मानन्द जैसे चिढ़ गया, "जयगुरु नहीं...जय माँ बोल स्साले...!"

"एक ही बात है," गोपीदास मुसकराये, "नाम से क्या आता-जाता है?"

"नहीं...मैं तुम लोगों के इस छोरा-छोरी वाले झाँसे में नहीं आनेवाला!"

"तुम आओगे भी क्यों?" गोपीदास ने कहा, "तुम भैरव-भैरवी में पड़े रहो।"

जोगा पास ही बैठी थी, सिर पर आँचल लिये। मुखड़े के एक तरफ़ बाल खुले हुए थे। उसने अपनी आँखें उठायीं और गोपीदास की ओर देख लिया। अवधूत ने मुझसे पूछा, "तुम किस तरफ़ हो?"

"मैं?" मैं विस्मत था।

"हाँ, भैरव-भैरवी की तरफ़ हो या छोरा-छोरी में?"

उत्तर दिया गोपीदास ने, "अरे दादा, बाबाजी ने तुम्हारी-हमारी तरह कोई चोला-बाना तो धारण किया नहीं। वह जैसा दीख रहा है, वैसा ही है।"

"तो फिर कहो न...कि नर-मादा में है।"

"नहीं!" गोपीदास ने अस्वीकृति में अपनी दाढ़ी हिलायी।

"फिर?"

गोपीदास की आँखें झूम रही थीं, "अब इसे चाहे जो भी नाम दे डालो दादा...सब तो इसी में है, इसी प्रेम में। बाबाजी भी इसी में। समझे?"

मैं पहले से ही सावधान था, पता नहीं, गोपीदास क्या कहेंगे? उनकी बातें सुनकर मैं अनजानी-सी प्रसन्नता में डूब गया। हालाँकि मैं यह नहीं जानता कि वह किस प्रेम की बातें कर रहे थे। यह भी नहीं जानता कि प्रेम में था कि नहीं! आखिर गोपीदास के मन में अचानक ही ये बातें कहाँ से आ जाती हैं? लाख सिर पीटने पर भी, मैं अपनी शब्दावली में तो इस तरह का उत्तर नहीं दे पाता।

गोपीदास मेरी ओर देख रहे थे। कभी सिर हिलाते, कभी मुसकराते।

उधर अवधूत बड़ी रुखाई से कह उठा, "धत् तेरे की स्साले...हर बात में प्रेम। ले-देकर वही प्रेम। यह सब तुम्हारी चालाकी है। बाबाजी का साधन-भजन क्या है...यह तो बताओ?"

"बाबाजी प्रेम भजते हैं।"

"स्साला...फिर वही प्रेम!"

"और क्या? क्या तुम्हारे साधन-भजन में प्रेम नहीं? जोगा दीदी के संग प्रेम न होता तो क्या खाक भजते?" यह कह गोपीदास ने जोगा को निहार लिया। अवधूत की भारी हँसी जैसे पिघल गयी। यह बात सचमुच ही उसे अच्छी लगी थी, अन्तर्मन को छू लेनेवाली। उसने हँसते हुए कहा, "तुमने सुना भैरवी, यह 'जयगुरु' वाला स्साला अच्छी बकवास कर लेता है।"

भैरवी गोपीदास की ओर देख रही थी। उसने किसी की बात का उत्तर दिये बिना अपना पत्तल उठाया और बाहर चली गयी। भैरव ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर गाने लगा—

'ओ माँ...तेरी पूजा से जी नहीं भरता
पूजा छोड़, तेरे संग चलूँगा हाँ...
ढूँढ लूँगा तेरा ठिकाना माँ...'

घर में अँधेरा गाढ़ा होता चला गया। बाहर के झुटपुटे में अब सबकुछ अस्पष्ट हो चला था। अब इसके बाद कुछ नहीं दिखेगा शायद।

जोगा लौट गयी। उसने ज़मीन पर गड़े त्रिशूल के पास दीया एक जलाकर रख दिया। सिन्दूर से पुता त्रिशूल एक नये रूप में भास्वर हो उठा था। साथ-साथ नर-मुण्ड भी। दीये की कँपती लौ में जैसे नर-मुण्ड भी हिलने-डुलने लगा था।

गोपीदास ने मुझे इशारे से कहा, "चलो बाबाजी, थोड़ा घूम-फिर आयें।" और वह उठ खड़े हुए। मैं भी। जोगा ने आश्चर्य से पूछा, "कहाँ चले?"

अवधूत ने भी कहा, "अरे तुम्हारे बाबाजी के साथ तो कोई बातचीत ही नहीं हो पायी!"

"होगी दादा!" गोपीदास ने बताया, "हम जा तो नहीं रहे हैं। बाबाजी को बाबा का थान तो दिखा लाऊँ ज़रा।"

"देखो गोपीदास," जोगा ने सतर्क किया, "जहाँ-तहाँ मत ले जाओ। कोई अच्छी जगह नहीं। डाकिनी गर्दन मरोड़ देगी।"

"हाँ, खूब सतर्क रहना...होशियार।" अवधूत ने जोड़ा।

जाने के पहले जोगा ने मुझसे कहा, "सँभल के बाबाजी। यहाँ हर जगह चीता फँसाने का फन्दा पड़ा है।"

मुझे भी कहना पड़ा, "हाँ...मैं चौकस रहूँगा।"

"गोपीदास !" जोगा ने फिर टोका, "जरा ठेंगा बाबा से भी मुलाकात करा देना।"

"हाँ...मिलवा दूँगा।"

"लेकिन जरा दूर से ही," अवधूत ने छूटते ही कहा, "उस स्साले का कोई भरोसा नहीं। कोई पास फटका नहीं कि कनपटी पर झापड़ जमा देता है।"

मैं उनकी बातों का आशय ठीक-ठीक से नहीं समझ पाया। लेकिन गोपीदास ने सिर हिला दिया, "हाँ...हाँ, मैं जानता हूँ।"

"रात में खाना तो लोगे ही ?" जोगा ने पूछ लिया।

गोपीदास खड़े हो गये। उन्होंने मेरी तरफ़ देखा। मैंने अपनी असहमति व्यक्त की, "जी, मैं तो नहीं..."

"मैं भी नहीं," गोपीदास बोले।

अवधूत ने जोड़ दिया, "तो फिर कोई नहीं।"

हम बाहर निकल आये।

बाहर अँधेरा ही नहीं, ठण्डी हवा भी हमारे विरुद्ध खड़ी थी। पछिया हवा के रपटीले झोंकों के बीच वक्रेश्वर के आकाश पर चाँद का नन्हा-सा टुकड़ा पड़ा था। पता नहीं, पहली का था या दूज का। उसके पास ही एक नक्षत्र और था कुछेक तारे छिटपुट झिलमिला रहे थे। इधर आस-पास झींगुरों का तीखा शोर कान खा रहा था। शिव मन्दिरों के शिखर काली-काली मूर्तियों के समान प्रतीत हुए। जंगली पेड़-पौधे एवं झाड़ियों के बीच बहनेवाली हवा साँय-साँय कर उठी थी।

हम बीस-पचीस कदम आगे बढ़े ही थे कि कोई सियार हुँआ-हुँआ कर उठा। घड़ीभर में वक्रेश्वर का रूप बदल गया था जैसे। पता नहीं, गोपीदास कहाँ लिये चले जा रहे थे ! अचानक हमारे सामने एक मन्दिर कराल अँधेरे के बीच जग उठा। दीये की टिमटिमाती रोशनी में दो मानव-आकृतियाँ भी दिखीं। गोपीदास ने बताया, यह काली-मन्दिर है।

मैंने पास जाकर देखा, नरमुण्डमालिनी, काली-कराली भयंकरी, लोहित जिह्वावदनी, नग्न चतुर्भुजा साक्षात् खड़ी हैं। वक्रेश्वर की काल-रात्रि को आग लगाये यह इसका दूसरा ही रूप था। कालरात्रि के वक्ष पर ही, कहीं दूर, दक्षिण की ओर लेलिहान अग्निशिखा दीख पड़ी। हवा के झोंके के कारण उसकी लपटें ऊर्ध्वमुखी नहीं हो पा रही थीं। नीचे, पापहरा के गुनगुने जल में उसकी परिछाइयाँ नाच रही थीं। वक्रेश्वर के महाश्मशान में चिता जल रही थी। इस जाग्रत महाश्मशान की चिता कभी नहीं बुझती।

इस चिताग्नि के प्रकाश में जो अस्पष्ट छायामूर्तियाँ दीख रही थी, वे निकट पहुँचने पर और भी स्पष्ट हो गयी। चिता पर जल रही मृत देह के नाते-रिश्तेदारों में सभी तरह के लोग इकट्ठा थे। एक युवती भी थी उनमें, दो-तीन साल के बच्चे को कलेजे से चिपकाये। उसकी आँखों मे आँसू न होकर चिता की आग दहक रही थी जैसे। लपलपाती आग की रोशनी मे, उसकी माँग में पड़ी सिन्दूर की धुँधली-सी रेखा भी दिख गयी, जिसे वह अबतक मिटा न पायी थी। लेकिन कलाई सूनी थी, वहाँ न चूड़ी थी, न शंखा और न लोहे का कड़ा ही। और वह शिशु?...वह अविरत अपनी माँ के मुख को निहार रहा था।

लोगों की भीड़ में ही एक बुढ़िया रह-रहकर अपनी छाती पीटने लगती। वह क्या बडबड़ाती जा रही थी, मैं समझ नही पाया। तभी किसी ने उसे ढाढस बँधाया, "रोने-पीटने से क्या होगा भला?" फलतः उसका चीखना-चिल्लाना और भी बढ़ गया। श्मशान की रखवाली करनेवाले एक काले डोम ने कहा, "अब समझाने से जी तो मानता नही। रो लेने दो—"

अब यह रोना-धोना कुछ भी तो वापस नही लौटा पाता।...महाश्मशान की चिता की आग कभी ठण्डी नहीं पड़ती।

पापहरा के किनारे एक जटाधारी बैठा था, गेरुआ पहने। उसकी दृष्टि प्रज्वलित अग्नि की तरफ थी। एक गेरुआधारिणी प्रौढ़ा, जिसकी माँग में सिन्दूर था, हाथ मे त्रिशूल लिये कुछ श्मशानवासियों से बातें कर रही थी। आस-पास बैठे लोगों में से कई-एक उसकी बातें बड़े ध्यान से सुन रहे थे। चतुर्दिक् बिखरे राख के ढेरों पर कुछेक कुत्ते लेटे हुए थे। उनकी अधमुँदी आँखें भी चिता की आग की ओर लगी थीं। इन्हें किस चीज की आशा थी, वही जानें।

मैं चुप खड़ा था। अचानक गोपीदास ने मेरा कन्धा छुआ और बोले, "चलो, थोड़ा इस ओर भी घूम आते हैं।" उनकी दाढ़ी हवाई झोंकों के साथ लहरा रही थी। वह मुझे खींचते हुए पूरब की ओर ले चले। दोपहर को कुण्ड-स्नान करते हुए हमने अघोरी बाबा की जिस कुटिया का दर्शन किया था, उधर ही।

दूर—छोटी-सी कुटिया के अन्दर एक दीया टिमटिमा रहा था। उस झुटपुटे अँधेरे मे पीपल का पुराना पेड भीमकाय दैत्य की तरह झुका हुआ था। उसकी पीठ से लगकर रखा हुआ नरमुण्डों एवं खोपड़ियों का ढेर मन में कोई जुगुप्सा नही जगा पाया। त्वचा-मांसहीन मुखड़े अभिव्यक्तिशून्य भले ही लगें, उनकी सम्मिलित निर्निमेष दृष्टि निष्प्राण नही जान पड़ी। किसे देख रही हैं इनकी खोखली आँखें? इन्हें क्या कुछ पता है? इनमें कौन स्त्री है कौन पुरुष—कुछ नही लिखा। नाम-धाम से परे इनका एक ही परिचय है कि अब ये सब-की-सब मात्र खोपड़ियाँ हैं।

पापहरा का जल हवा के झोंकों में काँप रहा था। जुगनू चमक रहे थे। मैं

इन सबके बीच किस कालखण्ड में खड़ा था ?

"कौन है वहाँ ?" इसी समय किसी की भरकम आवाज सुनायी पड़ी।

"तुम पहचान लोगे ?" गोपीदास ने कहा, "मैं गोपीदास..."

किसने यह प्रश्न किया था और कहाँ से, यह मैं नहीं जान सका। केवल इतना ही अनुमान लगा पाया कि दक्षिण की ओर कोई पक्का दालान है। दोपहर ही देखा था हमने। लेकिन उस खण्डहर हो चुके दालान में वहीं कोई रोशनी न थी। कौन रहता होगा वहाँ ?

"आओ बाबाजी, मेरा हाथ पकड़े चले आओ," गोपीदास ने हाँक भरी। आस-पास घास-फूस और जंगली झाड़ियाँ फैली थीं। इक्का-दुक्का लोग भी आते-जाते दीखे। थोड़ी दूर जाते ही, अचानक किसी की कातर चीख-पुकार सुन पड़ी। ऐसी चीख-पुकार और गाली गलौज सुनकर तो मेरे कान के कीड़े मर गये।

"...स्साले...कुत्ते की औलाद..." साथ ही, लात-घूँसे और थप्पड़ की आवाज। हम थोड़ी ही दूर से यह तमाशा देख रहे थे : एक नंगी देहवाला जटाधारी सिर्फ़ लँगोटी पहने, किसी पर प्रहार करता जा रहा था। मार खानेवाला न तो कोई प्रतिवाद कर रहा था और न आत्मरक्षा की चेष्टा, केवल उसका आर्त्तनाद अन्धकार को चीर रहा था। गोपीदास ने बताया, "यह ठेंगा बाबा हैं।"

"उसे पीट क्यों रहे हैं ?" मैंने पूछा।

"ठेंगा बाबा की बात है। सभी यह मानते हैं कि अगर वह दया कर मारें-पीटें तो समझ लो कि उद्धार हो गया। मनोकामना पूरी हुई।"

बड़ा अजीब विश्वास था। यह भी कोई मांगलिक कृत्य है ? यह तर्क मेरे गले से नहीं उतर रहा था। इधर मार खानेवाला, रो-धो ही नहीं रहा था, वह आर्त्त स्वर में चीख रहा था, "मारो बाबा...मुझे मार डालो...मेरे सारे पाप, विकार दूर कर दो...बाबा!"

मैंने ऐसा आर्त्तनाद पहले कभी नहीं सुना। मेरे मन में गुरुदेव की पंक्तियाँ गूँज उठीं—'आरो-आरो प्रभु...आरो-आरो, एमनि करे आमाय मारो...आरो-आरो...'

उसके क्रन्दन को सुनकर मुझे कष्ट तो नहीं हुआ; हाँ, प्राणों में पीड़ा सी जग उठी। इस जटाधारी की बात तो दूर, मैं जिस ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव नहीं कर पाता, उसके उपस्थित होने पर भी ऐसा नहीं कर पाऊँगा शायद। और यह भी नहीं कि कुसंस्कारों में घिरे, अँधेरे में पड़े इस मार खा रहे आदमी की अनदेखी कर, मुँह बिचकाकर चला जाऊँगा—इतना साहस भी मुझ में नहीं था।

उधर मारनेवाला रुद्र मूर्ति धारण किये था, भीषण आक्रोश के साथ पीटे चला जा रहा था। मैंने उद्विग्नता से पूछा, "आखिर कबतक पीटता रहेगा? मार ही डालेगा क्या?"

"नहीं बाबाजी," गोपीदास ने बताया, "ऐसा तो नहीं सुना कभी।" उनके स्वर से इतना तो पता चल ही गया कि उनकी देह भी इस मार से सिहर उठी है। वाणी रुद्ध हो चुकी थी...स्वर विगलित।

कुटिया के पास ही कुछेक लोग बैठे थे। बत्ती की धुँधली रोशनी मे उन मूर्तियों को देखकर लगा, जैसे वे इस धरती के प्राणी नही होगे। उस ठोस अँधेरे में बत्ती की कँपकँपाती लौ की रोशनी कभी-कभी साँप की लपलपाती जीभ की तरह कौंध जाती। जटाधारी की कुत्सित गाली-गलौज के साथ ही आस-पास बैठे लोग जय-जयकार कर उठते—'जय हो...ठेंगा बाबा की जय हो।'

नाम की ही तरह यह घटना भी अद्‌भुत थी। इस पृथ्वी पर ऐसा भी कही हो रहा होगा, नही जानता था। गोपीदास के अनुसार, इस ठेंगा बाबा को आये अधिक दिन नहीं हुए और कही भी अधिक दिनों तक टिकते नही। उन्होने भी इस बाबा के बारे में केवल सुना ही था, आँखों से तो पहली ही बार देख रहे थे वे।

इस बीच प्रहार रुक गया। ठेंगा बाबा ड्योढ़ी पर थककर बैठ गये। गालियाँ बन्द हो चुकी थी। गहरी साँसें भर रहे थे वे।

"पास चलकर देखोगे?" गोपीदास ने मुझसे पूछा।

"जी?" मैंने चौंककर कहा, "कहीं दो-चार हाथ जमा दिये तो?"

गोपीदास ने मेरी पीठ पर हाथ रखकर आश्वस्त किया, "अब नही मारेगे। मार खाने की आशा से ही तो सभी यहाँ आते है...वे सबको पीटते भी नही।"

एक भयमिश्रित कौतूहल। गोपीदास के पीछे-पीछे मैं भी बढ़ा। वहाँ, दरवाजा या छप्पर-जैसी कोई चीज न थी। हमे आते देख सामने बैठे लोग जिज्ञासु हो उठे। पता नहीं ये दोनों क्या चाहते हैं?

दो स्त्रियाँ भी थी उनमें। पहली ने मेरी तरफ़ आँखें उठाकर देखा और फिर सिर झुकाकर कुछ करती रही। ध्यान देने पर पता चला, वह 'सप्तमी' तैयार कर रही है। मार खानेवाला आदमी बेसुध पड़ा हुआ था, नंगी जमीन पर। सबके चेहरों पर हवाइयाँ उड रही थीं, लेकिन दैन्य और कातरता के साथ-साथ उनपर विश्वासभरी चमक भी थी। मार खानेवाला रह-रहकर चिल्ला उठता। ठेंगा बाबा ने हमारी तरफ़ देखा तक नही। नजदीक पहुँचकर मैंने देखा, यह आदमी कभी बहुत ही सुन्दर रहा होगा, लम्बी तीखी नाक, बड़ी-बड़ी आँखें —एक सुन्दर-सा मुखड़ा। कोई प्रसन्नता, उद्वेग या घृणा नहीं उसके चेहरे पर।

तो भी, मुझे लगा, पीड़ा की दाह उसकी दृष्टि में ठहर गयी है। कौन हैं ये?... क्यों पीटते हैं?...इन पर लोगों का इतना विश्वास क्यों है?

कितना वैचित्र्यपूर्ण है यह संसार, विचित्र लोगों से भरा? घड़ीभर पहले मैंने यह सोचा भी नहीं था कि ऐसी विचित्र घटना के सम्मुखीन हो पाऊँगा!

"चलो, बाबाजी!" गोपीदास के स्पर्श ने मुझे सचेत किया, "आओ!"

हम आगे से पूरब की तरफ़ बढ़ चले। चुपचाप। लगा कि सारी बातें समाप्त हो चली हैं। रास्ता नीचे उतर गया था। ढलान पर पाँव रखते ही पता चला यह पथरीली और बलुआही जमीन है। सामने खुला दिगन्त, उदार प्रकृति और अनन्त अवकाश। दूर...वक्रेश्वर नदी की पतली-सी रेखा चमक रही थी। हम उसके दूसरे किनारे पर थे। पश्चिम से मुड़ती हुई यह दक्षिण की ओर बहती चली गयी थी।

अचानक...हमारे सामने एक कुटिया खड़ी थी, पत्तों से बनी। द्वार पर लकड़ियाँ दहक रही थीं। उसके प्रकाश में ही, मैंने देखा, एक नंग-धड़ंग व्यक्ति बैठा है, शान्त निर्विकार। आँखें दूर क्षितिज पर टिकी हैं। अन्दर भी कोई छाया-मूर्ति हिलती नजर आयी। कोई नारी थी या पुरुष, मैं ठीक से अनुमान नहीं लगा पाया।

उस नंग-धड़ंग ने हमारी तरफ़ देखा तक नहीं। एकदम ध्यान-मग्न भी तो नहीं कहा जा सकता उसे क्योंकि उसकी खुली दृष्टि कहीं दूर टिकी थी... अँधेरे दिगन्त की ओर। इकहरी लेकिन स्वस्थ काया, जिसपर रुद्राक्ष या किसी चीज की माला न थी, न छाप-तिलक। दाढ़ी या मूँछ भी नहीं। सारी देह भस्म से लिपटी हुई थी। चेहरा इतना स्थिर कि जैसे किसी धातु की मूर्ति हो। मिट्टी के टीले-जैसा अचल।

लेकिन शीतकाल की इस रात्रि और पछिया हवा के तीखे झोंकों से भी वह विचलित नहीं! अन्धकार में डूबी प्रकृति का कौन-सा रूप देखकर इतना निस्पृह, निश्चल और बाह्य जगत् से परे था!

तबतक अन्दर की वह अस्पष्ट छायामूर्ति भी बाहर निकल आयी थी। कोई पुरुष था वह। हलकी मूँछ-दाढ़ी और दृष्टि सामने। हमारी तरफ़ देखे बिना ही सामने जाकर उसने जलती लकड़ियों को कुरेद दिया। कहीं कोई स्वर नहीं। केवल झींगुरों का शोर था। मैंने आदिवासियों से सुना था कि झींगुर रोते हैं।

गोपीदास ने एकाएक आगे बढ़कर उसे प्रणाम किया। नग्न पुरुष ने गोपीदास की ओर देखा। बोला, "एकाध गान सुनाओ।"

उसने अब भी मुझे नहीं देखा था। आँखें डूबी, भीगी-सी थीं। होंठों पर मुसकान तो न थी लेकिन कोई अनिर्वचनीय भाव अवश्य था। गोपीदास भी किसी नये रूप में ढल गये। वे अपनी जगह से उछल पड़े। बोले, "जयगुरु...जयगुरु! आपकी दया का क्या कहना!" उन्होंने तब जो गान शुरू किया, उसमें कई प्रश्न थे, जो उस नग्न पुरुष से पूछ रहे थे—

'कहाँ मिलेगा मन मानुख?
मैं ही हूँ वह, देख न पाऊँ औरों का दुःख
गिनता रहता अपने ही सुख
जरा बताओ...कहाँ मिलेगा वह मन मानुख?'

नग्न पुरुष अपना सिर हिलाता और फिर रह-रहकर गर्दन उचकाता। गोपीदास दो-तीन पग और आगे बढ़े और झुककर पूछने लगे, "बताओगे...वह कहाँ मिलेगा?"...और गोपीदास की आँखें छलछला उठीं।

"खोजते...खोजते।" दिगम्बर ने बताया।

गोपीदास आँखें बन्द कर अपना सिर हिलाने लगे और गाने लगे :

'लेकिन पाप का मारा प्रेम भाव क्या जानूँ
अपनी गरज में डूबा कुछ भी तो न पहचानूँ
जरा बता दो, कहाँ दिखेगा प्रियतम का मुख
पाँव पड़ूँ मैं, कहाँ मिलेगा मन का मानुख'...

इस गीत के साथ, इकतारा, दोतारा, डुपकी या तुनतुना कुछ भी तो न था। गोपीदास की वह घरघराती आवाज ही धीरे-धीरे धीमी, गम्भीर और मीठी स्वर-लहरी में ढल गयी। वह स्वयं भी उसमें डूब गये थे। दिगम्बर पुरुष की देह ही नहीं, उसकी आँखें भी किसी नशे में झूम रही थीं। उसने फिर कहा, "खोजते...खोजते।"

गोपीदास गाते चले गये। आँसुओं से उनकी दाढ़ी भीग गयी। अचानक उस नग्न पुरुष की देह काँप उठी। होंठों पर हँसी खेल गयी और आँखों से झरना बह निकला। मैं समझ नहीं पाया कि वह हँस रहा है या फफक-फफककर रो रहा है। गोपीदास गाते चले गये—

'कैसे खोजूँ उसे, बताओ, मोहजाल में प्राण फँसे...'

और तभी उस दिगम्बर ने अपने दोनों हाथ पसार दिये। बूढ़ा बाउल गोपीदास भी उनकी बाँहों में कटे पेड़ की तरह झुक गया। दोनों आलिंगन में बँधे पड़े रहे। वे रो रहे थे या हँस रहे थे, नहीं पता। दिगम्बर ने भरे स्वर में इतना ही कहा, "खोजते-खोजते ही मिलता है...खोयी हुई चीज भी मिलती है।"

मैं नहीं जानता, भावना का यह कौन-सा रूप है, कौन-सी अवस्था है यह। राख लपेटे अटल दिगम्बर की यह यात्रा, एक भाव जगत् से दूसरे जगत् तक

इतनी जल्दी कैसे सम्पन्न हो गयी ? गीत में ढलकर वह आँसुओं में पिघल गया। उसकी देह अब भी काँप रही थी। एक ही क्षण में यह क्या हो गया ? मेरे अन्तर में भी न जाने कौन-सा स्रोत बह चला... मैं जिसकी कल-कल ध्वनि तो सुन रहा था, लेकिन अर्थ नहीं पकड़ पा रहा था। श्मशान के चारों ओर विस्मयभरी मानवी-लीला।

यह कैसा दृश्यान्तर था ! अवधूत ब्रह्मानन्द, भैरवी जोगामती, श्मशान-चिता, अघोरी की कुटिया, नरमुण्ड, कंकाल, मुक्ति-प्रहार और अब प्रेम-विह्वल आलिंगन में हास्य एवं रोदन का यह दृश्य ! मैं इस विचित्र रागिनी में खोया था। मैं ही नहीं, वह छाया पुरुष भी, जिसने बाहर आकर आग उकसायी थी।

थोड़ी देर के बाद, दोनों ही शान्त होकर चुपचाप बैठ गये। मैं यह सोच रहा था कि अचानक गान की बात कहाँ से आ गयी। और गान सुनते-सुनते इस प्रकार का भाव क्योंकर जग गया ? गोपीदास ने यह तो नहीं बताया था कि दोनों का परिचय इतना प्रगाढ़ रहा है। यह नग्न-साधक किस पन्थ या सम्प्रदाय से सम्बन्धित था और उसकी साधना-पद्धति क्या थी, यह भी नहीं जान सका। उसने अब अपनी आँखें मूँद ली थीं।

"अच्छा तो अब चलूँ बाबा !" गोपीदास ने आज्ञा चाही।

"फिर आना।" बाबा ने आँखें बन्द किये ही आदेश दिया।

गोपीदास ने मुझे इशारे से बुलाया। अलाव की रोशनी पार करते ही, हमने पाया—चतुर्दिक् अन्धकार है। चाँद का वह नन्हा-सा टुकड़ा भी अब उसी अँधेरे में कहीं खो गया था। गोपीदास मेरा हाथ थामे हुए थे। मैंने पूछा, "ये कौन हैं।"

गोपीदास का स्वर अब भी भाव गद्गद था—"मैं नहीं जानता बाबाजी ! अबतक दर्शन भी तो नहीं हो पाये थे। इस तीर्थ क्षेत्र में कभी-कभार कहीं-कहीं से महापुरुष आ विराजते हैं। कुछ दिन रहकर चले जाते हैं। मैंने पहले कभी नहीं देखा...तुम्हारे भाग्य से ही उनसे भेंट हो पायी।"

"मेरे भाग्य से क्यों ?" मैं एक बार फिर सकोच में पड़ गया।

"क्यों नहीं बाबाजी ? तुम न आते तो क्या मैं आ पाता ? मैं देखते ही समझ गया, उनमें शक्ति है। उन्होंने पाया है, सचमुच ही पाया है। तुमने तो देखा ही होगा।"

क्या पाया है उन्होंने और क्या देख लिया मैंने, यह मैं स्वयं ही जान सका। इसलिए पूछना पड़ा, "क्या पाया है उन्होंने ?"

"सिद्धि...बाबाजी सिद्धि," गोपीदास ने मुझे अपने विश्वास में लेना चाहा, "तुमने उनकी मुद्रा और आँखों का भाव नहीं देखा ? उन्होंने पाया है और खोजते-खोजते ही पाया है।"

"आखिर क्या पाया है ?"

"यह मैं क्या जानूँ बाबाजी ? क्या पाने पर सिद्धि प्राप्त होती है, यह मुझ-जैसा पतित कैसे जान सकता है भला ?" गोपीदास ने गहरी उसाँस भरकर बताया और फिर चुप हो गये।

हम अन्धकार को चीरते आगे बढ़ते जा रहे थे। वक्रेश्वर की धारा हम पीछे छोड़ आये। मैं अन्धे की तरह राह टोह-टोहकर आगे पाँव बढ़ाता रहा और उनकी बातें अनुभूतिशून्य होकर सुनता रहा। मेरी आँखों के सामने बार-बार वही दृश्य आ-जा रहे थे। मैंने पूछा, "आखिर वह नंगे क्यों बैठे थे ?"

"मैं भी यही बात सोच रहा था बाबाजी," गोपीदास कहने लगे, "मैंने अघोरी बाबा को भी ठीक ऐसा ही देखा था। देह पर सारा कुछ पोते बैठे रहते, लेकिन मन में कोई विकार नहीं होता। बाउल के मन में भी कोई विकार नहीं रहना चाहिए। अघोरी बाबा शरीर पर मल-मूत्र सबकुछ लीपे रहते और नर-मुण्ड की खोपड़ी से कारणवारि का निरन्तर पान। यही नहीं, मैंने हाँड़ी के भात को हड्डी से घोटते और गरम भात पर मरे हुए आदमी के मस्तिष्क को, घी की तरह उड़ेलकर खाते देखा है। उन्हें देखते ही कलेजा धड़कने लगता। लेकिन यह बाबा कुछ दूसरी ही तरह के है। नंगी देह पर राख मलकर इस ठण्डी रात में बाहर आसन जमाये बैठे हैं। पागलपन का कोई निशान नहीं। तुमने देखा न, शांत चेहरे पर कैसी भावधारा उमड़ रही थी...आनन्द की तरंगें मचल उठी थीं ! पता नहीं, कब, किसे क्या हो जाये ?"

गोपीदास भी नहीं जानते। जिनका सारा जीवन साधन-भजन और मन्त्र में बीत गया, जिनकी दीर्घ आयु अब कोई विराम ढूँढ रही थी, वह भी नहीं जानते कि वह अजाना किस पथ पर...किस अँधेरे में मनुष्य को भटकाता रहता है। हम जैसों की तो बात ही क्या है ?

गोपीदास ने आगे जोड़ा, "लेकिन सभी अघोरपन्थी ऐसे ही होंगे, यह कहना भी ठीक न होगा। मेरे गुरु भी ऐसे ही खेपा (पागल) थे। उन्हें मैंने नग-धड़ग रूप में भी हँसते-रोते देखा है। धूल-माटी, मल-मूत्र किसी भी चीज में विकार नहीं, भेद नहीं। लेकिन ऐसा हर समय नहीं। जब उन्मादी की-सी दशा होती, तभी। यह तो वही समझ पाता है, जिसपर यह उन्माद छाता है। मैंने अपने गुरु की उस आविष्ट स्थिति को देखा है बाबाजी ! उस समय ऐसा ही जान पड़ता कि वह किसी दाहक यन्त्रणा में जल रहे हैं। उनका सर्वांग जल रहा है। भारी आघात लगने पर आदमी जिस तरह हँसता-चीखता है ठीक उसी तरह वह भी ठाकर हँसते। आँख-मुँह भींचकर जोर से चिल्लाने लगते..."ठहर रे स्साले... तू मुझे गोतने आया है...आ तो सही..." और हाथ में जलती लकड़ी लेकर पता नहीं, किसकी तरफ दौड़ते...मैं कुछ देख-समझ न पाता।"

मैं भी इस विचित्र संसार की, इन लोगों की कोई बात समझ नही पाता। अघोरी बाबा, गोपीदास और अभी-अभी दीख पड़े नग्न भावानन्द, साधक। जिसका जीवन लोभ, मोह और आकांक्षा की पंक से जुड़ा है, उसके मन मे भय की छाया क्यों न डोले ? मेरे लिए किसी के पागलपन की परिभाषा केवल भोग की वंचना से ही सम्बन्धित रही है।

उस घने अँधेरे में आस-पास क्या है, कुछ पता नही चल रहा था। सामने कोई बड़ा-सा पेड़ है, इतना ही समझ पाया। गोपीदास वहाँ खड़े हो गये। पास ही, एक कुटिया थी, जिसमे से जलते दीये का प्रकाश छन-छनकर आ रहा था। लोगों की बातचीत भी सुन पडी। एक तरफ़ अलाव सुलग रहा था। गोपीदास ने ही बताया कि यह मौनी बाबा का आश्रम है और यह रहा अक्षय वट।

अक्षय वट की बात सुनते ही मुझे प्रयाग के कुम्भ मेले की बात याद आ गयी। इलाहाबाद के किले की सीमा के पास ही, अक्षय वट नामक किसी पेड़ की छोटी-सी डाल की प्रदर्शनी हो रही थी। उसे देखने के लिए दर्शनार्थी सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आते और उसका स्पर्श कर पैसे चढ़ाते। बाद में, किसी सत्यान्वेषी के सहारे मैंने असली अक्षय वट का ध्वस्त चिह्न देखा था। इलाहाबाद के पुराने इलाके में, जहाँ जहाँगीर का पुराना महल था,. उसके एक छोर पर, दुर्ग की चारदीवारी के नीचे, गंगा के किनारे। वही था वह अक्षय वट," जिसपर चढ़कर लोग नीचे गंगा में छलाँग लगाते और डूब मरते। यही उनका पुण्य कर्म था, उनकी मुक्ति का सुगम साधन।

यहाँ भी एक अक्षय वट था, जिसके अँधेरे झुटपुटे में जुगनू टिमटिमा रहे थे। वृक्ष-तले भी आग जल रही थी। दो-तीन आदमी खड़े थे। पता नहीं, साधु थे या संसारी।

रास्ता पश्चिम की ओर निकल गया था और अँधेरे का जादू सबके सिर पर चढ़कर बोल रहा था। पेड पौधो की काली फुनगियों के बीच वक्रेश्वर मन्दिर का शिखर दीख गया। इसके आगे चलकर हम ब्रह्मानन्द अवधूताश्रम पहुँच गये। उत्तर की ओर का बगान पार कर जब हम पिछले दरवाजे से कुटिया के पास पहुँच गये तो ब्रह्मानन्द का स्वर सुन पड़ा, "थोड़ा-सा प्रसाद तो दे भैरवी! इतना कष्ट करके मदना बेटा पहुँचा गया...च्च...थोड़ा-सा चरणामृत दे दे...।"

"अच्छा...अच्छा, बहुत सुन लिया," उत्तर सुन पड़ा, "अब मैंने आग जला दी है।"

"ठीक ही किया, पहले थोड़ा-सा प्रसाद तो..."

जोगा का उत्तर सुन न पड़ा। दरवाजा बन्द था, इसलिए अन्दर कौन-सी लीला चल रही थी, यह देख न पाया। गोपीदास ने धीमे स्वर में इतना ही कहा, "लगता है, अब भी खुमारी उतरी नहीं है।" दूसरे ही क्षण वह जोर से पुकार

उठे, जय गुरु !"

अवधूत ने दरवाजा खोल दिया। भीतर दीया टिमटिमा रहा था। उसके मद्धिम प्रकाश में ही, मैंने देखा कि मिट्टी की लम्बी-चौड़ी बोरसी है, ऊँची-सी। दो बित्ता ऊँची। उसका घेरा दो हाथ का था। उसके बीच मे, सूखी डालियाँ पड़ी थी, महेजी हुई। कहीं-कही लकड़ी के छोटे-मोटे टुकड़े भी।

कमरे मे, पूरब की तरफ़ जो टूटी हुई चटाई बिछी थी, उसके पास ही एक छोटा-सा मटका रखा था और एक नर-खोपड़ी। हमारे अन्दर आते ही, जोगा चटाई पर से उठ खड़ी हुई और मुंह फिराकर बोरसी की तरफ बढ़ गयी। आँचल का छोर उसने अपने दाँतों मे दबा रखा था। शायद वह लकड़ियाँ सहेजने के लिए ही उठी थी। मैं अब भी नही समझ पाया कि चरणामृत का क्या आशय था और क्या हुआ ?

"आओ, अन्दर आओ," अवधूत ने कहा, "कहाँ घूमते रहे ?"

"बस, एक चक्कर लगा आया," गोपीदास ने बताया।

अचानक जोगा बाहर गयी और एक आँटी पुआल भर लायी। फिर मुट्ठीभर पुआल लेकर न जाने किससे बोली, "दियासलाई देना।"

अवधूत गोपीदास से पापहरा का किस्सा सुन रहा था। मैंने दियासलाई बढ़ा दी। जोगा ने मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में कोई अजीब-सी चमक खेल रही थी। उसने कहा, "बैठो।"

मैं उसके सामने ही, जमीन पर बैठ गया। उसने पुआल का एक सिरा जलाया और फिर बोरसी के पेटे में सहेजकर रखी गयी लकड़ियों मे ठूंस दिया। देखते-ही-देखते कमरा थरथराती रोशनी से भर उठा। उसी रोशनी मे मैंने देखा, जोगा के माथे पर सिन्दूर की लाल बिन्दी और माँग में भी सिन्दूर की रेखा झलक रही है। उसने पान चबाया था या नही, यह तो निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, लेकिन उसके दोनों होंठ इतने लाल क्यों हो उठे थे ? पाँव मे आलता ! क्या पता, उसके मुंह से आसव की गन्ध भी आ रही हो ! आग की लपटों मे उसके वक्ष का ऊपरी हिस्सा और भी दिप उठा था। उस पर रुद्राक्ष की माला झूल रही थी।

"क्या देख रहे हो ?" अचानक जोगा ने मुड़कर पूछ लिया।

मैं चौंककर इतना ही कह पाया, "वह...जी...ऐसा है कि आप कुछ बदली-बदली-सी नजर आ रही हैं।"

अवधूत भी ज़मीन पर कोहनी टेककर आगे बढ़ आया और बोला, "क्या कह रहे हो बाबाजी ?"

और उत्तर की आशा किये बिना ही छोटा लाल मटका और कंकाल-पात्र भी लिये आया। फिर हाथ उठाकर बोला, "गोपीदास...जरा इधर तो

आओ !"

गोपीदास आगे बढ़ आये। भैरवी की एक तरफ़ अवधूत था, दूसरी तरफ़ मैं। मेरे पास गोपीदास। दूसरे ही क्षण मैं चौंक पड़ा। दो काले-कलूटे जीव घर के अँधेरे से उभरे और आग के सामने उपस्थित हो गये। उनकी पूँछ हिल रही थी, आँखें कहीं और टिकी थीं। अवधूत ने हाथ उठाकर संकेत दिया--"चलो, बैठो हरामजादियो ! यहाँ...पास आकर बैठो।"

दोनों एक साथ दौड़ी आयीं और अवधूत की गोद में दुबक गयीं। अब भी दोनों उसी मटके की तरफ़ तक रही थीं। अवधूत ने पूछा, "पीओगी ?"

दोनों शर्मीली बालाएँ झेंप गयीं। अवधूत ने बड़े प्यार से दुलराते हुए कहा, "हरामजादी...!" फिर जोगा से पूछा, "प्रसाद तैयार है ?"

जोगामती ने गर्दन हिलाकर हामी भर दी। अवधूत ने अपना पात्र मटके में डुबाया और फिर उसमें थोड़ी-सी मदिरा निकालकर बायें हाथ की अंजुरी भर ली। फिर उन्हें काली बालाओं के आगे बढ़ाते हुए इशारे से कुछ कहा। दोनों ने अपनी जीभ निकालकर उसे चाट-चाटकर खत्म कर दिया। आश्चर्य ! ऐसा तो पहले कभी नहीं देखा। इस कारणवारि को अगर मदिरा कहना अपराध न हो तो किसी कुत्ते या कुतिया को मद्य पीते मैंने पहले कभी नहीं देखा। तभी जोगामती ने कहा, "चीता बाबाजी को भी दो !"

"तुम कहोगी, तब...?" कहते हुए अवधूत ने खोपड़ी में मदिरा ढाली और मेरी ओर बढ़ा दी, "लो बाबाजी ! पकड़ो—"

मैं ? यही मेरे कानों ने गलत तो नहीं सुना ! श्मशान की कारणवारि और वह भी नर-खोपड़ी में ? मैंने तुरत कहा, "नहीं...नहीं, मुझे नहीं चाहिए।"

"क्यों...क्यों नहीं चाहिए;" अवधूत ने डपटते हुए कहा जैसे, "लो, पकड़ो !"

मैंने देखा, मेरी इस स्थिति पर जोगा खिलखिलाकर हँस रही थी, उसकी देह लहक उठी थी। गोपीदास तुरत बोल उठे, "रहने भी दो दादा, कहीं इनका जी वी खराब हो गया तो फिर..."

"अब तुम चुप भी रहो...बाउल बटुक ! तुम्हें तो गाँजे का दम चाहिए और प्रकृति ठकुरानी...बस !"

"जगगुरु !" गोपीदास ने दुहाई दी।

मैं जोगामती की ओर कातर दृष्टि से देख रहा था। वही अशरण की शरण थी। जैसे वक्रेश्वर की शक्ति, महिषमर्दिनी, शिव की शक्ति काली और जगत् के प्राणियों की उद्धारक जगद्धात्री—उसी तरह मेरे लिए वही सबकुछ थी। लेकिन जोगा भी कहने लगी—"थोड़ी-सी पी लो न...!"

मैंने हाथ जोड़ लिये, "नहीं पी सकूँगा।"

लबालब-भरी नर-खोपड़ी को नीचे रखते हुए अवधूत बोले, "अरे सुनो तो सही—'मद्य मांसञ्च मत्स्यञ्च मुद्रा मैथुनमेव च। मकारपञ्चकंचैव महापातक-नाशनम्।' समझ गये न!"

मैंने मन-ही-मन कहा, यह तो मैं समझ ही गया कि इन पंच-मकारों से महा-पातक भी विनष्ट हो जाते हैं। लेकिन यह तो साधकों के लिए है। मैं इनमे कहाँ? मैंने फिर विनती की, "मैं एक साधारण आदमी हूँ ..मेरे पाप दूर न होंगे। मुझे छोड़ दीजिए।"

"मैं समझ गया...सब समझ गया," अवधूत ने पूरी तैयारी के साथ हमला किया, "शहर में शराब पीओगे...मांस खाओगे...वेश्या के अड्डे पर भी जाओगे। वह सब करोगे...लेकिन यहाँ यह नही कर सकते।...है न?"

मैं जानता था, यहाँ कोई तर्क देना बेकार है, इसीलिए मैं बार-बार जोगा की ओर देख रहा था। जोगामती ने इस बार कृपा कर दी, "बाबाजी को यह सब क्यों कह रहे हो...यह भी कोई बात हुई? वह जब कह रहा है तो उसके पीछे क्यों पड़े हो?"

अवधूत ने आगे कुछ कहा नहीं। उसने बायी हथेली को ऊपर उठाया फिर दो उँगलियों को मोड़कर, तर्जनी और कनिष्ठा सहित अँगूठे के बीचोंबीच उस मदिरापूर्ण खप्पर को उठा लिया। फिर पता नही, क्या कुछ बुदबुदाता रहा। दाहिने हाथ से वक्ष से लगी कल्पित जनेऊ को खींचकर उसका मदिरा-स्नान कराने के बाद, उसने एक बार जोगामती की ओर देखा और एक ही साँस में गटागट पी गया। थोड़ी देर तक उसकी आँखें मुंदी रहीं, वह इसी तरह शान्त बैठा रहा। फिर भारी स्वर मे कहने लगा, "यह बाउल बहुत इन बाबाजी का माथा चाट रहा है।"

गोपीदास ने जोगा की ओर देखा और दोनों हँस पड़े। अवधूत ने मुझसे कहा, "सुनो बाबा...चाहे जहाँ भी रहो, नारी की पूजा करो। इसी शक्ति-धारण के बारे में जान पाओगे। भैरवी ने प्रसाद दिया लेकिन तुमने उसका स्पर्श तक नहीं किया। यह बहुत ही बुरी बात है!"

"ठीक ही किया है," जोगा ने मेरा पक्ष लिया, "अरे यह सब क्या कहे जा रहे हो! बाबाजी को कहीं कुछ हो-हवा गया तो..." कहती हुई वह मेरी ओर देखकर हँसने लगी।

मैं जिस विचित्र परिवेश की कल्पना भी नहीं कर सका था, वहाँ अवधूत चुपचाप पड़ जाने के सिवाय और चारा भी न था।

अवधूत अब भी रुकने को तैयार न था। उसने दूसरी बार भी खप्पर में कारण-वारि को ढालकर पहले की तरह ही सारी विधि पूरी की और जोगामती की ओर तकता हुआ बोला, "पी लूं !" और एक ही बार में उसने खप्पर खाली कर दिया। उसकी लाल आँखें अब एकटक मुझ पर टिकी थीं। रह-रहकर वह मुझे इस तरह क्यों तकने लगता, यह मैं समझ नहीं पाया। मैं अपनी आँखें फेर लेना चाहता ही था कि तभी अवधूत मुसकरा उठा। पता नहीं, क्या रहस्य था इसमें ! उसने मेरी ओर आँख टिकाते हुए ही पुकारा—"माँ !"

माँ जोगामती ने स्वाभाविक स्वर में ही कहा, "हाँ...कहो !"

"इन आँखों मे कुछ विचित्र-सा ही भाव है, देखा तुमने ?"

मैं हैरान था। किसमे कौन-सा भाव है, इसे अवधूत आविष्कार कर रहा है। जोगा के होंठों की मुसकान मुखर हो उठी, "इतनी देर के बाद, तुमने बाबाजी की आँखों को पहचाना ? मैं तो पहले ही देखकर भाँप गयी थी।"

अवधूत ने अपनी गर्दन को हिलाते हुए स्वीकारा, "तुम कैसे नहीं समझोगी जोगा ! तुम्हारी दृष्टि से कोई चीज बच सकती है भला ?"

मैं अजीब संकोच में फँसा था ! यह भी कोई बात हुई ? तीनों की दृष्टि मुझ निरीह पर जमी थी। अवधूत ने फिर कहा, "आँखें देखी हैं इसकी ? मानो किसी ध्यान में हों। खूब जोर है बेटे की आँखों में ! अगर आविष्ट हो उठा तो गुण-ज्ञान कुछ भी न रहेगा...कुछ ऐसा ही भाव है।"

गोपीदास आह्लादित हो उठे—"तभी तो मैंने चीता बाबाजी नाम रखा है..."

अवधूत ने बीच में ही डपट दिया, "घत्तेरे की स्साले...चीता बाबाजी वाले। यह माल किसी दूसरी ही मिट्टी का बना है। तुमने देखा नहीं, इसकी दृष्टि किसी भी ओर नहीं। बस, एक तरफ़ खिंची रहती है। आस-पास क्या-कुछ हो रहा है, इसके ठेंगे से।"

गोपीदास पहले की तरह ही गर्दन हिला-हिलाकर और दाढ़ी नचा-नचा-कर कहते रहे, "नदी की तरह...ऐसा कहो ब्रह्मानन्द दादा ! यह तो मैंने पहले ही कहा था—अपनी मौज में बहते चले जा रहे हैं हमारे बाबाजी !"

अवधूत फिर फट पड़ा, "हाँ...हाँ...तेरे बाप के बाबाजी ...बड़े आये हैं हमारे बाबाजीवाले...स्साले बाउल बटुक !"

जोगा और गोपीदास आँखों-आँखों मे ही मुसकरा रहे थे। मैं इस स्थिति मे फँसा बुरी तरह छटपटा रहा था, विरक्त...असहाय। इनकी आँखों की तरफ़ आँख उठाने की इच्छा तक न रही। अब इनकी बातें, आँखें और मान-सिकता सब बदल गयी थी। मैंने कहा, "अब यह सब बातें रहने भी दीजिए।"

लेकिन वे सब अपनी ही बातों में मगन थे। मेरी बात शायद उनके कानों

तक पहुँची नही । गोपीदास ने अवधूत से कहा, "तो फिर तुम्हीं कहो ।"

"कहूँगा क्यों नही भला ! उसकी भक्ति का जोर देखा तुमने ? कदम-कदम पर मार खाता है, अपमानित होता है...फिर भी कही रुकता नही ।"

कौन मारता है मुझे ? किसने लांछित किया है मुझे ? मैं अपने ही बारे में नही जानता ! मेरे चेहरे को ममानवासी अवधूत पढ़ रहा है । किसमें है मेरी भक्ति और उसका जोर ही भला कितना है ? ये सारी बातें आत्म-सम्मोहन जगानेवाली थी । फिर भी मैं चुपचाप बैठा रहा । गोपीदास और जोगा की आँखें रह-रहकर मुझे तक लेती । अचानक...अवधूत ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा । उसके प्रथम स्पर्श ने मुझे चौका दिया । उसके तप्त, भारी हाथ की हथेली भी काफ़ी वजनी थी । हौले-से झकोलते हुए बोला, "अच्छा है...बहुत अच्छा !" और इतना कहते हुए उसने जोगा की ओर मुड़कर कहा, "यह क्या सोच रहा है, जानती हो !...यह सोच रहा है कि मैं इसकी ईश्वर-भक्ति के बारे में कह रहा हूँ ।"

फिर उसने मेरी ओर तककर कहा, "ऐसा नही है बाबा...भक्ति का भाव कोई दूसरी ही चीज होती है, किसी खेत की तरह । उस जमीन पर चाहे जैसे बीज छींट दो, वह अवश्य फलेगा, समझे ? तुममें यह गुण है ।"

भक्ति का कोई ऐसा भी प्रकार होता है, ऐसा मैंने जाना-सुना न था । वैसे उसकी बात बुरी तो नहीं लगी । गोपीदास पुकार उठे थे, "जयगुरु ! एकदम खाँटी बात कही है अवधूत दादा तुमने !"

अवधूत को इसका कोई ख्याल न था । वह पहले की तरह ही खप्पर में मद्य-पान करने लगा । पीने के बाद मुझसे फिर बोला, "तुम्हें अच्छा तो लगा बाबा ! तू मरेगा बेटा...तुझे शान्ति नही है । तू पास आ मेरे ! तेरे साथ दो बातें करूंगा । बिना शव के शव-साधना नही होती, यह तो जानते ही होगे । बिना तुम्हारे, जी की बातें न हो सकेंगी ।"

"जयगुरु !" गोपीदास की इस जयध्वनि के साथ ही जोगा मुसकरायी और मेरी ओर टकटकी लगाये देखती रही, मानो मुझे सम्मोहित कर रही हो ।

अवधूत कहता रहा, "कोई खास बात नही । कुछ भी नही । लेकिन भक्ति के बाद नारी की पूजा भी करो । केवल ऊपरी पूजा से कुछ नही होता । बेटा जिस तरह माँ की या फिर मनुष्य किसी देवी की पूजा करता है, वैसी ही । खाँटी नर के लिए जैसे देवी पूज्य है, वैसे ही, याद रखो कि नारी भी पूजा का ही एक अग है ।"

मैं पूछे बिना रह न पाया, "आप यह सब मुझसे क्यों कह रहे हैं ? न तो मैं साधक हूँ और न तन्त्र-मन्त्र का ज्ञाता ।"

"न भी हो...इससे क्या ? ध्यान तो है ! तेरे मन में जो भाव है, उससे

बिना नारी के तेरे दिन नहीं कटेंगे। तू जहाँ जायेगा, वहीं वे दौड़ी आयेंगी। मेरा कुछ नहीं बाबा ! मैं तो खोखली-ओखली हूँ ..मसान का कुत्ता—"

अचानक अवधूत का गला रुँध गया। उसके हृदय में भी कोई हूक-सी जगी थी। तभी जोगामती का स्वर भी भीग उठा था—"ओ बाबा..."

'जगगुरु,' गोपीदास पुकार उठे। अवधूत ने अपने सीने पर से हाथ उठाया और खप्पर मे मदिरा भरकर, पहले की तरह पी गया। अगले ही क्षण, सारा परिवेश बदल गया और अब अवधूत की दोनों आँखें मानो जल रही थीं।

गोपीदास की बात मुझे याद आ गयी। उन्होंने भी स्वयं को पतित बाउल बताते हुए गहरी साँसें भरी थी और आँसू बहाये थे। अब अवधूत भी कुछ वैसा ही कह रहा है...खोखली-ओखली...मसान का कुत्ता ! मुझे इस समय यही जान पड़ रहा था कि वह अवधूत नहीं, कोई दूसरा ही आदमी था, जो आँखें मिटमिटाकर कहता रहा, "यह नशा है बाबा ..नशा। तुम इन दो कुतियों को देख रहे हो न...इन्हें गाँव के घरों मे लाख भेजो, नहीं जायेंगी। इस मड़ैया की मदिरा पिये बिना, इनका पेट ही नहीं भरता...जी ही नहीं जमता। ठीक यही हालत मेरी है।

जोगामती ने रोका, "अब यह सब रहने भी दो।"

अवधूत कहता रहा, "नहीं माँ देवी, इसे तभी तो बता रहा हूँ। वरना यह पहचानेगा कैसे ? मैं तन्त्र-मन्त्र, पूजा-पाठ करने थोड़े न बता रहा हूँ ? कह रहा हूँ जो भी कन्या जिस भाव के साथ आये, उसे तुष्ट करना। उसका मान रखना, मन जुगाना। इससे ही कल्याण होगा। शक्ति बढ़ेगी।"

मैं इन बातों का सच-झूठ नहीं जानता, लेकिन वह मेरे अनुभव के विविध रंग-रूपों में ढल गया। सारा कुछ रहस्यपूर्ण, व्यंजनामय !

मैं चुपचाप बैठा रहा। अवधूत अपनी धुनकी मे बहता चला गया, "कलयुग में तो वेद-साधन रहा नहीं। तन्त्र साधना ही योग्य विधि है। यही शक्ति-साधना है। अब जिनके लिए है, मैं उनकी बात कर रहा हूँ। मेरे हाथ तो कुछ लगा नहीं। बिना ध्यान के कुछ होता भी नहीं। शास्त्रों के अनुसार सुरा शक्ति है और मांस शिव। शिवशक्ति के भक्त हुए भैरव। अब अगर तीनों ही एक-मेक हो जायें तो यही मोक्ष का कारण है। लेकिन मद-मांस के चक्कर में हाजमा बिगड़ गया। खट्टी डकारों और उबकाई से तो अब जान बचाना मुश्किल हो गया है।"

अवधूत की आँखों से जैसे खून की दो बूँदें टपक जाना चाह रही थीं। वे पलकों पर झिलमिला रही थीं। उसने अपना हाथ बढ़ाकर जोगामती के आलता-लगे पाँवों को पकड़ लिया। जोगा ने अपने दोनों हाथ से उसके हाथों को थाम लिया। मैंने भैरवी की आँखों मे इसके पहले भी आँसू देखे थे, उद्विग्नता देखी

थी। लेकिन अभी उसका चेहरा एकदम ही बदल गया था। उस पर घने, गाढे एवं अन्धकारपूर्ण विषाद की गहरी छाया थी। एक कातर स्त्री, किसी असहाय पुरुष का हाथ थामे बैठी थी। बोली, "इस तरह क्यों कह रहे हो भला ! मुझे पाप नही लगेगा ?"

"नही माँ नही...तू ठहरी जोगमाया, महामाया," अवधूत सिर मटकाते हुए बोला, "तुम्हें पाप छुयेगा ? जल न जायेगा ! लेकिन तुम्हारे होते हुए भी मैं पूजा न कर पाया। कुलस्त्री पाकर भी मेरी शक्ति-साधना पूरी नही हुई। बस अनाचार में ही डूबा रहा।"

अवधूत के स्वर मे दूर से बहकर आनेवाली झंझा का हाहाकार था, जिसमें क्रन्दन नही, शोकातुर विलाप था—विह्वल एव ग्लानिपूर्ण। आखिर यह निष्फल साधना का हाहाकार था या कि जोगा भैरवी के सम्मुख अपने कुकर्मों का अनुताप ! एलाकाटा के घर से, जोगा को दुख देने की ग्लानि से मर्माहत होकर वह इस तरह कहता जा रहा था।

"झूठ क्यों कह रहे हो ?" जोगा ने कहा, "मैं क्या तुम्हारी वही शक्ति हूँ ?"

अवधूत ने व्याकुल स्वर में कहा, "ऐसा न कहो। तुममें जो है, वह किसी में नही।"

जोगा ने अपने हाथों से अवधूत का हाथ उठाकर अपने माथे से छुआया। बोली, "मैं जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त तुम्हारी पूजा कर पाऊँ, यही कामना है। अगर मेरा कुछ है तो मैं इतना ही चाहती हूँ।"

इस दृश्य को देखकर लगा कि दोनों प्राणी तन्त्र-मन्त्र, साधन-आचरण से परे, हृदय-सागर की तरंगों में बह रहे हैं। अगर दोनों को मिलाकर एकाकार किया जा सके तो साधना सफल होती है। दोनों परस्पर को पूज सकें, तभी सारी आराधना सफल होती है। यहाँ हम जिनकी चर्चा करने बैठे थे, वही बहते चले जा रहे थे। गोपीदास की दृष्टि भी आविष्ट थी। वे विभोर होकर दोनों को देख रहे थे।

थोडी देर बाद, अवधूत ने फिर खप्पर भरकर मदिरा-पान किया। फिर कुलस्त्री की व्याख्या शुरू की। ब्राह्मणी, शूद्रा, रजकी, गोप बाला, कापाली, नट वधू, वेश्या, नागरी और मालाकार, ये नौ प्रकार की कुलस्त्री होती है। मैं यह पूछना चाहता था कि इसमें ताँती की स्त्री का उल्लेख क्यों नही ? शायद मेरे प्रश्न को ताड़कर ही कहा, "लेकिन सबसे अच्छी कुलस्त्री वही होती है जो 'विशेष वैदग्ध्ययुता सर्वा एव कुलाङ्गना' हो। परपुरुषगामिनी होने पर भी विदग्धा कुलस्त्री होगी। इसका मतलब यह नही कि वह पुरुषों का शिकार करती फिरे। जो कुलाचारी है, वही परपुरुष है। भले ही, वह

कोई हो। और पूजाकाल में वही पुरुष—"पूजाकाले च देवेटि वेश्याय परितोषयेत्'—वेश्या की तरह उसे सन्तुष्ट करेगा। पूजा काल के अलावा जिसके मन में कोई पुरुष नहीं होता, वही कुलस्त्री हुई।"

"कुलाचारी के अनुसार, आगमोक्त पति ही शिव-स्वरूप है, वही गुरु भी है। विवाहित पति, पति नहीं होता। कुल-पूजा में स्वामी के त्याग में नारी को दोष नहीं लगता। ऐसी कुलीना साक्षात् काली होती है।"

इसके बाद ही, अवधूत ने पुकारा, "महामाया !"

"बोलो," जोगामती ने कहा।

"मैं तुम्हारे संग पट्चक्र के बारे में बातें करूँगा।"

'ठीक है। कहो !"

दूसरे ही क्षण, सारा परिवेश बदल गया। दोनों आमने-सामने बैठे थे। जोगा पालथी मारकर हाथ जोड़े बैठी थी। ब्रह्मानन्द अपने घुटनों पर हथेली टिकाये जमा था। उसने पूछा, ' माँ, मेरुदण्ड के दोनों ओर क्या है ?"

"इड़ा और पिंगला।"

"बायीं और दायीं के बीच ?"

"सुषुम्ना...मस्तिष्क पर्यन्त।"

"सुषुम्ना के बीच क्या है ?"

"वज्राख्या।"

"उसके बीच ?"

"चित्रिणी।"

"सुषुम्ना नाड़ी में और क्या-क्या है माँ ?"

"सात पद्म—आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्र-दल।"

मैं सुन-सुनकर हैरान था। दोनों की ओर देख-देखकर कुछ समझने की चेष्टा व्यर्थ गयी। मैं पट्चक्र विधान के बारे में क्या जानूँ ! इस जटिल मन्त्र-प्रक्रिया से भी पूरी तरह अपरिचित। उनके विचित्र संवाद को सुनकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा इसलिए भी कि बंगाल के दूर ग्रामाञ्चल की किसी ताँती की बहू के मुँह से यह सब सुन रहा था, जो दृष्टि स्थिर किये ध्यान में डूबी थी—मानो समाधिस्थ हो। माथे पर चमकती लाल बिन्दी के कारण वह किसी त्रिनयनी देवी-प्रतिमा-सी प्रतीत होती थी।

ब्रह्मानन्द ने फिर पूछा, "आधार पद्म में कितने दल होते हैं ?"

"चार। इन चार दलों के चार वर्ण होते हैं—वं, शं, षं, स। इस पद्म में चौकोर धराचक्र है, जिसके आठ कोण हैं। इनके बीच जगत् बीज लं है, और कर्णिका के बीच है त्रिकोण यन्त्र। इस पद्म में स्वयं महादेव प्रतिष्ठित हैं, लिंग

रूप धारण करके। उनके अमृत धारण प्रदेश में सर्पिणीरूपा कुण्डलिनी शक्ति विराजती है।"

अवधूत एक-एक कर स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, आज्ञा और सहस्रदल पद्म के बारे में पूछता रहा और जोगामती विस्तार से उनकी स्थिति, वर्ण, नाड़ी आदि के बारे में बताती रही। अन्त में, सहस्रदल के बारे में अवधूत ने पूछा, "जगत्तारिणी माँ...वहाँ क्या है?"

"चन्द्रमण्डल, त्रिकोण यन्त्र और मध्य स्थान में परम शिव।" और इसके साथ ही जोगामती की सारी देह झूमने लगी। उसकी मुख-मुद्रा से लगा, वह आविष्ट हो चुकी है। जमीन पर झुककर उसने ब्रह्मानन्द के पाँव छुए... और ब्रह्मानन्द ने भी पीठ झुकाकर जोगामती के दोनों हाथ अपने हाथों में ले लिये। फिर आह्लादभरे स्वर में 'जय जोगमाया, जय महामाया!' पुकारता हुआ उठ खड़ा हुआ। जोगामती को उठाते हुए बोला, "चल भैरवी! थोड़ी देर ध्यान लगायें चलकर।"

"चलो।"

दोनों एक-दूसरे का हाथ थामे, गड़े हुए त्रिशूल के सामने पहुँचे और ध्यान-मुद्रा में हमारी तरफ़ पीठ किये आसन लगाकर बैठ गये। जोगामती की केशराशि पीठ तक बिखरी हुई थी, फिर भी खुली पीठ का एक हिस्सा दीख रहा था। उस टिमटिमाती रोशनी में, दोनों अस्पष्ट छाया की तरह प्रतीत हुए। एक ही कमरे में होते हुए भी वह हमसे काफी दूर चले गये थे। ऊपर, ताक पर रखा, सिन्दूरपुता नरमुण्ड उस फीकी-सी रोशनी में और भी सफेद हो उठा। खोखली आँखों की शून्य दृष्टि कहीं दूर टिकी थी। दोनों काली कुतियाँ भी उनके पास जाकर बैठ गयीं।...उन क्षणों में मैं सबकुछ भूल चुका था—भूत, वर्तमान, देश, काल, जीवनयापन और चिन्तन-मनन से परे कालातीत, विस्मित, आविष्ट और किसी रहस्य-लोक के द्वार से टिका।

इधर गोपीदास का ध्यान टूटा। वह कमरे में एक ओर रखी लकड़ियाँ उठाकर आग को जुगाये रखने की तैयारी करने लगे। फिर मेरे कन्धे पर हाथ रखकर धीमे-से बोले, "काफी रात हो चुकी है बाबाजी! चलो, अब चलकर सो जायें।"

मैं सम्मोहित था जैसे। उस टूटी-फूटी चटाई पर ही मैंने हाथ-पाँव फैला दिये। आँखें मुँद गयीं। मुझे लगा, मेरी आँखों के सामने ही आग की लपटें उठ रही हैं। कमरे में जलता हुआ यह अलाव था या कि दहकती चिता, कुछ समझ नहीं सका। ठण्ड तो लग ही नहीं रही थी। बाहर-भीतर हर जगह शान्ति और स्तब्धता थी। कहीं कोई शब्द नहीं...

सुबह जब नींद खुली तो चारों ओर सुनहली धूप झिलमिला रही थी।

चिड़िया चहचहा रही थीं। घर में कोई न था, न गोपीदास न ब्रह्मानन्द। आँख खुली तो सामने जोगामती दिखी, पिछवाड़े के बगान से अन्दर आती। इस समय उसका चेहरा ही कुछ दूसरा था, पिछली रात-जैसी कोई बात न थी वहाँ। नहाई-धोई और ताजगी से भरी।

"नींद पूरी हो गयी बाबाजी ?" उसने हँसकर पूछा।

"हाँ," अपनी हथेलियों से अपना चेहरा साफ़ कर मैंने यह उत्तर दिया—"लेकिन ये कहाँ गये ?"

"बाहर धूप में बैठे हैं।"

मुझे जल्दी वापस लौटना था। इसलिए बाहर जाकर मैंने गोपीदास को आवाज दी। वह भी जाने को तैयार बैठे थे। जोगामती ने बाल्टी में पहले से ही कुण्ड का गरम जल लाकर रख दिया था। मैंने जल्दी से अपना हाथ-मुँह धो कन्धे पर अपना झोला टाँगा ही था कि जोगामती ने डपट दिया, "अब देखो...कैसे भाग रहे हो। टुक बैठो भी। चाय-मूढ़ी तो ले लो।"

चाय मूढ़ी ! अरे वाह ! इस ठण्डी सुबह में ! मैंने तो इसकी आशा भी नहीं की थी। जोगा ने फूल के कटोरे में मूढ़ी और अल्यूमिनियम के गिलास में चाय बढ़ा दी। फिर बोली, "सभी ले चुके, तुम्हारे हिस्से की पड़ी थी।"

मैंने पूछा, "आप सब उठे कब ?"

"फिर वही ?" जोगामती ने आँखें तरेरकर धमकाया। मुझे तत्काल उसकी बात याद आ गयी। मैंने सुधारकर कहा, "तुम सब कब जगे ?"

जोगामती की आँखें मुसकरा उठीं। उसने गर्दन हिलाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बताया, "इसमें जागने-जैसी बात ही कहाँ ? हम दोनों तो सोये ही नहीं। मुँह-अँधेरे ही पापहरा जाकर नहा-धो आये।"

मुझे पिछली रात की बात याद आ गयी। उस कुलस्त्री साधिका भैरवी की स्थिर दृष्टि, आविष्ट मुद्रा, जटिल षट्चक्र का निरूपण और विचित्र वर्णन। वही अब परिहासरसिका गृहिणी बनी, पास बैठी जलपान करा रही है !

अचानक उसकी लाल आँखों का दर्प मुखर हो उठा, "क्या देख रहे हो ?"

"तुम्हें," मैंने कहा, "कल रातवाली से आजवाली का कोई मेल ही नहीं दीख रहा।"

"क्यों ?"

"क्या पता ?"

उसने हवा में अपना हाथ उछाला और मुक्का दिखाती हुई बोली, "मैं तुम्हारी दोनों आँखें निकाल लूँगी, समझे ! तुम्हारी नजर बहुत बुरी है।" और हँसती हुई झुमक लगी, "गोपीदास ने तुम्हारा नाम बिलकुल ठीक रखा है, चीता बाबाजी...चीता बाघ।"

मैंने उसकी बातों को अनसुना करते हुए कहा, "मैं तुम्हारा वह रूप भूल नहीं सकता। मैं कुछ समझ तो नहीं पाया लेकिन तुम इतना कुछ जानती हो .. कि..."

"खाक जानती हूँ," जोगामती ने अपनी हथेली से मेरा मुँह बन्द करते हुए कहा, "अब वह सब जाने भी दो। यह बताओ कि फिर कब आओगे ?" उसने मेरा हाथ पकड़ लिया था।

"जब भी मौका मिला..." मैंने उत्तर दिया और दरवाजे की ओर तकता रहा। मेरा हाथ थामे हुए ही वह साथ-साथ बाहर आयी। गोपीदास और ब्रह्मानन्द बातें कर रहे थे। मुझे देखते ही गोपीदास उठे और भागे आये। आँखों की पुतलियाँ नचाकर वह पूछने लगे, "क्या हुआ जोगा दीदी! बाबाजी को छोड़ने को जी नहीं चाहता तुम्हारा ?"

"नहीं," जोगामती की गर्दन हिली। सहज बात और सरल उक्ति। मेरी तरफ़ देख-देखकर मुसकाती भी रही। मैं भी। मुझे लगा, इस श्मशानवासिनी को वर्षों से जानता हूँ। लेकिन एक क्षण बाद ही, मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब मुझे याद आया कि यह वही ताँती की अगोड़न बहू है, जो कभी कार्त्तिक घोषाल के साथ भाग आयी थी।

गोपीदास आँखें फैलाकर कहने लगे, "सुन रहे हो न ब्रह्मानन्द दादा! सर्वनाश !"

ब्रह्मानन्द उठकर आया और मेरा हाथ पकड़कर बोला, "इस बेटे को तो मेरा जी भी नहीं छोड़ना चाहता...क्या करूँ ?"

उसने इतना कहा और मुझे लिपटा लिया, "फिर आना बाबा! जिन्दा रहे तो फिर भेंट होगी " उसका स्वर भर्रा गया था, वाणी कातर हो उठी थी। मैंने कहा, "आऊँगा।...अब चलूँ !"

गोपीदास के साथ मैं अवधूताश्रम से बाहर निकल आया। टूटे मन्दिरों की ओट में ही आश्रम, अवधूत और जोगामती छूट गये। चन्द्रसागर की बगल से हम पक्की सड़क पर आ गये। वहाँ से भी वक्रेश्वर के महाश्मशान मे कोई नयी जलती चिता दीख पड़ी। सचमुच, इसकी चिता-ज्वाला कभी नहीं बुझती।

गोपीदास मेरे संग दुबराजपुर तक जाना चाहते थे। यह उनका स्नेह ही था। लेकिन मैं नहीं चाहता था कि वह खामखाह रेल के धक्के खाते सिउड़ी पहुँचें। इससे तो अच्छा यही होता कि वे यहीं से सिउड़ी लौट जायें, बस पर। मैंने उनके हाथ में किराया रखकर ऐसा ही कहा।

वक्रेश्वर गाँव के पड़ाव पर मेरी बस पहले आ गयी। मैं बस पर सवार होने जा ही रहा था कि गोपीदास की बूढ़ी आँखें भीग उठीं। बस, इतना ही बोले, "जयदेव मेले पर भेंट होगी न...बाबाजी !"

मैंने हामी भरी और अपनी सीट पर जा बैठा। मेरी यात्रा सन्थाल परगना की ओर की थी, जहाँ से मैं शान्तिनिकेतन के पौष मेले में गया था। पौष-संक्रान्ति की अपेक्षा, केन्दुलि न जाकर दक्षिण की ओर जाना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ा।

मैं अपने काम को अपनी भावनाओं के साथ मिला ही कब पाया? सन्थाल परगना के निर्जन अंचल में, अचानक ही, अट्टहास-भरी हँसी एक नये कौतूहल में ढल गयी। मैं उसकी पुकार सुनकर अपने को रोक न पाया। उन बावन देवी-पीठों मे एक पीठ का नाम था 'अट्टहास', जहाँ देवी का ओष्ठ गिरा था।

और ऐसा भी कहीं होता है भला? यह भी नही जानता कि वहाँ जाने की इच्छा क्योंकर हुई? किसकी खोज है, यह भी नहीं समझ पाता। रुक नहीं पाता, इसीलिए निकल पड़ता हूँ शायद!

वर्द्धमान से कटवा पहुँचा और वहाँ से छोटी लाइन की गाड़ी पर सवार हो पाचनदि उतरा। छोटा-सा हाट लगा था वहाँ। कोई संगी-साथी नहीं। पग-डण्डियों पर जाते-आते इक्का-दुक्का लोगों के साथ दो-चार बातें हो गयीं, बस उन्ही से मैंने पीठ का पता पूछा था।

वैसे अट्टहास गाँव के साथ अट्टहास क्षेत्र की कोई तुलना नहीं। डूबते हुए दिन के साथ ही, मैंने गाँव की सीमा पर तेज बहनेवाली एक स्रोतस्विनी को देखा—टेढ़ी-मेढ़ी, खल...खल बहती जा रही। उस पार धान के लम्बे-चौड़े खाली खेत। धारा के बीचों-बीच घनी छाया से मण्डित एक सुविस्तृत अरण्य-द्वीप तिर रहा था। वही था 'अट्टहास' क्षेत्र।

इस किनारे एक नौका बँधी थी। माझी का पता नही। पतवार रखी थी। आस-पास भी कोई नहीं। शायद खुद ही पतवार चलानी पड़ेगी। इसी उधेड़बुन में पड़ा था कि एक नाटा-सा आदमी आ खड़ा हुआ। छोटे-छोटे बाल, सिर पर चोटी और माथे पर सिन्दूर की छाप। घुटने तक धोती और देह पर सूती चादर। उसकी छोटी-छोटी आँखों में कोई जिज्ञासा थी।

"कहाँ जायेंगे महाशय," यह प्रश्न उसकी नाभि से निकला था जैसे।

"उस पार। अट्टहास के मन्दिर में।"

उसकी आँखें फटी रह गयी, "मन्दिर? क्या करेंगे वहाँ?"

"बस यूँ ही...देखूँगा।"

"अकेले हैं?"

'हाँ।"

"लेकिन वहाँ तो कोई नहीं।"

"यह क्या ? मन्दिर में पूजा-आरती तो होती होगी ? कोई देखभाल करता होगा ?"

"वहाँ देखभाल करने को रह ही क्या गया ? एक बार पूजा हो जाती है, बस। मैं ही दीप जला आता हूँ। सुबह से दोपहर तक रहता हूँ। इसके बाद चला आता हूँ।"

"आप ही पूजा करते हैं ?"

"जी। मैं देख रहा था कि कोई परदेसी गाँव से इधर ही आ रहा है। इसी-लिए मैं भी आ गया कि देखूँ कौन है भला।"

अच्छा तो देवी अट्टहास के पुजारी स्वयं उपस्थित है। मैं आशान्वित हुआ। बल मिला।

"वहाँ कोई घर-द्वार नही," मैंने जानना चाहा।

"हाँ, है। लेकिन कोई रहता नहीं। अकेला वहाँ कौन पड़ा रहे ? अब वहाँ रह भी क्या गया कि आप देखेंगे ! फिर भी, चलना हो तो चलिए। अन्धकार हो जाने पर तो जाना मुश्किल हो जायेगा।"

"लेकिन माझी...?" मैंने आस-पास तकते हुए पूछा।

"आप आइए तो सही...चढ़िए।" पुजारीजी मेरे बाद ही, नाव पर सवार हो गये और रस्सी खोल दी। हम तेज़ धारा में बह चले। लेकिन पुजारी भी कुछ कम नही थे, वह नाव खेते हुए उस पार ले गये। एक खूंटी से नौका बाँधते हुए उन्होंने बताया, "माझी तो है नही। जब भी कोई आता है, वह इसी नाव पर पार होकर नाव बाँध देता है। उस पार के यात्री नाव बँधी देखकर इस आशा में रहते हैं कि वह लौटेगा तो सही ! फिर उसकी बारी भी आयेगी।"

नियम वैसे बुरा तो न था। लेकिन समय ? अब अगर किसी को जल्दी आना-जाना हो तो तैरा करो। क्योंकि दूसरे किनारे से कब कौन लौटेगा, यह तो तुम्हारे भाग्य से ही निर्धारित होगा।

पुरोहित के साथ-साथ मैं खेत पार कर घने अरण्य-द्वीप की सीमा में प्रविष्ट हुआ। एक बहुत बड़े, बूढ़े पीपल के इर्द-गिर्द उगी झाडियो के बीच से एक पतली-सी पगडण्डी चली गयी थी, साँप की तरह बल खाती। सिर झुकाकर चलना पड़ा। मकड़ी के जालों और पेड़-पौधों की डालों एवं झाड़ियों से जूझना पडा।

अब मैं एक नये राज्य मे था। पृथ्वी पर नही, किसी दूसरे ही ग्रह पर। घना अन्धकार, पाँव-तले सूखे-पत्ते और गीली माटी। जंगली लतरो एवं पत्तों की सीलनभरी बू। शायद वहाँ प्रकाश ने कभी झाँककर नही देखा। किरनें घने पत बुनाव को बीध न पायी थी। ठण्ड भी कुछ अधिक ही थी। चारो ओर स्तब्धता थी, केवल झींगुरो का शोर था। क्या यहाँ कोई पशु-पक्षी नही ?

पुरोहित मेरे आगे-आगे जा रहे थे। बीच-बीच में एकाध बात पूछ लेते। यही नाम-धाम और काम। साथ ही यह आक्षेप भी कि देवी मन्दिर में आता ही कौन है? किसे पड़ी है? अचानक पगडण्डी की बायीं ओर एक छोटा-सा तालाब दिख गया, लेकिन उसके जल पर तो काई और पनबेल बिछी है। जल नहीं दीखा। तभी कोई नकचढ़ी-सी आवाज भी सुन पड़ी। कौन रो रहा है? मैंने इधर-उधर देखा। पुरोहितजी से भी इस बारे में जानना चाहा।

नहीं जानता, वह बहरे थे या नहीं। इसी तरह निर्विकार चलते रहे। मैंने उनके पास जाकर पूछा, "यह किसका स्वर है?"

उन्होंने अपने कान ऊँचे कर दिये और मुझसे ही जानना चाहा, "कहाँ... किसका स्वर?"

आश्चर्य है! वह स्वर तो क्रमश: अधिक स्पष्ट हो चला था। मेरी देह झनझना उठी। दूसरे ही क्षण पुरोहितजी ने अपना मुँह ऊपर उठाया और हँस पड़े, "अच्छा, तो आप इन गिधों के बारे में कह रहे थे? पेड़ों पर बैठे चिल्ला रहे हैं।"

मैंने ऊपर देखा। पेड़ की नंगी डालों पर काले दैत्य के भुजंग हाथ की तरह बैठे शकुन। लगा, जैसे कई तो हमें तक रहे हैं। पर, कुछेक दूर दृष्टि टिकाये बैठे है, गले में लाल झोली लटकाये। उनमें से लाल खप्परवाली एक गिधनी डैने फैलाये बैठी चीख रही थी। उसका सिर बुरी तरह हिल रहा था।

"इधर आइए।" पुजारी की आवाज सुनकर मैं दायीं ओर मुड़ा। रास्ता चौड़ा था वहाँ। उससे भी बड़ा और खुला मन्दिर का प्रांगण—जहाँ एक काठ की हाँड़ी रखी थी। झाड़-बुहारकर प्रांगण साफ नहीं रखा गया था, सूखे पत्ते और शकुन की बीट से गन्दा पड़ा था। पेड़ों की डालियों से ढलते हुए लाल सूरज की लाली से सारा प्रांगण भर उठा था, मानो किसी ने उस स्थान को रक्त से लीप दिया हो। काठ की हाँड़ी भी ताँबई हो गयी थी।

पुरोहित का आर्द्र स्वर भी अब बदल गया था। नदी के उस पार मैंने ध्यान से देखा न था। अब उसकी वही छोटी-छोटी आँखें रक्तिम और तीखी लगने लगीं। वह किसी स्वप्न में डूबा था जैसे। मेरी ओर तकते हुए बोला, "इधर।"

मैं उसके गुरु-आदेश का पालन करता हुआ मन्दिर के पास आ खड़ा हुआ। छोटा-सा मन्दिर। सामने की ड्योढ़ी लाल सीमेण्ट से पक्की की गयी थी। कुल मिलाकर एक पक्के घर की तरह।

पुरोहित की मैली-सी चादर का एक सिरा नीचे झूल रहा था। अन्दर से उसकी देह पेड़ के तने की तरह ही सख्त दीख पड़ी। छोटे-छोटे हाथ-पाँव, बेडौल। जनेऊ धारण किये हुए धोती भी कुछ वैसी ही थी लेकिन दिपती हुई-सी। वह सामने की ओर देख रहे थे। वहीं से जमीन भी नीचे की तरफ़ उतर गयी

थी। पेड़-पौधों और झाड़ियों की फांक से रक्ताभ जलधारा झिलमिलाती हुई दीख पडी। नदी इतने पास ही बह रही है, इसका पता पहले नही चल पाया था। पुरोहित ने पुकारकर कहा, "शिवा...!"

नीचे ढलान की झाड़ी से कुछ ही देर मे एक नीला सियार निकला और ऊपर आकर चुपचाप खड़ा हो गया। मै उसकी आंखो की पुतलियां नही देख सका। शायद वह मेरी ओर ही तक रहा होगा। उसकी झबरीली पूंछ एकाध बार हिल उठी। थोड़ी देर के बाद वह विदा हो गया। जाते हुए दो एक बार मुडकर तक भी लिया उसने। गिधनी की चीख और पुरोहित की शिवा-पुकार सुनकर मुझे यह लगने लगा था, यह कोई कापालिक होगा। आस-पास सिवा जगल के कुछ न था। बड़े-बड़े जटाधारी पेड और गहराती जा रही शाम। एक ओर वीरान खेत फैले थे, जिनका कोई ओर-छोर ही न था।...मैं सचमुच डर गया। रोएँ खड़े हो गये थे। इस समय अकेले यहाँ आकर मैंने कुछ अच्छा नही किया...*वह भी इस आदमी के साथ!* पुरोहित ने मेरी ओर देखते हुए कहा, "अब सारी रात इसी मन्दिर मे पहरा देना है।"

कहते हुए उन्होने कमर में खोसी गयी चाबी से मन्दिर का ताला खोला। पता नहीं, इस ताले की ऐसी क्या जरूरत थी। किसी को कुछ चुराना ही होगा तो ताला न तोड़ देगा! कौन है जो उसे रोकेगा? एक ओर दो कमरे भी दीखे, जिनपर कोई छप्पर न था। दरवाज़े खुले थे। कौन रहता होगा वहाँ?

मन्दिर का दरवाजा तो खुला। भीतर गाढ़ा अँधेरा था। कुछ सूझा ही नही। उन्होने फिर पुकारा, "आइए।"

कहाँ? मन्दिर के भीतर? मैं इतना साहस नही बटोर पाया। तो भी एक-एक कदम आगे बढ़ाता सीढ़ी तक पहुँचा। वहाँ से पहली बार जो कुछ दिखायी पड़ा वह थी एक खाण्डे की चमचमाती धार। यह बलि-खड्ग था। पुरोहित अँधेरे मे कहाँ गायब हो गये, यह मैं नही देख पाया। देवी-विग्रह के स्थान पर स्तूप की तरह कुछ स्थापित था। पता नही देवी के ओष्ठ का क्या स्वरूप था? नाम है अट्टहास। ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई करालमुखी मुंह फाड़े खड़ी है... और हा...हा...करती हँस रही है।

अचानक पत्तों के खड़कने की आवाज। मैंने पीछे देखा। वही नीला सियार —शिवा मेरी ओर देखता हुआ किसी झाड़ी मे दुबक गया। मैंने देखा, एक पुराने वटवृक्ष के तले गोटा सिन्दूर पोता गया है। कुछेक मिट्टी के घोड़े रखे थे वहाँ। गिधनी अब भी चीख रही थी...आँ...आँ...उ...उ...उ!!

"आइए, भीतर आइए" की हांक सुनते ही मैं मन्दिर की ओर मुड़ा। पुरोहित का पता न था। भीतर बड़ी फीकी-सी रोशनी थी। शायद दीप जल रहा था, लेकिन लौ मे चमक नही थी। अब जाकर मैं देख पाया कि उस स्तूप के

पास एक चर्तुभुजी काली मूर्ति है। शायद कालिका देवी की ही मूर्ति होगी। पर मुझे उसकी लम्बी-सी जीभ नहीं दिखी।

द्वार के पास फिर पुरोहितजी प्रकट हुए, "आइए, दर्शन कर लीजिए।"

मैं नंगे-पांव अन्दर घुसा। यहां भी दीपक की वही बुझी-बुझी-सी लौ थी। शायद उसमें घी-तेल नहीं होगा। तभी एक शिवलिंग भी गड़ा दीखा। पुरोहित ने एक छोटे-से पात्र से चरणामृत दिया। इलाइची के दो दाने भी प्रसाद स्वरूप मिले।

पुरोहित बताते रहे. दर्शनार्थी तो फिर भी आ ही जाते हैं, ज्यादातर सुबह के समय। या फिर विशेष अनुष्ठान या चैत्र महीने के उत्सव में। बीच बीच में साधक-सन्त भी आते रहते हैं।

"रात मे ठहरते भी होंगे ?"

"हां, ठहरते क्यों नहीं ! बाहर जो दो खुले कमरे हैं, वहीं पड़े रहते हैं। चलिए, अब बाहर चलें।"

मैं उनकी आज्ञा पाते ही बाहर भाग आया। पुरोहित ने झपट्टा मारकर दीये को बुझा दिया और बाहर लपक पड़े। द्वार पर ताला ठोकते देख मैं तनिक आश्वस्त भी हुआ। पुरोहित ने बताया, "ढोल-ढाक पीटकर पूजा करने-जैसी तो जगह नहीं यह। साधक जन इस निर्जन स्थल पर आकर कभी-कभी पूजा करते रहे है। तान्त्रिक कौलाचार के लिए यह कभी बहुत ही मान्य पीठ रहा है। यहीं तब नरबलि भी दी जाती थी।"

उन्होंने ठीक ही कहा था। नरबलि के लिए इससे उपयुक्त स्थान और कौन-सा होगा ? मैंने पूछ लिया, "यहां कोई श्मशान भी है ?"

'यहां तो नही। हमारे यहां से हर कोई उद्धारनपुर के घाट पर जाता है। गंगा बहती है। बहुत बड़ा मसान है वहां। आस-पास के गांवों के लोग वहीं जाते हैं।"

चारों ओर घना अंधेरा जमता जा रहा था। हालांकि आकाश का रंग अब भी सलेटी था। लगा, काफी रात हो चुकी है। अबतक आस-पास की सारी चीजें धुंधली पड चुकी थी। मन्दिर की सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए पुरोहित ने पूछा, "आप कारण का पान करते हैं ?"

यहां भी वही कारणवारि ? लेकिन अब कोई हैरानी नही होती। राढ़ के इन अंचलों में तान्त्रिकों का प्राधान्य रहा है। मैंने उत्तर दिया, "नहीं।"

पुरोहित ने फिर जोड़ा, "पीते हों तो यहीं बैठ जाते और यहीं रात भी कट जाती।"

रक्षा करें...वक्रेश्वर के महाश्मशान में आसपास तो फिर भी कई लोग थे। मेरा मन बीच मे काठ की हांड़ी रखकर, सारी रात गिधनी का विलाप सुनकर

और शिवा से आँखें जोड़कर, इस कापालिक पुजारी के संग रात बिताना नहीं चाहता था।

मैंने कहा, "नहीं। कभी दूसरे समय आकर रहूँगा।"

अब जाकर मैं समझ पाया कि महाशय की आँखें लाल क्यों थीं और स्वर इतना उखड़ा-उखड़ा क्यों था ? लेकिन अब मुझे उनसे कोई डर न था। बल्कि मैं तो उनके साथ-साथ ही पाँव बढ़ाता जा रहा था। यहाँ उनके सिवा दूसरा था भी कौन ? मैंने जेब से दो रुपये का नोट बढ़ाते हुए कहा, "इसे रख लीजिए।"

"जयस्तु बाबा ! आप पर माँ की कृपा हो। आप ख़ुश रहें।"

मैं सचमुच उनका ऋणी था। असमय आये यात्री को पार लगाकर उन्होंने देवी का दर्शन कराया, चरणामृत-प्रसाद प्रदान किया। आखिर इसका कुछ तो निछावर होना चाहिए।

आगे बढते समय मैंने उनका हाथ थाम लिया था। गिधनी की चीख पीछे छूट गयी थी। हर क्षण यही लगता रहा कि शकुनों के डैने फड़फड़ा रहे हैं, शिवा-जैसे नीले सियार हमारे साथ चल रहे हैं और सूखे पत्तों की मर्मर ध्वनि हमारा पीछा कर रही है। मकड़ी के जाले बार-बार सामने आ जाते थे। पुरोहित महाशय आस-पास के घर-गाँव, घाट-बाट के बारे में बताते रहे। मैं उनकी बातों से दूर...किसी विचित्र अनुभव-जगत् में विचरण कर रहा था।

सौभाग्य से, इस पार दूसरा कोई यात्री न था, इसलिए नौका ख़ाली थी। मानो हमारे लिए ही बँधी थी। उस पार पहुँचकर पाचनदि जाने की चिन्ता थी। कटवा के लिए रात में कोई गाड़ी थी नहीं। पाचनदि की तरह ही, पास ही दूसरा गाँव था, निरोल। वहाँ एक परिचित मुखोपाध्याय परिवार था, परम शाक्त। उनका नाम बताते ही, पुरोहित ने उन्हें पहचान लिया। इतना ही नहीं, अट्टहास से निरोल तक के लिए, उन्होंने एक बैलगाड़ी की भी व्यवस्था कर दी। निरोल पहुँचने में तीन घण्टे तो लग ही गये। रात बीत ही नहीं रही थी। शायद मेरी यात्रा भी इसी तरह ऐसी ही चिररात्रि से बँधी थी।

वक्रेश्वर का नन्हा-सा चाँद अब थोड़ा-सा बढ़ चुका था। लेकिन कोहरे की हल्की-सी परत ने उस दशमी या एकादशी की चाँदनी को भी कुहेलिकाछन्न कर रखा था। गाड़ीवान का नाम था नसीराम। वह अपने सुख-दुख के किस्से सुनाता रहा और फिर ज़ोर से गा उठा, "मई...इस भय से मैं मूँदूँ न नैन... जागूँ सारी रैन..."

उसका टप्पा सुनकर मैं जैसे चौंक गया। कभी सोच भी न पाया था कि वह इस तरह अपनी तान छेड़ देगा। और इससे भी अधिक हैरानी तब हुई जब मुखोपाध्याय महाशय के घर बैलगाड़ी खड़ी हुई। उस समय, टूटे-फूटे और बूढ़े गले से इसी गान की कोई दूसरी पंक्ति सुन पड़ी—'नैन जो मूँदूँ तो खो जायें

पुतलियाँ, जियरा न पाये चैन...इस भय से मूँदूँ न नैन...।' मैं पहचान गया, यह स्वयं गृहस्वामी का स्वर है। वह पूजामण्डप के अन्धकार में बैठे थे।

सन्थाल परगना पार कर मैं दुर्गापुर आ पहुँचा। मेरी यात्रा अब केन्दुलि की ओर थी। बाउलों के पाँच रसिकों में एक रसिक, जयदेव कवि की लीलाभूमि...केन्दुबिल्व। आज उसी पौष संक्रान्ति का दिन था। जयदेव की पुण्य-स्मृति का उत्सव।

मैं निरोल से सन्थाल परगना लौट गया था और फिर वहाँ से यहाँ। लेकिन अब यह नयी लौह-नगरी लोगों और गाड़ियों से पटी हुई थी। सुविधा-जैसी कोई बात ही नहीं। भीड़ देखकर उसी छातिमतला की बात याद आ गयी। यहाँ भी उन्हीं शहरी लोगों की भीड़! मैं जिस बस-अड्डे पर खड़ा था, वहीं से केन्दुलि के लिए गाड़ी जाती थी। टैक्सी भी उपलब्ध थी लेकिन मैंने तय कर रखा था कि दूसरे यात्रियों के साथ ही जाऊँगा। पता चला, कोई नियमित बस-सेवा तो नहीं है। मेला के उपलक्ष्य में गाड़ियाँ आ-जा रही हैं अवश्य।

गाड़ी आयी। उसमें जगह भी मिल गयी। मेरे आस-पास ज्यादातर गाँव के लोग-बाग ही बैठे थे। शहरी बाबू भी थे। बीच से लालमटिया सड़क निकल गयी थी। दोनों ओर शालवन के पेड़। उनकी डालियों-पत्तों पर लाल धूल बिखरी थी। सामने की सारी धरती जैसे जोगिया बाना धारण कर बैरागन हो उठी थी। आस-पास बने मकान, झुग्गी-झोंपड़ी के चेहरे भी इस लाल-गुलाल से पुते हुए थे। हम भी भला कैसे वंचित रहते?

यात्री गण चढ़ते-उतरते रहे। इसी समय गोद में बकरी का छोटा-सा छौना लिये एक काली-सी युवती पता नहीं कहाँ से आयी और उसे एकबारगी मेरी गोद में पटक दिया। झटका खाकर स्वयं भी किसी दूसरे की गोद में जा गिरी और देर तक लजाकर हँसती रही। इस काण्ड के पहले से ही कुछ सन्थाली स्त्री-पुरुष बस के भीतर बीच में ही बैठ गये थे। कण्डक्टर के बार-बार धमकाने का भी उनपर कोई असर नहीं। पाँव रखना ही मुश्किल हो गया था।

इस चिल्ल-पों में ही पता चला कि वह श्यामा युवती चिन्तामणि जा रही है। किसी गाँव के आदमी को वह बता रही थी। यह मेरे लिये नयी सूचना थी। हम सब तो जयदेव जा रहे हैं। और यह कह रही है, चिन्तामणि! बाउलों के गान में चिन्तामणि और विल्वमंगल का प्रसंग मैंने सुन रखा था। सहजियों के पाँच रसिकों में एक रसिक विल्वमंगल भी हैं। उनकी प्रेमिका है चिन्तामणि। लेकिन यह दूसरी कहाँ से आ टपकी? क्या यह भी किसी थान या पीठ का नाम है?

उस श्यामांगना की बात सुनकर दूसरे भी बोल उठे, "अरे हम भी तो वहीं

जा रहे है।"

अच्छा तो ये सब जयदेव की ही नही, दूसरे रसिया की खोज मे हैं, मुझे जिसका पता तक नही। मैं सोच रहा था, चिन्तामणि कहाँ है? और कौन-सा उत्सव है वहाँ?

इसी समय युवती के कलेजे से चिपका हुआ छौना अचानक 'मे...मे ..' करता हुआ उछल पड़ा। क्या मुसीबत थी? सभी हे...हे...हे कर उठे। युवती हँसती हुई उसे पकड़ने को आगे बढ़ी ही थी कि उसकी नुकीली कोहनी मेरी जांघ में आ गड़ी। बेचारी सकोच में गड़ गयी और सलज्ज मुसकान के साथ ही तीखी निगाह से किसी को तकती हुई झुंझला उठी, "तुम पकड़ते क्यो नही?"

बेचारी बड़ी परेशानी मे थी। कांधे पर एक पोटली भी रखी थी। उसका मूछियल जवान भीड़ में कही दुबका पड़ा था। मूंछो ने उसके होंठो को ढँक रखा था। उसने किसी तरह आगे बढ़ने की चेष्टा की ही थी कि पास बैठे एक आदमी ने फटक दिया, "धत्तेरे की..."

युवती ने छूटते ही डपट दिया, "छोड़ो...रहने दो।" और उसने किसी तरह हाथ-पाँव मारकर छौने को लपक लिया। मैं अपनी जिज्ञासा को दबा न पाया, जो मेरे मन में घुमड़ रही थी। पूछ बैठा, "चिन्तामणि में इस छौने का क्या होगा?"

"चढ़ाया जायेगा।" युवती ने बताया।

सहजिया रसिक के थान में बलि! यह तो विचित्र बात थी। युवती के पास ही जो आदमी बुरी तरह सिमटा हुआ था, बोला, "वहाँ एक देवी भी है, वही चढ़ाया जायेगा।"

युवती ने जल्दी से बताया, "यह चिन्तामणि की मन्नत है।"

"एक ही बात है...अधरा की मन्नत।" उस आदमी ने जोड़ा।

युवती ने कन्धा उचकाकर अपनी सहमति व्यक्त की। उसकी बात न सुनकर शायद विश्वास ही नही होता, लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात न थी। नाना धर्म मत, सम्प्रदाय और उनकी विभिन्न धाराएँ जैसे घुलमिल गयी हों। यही उनका आकर्षण है। अथ और इति की इस संगम-स्थली पर सभी एकाकार हो उठे हैं। जो इन्हें एक-एक कर देखना चाहेगा, वह खो जायेगा, डूब जायेगा। बौद्ध सहजिया सिद्धाचार्य लुईपाद सहज धर्म के अन्यतम प्रवर्तक हो गये हैं। लेकिन उनका नाम राढ़ अंचल के धर्म ठाकुर की पूजा में लिया जाता है। वहाँ न जाने कितनी बलि होती है, रक्त की होली! नर-नारी का उल्लास-उत्सव। जय बाबा लुई ठाकुर की जय! इसके साथ ही, लुईपाद की चर्या पदावली का संकेत रसिकों के गान और पदों में है। बाउलों के गान मे भी। यह भी ठीक है कि हम जिसे समाज का निम्न स्तर मानते है, उनके लिए धर्मठाकुर का

उत्सव-अनुष्ठान बलि-पर्व के रूप में मान्य है। इस काली युवती चिन्तामणि के अन्य यात्री हिन्दू-समाज के उसी निम्न वर्ग के प्रतिनिधि हैं।

मैं इस परस्पर समानुयोग पर कुछ नहीं कह सकता, लेकिन देख रहा हूँ, इस बंग-प्रदेश का विचित्र रंग है। मैं इनके विविध, विचित्र और रंगारंग प्रवाह में उतरा रहा हूँ। मेरे अन्तर में भी वही स्रोत फूट रहा है।

गाड़ी जैसे-जैसे आगे बढ़ती गयी, भीड़ भी बढ़ती गयी। पैदल यात्री और बैल-गाड़ियों की संख्या का क्या कहना! दूसरे वाहन भी दौड़ रहे थे या भीड़ में फँस गये थे। बीच-बीच में जीप और दूसरी चिकनी कारें भी दीख जाती।

थोड़ी देर बाद, अजय नदी के किनारे चिन्तामणि के यात्री उतर गये। जय-देव के यात्री भी अजय के पास आकर उतर गये। नदी के एक ओर वर्दमान है तो दूसरी ओर वीरभूम। अपने मन में चिन्तामणि दर्शन की साध लिये मैं भी बस से उतर पड़ा।

बस बाँध की सीमा पर ही ठहर गयी। जीप और बैलगाड़ियाँ बाँध पार कर कँकरीले-पथरीले दीयरे पर सुस्ता रही थीं। काफ़ी बड़ा था दीयरा और नदी का पाट भी कुछ कम चौड़ा न था। नौका या डोंगी तो वहाँ दिखी नहीं फिर इसे पार करने की क्या व्यवस्था है?

एक ही उपाय था, पैदल पार-पथ। बैलगाड़ियाँ पार जा रही थीं, और लोग भी। जो सहज भाव से पार हो रहे हैं, उनके पीछे-पीछे। वरना कहीं-कहीं भर-डूब पानी था। दुर्गापुर से आयी सरकारी जीपें भी खड़ी थीं। बाबू साहब की पतलून और बीवी साहिबा की साड़ियों के लिए चुनौती थी। इन्हें किस सीमा तक ऊपर उठाया जाये। यह तुम्हारी कैसी लीला है अजय? नारियों का लज्जा-हरण करने पर उतारू हो!

फिर भी नारियाँ नदी पार कर रही थीं। कपड़े ही तो गीले होंगे, और क्या? नदी के उस पार फिल्मी गानों की गूँज और सर्कस के तम्बू, बाजीगरों के पण्डालों को देख-सुनकर एक बार लगने लगा कि बाउलों की मण्डली का तो भट्टा ही बैठ जायेगा। ऐसी भीड़-भब्भड़ और चिल्ल-पों कि सिर झन्ना गया। मैं भी इसी कोलाहल में शामिल हो गया। आखिर मैं भी किसी मेले में ही आया था और अब उसका एक अंग था। जल-प्रवाह से निकलकर जन-प्रवाह में विसर्जित—

मैं रह-रहकर घाट की ओर भी तक लेता, उसकी खोज में, जो सचमुच ही जयदेव का यात्री हो। सामने ही एक मन्दिर दिखायी दिया। पता चला, यह श्रीराम मन्दिर है। थोड़ी देर तक अन्यमनस्क चलने के बाद लगा जैसे कि मैं गाँव के किसी इलाके तक आ पहुँचा हूँ। हर घर की ड्योढ़ी पर बिसात बिछी थी। मैं जिस श्रीचरणचारण चक्रवर्ती कवि की ड्योढ़ी ढूँढ़ रहा था, उसका पता न पा सका। सभी अपने में मगन।

इसी भाग-दौड़ के बीच आखिर एक बैरागी बाबाजी मिल ही गये। इकतारा बजाते हुए कहीं चले जा रहे थे। मैंने उनसे ही बाउलों के पड़ाव के बारे में पूछा।

बाबाजी अपनी गर्दन टेढ़ी करके बोले, "चले जाइए, सभी वेदनाशी बरगद तले जमा हैं।"

यह सब तो मैंने भी सुन रखा था कि बाउल वेदविरोधी हैं। वे 'पथ के मानुष' हैं, स्वरूप में ही अरूप की खोज करनेवाले।

थोड़ी दूर तक चलने के बाद, सारा परिवेश बदला-बदला लगा। अजय के किनारे ही लम्बा-चौड़ा खुला परिसर था। वहीं पेड़ों की छाँव में गेरुआ और रंगीन पैबन्दवाले अँगरखों का मेला-सा लगा था। डुपकी, डुग्गी, खंजड़ी, इकतारा, तुनतुना, सारंगी, मृदंग, झाँझ और करताल की धूम थी। चारों ओर कई-एक झुण्ड थे। लाल किनारीवाली गेरुआधारिणी ही नहीं, लट्टू की साड़ी पहने वैष्णवी टीकाधारिणी भी उनमें थीं। मूँछ-दाढ़ी और जटाजूटधारी के साथ-साथ, साफ़-सुथरे और सफाचट बाउल बटुक भी।

कोई गा रहा था...'गौर चाँद का दरसन करना हो तो चल नदिया,' कोई दूसरा, पाँव में घुँघरू झनकाता और कमर लचकाकर गा उठा, 'तू जान ले पहले पगले, मानुष का पुतला बना कैसे?'

मैं इस स्वर-लहरी के बीच से गुजरता चला जा रहा था। सभी गानेवाले या सुननेवाले यूँ ही नहीं बैठे थे। इनमें कई के अस्थायी आश्रम थे। किसी तरह बेड़े डालकर या टाटों से घेरकर ऊपर फूस का छप्पर उढ़का दिया गया था। कहीं-कहीं लम्बी-चौड़ी व्यवस्था थी। वहाँ नामी-गिरामी खेपा बाउलों की मण्डली थी। उनके चेले-चपाटियों की शोभा का क्या कहना! साथ ही, कोट-पतलूनवाले साहब, बगबगाती धोती और...पंजाबी बाबू, उनकी सदाबहार बीवियाँ। यह सब देखकर अच्छा ही लगा। अपरूप का स्वर रूप-रंग में मुखरित था।

इस समावेश से कुछ दूर ही नदी का निर्जन किनारा। दिन डूबने को था तो भी कुछ लोग अजय के ठण्डे जल में डुबकी लगा रहे थे। वहीं दूर-दूर तक धान के ख़ाली खेत फैले थे, जहाँ कहीं उनमें हरी-भरी क्यारियाँ भी लहलहा रही थीं। मैं फिर लौट आया। किसी आश्रम या मण्डली में जाने पर ही पता चल पायेगा। गोपीदास से भेंट करना बहुत ही आवश्यक था। वह दलबल के साथ जयदेव आये होंगे। भीड़ चाहे जितनी हो, खोजने पर अवश्य ही मिलेंगे। कोई-न-कोई तो दिखेगा ही।

अन्धकार फैलता जा रहा था। एक-एक कर बत्तियाँ भी जलती जा रही थीं। छोटी मण्डलियों में लालटेन और बड़े आश्रम में पंचलैट। जो मण्डली पेड़ों-तले बैठी थी, वहाँ अलाव जल रहा था। रोशनी और गर्मी, साथ-साथ।

लेकिन मकर-संक्रान्ति भी तो कोई चीज है आखिर। गंगा-सागर की यात्रा के समय भी इतनी ठण्ड नहीं सताती, जितनी राढ़ की ठण्ड कुरेदती है।

एक पेड के नीचे, एक कच्ची उमर का बाउल मधुर स्वर मे गा रहा था। पाँव में घुँघरू, देह पर अँगरखा। काला रंग, बड़ी-बड़ी आँखें और मोहक मदिर रूप। उसकी आवाज में जादू था और नृत्य की भंगिमा में अजीब-सा सम्मोहन। अपने गान में बेसुध था वह। श्रोतागण भी भाव-विह्वल। बीच में आग जल रही थी। स्त्री-पुरुष घेरा डाले अमृत-गान का पान कर रहे थे।

मैं सबकुछ भुलाकर वहीं बैठ गया। आस-पास बैठे श्रोताओं ने मेरे लिए जगह बना दी, "आइए दादा, बैठिए।" वहाँ हाथों-हाथों में चिलम की सवारी जारी थी। बगल मे बैठे एक श्रोता ने टोका, "चलेगी दादा?"

मैं 'ना' कर चुपचाप बैठा रहा। पगले के गान में ही खोया रहूँ, यही बहुत है।

अचानक मेरी आँखों के सामने एक पहचाना-सा चेहरा झिलमिला उठा—छोटा, गोल-मोल-सा चेहरा। नाक में लौंग चमक रही थी। बड़ी-बड़ी आँखें कौतूहल से भरी हुईं। दूसरे ही क्षण मेरे पास आकर बोली, "अरे बाबाजी... तुम! मैं सोच रही थी यह वही बाबाजी तो नहीं!...यहाँ बैठे हो तुम?"

मैं भी आश्चर्यचकित। यह तो गोकुल की बहन कुसुम है! इसने मुझे कैसे पहचान लिया? इस भीड़ मे...इस अँधेरे में? मैंने जानना चाहा: "कुसुम?"

उत्तर देने के पहले उसने मेरा हाथ थाम लिया और बोली, "चलो, जल्दी चलो।"

आस-पास बैठे लोग आँखें फाड़े देख रहे थे। बिना उठे कोई चारा भी न था। कुसुम मुझे लिये भागी चली जा रही थी। मैं पूछता ही रहा, "बाकी लोग कहाँ हैं? गोपीदास, बाबाजी, तुम्हारे नाना...?"

"तुम आओ तो सही।"

आखिर वह किधर लिये जा रही थी? लोगों से टकराते, धक्के खाते! एक टूटे-फूटे दालान के खुले आँगन तक घसीट लायी वह। कुछेक लालटेनें जल रही थी वहाँ। वहीं बाँसों के सहारे एक मण्डप-सा बना था। गान चल रहा था।

लेकिन वहाँ तक पहुँचने के पहले ही, कुसुम अचानक एक पेड के नीचे खड़ी हो गयी और बोली, "देखो।"

पेड़ के नीचे साफ-सुथरा लीपा हुआ एक चबूतरा था। उस पर कुछ लोग बैठे थे। उनमें से एक की ओर देखकर मैं चकित रह गया। वह मूर्ति भी उठ खड़ी हुई। एक क्षण तक चुपचाप और निश्चल खड़ी रही। फिर टूटे स्वर में

कहाँ पाऊँ उसे

बोली, "तुम ?" उसके होंठों पर मुसकान न थी...कम्पन था।

मैंने आश्चर्य से पूछा, "कब आयी ?"

"कल ही," झिनि ने किसी तरह उत्तर दिया। उसकी आँखों में अब भी वही *अविश्वास, विस्मय और भय था। साँस अटकी, स्वर रुँधा और भावावेग* से कम्पित। मैं नहीं जानता था, झिनि उर्फ़ श्रीमती अलका चक्रवर्ती यहाँ उपस्थित हैं। यह भी नहीं बता सकता कि उसका चेहरा इतना बुझा-बुझा क्यों था। खुली पलकें मानो धूल से अटी थीं। साड़ी भी। निराभरण। हाथ में एक बड़ा-सा बैग था। आँखों में आँसू देखकर मैं उद्विग्न हो उठा। अपनी ओर बढ़ते देख मैंने कहा, "बैठो।"

वह रुक गयी। बोली, "आप भी बैठिए न !"

श्रीमती लिलि भी आयी थीं। पेड़ के नीचे बैठी थी। आँखें मिलते ही उसने गर्दन हिलाकर बुलाया।

कुसुम ने अपनी कोहनी से मुझे हलका-सा धक्का दिया और कहा, "बैठो बाबाजी, मैं भाभी को बताकर अभी आयी।"

मैं *बैठ गया। झिनि भी।* गायक भी कोई दूसरा नहीं, गोपीदास ही थे। आँखों के सामने स्वयं गोपीदास और कानों में उनका गान—

'ओ राधा रानी...
कुछ दिन मन-ही-मन
करके जतन
प्रीत श्याम की रख गोपन'

बूढ़े बाउल की दाढ़ी लहरा रही थी। मुझे देखकर आँखों में रहस्यभरी मुसकान खेल गयी। उन्होंने वहीं से अपना हाथ उठा दिया। मैंने भी अपना अभिवादन जता दिया। और तभी, उनकी भारी आवाज़ और भी तेज हो गयी—

'तू करना इशारे से बातें
कोई सुन न पाये प्रेम-वचन
कुछ दिन की तो बात है राधे
महकेगा यह मन-वृन्दावन...'

मेरी दायीं ओर लिलि और बायीं ओर झिनि बैठी थी। आस-पास और भी लोग जमे थे। उनमें से कोई शहरी नहीं लगा। गाँव के लोग थे, गान सुनने में *मगन। शहरी कन्याओं* की तरफ भी तनिक मुग्ध भाव से निहार लेते थे। हो सकता है गोकुलदास के साथ ही सिउड़ी से आये हों या फिर

गोपीदास के हेरुक'से। या फिर जयदेव मेला के ही यात्री होंगे। चौकड़ी ही तो जमानी थी।

गोपीदास के पास 'राधा वृद्धा बैठी थी। सुजन और गोकुल भी। दोनों दोतारा बजा-बजाकर झूम रहे थे। बिन्दु कहाँ है, कौन बताये? कुसुम उसे कहाँ ढूँढने गयी, कुछ बताकर तो गयी नहीं। गोपीदास चुन-चुनकर पद गा रहे थे। उनका हँसना, हाथ उठाकर इशारे से कुछ जताना भी कुछ कम आनन्ददायी न था। अपनी दृष्टि को नचाकर उन्होंने फिर गाना शुरू कर दिया—

'प्रेम फल को जाने बिना, मैं
प्रेम के फल को ले बैठा, चखने लगा...'

गाते-गाते वे अपना मुँह कुछ तरह खोल देते मानो फल खा रहे हों। रह-रहकर वे इधर हमारी तरफ़ इशारा करते। इस कारण चौकड़ी में बैठे लोग बार-बार हमारी ओर देख लेते। जब कभी जोर की हाँक लगाते, "क्यों चीता बाबाजी, ठीक कहा न...?"

मैं सिर हिला देता, लेकिन मेरा असमंजस दूर नहीं हो पा रहा था। जितनी बार आँखें उठाता, झिनि पर ही टिकती। झिनि अपनी आँखें नीची कर लेती। उसकी देह पर कढ़ी हुई ऊनी शाल थी। लिलि मेमसाहबों वाला लम्बा ऊनी कोट डाले थी, जिसके लगभग सारे बटन खुले थे। उसके नीचे से उसकी रंगीन साड़ी झाँक रही थी। लिलि की तुलना में झिनि बैरागन-सी प्रतीत होती थी। गेरुआ रंग की साड़ी, कत्थई किनारीवाली, जिसे देखकर किसी को भी राम-नाम की चादर का भ्रम हो सकता था।

"आप इस तरह सिर मत हिलाइयेगा महाशय!" अचानक लिलि ने टोका।

"क्यों?" मैंने पूछा।

लिलि के रूखे बालों का गुच्छा झटका खा गया था। शिकायत भरे स्वर में पूछने लगी, "कल नहीं आ पाये?"

"कल को आने की बात तो नहीं थी!"

"बात न हो तो आना नहीं चाहिए?"

मैं उसके प्रतिप्रश्न का क्या उत्तर देता? फिर भी कहना पड़ा, "नहीं, खामखाह यहाँ आ जाता...माने...मैं..."

लिलि ने मेरी बातों पर ध्यान दिये बिना चुटकी ली, "तय होने पर जैसे कि आप आ ही जाते?"

सुनकर झिनि मुसकरायी। शायद इतनी देर बाद उसके जी को कोई बात भायी थी। बोली, "ठीक ही तो है!"

लेकिन लिलि ने छूटते ही कहा, "अरे भई...तुम कुछ न कहना" और

फिर अपने हाथ जोड़ दिये।

झिनि ही नही, मैं भी चकित था। झिनि के चेहरे पर दर्पभरी लाली दौड़ गयी, "अजीब लड़की है बाबा!"

मैं बीच में फँसा दोनों को निहार लेता था। लिलि की बातें सुनकर ऐसा नहीं लगता कि वह कोई अत्याधुनिका होगी। गर्दन मटकाकर कहने लगी, "अब तो मैं अजीब होऊँगी ही। कल से तो देवीजी के होंठों पर हँसी का नामो-निशान तक न था।" उसने मुझसे शिकायत करते हुए आगे जोड़ा, "कल से तो कुछ ऐसा हो गया था महाशय इस लड़की को लेकर कि बस...राम-नाम सत्य है।"

मामला मेरी समझ के बाहर था। लिलि की बातों पर हंसी आये बिना न रही। मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "बात क्या है?"

लिलि ने झिनि की ओर इशारा करते हुए कहा, "इससे ही पूछिए। मेरी तो कोई बात ही नही है।" और अपना मुँह घुमा लिया। मैं झिनि की ओर और वह अपनी सखी की ओर तकती रही। हम तीनों ही कुछ क्षणों तक चुप-चाप बैठे रहे। झिनि की त्योरी चढ़ी हुई थी, आँखों मे कोई दूसरी ही कहानी लिये। लिलि ने मुझसे पूछा, "आपने नानुर में उसे बता दिया था कि आप केन्दुलि कब आ रहे है?"

अपनी स्मरण-शक्ति पर जोर देते हुए मैंने कहा, "अब याद तो नही कि मैंने ऐसा कुछ कहा था!"

लिलि कहने लगी, "और इधर कल से लेकर अबतक जो भाग-दौड़ और छानबीन होती रही है कि कुछ मत पूछिये! आज की सुबह तो ऐसा हो चला था कि नाड़ी अब छूटी कि तब।"

झिनि बुरी तरह झेप गयी थी। उसने लिलि को एक बार झिड़क भी दिया। लेकिन लिलि को रोकना बड़ा मुश्किल था। उसे अपने जी की भड़ास भी तो निकालनी थी। इसलिए जैसे सफाई देती बोली, "अब आप ही बताइये महाशय, इतने बड़े मेले में एक-एक आदमी का चेहरा देखकर घूमा जा सकता है भला?"

महाशय सम्बोधन सुनकर मुझे फिर हँसी आयी, "हाँ, बड़ी असुविधा हुई होगी!"

झिनि की त्योरी अब भी चढ़ी हुई थी। उसकी गर्दन लचक गयी, "जी... एकदम नही।"

"नही?" लिलि की कजराई आँखों ने पूछा। उसके होंठों पर फीकी पड़ी लाली प्रगाढ़ हो गयी—"अच्छा तो मैं झूठी हूँ? मैं कोई अकेली नही, कुसुम और विन्दु भी साक्षी है। और...वह लड़का...हाँ, काशीनाथ, वह भी न जाने कहाँ-कहाँ खोजता फिरा।"

"आखिर इस भाग-दौड़ की जरूरत क्या थी ?" मैंने पूछा।

लिलि ने हाथ नचाकर कहा, "यह तो आप जानें और ये जानें। आप खुद इनका चेहरा देखकर अन्दाज लगा लीजिए। इन्होंने दिन को भी खाना नहीं खाया। अब ले जाइए इन्हें और कुछ खिला-पिला लाइए।"

लिलि ने इस घटना-स्थिति में मुझे कुछ इस तरह लपेट लिया कि मैं संकोच में पड़ गया। झिनि कुछ अधिक ही उद्विग्न हो उठी थी। पता नहीं क्यों ? मेरे कुछ कहने-सुनने या पूछने के पहले ही वह कातर स्वर में बोल उठी, "ओह... लिलि, कुछ बाकी रहा !" और अपना चेहरा हथेलियों में छुपा लिया। लिलि अब भी अपने प्रवाह में बहती चली जा रही थी, "आपके आने के थोड़ी देर पहले तक मेले की खाक छानते रहे...साँझ घिरते ही..."

लेकिन वह अपनी बात पूरी न कर पायी, कि तभी झिनि की ओर उसकी नज़र पड़ी और वह तेज़ी से उठकर उससे जा लिपटी। फिर बड़ी उद्विग्नता-पूर्वक विह्वल स्वर में बोली, "अरी झिनि...यह क्या ? तू मुझसे नाराज है री...?"

यही तो मानवी-लीला है ! दूसरे शब्दों में, युवती लीला। झिनि मुँह ढाँपे रो रही थी शायद। मैं असहाय पड़ा था। लिलि के मनाने पर उसने किसी तरह सिर हिलाकर जताया कि वह नाराज नहीं है।

लिलि ने चकित दृष्टि से मेरी ओर देखा। सखी का मनुहार करते-करते वह स्वयं पश्चात्ताप में डूब गयी थी। बोली, "तो फिर रोने क्यों लगी ? मैंने किसी ऐरे-गैरे के सामने तो कुछ नहीं कहा ?"

उधर से रुँधी हुई आवाज़ ने पुष्टि की, "मैं रो कहाँ रही ?"

लिलि अब भी मेरी ओर तक रही थी...जिज्ञासा और कौतूहल से। बूढ़ा बाउल अब भी गर्दन मटका-मटकाकर गा रहा था।

मैं लिलि के संकेत को समझने या झिनि को समझाने की स्थिति में न था। अतः सान्त्वना-भरे शब्द तो कह न पाया, इतना ही बता पाया कि आप सब आयेंगी, इसका पता ही कहाँ था मुझे ?

लिलि ने जोड़ा, "पता न भी हो...लेकिन सुबह तो आ ही सकते थे !"

अब इसका क्या उत्तर दिया जाये ? अचानक झिनि ही धीरे-से बोली, "फिर तो आते ही नहीं...है न ?"

उसकी आँखें अब भी भीगी थीं। दृष्टि भी सन्देहभरी। मैंने हँसते हुए कहा, "आता क्यों नहीं ? मैंने तो बताया था कि आऊँगा।"

"लेकिन यह कहाँ जानते थे कि हम भी आयेंगे।"

"हाँ...यह सब नहीं जानता था।"

"पता होता तो आते ?"

अब इस प्रश्न का अलग से क्या उत्तर दें ? वर्षों से जयदेव का मेला देखने की साध थी। झिनि के आने की बात होती तो भी आता। आखिर इसमें कौन-सी चूक रह गयी ? मुझपर इतना अविश्वास क्यों है भला ?

मैं मन की आशा-निराशा से एक साथ लड़ रहा था लेकिन मेरी आँखें झिनि पर टिकी हुई थी। मन चाहे जहाँ खिंचा हो...मैं उसकी सुन्दरता पर मुग्ध था। कितनी सुन्दर लग रही थी वह !

"क्या देख रहे हो ?" उसने भौहे उठायी।

"तुम्हें।"

झिनि डर गयी जैसे। उसने उत्कण्ठावश कहा, "झूठे !"

"सच...!"

"झूठे कहीं के ! तुमने एक बार भी सोचा था कि मैं आ सकती हूँ ?"

"नहीं सोचा था..." मैंने सच्ची बात बता दी।

"पता होता तो आते ?"

घूम-फिरकर वही प्रश्न ! मैंने निश्चयपूर्वक बताया, "हाँ।"

"विश्वास नहीं होता।" उसकी आँखों में सन्देह था और स्वर में पूर्वाग्रह।

"क्यों ?"

"पता नहीं क्यों ?" उसकी अन्यमनस्कता तनिक मुखर हुई, "बस, ऐसा लगता रहा है कि मैं जहाँ रहूँगी, तुम वहाँ से चले जाओगे...कहीं दूर...छिटककर।"

मैं झिनि की असहायता से परिचित था। वह मेरे बहाने जो कुछ भी कह रही थी, वह उसके जीवन मे बडी गहराई तक पैठा हुआ था। इसे कोई भयावह स्थिति नही कहूँगा मैं...लेकिन वह मर्मान्तिक अवश्य था। भाई की मृत्यु, भाई के मित्र हेनरी का कारावास, किशोरावस्था में ही आहत और विषण्ण बन्धु से जो उसका पति भी था, अलगाव और जिसकी मृत्यु से उसके माता-पिता अबतक अनभिज्ञ हैं, कुल मिलाकर ऐसी विषम स्थिति थी, जिसे झेल पाना सचमुच ही चुनौतीपूर्ण था। इन विसंगतियों और विडम्बनाओं से अकेली जूझती हुई भी वह सहज भाव से जीवन-जगत् में निर्वाह कर रही थी, यह कम आश्चर्य की बात नहीं।

लेकिन वे लोग जो सहज और सामान्य नही हो सकते, उनका मन विकल, विह्वल रहता है। आयास मे ही उनकी आशा लौटती है और अनायास ही वे चमत्कृत हो उठते हैं। इसी कारण, वे दौड़ते फिरते है। न पाने की स्थिति में डूब जाना चाहते है। ऐसे मन का स्वभाव यह होता है कि वह डबडबायी आँखो मे ही हँसी की उजास देखने के प्रत्याशी होते है। मैं नही जानता, ईश्वर पर उसका विश्वास है या नहीं, लेकिन जीवन का प्राप्य दूर से ही निकल जाता है

या फिर रीत जाता है, इतना तो उसके करुण स्वर से अवश्य ही जान पड़ा।

लिलि की उपस्थिति में उसकी बातें सुनकर मैं तनिक संकोच में पड़ गया। इस जड़ता को तोड़ने के उद्देश्य से ही मैंने कहा था, "शायद यह तुम्हारी ज्यादती है। मैं तुमसे पीछा छुड़ाकर क्यों भागने लगा ! जो अपने ही आग्रह पर चलता जा रहा है, वह तुम्हारी अनदेखी क्योंकर करेगा ?"

"हाँ...ठीक...एकदम सही है यह," झिनि ने तेजी से सिर हिलाकर कहा, "तुम अपनी इच्छा से चले जा रहे हो और मैं तुम्हें पकड़ नहीं पाती... इसीलिए तो कह रही थी, तुम दूर से ही चले जाना चाहते हो।"

झिनि भी इसी आक्षेप को दुहराये तो मैं क्या जवाब दूँ ? अचानक उसकी आँखें चमक उठीं, "अच्छा, अगर ऐसा होता कि तुम केवल मुझसे ही पिण्ड छुड़ाकर भागते होते तो क्या यह अच्छा होता ?"

"भला कैसे ?" मैं इस प्रश्न का रहस्य नहीं समझ सका।

"अच्छा नहीं होता भला ?" झिनि ने कहा। "बार-बार पीछा छुड़ाने का मतलब ही यह होता है कि तुम मुझे भुला नहीं पा रहे। फिर तो हमेशा मन में सँजोये रखना पड़ता।"

मुझे तत्काल उसकी इस बात का कोई उत्तर नहीं सूझा। उसकी देह भी एक बार फुरफुरा उठी, होंठों पर जैसे मुसकान खिल गयी। लेकिन दूसरे ही क्षण फूल-कढ़ी शाल का आँचल खींचकर अपने चेहरे का एक हिस्सा ढँक लेना चाहा। यह देख लिलि चकित हो गयी। बोली, "अरी झिनि, तू तो बड़ी चालाक निकली !" झिनि का कोई उत्तर न पाकर उसने फिर कहा, 'फिर तो मन-ही-मन रहना होगा...इसी तरह !"

झिनि का स्वर रुँध गया था, आँखें डूबी हुई थी—यह उसकी बातों से स्पष्ट हो रहा था। बड़े धीरे-से बोली, "और चारा भी क्या है ?"

मैं उसकी कातर दृष्टि का अभियोग जान-बूझकर भी यह नहीं सोच पाया कि उसे क्या कहूँ ? मेरे मुँह से इतना ही निकला—

"झिनि !"

"हाँ, कहो।"

क्या कहता या क्या पूछता मैं ? किसी तरह शब्द निकले, "अब ऐसा तो न कहो !"

झिनि ने जल्दी से अपनी आँखें पोंछी और गला साफ़ कर बोली, "तुम्हे काफी तंग करती रही हूँ। नाराज न होना। सारे दिन इतनी दुखी रही और सहमी रही कि मेरा दिमाग़ ही खराब हो चुका है। चलो, हम सब मेला घूम आयें।"

लिलि हैरान थी, "यह क्या ? तू फिर घूमने चली ? सारे दिन चक्कर काट-काटकर तो मेरी कमर ही बैठ गयी।"

"ठीक ही कहा तूने।"

"ऐसा कर...तू चली जा। तुझे नयी ताकत मिली है...मैं न जा पाऊँगी भई।" कहती हुई लिलि मेरी ओर तिरछी नजर से देखने लगी।

"कैसी शैतान है...छी...!" झिनि ने डपट दिया।

"हाँ...तू बड़ी चिकनी है," लिलि अपनी सखी से उलझती हुई मुझे बताने लगी, "आपको पता है, हम यहाँ कैसे आ पायी?" किसी को कुछ कहा नहीं, बताया नहीं। पता चला, श्रीमतीजी अकेली ही केंदुलि जा रही हैं। घर के लोग हैरान! इसकी माँ ने मुझे बुलाकर कहा, "कोई तो इसके संग जा। जवान लड़की। अकेली न जाने कहाँ चली जाये—"

मैंने हँसते हुए टिप्पणी की, 'यही तो रीत है। एक युवती की रक्षा में दूसरी युवती।"

'आप किसको युवती कह रहे हैं महाशय?" लिलि ने टीका की, "यह सब दिमाग़ में रहता भी कहाँ है? मेरी सखी तो बस पगली है...और मुझे इसकी पहरेदारी करनी पड रही है।"

झिनि से मैंने औपचारिकतावश कुछ और ही पूछना चाहा, "तुम्हारे बाबा कैसे हैं...और माँ?"

जानता था, झिनि का उत्तर बहुत सीधा न होगा। उसने मीठी-सी चुटकी ली, "चलो, लिलि ने उन दोनों की याद तो दिला दी। अच्छे हैं। यह जानकर कि तुम्हारे संग शान्तिनिकेतन में भेंट हुई थी, दोनों कहने लगे, पता होता तो हम भी जाते। माँ तुम्हें देखने के लिए बड़ी बेचैन रहती हैं।"

मुझे अपनी दक्षिण-यात्रा की स्मृति हो आयी थी। प्रौढ़ता की सीमा पार कर दो प्राणी...शोक की छाया में मर्माहत, परस्पर प्राण जोड़े बहते चले जा रहे हैं। मैंने विश्वास दिलाते हुए कहा, "जब भी समय मिला, मैं उनसे मिलने एक बार अवश्य आऊँगा।"

झिनि अबतक बदल चुकी थी। मेरे नजदीक सिमटती हुई उसने अपनी गर्दन उठायी, "सच? कबतक समय निकाल पाओगे?"

अब इसे हँसी या मजाक जो भी कहा जाये, मैंने एक बार फिर कहा, "क्यों, विश्वास नहीं है?"

"अविश्वास तो नहीं किया। लेकिन यह भी सही है कि जबतक तुम्हारी राह में कोई पड़ न जाये, तुम किसी की परवाह ही नहीं करते।"

"अच्छा...तो मुझे समाज से कुछ लेना-देना नहीं?"

"है। लेकिन औरों की तरह नहीं। अभी-अभी तो तुमने कहा था न कि हर कोई अपने ही आग्रह से चलता है।...पीछा तो तुम नहीं छुड़ाते शायद!" उसकी तीखी निगाह अब भी मेरी तरफ़ खिंची हुई थी। मैं कुछ कह नहीं पाया। इसी

बीच मेरे पास बिन्दु आकर खड़ी हो गयी थी। लाल किनारीवाली गेरुआ साड़ी, माथे पर झलकती बिन्दी और देह पर सूती चादर। थोड़ा-सा झुककर बोली, "जय गुरु चीता बाबाजी...जयगुरु !"

"जयगुरु।" मैंने भी सीधे होकर अभिवादन किया। बिन्दु तिरछी निगाह से झिनि को देख रही थी। फिर अपनी गर्दन मटकाकर बोली, "उस हिसाब से नहीं बाबाजी...मैं तो ओम शान्ति...शान्ति...शान्ति कहना चाह रही थी। मैंने ठीक कहा न...लिलि दीदी !"

"अब तुम ही कहो," लिलि ने जवाब दिया। "मैं कुछ कहूँगी तो अपराध होगा।"

"अच्छा...तो यह बात है," बिन्दु की आँखें गोल हो गयी, "हँसते हैं या रोते है...भला ?"

"दोनों ही...साथ-साथ !" लिलि मुसकरायी।

"अरी लिलि दीदी...यह रोना-धोना, हँसना-गाना कोई तुम्हारे लिए नहीं। इन सबकी जड़ मे भी कोई कारण है...समझी ?"

इतनी देर के बाद झिनि का स्वर फूटा, "बाबा रे...। अब कुछ और न कहो बिन्दु दी। मुझसे ही अपराध हुआ है।"

बिन्दु ने झिनि की बात को यों कहकर उड़ा दिया, "मैं किसी के अपराध या अन्याय के बारे में थोड़े न कह रही हूँ। अब हमारी जरूरत ही क्या है ! क्यों ठीक है न लिलि दीदी ?"

"एकदम...सोलह आने।"

झिनि मुसकराती हुई अपनी झेंप मिटाती रही। इधर मैं पूरी तरह संकोच में डूबा था। मैंने पूछ लिया, "अच्छी तो हो बिन्दु ?"

बिन्दु ने अपना हाथ ऊपर उठाया और माथे से छुआकर कहा, "अच्छी हूँ बाबाजी ! मेरे बाबा की दृष्टि भी कितनी तेज थी कि तुम्हें चीता बाबाजी नाम दिया। एकदम झिनिखोर !"

इतना कहकर वह खिलखिला उठी। उसके इस विचित्र विशेषण को सुन लिलि और झिनि भी हँस पड़ी। लेकिन मैं इस सारे मजाक से इतना-सा होकर रह गया। जयदेव आकर ऐसी भी उपाधि से सम्मानित होऊँगा, यह नहीं जानता था।

क्या यह मेरे नाम का विश्लेषण था ?

•

मैं कुछ अन्य कारण से भी चकित था। लिलि और झिनि जैसी पढ़ी-लिखीं,

सम्भ्रान्त और आधुनिकाओं के साथ बिन्दु-जैसी प्रकृति का यह मेल भला कैसे सम्भव है ? विश्वविद्यालय परिसर और महानगरी की कन्याओं के सग बाउल प्रकृति का इतना अन्तरंग सम्बन्ध ! जयदेव के इस वेदनाशी बरगद के तले तीनों सखियाँ एक ही भाव-सरिता में उतरा रही थी । चिर प्रकृति की उसी अखिल लीला में मग्न ।

कोई स्वर-लहरी-सी बज रही थी । चाहे कोई लाख हँसे-गाये, रोये-रूठे; जिस अनचीन्हे की तलाश में मैं भटक रहा हूँ वहाँ चाहे मुझे कितनी ही द्विधा, सशय, भय, विरक्ति या उद्विग्नता झेलनी पड़े, मैं इसी तरह अपनी राह चलता जाऊँगा...अपनी रौ मे, एक फकीर की तरह अपने ही मे मस्त । अपने साथ यही सुर ले जाऊँगा, जिससे कही कभी रुकने पर अपनी झोली विसात को झाड़ते-फैलाते यही सुर मन के किसी कोने में बज उठेगा—यही तो प्राप्य है मेरा ।

मैंने धीमे स्वर में बिन्दु से कहा, "इसलिए तुम ऐसा नाम दोगी ?"

"तुम कही नाराज तो नहीं ?" बिन्दु फुसफुसायी ।

"नही...शर्मिन्दा होना पड़ा ।"

उसने मेरे कन्धे पर हल्की-सी थाप दी और धीरे-से बोली, "अरे मैंने तुमको कुछ थोडे न कहा ? जिसको कहना था, उसे ही सुना रही थी । बस तुम्हारा नाम ही तो लिया । इसमें संकोच की क्या बात !"

बिन्दु की आँखों का सकेत और भी गहरा उठा । स्वर में सान्त्वना थी । उस समय मेरे मन मे वही बात आयी, 'त्रियाचरित्रम् पुरुषस्य...।' बिन्दु भी छलनामयी है जो मुझे भुलाये रखना चाहती है । बुदबुदाते हुए कहने लगी, "लेकिन बाबाजी, सच कहूँ ! झिनि तो मर ही गयी है । क्या रहा अब उसके ?"

मैंने हाथ तो नहीं जोड़े लेकिन अपनी बेबस आँखों से उसकी ओर देखता रहा । "अच्छा तो बाबाजी, अब और कुछ न कहूँगी ।" यह कह बिन्दु ने एक गहरी साँस ले ली । मेरे सीने में भी जैसे भाप-सी अटक गयी थो । मैं बिन्दु का कृतज्ञ था...सचमुच ।

इस बीच गोपीदास भी पेड़ के नीचे आ गये । उन्होंने आते ही अपने हाथ बढ़ाये और फिर मुझे अपनी छाती से लगा लिया । मोटी कथरी का अँगरखा पहने हुए थे वे । गाँजे की गन्ध लिये उनकी दाढ़ी मेरे मुँह पर लहरा रही थी । जो भी हो, उस स्नेह-विह्वल आलिंगन से मेरा जी जुड़ा गया । मेरे मन में विचार आया कि क्यो न उनके पाँव छू लूँ । लेकिन अनावश्यक सकोच और लज्जावश मैं ऐसा नहीं कर पाया । 'जयगुरु...जयगुरु' की जयकार के साथ ही पूछा उन्होंने, "अच्छे तो हो न बाबाजी !"

"जी ..मजे में हूँ ।"

"तुमसे मिलने को जी चाह रहा था । आनन्द से तो रहे ? बस आनन्द में

बीच मेरे पास बिन्दु आकर खड़ी हो गयी थी। लाल किनारीवाली गेरुआ साड़ी, माथे पर झलकती बिन्दी और देह पर सूती चादर। थोड़ा-सा झुककर बोली, "जय गुरु चीता बाबाजी...जयगुरु !"

"जयगुरु।" मैंने भी सीधे होकर अभिवादन किया। बिन्दु तिरछी निगाह से झिनि को देख रही थी। फिर अपनी गर्दन मटकाकर बोली, "उस हिसाब से नहीं बाबाजी...मैं तो ओम शान्ति...शान्ति...शान्ति कहना चाह रही थी। मैंने ठीक कहा न...लिलि दीदी !"

"अब तुम ही कहो," लिलि ने जवाब दिया। "मैं कुछ कहूँगी तो अपराध होगा।"

"अच्छा...तो यह बात है," बिन्दु की आँखें गोल हो गयीं, "हँसते हैं या रोते है...भला ?"

"दोनों ही...साथ-साथ !" लिलि मुसकरायी।

"अरी लिलि दीदी...यह रोना-धोना, हँसना-गाना कोई तुम्हारे लिए नहीं। इन सबकी जड़ में भी कोई कारण है...समझी ?"

इतनी देर के बाद झिनि का स्वर फूटा, "बाबा रे...। अब कुछ और न कहो बिन्दु दी। मुझसे ही अपराध हुआ है।"

बिन्दु ने झिनि की ब त को यों कहकर उड़ा दिया, "मैं किसी के अपराध या अन्याय के बारे में थोड़े न कह रही हूँ। अब हमारी जरूरत ही क्या है ! क्यों ठीक है न लिलि दीदी ?"

"एकदम...सोलह आने।"

झिनि मुसकराती हुई अपनी झेंप मिटाती रही। इधर मैं पूरी तरह संकोच मे डूबा था। मैंने पूछ लिया, "अच्छी तो हो बिन्दु ?"

बिन्दु ने अपना हाथ ऊपर उठाया और माथे से छुआकर कहा, "अच्छी हूँ बाबाजी ! मेरे बाबा की दृष्टि भी कितनी तेज थी कि तुम्हें चीता बाबाजी नाम दिया। एकदम झिनिखोर !"

इतना कहकर वह खिलखिला उठी। उसके इस विचित्र विशेषण को सुन लिलि और झिनि भी हँस पड़ी। लेकिन मैं इस सारे मजाक से इतना-सा होकर रह गया। जयदेव आकर ऐसी भी उपाधि से सम्मानित होऊँगा, यह नही जानता था।

क्या यह मेरे नाम का विश्लेषण था ?

मैं कुछ अन्य कारण से भी चकित था। लिलि और झिनि जैसी पढ़ी-लिखी,

कहाँ पाऊँ उसे

सम्भ्रान्त और आधुनिकाओं के साथ बिन्दु-जैसी प्रकृति का यह मेल भला कैसे सम्भव है ? विश्वविद्यालय परिसर और महानगरी की कन्याओं के संग बाउल प्रकृति का इतना अन्तरंग सम्बन्ध ! जयदेव के इस वेदनाशी बरगद के तले तीनों सखियाँ एक ही भाव-सरिता में उतरा रही थी । चिर प्रकृति की उसी अखिल लीला में मग्न ।

कोई स्वर-लहरी-सी बज रही थी । चाहे कोई लाख हँसे-गाये, रोये-रूठें; जिस अनचीन्हे की तलाश में मैं भटक रहा हूँ वहाँ चाहे मुझे कितनी ही द्विधा, संशय, भय, विरक्ति या उद्विग्नता झेलनी पड़े, मैं इसी तरह अपनी राह चलता जाऊँगा...अपनी रौ में, एक फ़क़ीर की तरह अपने ही में मस्त । अपने साथ यही सुर ले जाऊँगा, जिससे कहीं कभी रुकने पर अपनी झोली विसात को झाड़ते-फैलाते यही सुर मन के किसी कोने में बज उठेगा—यही तो प्राप्य है मेरा ।

मैंने धीमे स्वर में बिन्दु से कहा, "इसलिए तुम ऐसा नाम दोगी ?"

"तुम कहीं नाराज तो नहीं ?" बिन्दु फुसफुसायी ।

"नहीं...शर्मिन्दा होना पड़ा ।"

उसने मेरे कन्धे पर हल्की-सी थाप दी और धीरे-से बोली, "अरे मैंने तुमको कुछ थोड़े न कहा ? जिसको कहना था, उसे ही सुना रही थी । बस तुम्हारा नाम ही तो लिया । इसमें सकोच की क्या बात !"

बिन्दु की आँखों का संकेत और भी गहरा उठा । स्वर में सान्त्वना थी । उस समय मेरे मन में वही बात आयी, 'त्रियाचरितम् पुरुषस्य...।' बिन्दु भी छलनामयी है जो मुझे भुलाये रखना चाहती है । बुदबुदाते हुए कहने लगी, "लेकिन बाबाजी, सच कहूँ ! क्षिनि तो मर ही गयी है । क्या रहा अब उसके ?"

मैंने हाथ तो नहीं जोड़े लेकिन अपनी बेबस आँखों से उसकी ओर देखता रहा । "अच्छा तो बाबाजी, अब और कुछ न कहूँगी ।" यह कह बिन्दु ने एक गहरी साँस ले ली । मेरे सीने में भी जैसे भाप-सी अटक गयी थी । मैं बिन्दु का कृतज्ञ था...सचमुच ।

इस बीच गोपीदास भी पेड़ के नीचे आ गये । उन्होंने आते ही अपने हाथ बढ़ाये और फिर मुझे अपनी छाती से लगा लिया । मोटी कथरी का अँगरखा पहने हुए थे वे । गाँजे की गन्ध लिये उनकी दाढ़ी मेरे मुँह पर लहरा रही थी । जो भी हो, उस स्नेह-विह्वल आलिंगन से मेरा जी जुड़ा गया । मेरे मन में विचार आया कि क्यों न उनके पाँव छू लूँ । लेकिन अनावश्यक सकोच और लज्जावश मैं ऐसा नहीं कर पाया । 'जयगुरु...जयगुरु' की जयकार के साथ ही पूछा उन्होंने, "अच्छे तो हो न बाबाजी !"

"जी ..मजे मे हूँ ।"

"तुमसे मिलने को जी चाह रहा था । आनन्द से तो रहे ? बस आनन्द में

ही डूबे रहो...सदा आनन्द में।"

उनका कण्ठ-स्वर गहरा रहा था। मैं नहीं जानता, इस आनन्द का या सदानन्द का स्वरूप कैसा है? वह जिस आनन्द में हैं, क्या मैं उसमें डूब सकता हूँ? यह मेरे बूते में नहीं। मैंने भी उनसे कुशल मंगल पूछा। झिनि हमारी परस्पर जिज्ञासा आदि से तनिक विस्मित और मुग्ध हुई। उसकी आँखों में भी कोई प्रश्न था।

गोपीदास ने अपने आलिंगन से मुझे मुक्त करते हुए कहा, "ऐसा है बाबाजी, इन दीदी मणि से मेरी कोई बात नहीं बनी। वे हमारी मण्डली पर आयी नहीं। और आयेंगी भी भला कैसे? गरीब की मण्डली...टूटी-फूटी मड़ैया की मरम्मत कर किसी तरह पड़ा हूँ। वहाँ भला ये सब कैसे जायेंगी?"

मैं देख रहा था कि झिनि गोपीदास की बातों के बीच में कई-एक बार कुछ कहना चाह रही थी, लेकिन बूढ़ा बाउल कहता ही चला गया। अवसर मिलते ही झिनि ने कहा, "आपने ठीक नहीं कहा गोपी दादा! मैंने तो आते ही बता दिया कि कोई चारा न था।"

मैं सारा घटना-चक्र समझ नहीं पा रहा था। क्या झिनि और लिलि किसी दूसरी जगह टिकी हैं? मेरी धारणा तो यही थी कि मेरी तरह ही मेले में चली आयी है और यहीं सबके साथ भेंट-मुलाकात हुई है। मैं दोनों सखियों की ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखता रहा।

गोपीदास ने आगे कहा, "यह तो मेरे भाग्य का ही दोष है झिनि दीदी! वरना मदन के आश्रम का पता कलकत्ता में ही कैसे लग जाता? इस बूढ़े की बात याद नहीं रही।"

झिनि ने झिझकते हुए बताया, "हमारे ही स्कूल के एक अध्यापक ने मदन बाउल के आश्रम के बारे में बताया था। चिट्ठी भी डाल दी थी और इसी कारण वहाँ ठहरना पड़ा। और पहले से यहाँ आने की ऐसी कोई बात तो थी नहीं। अचानक..."

गोपीदास ने बीच में अपनी बात डाल दी, "समझे कि नहीं बाबाजी। अब यह तो ठहरा लम्बा-चौड़ा आश्रम...बड़े लोगों की मण्डली। बाँकुड़ा के मदन बाउल की धाक-साख कहाँ नहीं! बड़े-बड़े लोग उसके चेले-चपाटे हैं—जज, मजिस्ट्रेट, वकील-बैरिस्टर। उधर पच्छिम की तरफ, अजय के किनारे उसका बड़ा भारी पण्डाल लगा है। आठों पहर चूल्हा-चक्का, खाना-पीना और सारा तामझाम। और क्या कहते हैं उसे...हाँ...माइक...आइक।...चौबीस घण्टे घन...घन...।"

"गोसाँई मदन भी बहुत बड़ा साधक है बाबा," बिन्दु ने जोड़ दिया।

"यह भी कोई कहने की बात है," गोपीदास ने जल्दी से अपना कान पकड़ा

और जीभ काटते हुए बोले, "गुण न रहें तो कोई गुणी कैसे हो सकता है माँ ! आख़िर उसके पास लोग यूँ ही थोड़े न दौड़ते है ? कितने बड़े-बड़े संघ है उसके !"

"लेकिन मैंने बड़े-छोटे के बारे मे कुछ नही सोचा । यही सोचकर वहाँ गयी कि अनजानी-सी जगह है, इतना बड़ा मेला लगा होगा । और जसा मैंने बताया उस अध्यापक ने ही सारी व्यवस्था कर दी । वह स्वय मदन गोसाँई के शिष्य हैं।"

गोपीदास ने अपने सीने पर हाथ रखकर कहा, "मैं सब समझता हूँ झिनि दीदी, लेकिन जी कहाँ मानता है ? अपना आदमी पराये घर मे पड़ा हो तो मन मानेगा भला ?...फिर भी..."

अपनी बात पूरी करने के पहले उन्होने अपनी सफ़ेद दाढ़ी पर हाथ फेरा। फिर एक बार मेरी और झिनि की ओर तकते हुए बोले, "मै चीता बाबाजी को तो किसी कीमत पर नही छोड़ूँगा । अब देखना है कि किसका पलड़ा भारी है ।"

उनकी बातें ही ऐसी थी कि सभी हँस पड़े । गोपीदास ने आगे जोड़ा, "देखना यह है कि किस मण्डली का आदमी किस मण्डली में चक्कर काटता है ।" इतना कह उन्होने हाथ बढ़ाकर कन्धे से लटका मेरा झोला उतार लिया, "अब भी इसे ढो रहे हो ? लाओ। ले जा बिन्दु ! इस चीते को बाँधकर रख ।"

बिन्दु ने हँसते हुए मेरा झोला झटक लिया । इधर लिलि ने पहले ही निर्णय दे दिया, "आपका ही पलड़ा भारी रहेगा । मैं तो आपके ही आश्रम में आकर पड़ी रहूँगी ।"

झिनि स्वभावतः झेंप गयी, "अब किसी-न-किसी जगह तो ठहरना ही था। जहाँ जान-पहचान रहेगी, समय तो वही कटेगा ।"

"बस, और क्या चाहिए..." गोपीदास ने खिलखिलाने के पहले इतना ही कहा।

मैंने उन्हे अपनी यात्रा के बारे मे, संक्षेप में बताया । गोपीदास ने बिन्दु को सकेत किया, "इसे ले जा माँ । थोड़ी देर जिरा तो ले । गान-वान तो सारी रात होता ही रहेगा ।"

"सारी रात ?" मैंने हैरानी से पूछा ।

"और क्या बाबाजी ! हम आख़िर यहाँ आये क्यों हैं ? मन-ही-मन रसिक का भजन और पद गायन । एक दिन हो या सात दिन...यहाँ आकर गान गाने पर ही रसिक-भजन सार्थक होता है । इसी में बाउलों का पुण्य है । यही नहीं, कइयो की मिन्नत-मनौतियाँ होती हैं । यही आकर खाते-पकाते हैं । आज मकर-संक्रान्ति है, कल लोग अजय में नहायेंगे । इसी में गंगा-सागर का पुण्य प्राप्त होगा ।"

इस बात का पता न था कि आज अजय के स्रोत में गंगा बहती है । मन

चंगा हो तो कोपाई के जल मे जमुना बहती है। यह भी मैंने कोपाई के किनारे खड़े होकर ही कभी सुना था। लेकिन मिन्नत-मनौती वाली बात कुछ अजीब थी। आखिर क्या होता है इनसे ?

बिन्दु की आँखें चमक उठी। उसने झिनि की ओर तकते हुए मुझसे पूछा—"क्या बात है बाबाजी ? कोई मनौती करनी है ?"

"नही।"

"तो।"

"बस, यूँ ही जानने की इच्छा हुई।"

गोपीदास ने कहा, "मनोकामना पूरी होने पर, इस अवसर पर यहाँ आना पड़ता है। अजय के किनारे खा-पकाकर, उसमें गोता लगाना पड़ता है। जैसी मनौती, वैसी तैयारी।"

बिन्दु बोली, "अगर तुम उस समय होते तो हम लोगों के साथ ही नहाते। मकर-स्नान। इन दोनों ने भी हमारे साथ ही स्नान किया।"

"अब और नही। बड़ा गन्दा है..." लिलि ने होंठ बिचका दिये।

"वह तो होगा ही," गोपीदास ने बड़े स्नेह से कहा, "हजारों लोग आये हुए हैं।" फिर बिन्दु की तरफ़ मुड़कर बोले, "जा माँ...सबको ले जा। बाबाजी को ...दीदी को भी...।"

झिनि और लिलि एक दूसरी की ओर पहेली बुझाती-सी तक रही थी कि तभी लिलि मुखर हुई, "हाथ-मुँह धोने की इच्छा तो है लेकिन साबुन और तौलिये वग़ैरह तो वहीं पड़े हैं। तू हाथ-मुँह नहीं धोयेगी ?"

झिनि ने हामी भर दी। लेकिन बिन्दु ने बताया, "वह सब तो मैं नही दे पाऊँगी। हाँ, जल जितना चाहो...मिल जायेगा।"

"नहीं, इसलिए नही," लिलि बताने लगी, "ज़रा कपड़े बदल आती। सुबह नहाने-धोने के बाद जो पहना है, वहीं पड़ा है। और अभी तो सारी रात पड़ी है!"

"बहुत थक गयी हो ?" झिनि ने उसकी बात को बीच में ही लपक लिया, और फिर धीमे स्वर मे मुझसे बोली, "आराम तो नही करना चाहते ?"

मैंने कहा, "नहीं। मैं भी हाथ-मुँह पर छींटे मारना चाहता था।"

"हमसे अधिक न थके होगे महाशय," लिलि ने कहा, "चलिए, पहले हाथ-मुँह धो लीजिए। फिर हमारे यहाँ आइयेगा।"

"आपके आश्रम ?"

"अब जो भी कह लीजिए। कोई निषिद्ध स्थान तो नही ?"

"नही। जानी-सुनी जगह नही..."

"अच्छा तो हम ही आयेंगी। तुम वहीं रहना।"

मैं नहीं जानता, किसलिए। झिनि बोल उठी, "तूने लड़कियों की इज्जत नही रखी, झिनि। वह नहीं आ सकते !"

बिन्दु ने कहा, "देखना तो यह है कि किसका पलड़ा कितना भारी है। आना तो तुम्हें ही पड़ेगा। आखिर हमारी मण्डली की भी कोई मर्यादा है। आओ बाबाजी !" और वह मुझे ठेलती हुई आगे ले चली। वे दोनों भी हँसकर आगे बढ़ गयी। गोपीदास फिर मण्डप में जाकर बैठ गये।

उसी मण्डप के पीछे एक टूटा-फूटा घर था। दीवारें थीं, लेकिन छत नदारद। घर-जैसी कोई चीज नहीं। किसी तरह टाट-फूस के बेड़े से कामचलाऊ प्रबन्ध कर लिया गया था। दरवाजे गायब थे। उसकी जरूरत भी क्या थी? घर के पिछवाड़े तिरपाल ढाँककर रसोई की व्यवस्था की गयी थी। वहाँ निताई मुस्तैद था। दो-एक जन और थे। उनमें से एक स्त्री थी। लालटेन के अलावा गैस की पंचलैट भी जल रही थी। एक कमरे में लालटेन की मद्धिम रोशनी थी। पुआल भी बिछी थी वहाँ, जिसके ऊपर शतरंज फैला दी गयी थी। इस ठण्डे मौसम में कोई बुरा इन्तज़ाम न था।

पास के एक दूसरे कमरे में भी यही व्यवस्था थी। बिन्दु ने मेरा झोला बगल-वाले कमरे में रखना चाहा होगा, जहाँ आश्रम का और भी सामान रखा था। इसके बाद, इधर-इधर देखते हुए उसने कुसुम का नाम लेकर पुकारा। कहीं से कोई उत्तर न मिला। मैंने कहा, "उसे तो मैंने पेड़ के नीचे ही देखा था।"

बिन्दु ने निराश स्वर में गर्दन हिलाकर कहा, "उसकी कोई बात न पूछो, बाबाजी। उसने तो मेरा हाड-मांस सब गला दिया। कब कहाँ चली जायेगी, कुछ नही समझ पाती। उसीने तो थोड़ी देर पहले आते ही बताया था कि तुम्हें कहीं से पकड़ लायी है।"

"हाँ, सबसे पहले उसी से मुलाकात हुई। काशीनाथ नही आया ?"

"आयेगा नही भला ! यही तो परेशानी है। वे दोनों तो कौए-चील भी नही बैठने देते। हमेशा झगड़ा...और झगड़ा।"...

सुनकर मैं अपनी हँसी नहीं रोक पाया। बिन्दु ने कहा, "तुम हँस रहे हो बाबाजी ! मैं अब और झेल नही पाती। बलिहारी है कुसमी की...आज ही दोपहर काशी ने उसकी वो धुनाई की है लेकिन उस छोकरी को ज़रा भी लाज नहीं। पता नहीं, दोनो कहाँ आँखमिचौनी खेल रहे है ! काशी किसी चौकडी में बैठा गांजा चढ़ा रहा होगा और कुसमी उसे खोज-खोजकर परेशान हो रही होगी।...जान ही न दे दे !"

मैं अपनी हँसी रोक नही पाया। सामने के मण्डप में ही, गोकुल गा रहा था। चारों ओर से और भी स्वर-लहरियाँ उठ रही थीं। गान और वाद्यों से विशाल प्रांगण मुखरित था। इन सबके बीच काशी और कुसमी की विचित्र

लीला चल रही थी। उन्हें भजन-साधन से क्या लेना-देना? सभी अपने-अपने आश्रम में व्यस्त थे। लेकिन इनपर कोई दायित्व नहीं...ये अपने में डूबे हैं, एक-दूसरे में मगन। यह भी एक साधना ही है। किसी ओर उनकी दृष्टि नहीं। पता नहीं, इसमें किसी रसिक का भजन-साधन निहित है या नहीं। मुझे तो यही जान पड़ता है कि इन दोनों के साथ ही, कोई अदृश्य शक्ति अपने अधरों पर मुसकान बिखेर तक रही है।

बिन्दु उद्विग्न थी लेकिन अपने को सम्हालती हुई हँसकर बोली, "सचमुच इन दोनों से तो मैं बहुत ही परेशान हूँ।"

"वे दोनों एक-दूसरे में खोये हैं।"

"खाक खोये हैं। ऐसा होता तो जान बचती। जाकर देखो न, या फिर कितनी ही चीख-पुकार मचाओ, यह सुनेंगे? सारी मुसीबत मेरे गले पड़ी है। अब आने भी दो दोनों को...आते ही दोनों को दो-चार घूंसे लगाऊँगी।" इतना कहते हुए बिन्दु ने अपना मुँह घुमा लिया। उसके चेहरे पर बनावटी गुस्से के साथ हँसी भी उतरा आयी थी। स्पष्ट था कि वह दो-चार घूंसे किस प्रकार लगायेगी।

इसके बाद बिन्दु मुझे घर के पिछवाड़े लिवा गयी। वहाँ जल रखा था। हाथ-मुँह धोकर वापस आया ही था कि निताई ने 'जयगुरु' का उच्चारण किया। वस्तुतः वहाँ वही एक काम का आदमी था। उसने कुल्हड़ में गरम-गरम चाय आगे बढ़ायी। गुड़ की चाय, जिससे हल्दी की भी बू आ रही थी। जो जैसी भी हो, गरम तो थी। इस काटती ठण्ड में कौन देता है भला!

बिन्दु खाना पकाने में व्यस्त हो गयी। उसने वहीं से पुकारा, "बाबाजी! थोड़ी देर बैठो...जरा इधर का काम निपटा दूँ।"

उसकी यह व्यस्तता बहुत कुछ घर की मालकिन की-सी थी। उस पर इतना दायित्व। खिचड़ी, मिली-जुली सब्जी और थोड़ी-बहुत तली भुजिया का आयोजन। शायद कई लोगों के खाने का प्रबन्ध था। मिट्टी के बड़े-बड़े चूल्हे और उन पर चढ़े बड़े-बड़े हण्डे देखकर ही मैं सारी तैयारी भाँप गया। बिन्दु को व्यस्त रहना ही था। कोई चारा नहीं। लेकिन उसने निताई को मेरे पास से बुलाया नहीं। मैंने ही कहा, "आप जाइये वहाँ। मैं यहाँ ठीक हूँ।"

"बिन्दु ठकुरानी बुरा मान जायेंगी।"

"क्यों," मैंने निताई से कहा, "आप उन्हें बताइयेगा कि मैंने कहा है। मैं थोड़ी देर अकेला रह लूँगा।"

निताई ने वहाँ से उठते हुए, कुछ अजीब ढंग से अपना मुँह सिकोड़ लिया। उसकी देह लचक गयी जैसे। फिर हाथ बढ़ाकर वह बोला, "अच्छा, तो फिर अपनी वह चीज तो निकालिए...जरा मैं भी तो चखूँ!"

मैं उसकी ओर हैराना से देखने लगा। वह मुझसे क्या चाहता है? पहले तो वह संकोच में पड़ा हँसता रहा। फिर होंठों पर दो उँगलियाँ रखकर कहने लगा, "यह चीज़!"

अच्छा तो सिगरेट! मैंने घड़ीभर पहले ही सिगरेट सुलगायी थी। मुझे पहले ही उससे पूछना चाहिए था। तभी मुझे अधर माझी की नौका पर सवार महमूद गाज़ी की स्मृति हो आयी। ख़ैर, मैंने सिगरेट और दियासलाई बढ़ा दी। तो भी उसके वहाँ से टलने का कोई लक्षण न देख मैंने पूछा, "आप भी बाउल ही होंगे?"

अपनी जीभ काटते हुए वह तुरत बोल उठा, "मैं तो कुछ भी नहीं हूँ, बाबाजी। आप मुझे आप कहकर न बुलाइए। आश्रम मे रहता हूँ और अपना काम-धाम करता हूँ। बस, इतना ही।"

कहता हुआ वह सिगरेट की आग फूँकने लगा। पता नहीं क्या कहना चाहता था वह लेकिन कह नही पा रहा था। फिर एकाएक बाला, "दरअसल मैं... अब क्या बताऊँ आपको...मैं एक नामी चोर था।"

चोर? यह क्या कह रहा है? अविश्वासभरी दृष्टि से देख रहा था मैं उसे। शर्म से उसका सिर झुका हुआ था। मैं अब भी कुछ भाँप न पाया। आखिर गोकुलदास क आश्रम में यह दागी चोर कहा से आ टपका!

निताई उन्ही तरगो के साथ बहता चला आया। कहन लगा, "अब आपको बताने मे क्या आपत्ति है भला! आप ता गोकुलदास और बिन्दु ठकुरानी के अपने आदमी ठहरे! मैं लम्बे समय तक जेल भुगत चुका हूँ...कितने ही ताले तोड़े है मैंने।"

मे साधा बैठ गया। मैंने पूछ लिया, "सजा भी काट चुके हो?"

"जी हाँ! दो-दो बार। कुल तीन साल। फिर इन दानो के हाथ मे जा पड़ा और पिछले दस साल स किसी चक्कर म नही पड़ा।"

"क्यो?"

"क्या जानूँ, बाबाजी! मैं सिउड़ी के पास का रहनवाला था। इन लोगो से कभी-कभार मिलना-जुलना हो जाता था। जहाँ कहीं जाता, वहीं दुतकार और फटकार मिलती। चार का भी किसी न सम्मान से बिठाया है भला! लेकिन गोकुल और बिन्दु न कभी भी कुछ नही कहा। मैं उनसे पूछता, 'मुझे चार जानकर भी इतनी खातिर क्यों करते हो मेरी!' वह कहते, 'जा जहाँ के लिए चोर है, हुआ कर। हमें क्या?' मैं कहता, 'तुम्हारे यहाँ भी हाथ साफ़ कर सकता हूँ।' उनका उत्तर होता, 'काँसे-पीतल के दो-चार बर्त्तनों को छोड़कर तुम्हें मिलेगा ही क्या? न भी हों तो ठीक है। घर में भात न भी हो तो भीख माँग लेंगे।' उनकी कोई भी बात झूठी न थी। मुझे घर पर छोड़ दोनों ही अपने काम पर निकल जाते। मैं चाहता तो वहाँ भी अपनी सफ़ाई दिखा जाता। लेकिन

कभी इच्छा ही नहीं हुई।"

बुझती हुई सिगरेट को निताई ने तीन-चार बार जोर-जोर से खींचा। आँखें उसकी अब भी झुकी हुई थी। उसने अपने इस विचित्र वृत्तान्त को आगे बढ़ाते हुए कहा, "अब कोई मेरे हाथों में सारा धन सौंपकर कहे कि लो भाई, चोरी कर लो...! तो क्या होगा बाबाजी! गोकुल और बिन्दु को लोग सावधान करते कि निताई चोर तुम्हे एक दिन भिखमगा बनाकर छोड़ देगा। लेकिन हुआ इसका उलटा ही। गोकुल और बिन्दु जब कभी भी सिउड़ी से बाहर जाते तो मुझपर ही उनके आश्रम की देखभाल का भार रहता। तब मैं ही उनकी गाय, घर-बाड़ी, मचान और क्यारी सँभालता। उनकी यह कुसमी...तब इत्ती-सी ही तो थी। उसे भी मैं ही देखता। यही नहीं, कोई आया-गया तो उसकी सेवा भी। उठाना-बिठाना, खिलाना-पिलाना...सबकुछ। सेंध मारने की फुरसत ही नहीं मिलती।"

मेरी ओर देखता हुआ वह क्षणभर चुप रहा आया। सिगरेट का जलता टोंटा उसने अपनी उँगलियों से दबाकर बुझा दिया। मानो वह अंगार थी ही नहीं। मैं चुप बैठा उसकी यह गाथा सुन रहा था। पता नहीं क्यों, उस पर विश्वास करने को जी नहीं हो पा रहा था।

निताई खड़ा हो गया अचानक। उसने फिर जोड़ा, "एक दिन बिन्दु ने ही कहा था, 'देख निताई, अगर चोरी करना ही हो तो केवल एक चीज की करना, जिसके लिए मार नहीं खानी पड़ती।' मैंने पूछा था, 'आखिर कौन-सी चीज है वह?' तो उसने कहा था, 'मन।' कहते-कहते उसकी हट्टी-कट्टी देह लहरा गयी, वह हँसता रहा। हँसते हुए उसकी दोनों आँखें मुँद जाती। जाते-जाते इतना ही बोला, "अब आप ही बताइये बाबाजी! यह भी कोई मेरा काम है भला! आप बैठिए...मैं जरा उधर भी देख आऊँ।"

वह तो चला गया, लेकिन मेरे सामने गोकुल और बिन्दु के चेहरे तिर उठे। उनका वह युगल-रूप मुझे बहुत ही भाया था। तब भी मेरी आँखों में आँसू आ गये थे, जिस रात मैं नानुर से सिउड़ी लौटा था। अब जान पड़ा, इतना ही नहीं है। यह ऐसे-वैसे युगल नहीं; दोनों अपने आत्म-सन्धान मे एकजुट हैं।

और निताई? चोरनी-शिरोमणि बिन्दु ने उसके हाथ में सेंध मारनेवाला जो औजार दिया था, उसका क्या हुआ? वह अब भी सेंध ही लगा रहा है, किसी के अन्तर्मन मे घुसकर कुछ खोज रहा है...किसे पता?

अचानक दरवाजे के पास कोई आहट-सी जगी। दोनो सखियाँ खड़ी थी। दोनों के वेश-विन्यास में कोई विशेष अन्तर तो न था। ऊनी शाल और गरम कोट, दोनो ही सलामत। फिर भी, कोई नयी चमक झलक लिये दोनो उपस्थित थी। लिलि ने बहुत ही धीरे-से पूछा, "क्या बात है महाशय! किस स्वप्न में

डूबे हैं ?

"नहीं तो !"

"अच्छा !" उसने बड़े आश्चर्य से कहा, "यह बात है। हमने तो यही सोचा कि आप बाहरी दुनिया से ही कट गये है। हम कब से खड़ी हैं और आपको कुछ पता ही नही !"

"हाँ, कुछ यूँ ही सोच में पड़ा था।"

"किस सोच मे ?"

"यही, इनकी मण्डली के बारे में...निताई के बारे में..."

लिलि ने झिनि की आँखों में आँखें डालीं और जल्दी से कहा, "अच्छा, वह सब बातें बाद में सुनाइयेगा। अब उठिए और चलिए।"

"कहाँ ?"

"जहाँ हमारी खुशी। आज सारी रात आप हमारे साथ हैं।"

"अच्छा।"

"जी हाँ जनाब ! आप आइए तो सही !"

लिलि और झिनि को देखकर बिन्दु भी कमरे में आ गयी। आते ही उसकी आँखें चमक उठीं। गेरुआ साड़ी के छोर से अपने हाथ पोंछते हुए बोली, "आज तुम लोगों का क्या इरादा है ? लगता है, जयदेव के सारे बाउलों और बाबाजी का सिर ही चकराता रहेगा ! मेले में आये लोगों की तबाही तो है ही।"

बिन्दु की बात ग़लत नही थी। दोनों सखियों का साज-सिंगार तो वैसे कोई खास बदला न था लेकिन झिनि की बिन्दी और लिलि की रेशमी साड़ी का गन्दुमी रंग कुछ अजीब ही छटा बिखेर रहा था। झिनि के मुकाबिले लिलि की तैयारी काफ़ी भड़कीली थी। पाउडर, लिपस्टिक, लहराते खुले बाल—बलखाती हुई लिलि। झिनि ने भी अपने शाल को पीठ पर कुछ इस तरह लपेट लिया था कि उसकी खुली केशराशि ढँक गयी थी। दोनों के हाथ में पर्स।

बिन्दु की बात का उत्तर देते हुए लिलि लहरा गयी, "ऐसा कोई मिलेगा... तब न। यहाँ कौन है जो सिर पीटे !"

झिनि मुसकरा उठी, लेकिन झेंपकर बोली, "क्या कह रही हो ?"

लिलि ने आँखें फैला दीं, "ठीक ही तो कह रही हूँ ..लेकिन केवल अपने बारे में। तुम्हें कुछ थोड़े न कहा है ?"

बिन्दु भी हँस पड़ी, "सावधान, लिलि दीदी ! इतना तो जान ही लो कि कौन कहाँ सिर पीट रहा है, किसका सिर चकरा रहा है। और यह जानना तबतक बड़ा मुश्किल है जबतक कि अपना सिर नहीं चकराये।"

"अच्छा, देखा जायेगा," लिलि बोली, "चलिए महाशय...कहाँ अटक गये !"

कोई चारा भी न था। जाकर देखना ही था कि यह प्रवाह कहाँ और कितनी दूर बहा ले जाता है। बाहर निकलने के पहले बिन्दु ने याद दिलाया, "चाहे जहाँ भी जाओ बाबाजी, पर खाना यहीं खाना है। अगर इसे भी साथ ला सको तो और भी अच्छा। देखना, तुम्हारे कहने पर शायद आ जाये।"

"कोशिश करूँगा," मैंने इतना ही कहा। मेरे मन में ठीक इसी समय निताई की बात कौंध गयी। हमारे संग बिन्दु भी थोड़ी दूर तक आयी और याद दिलाती हुई बोली, "पूरब की तरफ़ अधिक आगे मत जाना। ज़रा चौकस रहना।"

मुझे लगा, वह किसी भी ओर से बेखबर नहीं। अन्यथा वह सेंध मारने-वाले चोर को मन चुराने का मन्त्र नहीं देती। मैं उसकी सतर्कता पर हैरान था। उसने फिर पूछ लिया, "क्या बात है बाबाजी ? कुछ कहना है?"...

"नहीं। लेकिन...एक बात याद आ गयी।"

"कौन-सी ?"

"बाद मे बताऊँगा।"

"नहीं...अभी तुरत ही बताना पड़ेगा।" बिन्दु किसी बच्चे की तरह ज़िद करने लगी।

"निताई की बातें...। उसने बताया कि वह सेंध मारना छोड़कर अब किसी का जी चुराना चाह रहा है।"

"ओ...माँ ! यह क्या ?" बिन्दु ने सिर पर हाथ रखकर कहा, "निताई ने और क्या बताया ?"

मैंने आगे बढ़कर कहा, "कुछ बुरा नहीं कहा।"

बिन्दु पीछे ही खड़ी थी। मैंने मुड़कर फिर बताया, "हाँ, ठीक ही तो कहा उसने।"

बिन्दु की दोनों आँखों में मुसकान-भरी चमक खेल गयी। इधर झिनि ने पूछ लिया, "बात क्या है ?"

हम आगे बढ़ आये थे। दोनों सखियों के साथ भीड़ से गुजरते हुए मैंने संक्षेप में सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही झिनि आश्चर्य से बोली, "अच्छा, यह बात है ! बिना मिले तो इस बात का पता ही नहीं चल पाता।"

लिलि ने भी इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, "बिन्दु के सामने तो हम तुच्छ हैं एकदम। जैसे कि अबतक न कुछ देख पायी, न कुछ जान पायी।"

क्या कह रही थीं ये दोनों गर्वीली आधुनिकाएँ। ऐसा नहीं था कि वे अपने आपको हीन जताने का ढोंग कर रही हों या फिर यह उनका ज्ञान-विलास हो। वे बिन्दु को इतना महत्त्व क्यों दे रही थीं, प्रश्न यह था। मैं दोनों का चेहरा तकता रहा। झिनि ने जोड़ा, "अपने कानों से न सुनने पर यह विश्वास करना मुश्किल ही होता कि वह जयदेव की कविता कितनी अच्छी गा लेती है।"

"अच्छा...संस्कृत में?" मैं हैरान था।

"हाँ। सारा 'गीतगोविन्द' कण्ठस्थ होगा उसे। शायद पूरा अर्थ भी जानती होगी।"

'गीत गोविन्द' के पद उसके मुँह से सुन पाने का मुझे सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। राढ अंचल की एक साधारण-सी बाउल प्रकृति, जो यहाँ-वहाँ भटकते रहनेवाले अँगरखाधारी बाउल वटुक के साथ झाँझ बजाकर कुछेक गाने गाती फिरती है, वह अगर 'गीतगोविन्द' का पाठ करे तो आश्चर्य न होगा? मैं अपने परिवेश को ध्यान में रखकर, अपनी ही दृष्टि में जैसे बड़ा हीन हो उठा।

मेरा विस्मय अभी दूर हुआ भी न था कि मैं एक जगमगाते पण्डाल के बीच आ पहुँचा। माइक पर गान हो रहा था। सामने गद्दी बिछी थी। सफेद चादरों पर गावतकिये और मसनद। उसपर एक प्रौढ़, गोरे-पे सुदर्शन सज्जन विराजमान थे। धूसर मूँछ-दाढ़ी और गेरुए रंग का जटाजूट। शरीर पर गेरुए रंग का ही रेशमी झब्बा। आँखें डूबी हुईं। कुछ और भी चेले-चपाटे थे उनके। सामने शहरी बाबुओं की भीड जमा थी। मंच के आगे माइक पर कोई बाउल गान गा रहा था। पास ही कोट-पतलून पहिने चश्मा लगाये एक बाबू साहब हाथ में माइक लिये गान टेप कर रहे थे।

हम चौकड़ी से दूर खडे थे। पण्डाल, दुकानें और सभी उम्र के लोगों की भीड। शहरी बाबुओं और सम्पन्न लोगों की संख्या भी कुछ कम न थी। कहीं-कहीं तम्बू डले थे, गद्दियाँ भी बिछी थीं कहीं-कहीं।

"क्या हुआ?" झिनि ने पूछा, "आइये ज़रा देख तो जाइए कि हम कहाँ टिके हैं।"

मेरा भी कुछ ऐसा अनुमान था कि हो-न-हो यह मदन बाउल का ही आश्रम है, जैसा कि गोपीदास बता रहे थे। इस बड़े पण्डाल के पीछे ही, पर्दों से घिरा एक दूसरा पण्डाल भी था। बाहर से कुछ पता नहीं चलता। इस मण्डप को पार कर हम दूसरे मण्डप में प्रविष्ट हुए। वे दोनों पर्दे के भीतर चली गयीं। मैं बाहर ही खड़ा-खड़ा उस ओर देख रहा था। अन्दर सजी-धजी कुछेक महिलाएँ अपने-अपने कार्य में व्यस्त थीं, या फिर आराम फरमा रही थीं। दो-चार पुरुष भी जमे थे। बातें हो रही थीं।

मैं दरवाजे के पास उनकी प्रतीक्षा में खड़ा था। मैंने सिगरेट सुलगायी और आस-पास का दृश्य देखने लगा। कुछ ही क्षण बीते होंगे कि किसी ने तेजी से मेरा हाथ पकड़ लिया। उसने धीमे किन्तु संस्कृत स्वर में पूछा, "कौन है तू? मेरे आश्रम में फक...फक सिगरेट फूंक रहा है?"

मैं एकबारगी सहम गया। आत्म-सम्मान का प्रश्न था। विचित्र संकोच में पड़ गया मैं। क्या उत्तर दूं? सामने वह महिला खड़ी थी। उनकी उम्र का अनुमान लगाना कठिन हो रहा था। युवती के-से सारे लक्षण विद्यमान थे। सूरज की अन्तिम किरणें जल मे पड़कर जैसे और भी झिलमिला उठती हैं, यह गैरिक-वसना का रूप-यौवन कुछ वैसा ही खिला हुआ था। बड़ी-बड़ी आँखें और दृष्टि में सम्मोहन। नाक पर आधुनिकाओं की तरह चश्मा, जिसके नीचे से सुन्दर, काली-कजराई आँखें साफ़ दीख रही थीं। गेरुए रंग की कोरी रेशमी साड़ी। उसी का ब्लाउज। अन्दर कंचुकी भी होगी। तीखे नाक-नक्श और पान से रँगे होंठ...रक्त विम्बोष्ठा। पीछे रूखे-सूखे बालों का जूड़ा। मुझे जान पड़ा, उसकी आँखों की तीखी दृष्टि में रोष नहीं, अनुसंधित्सा है। मुझे उन तरल आँखों की ओर देखने का साहस नहीं था। अपराध भाव से मर्माहत होकर भी मेरे मुँह से इतना ही निकला, "मैं...याने कि..."

"हाँ...बाबा तुम।" उस महिला के मुंह से जर्दे की खुशबू आ रही थी। वह गर्दन मटकाकर बोली, "कौन हो तुम?" आश्रम के सामने सिगरेट फूंक रहे हो? पाँव में नटवर की तरह जूता भी है!"

आत्म-सम्मान के साथ-साथ, उसकी बातों का दंश भी हृदय को बींध गया। मैं युवती के पीछे-पीछे रेंगता हुआ आया। पता नहीं, किसके हाथ पड़ गया! कहाँ ले जायेगा यह भाग्य! उसकी कलाई मे कितना जोर था यह मैं उसकी तप्त पकड़ से ही समझ गया था। इस काटती ठण्ड में भी, उसकी देह पर कोई ऊनी कपड़ा नहीं था।

आश्रम के ही दो-तीन जन जिज्ञासावश मेरे पास आकर खड़े हो गये थे। उनके चेहरों को देखकर ऐसा तो नहीं लगा कि संकेत मिलते ही इस अपरिचित की ठुकाई में यथाशक्ति अपना योगदान करेंगे! और अब धीरे-धीरे मैं वहाँ तक पहुँच गया था, जहाँ पर झिनि और लिलि अपनी चप्पलें उतारकर अन्दर गयी थीं।

लगा, इस महिला के हाथ-पांव ही जोड़ने होंगे। कोई आपत्ति की बात भी न थी इसमें। अब अपराध तो हो ही गया, जाने-अनजाने। मैंने निवेदन किया, "देखिए...मैं यह सबकुछ समझ नहीं पाया..."

लेकिन मेरी बात पूरी भी न हो पायी थी कि अचानक झिनि मेरी बगल में आकर खड़ी हो गयी। बोली, "क्या हुआ?"

महिला ने कहा, "देखो न माँ ! यह लड़का यहाँ खड़ा होकर सिगरेट फूँक रहा था।"

लज्जावश मुझे कुछ नहीं कह आया। झिनि ने ही उत्तर दिया, "ओह... दरअसल ये जानते न थे...इसीलिए।"

लिलि ने जोड़ दिया, "माताजी, यह तो हमारे वही परिचित हैं, जिनके बारे में मैंने आपको बताया था।" उसने मेरा नाम भी बता दिया।

महिला का सारा रंग-ढंग ही बदल गया। उसकी पकड़ ढीली पड़ गयी। मेरा हाथ छोड़कर अपनी ठुड्डी पर उँगली रखकर बोली, "अच्छा तो यह बात है? तभी मैं यह सोच रही थी कि इतना भला और प्यारा-सा यह आदमी है कौन? मैंने तुझे बड़ी बुरी तरह डरा दिया...है न? आ...तू मेरे पास आ!" उसने मुझे अपने पास खींच लिया। स्थिति जैसे बिलकुल बदल गयी। अब कहीं जान में जान आयी। सबसे पहले मैंने जलती सिगरेट को फेंक देना चाहा, लेकिन इस बार उस महिला ने मुझे थपथपाते हुए कहा, "रहने दो। जब मुँह से लगी है तो पी ले...फेंकना नहीं। अब मुझे तो यह सब देखना ही पड़ता है।"

उसकी आँखें सौम्य सहज ही नहीं, तरल भी हो आयी थीं। अपनी तर्जनी उठाकर मेरे गाल को ठोंकते हुए कहने लगी, "तभी तो मैं सोच रही थी कि ऐसा मनमोहक मुखड़ा चुप क्यों खड़ा है?"

झिनि मुझसे सटी खड़ी थी। लिलि बताने लगी, "हम तो आपको ढूँढने के लिए ही भीतर गयी थीं। आपने ही तो उसे लाने को कहा था, इसीलिए इन्हें लिवा लायीं।"

"हाँ, न लाती तो मैं बुरा मान जाती। चल...थोड़ी देर ही सही, अन्दर चलकर बैठ। अरे ओ धनु! मिट्टी का एक भाँड़ तो देना...जिसमें यह सिगरेट की राख झाड़ेगा।"

जिसे आदेश दिया गया था, उसने दौड़कर एक सकोरा ला दिया। मैंने हाथ बढ़ाकर ले लिया। लेकिन मैं अब भी उनके आलिंगन से सर्वथा मुक्त न हो पाया था। महिला ने आगे कहा, "अच्छा तो कल से तुम्हारे लिए ही हा-हाकार-सा मचा हुआ था?" कहते हुए उसकी मधुर दृष्टि झिनि पर जा पड़ी। पान से रँगे होंठों पर मीठी मुसकान। ठीक इसी समय दूर से ही किसी के हँसने-खाँसने की आवाज सुन पड़ी। मैंने सिर उठाकर देखा, बाहर तीन-चार जन खड़े हमारी ओर देख रहे थे।

महिला ने कहा, "अन्दर आ जाओ!"

मुझे किसी महिला से चिपके रहना अच्छा तो नहीं लग रहा था लेकिन उसकी निर्विकार उदासीनता के चलते कुछ कह भी नहीं पाया। मैंने जूते उतारे और अन्दर पहुँचा। झिनि और लिलि भी। महिला अब भी मुझे अपनी बाँह

में गूँथे थी। आगे बढ़ते हुए बोली, "गिरिबाला ! जरा पान तो दे जाना।"

पास ही से, एक प्रौढ़ा का उत्तर सुन पड़ा "अभी लायी माँ !"

मेरे साथ छाया की तरह लगी दोनों सखियाँ भी होंठों को भींचे मुसकरा रही थीं। आँखों की पुतलियाँ नचाकर, पता नहीं, उन्होंने क्या संकेत किया ! उनका आशय शायद यही रहा होगा कि जो भी हो रहा है झेलते चलो उसे। मैं मन-ही-मन यह सोच रहा था कि इन दोनों की स्रोतस्विनी न जाने कहाँ बहा ले जाये ! इन घटनाओं के जटिल जाल से जी तनिक क्षुब्ध भी हो चला था।

कमरे के अन्दर सारा परिवेश भी कुछ दूसरा ही था। तम्बू के नीचे छोटा-सा मण्डप। जमीन पर पुआल डाल दी गयी थी और एक ओर मोटा गद्दा। उसपर चाँदनी छिटक आयी थी। महिला ने हमें उसी पर बिठाते हुए पूछा, "बुरी तरह डर गये थे न ?"

"जी।"

वह भी मेरे पास ही बैठ गयी थी। मेरा उत्तर सुनकर हँसने लगी। फिर भौंहें तिरछी करती हुई बोली, "अब इस मुँहजले को कुछ बताना तो चाहिए था कि किसके साथ है। उस समय तो ऐसा भोला लग रहा था कि जैसे कुछ जानता ही नहीं...नाक से दूध पीता है। लेकिन अब पता चला कि बात ऐसी नहीं है।"

"एकदम नहीं है।" लिलि ने उसकी बात को बघारते हुए कहा।

महिला ने आगे जोड़ा, "और मँजे से लड़कियों को भुलाये रखता है।"

उसका यह वक्तव्य अभियोग ही था। लिलि ने छूटते ही कहा, "मुझे तो इसमें न खींचो माँ। मैं किसी चक्कर में नहीं।"

"ओ हो ..तू सफ़ाई क्यों देती है ?" महिला कब चूकनेवाली थी, "इससे तो यही लगता है कि तू है। ठाकुर के घर में कौन है ऐसा, जो यह कहे कि मैं केले नहीं खाता !"

गुलाबी रूज से पुते लिलि के दोनों गाल रक्ताभ हो उठे। स्वयं को बड़ा बेबस पा रही थी वह। झिनि की ओर मुड़कर वह बुदबुदायी, "माँ क्या कह रही है !"

माँ भी सखी की तरह ही, मुक्त-भाव से लिलि की पीठ पर चपत लगाती हुई बोली, "तूने जिस तरह कहा, मैंने भी वैसा ही बताया। और मैंने कुछ बुरा तो नहीं कहा। कह रही थी, लडकियों को दौड़ा-दौडाकर मार डालता है।"

लिलि की असहायता का उपयोग झिनि कर रही थी। लिलि मेरी ओर तक रही थी। महिला कहने लगी, "और इसी तरह दौड़-भटककर तुम दोनों मर-खप जाओ तो बुरा क्या है ? बताओ तो लड़के, इसमें क्या बुरा है ?"

अब इसमें मुझसे क्या पूछना ? मैं तो वैसे ही गूँगा पड़ा था। तो भी इस

प्रश्न को विशेष महत्त्व न देते हुए मैंने उत्तर दिया, "जी...कुछ भी बुरा नहीं।"

दोनों सखियाँ आँखों में आँखें डालकर एक साथ ही हँस पड़ीं। तभी गिरिबाला पान लिये हाज़िर हुई। महिला ने एक बीड़ा मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, "लो, खाओ।"

"जी नहीं।" मैंने गर्दन हिला दी।

"क्यों? दाँत खराब हो जायेंगे?"

"यह बात नहीं। पान खाता नहीं...इसीलिए।"

"इन लड़कियों को भी नहीं खिला पायी। आख़िर कलकत्ते में पान की इतनी दुकानें हैं। वे कैसे चलती है?" उसने झिनि को एक छोटी-सी पेटी दिखाते हुए आदेश दिया, "उसमें से मेरी जर्दा की डिबिया तो निकाल जरा।"

झिनि ने आज्ञा का पालन किया।

"क्या बात है?" महिला ने फिर पूछा, "एकदम खाली हाथ हो। झोला-चोला कहाँ है?"

"मैं दूसरी जगह ठहरा हूँ।" बताना ही पड़ा।

"कहाँ?"

"गोपीदास बाउल की मण्डली में।"

"अच्छा...अच्छा। हेरुक के गोपीदास? बड़े ही भले हैं। वहाँ तो बिन्दु और गोकुल भी होंगे?"

"आप जानती हैं उन्हें?" मैंने अचरज से पूछा।

"जानूँगी कैसे नहीं?" महिला की बड़ी-बड़ी आँखों में कोई नयी चमक दौड़ गयी, "आख़िर हम सब एक ही सम्प्रदाय के हैं। एक ही साधन-भजन है। बीरभूम, बाँकुड़ा, पुरुलिया इन सारी जगहों के लोगों को जानती-पहचानती हूँ।"

मैं इन दोनों सखियों के बारे में सोच रहा था। क्या इन्होंने इसे कुछ बताया नहीं? झिनि से मेरी आँखें लड़ीं तो उसने महिला की ओर मुड़कर कहा, "मैं नहीं जानती थी कि आप उन्हें जानती हैं, परिचित हैं। हमारी पहचान शान्ति-निकेतन में हुई थी।"

"फिर तो पहले ही बताना चाहिए था!" कहकर वह मेरी तरफ़ मुड़ी, "उन्हें मेरे बारे में बताना! मैं कल खबर भिजवाऊँगी कि वे सब-के-सब यहाँ पधारें और यहीं गान-भजन करें। गोपीदास का गान 'उन्हें' तो बहुत ही पसन्द है।"

'उन्हें' से उसका तात्पर्य सम्भवतः मदन बाउल से था। पान अबतक उँगलियों में ही फँसा था और जर्दा डिब्बाबन्द।

"तुम भी यहाँ आकर टिक सकते थे?" उसने मुझे टोका।

"उन्हें पहले ही कह चुका था...इसलिए।" मैंने सफाई दी।

महिमा झिनि और लिलि की ओर तकने लगी, बोली, "इस साल, इस आश्रम में सौभाग्य से ये दो लड़कियाँ आ गयी हैं। बड़ी ही सहज और सरल।" फिर मेरी ओर देखकर बोली "तुम्हारे चलते ही आ गयी हैं।"

दोनों लड़कियों के चेहरे पर लाज और प्रसन्नता की लाली दौड़ गयी। मैं महिमा की मन्द-मन्द मुस्कान देखकर बुरी तरह झेंप गया। मैंने कहा, "मेरे चलते नहीं, ये स्वयं यहाँ आयी हैं।"

"मैं खूब जानती हूँ। कल से ही तुम्हारे बारे में न जाने कितनी बातें हुई हैं। देख, सुन समझकर ही कह रही हूँ कि तुम न आये होते तो ये भी नहीं आतीं।"

मैं चुप हो रहा। झिनि स्वभावतः अपने में डूबी रहनेवाली थी...चुपचाप। तो भी बोल उठी, "केन्दुलि का मेला देखने की साध तो बहुत दिनों से थी।"

महिमा भी अपना एक हाथ उठाकर चमकाते हुए बोली, "चुप भी कर! आगे बढ़-बढ़कर बातें बनाती है! मैंने तुमसे कुछ कहा? यह आया है, इसलिए न सही, इस साल मन की साध तो पूरी हुई। अब तो ठीक है न?"

"जी।" झिनि सहम गयी थी।

"तुम किसलिए आये हो बाबू?" उसने अपना प्रश्न उछाल दिया। उसके मुँह से यह बाबू या बाबा-जैसा सम्बोधन ठीक नहीं लगा। सिर से पाँव तक अपनी भाव-भंगिमा में वह कोई दूसरी ही नारी थी, विचित्र रमणी...रंगिणी।

"जी, घूमने-फिरने।" मैंने उत्तर दिया।

"क्या कहा?" उसने मेरे कान के पास मुँह बढ़ाकर पूछा मानो कोई रहस्य जानना चाहती हो।

"जी...अच्छा लगता है।"

"बस इसीलिए? मैंने सुना है कि तुम न जाने कहाँ-कहाँ चक्कर मारते रहते हो?"

"हाँ, घूमता तो हूँ ही।"

"लिखने के लिए?"

प्रश्न युक्ति एवं तर्क से परे तो था ही, मुझे अर्थहीन भी जान पड़ा। मैंने कहा, "नहीं। घूमते रहने के साथ लिखने का कोई सम्बन्ध नहीं। घूमता फिरता हूँ...इसलिए कभी-कभी कुछ लिखने की इच्छा होती है।"

"तो फिर कौन-सा आग्रह है?"

"घूमने का ही आग्रह।"

अचानक वह मेरी ओर झुकी और मेरे कुरते का अगला हिस्सा अपनी मुट्ठी में दबोच लिया। फिर मेरी ओर तकती रही। उसकी पुतलियाँ नाच रही थीं।

दूसरे ही क्षण, उसका रुँधा हुआ स्वर फूट पड़ा, "कलंकी है तू...!"

कलंक ? कौन-सा कलंक ? मैं विस्मित-सा रह गया। वह हँसती-हँसती अचानक थरथरा उठी थी। उसकी आँखों का कजरा तब आँसुओं में डूब गया था। मैं कुछ कह नही पाया। क्यों ? नही जानता। हास्य और लास्य मे डूबी तरंगिनी का अन्तर किसी पीडा से विह्वल और स्वर किसी भार से रुँधा हुआ था। उमगे हुए आँसू कोई और ही गाथा सुना रहे थे।

मैं उसकी भावावेगपूर्ण मनःस्थिति के बारे में कुछ समझ तो नही पाया, लेकिन मेरे मन मे अजीब-सी हलचल थी। मैं अपने आपको ही टटोल रहा था जैसे। झिनि की दृष्टि मुझपर लगी हुई थी। शायद झिनि को भी इसका भान नही हुआ कि उसकी आँखें क्यों छलछला उठी थी।

कुछ देर के बाद, महिला ने धीरे-से कहा, "इस कलंक का क्या मतलब है, समझे ? किसी युवती को अगर कोई समाज कुलटा कहे तो वह भी एक कलंक ही है। लेकिन इसके उपरान्त भी अगर वह अपने धर्म का पालन करती है तो यह कलंक भी उसके लिए स्वर्गसमान सुखद हो जाता है। जैसी कि राधा। समझे ? यह सारा संसार, समाज और बन्धन किसलिए है, किसके लिए है ? उसी 'एक' के लिए ही न ? वही असली कलंकी है...तुम ऐसे ही एक कलंकी हो। मैंने ठीक कहा न ?"

उसकी आँखें अब भी गीली थी। मैं इतना ही कह पाया, "मैं नहीं जानता।"

"यह नही जान पाओगे। तुम केवल घूमने के लिए ही घूम रहे हो, अच्छी बात है। लेकिन तुम्हें पता है न...ऐसे कलंकी ही अधिकतर दगाबाज होते है।" कहते-कहते उसकी भीगी आँखों की दृष्टि टेढी हो गयी। मैंने कुछ भी नही कहा। उसने आगे जोडा, "जब कलक जुड़ जाता है तब 'देहि पदपल्लवमुदारम्' आखिर क्यों ? ऐसे दगाबाज केवल शठ, धूर्त और ढोंगी होते है। केवल रुलाते हैं।"

मैं क्या कहता भला ? किसी की ओर आँखें उठाकर भी नही तक पाया। झिनि का सिर भी नीचे झुका था। लिलि अपना मुँह फेरकर शायद होंठों-होंठों में ही मुसकरा रही थी। मैं मन-ही-मन इस महिला की भंगिमा तथा बात करने की शैली को सराह रहा था।

उसने मुझे हौले-से धकेलते हुए पूछा, "मैंने सच कहा न ?"

"मैं क्या कहूँ..." इतना ही मेरे मुँह से निकला।

"दगाबाज कही के !"

कहती हुई वह उठ खड़ी हुई, 'जरा मैं उनको बुला लाऊँ। वह तुमसे मिलना चाह रहे थे।"

महिला के अदृश्य होते ही, मैंने झिनि और लिलि की ओर देखा। झिनि के चेहरे पर जयदेव की उक्ति खेल रही थी। लाजभरी लाली दौड़ रही थी वहाँ। मैं अपने तईं जानता था कि मैं कोई दगाबाज नहीं, जो कामाग्नि विकार के शमन के लिए किसी के पदपल्लव को सिरआँखों पर ले। किन्तु विदग्ध वचन की भंगिमा और उसका भाव तारल्य विचित्र रंग बिखेर गया। महिला केवल अभीष्ट वचन मे सिद्ध थी, ऐसा नहीं, रसिक विदुषी भी प्रतीत हुई। शब्दों के चयन और चातुर्य से ही नहीं; क्षणभर में ही रुद्ध स्वर और सजल-तरल आँखों से सारे परिवेश को जो नाटकीय बनाकर चली गयी! कौन है वह?

मैं इसी जिज्ञासा मे था कि लिलि ने मुसकराकर हौले-से पूछा, "कैसा लगा?"

"अर्थ-अनर्थ से परे...अपूर्व।" मेरा उत्तर था।

लिलि की आँखों में अविश्वास झलक उठा। अपनी सखी से बोली, "अच्छा, तो इतनी भा गयी? देखियेगा जनाब...कहीं किनारा ही न धँस जाये!"

"ऐसी कोई आशंका नहीं," मुझे हँसी आयी।

"कुछ नहीं कहा जा सकता। आखिर आप पुरुष ही ठहरे। और हमारी माताजी भी ऐसी है कि बाप रे...!"

उसने झूठ नहीं कहा। उस महिला के प्रति मेरा कोई सम्मोहन क्या होगा भला! लेकिन उपस्थित आँखों के लिए अनायास ही कुछ गढ लेना अधिक कठिन न था। झिनि ने झिडकते हुए कहा, "तू क्या बक रही है? वे कोई ऐसी-वैसी हैं?"

लिलि चूकनेवाली न थी। हाँ, स्वर धीमा ही रहा, "वे चाहे जो भी हों भई! वे क्या कुछ कर सकती हैं क्या नहीं, मैं क्या जानूँ?" इतना ही नहीं, मेरी ओर मुँह कर फुसफुसाते हुए बोली, "मैं तो यही सोच रही थी कि आज आप गये काम से। किस तरह जकड रखा था!..."

"ओह लिलि! चुप भी होगी..." झिनि जैसे एक बार फिर सहम गयी।

"खैर, जो हुआ सो हुआ," मैंने बात बदलते हुए पूछा, "आखिर यह है कौन?"

"मदन बाउल की प्रकृति मनोहरा।" लिलि ने बताया।

"बडा ही सुन्दर नाम है," मैंने कहा, "मदनिका नाम होता तो और भी सटीक होता।"

झिनि तो, पहले से ही अनमनी-सी बैठी थी, मेरी बात सुनते ही शरमाकर उसने अपना मुँह नीचे कर लिया। लिलि अपनी कोहनी झिनि को ठेलते हुए बोली, "देखा तो...कैसी मति मारी गयी है इनकी!"

"ठीक ही कहा आपने। जिस तरह कलाई थामकर वे थोडी ही देर में

जितना कुछ दिखा सको, उससे कौन नहीं बौरायेगा। आप लोग नहीं बौरातीं ?"

दोनों सखियाँ आँखें लड़ाकर मुस्कराने लगीं। झिनि ने ही उत्तर दिया, "क्यों नहीं ? लेकिन गनीमत है कि हम लड़कियाँ हैं।"

इस उत्तर का आशय क्या था ? क्या पुरुषों का सचमुच भरोसा नहीं। झिनि अपनी हँसी रोककर बोली, "मुझे तो बहुत ही पसन्द आयी। बाहर से चाहे जैसी-भी दिखे, अन्दर से वैसी नहीं। सज-धजकर रहना भी बहुत पसन्द है उन्हें. लेकिन पता नहीं क्यों, हर समय किसी चिन्ता में डूबी रहती है।" कहते-कहते झिनि भी किसी चिन्ता में डूब गयी जैसे। उसकी मुख-मुद्रा बदल गयी। मुझे झिनि की बात का समर्थन करना चाहिए था लेकिन पता नहीं क्यों, मैं दूसरी बाउल प्रकृति राधा रानी से मन-ही-मन उसकी तुलना कर रहा था। ऐसी भी कोई बाउल प्रकृति हो सकती है भला ! मैंने भी कहा, "ऐसी बाउल प्रकृति कहीं दिखी नहीं।"

"कैसी ?"

प्रतिप्रश्न सुनकर मैं चौंक गया। दरवाजे पर झूलते पर्दे को हटाकर स्वयं मनोहरा ने मुझसे यह प्रश्न किया था। तत्काल कोई उत्तर न दे पाया। प्रश्न कोई जटिल तो न था, लेकिन कोई भी उत्तर बहुत सरल न होता। उसकी बगल में ही मदन बाउल की भव्य मूर्ति खड़ी थी। रेशमी गेरुआ, पीली मूँछ-दाढ़ी। लम्बी-चौड़ी काया और चमकती आँखें। मैं सचमुच ठगा-सा निहार रहा था। इतना ही कह पाया, "आप-जैसी।"

मनोहरा ने मदन बाउल की ओर तेजी से मुड़कर कुछ इस तरह कहा, मानो कोई छोटी-सी लड़की किसी से शिकायत कर रही हो, "आप सुन रहे हैं न गोसाईं !"

"......।" मूर्ति खड़ी रही।

दूसरे ही क्षण मनोहरा मुझपर टूट पड़ी। पास आकर चिल्ला उठी, "क्यों रे मुँहजले ! बाउल प्रकृति क्या सिर पर जटाजूट बाँधे सहमी-दुबकी एक किनारे बैठी रहेगी ?"

मदनमूर्ति अचानक ही हँस पड़ी..."हा हा...हा...।"

मैंने जल्दी से कहा, "ऐसा तो मैंने कुछ भी नहीं कहा...मैंने तो बस... यही..."

"हाँ हाँ, यह क्यों नहीं कहता कि मेरी साजबाज, वेश-भूषा, पान चबाना आदि में वह सब नहीं। है न ? अब तू क्या जाने कि प्रकृति क्या होती है ?" इतना कहते हुए उसने झिनि का हाथ लपक लिया और मेरे सामने पटकती हुई बोली—"ले, देख ले रे दगाबाज ! यह भी एक प्रकृति है—बाउल प्रकृति। तू इसे जानता है ? पहचानता है ?"

उसके स्वर में वैसा तीखापन न था। तेवर भले ही तीखा हो, उद्धत भावावेग मे भी निर्मल स्नेह-प्रवाह था। तरल आँखों मे कौतुकपूर्ण दृष्टि। झिनि मेरी ओर देखती हुई बुरी तरह झेंप गयी थी। मदन बाउल भी भर्राये स्वर में बोले, "वाह मनोहरा वाह ! तुमने कितनी अच्छी बात कही !"

मुझे लगा, उनकी वाणी मे राढ़ अंचल प्रतिध्वनित हो रहा है। मनोहरा ने अबतक लिलि का भी एक हाथ थाम लिया था। बोली, "कौन नहीं है प्रकृति, भला बता तो ? जहाँ प्रेमरस का प्रवाह है, वही प्रकृति है। प्रेम-गति ही प्रकृति है। किसी सजधज या साज-सिंगार में प्रेम को पकड़ पाना मुश्किल है। प्रकृति तो अन्तर मे विराजती है। समझे छोकरे...।"

मदन मुग्ध हो उठे थे, "प्रेम-प्रीति बिना, रस की गति नही...और प्रेम-प्रीति प्रकृति बिना सम्भव नही।"

मैंने पाया कि इतना कहते-कहते मदन बाउल की आँखें छलछला उठी। जब वह आये थे तब भी उनकी आँखें तरल थी। मनोहरा की ओर देखते हुए उन्होने कहा, "तभी तो किसी ने देह सजाने पर ज़ोर नहीं दिया। कहते रहे, मन को सँवार।"

मनोहरा गुनगुना उठी, "मन को सजाओ तो प्रकृति सजेगी।"

मदन बाउल भी विह्वल स्वर में बोले, "एकदम ठीक। यही तो सत्य है... यथार्थ है।"

मनोहरा ने मदन के चरणो पर अपने हाथ रख दिये। इधर मदन ने भी मनोहरा के पाँवो का स्पर्श किया। दोनों विह्वल, दोनों की आँखें आँसुओं में डूबी हुई। मैं उनके अन्दर का उच्छल प्रवाह कैसे देख पाता ! यहाँ भी बाउलो की वही रीत थी। लिलि मुग्ध भाव से सारी लीला देख रही थी। झिनि एक किनारे पर खड़ी रहकर दूसरे किनारे की ओर तक रही थी। मदन मनोहरा के भाव-प्राङ्गण मे खड़ी होकर किसी दूसरे की तरफ़। सब अपने में ही डूबे थे। मनोहरा ने अपनी तन्मयता के बीच ही सहज भाव से कहा, "गोसाईं, मेरी बेटियों ने जिस लड़के के बारे में बताया था, यह वही है।"

इतना सुनना था कि मदन ने अपनी दोनों बाँहों में मुझे बाँध लिया। उनके इस द्विधाहीन और निःसंकोच आलिंगन मे मुझ-जैसे सामान्य मनुष्य को कोई थाह ही नही मिली। कहने लगे, "आओ बाबा...आओ ! मैंने तुम्हारे बारे में पहले से ही सुन रखा है।"

उनके अथाह स्नेह में कितनी आत्मीयता थी ! कोई माप नही। उनके विराट व्यक्तित्व मे, उनके उस गाढ़ालिंगन में कोई स्निग्धता थी। काय मे कोई सुरभि रची-बसी थी, शायद उनकी दाढ़ी-मूँछ या रेशमी अँगरखे से आ रही होगी। यह तो पहले ही जान पड़ा था कि पान नही खाते, तो भी इसके बहाने

उस मदिर प्रेम की चर्चा तो हो ही सकती है, जिसे गांजा कहते है, प्रेम-गांजा।

मनोहरा ने गोपीदास के आश्रम के बारे मे भी बताया, जहाँ मैं टिका हुआ था। इसके बाद कहने लगी, "यह एक विचित्र बात कह रहा था...आपने सुना है गोसाईं?"

"क्या?"

"कहता है, लिखने के लिए नही घूमता। घूमता हूँ...इसलिए लिखता हूँ।"

मदन ने हँसते हुए मेरी ठोढ़ी को हिलाया। बोले, "ठीक है, साधन के लिए जपते हो...जप के लिए नही साधते। है न बाबा?"

मैंने कहा, "मैं क्या साध रहा हूँ...स्वय नही जानता।"

मदन लगभग चीख उठे, "जयगुरु! जयगुरु!! फिर भी साधने को भटक रहे हो...भटको!...भटको...खूब भटको!"

मनोहरा ने पूछा, "क्या बुझा रहे हो गोसाईं?"

"किसको समझाना और किसको बुझाना है री! और इस पट्ठे को? यह बड़ा मनमौजी बेटा है...जरा देख तो इसे! ढूँढ़-ढूँढ़कर परेशान है। मर रहा है...घुट रहा है, फिर भी। अब इसे कौन पकड़कर रखे...रख पायेगा कोई?"

मैं हैरान था। झिनि की आँखें रो-रोकर बेहाल थी। उसका सिर झुका हुआ था। मदन ने तुरत अपना हाथ उसके सिर पर रखते हुए कहा, "तू इस तरह क्यों रो रही है माँ! तुझे ही कौन बाँध पायेगा?"

लिलि मेरी तरफ़ उद्विग्न दृष्टि से देख रही थी। उसकी आँखो मे कोई अभियोग था। किसके प्रति? यह नही कह सकता। मेरे अन्तर मे भी कोई पीड़ा थी, पीड़ा नही, कोई सम्मोहन। मदन बाउल की बात भी पूरी तरह नही सुन सका। बस, वही प्रश्न फिर कुरेदने लगा कि क्या खोज रहा हूँ मैं? क्या कभी ऐसा मोड़ आयेगा कि वापस लौट जाने को जी करे, कोई मेरे कान मे कह दे कि लौट जाओ! नही। चलता चला जा रहा हूँ। अब चाहे इसे मरना-जीना जो भी कहा जाये। वैसा मरना भी तो नहीं बदा। बार-बार वही क्रम—वही दौड़, वही पुकार और...वही मरण।

झिनि क्यों रो रही है भला! उसकी भी यही गति-नियति है! अपने बारे में जानकर,उसकी आँखें भर आयी हैं या कोई और ही बात है? उसे मुझे अपनी बातें याद हो आयी थी। मदन बाउल क्या कहते रहे, नही जानता। अपनी ही धार में बहता चला जा रहा था। उनकी आँखें भी कोरी नही। उन्होंने आगे कहा, "लेकिन एक दिन के लिए मेरे पास रुकना पड़ेगा बाबा!"

"वही तो मैं भी कहना चाहती थी।" मनोहरा बोली।

"तुम्हें पता है मनोहरा! आज तो गोपाल ने मुझे सराबोर कर दिया। मैं,अब अपने को सँभाल नहीं पा रहा।"

कहाँ पाऊँ उसे

मनोहरा इस बात को जानती थी शायद। कहने लगी, "मैं जानती हूँ गोसाँई। गोपाल का गान सुनकर आप अपनी सारी सुध-बुध खो देते हैं।"

मदन अपना सिर हिलाते रहे, "बेचारा अन्धा गायक। मेरा हाथ पकड़कर गाता रहा। उसने पागल कर दिया है आज। आज तो मुझे बड़ा ही सुख मिला। ...तुम सब भी पधारो न! अन्धे बाउल का गान सुनना। अच्छा, मैं चलूँ जरा!"

उनके जाने के बाद, मनोहरा ने अपने खुले जूड़े को बाँधा। ऐसा करती हुई वह एक भरी-पूरी देहवाली युवती की तरह लग रही थी। उसने पूछा, "मण्डप की ओर चलोगे?"

लिलि बोली, "बाद में जाऊँगी। अभी जरा सैर कर आऊँ।"

मनोहरा ने मीठी चुटकी ली, "अच्छा...तो इस दगाबाज के साथ!...तो जाओ! आकर गोपाल के गीत सुनना।"

झिनि भी उठ खड़ी हुई। लिलि और झिनि एक-दूसरे को तक रही थीं। झिनि की आँखें अब सूख चली थीं। उसने प्रस्ताव रखा—"थोड़ा घूम-फिर आयें!"

मेरी इच्छा थी कि गोपाल के गान सुनूँ लेकिन बिना कुछ कहे ही मैं उन दोनों के साथ आगे बढ़ चला। दो-चार कदम बढ़े ही थे कि लिलि आक्षेप-भरे स्वर में बोली, "पुरुष का मतलब ही है मतलबी। मैंने आपको बताया था न कि झिनि ने दिनभर कुछ नहीं खाया-पिया। आश्रम में भी भोजन तैयार नहीं। अब कहीं चलकर थोड़ा-बहुत चाय-वाय तो पीयेंगी...।"

सचमुच! मैं तो भूल ही गया था। झिनि ने संकोच से कहा, "ऐसी कोई बात नहीं। चलिए...मेले में चाय पी लेंगे।"

भीड़ को चीरते हुए हम मन्दिर तक आ पहुँचे थे। झिनि ने अपना शाल उतार लिया था, घुटन की वजह से ही शायद। ठण्ड तो कुछ कम थी नहीं। चारों ओर रोशनी जगमगा रही थी। भीड़, दुकानें, खोमचेवाले...। अवश्य ही शान्तिनिकेतन-जैसा मेला न था लेकिन चहल-पहल में कोई कमी नहीं थी।

दोनों सखियाँ अचानक एक छोटी-सी दुकान के सामने रुकीं। दुकान अपेक्षाकृत साफ़-सुथरी लगी। झिनि ने उसे डबलरोटी सेंकने और धुले प्यालों में चाय लाने का आदेश दिया। लेकिन दुकानदार कहाँ माननेवाला? वह दोप्याजा और कटलेट लाने का आग्रह करने लगा। झिनि ने उसे झिड़क दिया, "आपको जो कहा गया...वह हो तो लाइये, वरना हम चले।"

बेचारा अपना मुँह-सा लेकर रह गया। उसके जाने के बाद, झिनि ने मुझसे कुछ मँगा लेने का आग्रह किया। मुझे वैसे भी खाने की कोई इच्छा न थी। तभी लिलि बोल उठी, "लेकिन मुझे तो भूख लगी है।" साथ ही, उसने एक प्लेट मटन दोप्याजा लाने का आदेश दे दिया।

दुकानदार की बाँछें खिल गयीं। उसने जोर से पुकारा, "बंका! दीदी

रानी को एक प्लेट मटन दोप्याजा ला दे।"

झिनि ने टोका, "बड़ी भूख लगी है मेरी रानी को !"

वह आदमी शायद डबलरोटी सेंकने चला गया था। लिलि ने झिनि को बताया कि भीनी-भीनी सोंधी खुशबू में उसे अपने को रोक पाना सचमुच ही बहुत कठिन होता है।

तेज़, तीखी और सोंधी चीज़ों से झिनि को चिढ़ थी। मुझे भी। लेकिन लिलि ने पहले ही कह दिया, "मुझे तली हुई मसालेदार चीज़ों से बड़ा प्यार है। अब नाक-भौं मत सिकोड़ियेगा !"

मुझे पता था, अधिकांश स्त्रियाँ इस तरह की चीज़ों को पसन्द करती हैं। थोड़ी ही देर में, दोनों चीज़ें सामने आ गयीं। झिनि के आग्रह पर मुझे भी एक स्लाइस उठानी पड़ी। लेकिन दोनों सखियों की नोंक-झोंक का मज़ा तब आया, जब दोप्याजा का छोटा-सा टुकड़ा मुँह में रखते ही, लिलि पानी के लिए चिल्ला उठी।

"और उछल..." झिनि ने चुटकी ली।

लिलि ने ललचाते हुए कहा, "तीखा है...लेकिन बड़ा मजेदार भी। तू चखेगी ?"

झिनि ने फिर चिढ़ाया, "बस, तू खाये जा...हमारी छोड़।"

मैं नहीं जानता, झिनि की भूख, प्यास और थकान का कितना हिस्सा मिट पाया। उसने चुपके से पैसे चुकाये और थोड़ी ही देर बाद, हम फिर मेले में थे, भीड़ के बीच। वापसी में लिलि ने कठौता, पत्थर से बना गिलास और कुछ खिलौने खरीदे। मैंने झिनि से पूछा, "तुम कुछ नहीं खरीदोगी ?"

झिनि ने सिर हिला दिया। मेरे बहुत निकट आकर बोली, "क्या खरीदूँ ? तुम्हीं बताओ।"

मैं निरुत्तर था। क्या बताता भला ? क्या इसे कुछ भी खरीदने की इच्छा नहीं होती ? मेरे दुबारा आग्रह करने पर झिनि ने अपना चेहरा झुका लिया और फिर आँखें उठाकर मेरी ओर तकने लगी। मुझे लगा, अचानक उसकी आँखें आर्द्र हो उठी हैं। उसने भरे गले से कहा, "मैं कुछ खरीदने नहीं... बल्कि..."

"बल्कि...क्या ?"

उसने यों ही हँसते हुए वाक्य पूरा किया, "मैं तो बिकने आयी हूँ।"

इतना कहकर उसने अपना मुँह फेर लिया। चारों ओर भीड़ उमड़ी हुई थी। उसका चेहरा देख तो नहीं पा रहा था लेकिन उसकी मुसकान झूठी थी, यह मैं जानता था। भीड़ उसे ठेलते हुए निकलती जा रही थी, लेकिन उसे इसका खयाल नहीं। मैं अब क्या कहता उससे ? बस, एक बार उसका नामभर पुकारकर

रह गया ।

उसने मुड़कर देखा नहीं । हारकर मुझे ही उसके पास जाना पड़ा । उसने हौले-से पूछा, "कहो !"

लिलि किसी बिसातिन से किसी चीज का मोल-तोल कर रही थी अबतक । वह झिनि से बोली, "क्या तू सचमुच कुछ नहीं खरीद रही है ?" उसके स्वर में हैरानी थी । झिनि ने सिर हिलाकर हँसते हुए उत्तर दिया, "मैं अधर की खोज में आयी हूँ, हाट करने नहीं ।"

"तो फिर वैसा ही हाट खोजती रह ।"

हम धीरे-धीरे अजय नदी के किनारे बढ़ आये थे—पूरब की तरफ़, जिस तरफ़ आगे बढ़ने के लिए मना किया गया था । कोई अधिक दूर नहीं बढ़े थे कि किसी चीज की तीखी बू आने लगी । कोई दूसरी ही चौकड़ी जमी थी वहाँ । हा हा...ही ही...का बाजार भी गरम था । छोटी-छोटी झुग्गियाँ और झुरमुट में लालटेन की पीली रोशनी किसी रहस्य के साथ आँख-मिचौनी खेल रही थी । उस झुटपुटे में छाया और काया की विचित्र लीला जो दीख पड़ी ।

पूरब के आसमान पर धुंधली-सी चाँदनी छिटक आयी थी । मैं पश्चिम की ओर, उसी वेदनाशी बरगद की तरफ़ लौट पड़ा । वापस होते हुए झिनि ने पूछा, "उधर घूमने चलेंगे ?"

"किधर, नदी के उस पार ?"

"तो क्या हुआ ? कितने लोग तो जाते-आते हैं !"

लोग-बाग ही नहीं, बैलगाड़ियाँ भी पार हो रही थीं । नदी के सीने पर कई लालटेनें झिलमिला रही थीं । बैलों के गले में बँधी घण्टियाँ टुनटुना रही थीं । मैं झिनि के प्रस्ताव के बारे में सोच रहा था । वह सबकुछ जान-बूझकर भी उस ओर क्यों जाना चाहती थी ? मैंने कहा, "तो फिर लिलि अकेली कहाँ घूमेगी ?"

"मैं उसे कहे देती हूँ ।"

लेकिन इसके पहले ही लिलि ने पूछ लिया, "क्या हुआ ?"

झिनि ने साफ़ कह दिया, "हम उस पार जा रहे हैं । तू अकेली वापस जा पायेगी तो ?"

मैं लिलि की ओर कातर दृष्टि से तक रहा था । लिलि ने एक बार मेरी ओर भी देख लिया और बोली, "तो फिर जाके मर न ! आप ज़रा ख्याल रखियेगा महाशय ! कहीं डूब न मरे ।" कहते हुए वह तेजी से आगे बढ़ गयी । उसके हाथों में ढेर-सी सामग्री थी । कुछ कदम चली ही थी कि पीछे मुड़कर मुझसे बोली, "हाँ-हाँ...जाइये न !"

इधर झिनि नदी के जल में काफ़ी आगे बढ़ चुकी थी । उसके हाथों में सैण्डल

कहाँ पाऊँ सेउ

थी। घाट अन्धकार से गहरा रहा था, हालाँकि वहाँ कुछ लोग चहलकदमी कर रहे थे। कहाँ जा रही थी वह ? मैं भी उसके पीछे-पीछे नीचे पानी में उतर गया। झिनि ने मुड़कर कहा, "आ जाओ !"

मैंने अपने जूते हाथ में उठा लिये। हमारे आगे भी कुछ लोग घाट पार हो रहे थे। छप्...छप् की आवाज़ उठ रही थी। मैंने फिर पूछा, "उस पार क्या है ?"

"एकान्त।"

मैं उसे रोकना चाहता रहा, लेकिन अजीब-सी बेबसी कि कुछ कह न पाया। अन्त में पूछना ही पड़ा, "बात क्या है ?"

झिनि ने दूसरा ही प्रश्न किया, "डर लगता है ?" वह मेरी ओर मुड़कर देख रही थी शायद। अँधेरे में यों दीखता भी क्या ? काला जल और चतुर्दिक् बलुआही दियरा।

"मुझसे डर लगता है ?...मुझसे कैसा डर ?" लहरों की छप्-छप् से उसका स्वर उभरा।

"नहीं...डरूँगा क्यों भला ?"

हम जब इस ओर पहुँचे तो सारा दियरा एकबारगी चाँदनी में झलक उठा। बालू पर हमारी परिछाइयाँ लम्बी हो चुकी थीं। चाँद का नन्हा-सा टुकड़ा पूरब की ओर भाग चला था।

झिनि कहने लगी, "आगे और भी रमणीक स्थान है। पेड़-पौधे, हरियाली और...एकान्त परिवेश। हमने दोपहर में ही देखा था। तब ऐसा जान पड़ा था कि जयदेव उधर ही दृष्टि रखकर काव्य-रचना करते होंगे।"

झिनि की बातें सुन मेरा मन कहीं कुछ गुनगुना उठा। विशेषकर उनका वह श्लोक जिसमे कहा गया है, 'ये लता-गुल्म, ये मलय-समीर, ये मण्डप और ये अशोक कुञ्ज—इन सबको देखने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं। अरी सखियो, सुन्दर अंगनाओ ! सिर पर मटकी रखे तुम कहाँ चली जा रही हो ? भौंरे गुन-गुना रहे हैं लेकिन मेरे मनःप्राण को तनिक भी चैन नहीं'...

झिनि जिस निविड़ कानन की ओर बढ़ती जा रही थी, जयदेव ने ऐसा कुछ देखकर ही अपनी कल्पना को, अपने भावों को सँजोया था ?

हम दोनों आगे बढ़ते हुए काफ़ी खुली और सुनसान जगह पर आ गये थे। चाँद की रोशनी मद्धम हो चली थी, तथापि आसपास की सारी चीज़ें स्पष्ट दिखायी पड़ रही थी। दूर...धुंधलका-सा छाया था। पता नहीं, यह स्थान निरापद था या नहीं ? सारा कोलाहल उस किनारे ही छोड़ आये थे हम। बीच-बीच में झींगुर का शोर तेज़ हो जाता और किसी रतजगे पंछी की चीख उसे काट जाती।

झिनि आगे चलती हुई थोड़ी रुक-सी गयी। उसने एक बार नदी की ओर

देखा और मुझसे बोली, "यहाँ जमीन गीली नहीं है, थोड़ी देर बैठोगे ?" उसने मेरा हाथ पकड़ लिया था।

मैं यह सोच रहा था कि आज इस ढलती शाम के साथ, झिनि जितनी दूर ले जायेगी, मैं चलता जाऊँगा। झिनि ने थोड़ी ही दूर चलकर मेरा हाथ छोड़ दिया। बोली, "यहाँ बैठो।"

मैं बैठ गया। धीरे-धीरे दूर पास के चलते-फिरते लोग भी नजर आने लगे। मेले की रोशनी हमें अब भी छू रही थी। झिनि की आँखें मुझ पर लगी थीं। तब मुझे भी उसकी ओर देखना ही पड़ा।

धुंधली-सी केश-राशि के बीच उसका चेहरा...चमकती आँखें स्पष्ट दीख पड़ीं—अपलक किन्तु लज्जा से भरपूर। उसके होंठ जैसे काँप रहे थे। मैंने पूछ लिया, "बात क्या है ?"

उसने आहिस्ते-से अपना सिर हिलाया और बोली, "बस, इतना ही पूछना है ?"

उसने अपना सिर झुका लिया था। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर कोई बेबसी-सी घिर आयी। मैं उसकी बिकनेवाली बात के बारे में सोचने लगा था। वह आयी थी अधर की खोज में। अपने को बेचकर उसे पाने की आशा में। झिनि को कुछ समझाकर कहा जाये या उस प्यारभरी झिड़क लगायी जाये, ऐसा साहस न था मुझमें। लेकिन उसकी वह असहाय दृष्टि मुझे बींध गयी।

"मैं जानती हूँ..." अपना सिर झुकाये हुए ही झिनि ने बात बढ़ा दी, "मैं कितनी बेशरम हूँ। तुम्हें कष्ट तो होता ही होगा...विरक्ति भी।"

"ऐसा कुछ नहीं..."

लेकिन झिनि ने मेरी बात को पूरा न होने दिया, "होता कैसे नहीं, मैं जानती हूँ...होता है। तो भी मैं..." उसका स्वर डूब गया।

मैंने धीरे-से पुकारा, "झिनि !"

उसने अपना चेहरा उठाया, "आखिर क्यों हुआ ऐसा ? तुम बता सकते हो ?"

मैं भला क्या बताता ? इसलिए वही बोली, "मैं जानती हूँ...मुझे तुम्हारा जीवन एक तरह से लुभा गया है। तुम किसी स्वप्न के सम्मोहन में डूबे हुए हो...चलते जा रहे हो। किसी दूसरी ओर तुम्हारी दृष्टि नहीं।...कुछ इस तरह कि कोई बुला रहा हो..."

मैं उसकी भीगी पलकों की ओर देख रहा था। इतना ही बोला, "मैं तो कुछ नहीं जानता...किसी की पुकार भी नहीं सुन पाता।"

"लेकिन तुम्हें देखकर तो कोई भी यही कहेगा। यही नहीं, तुम किसी सुख की ओर नहीं भाग रहे...बल्कि दुख की ओर ही बढ़ते चले जा रहे हो। मैं तभी

हम दोनों ही उठ बैठे।

"मेरी एक बात मानोगे," झिनि ने आग्रह-भरे शब्दों में कहा, "आज सारी रात मदन बाउल के आश्रम में गान सुनेंगे।"

"हाँ...सुनूंगा।"

"सचमुच...तुम भी बड़े चतुर हो," कहती हुई झिनि ने मुझसे जैसे परिहास किया। चलते-चलते ही उसने पूछा,

"यहाँ से कहाँ जाओगे?"

"अभी कुछ भी तो नही कह सकता। लेकिन हाँ, हाड़ोया के पीर गोरा-चाँद के मेले मे जाना है। वही महमूद गाजी से भेंट होगी।"

"अच्छा...वही गाजी, जिसके साथ पहली बार मुलाकात हुई थी।"

"हाँ।"

झिनि ने आगे कुछ नही कहा। वह पिछली मुलाकात की बातों में खो गयी वो जैसे डूब ही गयी। हम बिना कुछ बोले, गुमसुम-से नदी पार कर गये। झिनि को मदन बाउल के आश्रम मे छोड़कर मैं बिन्दु के आश्रम पर आ गया। यह तो पहले से ही तय था कि खा-पीकर सारी रात गान सुनना है। लेकिन मुझे लग रहा था कि मेरी जयदेव-यात्रा पूरी हो चुकी। क्या होगा, राधा-माधव का दर्शन करके? केवल स्मृति ही तो रहेगी।

आश्रम पर खासी भीड़ जमा थी। बिन्दु किसी के साथ बातें कर रही थी। कोई बूढ़ा बाउल था, गोपीदास की ही उम्र का।

"आओ बाबाजी...सैर कर आये!" बिन्दु मुसकरा उठी थी। मेरे नजदीक आते हुए वह अचानक ठहर गयी, "बात क्या है बाबाजी? बड़े उदास लग रहे हो...आँखें बैठ गयी हैं!"

"कुछ नही...काफ़ी घूमता-फिरता रहा। इसीलिए।"

बिन्दु अब भी आश्वस्त नही लगी। बूढ़े बाउल ने पूछा, "कौन है री बिन्दु!"

"अभी-अभी जिसके बारे मे बता रही थी, वही...चीता बाबाजी।" बिन्दु ने फिर मेरी ओर देखकर कहा, "ये गोपाल गोसाईं हैं, बाबा के गुरु भाई। आँखें नही हैं इनकी। माँ की कृपा-दृष्टि नही हुई इनपर।"

"मदन बाउल इनके बारे में बता रहे थे..." मैंने कहना शुरू ही किया था कि बूढ़े बाउल ने पुकारा, "हाँ बाबाजी, वहाँ गान करता रहा था। आओ, मेरे पास आओ!"

मैं उनकी दायीं ओर बैठ गया। उन्होने अपना हाथ बढ़ाकर मेरे हाथ-मुँह, कन्धे को टटोलते हुए कहा, "वाह, बड़े सुन्दर हो बाबाजी। लेकिन तुम्हारे हाथ-पाँव इतने ठण्डे क्यों हैं भला?"

"बाहर था।"

"तभी।...बड़ी सर्दी है।" उनकी आँखों में कोई चीज चिक् चिक् कर रही थी। तभी गोपीदास आ गये। राधा वृद्धा भी। बिन्दु अब भी मेरे चेहरे को पढ़ रही थी।

हमारा भोजन करना समाप्त हुआ भी न था कि लिलि आ गयी, "बुलाने आयी हूँ महाशय।"

"मैंने तो पहले ही कहा था कि आ जाऊँगा।"

"लेकिन जिसे कहा था...उसका मन माने तब न!" लिलि भी बार-बार मेरी ओर देख रही थी। आँखें मिलते ही वह अपनी दृष्टि हटा लेती। बिन्दु और गोपीदास से विदा लेकर मैं लिलि के साथ, मदन बाउल के आश्रम पर पहुँचा।

झिनि दरवाजे से लगी खड़ी थी। हम एक साथ ही मंच के एकदम सामने बैठ गये। दूर तक और भी कई लोग झुण्ड बनाये बैठे थे। गान-पर-गान चलते रहे। दोनों सखियाँ आपस में गुँथी बैठी थीं। थोड़ी देर बाद, झिनि ने मेरी चादर का एक किनारा अपने पाँव तक खींच लिया। मदन बाउल हमें देखते ही मुसकरा देते। मनोहरा भी बीच-बीच में आती और फिर किसी कार्यवश चली जाती।

आधी रात बीत चली थी। मदन बाउल एक बार मण्डप से उठकर बाहर गये। मैंने देखा, लिलि औंधी सोयी पड़ी है। झिनि ने मुझसे पूछा—

"नींद तो नहीं आ रही?"

"नहीं।"

"बैठे-बैठे कष्ट तो नहीं हो रहा?"

"नहीं।" मैंने उसकी ओर देखा तो लगा कि वह बुरी तरह थक गयी है। मैंने कहा, "तुम्हें नींद भर रही हो तो थोड़ी देर सो लेना चाहिए।"

"तो फिर सो जाऊँ!"

"हाँ।"

तुम्हारे पैरों पर सिर रख लूँ! कोई कष्ट तो न होगा?"

मैंने क्षणभर के लिए उसे देखा और बोल उठा, "रखना ही हो तो मेरी गोद में रखो।"

यह क्या? दूसरे ही क्षण उसका तेवर बदल गया और वह फुसफुसा उठी, "पूरे जहर हो तुम! जाने के पहले जगा देना।"

इतना कहकर वह मेरे पाँव पर अपना सिर रखकर सो गयी। गान की ओर चाहे जितना ध्यान देना चाहा, बार-बार झिनि पर ही दृष्टि पड़ती रही। झिनि भी जब कभी मेरी ओर तक लेती। उसने चादर के अन्दर-ही-अन्दर अपने हाथ से मेरे पाँव को जकड रखा था।

थोड़ी देर बाद मदन गोसाईं पधारे। उन्होंने आते ही झिनि और लिलि को

और इशारा किया और सिर हिलाकर यह बता गये कि ठीक है...ठीक ही है...

रात्रि का अन्तिम प्रहर बीत चला था। भिनि की आँखें बन्द थी। मैं उसकी ओर देखता रहा। उसके चेहरे पर कोई करुण हँसी खेल रही थी। इधर गान-मण्डली का गान समाप्त हो चला था। धीरे-धीरे लोग सोने लगे थे।

मैंने आहिस्ता-आहिस्ता अपना पाँव समेटा। पाँव से झिनि का हाथ छुड़ाया। ठीक इसी समय मदन बाउल से मेरी आँखें जा मिली। उन्होंने अपना हाथ उठाया और दाढ़ी हिलायी। भिनि गहरी नींद में अचेत-सी पड़ी थी। उसका एक हाथ चादर से बाहर निकल आया था। चादर ठीक करते हुए उसकी नींद न उखड जाये...इसलिए मैंने छेड़ना उचित न समझा। लेकिन उसका खुला हाथ देखकर मन में विचित्र-सा अवसाद जग गया।

हाथ उठाकर मैंने मदन गोसाईं को नमस्कार किया। उन्होंने दोनों हाथ उठाकर मुझे विदा किया। मैं मण्डप से बाहर निकल आया।

मेले में अब भी कहीं-कहीं गान-मण्डलियाँ जमी थी। फिर भी वातावरण प्राय शान्त हो चला था। मैं अपने आश्रम लौट आया। यहाँ भी सभी सो गये थे। उनमें से निताई और सुजन को ही मैं पहचान पाया।

अचानक कोई आहट-सी हुई। बगलवाले कमरे के दरवाज़े के पास बिन्दु खड़ी थी। मैंने उसके पास जाकर कहा, "मेरा झोला निकाल दो।"

बिन्दु ने कुछ क्षणों तक मेरी ओर देखा और फिर सहज भाव से बोली, "भिनि दीदी को कहाँ छोड़ आये?"

क्या अजीब-सा प्रश्न किया था उसने। मैं झिनि को क्यों छोड़ने लगा भला! मैंने बताया, "वह मण्डप मे सोयी है।"

"और तुम भाग रहे हो?" यह कह उसने मेरे उत्तर की प्रत्याशा किये बिना ही, मेरा झोला ला दिया।

"सबको बता देना, मैं चला गया।"

बिन्दु अपलक देखती रही। उसकी आँखो के दोनों किनारे झिलमिला उठे थे, "मैं तुम्हें जानती हूँ चीता बाबाजी! तुम्हें मैं क्या कहूँ? बस इतना ही..."

वह अपनी बात पूरी न कर पायी। गला रुँध गया। मैंने इतना ही कहा, "मैं चलूँ बिन्दु!"

वह दरवाज़े तक मेरे साथ आयी और फिर बोली, "जब भी जी चाहे, आना बाबाजी। तुम्हारा पथ तो खुला हुआ है..."

मैंने हामी भरी और बाहर चला आया। मन-ही-मन यह सोचता हुआ कि उसे कैसे बताऊँ कि कदम-कदम पर कितने बन्धन हैं। मेरी राह मे कोई दूसरा

बाधक नहीं, स्वयं मेरा मन है। अगर वह चंगा है तो मैं भी ठीक हूँ।

मैंने मन-ही-मन कवि जयदेव को नमस्कार किया। पता नहीं, वह कैसे थे? अजय के जल पर धुएँ की तरह कोहरा जमा था। तो भी कुछेक जन उसमें स्नान कर रहे थे। चाँद न जाने कब उस पश्चिमी कानन के पीछे छुप गया था। अब कोई दूसरी ही उजास फैल रही थी। मैं नदी पार हो गया।

फिर वापस लौट चलो। अवतरण की बारी है अब। राढ़ के उत्तर से दक्षिण की ढलान पर उतर जाना है। अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न कोई विशाल अँगरखा लहरा रहा है मानो। उस पर न जाने कितनी धूल है, कितने रंग हैं! देश-देशान्तर की धूल और रूप-रूपान्तर के रंग। अनगिनत सिलाई और थिगलियाँ— जिनके रंग फीके पड गये हैं।

इस झिगोले में फटे-पुराने चिथडे, गूदड, रुई की पट्टियाँ, रेशमी-पशमीनी पट्टों की न जाने कितनी थिगलियाँ लगी हैं।

किसके देह का है यह अँगरखा? मैं उसे देख नही पाता। कौन है, जो अन्तर में है, और दृष्टि खीचकर आँखों के सामने उसे झला रहा है। वह भी नही देख पाता। लगता है, बहुत दूर कोई बडे प्रेम से डुपकी बजाये गा रहा है, इकतारे से बँधा शब्द-स्वर धीमी गति में गूँज रहा है। इसके साथ गीत की यह पक्ति—

"धिन...धिन...छिन...छिन...
दिन-दिन गिनते आया अन्तिम दिन
मैं कहाँ था, कहाँ आ गया,
यही सोचता मरना गिन-गिन..."

यह कौन गाता है? किसका स्वर है यह— पहचान नही पाता मैं! जैसे कोई आत्म-विह्वल हो अपने ही भीतर गा रहा है। उसमे सुर-सगति भले न हो, आवेग है। वह रोता है या हँसता है— समझ मे नही आता।

पथ पर चलता जा रहा हूँ। ऐसा नही कि चलते-चलते थक नही जाता। लेकिन हृदय में कोई दुर्वह भार होते हुए भी एक तरह की आकुलता है। किसका बोझ है, यह नही जानता! जो पथ पीछे छोड आया हूँ, जो कुछ भी पीछे छूट गया है, रह गया है, उसी के लिए है न! कौन जाने? तथापि कोई भार है, एक अपरिचित-सी व्यथा लिये।

मैं इस व्याकुलता का थोडा-बहुत अनुभव कर पाता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि कोई पागल है, जो मुझे उस अनचीन्हे की तलाश में भटका रहा है। उसने मुझे भी पागल बना दिया है। गाजी के निमन्त्रण की बात मेरे मन में बार-बार कहाँ पाऊँ उसे

उठ रही है। जाना ही होगा। आकुलता से भरे उसके उस काले चेहरे के एक-एक गच्छ मे हँसी थिरक रही है—घने बाल, मूँछ-दाढ़ी, चोगा पहने हुए। उसकी आकृति बार-बार आँखों के सामने तैर जाती है। मुरशेद का नाम दोहराता रहता है, पान की लाली से चिपके दाँतों से। लेकिन इससे क्या? वह चेहरा पूरा-का-पूरा हँसता ही दीखता है।

जयदेव मेला की रात बीतते ही माघ का महीना उपस्थित। इसलिए वापसी में नवद्वीप होकर जाना था। धूल-भरा माघ महीना। धूल का ही उत्सव। जितने वैष्णव कीर्तनियाँ हैं, सबका समावेश नवद्वीप में होता है। जितने नाम हैं, उतने ही गान। और उतनी ही धूलभरी यात्रा। जिस माटी पर निमाई चलते रहे, जिस धून में निमाई गुढकियाँ खाते रहे हैं, उसी धूलि में सारे भक्त गायकों की मण्डली लोट रही है। इस अवसर पर कीर्तनियाँ, नर-नारी, अच्छे-बुरे लोग—सभी इस निमाई-क्षेत्र में गानों की अंजलि भरे आते हैं। नवद्वीप में माघ का महीना, गान का महीना है। प्रथम निवेदन यही किया जाता है—इसके बाद ग्राम और जनपद के साथ यत्र-तत्र-सर्वत्र। ये गान जिसके हैं, पहले उसे समर्पित करें, फिर अन्यान्य स्थानों पर।

माधवी दासी का गान सुनकर ऐसा लगा था, मानो ये गान नहीं, कोई मन्त्र हों। उसका जीवन कैसा रहा है, कौन जाने? वह प्रौढा गायिका जब काली किनारीवाली ढाकाई साडी पहनकर मंच पर आयी तो मेरे मन में कोई आशा नहीं जगी थी। उसकी लम्बी-चौडी साडी, पान से लाल होंठ, सिन्दूर की चमक, पाँव में आलता, हाथ में चाँदी का पनबट्टा और किसी मानिनी अप्सरा की-सी भंगिमा देखकर मुझे लगा जैसे मैं किसी महफ़िल मे आ गया था। पूरे माहौल पर उसके अहं की झाईं-सी पड रही थी।

'माथुर' छोडकर उसने कुछ गाया भी नहीं। विलम्बित लय मे बद्ध स्वर और इसी लय में समाप्त। दीर्घ श्वास, क्रंदन और विरह। गर्विता-सी जान पडनेवाली दासी माधवी—उतनी ही विरहिणी। बहुत देर तक वह गान गाती रही और सारे श्रोतागण सुबकते रहे। उसके कण्ठ-स्वर में क्रन्दन था। आँखों में आँसू न थे। 'इस अबला को विकला बनाकर, ओ सखी ले चल मथुरा पुर…' गाते-गाते उसने बार-बार जैसे स्वयं को ही सम्बोधित किया—'चलो, चलो सखी…मुझे लिये चलो…!' सभी रो रहे हैं। सखी गई, मथुरा जाकर धिक्कार आयी है—'अरे ओ कालिया, धिक्कार है रे तुझे! किसने तुझे यह कुबुद्धि दी?' माधवी दासी ने आँखें नचाते हुए तर्जनी उठाकर गाया था—'प्रीत करके कौन इसे साध सका है? मन में तो कोई दूसरा था।' फिर आँखें बन्द कर दर्प और रोष से व्याकुल स्वर में दोहराती रही—'तुझे तनिक भी लाज नहीं आती, हाँ? मुझ अकेली बालिका को रुलाते शायद तुझे बहुत अच्छा

लगता है ? अरे कुटिल, दुष्ट···!'

लेकिन एक क्षण ऐसा भी आया, जब माधवी दासी की आँखों में आँसू भर आये। स्वयं को सम्बोधित करते हुए वह तड़प उठी और बार-बार गाने लगी—'अरे ओ चंचल जीवन, अस्थिर यौवन, और कितनी देर, और कितनी देर है, और कितने छिन···।' तब यह गान माधवी दासी का अपना नही श्रोताओ का गान हो चुका था। लगा, कि मैं भी सारी रात, अपनी नीद मे वही गान सुनता रहा।

सुदेव गोस्वामी का गान भी अच्छा लगा। धूल मे लोट-लोटकर वह वृद्ध गायक गाता रहा। उसका गान नदियावासियो का गान था, जिन्हे निमाई छोडकर चले गये थे। पुत्र शोक से कातर-विह्वल शची माँ का विलाप···और स्वामी से बिछुडी विष्णुप्रिया का क्रन्दन—'आकाश में भले ही हजारों चाँद का प्रकाश फैला करे···नदिया के आकाश पर अब कोई चाँद नही।' नदियावासी अन्धकार में हाहाकार कर रहे है। शची का विलाप था—'इस शरीर में प्राण क्यों शेष है ?' विष्णुप्रिया का एकान्त क्रन्दन था—'तुम्हारे कृष्ण की यह कैसी अभिलाषा है माँ ?'

मैं मन्दिरों की गान-गोष्ठियो में गान सुनता रहा। धूल-भरा उत्सव देखे बिना और इन गानों को सुने बिना नवद्वीप के अन्तर मे जो रस-धारा प्रवाहित है, वह नही जानी जा सकती। रास-यात्रा या अन्यान्य उत्सवों में अपेक्षाकृत कोलाहल ही अधिक होता है। यहाँ यह बात नही होती।

इस उत्सव के समापन के साथ-ही, फिर वही पद-यात्रा। फाल्गुन की द्वादशी को हाडोया के हाट में गोराचाँद पीर के मेले मे जाना पडेगा। गाजी का निमन्त्रण है। लेकिन इतना भाव-सभार अन्तर में कहाँ से उतर जाता है? चकित-चमत्कृत और विस्मित होकर वह क्या देखता-पाता है? रह-रहकर कोई चीज है, जो कौंध जाती है और व्याकुलता बढा जाती है।

फिर भी, घूमते-फिरते उसी पथ पर लौट आता हूँ। माघी पूर्णिमा में, वर्द-मान के कुलीन ग्राम की ओर। श्याम के मन्दिर में उत्सव और कुलीन-ग्राम में मेला। थोडा-बहुत देखे बिना निकल नही पाता। केवल श्याम का मन्दिर या मेला ही नही है यहाँ, स्वामी हरिदास का स्मृति-मन्दिर भी है। मेले से बाहर निकलकर, जब वहाँ पहुँचा तो एक विशाल वृक्ष को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो यह युग-युगान्तर से खड़ा है। इतना बडा इतना पुराना वृक्ष मुझे और कही नही दीखा।

हरिदास के मन्दिर में ऐसा कुछ देखने योग्य न था। पुरानी ईंटों से घिरा हुआ एक स्थान ! उसकी एक तरफ़ पुराना छोटा-सा घर, पेड़-पौधों की छाया से घिरा—एकान्त, शान्त और बारहो महीनों जंगल से ढका। उत्सव-अनुष्ठान

के अवसर पर साफ़-सुथरा किया जाता होगा। यहाँ मेलों का-सा कोई शोरगुल नही। दो-चार एकाकी पुरुष या वैष्णवी जोड़े वहाँ चुपचाप बैठे थे। उस एकान्त निर्मल परिवेश में खोये हुए।

कुलीन ग्राम से जलेश्वर क्षेत्र के परिदर्शन के लिए नौग्राम आया। शिव जलेश्वर---जहाँ फाल्गुन में शिवरात्रि के उत्सव पर मेला लगता है। कैसा होता है वह मेला, नही जानता ! किन्तु जलेश्वर क्षेत्र के निविड़ अरण्य में मन खो गया कही। आँखें तृप्त हो उठीं। वन के इस एकान्त निर्जन में---किसने शिव की प्रतिष्ठा की होगी, कौन जाने? बंगाल के अधिकांश देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा नदी के किनारे की गयी है---घर-गृहस्थी के द्वार से दूर, आकाश के नीचे, सुदूर विस्तृत क्षेत्रों में। वर्षभर में कुछेक दिन जो उत्सव-अनुष्ठान या मेले होते हैं, सब वहीं सम्पन्न होते हैं।

मनुष्यों ने वहाँ भी एक और सृष्टि का निर्माण करना चाहा है। देखता हूँ, चल देता हूँ, और फिर देखने लग जाता हूँ। लेकिन चित्त नहीं भरता। भरेगा भी नहीं। किसकी खोज में भटकता रहा---जब उसका संधान ही नहीं जान पाया तो उसमें निमग्न होने की बात ही कहाँ ! सिर्फ़ देखता चलता हूँ। और देखता भी क्या हूँ, अनेक स्थान और अनेक जन। बस यही। भाव-पटल पर उभरते चित्रों की तरह। ये इतने विचित्र और विस्मयकारक हैं कि अभय मन प्राण की रिक्तता की बात विस्मृत हो जाती है। मुझे वैराग्य नहीं हुआ, मैं कोई वैरागी नहीं। इसीलिए इतनी रिक्तता के उपरान्त भी जो वैचित्र्यपूर्ण कौतूहल है, उसके सम्मुखीन होने पर सहसा स्तब्ध हो जाना पड़ता है। मैं अपने सीने पर जुड़े हाथ रखकर खड़ा हो जाता हूँ।

वशीर हाट जानेवाली बस पर चढ़कर मैं वेड़ा-चाँपा के पास उतरा और फिर हाड़ोया की राह पर। गाज़ी ने मुझे आमन्त्रित किया था। अबतक वही गति थी। वेड़ा-चाँपा से सीधे दक्षिण की ओर। वेड़ा-चाँपा की भीड़ देखकर ही पता चल गया कि मेला लगा हुआ है। भीड़ में जगह नहीं मिल पायी, इसलिए एक-एक कर दो बसें छोड़ देनी पड़ीं। यात्रियों को देखकर ही पता चलता है कि सभी एक ही दिशा में बह रहे हैं। हाड़ोया···पीर गोराचाँद के मेले की तरफ़। विद्याधरी नदी के किनारे।

वहाँ पहुँचकर गाज़ी से मुलाकात कर पाना एक नया काम होगा। उस पार नौका और माँझी की खोज। इसके बाद सुदूर दक्षिण जाऊँगा, नदी के किनारे। सुन्दरवन, सागर-संगम तक।

गाड़ी पर बैठने पर भी बार-बार गाज़ी की बातें ही याद आती रहीं। मन-ही-मन अनेक बार दोहरा चुका हूँ---गाज़ी या पाजी। ऐसा वैसा पाजी नहीं! रस की चाशनी में डूबा। यह उसकी उन आँखों को देखने से ही पता चलता है

ज़ो उस नदी की तरह है जिसमें से कोई आसमान झांक रहा हो। उसके लिए मुझे सिगरेट के कुछेक पैकेट्स के अलावा और कोई चीज़ ले जाने की जरूरत नहीं। बस, उन्हें भर रख लिया है। मुझे याद है, इछामती पार करने के समय मेरे धूम्रपान से उसके नथुने फैल गये थे। फिर, 'बाबू की सिगरेट की ख़ुशबू··· कितनी मीठी सुवास फैल रही है···!' जिसका मतलब ही था कि थोड़ा-सा जायका लेने दो। साधु और फ़कीरों की इस दखलदाजी से मुझे कोई विरक्ति नहीं होती, ऐसा नहीं। फिर भी, एक सिगरेट दे दी थी मैंने। लेकिन उसे भी दो टुकड़ों में बाँटकर वह नौका के मांझी को भी आधा टुकड़ा दे देगा, यह नहीं सोचा था।

उस मांझी को भी भूल नहीं सकता मैं। पारापार कराते हुए कई बार मैंने उसे देखा था। ख़ाली देह, उस पर खड़िये का दाग़, दो गहरी काली आँखें, मानो गहरी नींद में डूबी। वह अधर मांझी मेरे लिए अधर ही रह गया था। उसे आधी सिगरेट बढ़ाते देखकर मैं हैरान रह गया था। ऐसी वस्तु को भी बाँट देने की उदारता गाज़ी में है, यह मैं समझ न पाया था। आख़िर मैं आदमी को जानता ही कितना हूँ!

उसके बाद मुरशेद के नाम की मजदूरी करके घूमनेवाले गाज़ी ने गान से ही तो मुझे पराजित किया था। मुझे याद है, कालीनगर के घाट से झिनि वगैरह को लेकर जब मोटर रवाना हुई थी; वह गुनगुना उठा था, 'पता नहीं, वह क्या जादू जानता है··? बिना दीखे ही चोरी करता है··।' उस घड़ी उसने यह गान क्यों गाया था? गाज़ी सचमुच पाजी है।

इस बार तो सिर्फ़ गाज़ी से ही नहीं, उसकी 'पिकिति' नयनतारा से भी मुलाकात होगी। " 'पिकिति' न हो तो साधना कैसे होगी बाबू! कोई एक प्राणप्रिया तो चाहिए ही।" गाज़ी के ये शब्द मुझे याद हैं।

किस प्रकार इस प्रकृति की प्राप्ति हुई थी, उसका भी अलग ही वृत्तान्त है। इसी हाड़ोया के मेले में ही एक बार एक वैष्णवी युवती गाज़ी का गान सुनकर अपनी गोष्ठी और सम्प्रदाय—सबकुछ छोड़-छाड़कर गाज़ी के संग हो गयी थी। अब उसी का नाम नयनतारा है—गाज़ी की 'पिकिति'—युवा प्रकृति।

यह कोई ऐसा-वैसा गाज़ी नहीं। वह बाद में बताता रहा था "सुना बाबू! यह पुरुष-प्रकृति मियाँ-बीबी वाली गृहस्थी नहीं। दोनों की साधना है। ऐरे-ग़ैरे लौंडे-लपाड़ों का खेल नहीं।"

उसने देहतत्त्व की बातें भी बतायी थीं। और अन्तिम घड़ी, विदा वेला में गाज़ी ने कहा था—अपने घर में चार-चार बच्चों को लेकर नयनतारा उसकी प्रतीक्षा में है। मैं उसके उत्तर से जड़ हो गया था—"बस, इसी मुरशेद का नाम लेकर ही भटकता रहता हूँ। साधन भजन तो अब कम हो गया है बाबू!" कहाँ पाऊँ उसे

इसका नाम गाजी है। फिर भी, चार-चार बाल-बच्चों के बाप गाजी मियाँ को मैंने कुछ पैसे देते हुए कहा था—"बाल गोपाल के लिए थोड़ी-सी मिठाई खरीद देना।"

पता नहीं, प्रकृति नयनतारा के संग उसके बाल-बच्चे भी आयेंगे या नहीं? लेकिन गाजी और नयनतारा को तो आना ही है। गोराचाँद पीर की स्मृति का आयोजन है सिर्फ़ इसीलिए नहीं। यह उन दोनों के मिलन का भी तो शुभ दिन है। इसलिए हाड़ोया के मेले में एक बार आना ही पड़ेगा और पीर गोराचाँद की समाधि पर गाना ही होगा।

रास्ते पर सिर्फ़ मोटर या बसें ही नहीं, माल ढोनेवाले तिपहिया भी दौड़ रहे हैं। आज उनकी भी गोदामों से छुट्टी है। आज वे भी माल-असबाबों की तरह आदमियों को ढो रहे हैं। बैल-गाड़ियों का तो कहना ही क्या! हिन्दू-मुसलमान सभी तरह के यात्री। गाड़ी के ऊपर, टप्पर के नीचे, पति-पत्नी...बाल-बच्चे—सबके लिए गद्दियाँ बिछी हैं। साइकिल और साइकिल-रिक्शा पर सवार यात्रियों की संख्या भी कम नहीं। समुद्र की ओर जाती हुई नदियों की तरह, इतने सारे लोग, यान-वाहन...सभी पीर गोराचाँद चले जा रहे हैं।

रास्ते के दोनों ओर फैले अधिकांश पेड़ नंगे खड़े हैं। हाँ; नारियल, सुपारी, आम, जामुन के पेड़ काफी सघन हैं। फाल्गुनी हवा में, सब-के-सब जैसे मस्ती में झूम रहे हैं।

बहुत देर से, पास बैठा एक बूढ़ा दरवेश पता नहीं क्या गुनगुना रहा है! यह किसी गान-जैसा भी नहीं। इसका स्वर 'पांचाली' की तरह है। देखने में हाड़ोया का यात्री ही लगा। कोई मुस्लिम फ़क़ीर-सा। काली अचकन, काला पायजामा, माथे पर काली टोपी। गले में काँच और पत्थरों के गुरियों की माला। चाँदी का चौकोर ताबीज़। आँखें मिलती तो मुसकरा देता, लेकिन गुनगुनाहट बन्द नहीं होती। टोकना भी उचित नहीं। शायद तस्बीह फेर रहा हो।

फिर एक बार खुद ही बोल उठा, "पीर साहब के मेले में जा रहे हैं बाबू?"

बंगाली तो नहीं? मेरे मन में पहले से ही कोई शंका-सी थी—"हाँ।"

दो-चार बातों के बाद उसने मुझे पीर गोराचाँद की एक कहानी सुनायी: वे अलौकिक शक्ति के अधिकारी थे। अपने अनुयायियों के साथ मक्का से आये थे। उन्होंने बालाण्डा के राजा चन्द्रकेतु को मुसलमान बनाना चाहा था। वे लोहे की शहतीर को मोड़ देते, कँटीली झाड़ी में भी चम्पे के फूल खिला देते थे। शायद इसीलिए इस स्थान का नाम 'बेड़ाचाँपा' पड़ा। उनके अभिशाप से ही तीन दिनों के अन्दर ही चन्द्रकेतु का सर्वनाश हो गया। हातियागढ़ के राजा

आकानन्द के भाई वाकानन्द के साथ उन्होने लडाई लडी थी । आकानन्द मारा गया । वाकानन्द भी पराजित हुआ । लेकिन इस लड़ाई मे वे बुरी तरह जख्मी हो गये लगभग अधमरे । उस समय उनकी सेवा की थी भार्गवपुर के कानु और बिनु घोष ने । वहीं उनकी मृत्यु हुई । उनकी अस्थियों को जिस स्थान पर दफ़नाया गया, उसका नाम अब हाड़ोया है, भार्गवपुर नही । उनकी अलौकिक सिद्धियो के लिए हिन्दू-मुसलमान सभी उनकी पूजा करते है । यही है उनका इतिवृत ।

इसी बीच गाडी भी अपने गन्तव्य स्थान पर आ लगी । मेले के चलते पहले से ही गाड़ी का रास्ता बन्द पडा है । लोगो की भीड के कारण गाड़ी का घुसना मुश्किल । थाना पार कर हम सडक के किनारे खड़े हो गये । इतने मे लगभग पचास लोगो का एक हुजूम प्राय: दौड़ता हुआ गुजर गया । उनके हाथ आपस मे जुड़े हुए थे । झंडे और रगीन डोलियाँ कांधे पर उठाये वे तेजी से निकल गये । उनकी आवाज़ से इतना ही सुन-समझ पाया...'हजरत शाह सैयद गोरा चाँद राजा ।' और, 'अब्बास अली राजी रहमतुल्लाह ।' साथ ही, उन्होने रंगीन कागज़ भी उड़ा दिये थे, जो छपे हुए थे...जिनमे तरह-तरह के पद्य-गीत थे । पढ़कर लगा, पीर गोराचाँद के प्रति श्रद्धा ज्ञापित करना ही इसका उद्देश्य है । आज की सुबह...अजान के मधुर स्वरो के साथ हवा बह रही है । कह रही है—'अपनी डाली में भक्ति-भावपूर्ण उपहार लेकर पीर बाबा की पूजा को चलो ।' या फिर 'नूर का नबी सोया हुआ है, देखना है, तो हाडोया आ !'

मैं आगे बढ़ आया । बँधी-बँधायी पक्की सड़क पर चलते-चलते अन्त में रुक जाना पड़ा । सामने ही, विद्याधरी नदी थी । घाट पर नौकाओं की भीड़ थी । उस पार जाने के लिए तैयार । गोलाकार घूमती हुई पगडण्डी बाँध पर से निकल गयी थी । आसपास घर है । उधर भी भीड़ जमा थी लेकिन अधिक नही । दाहिनी ओर हाट में लगी दुकानों की घनी कतारें थीं । बहुत दिनों के बाद फिर काली नगर के बन्दरगाह की याद आ गयी ।

पता नही, गाज़ी कहाँ है ?

हाट की ओर देखने पर लगा कि मेले का शोरगुल भी उधर ही है । वहाँ लाउडस्पीकर से बजनेवाले गानों की चिल्लपों ही नहीं मची, बाजीगरो का हाँक-हंगामा भी अस्पष्ट रूप से सुनायी पड़ रहा था । विद्याधरी नदी के सीन पर दोपहर की धूप झलक रही थी । पश्चिम से दक्षिण की ओर बहती जा रही है यह विद्याधरी । सामने बीच मे एक दीयरा था । यहाँ एक प्रकार के अपरिचित पेड़ों की छाया वन-वीथी की तरह दीख रही थी । पेड़ों की डाल-डाल पर पीली चोंचवाले बगुले बैठे थे...ढेर-के-ढेर । सम्भवत: इस प्रकार के पक्षी आदमी के शिकार नही है ।...इसलिए आदमियों के बिलकुल नज़दीक ही, बिना किसी

डर के झुण्ड लगाये बैठे है।

मैं हाट मे घुस गया। दोनों ओर कई दुकानें। शायद कालीनगर से भी अधिक। हाट का दिन कौन-सा है, नहीं जानता। मेले की इस रेल-पेल में किसी तरह रेंगता रहा।

कुछ देर चलने के बाद, एक स्थान पर हाट का अन्त आ गया। सामने ही एक मस्जिद दिखी। खुले दरवाजे से सामने का पक्का चबूतरा भी दीखा। लेकिन वहाँ अधिक भीड़ नहीं थी। एक ओर लिखा था,...'पीर गोराचांद की समाधि।' थोड़ी देर बाद, मेरे खड़े रहते ही मेरे कानों में इकतारे की आवाज के साथ ये शब्द गूंजने लगे—'अरे साईं, मुझसे अब खेल रहे हो, कौन-सा खेल...'

हृदय बराबर धड़क रहा है। शरीर म ऐसी झुनझुनी लगती है, मानो बिजली दौड़ गयी है। कौन गा रहा है, किसका स्वर है। वही पाजी गाजी तो नहीं। लेकिन बिना कुछ सोचे-विचारे मैं समाधि-क्षेत्र का द्वार पार कर पक्के चबूतरे से आगे निकल गया। चबूतरे के अन्त मे एक दरवाजा था। उसके बाहर काफ़ी भीड़ थी। वहाँ एक खुला हुआ बड़ा-सा आँगन था—पेड़ की छाया से शीतल। सूखे पत्ते टूट-टूटकर गिर रहे थे। इसके बीच ही यहाँ-वहाँ अलग-अलग झुण्डों मे बैठे हुए कितने ही लोग गोराचांद के भजन गा रहे थे। यहाँ भी धूल से अँटे वही अँगरखे, डुग्गी, ढपली, खँजड़ी और इकतारा।

एक जगह पर थोड़ी अधिक भीड़ थी। समाधि का मुख्य द्वार वहीं था। सामने खड़े एक यात्री से मैंने पूछा, "वहाँ क्या हो रहा है?"

"सभी पूजा-न्योछावर दे रहे है वहाँ...'पूजो—हाजात'। पीर को हाजात नहीं देते? वही।"

शायद वही आयोजन होगा। सारा कुछ वैसा ही दीख रहा था। डाली मे बताशे और मिठाइयाँ लाकर चढ़ा रहे हैं। पायजामा-कुरता पहने वह आदमी मौलवी ही रहा होगा। वह उन्हें भीतर ले जाकर थोड़ी देर बाद वापस ले आता। उसे अपने सिर पर धारे सब चले जा रहे हैं। बहुत कुछ वैसा ही, जैसा मन्दिरों मे प्रसाद चढ़ाने के बाद करते हैं। लेकिन लेकर भी जा कहाँ पाते है? निकलते ही आबल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी दल बाँधकर उस पर टूट पड़ते... "बाबा इधर भी देते जाना, दो-एक मुझे भी दे देना..."

अब यह सब बाद मे होता रहेगा। पहले गाजी को तो ढूंढ निकालूँ। मैं गायकों के दल की ओर निकल पड़ा। एक-एक चेहरे को ध्यान से देखता घूमता फिरता रहा। वह चेहरा नहीं दीख रहा कहीं, जिसके काले चेहरे के एक-एक गच मे हँसी है। पान से लाल दांत, गहरी नदी की तरह आँखें, सिर पर उलझे हुए बाल और उस पर गेरुआ रंग की बँधी पट्टी। कहाँ चले गये ओ,

कहाँ पाऊँ उसे

गाज़ी ! आज तो वह अकेला होगा भी नहीं। उसके साथ उसकी प्रकृति नयन-तारा भी होगी।

चारदीवारी से घिरे गोराचाँद की समाधिवाले आँगन में भी वह कहीं दिखायी नहीं पड़ रहा। दक्षिण की ओर खिंची दीवार के उस पार कोई जगह नहीं...उसके बाद तो विद्याधरी है !

पश्चिम की तरफ बनी ड्योढ़ी से बाहर निकला तो देखा, कुछ छोटी-मोटी दुकानें लगी थीं, बताशे और मिठाइयों की दुकानें। पूजा या न्योछावर के लिए दी जानेवाली सामग्री की दुकानें। हठात् मेरे मन में भी आया कि मैं भी कुछ मिठाई खरीदकर दे दूँ। इससे पीर की कितनी पूजा हो सकेगी, नहीं जानता ! गाज़ी और नयनतारा को डाली उठाकर दे सकूँगा। गाज़ी का नयनतारा के साथ हुए प्रथम परिचय का उपहार भी वही होगा।

मैंने बताशे और थोड़ी-बहुत मिठाइयोंवाली एक डाली खरीद ली। इसमें भी दुकानदारों की प्रतियोगिता भरी हाँक-डाक सुननी पड़ी—"यहाँ आइए बाबू ! क्या चाहिए...बताइये तो सही..."

डाली ले जाकर सबकी तरह, मैंने भी समाधि मन्दिर के द्वारी के हाथ में दे दी। थोड़ी देर के बाद वह फिर वापस मिल गयी। हाथ में लेने पर जान पाया कि कुछ बताशे और मिठाइयाँ पूजा के काम आयी है। लेकिन डाली लिये वापस चला आये—किसकी मजाल है ? लोग चारों ओर से जकड़े हुए हैं। "एक-आध देना बाबू...मुझे भी थोड़ी देना...दीजिए...दीजिए...दीजिए..."

ऐसा लगा मेरी डाली को अनगिनत हाथ पकड़े हुए है। एक अभागन लड़की मेरी डाली पकड़कर खींचने लगी। ओह ! मैंने उसे झिड़क दिया तो वह दाँत निपोरकर हँसने लगी। लेकिन इन सब को ही लुटाने लगा तो फिर गाज़ी वगैरह के लिए क्या बचेगा ? मैं कोई 'हरि लूट' कराने तो यहाँ आया नहीं।

ठीक इसी समय कोई एक ग्रामीण हाथ मे लाठी लेकर चीख उठा। लाठी उठाकर फटकारने लगा..."अय...अय...अरे अघोरियो...साँप के विष...चलो हटो...कह रहा हूँ, नहीं तो ठँगा-ठँगाकर मारूँगा।"

फटकार सुनकर बहुत से लोग हट गये। धक्का-मुक्की मे गिरते-पड़ते रहे। मैं यथाशक्ति उन सबको जो कुछ दे सकता था, देते हुए भीड़ को चीरकर निकल आया। कन्धे से लटके बैग मे मैंने वह डाली रख ली। फिर पश्चिमी द्वार से बाहर निकल आया। बताशा, मिठाई और चढ़ावे की दुकानें पारकर निकला तो नाक मे प्याज और लहसुन की बू आने लगी। देखा, बड़ी-बड़ी हाँड़ियों में मांस पकाया जा रहा है। बहुत सारे लोग खाने बैठे हैं। मैंने आज तक किसी मेले में मांस, भात और रोटी के इतने बड़े-बड़े होटल नहीं देखे। हुगली के पाण्डुरा-मेले में थोड़े बहुत थे; इतने नहीं। ऐसा लगा, इनमे से ज्यादातर मुसल-

मानों के होटल हैं।

इसके उपरान्त मिठाई की परम्परागत दुकानें। वही—खाजा, गजा, जलेबी, राजभोग, रसगुल्ला और मलाई-बड़ा। चूड़ा और मूढ़ी की भी दुकानें। मनिहारी सामग्री बेचनेवालों की न खत्म होनेवाली कतारें और फिर बाजीगरों के तम्बू। कहीं मौत का कुआं तो कहीं विद्युत् कन्या। क्या नहीं था यहाँ। हाड़ोया-जैसी छोटी-सी जगह में इतना बड़ा मेला लगेगा, इसकी आशा न थी।

विद्याधरी की बलुआही मिट्टी। आसपास कई बैलगाड़ियाँ खड़ी थीं, जिनपर सवार होकर केवल ग्रामीण स्त्री-पुरुष ही नहीं आये; कुछ ऐसी भी थीं, जिनकी कजराई और तीखी आँखों, पान से रँगे होंठों के साथ टेढ़ी माँग, स्निग्ध चकित और भावपूर्ण दृष्टि की भंगिमा हृदय में अजीब कौतूहल भर जाती रही। हारमोनियम और तबला-डुग्गी पर संगत करनेवाले जमे बैठे थे। कालीनगर की वारांगना दुलि की बात याद आ जाती है। केंदुलि में भी, पूरब की ओर बिन्दु ने दिक्शूल होने का संकेत भी दिया था।

कहीं-कहीं पीर गोराचाँद के आख्यान को आधार बनाकर गान-गोष्ठी जमी थी। कहीं नन्हें-नन्हें बालक-बालिकाओं को नचाया जा रहा था, उनके पाँव में घुंघरू बाँधकर। कमर लचकाकर वे ठुमका लगाते और आँखें मार देते फिर घूम-घूमकर गाते जाते—"अरी गोरिया तोरी गगरिया लबालब...छलकी-छलकी जाये।"

घूमते-फिरते यहाँ की सारी परिक्रमा तो पूरी हुई। लेकिन यहाँ बुलानेवाला मेजबान ही गायब था। पता नहीं क्यों ? उस घाट भी खड़ा रहा, जहाँ से यात्री आ-जा रहे थे। हर स्थान पर कोई-न-कोई आयोजन था। कहीं दरवेश, कहीं फ़क़ीर, कहीं जोगी, कहीं बैरागी। कोई बैठा तो कोई चक्कर काटता। लेकिन मेरा गाजी ? लापता।

घाट पर बहुत-सी नौकाएँ लगी थीं। मुझे भी भाड़े पर एक चाहिए थी, इसलिए मैं उधर ही बढ़ता चला गया। दो-एक माँझी मेरी ओर जिज्ञासा से देखते रहे। एक बूढ़े माँझी ने आगे बढ़कर पूछा, "नौका चाहिए बाबू ?"

"हाँ।"

"किधर जायेंगे ?"

"दक्षिण।"

"दक्खिन की ओर ? फागुन आ गया...तेज हवा चल रही है।"

"फिर तो जाना सम्भव न होगा ?"

"होगा। होगा क्यों नहीं ! कोई जानकार माँझी चाहिए। ठहरिए ज़रा।"

इतना कहकर वह पुकारने लगा, "सत्य...कहाँ है रे ! अरे ओ सत्या...!"

छोटी-सी एक नौका की छजनी के अन्दर से एक आदमी बाहर निकला। मैं

माला को देखकर ही मैं समझ गया था कि वह वैष्णव धर्म में दीक्षित है।

मैं अकारण होते जा रहे विलम्ब को झेल नहीं पा रहा था। क्या फिर मेले की तरफ़ लौटना पड़ेगा? गाज़ी किसी कारणवश यहाँ नहीं आ पाया या फिर मैं ही उसे भीड़ में नहीं ढूँढ पाया! इस अप्रत्याशित भीड़ मे किसी को ढूँढ निकालना भी तो बहुत कठिन था। शायद असम्भव ही।

मेला पार कर मैं हाट तक आया। यहाँ भी भीड़ चीरकर मैं बड़ी सड़क पर आ गया। यहाँ भी पूरब की ओर छोटा-मोटा मेला लगा था। सोचा, वहाँ भी एक बार देख लूँ। लेकिन पाँव आगे बढ़ाने के पहले ही मैं ठिठककर रह गया। एकाएक आमने-सामने किसी से इस तरह मुलाकात हो जाये तो वह अविश्वसनीय कैसे नही लगे भला?

मेरे कुछ पूछने के पहले ही मुझे सुन पड़ा, "मुझे नींद से जगाकर आते या पुकार ही लेते तो तुम्हें रोक नही रखती!"

मेरे सामने आँखों मे आँसू छलकाती, रुँधे गले से प्रश्न पूछती झिनि खड़ी थी। मैं इस आकस्मिक भिड़न्त को झेल नहीं पाया। अपनी सफ़ाई में इतना ही कह सका, "नहीं, यह बात नही। मैंने सोचा रात के अन्तिम पहर की नींद है।" बात बदलकर यह भी पूछ लिया, "अकेली हो तुम?"

झिनि की आँखें धुँधली हो चुकी थीं। बेबस और चुप। झिनि को देखकर मैं समझ गया कि वह इस फागुन की चढ़ती धूप में जलती रही है। हाड़ोया हाट की सारी धूल उसकी देह, चेहरे पर उमड़ आये स्वेद और रूखे बालों पर फैल गयी थी। मैंने पहली बार उसे एक साधारण-सी सूती साड़ी में देखा। हल्के बासन्ती रंग की किनारी, जिसमें कोई चमक-दमक नही। देह पर सूती कुरती। हाथ में कपड़े का एक बैग, जिससे उसके शहरी होने का आभास लग रहा था। उसकी कलाई या गले में और कोई आभूषण न भी हो, कलाई-घड़ी तो रहनी ही चाहिए थी।

झिनि थोड़ी देर तक नदी की ओर तकती रही और आँखें पोंछती रही। मैंने फिर पूछा, "तुम अकेली आयी हो?"

उसने मुँह फिराये बिना कहा, "हर घड़ी 'दुकेली' कहाँ से हो पाऊँगी भला? बताओ?" उसका स्वर अब भी काँप रहा था।

"कब आयी?" मैंने पूछा।

"सुबह ही।" उसने बताया और पूछा, "आप तो काफ़ी परेशान हुए होंगे।"

"नहीं, बल्कि तुम्हें देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।"

झिनि मेरी आँखों की ओर अपलक निहारती रही। फिर बोली, "तुमने बताया था न कि तुम यहाँ आओगे, गाजी के निमन्त्रण पर। मेरे मन में भी उसे

देखने की साध थी, इसलिए चली आयी।"

मैं कुछ कह नहीं पा रहा था। शायद वह ठीक ही सोच रही होगी। वह इस तरह स्थान, पात्र, काल और स्वयं को भी भूल जायेगी, यह नहीं जानता था।

"क्या हुआ ?" उसने पूछा।

"देख रहा हूँ तुम्हें।"

वह एकबारगी झेंप गयी। सिर झुकाकर इतना ही बोल पायी, "यहाँ आये बिना जी को समझा नहीं पायी। डेढ़ महीना हो चला। इसके बाद, पता नहीं कब भेंट हो पायेगी या कि..."

इस बारे में मैं भी क्या बताता! जीवन में जो कुछ है, वह सब-का-सब आकस्मिकता से भरा हुआ है, ऐसा नहीं। इसी तरह जीवन में बहुत कुछ अनजाना है, यह भी जानता हूँ। मैंने उससे कहा, "जिसके निमन्त्रण पर आया हूँ, उससे अबतक भेंट नहीं हो पायी है।"

"मैं भी उससे अबतक नहीं मिल पायी।" उसने जोड़ा, "मैंने यही सोचा, तुमसे भेंट हो गयी तो उससे भी हो जायेगी।"

"तो फिर चलो, उसे ही ढूँढ़ें।" मैंने इतना कहकर पूरब की ओर पाँव बढ़ाया ही था कि झिनि बोल उठी, "वह उधर भी नहीं, यह तो मैं कह सकती हूँ। मैंने हर जगह देख लिया है, वहाँ।"

मेरा जी एकदम निराश हो चला था। मैंने हारकर पूछा, "फिर ?"

"तुम तो उसे बहुत ही चाहते थे ?"

झिनि की आँखों में कौतूहल-भरा प्रश्न था। मैंने उत्तर दिया, "यह तो नहीं जानता कि उसे कितना चाहता हूँ। वह भी ऐसा मानता है या नहीं, कौन जाने! उसने यहाँ आने की जिद की थी, इतना ही कह सकता हूँ।"

झिनि कुछ कहना चाहकर भी चुप हो रही। फिर जैसे अन्यमनस्क होकर बोली, "शायद तुम भी ऐसे ही हो।"

उसका सिर झुका हुआ था। मैं नहीं जानता, वह ऐसा क्यों कह रही थी। अचानक वह उठती हुई बोली, "चलो, उसे ढूँढ़ निकालते हैं। उससे मिले बिना, मैं भी नहीं जाऊँगी। वह निश्चय ही, समाधि के आसपास या कहीं मेले में ही होगा।"

उसने ठीक ही कहा था। मेरे हाथ में भी अधिक समय न था। ज्वार का समय पूरा होते ही, मेरी यात्रा शुरू होनेवाली थी। हाट की भीड़ में झिनि मेरे साथ-साथ चलती रही। हम दोनों उसी समाधि प्रांगण में फिर एक बार उपस्थित हुए।

"मैंने तुम्हें यहाँ भी ढूँढ़ा था," झिनि ने बताया।

"मैं भी उसे ढूँढ़ता रहा था।"

हम फिर एक-एक कर हर जगह उसे ढूंढते फिरे। वह हँसमुख-सा चेहरा कहीं नहीं दीखा।

"किसी को ढूंढ रहे हो बाबू ?" किसी बूढ़े दरवेश ने पूछा।

"हाँ..."

"किसे...?"

"महमूद नाम के एक गाज़ी को।"

बूढ़ा जैसे किसी की याद में डूब गया। फिर होंठों में कुछ बुदबुदाता रहा, "मामूद गाज़ी ?...आपको पता है, वह कहाँ का रहने वाला था ?"

"बशीर हाट का," मैंने बताया।

"अच्छा...अच्छा," वह मेरे कुछ कहने के पहले ही बोल उठा, "दीघी किनारे रहनेवाला मामूद गाज़ी ! बड़ा अच्छा गाता था। जय मुरशेद !"

"वह आया नहीं यहाँ ?" मैंने फिर पूछा।

अपनी दाढ़ी की ओट में एक उदास हँसी दबाते हुए बूढ़ा बोला, "कैसे आयेगा बाबू ? उसकी नालिश खारिज हो गयी। मुख़ारनामा खतम हो गया उसका...ख़लास।"

उसकी बातों का क्या आशय था ? मेरा हृदय धड़क गया।

मैंने जानना चाहा, "क्या मतलब ?"

"वह अब नहीं रहा बाबू !" बूढ़ा बताने लगा, "इसी माघ महीने की अमावस में वह डूब मरा, डानसा में।"

"डानसा में ?"

"हाँ ! डानसा पार करते हुए वह नौका से पानी में गिर पड़ा। फिर निकल नहीं पाया।"

मेरी आँखों के सामने तत्क्षण अँधेरा-सा छा गया। डानसा के जल-प्रवाह ने उसे लील लिया ! क्यों ? मुरशेद नाम की मजदूरी करने निकला था...इसी-लिए ? मैं अपने होंठों को भींचे खड़ा था। लेकिन मेरा अन्तर कुछ गुन-गुन रहा था, "पाजी...पाजी। सचमुच गाज़ी बहुत बड़ा पाजी है। निमन्त्रण देकर भी भाग गया वह..."

काश ! मैं उस पाजी का चेहरा एक बार निहार सकता ! जिसके एक-एक गच्च में उसकी शरारती हँसी छुपी रहती। गहरी नदी-सी आँखों में उसी पाजी की झलक ! !

"उससे कोई काम था बाबू ?" बूढ़ा फ़कीर पूछने लगा।

नहीं। मैंने अपनी गर्दन हिला दी। इस विराट पृथ्वी पर मनुष्य के अन-गिनत सम्बन्धों से गाज़ी को कुछ लेना-देना न था। बल्कि एक महत् और अपरोक्ष भाव से ही उसकी खोज में भटकता रहा था। इस अलगाव या असम्बद्ध सम्बन्ध के

बारे में, इस संसार में कुछ नहीं कहा जा सकता। इस संसार में उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं शायद।

बूढ़ा दरवेश कहने लगा, "और वह जो स्त्री बैठी हुई है, अरे वही—पेड़ के नीचे, वह मामूद की बीवी है।"

नयनतारा! गाज़ी की 'पिकिति'! झिनि के साथ मेरी चकित आँखें जा टकरायी। उसकी दृष्टि भी आँखों में आ गये आँसुओं से तर थी। उसके नज़दीक जाने के पहले मैंने एक बार ओर देखा। आश्चर्य है, चढ़ावा देकर वापस आने के समय इसी स्त्री ने मेरे आगे अपना हाथ फैलाया था। जिसके लिए मैं डाली लेकर भटकता फिरा क्या यह वही नयनतारा है? सामने ही, एक मैली साड़ी पहने हुई चुपचाप? सिर पर पड़े आँचल के पास रूखे बालों की लट फैली हुई है। उसकी दृष्टि किधर खोयी हुई है, मैं नहीं समझ पाया। यौवन समाप्त नहीं हुआ, लेकिन कष्टकर जीवन ने उसे निचोड़ कर रख दिया है। शोक से बीते दिनों की स्मृतियाँ अब भी उसकी आँखों के सामने झिलमिला रही हैं अथवा कहीं ठहर गयी हैं।

नयनतारा गाज़ी के बिना पीर गोराचाँद के मेले में क्यों आयी थी? गाज़ी के लिए ही शायद। यही तो वह स्थान है; जहाँ पुरुष-प्रकृति की प्रथम लीला-संधि में उन्होंने एक-दूसरे को पाया था।

झिनि के साथ मैं उसके पास बढ़ आया। मुझे देखकर उसे तनिक कौतूहल हुआ। मैंने पूछा, "तुम्हारा नाम नयनतारा है न?"

अपनी गर्दन हिलाकर उसने सहमति प्रकट की। लेकिन कुछ पूछा नहीं, देखती भर रही। मेरे कण्ठ से कोई आवाज़ ही नहीं निकल पा रही थी जैसे। ज़ोर लगाकर बोलना पड़ा, "गाज़ी के साथ हमारी जान-पहचान थी..."

वह धीरे-से बुदबुदायी—"ओ..."

मैंने झटपट अपने बैग से डाली निकाल ली। और साथ ही सिगरेट की कुछ डिब्बियाँ। मीठी सुगंधवाली 'छिगरेट'। मैंने कहा, "यह सब मैंने उसके लिए ही रख छोड़ा था—तुम रख लो।"

उसने हाथ बढ़ाकर ले लिया और बोली, "ओह।"

लेकिन उसकी आँखों में आँसू आ चुके थे। मुझे ऐसा नहीं लगा कि इन सारी बातों को समझ भी पा रही है। उसका चेहरा पूर्ववत् भावशून्य रहा। मैंने एक बार भी नहीं सोचा था कि नयनतारा ऐसी होगी।

मैंने पूछा, "बाल-गोपाल कहाँ हैं?"

नयनतारा मानो फिर एक बार चौंक पड़ी। कहने लगी, "छोड़कर आयी हूँ। अब जाऊँगी। रुक नहीं पायी। एक बार आना तो था ही, इसलिए आ गयी बाबू!"

नयनतारा ने मुझे सम्बोधित किया। वैष्णवी गायिका प्रकृति। गाज़ी की उन आँखों की चमक। उसने घूमकर देखा और मुझसे पूछा, "आप...कौन हैं?"

"तुम नहीं पहचानोगी," मैंने कहा।

"ओ, लेकिन, मैं इत्ते सारे सिगरेट लेकर क्या करूँगी बाबू, वह तो रहा नहीं।"

बोलते-बोलते उसकी आँखें मुँद गयीं। मैंने किसी तरह बहुत धीमे स्वर में कहा, "उसके नाम से रख देना।"

इतना कहकर मैं वहाँ रुका नहीं, चला आया वहाँ से। मैंने झिनि का स्पर्श महसूस किया। वह मुझसे लगी हुई चल रही थी। मेला-तमाशा सबको पीछे छोड़ते हुए मैं घाट के पास पहुँचा। घाट पर उतरने के पहले, मेरी कमीज को खींचते हुए झिनि ने मुझसे पूछा, "कहाँ जा रहे हो?"

"नौका पर," मैंने कहा।

"क्यों?"

"दक्षिण की ओर जा रहा हूँ।"

"ओह..." झिनि तड़प उठी जैसे।

मैंने उसकी तरफ़ देखा। वह अपनी बेबस और करुण आँखों से ताकती हुई फिर पूछ बैठी, "तो फिर कब और कहाँ मुलाकात होगी?"

थोड़ी देर चुप रहने के बाद मैंने कहा, "कुछ कह पाने की स्थिति में नहीं हूँ।"

"क्यों?"

"कुछ पता नहीं।"

झिनि के होंठों पर अस्फुट और अस्पष्ट शब्द फूटा, "विष!"

तभी सत्य माँझी अपनी गम्भीर आवाज में पुकार उठा, "आइए बाबू, भाटा पड़ गया।"

मैंने झिनि की तरफ देखा। मेरे सीने पर अपनी दृष्टि गड़ाये हुए झिनि ने कहा, "जब नहीं जानते तो भला बताओगे कैसे? फिर मुलाकात कैसे हो पायेगी? तो भी, देख लेना!"—उसका गला रुँध गया था। मैंने कहा, "बोलो झिनि।"

वह भरे गले से धीमे स्वर में बोली, "बोलो-बोलो तो कहोगे ही। कभी सोच-कर तो देखो जरा! आख़िर मैं ठहरी एक लड़की। इसीलिए एक बात जानना चाहती हूँ।"

"कहो।"

"मुझे याद रखोगे न...!"

"हाँ झिनि, रखूँगा।"

झिनि हठात् सर्पदंश से मर्माहत हो आर्तनाद कर उठी जैसे—"ओह, यह कैसा विष है ? इच्छा होती है इसे अमृत की तरह अपने गले में उतारकर चुपचाप...पड़ी रहूँ। लेकिन एक बात है !"

फिर वह रुक गयी।

मैंने कहा, "बोलो...!"

"याद रहे या नहीं रहे। मैं तो यही कहूँगी—याद रखना।"

उसने मेरे सीने के पास कुरते को पकड़कर हलके से खींचा और फिर छोड़ दिया। मैं नीचे घाट की ओर उतरने लगा। जाने के पहले मैंने कहा, "चलूँ !"

"मैं एक बार फिर नयनतारा के पास जा रही हूँ," उसने बताया।

उसकी यह अन्तिम बात सहसा एक भयंकर झंकार के साथ झनझना उठी मेरे कानों में। ऐसा लगा, नयनतारा और झिनि—दोनों एकाकार हो गयी हों मानो।

वह किनारे पर खड़ी रही। सत्य बाउल ने लंगर उठा लिया और नौका को आगे पानी में ठेल दिया। फिर हाथ को नीचे डुबाकर विद्याधरी का जल अपनी अंजुरी मे उठा लिया और मेरे सिर पर छिड़क दिया। फिर अपने मन से ही, गम्भीर स्वर में बोल उठा, "जयगुरु, यात्रा शुरू।"

विद्याधरी-जल मेरे सिर से मुँह पर और फिर होंठों से रिसता हुआ जीभ में जा लगा—खारा जल। अबतक मेरी आँखें धुँधली हो उठी थीं। झिनि अब दिखायी नहीं पड़ रही। आँखों से कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा—हाड़ोया गाँव, पीर गोराचाँद का मेला...। मन-ही-मन ऐसा लगता रहा—मानो गाजी की गुनगुनाहट सुन पा रहा हूँ—

"अरे पागल तू अपनी खबर जाने बिना...कहाँ जायेगा...!"

सत्य माँझी की नौका विद्याधरी की तेज धार में बहने लग गयी।

हमारे अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास

कथा एक प्रान्तर की (पुरस्कृत)	एस. के. पोट्टेक्काट	50.00
मृत्युंजय (पुरस्कृत)	वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य	30.00
मृत्युंजय (तृ. सं.)	शिवाजी सावंत	60.00
अमृता	रघुवीर चौधरी	35.00
गोमटेश गाथा	नीरज जैन	25.00
शब्दों के पींजरे में	असीम रॉय	20.00
छिन्न पत्र	सुरेश जोशी	12.00
स्वामी (द्वि. सं.)	रणजित देसाई	35.00
मूकज्जी (पुरस्कृत) (द्वि. सं.)	शिवराम कारन्त	27.00
सुवर्णलता (तृ. सं.)	आशापूर्णा देवी	45.00
बकुल-कथा (तृ. सं.)	"	45.00
अवतार वरिष्ठाय	विवेकरंजन भट्टाचार्य	10.00
भ्रमभंग	देवेश ठाकुर	13.00
बारूद और चिनगारी	सुमंगल प्रकाश	20.00
जय पराजय	"	26.00
आधा पुल (द्वि. सं.)	जगदीशचन्द्र	14.00
मुट्ठी भर कांकर	"	15.00
छाया मत छूना मन (द्वि. सं.)	हिमांशु जोशी	12.00
कगार की आग (द्वि. सं.)	"	14.00
पुरुष पुराण	विवेकीराय	8.00
माटी मटाल भाग 1 (पुर., द्वि. सं.)	गोपीनाथ महान्ती	20.00
माटी मटाल भाग 2 (पुर., द्वि. सं.)	"	20.00
देवेश : एक जीवनी	सत्यपाल विद्यालंकार	15.00
धूप और दरिया	जगजीत बराड़	6.50
समुद्र संगम	भोलाशंकर व्यास	17.00
पूर्णावतार (द्वि. सं.)	प्रमथनाथ बिशी	25.00
दायरे आस्थाओं के	स. लि. भैरप्पा	9.00
नमक का पुतला सागर में (द्वि. सं.)	धनंजय वैरागी	18.00
तीसरा प्रसग	लक्ष्मीकांत वर्मा	प्रेस में
टेराकोटा (द्वि. सं.)	"	"
आईने अकेले हैं	कृशनचन्दर	5.00

कहीं कुछ और	गंगाप्रसाद विमल	7.00
मेरी आंखों में प्यास	वाणी राय	10.00
विपात्र (च. सं.)	ग. मा. मुक्तिबोध	5.00
सहस्रफण (द्वि. स.)	वी. सत्यनारायण	16.00
रणांगण	विश्राम बेडेकर	3.50
कृष्णकली (छठा सं.)	शिवानी { पिपर बेक	13.00
	लाइब्रेरी	18.00
हँसली बाँक की उपकथा (द्वि. सं.)	ताराशंकर वन्द्योपाध्याय	25.00
गणदेवता (पुरस्कृत, छठा सं.)	,,	42.00
अस्तंगता (द्वि, सं.)	'भिक्खु'	9.00
महाश्रमण सुनें ! (द्वि. स.)	,,	4.00
अठारह सूरज के पौधे (द्वि. सं.)	रमेश बक्षी	12.00
जुलूस (पं.स.)	फणीश्वरनाथ 'रेणु' { पिपर बैक	8.00
	लाइब्रेरी	12.00
जो (द्वि. सं.)	प्रभाकर माचवे	4.00
गुनाहों का देवता (अठारहवाँ सं.)	धर्मवीर भारती	20.00
सूरज का सातवाँ घोड़ा (दसवाँ सं.)	{ पिपर बैक	6.50
	लाइब्रेरी	10.50
पीले गुलाब की आत्मा (द्वि. सं.)	विश्वम्भर मानव	6.00
अपने-अपने अजनबी (छठा सं.)	अज्ञेय { पिपर बैक	5.50
	लाइब्रेरी	8.50
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	5.00
ग्यारह सपनों का देश (द्वि. सं.)	सं. लक्ष्मीचन्द्र जैन	7.00
राक्षसी	देवेशदास, आई. सी. एस.	5.00
रक्त-राग (द्वि. सं.)	,,	5.00
शतरंज के मोहरे (पुरस्कृत, च. सं.)	अमृतलाल नागर	12.00
तीसरा नेत्र (द्वि. सं.)	आनन्दप्रकाश जैन	4.50
मुक्तिदूत (पुरस्कृत, च. सं.)	वीरेन्द्रकुमार जैन	13.00

□